वेदान्त दर्शन के आयाम

तत्त्वमसि
अहंब्रह्मास्मि
प्रज्ञानंब्रह्म
अयमात्माब्रह्म

अम्बिकादत्त शर्मा
संजय कुमार शुक्ल
श्रीप्रकाश पाण्डेय
मैत्रेय सुशील

वेदान्त दर्शन के आयाम

मनुष्य के स्वरूप की खोज और उसके गंतव्य की जिज्ञासा में आर्षप्रज्ञा दार्शनिक चिन्तन के उत्स एवं पर्यवसान को ही वस्तुतः वेदान्तीय चिन्तन में देखती रही है। इसीलिए भारत के सांस्कृतिक जीवन और दार्शनिक मानस में वेदान्त की प्रतिष्ठा एक आध्यात्मिक धर्म के रूप में हुई है। वेदान्त भारतीय परम्परा का सर्वाधिक गतिशील दर्शन और उसी अनुपात में सांस्कृतिक परिव्याप्ति रखने वाला जीवन–दर्शन है। विश्व इतिहास में भारत का आध्यात्मिक–दार्शनिक गौरव ताथा विश्वजनीन सांस्कृतिक अभ्युदय की सम्भावना यदि किसी दर्शन में निहित है तो उसे वेदान्त की अद्वैतवादी विश्वदृष्टि में ही गोपित कहा जा सकता है। धार्मिक सहिष्णुता को सर्वोपरि आधार प्रदान करने वाला वेदान्त दर्शन ही इस देश को सदैव सांस्कृतिक संकटों से उबारता रहा है और संकट की हर घड़ी में 'भारत के स्वराज का दर्शन' बन कर नये–नये स्वरूपों को अवाप्त किया है। इस ग्रन्थ में – चेतना के स्वरूप का तत्त्वशास्त्रीय विश्लेषण – सत्ता विषयक वेदान्तीय अन्वीक्षा – प्रमाणमीमांसीय विमर्श – मुक्ति एवं भक्ति मीमांसा – अवान्तर अद्वैती दृष्टियाँ – धर्म, संस्कृति एवं मूल्य विमर्श – जैसे आयामों को समाकलित करते हुए वेदान्त दर्शन को विश्वकोशीय रूप–रेखा में प्रस्तुत किया गया है। अस्तु राष्ट्र–भाषा हिन्दी में प्रकाशित यह ग्रन्थ दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों, शोधार्थियों एवं अध्यापकों के लिए बहुविध रूप से उपयोगी और उच्च शिक्षा – संस्थानों के ग्रंथालयों के लिए अवश्य संग्रहणीय है।

ISBN : 81-8315-211-2
978-81-8315-211-2

प्रथम संस्करण 2013

पृष्ठ संख्या 634

₹ 2000.00

वेदान्त दर्शन के आयाम

प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय स्मृति-ग्रन्थ

सम्पादक-मण्डल

अम्बिकादत्त शर्मा
श्रीप्रकाश पाण्डेय
संजय कुमार शुक्ल
मैत्रेय सुशील





अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन

दिल्ली :: (भारत)

प्रकाशकः
डॉ० अम्बिकादत्त शर्मा
महामंत्री
अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

सह प्रकाशकः
न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन
208, द्वितीय तल, 4735/22,
प्रकाशदीप भवन, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली-110002
फोन : 011-23280214, 23280209
E-mail : deepak.nbbc@yahoo.in

इस पुस्तक का कोई भी भाग किसी भी रूप में या किसी भी अर्थ में प्रकाशक की अनुमति के बिना प्रकाशित नहीं किया जा सकता है। सर्वाधिकार प्रकाशक के आधीन है।

प्रथम संस्करण: 2013

आई.एस.बी.एन. : 81-8315-211-2
: 978-81-8315-211-2

मुद्रक :
जैन अमर प्रिंटिंग प्रैस
दिल्ली-7

विषयानुक्रम

3. सत्ता विषयक वेदान्तीय अन्वीक्षा

4. अद्वैत वेदान्तीय प्रमाणमीमांसीय विमर्श

5. मुक्ति एवं भक्ति की अद्वैती मीमांसा

6. अवान्तर अद्वैती दृष्टियाँ

पुरोवाक्

मनुष्य के स्वरूप की खोज और उसके गन्तव्य की भारतीय जिज्ञासा वस्तुतः दार्शनिक चिन्तन के उत्स एवं उसके पर्यवसान को ही वेदान्ती चिन्तन में देखती रही है। इसीलिए भारतीय दर्शन के अधिकांश सम्प्रदाय जहाँ भारतीयता का प्रतिनिधित्व उसके भौगोलिक परिधि में होने के अर्थ में करते हैं वहीं वेदान्त की विचार और भावधारा भौगोलिकता की सीमा को पार कर भारतीयता को तदात्मक प्रतिनिधित्व प्रदान करती है। दार्शनिक दृष्टि से वस्तुतः भारतीयता का विशेषण 'वेदान्त' नहीं बल्कि वेदान्त का विशेषण ही 'भारतीयता' बनती है। यही कारण है कि भारत के सांस्कृतिक जीवन और दार्शनिक मानस में वेदान्त की प्रतिष्ठा एक दार्शनिक धर्म के रूप में हुई है। एक सम्पूर्ण जीवन–दर्शन के रूप में वेदान्त की मूलभूत मान्यताओं में मानवीय अनुभव और उसकी अतिक्रामी अभीप्सा (श्वेतकेतो तत्त्वमसि) के लिए अपेक्षाकृत व्यापकतर अवकाश है। मनुष्य की गरिमा और उसके उदात्त स्वरूप के साथ–साथ लोकमंगल के लिए सर्वतोभद्र तत्परता एवं अद्‌भुत लचीलापन है। इसमें मानवीय चेतना के ज्ञानात्मक, संकल्पात्मक और भावनात्मक, तीनों ही, अभिवृत्तियों को एक साथ और अलग–अलग रूपों में परमत्व प्राप्त होने के अवकाश हैं। ऐसी मूलगामिता यदि भारतीय दर्शन के किसी अन्य सम्प्रदाय में रही है तो उसे केवल महायान बौद्ध दर्शन में ही कुछ हद तक देखा जा सकता है। परन्तु अद्वैत वेदान्त द्वारा उसका दार्शनिक सात्मीकरण तथा कतिपय सांस्कृतिक विरोधों और साथ ही साथ लोक जीवन से समंजस पुरुषार्थमीमांसीय दृष्टि के अभाव के कारण महायान बौद्ध दर्शन उतना प्रतिष्ठित नहीं हो सका जितना कि इस देश में सांस्कृतिक स्वीकरण वेदान्त को मिला।

भारत–प्रभव आस्तिक–नास्तिक और निगमागमिक दर्शन परम्परा में अद्वैतवादी प्रकार के दर्शनों की प्रधानता और बाहुल्य शुरू से ही रहा है। श्रुतिमूलक ब्रह्माद्वैत और उसके विभिन्न संस्करणों का विकास, महायान बौद्ध परम्परा में बुद्धवचनों के तात्पर्य को शून्याद्वय एवं विज्ञानाद्वैत में देखा जाना, व्याकरण परम्परा में शब्दाद्वैत का प्रौढ़ प्रतिपादन तथा शैवागमीय परम्परा में स्वतन्त्राद्वैत की पार्यन्तिक प्रतिष्ठा को इसके लिए प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इन सभी अद्वयवादी अथवा अद्वैतवादी दार्शनिक प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठा स्वकीय परम्पराओं के अन्तर्गत एक–एक दार्शनिक धर्म के रूप में रही है। इतना ही नहीं, यहाँ तो साहित्यशास्त्र का पर्यवसान भी ब्रह्मानन्द सहोदर रूप से 'रसो वै सः' में होता है। इन सबों ने मिलकर भारतीय संस्कृति की आत्मप्रतिमा और विश्वदृष्टि को अपने–अपने तरीके से प्रभूत समृद्धि प्रदान किया है। विश्व इतिहास में भारत का आध्यात्मिक–दार्शनिक उत्कर्ष और विश्वजनीन सांस्कृतिक अभ्युदय की सम्भावना इन्हीं अद्वैतवादी प्रकार के दार्शनिक प्रवृत्तियों में गोपित है।

यद्यपि वेदान्त की श्रुतिमूलकता तथा वाचिक भावधारा के रूप में उसकी प्राचीनता से इन्कार नहीं किया जा सकता लेकिन लिखित परम्परा के रूप में इसके इतिहास के आरम्भिक सूत्र

समंजस रूप में उपलब्ध नहीं होते हैं। यत्र–तत्र कुछ ग्रन्थगत साक्ष्यों के संकेतन मात्र से वेदान्त वाड्.मय के अतिप्राचीन और बृहद् होने का आभास अवश्य मिलता है। उदाहरणार्थ गीता में एक 'ब्रह्मसूत्र' का उल्लेख मिलता है (ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिनिश्चितैः) जो बादरायण प्रणीत प्रचलित ब्रह्मसूत्र से अवश्य ही प्राचीन एवं भिन्न रहा होगा, क्योंकि प्रचलित ब्रह्मसूत्र तो गीता को स्वयं ही प्रमाणत्वेन् उद्धृत करता है। इसके बावजूद भी वेदान्त दर्शन का भगवत्पाद् शंकर पूर्व और पश्चात् जैसा भी इतिहास उपलब्ध है, उसके आधार पर वेदान्त को भारतीय परम्परा का सर्वाधिक गतिशील दर्शन और उसी अनुपात में सांस्कृतिक परिव्याप्ति रखने वाला जीवन–दर्शन कहा जा सकता है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता रूपी प्रस्थानत्रयी तथा पांचरात्र एवं भागवत् पुराण को आधार बनाकर शांकरवेदान्त, रामानुज वेदान्त, वाल्लभवेदान्त, माध्ववेदान्त, निम्बार्कवेदान्त, चैतन्यवेदान्त, स्वामीनारायणवेदान्त इत्यादि वेदान्तीय सम्प्रदाय लगातार आविर्भूत और विकसित होते रहे हैं। वेदान्त के ऐसे अनेकविध संस्करणों एवं पुनर्रचनाओं के आपसी विवाद और मतभेदों को भी किसी तरीके से कम करके नहीं आंका जा सकता लेकिन तब भी सबकी आत्मा एक है।

वेदान्त की आत्मा है –'एकमेवाद्वितीयम्'। यह श्रुतिवाक्य वेदान्त–विचार के लिए सामान्यलक्षण जैसा है। इसी के साथ वेदान्त के सभी संस्करण अपनी–अपनी दृष्टि से भिन्न–भिन्न श्रुतियों का योगायोग दिखाकर अपने–अपने वेदान्त प्रस्थानों को विकसित किया है। द्रष्टव्य है कि शांकर वेदान्त 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ 'नेहनानास्ति किंचन' का योग दिखाकर पारमार्थिक अद्वैत और मायिक द्वैत प्रतिपादित करते हुए केवलाद्वैत की प्रतिष्ठा करता है। रामानुजीय वेदान्त 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ 'यः सर्वभूतेषु तिष्ठन्....' का योग कर विशिष्ट अद्वैत और विशेषण–विशेष्य के द्वैत रूप में विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन करता है। माध्व वेदान्त 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' का योग दिखाकर औपचारिक अद्वैत और पारमार्थिक द्वैत रूप में केवलद्वैत का विधान करता है। वाल्लभ वेदान्त 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ 'तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय' का योग दिखाकर स्वाभाविक अद्वैत और ऐच्छिक द्वैत को उदघाटित कर शुद्धाद्वैती अवधारणा को प्रकट करता है। अतएव कहा जा सकता है कि 'रूचिनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिल नाना पथजुषाम् ...' की भावभूमि पर वेदान्त ही भारत की आध्यात्मिक वैचारिक विरासत है जो आज भी हम भारतीयों की आत्म–प्रतिमा में बहुविध रूप से अभिव्यक्ति पाता है।

इस तरह देखा जाय तो भारतीय परम्परा में वेदान्त एक कल्पवृक्ष के समान है जिसकी विविध शाखायें न केवल भारत के धार्मिक–दार्शनिक उत्कर्ष की हेतु बनीं बल्कि समय–समय पर सांस्कृतिक संकटों से उबारने की भी हेतु बनीं हैं। एक समय जब पूरा भारत बौद्ध संघ में रूपान्तरित होकर चीवर के निवृत्तिवादी रंग में रंगता जा रहा था तो संसार को असार कहने में कुशल 'अद्वैतवेदान्त' ही भारत के सांस्कृतिक एकीकरण का दर्शन बनकर उभरा। इसी तरह मुगलकालीन सांस्कृतिक त्रासदी से इस देश को उबारने और उसकी सांस्कृतिक शुद्धता को बनाये रखने में वैष्णव वेदान्त के दार्शनिक सम्प्रदायों ने अग्रगणी भूमिका निभाई है। इतना ही नहीं बल्कि संतपरम्परा का सम्पूर्ण भावबोध और मूल्यबोध वेदान्त की प्रखर अद्वैतवादी दार्शनिक चेतना से आपूरित रही है। वैसे ही ब्रिटिशकालीन भारत में भारतीय जनमानस को परतन्त्रता की लम्बी

त्रासदी और गुलामी की भस्मीभूत कर देने वाली लूम–लपट से वेदान्त ही बचाता रहा। भारतीय नवजागरण के अग्रदूत राजाराम मोहन राय, महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गांधी इत्यादि के हाथों वेदान्त ही 'नव–वेदान्त' के रूप में पुनर्सृजित होकर न केवल भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन को वैचारिक आधार प्रदान किया बल्कि 'भारतीय स्वराज का दर्शन' बनकर प्रतिष्ठित हुआ।

पूरे भारतीय नवजागरण काल में 'नव–वेदान्त' कहे जाने वाले दार्शनिक चिन्तन की प्रधानता आद्यन्त रूप से देखी जा सकती है। उस समय के दार्शनिक जो एक साथ जन नायक और समाज सुधारक भी रहे, उन्होंने मानवीय जीवन के सभी पक्षों की व्याख्या पाश्चात्य सभ्यता बोध को पूर्वपक्ष बनाते हुए 'नव–वेदान्तवादी' दृष्टि से किया है। जीवन और जगत् के प्रति मायावादी दृष्टिकोण का नकार और जगत् की यथातथ्यता की स्वीकृति तथा वेदान्ती विश्वदृष्टि में ही प्रगतिशील एवं रचनात्मक जीवन के लिए अधिकाधिक अवकाश निर्मित करना नव–वेदान्ती चिन्तन की प्रस्थानमूलक विशिष्टता रही है। साथ ही साथ नव–वेदान्ती चिन्तन में उन सामाजिक–सांस्कृतिक विकारों के प्रति भी एक सशक्त आत्मचेतना दिखाई पड़ती है जिन्हें वेदान्त दर्शन की अद्वैती विश्वदृष्टि से कथमपि संगत नहीं कहा जा सकता। इस तरह नव–वेदान्तवादी चिन्तन में न केवल परम्परागत वेदान्त की तत्त्वमीमांसीय पुनर्रचना हुई बल्कि भारतीय संस्कृति और समाज में आक्षिप्त विकारों के परिमार्जन का उपक्रम भी साधा गया। परन्तु स्वाधीन भारत में अन्यान्य कारणों से नव–वेदान्त की इस समृद्ध दार्शनिक विरासत को बहुत अधिक महत्त्व नहीं मिला। यह मान सा लिया गया कि नव–वेदान्त की दार्शनिक चेतना एक समय की मांग थी और उस समय के बीत जाने के साथ ही उसकी रचनात्मक भूमिका समाप्त हो गई है। यद्यपि किसी भी विचार परम्परा की प्रभावमत्ता यकायक समाप्त नहीं हो जाती है, फिर यह तो नहीं कहा जा सकता कि नव–वेदान्त स्वातन्त्र्योत्तर भारत में दार्शनिक चेतना की मुख्य धारा बनी रही।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में विश्वविद्यालयीय व्यवस्था के माध्यम से जो अकादमिक वातावरण निर्मित हुआ उसमें अध्ययन–अध्यापन की दृष्टि से पारम्परिक वेदान्त का ही पुनरोदय हुआ है। भारतीय दर्शन के आधुनिक इतिहास की दृष्टि से इस समय को पाश्चात्य दर्शन के सन्दर्भ में भारतीय दर्शनों, उसमें भी विशेषकर अद्वैतवेदान्त की पुनर्रचना और तुलनात्मक दर्शन का काल कहा जा सकता है। इस प्रकार की दार्शनिक प्रवृत्ति और प्रविधि की एक समृद्ध पृष्ठभूमि स्वतन्त्रता के पूर्व ही स्वनामधन्य के.सी. भट्टाचार्य (1876–1949), आर.डी. राणाडे (1886–1957), एस.एन. दासगुप्ता (1885–1952), ए.सी. मुखर्जी (1888–1968), सर्वपल्ली राधाकृष्णन् (1898–1974), जी.आर. मलकानी (1892–1977) एवं धीरेन्द्र मोहन दत्त (1898–1974) इत्यादि ने अपने–अपने दार्शनिक अध्यवसाय से तैयार किया था। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में तुलनात्मक दर्शन के नाम पर भारतीय दर्शनों की आधुनिक व्याख्या एवं उन्हें अकादमिक स्वरूप प्रदान किये जाने के जो भी अच्छे–बुरे प्रयास हुए हैं, उसकी पैतृक पृष्ठभूमि उपर्युक्त दार्शनिकों का दार्शनिक अध्यवसाय ही रहा है। आज भी भारत की साम्प्रतिक अध्येतृता, कुछ अपवादों को छोड़कर, इसी पैतृक पृष्ठभूमि की दार्शनिक प्रवृत्ति एवं प्रविधि से पोषित और पल्लवित हो रही है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में वेदान्त अध्ययन के क्षेत्र में उपर्युक्त पैतृक पृष्ठभूमि की प्रेरणा और प्रभावमत्ता पूरे देश में प्रसारित हुई। इस परम्परा को उत्तराधिकार भाव से जिन अध्येताओं ने आगे बढ़ाया उनमें टी.आर.वी. मूर्त्ति (1902–1986), पी.टी. राजू (1903–1993), टी.एम.पी. महादेवन (1911–1983), कालिदास भट्टाचार्य (1911–1984), एन.के. देवराज (1917–1999), गणेश्वर मिश्रा (1917–1985), आर.के. त्रिपाठी (1918–1981), सी.डी. शर्मा (1920–2004), के. सच्चिदानन्द मूर्त्ति (1924–2011), संगमलाल पाण्डेय (1929–2002), एस.एस. राय (मृ. 2000) एवं आर. बाला सुब्रह्मण्यम् (ज. 1929) इत्यादि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। प्रो0 रेवतीरमण पाण्डेय इसी पीढ़ी की निरन्तरता में वस्तुतः इसके तत्काल बाद की पीढ़ी के अध्येता थे जिन्होंने अद्वैतवेदान्त को बिल्कुल 'दर्शन केशरी' के अर्थ में आत्मसात् किया था। शांकरवेदान्त और उसमें भी विशेष रूप से शांकरोत्तर अद्वैतवेदान्त के दृष्टिसृष्टिवाद में उनकी विशिष्ट अभिरुचि थी। उनकी अध्येतृता पर उनकी प्रतिबद्धता सदैव हावी रही। इसीलिए अद्वैतवेदान्त को वे सर्वतोभावेन् सर्वांगपूर्ण दर्शन मानते थे।

भारत–भारती के ऐसे प्रतिसंस्कर्त्ता और अद्वैत वेदान्त के उन्नायक आचार्य प्रो0 रेवतीरमण पाण्डेय का जन्म (1942) उत्तर प्रदेश के जौनपुर अंचल में एक संस्कृत वैदुष्य–सम्पन्न परिवार में हुआ था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा–दीक्षा अपने ही कुल–परम्परा के नैष्ठिक वातावरण एवं आंचलिक परिवेश में हुई थी। दर्शनशास्त्र में स्नातक एवं स्नातकोत्तर तथा डी.फिल्. की उपाधियाँ इन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्राप्त किया था। प्रो. एस. दत्ता इनके शोध–निर्देशक रहे और प्रो. संगमलाल पाण्डेय एवं प्रो. एस.एस. राय इनके प्रिय शिक्षकों में थे। काश्यस्थ शास्त्रमूर्त्ति स्वामी करपात्रीजी एवं आचार्य बदरीनाथ शुक्ल के साथ उन्होंने वेदान्त और न्यायशास्त्रों के आकर ग्रन्थों का अध्ययन किया था। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से इन्होंने दर्शनाचार्य की भी उपाधि प्राप्त की थी। प्रो. पाण्डेय के अकादमिक जीवन–वृत्त की शरूआत गोरखपुर विश्वविद्यालय से होती है जहाँ उन्होंने कुछ दिनों तक तदर्थ रूप से अध्यापन कार्य किया और उसी दौरान 1972 में वे 'डॉड फैलोशिप' के अन्तर्गत उच्च अध्ययन के लिए जर्मनी चले गये। वहाँ गोयेथे इन्स्टीट्यूट में उन्होंने अपने को जर्मन भाषा में प्रशिक्षित किया और 'म्यून्स्टर' तथा 'हाम्बुर्ग' विश्वविद्यालय में प्रो. ले. श्मिटहाउजैन के साथ 'वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली' का भाषा वैज्ञानिक पद्धति से आलोचनात्मक अध्ययन किया। प्रो. पाण्डेय का यह अध्ययन शांकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मुख्य रूप से 'दृष्टि सृष्टिवाद' का प्रतिष्ठापक अध्ययन है जो WZKS नामक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की मानक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। प्रो. पाण्डेय के कतिपय शोध–पत्र East & West तथा WAVES नामक पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाश में आये हैं। जर्मनी में अपना उच्च अध्ययन पूरा कर प्रो. पाण्डेय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में नियुक्त हुए, जो उस समय वेदान्त–अध्ययन का एक विश्वप्रसिद्ध पीठ था। सर्वपल्ली राधाकृष्णन् और टी.आर.वी. मूर्त्ति से लेकर प्रो. जड़ावलाल मेहता, प्रो. आर.के. त्रिपाठी, प्रो. एन.के. देवराज, प्रो. हर्ष नारायण, प्रो. ए.के. चटर्जी, प्रो. आर.एस. मिश्र, प्रो. एन.एस.एस. रमण, प्रो. चन्द्रधर शर्मा, प्रो. एल.एन. शर्मा, प्रो.

कमलाकर मिश्र एवं स्वयं प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय पर्यन्त एक से बढ़कर एक अध्येता इस विभाग से सम्बद्ध रहे और उनमें से अधिकांश अद्वैतवादी दार्शनिक परम्परा की विविध प्रवृत्तियों के प्रतिबद्ध अध्येता रहे हैं। प्रो. पाण्डेय के अकादमिक जीवन का अधिकांश भाग काशी की पाण्डित्य परम्परा के अंगभूत होकर काशी में ही व्यतीत हुआ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन–विभाग में ही प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा उस विभाग को प्रदत्त SAP के समन्वयक के रूप में कार्य करते हुए वे कई एक महत्त्वपूर्ण अवसरों पर विश्वप्रसिद्ध विद्या–संस्थानों में व्याख्यान के लिए आमंत्रित किये गये और अन्तर्राष्ट्रीय दर्शन सम्मेलनों में भाग लिया। 1995 से 1997 तक दो वर्षों के लिए प्रो0 पाण्डेय को भारत सरकार द्वारा महात्मा गांधी संस्थान, मॉरिशस में जवाहर लाल नेहरू चेयर पर प्रोफेसर बना कर भेजा गया। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में प्रो0 पाण्डेय दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय के यशस्वी कुलपति रहे और कुलपति रहते हुए ही अकस्मात् 27 जुलाई 2004 को उनका महाप्रयाण हुआ। प्रो. पाण्डेय की अन्यान्य कृतियों में 'मैन एण्ड दी यूनीवर्स', 'साइन्टिफिक टेम्पर एण्ड अद्वैत वेदान्त', 'अमृतस्य पुत्रः– एन अद्वैतिक एनकॉउण्टर विथ ग्लोबलिज़्म एण्ड पोस्ट मॉडर्निज़्म' एवं 'समग्रयोग' बहुत ही चर्चित और महत्त्वपूर्ण कृतियाँ रही हैं।

अवधेय है कि प्रो. पाण्डेय के जीवन का एक अलग अध्याय अखिल भारतीय दर्शन परिषद् से उनका जुड़ना रहा है। परिषद् के संगठनात्मक विकास और उसके माध्यम से राष्ट्रभाषीय दार्शनिक चिन्तन को बढ़ावा देने में भी प्रो0 पाण्डेय के उल्लेखनीय योगदान रहे हैं। 1980 से 1986 तक वे परिषद् के संयुक्त मंत्री रहे। तत्पश्चात् वे 1986 से 1993 तक परिषद् की पत्रिका 'दार्शनिक त्रैमासिक' के प्रधान सम्पादक रहे। दार्शनिक त्रैमासिक के सफल सम्पादन के लिए ही उन्हें 1991 में परिषद् द्वारा 'प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार' से सम्मानित किया गया था। 1994 से 2000 तक उन्होंने परिषद् के अध्यक्ष का दायित्व सम्भाला। पुनः परिषद् के चतुर्दिक उन्नयन में अपने अनन्य सहयोगी और अद्भुत संगठन क्षमता वाले प्रो. एस.पी. दुबे को सन् 2000 में परिषद् के अध्यक्ष का दायित्व सौंप कर स्वयं ही दार्शनिक त्रैमासिक के प्रधान सम्पादक के दायित्व को पुनः सम्भाला और अपने जीवन के अन्त तक सम्भाले रहे। अतः यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि परिषद् के साम्प्रतिक संगठनात्मक सौष्ठव और अकादमिक समृद्धि के पीछे प्रो. पाण्डेय और प्रो. दुबे की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

वस्तुतः अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के विकास में प्रो. पाण्डेय की दो दशकों से अधिक की सक्रिय भूमिका और अद्वैत वेदान्त के प्रति उनकी प्रतिबद्ध अध्येतृता को ही समस्त पार्षदों की स्मृतियों में एक बार पुनः जीवन्त करने के उद्देश्य से परिषद् की कार्यकारिणी ने 56वें अधिवेशन के अवसर पर 'आचार्य रेवतीरमण पाण्डेय स्मृति ग्रन्थ' प्रकाशित करने का निर्णय लिया। साथ ही साथ प्रो. पण्डेय के सारस्वत व्यक्तित्व एवं उनके अकादमिक योगदानों को ध्यान में रखते हुए यह भी निर्णय लिया गया कि प्रकाश्य स्मृति ग्रन्थ का शीर्षक "वेदान्त दर्शन के आयाम" होना चाहिए। इसे भी एक संयोग ही कहा जायेगा कि उक्त निर्णय सोमनाथ महादेव के साक्षित्व में

समुद्र तट पर उस व्यक्ति के सन्दर्भ में लिया गया जो स्वयं ही अपने व्यक्तित्व में समुद्र की तरह अगाध था। कहा जाता है कि पुण्य भूमि में यदि पुण्य संकल्प के साथ कोई निर्णय लिया जाता है तो उस संकल्प की सिद्धि में अपने आप सारी बाधायें दूर हो जाती हैं। प्रो. पाण्डेय की स्मृति में इस 'ग्रन्थ' के आयोजन में ऐसा ही हुआ। स्मृति ग्रन्थ के आयोजन और सम्पादन का दायित्व हम चार व्यक्तियों को सौंपा गया और हम सभी ने एक अतिरिक्त उत्साह के साथ इसे स्वीकार किया, क्योंकि हम सभी का प्रो. पाण्डेय से अन्तरंग लगाव भी रहा है। हममें से तीन अर्थात् प्रो. श्रीप्रकाश पाण्डेय, मैं और डॉ. संजय शुक्ला के अकादमिक व्यक्तित्व का पोषण ही उनके स्नेह, संरक्षण और आशीष की छत्र–छाया में हुआ है। प्रो. मैत्रेय सुशील गोरखपुर में, प्रो. पाण्डेय के कुलपतित्व काल के अनन्य सहयोगियों में एक रहे। परिषद् के महामंत्री होने के नाते स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन सम्बन्धी आर्थिक बोझ की चिन्ता का होना मेरे लिए स्वाभाविक ही था। परन्तु आश्चर्य है कि हमारे सहयोगी सम्पादकों ने मुझसे परामर्श किये बिना यह मन बना लिया था कि वे स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन के आर्थिक बोझ से परिषद् को मुक्त रखेंगे। यद्यपि मैं उनके इस निर्णय का सहभागी हूँ फिर भी परिषद् की ओर से मैं उनके इस साहसी एवं उदारमना निर्णय की सराहना करते हुए उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। डॉ. रज्जन कुमार (बरेली), डॉ. नागेन्द्र तिवारी (सुल्तानगंज), डॉ. राजेश्वर सिंह (मुज्जफरपुर) एवं मनोज कुमार तिवारी (धनबाद) तथा डॉ. सविता गुप्ता (सागर) ने स्वेच्छया यथासम्भव पाँच–पाँच हजार का आर्थिक सहयोग प्रदान कर इस सारस्वत उपक्रम में अपनी आहुति दी, इसके लिए हम उनके प्रति भी अपनी ओर से एवं साथ ही साथ परिषद् की ओर से धन्यवाद प्रकट करते हैं। अन्त में हम उन सभी के प्रति भी यथायोग्य आभार एवं साधुवाद प्रकट करते हैं जिन्होंने इस सारस्वत उपक्रम को अपना सारस्वत योगदान प्रदान कर सफल बनाया और अपनी लेखनी से प्रो. पाण्डेय को स्मरणांजली देने के लिए वेदान्त दर्शन के विभिन्न पक्षों पर आलेख उपलब्ध कराये। भारत के दर्शन जगत् में प्रो. पाण्डेय से आत्मीय रूप में जुड़े व्यक्तियों एवं उनके शिष्यों की एक लम्बी कतार है। यह सम्भव नहीं कि सभी लोग उनकी स्मृति में कुछ लिखें, परन्तु जिस किसी ने इस उपकम को जाना, परिषद् के इस निर्णय की सराहना ही किया और हम सम्पादकों का उत्साहवर्द्धन भी किया। ऐसे सभी लोगों के प्रति हम समवेत रूप से कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। यहाँ हम डॉ. आनन्द मिश्र (वाराणसी) का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं जिन्होंने हमारे विशेष अनुरोध पर 'प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय और अद्वैत परम्परा' शीर्षक से आलेख लिख कर प्रो. पाण्डेय के अनुपम योगदान को उद्घाटित किया। अन्त में इस स्मृति ग्रन्थ की पूर्णाहुति के अवसर पर 'न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन' के प्रोपराइटर श्री सुभाषचन्द्र जैन एवं उनके योग्य पुत्र दीपक कुमार को भी हम धन्यवाद देते हैं कि एक पूजित व्यक्तित्व की स्मृति में वेदान्त जैसे पूजित विषय पर इस ग्रन्थ का अतिशोभित प्रकाशन किया।

शरद पूर्णिमा, 2012, सागर

अम्बिकादत्त शर्मा
महामंत्री, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्



प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय

आविर्भाव 2 अप्रैल 1942 : तिरोभाव 27 जुलाई 2004

रेवतीरमणमार्षचर्यं भजे

विकस्वरकलेवरं नयनयुग्मचन्द्रस्रव–
सुधासततसन्ततिं सुरगुरुस्समृतिं कोविदम्।
प्रकाण्डवरपण्डितं विनयमण्डितं वन्दितं
बुधेन्द्रमणि रेवतीरमणमार्षचर्यं भजे।।1।।

विनेयवटुतृष्णिकाशमनदुग्धसिन्धुं सदा
सुहृत्स्वजनमण्डलीपरिगतं नभोभास्करम्।
स्मरामि ननु रेवतीरमणमग्रजं विद्धुरं
सदाचरणसौरभं कुसुमसन्निभं प्राञ्जलम्।।2।।

गृहीतजनिरुत्तमे द्विजकुले हि विद्यावतां
क्वचिज्जनपदेऽमले प्रथितजौनपुरसंज्ञके।
सुवृत्तमहसाऽञ्चिते विमलगोमतीस्यन्दिका –
न्तरे समुदियाय सः प्रखरधीः सुधीशेखरः।।3।।

समग्रमपि दर्शनं वरुणदिग्भवं[1] भारतं[2]
यदीयरसनाग्रजं हृदि च संस्थितं सम्बभौ।
व्यमोहयत वैखरी परिषदि द्रुतं शृण्वतः
विदां धुरि स रेवतीरमण एक एव स्थितः।।4।।

पितेव सुतवत्सलः विपदि बिम्बभूतस्सखा
सहाय इह सङ्कटेऽप्यवसरे परामर्शदः।
न कस्य स हि सेवकः गुरुवरोनुजोवोग्रजः
अभून्नु भुवि रेवतीरमण एव सम्बन्धवान्।।5।।

महामहिमभाजनं बुधसभामनोरञ्जनं
तमेकमतिसज्जनं शतसहस्रगुणमन्दिरम्।
स्वशिष्यनिकुरम्बकप्रचुरतुष्टिकल्पद्रुमं
ममाग्रजनिरेवतीरमणमूर्ध्वसंस्थं[3] भजे।।6।।

विदेशगमनैर्निजां प्रखरवैदुषीं काशयन्
स्वदेशभुवि चर्चितः कुलपतित्वकीर्त्या[4]ऽनघः।
अविन्दत नरोऽपि सन् दिविषदां श्रियं पावनीं
न कोऽप्यहह रेवतीरमणसन्तुलां प्राप्नुते।।7।।

विद्यालये सतीर्थ्यो मे जयहिन्दाभिधे क्वचित्[5]।
मान्यः प्रवरकक्षास्थो[6] वत्सलो मयि नित्यशः।।8।।

पश्चाच्चापि ममासीद्यो नेता संरक्षकोऽग्रजः।
यशोभिस्स जयेन्नित्यं रमणो मे सहोदरः।।9।।

मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रो रेवतीरमणप्रियः।
श्रद्धया नौति तं प्रीत्या देवकल्पं नु देशिकम्।।10।।

सितवाचं सितस्वान्तं सितमन्त्रं सितप्रभम्।
सितकीर्तिं बुधं वन्दे रमणं सितसंस्मृतिम्।।11।।



नई दिल्ली
30.08.2012

मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः
पूर्वकुलपतिः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः
वाराणसी

---

1. *पाश्चात्यदर्शनम्।*
2. *भारतीयदर्शनम्।*
3. *दिवङ्गतमित्यर्थः।*
4. *दीनदयालउपाध्यायगोरखपुरविश्वविद्यालयीयः (उ.प्र.)।*
5. *जयहिन्दइण्टरकालेजतेजीबाजार, जौनपुरम् (उ.प्र.)।*
6. *यदा हं दशमकक्षास्थस्तदाऽग्रजवर्यो द्वादशकक्षास्थ आसीदिति।*

1

आचार्य रेवतीरमण पाण्डेय का दार्शनिक अध्यवसाय

रेवतीरमण पाण्डेय और अद्वैत की परम्परा

आनन्द मिश्र

भारतीय विद्याओं में अद्वैत का स्थान सर्वोपरि है। आरंभ से ही काशी इस विद्या की साधना स्थल रही है । अद्वैत की इस परम्परा को बीसवीं सदी में जहाँ स्वामी करपात्री जी, महेशानन्द गिरि, स्वामी योगीन्द्रानन्द जी, अखण्डानन्द सरस्वती जैसे वीतरागी संन्यासियों ने आगे बढ़ाने का काम किया वहीं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के मनीषी आचार्यों ने अपने शोध–अनुसन्धानों द्वारा अकादमिक क्षेत्र में इस विद्या को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा दी। राधाकृष्णन्, टी.आर. वी. मूर्ति, रमाकान्त त्रिपाठी, अशोक कुमार चटर्जी से लेकर रेवतीरमण पाण्डेय पर्यन्त विश्वविद्यालय के आचार्यों के चिन्तन का प्रमुख विषय अद्वैत रहा है। वस्तुतः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की मौलिक परम्परा अद्वैत की ही परम्परा रही है। उपरिलिखित विद्वानों में रमाकान्त त्रिपाठी को इस बात का श्रेय जाता है कि उन्होंने अद्वैत की इस परम्परा को और अधिक मूलगामी बनाया। प्रो. त्रिपाठी ने अपने विभिन्न लेखों में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि दार्शनिक चिन्तन का उत्स ही एक तरह के मिथ्यात्व बोध के साथ होता है तथा उसका पर्यवसान तत्त्व की अद्वैतानुभूति में होती है। दर्शन की पद्धति अपने मौलिक स्वरूप में अद्वैत की पद्धति है जो महज बौद्धिक वाग्विलास या प्रत्ययों का अमूर्त आडम्बर खड़ा करना नहीं है, न ही यह सामान्य अनुभव की अन्वीक्षा है अथवा द्वन्द्वात्मक पद्धति या द्वन्द्वन्याय है। दर्शन मूल में प्रत्यगनुभव की गहन मीमांसा है जो अनुभूति के ऐसे आयाम से हमारा साक्षात्कार कराती है जिस ओर वैदिक ऋषि परम्परा/श्रुति बार–बार निर्देश करती है।[1] प्रो. त्रिपाठी अपनी रचनाओं में अद्वैत की परम्परा को अन्य निरपेक्षवादी परम्पराओं से भिन्न सिद्ध करने के लिए उन सारभूत तत्त्वों की तलाश का प्रयत्न करते हैं जो अद्वैत को इन कथित अद्वैताभासी चिन्तन पद्धतियों से भिन्न करते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि प्रो. त्रिपाठी से पूर्ववर्ती और उनके शिक्षक रहे टी.आर.वी. मूर्ति अपने ग्रन्थ 'द सेन्ट्रल फिलासफी ऑफ बुद्धिज्म' में माध्यमिक शून्यवाद को एक निरपेक्षवादी दर्शन के रूप में प्रस्तुत करते हैं जिसे वे अद्वैतवाद के तर्ज पर अद्वयवाद की संज्ञा देते हैं। मूर्ति माध्यमिक शून्यवादी अद्वयवाद को वेदान्तिक अद्वैतवाद की अपेक्षा एक अधिक परिमार्जित विकल्प के रूप में पाते हैं। प्रो. त्रिपाठी अपने लेख 'नागार्जुन ऑर शंड्कर ?' में, जो वस्तुतः उपर्युक्त ग्रन्थ की समीक्षा है, मूर्ति के मत का सयुक्तिक खण्डन प्रस्तुत करते हुए माध्यमिक शून्यवाद की अपेक्षा अद्वैतवाद को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं।[2] त्रिपाठी का कहना है कि शून्यवाद जहां जगत् की शून्यता को मात्र तर्क के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न करता है वहीं अद्वैत की महत्ता इस बात में है कि वह उस वास्तविक अनुभव की ओर ईशारा करता है जब हम यह पाते हैं कि जागतिक पदार्थ मिथ्या हैं। माध्यमिकों का कहना है कि जगत् को जब हम तर्क एवं बुद्धि की तुला पर तौलते हैं तो उसका स्वरूप आत्मव्याघाती सिद्ध होता है। पर त्रिपाठी पूछते हैं कि जगत् की यह तार्किक असंगतता भला उसके मृषात्व को

दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

कैसे सिद्ध करती है ? पदार्थों के सत्यत्व या मिथ्यात्व का निर्णय तो अनुभव ही कर सकता है, तर्क नहीं। तर्क का क्षेत्र तो मात्र यह निर्णय करना है कि क्या सुसंगत है और क्या असंगत। अब अद्वैत की यही श्रेष्ठता है कि वह 'मिथ्यात्व' को मात्र शुष्क तर्क के आधार पर न सिद्ध कर अनुभव के वास्तविक धरातल पर सिद्ध करता है। स्वप्न या भ्रम जैसे प्रातिभासिक अनुभव अनुभव के वे वास्तविक स्थल हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि जो अनुभूत होता है वह वस्तुतः सत्य हो, आवश्यक नहीं। त्रिपाठी बार–बार रेखांकित करते हैं कि अद्वैत की परम्परा में जो महत्त्वपूर्ण तथ्य है वह यह कि अद्वैती इस बात को समझ सके कि सत्ता का मात्र पारमार्थिक या संव्यावहारिक स्तर न होकर ऐसा प्रातिभासिक स्तर भी है जहां असत् सत् की तरह प्रतीत होता है।

नितान्त असत् या तुच्छ जगत् जो वस्तुतः अलीक है कैसे सत् रूप में भासित होता है, यही अद्वैतवादियों के लिए सबसे बड़ा रहस्य है। 'स्वप्न' या 'प्रतिभास' वे वास्तविक अनुभव के क्षेत्र हैं जो ऐसा सम्भव बनाते हैं। फलतः 'प्रातिभासिक सत्' की अवधारणा को अपनी विचार–सरणि में स्थान देकर अद्वैती 'अतत्त्व' की 'तात्त्विक अनुभूति' की व्याख्या अधिक अच्छे ढंग से करने में सक्षम हुए। कहने की आवश्यकता नहीं, माध्यमिक 'प्रतिभास' के इस महत्त्व को समझ न सके।[3]

रेवतीरमण पाण्डेय (1942–2004) ने रमाकान्त त्रिपाठी के उपर्युक्त दार्शनिक चिन्तन को आगे बढ़ाते हुए अद्वैत की परम्परा में 'प्रातिभासिक' या 'प्रातीतिक' के महत्त्व को और अधिक रेखांकित किया। नानात्व या प्रपञ्च का विमर्श अद्वैतियों के लिए रूचि का विषय कभी नहीं रहा है। विशेषतः अद्वैत की मूलगामी परम्परा में– गौडपादकारिका, शङ्करकृत भाष्यों, योगवाशिष्ठ आदि में इसका स्पष्ट खण्डन किया गया है कि कभी किसी तरह का द्वैत रहा है या होगा, अथवा कि कभी 'एक' से 'अनेक' की उत्पत्ति हुयी हो। वस्तुतः 'उत्पत्ति' या 'परिणमन' जैसे शब्दों का वेदान्त में कोई स्थान बनता ही नहीं है । 'अजातवाद' ही अद्वैतियों का प्रमुख सिद्धान्त है। अस्तु, अद्वतियों के लिये समस्या यह नहीं है कि वह एक अद्वितीय तत्त्व नानात्वयुक्त जगत् के रूप में अपने को कैसे अभिव्यक्त करता है बल्कि समस्या यह है कि वह एक अद्वितीय तत्त्व नानात्वयुक्त जगत् के रूप में कैसे प्रतीत होता है। अतः समस्या एक के अनेकरूप 'होने' की न होकर 'दिखने' की है। जगत् या प्रपंच कोई देश कालावस्थित वस्तुसत् न होकर हमारी दृष्टि की उपज है।

अपनी दार्शनिक जीवन की यात्रा में जो उनके लिये अद्वैत–साधना की अपर पर्याय थी प्रो. पाण्डेय ने 'अजातवाद' व 'दृष्टिवाद' को अपने अध्ययन का प्रमुख अन्वेष्य विषय बनाया। जर्मनी–प्रवास के दौरान उन्होंने इन दो विषयों पर दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख लिखे। इन लेखों का अकादमिक जगत् में अभी मूल्यांकन किया जाना शेष है। प्रस्तुत लेख में मैं दृष्टिसृष्टिवाद पर केन्द्रित प्रो. पाण्डेय के दूसरे लेख "सम फन्डामेन्टल इश्यूज ऑफ पोस्ट–शाङ्कर वेदान्त इन द लाइट ऑफ द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा जो मेरी राय में अद्वैत–स्थापना के लिये किया गया उनका अतुलनीय प्रयास है।[4] पाण्डेय इस लेख द्वारा अद्वैत को देखने की न केवल एक नई दृष्टि देते हैं अपितु यह सिद्ध करने में भी भलीभांति सक्षम होते हैं कि यही दृष्टि मूलगामी अद्वैत की दृष्टि (रही) है जो गौडपाद, योगवाशिष्ठकार, शङ्कर, सर्वज्ञात्मन् से होती हुयी प्रकाशानन्द तक आती है । प्रकाशानन्द के बाद अद्वैत–चिन्तन की धारा

में एक ठहराव सा दिखता है । प्रो. पाण्डेय अपने वैचारिक नवोन्मेष के द्वारा न केवल इस ठहराव को दूर करते हैं अपितु उसकी अजस्र धारा को और आगे बढ़ाते हैं। अद्वैत वेदान्त की परम्परा में प्रकाशानन्द की ख्याति उनके दृष्टिसृष्टिवाद के लिये प्रसिद्ध है। प्रकाशानन्द सोलहवीं सदी के उत्तरार्ध के अद्वैत आचार्य हैं। अपने एकजीववाद, एक अज्ञानवाद व दृष्टि सृष्टिवाद के द्वारा उन्होंने अद्वैत सिद्धान्त को उसकी तार्किक चरम परिणति तक पहुँचाया। प्रो. पाण्डेय अपने लेख "सम फन्डामेन्टल इश्यूज ऑफ पोस्ट–शाङ्कर वेदान्त इन द लाइट ऑफ द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली" में प्रकाशानन्द द्वारा प्रस्तुत अद्वैत–विमर्श की सघन समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। पारम्परिक अध्ययन में प्रकाशानन्द को दृष्टिसृष्टिवादी समझा जाता है । प्रो0 पाण्डेय अपने अध्ययन द्वारा यह सिद्ध करने में समर्थ होते हैं कि दृष्टिसृष्टिवाद अजातवाद के अनुषंगी सिद्धान्त के रूप में ही प्रतिष्ठित होता है । वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार अन्ततः इस सिद्धान्त को भी 'अजातवाद' के पक्ष में खारिज कर देते हैं । वस्तुतः 'सृष्टि' का विमर्श अद्वैतियों के लिये कभी रूचि का विषय नहीं रहा है । फलतः जिस तरह सृष्टिदृष्टिवाद सृष्टि के रहस्य को समझाने में अक्षम है उसी तरह दृष्टिसृष्टिवाद भी। दृष्टिसृष्टिवाद भी अद्वैतियों के लिये पारमार्थिक सिद्धान्त नहीं है। यह भी एक सीढ़ी है अद्वैत स्थापन के लिये, ठीक उसी तरह जिस तरह सृष्टिदृष्टिवाद। अब यह प्रश्न अलग है कि कौन सी सीढ़ी अधिक अच्छी है और कौन कम । वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार सृष्टिदृष्टिवाद की अपेक्षा दृष्टिसृष्टिवाद को अधिक परिपक्व, सुसंगत और अद्वैत की मूल प्रस्थापनाओं के अनुरूप पाते हैं। प्रकाशानन्द द्वारा प्रस्तुत दृष्टिसृष्टिवाद व उस पर प्रो. पाण्डेय की व्याख्या के सम्यक् अवबोध व विश्लेषण के लिये अद्वैत वेदान्त की परम्परा में प्रस्तुत सृष्टिविषयक विभिन्न मतों का एक पुनरावलोकन अपेक्षित होगा।

अद्वैत वेदान्त की परम्परा में सृष्टि को लेकर तीन मत मिलते हैं– सृष्टिदृष्टिवाद, दृष्टिसृष्टिवाद तथा अजातवाद । प्रथम मत परम्परा में सर्वाधिक प्रसिद्ध है। वेदान्तसार जैसे ग्रन्थों में इसी मत को आधार बनाकर सृष्टि की प्रक्रिया समझायी गयी है तथा उसके स्वरूप का विवेचन किया गया है । अज्ञानोपहित चैतन्य से सकल जगत् की सृष्टि पंचीकरण की प्रक्रिया द्वारा हुयी है। इस मत का आधार भगवान् भाष्यकार द्वारा प्रणीत 'पञ्चीकरण' ग्रन्थ है जिसमें सृष्टि सम्बन्धी उपनिषद् मत का समाकलन प्रस्तुत किया गया है। समस्त सृष्टि सर्वज्ञ सर्वसशक्त ईश्वर से उत्पन्न है। यह ईश्वर समष्टिगत अज्ञान से उपहित चैतन्य का नाम है। यावत् जगत् और जागतिक वस्तुएँ पञ्चीकरण की प्रक्रिया द्वारा सृष्ट है। यह जगत् हमारे मन की कल्पना या दृष्टि की उपज (दृष्टिसृष्टिवाद) न हो सर्वज्ञ, सर्वसशक्त परमात्मा द्वारा सृष्ट और उसके नियमों से अनुशासित तथा पोषित है, हमारी दृष्टि न तो इसको उत्पन्न करती है और न इसमें छेड़छाड़ कर सकती है (सृष्टिदृष्टिवाद)। हम जिस जगत् में रहते हैं वह हमारे द्वारा सृष्ट निजी जगत् न होकर एक सार्वजनिक जगत् है, जाहिर है ऐसे सार्वजनिक जगत् की रचना ईश्वर द्वारा ही हो सकती है। अतः ईश्वरसृष्ट जगत् जो हमसे निरपेक्ष रूप से पूर्व से ही विद्यमान है वह हमारी दृष्टि का विषय बनता है, न कि हमारी दृष्टि इस जगत् को उत्पन्न करती है।

सृष्टि सम्बन्धी एतद् विचार 'व्यवहार' के अनुरोध से किया गया प्रतीत होता है। अद्वैत की परम्परा में त्रिविध सत्य की अवधारणा पर बल दिया गया है। जाग्रतकालीन वस्तुओं को व्यावहारिक रूप से सत् स्वीकार किया गया है। जगत् एवं जागतिक वस्तुएँ ज्ञाता के ज्ञान से

पृथक् स्वतन्त्र रूप से अस्तित्ववान हैं, यह इस मत का आधार है । हम जानते हैं कि शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में तथा अन्यत्र अन्य उपनिषदों के भाष्य में बौद्ध–विज्ञानवाद की जमकर आलोचना की है । जाग्रत व स्वप्न का अन्तर कभी न मिटने वाला अन्तर है । अस्तु, स्पष्ट रूप से प्रतीयमान सर्वलोकप्रसिद्ध इस सर्वसाधारण जगत् की सत्ता को स्वप्नवत् कहकर खारिज नहीं किया जा सकता है । ज्ञाता व उसके ज्ञान से पृथक् वस्तुनिष्ठ जगत् की सत्ता बरबस अपने को हम पर आरोपित करती है। वस्तुओं के अस्तित्व को उनके ज्ञान में विघटित नहीं किया जा सकता है। वस्तु व उसका ज्ञान ये दोनों गोशृङ्गवद् अलग–अलग हैं। जो लोग जगत् को स्वप्नवत् बताते हैं, वे जाग्रत और स्वप्न के महान अन्तर को नजरन्दाज करते हैं। प्रतिभास और व्यवहार भिन्न–भिन्न है। एक अद्वितीय परमसत् को स्वीकार करने के बावजूद तथा तद्भिन्न अखिल नानात्व को मिथ्या मानने के बावजूद अद्वैती ज्ञाता एवं उसके ज्ञान से पृथक् एक वस्तुनिष्ठ जगत् को उसी तरह स्वीकार करता है जैसे अन्य दूसरे लोग। व्यवहार की चिन्ता और सुरक्षा अद्वैत मत में उसी तरह से होती है जैसे अन्य बाह्यार्थवादी दर्शनों के मत में। जगत् हमारे मन की कल्पना नहीं है, यह चित्त मात्र में घटित होने वाली घटना नहीं है। चित्त के परे व बाह्य एक सर्वलोकप्रसिद्ध जगत् विद्यमान है, हमारा ज्ञान इसको प्रकाशित करता है, उत्पन्न नहीं करता। यह जगत् मेरा ही जगत् नहीं है। हमारे ही तरह अन्य दूसरे जीवों से यह जगत् युक्त है। जाहिर है शङ्कराचार्य का मत आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद का नहीं है, न ही यह किसी तरह के अहम्मात्रवाद का पोषक है। शङ्कर ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से स्पष्टतः वस्तुवादी हैं, व्यवहारवादी हैं। न्याय–वैशेषिक या अन्यों का बाह्यार्थवाद शङ्कराचार्य को पूरी तरह से स्वीकार्य है। अद्वैतवाद की परम्परा बाह्यार्थवाद को पूरी तरह से संपोषित करती है। इसी निमित्त परम्परा में व्यावहारिक सत् पर इतना आग्रह किया गया है। अब यदि ज्ञाता के ज्ञान से पृथक् एक सर्वसाधारण वस्तुनिष्ठ जगत् विद्यमान है तो प्रश्न उठता है कि इसकी रचना कैसे हुयी, परम्परा में इस पर पर्याप्त आलोड़न हुआ और अन्ततः यह निश्चित हुआ कि एक क्रम विशेष से ईश्वर ने माया द्वारा जगत् की सृष्टि की। इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व लय का कारण सर्वज्ञ, सर्वसशक्त ब्रह्म ही है। उसके द्वारा सृष्ट जगत् में ही सकल प्राणी जगत्, जीव–जन्तु, किन्नर, देव आदि निवास करते हैं। यह जगत् हमारे मन की कल्पना या उपज न हो परमात्मा द्वारा सृष्ट व उसके नियमों से अनुशासित व पोषित है।

इस सृष्टदृष्टिवाद की दार्शनिक बुनियाद पर वेदान्त की परम्परा में इस बात की पर्याप्त अन्वीक्षा की गयी कि इस सृष्टि का रहस्य क्या है, उसका स्वरुप क्या है, उसकी प्रक्रिया क्या है ? परम्परा में इस सम्बन्ध में प्रस्तुत नानाविध विकल्पों की अन्वीक्षा करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया कि नियतिवाद, कालवाद, स्वभाववाद, यदृच्छावाद, परमाणुवाद, प्रधानवाद आदि सिद्धान्त 'सृष्टि' की प्रक्रिया एवं उसके स्वरूप को व्याख्यायित करने में अक्षम हैं। शङ्कराचार्य शारीरकभाष्य में कहते हैं कि अनेक कर्त्ता व भोक्ता से युक्त, प्रतिनियत देशकालनिमित्त वाले कर्मफल के आश्रय, मन से भी अचिन्त्य रचना रूप वाले जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व लय सर्वज्ञ, सर्वसशक्त ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु–अचेतन प्रधान (सांख्य मत), परमाणु (न्यायवैशेषिक), शून्य (बौद्ध), स्वभाव (चार्वाक मत) अथवा आद्य हिरण्यगर्भ से नहीं हो सकती।[5] आचार्य के उपनिषद् भाष्यों के अनुसार समस्त प्राणियों को उनके कर्मों के अनुरूप फल देने वाला, तीनों लोकों

का स्वामी, सभी पर शासन करने वाला, प्रधान व पुरुष का नियमन करने वाला आत्मा ईश्वर है। वह मायावी है, मायोपहित होकर अपनी शक्ति द्वारा सम्पूर्ण लोकों का शासन करता है।[6] वही समस्त जगत् को उत्पन्न करता है, स्थित रखता है तथा उसका नाश करता है अर्थात् प्रलय में उसे अपने में लीन कर लेता है । वह सम्पूर्ण लोकों की रचना करने में कुम्भकार की तरह नहीं है जिसे कि अपने से पृथक् मृत्तिका रूप उपादान की आवश्यकता पड़ती है, अपितु केवल अपनी शक्ति को क्षुब्ध करने से वह जगत् की रचना तथा नियमन में समर्थ है ।[7] समस्त प्राणियों के चक्षु उस ईश्वर के ही हैं, इसी प्रकार समस्त प्राणियों के सभी अंग उसी के हैं । अपनी इच्छा मात्र से वह सर्वत्र सभी विषयों का ग्रहण कर सकता है। वह सर्वव्यापी, सर्वसमर्थ, सबका शासक–प्रेरक है, वही हिरण्यगर्भ का जनक है ।[8] इसी सर्वज्ञ, सर्वसशक्त ईश्वर तत्त्व का प्रतिपादन श्रुतियों में किया गया है, उसे उत्पत्ति, स्थिति व लय का कारण कहा गया है तथा इसी की जिज्ञासा ब्रह्मसूत्र में की गयी है। वस्तुतः 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' में जिस ब्रह्म की जिज्ञासा के लिये वेदान्त के प्रवृत्ति की बात की गयी है उसी का लक्षण 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र में दिया गया है। जगत् एक सर्वज्ञ, सर्वसशक्त ब्रह्म द्वारा सृष्ट है। आगे 'ईक्षत्यधिकरण' में भाष्यकार ने इस बात पर पर्याप्त विमर्श किया है कि जगत्सृष्टि के प्रति ईक्षणकर्तृत्व किसमें है। सांख्यमत का विरोध करते हुए भाष्यकार यह युक्तिपूर्वक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि ईक्षणत्व या संकल्प जड़ प्रधान में नहीं हो सकता है। चेतन ईश्वर ही जगत् का कारण है।[9] इसका अर्थ नहीं है कि केवल निमित्त कारण के रूप में ही यह ब्रह्म स्वीकार्य है, अपितु वह एक साथ ही निमित्त एवं उपादान कारण दोनो है। जैसे मकड़ी स्वयं अपने से जाल का निर्माण करती है वैसे ही वह सर्वसक्षम ईश्वर स्वयं से इस सृष्टि का निर्माण करता है।

अब यहाँ स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है कि यदि इस जगत् की उत्पत्ति एक सर्वज्ञ, सर्वसशक्त स्वचेतन ईश्वर से हुयी है, वही इस जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है तो यह मत अन्य वैष्णव–वेदान्तियों रामानुज प्रभृति के मत से किस प्रकार भिन्न है। वस्तुतः सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की स्थिति को अद्वैत की परम्परा में एक सोपान के रूप में ही लिया जा सकता है, उसके तात्त्विक निहितार्थ के रूप में नहीं । परमार्थतः अद्वैत मत में न तो नानात्वयुक्त जगत् है और न ईश्वर। एक अद्वितीय परमसत् से भिन्न यावत् सकल को मिथ्या ही मानना चाहिये । अब यदि ऐसा है तो सृष्टिपरक श्रुतियों एवं शास्त्रवचनों को उनके वास्तविक निहितार्थ में ही लेना चाहिए, न कि शब्दशः । समस्या मात्र यही नहीं है । प्रश्न है कि एक से नानात्व की सृष्टि भला कैसे हो सकती है, और इनके बीच सम्बन्ध की व्याख्या कैसे होगी ?सम्बन्ध समानकोटिक सत्ताओं में ही हो सकता है– प्रपञ्च और परमसत् समानकोटिक नहीं है। फिर परमतत्त्व को वेदान्त की परम्परा में सारे प्रपञ्चों से, सम्बन्धों से, विशेषणों से अतीत बताया गया है । यह सही है कि परमतत्त्व परमब्रह्म को यावत् सकल का कारण भी बताया गया है तथा उसी से यावत् नानात्व की उत्पत्ति मानी गयी है। पर यह नहीं भूलना चाहिये कि अद्वैत की परम्परा में कारणता व उत्पत्ति का अपना ही अर्थ है। परमतत्त्व तो सारे कारण सम्बन्धों से अतीत व उत्पत्ति एवं निरोध से परे है।

यह सही है कि उपनिषदों में सृष्टिविषयक विभिन्न मतों की समीक्षा के बाद एक सर्वज्ञ, सर्वसशक्त ईश्वर को जगद् के कारण के रूप में स्वीकार किया गया है– 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म' इस रूप में ब्रह्म को जगत् का

कारण बताया गया है, कि सूत्रकार ब्रह्मसूत्र के दूसरे ही सूत्र में 'जन्माद्यस्य यतः' कहकर सृष्टिकर्ता ईश्वर को स्वीकार करते हैं, और कि त्रिवृत्करण व पञ्चीकरण का सिद्धान्त वेदान्त की परम्परा में बहुशः विवेचित होता है, पर जैसा कि शङ्कराचार्य ने भाष्यों में दिखलाया है और जैसा कि गौडपाद ने माण्डूक्यकारिका में स्पष्ट किया है कि उपनिषदों का इन स्थलों में वास्तविक प्रतिपाद्य ब्रह्म की अनन्यता सिद्ध करना है न कि सृष्टिप्रक्रिया बतलाना। वेदान्त का वास्तविक मत ब्रह्मपरिणामवाद न होकर ब्रह्मविवर्तवाद है। एक से अनेक का परिणमन प्रतीयमान ही है, वास्तविक नहीं । तत्त्वतः एक अद्वितीय चैतन्य रूप परमसत् की सत्ता है और उसका यावत् विध नानात्व के रूप में परिणमन तत्त्वतः न होकर प्रातीतिक ही है। यही अद्वैतवादियों का विवर्तवाद है जो तात्त्विक परिणमन या उत्पत्ति को सिरे से खारिज करता है। अद्वैती जब ब्रह्म को उपादान कारण बताते हैं तो उनका आशय विवर्तोपादान से है, परिणामोपादान से नहीं। तात्त्विक अन्यथाप्रथा या परिवर्तन, परिणाम, उत्पत्ति या सृष्टि का परमार्थतः अद्वैत मत में कोई स्थान नहीं बनता । वस्तुतः सृष्टिवाद का अद्वैत में कोई स्थान नहीं बनता है ।

यहाँ ध्यातव्य है कि अद्वैती अपने इस निष्कर्ष पर कि ब्रह्म सभी कारण सम्बन्धों से परे है, कि तत्त्वतः परिणमन, उत्पत्ति या सृष्टि का अद्वैत मत में कोई स्थान ही नहीं बनता, स्वयं 'सृष्टि' या 'कारणता' जैसे प्रत्ययों के विश्लेषणोपरान्त पहुँचते हैं। शङ्कराचार्य कहते हैं 'उत्पन्न होता है' ऐसे शब्दों या प्रत्ययों का प्रयोग मूढ़ या अविवेकी ही करते हैं। विवेकी तो उनकी परीक्षा करके देखते हैं कि वे सत्य हैं या मिथ्या । और विश्लेषणोपरान्त यही बोध होता है कि शब्द या प्रत्ययों के विषयभूत घट पटादि पदार्थ वस्तुतः शब्द मात्र हैं। वाचारम्भण श्रुति का वस्तुतः यही आशय है– अस्ति जायत इति प्रत्ययः शब्दश्च मूढानाम्। तावेव शब्दप्रत्ययौ विवेकिभिः परीक्ष्यते किं सत्यमेव तावुत मृषेति। यावता परीक्ष्यमाणे शब्दप्रत्ययविषयं वस्तु घटपुत्रादिलक्षणं शब्दमात्रमेव तत्। वाचारम्भणम् इति श्रुतेः। माण्डूक्यकारिकाभाष्य –2/17–18

पुनश्च जैसा कि हम जानते हैं कि छान्दोग्य उपनिषद् के 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' श्रुति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कारण मात्र की ही वास्तविक सत्ता है और कार्य मिथ्या है– वाचारम्भण मात्र है । तत्त्व तो एक मात्र मिट्टी या स्वर्ण है, भले ही हम उसे घड़ा, सकोरा का नाम दें या कंगन या कुण्डल कहें । वस्तुतः कारण मात्र की ही वास्तविक सत्ता है, कार्य तो वाचारम्भण मात्र है, मिथ्या है– वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मृतिकेत्येव सत्यम् ––। छान्दोग्य उपनिषद् 6/1/4–6 । शङ्कराचार्य भाष्य करते हुए कहते हैं– वागालम्बनमात्रं नामैव केवलं न विकारो नाम वस्त्वस्ति परमार्थतो मृत्तिकैव तु सत्यं वस्त्वस्ति।[10]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शङ्कराचार्य स्पष्टतः विकार या उत्पत्ति को खारिज करते हैं। कारण मात्र की ही वास्तविक सत्ता है, कार्य मिथ्या है, वाचारम्भण है। कारण सदा अविकृत रहता है, नामरूपादि विकार वाचारम्भण है, इसलिये कार्य या प्रपञ्च के रूप में कारण के परिणमन को मायिक ही समझना चाहिये। तत्त्व सर्वदा अविकृत ही रहता है–तस्मादस्ति अविकृतं ब्रह्म। ऐसी स्थिति में नाम रूपादि जगत् या प्रपञ्च के सृष्टिपरक कारण के रूप में जो उस तत्त्व की व्याख्या की जाती है, वह वस्तुतः उपमानमूलक है, लक्ष्य तो ब्रह्मात्मैक्य का प्रतिपादन है। शङ्कर कहते हैं कि अन्न के मूल में जल को, जल के मूल में तेज को और तेज के मूल में सत् ब्रह्म को बतलाकर

श्रुति वस्तुतः समस्त सृष्टिव्यापार को ब्रह्म प्रतिपत्ति के अर्थ में बतलाती है– दर्शयति च सृष्ट्यादि प्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थताम्– 'अनेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छादि्भः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ'।[11] शङ्कर कहते हैं कि "यह सृष्टि आदि प्रपञ्च वेदान्त का प्रतिपाद्य नहीं है।—— उपक्रम और उपसंहार से उपनिषदों के ब्रह्म विषयक वाक्यों के साथ सृष्टिपरक वाक्यों की एकवाक्यता मालूम होती है।"[12] इसी तरह ब्रह्मसूत्र 2/1/27 के भाष्य में शङ्कराचार्य कहते हैं कि जगत् सृष्टि सम्बन्धी सभी श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्मात्मैक्यभाव प्रतिपादन के लिये है। जगत् सृष्टिसम्बन्धी, परिणाम सम्बन्धी श्रुतियों का अर्थ स्वयं में न होकर आत्मैकत्व प्रतिपत्यर्थ है– न चेयं परिणामश्रुतिः परिणामप्रतिपादनार्था ——। सर्वव्यवहारहीन ब्रह्मात्मभाव प्रतिपादनार्था त्वेषा .....।

गौडपाद माण्डूक्यकारिका में कहते हैं कि जब उपनिषद् सृष्टिकार्य को कारण से भिन्न बतलाकर मृत्तिका, सुर्वण, लौह, विस्फुलिङ्ग आदि के दृष्टान्त देते हैं तो इनका यह अर्थ नहीं है कि सृष्टि वास्तविक है। ये दृष्टान्त तो हमें समझाने के साधन हैं, उपाय हैं, वास्तव में किसी प्रकार का भेद नहीं है –

मृल्लौह विस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन्।।[13]

अर्थात् मिट्टी, लोहा, अग्निकण आदि का दृष्टान्त देकर जो सृष्टिप्रक्रिया भिन्न–भिन्न प्रकारों से बताई गयी है, वह सिर्फ जीव और ब्रह्म की एकता बताने का तरीका है। शङ्कर उपर्युक्त कारिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि मिट्टी, लोहा, विस्फुलिङ्ग आदि के दृष्टान्त को उद्धृत कर जो सृष्टि भिन्न–भिन्न प्रकार से प्रतिपादित की गयी है, वह सब सृष्टि प्रकार जीव और ब्रह्म की एकता को बुद्धि में अवतारित करने का उपाय है। इसी तरह वेदों के अन्य सृष्टिपरकवाक्यों को भी समझना चाहिए अर्थात् वेदों के सृष्टिविषयक वाक्यों का तात्पर्य जीव और ब्रह्म की एकता बताना ही है, सृष्टिक्रम बताना नहीं।[14]

एवंप्रकारेण हम देख सकते हैं कि सृष्टिदृष्टिवाद एवं उस पर आधारित तमाम सृष्टि–विमर्श का अद्वैत मत में वस्तुतः कोई स्थान नहीं बनता है। यह सम्पूर्ण विमर्श हमें बरबस ही वैष्णव वेदान्तियों व सांख्यों द्वारा प्रस्तुत सृष्टिविमर्श की याद दिलाता है । वस्तुतः यह न तो अद्वैतियों की रूचि का क्षेत्र है और न ही उनके मत से पूर्ण संगत। हॉलांकि स्वयं अद्वैत की परम्परा में रहते हुए यह दिखाया जा सकता है और जैसा कि विभिन्न सृष्टिदृष्टिवादी आचार्यों ने दिखाया है कि ऐसे (भी) विमर्श से अद्वैत को कोई क्षति नहीं पहुँचती। कहा जा सकता है कि वैष्णववेदान्ती या सांख्य या कदाचित् न्यायवैशेषिक आचार्य भी सृष्टि आदि का जो क्रम बताते हैं तथा उसकी जो व्याख्या करते हैं व्यवहार में अद्वैतियों को वह पूरी तरह से मान्य है, हाँ अद्वैतियों के लिये यह पारमार्थिक सिद्धान्त नहीं है। तो अद्वैतियों का स्वारस्य किस सिद्धान्त में है ? एतद् विषयक उनका पारमार्थिक सिद्धान्त क्या है ?

अद्वैतियों के लिए एक अद्वितीय चैतन्य रूप परमात्म तत्त्व की ही सत्ता है, तद्भिन्न यावत् सकल मिथ्या है। यह नानात्व या भेदरूप जगत् वस्तुतः उनके अनुसार अज्ञानप्रसूत है, आविद्यक है, प्रातीतिक है। ऐसी स्थिति में हम देख सकते हैं कि अद्वैत मत में मुख्य समस्या एक से अनेक

की सृष्टि की न होकर यह है कि यदि एक अद्वितीय चिदानन्द रूप तत्त्व की ही सत्ता है तो वह तद्‌रूप ही क्यों नहीं भात होता है ? अद्वैत की जगह नानात्वयुक्त जगत् प्रपञ्च या द्वैत की प्रतीति क्यों होती है ? अतः समस्या एक से अनेक की सृष्टि की न होकर यह है कि एक से अनेक की प्रतीति क्यों होती है ? द्वैत, नानात्व या तद् रूप जगद् या प्रपञ्च की प्रतीति को कोई भी अद्वैती झुठलाता नहीं है । हाँ, जहाँ सृष्टिदृष्टिवादी यह कहना चाहते हैं कि इनकी प्रतीति जीव को इसलिये होती है कि ये उससे पृथक् स्वतन्त्र रूप से विद्यमान हैं, अर्थात् द्वैत, नानात्व, जगत् या प्रपञ्च है, इसलिये जीवों को यह प्रतिभात होता है, दृष्टिसृष्टिवादी इसके वस्तुनिष्ठ अस्तित्व को सिरे से नकारते हुए यह कहते हैं कि यह द्वैत या नानात्व की प्रतीति ही कथित् जगत् या प्रपञ्च है। फलतः एक की अनेक रूप में प्रीतति या कहें कि अद्वैत का द्वैत रूप में भान ही सृष्टि है। और सृष्टिविषयक समस्या का समाधान इसी प्रश्न का उत्तर है कि कैसे वह एक अद्वितीय ब्रह्म, जीव एवं जगत् के रूप में भासित होता है। इस तरह एक का अनेक होना सृष्टि न होकर एक का अनेक दिखना ही अद्वैत मत में सृष्टि है और तभी हम समझते हैं कि 'एक का अनेक होना' ऐसी स्थिति समझने पर अद्वैत मत में जो तमाम सृष्टि सम्बन्धी मत आते हैं वे सिद्धान्त से न्याय नहीं कर पाते। वस्तुतः देखा जाए तो कोई नानात्व या जगत् नहीं है जिसकी सत्ता है एवं जो मूल सत्ता से जन्य है, अपितु 'नानात्व' या 'जगत्' की प्रतीति ही जगत् है। जगत्–प्रतीति और जगत् अद्वैत मत में एक ही हैं और जगत् की प्रतीति होना ही कथित सृष्टि है।

एवंभूत हम देखते हैं कि अद्वैत मत में एक अद्वितीय चैतन्यरूप परमात्मतत्त्व की ही सत्ता है, अज्ञान या अविद्यावश वह तत्त्व अपने इस स्वरूप का साक्षात्कार न कर अपने को सीमित विपन्न ज्ञाता के रूप में अनुभव करता है तथा नानात्व और प्रपञ्च से युक्त जगद् को देखता है। द्वैत और नानात्व के अनुभव को दृष्टिसृष्टिवादी भी स्वीकार करते हैं, पर वे इसे अनुभव से पृथक्–प्रतीति से पृथक् स्वतन्त्र नहीं मानते । दृष्टिसृष्टिवादियों के अनुसार एक मात्र अद्वितीय आत्मचैतन्य की सत्ता है, तद्‌भिन्न सारे अनात्म पदार्थ प्रातीतिक हैं, प्रातिभासिक हैं । प्रतीति से भिन्न इनकी सत्ता नहीं है, प्रतिभास मात्र ही इनकी सत्ता है । वस्तुओं की सत्ता उनके ज्ञान से पृथक् नहीं है, फलतः एक अद्वितीय आत्मतत्त्व से भिन्न यावत् जगत् व उसमें जो कुछ भी भासित होता है, उसकी सत्ता उसके ज्ञान से पृथक् नहीं है । दृष्टिसमकालीन ही सृष्टि है या दृष्टि ही सृष्टि है । वस्तुओं का दिखना ही उनका होना है, इस दिखने से भिन्न उनका कोई निजी अस्तित्व नहीं है । ऐसा नहीं है कि वस्तुएँ पहले से विद्यमान हैं, कि हमसे पृथक् देशकालावस्थित जगत् व जागतिक वस्तुएँ स्वयं में विद्यमान हैं और हम उन्हें अपने ज्ञान द्वारा अज्ञात से ज्ञात बनाते हैं । बल्कि सच तो यह है कि वस्तुओं का अस्तित्व उनके ज्ञान से पृथक् है ही नहीं । दृष्टिपर्यन्त ही सृष्टि है, दृष्टि के समय ही सृष्टि होती है और तावत् पर्यन्त ही विद्यमान रहती है । दृष्टिसृष्टिवादियों के अनुसार एक अद्वितीय चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म की ही सत्ता है । तद्‌भिन्न वस्तुतः कोई है नहीं । अतः तद्‌भिन्न यदि कुछ दिखता है तो वह मिथ्या ही समझना चाहिये। सकल भेद, नानात्व व उनसे युक्त जगत् वस्तुतः अज्ञानप्रसूत है । तत्त्वतः उनकी सत्ता नहीं है, वे असत् हैं । अत असत् होते हुए भी वस्तुयें यदि दिखाई दें तो वे स्वप्नवत् मिथ्या ही होंगे।

दृष्टिसृष्टिवादियों के अनुसार परमार्थतः एक अद्वितीय चित् तत्त्व की ही सत्ता है तथापि प्रतीति के अनुरोध से द्विविध सत्ता स्वीकार की जा सकती है– पारमार्थिक व प्रातिभासिक। प्रतिभास ही शरीर हो जिसका उसे प्रातिभासिक कहते हैं। अथवा प्रतिभास मात्र में– प्रतीति मात्र में जिसकी सत्ता हो उसे प्रातिभासिक कहते हैं। वस्तुओं का अस्तित्व उनके ज्ञान से पृथक् नहीं है। ज्ञानकाल में ही वस्तुओं का अस्तित्व है, जब तक वे ज्ञात हो रही हैं तभी तक उनकी सत्ता है, उस ज्ञान से पृथक् उनकी कोई सत्ता नहीं है। वस्तुओं की कोई अज्ञात सत्ता नहीं है। जिस तरह स्वाप्निक वस्तुओं की सत्ता तभी तक है जब तक स्वप्न हो रहा है, उसी तरह जाग्रत दशा की वस्तुओं की भी सत्ता तभी तक है जब तक वे हमारे द्वारा अनुभूत हो रही हैं। जिस तरह स्वाप्निक वस्तुओं की सत्ता उतनी ही है जितनी वे देखी जा रही है, उसी प्रकार जाग्रत वस्तुओं की भी सत्ता उतनी ही है जितना वे हमारे दृष्टि (पथ) में आती हैं, उतने देर तक ही सत्ता है जितने देर तक हमारे दृष्टि (क्षेत्र) में रहती हैं। वस्तुतः जाग्रत का स्वप्न से कोई विशेष नहीं है। स्वप्न व जाग्रत में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। पहला एक क्षण तक रहता है तो दूसरा दो क्षण । इसीलिये गौडपाद माण्डूक्यकारिका में कहते हैं कि सृष्टि का स्वरूप स्वप्न या माया के समान है। जिस प्रकार स्वप्न या मायाजाल में वस्तुएँ न होते हुए भी दिखाई पड़ती हैं, उसी प्रकार संसार में वस्तुएँ नहीं है, फिर भी दिखाई पड़ती हैं– स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा। तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः।। माण्डूक्यकारिका 2/31। गौडपाद का कहना है कि जाग्रत का स्वप्न से कोई वैलक्षण्य नहीं है, दोनों में अनुभूयमानत्व समान है । वस्तुतः दोनों ही समान रूप से वितथ हैं। गौड़पाद की तरह ही योगवाशिष्ठकार भी कहते हैं कि समस्त सृष्टि वस्तुतः संविदात्मा के भीतर घटित होने वाले स्वप्न के समान है। इसका प्रतिभास में ही उदय होता है, उसी में स्थिति रहती है तथा वहीं लय हो जाता है ।[15] प्रतिभास से पृथक् सृष्टि की कोई स्थिति नहीं है। स्वयं भगवत्पाद शङ्कराचार्य विवेकचूड़ामणि में संसार को मन की रचना बातते हैं। दृष्टिसृष्टिवाद के अनुरूप ही वे संसार को स्वप्न व मन द्वारा कल्पित बताते हैं । आगे सर्वज्ञात्मन् अपने संक्षेपशारीरक में, मधुसूदन सरस्वती सिद्धान्तबिन्दु तथा अद्वैतसिद्धि में व प्रकाशानन्द अपने वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में जगत् को स्वप्नवत् प्रातिभसिक बताते हुए उसके मिथ्यात्व को सिद्ध करते हैं ।[16] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि अद्वैत के भीतर दृष्टिसृष्टिवाद की एक पूरी परम्परा समानान्तर रूप से दिखायी पड़ती है जो जगद् वैचित्र्य के मूल में किसी सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को न स्वीकार कर मानव मन को ही इस संसार के रचयिता के रूप में देखती है। बन्धन एवं मोक्ष को मन के खेल के रूप में देखती है। जगत् को उसके ज्ञान (के रूप) में विघटित करती है और इस प्रकार एक तरह के आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद या अहम्मात्रवाद को पोषित करती है । प्रकाशानन्दकृत वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में इस चिन्तन को पराकाष्ठा प्राप्त होती है।

प्रकाशानन्द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में अद्वैत के सिद्धान्त को उसकी तार्किक परिणति तक पहुँचाते हैं। यदि एक मात्र अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप परमतत्त्व की ही सत्ता है, तो इस आत्मतत्त्व की नानात्व रूप में किसी भी प्रकार की अवस्थिति (किं वा प्रतीति भी) मिथ्या है। अब यदि ऐसा है तो अद्वैत मत में नानाजीववाद या अनेकजीववाद को किसी भी प्रकार अवकाश नहीं है। एकजीववाद ही अद्वैतदृष्टया समीचीन है । पुनश्च जगत् का व्यावहारिक भी अस्तित्व स्वीकार्य

नहीं होना चाहिए । प्रकाशानन्द का तर्क है कि जगत् का अस्तित्व वस्तुतः उसकी प्रतीति से भिन्न नहीं है । परमार्थतः परमचैतन्यरूप आनन्दात्मा की ही सत्ता है, तद्भिन्न समस्त कार्यजगत् व उसकी प्रतीति, भेद और भेद का ज्ञान सब मिथ्या है, मायिक है, आविद्यक है– **ब्रह्मातिरिक्तं कृत्स्नकार्यजगतं ज्ञानज्ञेयरूपं तत्सर्वमाविद्यकमेव** ।[17] सकलनानात्व की तभी तक सत्ता है जब तक वे दृश्य हो रही हैं, ज्ञात हो रही है, प्रतीत हो रही है। प्रतीति से भिन्न वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है। ऐसी स्थिति में हम सहज देख सकते हैं कि सामान्य व्यावहारिक वस्तुओं और स्वाप्निक तथा भ्रामिक वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं रह जाता। वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार इस निष्कर्ष को निस्संकोच स्वीकार करते हैं। वस्तुओं के प्रातिभासिक और व्यावहारिक स्वरूप में भेद का वस्तुतः कोई आधार नहीं है। सत्ता द्विविध है। परमार्थतः एक अद्वितीय ब्रह्म की ही सत्ता है। सकल भेद या नानात्वयुक्तजगत् व जागतिक पदार्थों की प्रातीतिक सत्ता है अर्थात् प्रतीतिकालीन सत्ता है, परमार्थतः उनकी सत्ता नहीं है। एवंभूत हम देख सकते हैं कि प्रकाशानन्द सत्ता के त्रिविध स्तरों– परमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक के स्थान पर उसके द्विविध रूप को प्रस्तावित करते हैं।[18] वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार का उपर्युक्त प्रस्ताव नितान्त अभिनव है, पर जैसा कि रेवतीरमणपाण्डेय कहते हैं कि वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार अपने इस द्विविध सत्ता के सिद्धान्त को अभिनव नहीं बताते हैं।[19] प्रकाशानन्द का कहना है कि परम्परागत आचार्यों ने कभी भी व्यावहारिक सत्ता को प्रातीतिक से परे नहीं माना तथा व्यवहार व प्रतिभास के कथित भेद को प्रतीति या प्रतिभास के अन्तर्गत का ही भेद माना– **भ्रान्तबुद्धिसिद्धावान्तरवैषम्याश्रित व्यावहारिकसत्त्वाभिधान विरोधात्** ।[20] अब यदि व्यवहार और प्रतिभास का कथित भेद वस्तुतः प्रतीति के भीतर का ही है तो हम सहज समझ सकते हैं कि जाग्रत और स्वप्न में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं रह जाता। वस्तुतः स्वप्न की सारी विशेषतायें और लक्षण जाग्रत पर तथाविध ही लागू होती हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि वसुबन्धु ने विज्ञाप्तिमात्रतासिद्धि में इस बात को बड़े ही विलक्षण ढंग से सिद्ध करने का प्रयास किया है कि किस प्रकार हमारे ज्ञान से पृथक् बाह्यार्थ की कोई सत्ता नहीं है तथा स्वप्न व जाग्रत की अवस्थाओं में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। बाह्य वस्तुओं के समस्त गुण धर्म स्वाप्निक वस्तुओं पर भी लागू होते हैं। अस्तु, प्रकाशानन्द के अनुसार व्यावहारिक सत्ता नामक कोई चीज नहीं है। वस्तुओं का अस्तित्व उनके ज्ञान से पृथक् नहीं है। ज्ञाता के ज्ञान से पृथक् स्वतन्त्र रूप से विद्यमान देश–काल में अवस्थित सर्वलोकप्रत्यक्ष किसी जगत् की सत्ता नहीं है। यदि ऐसा है तो फिर श्रुति, स्मृति या वेदान्त के शास्त्रीय ग्रन्थों में जो ईश्वर को इस सर्वलोक प्रसिद्ध जगत् का स्रष्टा बताया गया है तथा सृष्टिदृष्टिवाद के अनुरूप जगत् व जागतिक पदार्थों की परमात्म तत्त्व से सृष्टि की प्रक्रिया बतायी गयी है उसकी व्याख्या कैसे होगी ? इसके उत्तर में प्रकाशानन्द भी वेदान्त के अन्य संप्रदायविद् आचार्यों की तरह कहेंगे कि उपर्युक्त स्थलों में श्रुति आदि का तात्पर्य जगत् की सृष्टि प्रक्रिया का वास्तविक विवरण या प्रतिपादन न होकर, आत्मैकत्वविद्या का प्रतिपादन है। उपर्युक्त सृष्टिप्रकथनों को वेदान्त की अध्यारोपापवाद की प्रणाली के सन्दर्भ में समझना चाहिये। इनके द्वारा साधक को आत्मैकत्वविद्या के पथ पर अग्रसारित किया जा रहा है।[21]

जैसा कि पीछे बताया गया प्रकाशानन्द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में दृष्टिसृष्टिवाद को उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचाते हैं । दृष्टिसृष्टिवाद से आशय है कि दृष्टिसमकालीन ही सृष्टि है,

किसी चीज का ज्ञात होना ही उसका अस्तित्व है, दृष्ट या प्रतीत होना ही उसकी सत्ता है– प्रतीतिसमकालीनमेव सत्त्वम्, प्रातीतिकं सत्त्वम्। अब इस दृष्टिसृष्टिवाद के दो रूप हो सकते हैं। प्रथम वह जिसमें यह माना जाए कि वस्तुओं का अस्तित्व उनके दृष्टिपर्यन्त ही है– दृष्टिसमये एव प्रपञ्चसृष्टि। जबकि दूसरे मत के अनुसार दृष्टि ही सृष्टि है– दृष्टिरेव सृष्टिः। वस्तुओं का अस्तित्व उनका दृष्ट या अनुभूत होना है। प्रथम के अनुसार प्रतीतिसमकालीन ही सत्ता है, दूसरे के अनुससर वस्तुतः प्रतीति ही सत्ता है। सिद्धान्तलेशकार के अनुसार इसमें दूसरा ही प्रकाशानन्द का मत है।[22] प्रो0 पाण्डेय इसे उचित मानते हैं क्योंकि प्रकाशानन्द के अनुसार ज्ञान एवं ज्ञेय में या प्रतीति तथा प्रतीत्य में चूँकि भेद नहीं है, अतः वस्तुओं का अस्तित्व उसके ज्ञात होने या दृष्ट होने में ही निःशेष हो जाता है। वास्तव में मुक्तावलीकार को इस बात की चेतना थी कि प्रथम मत एक प्रकार के ज्ञानमीमांसीय संदेहवाद या अज्ञेयवाद को प्रोत्साहित कर सकता है,[23] इसलिए वे दृष्टि को ही सृष्टि सिद्ध करने के लिये विशेष उत्सुक हैं। अस्तु, हम देख सकते हैं कि दृष्टिसृष्टिवाद के अपेक्षाकृत अधिक उग्र या अतिवादी प्रारूप को प्रकाशानन्द स्वीकार करते हैं। यह उग्रता तब और प्रचंड हो जाती है जब हम इस सिद्धान्त के अन्वय–प्रारूप के स्थान पर व्यतिरेक–प्रारूप पर बल देते हैं, जैसा कि प्रो. पाण्डेय अपने लेख में दिखाते हैं। तब दृष्टिसृष्टिवाद का मात्र यह अर्थ नहीं रह जाता कि वस्तुओं का अस्तित्व उनके ज्ञात होने में है, बल्कि उसका यह अर्थ भी होता है कि ज्ञान से पृथक् वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है। जगत् व जागतिक वस्तुओं की सत्ता उनके ज्ञान में ही, प्रतीति में ही है । ज्ञान या प्रतीति से पृथक् वस्तुओं की कोई सत्ता नहीं है– अननुभूयमानं द्वैतं... न किंचिदस्ति। वास्तव में सारा का सारा वस्तुवाद ध ाराशायी हो जाता है यदि यह मान लिया जाए कि वस्तुओं की कोई अज्ञात सत्ता नहीं होती जैसा कि प्रकाशानन्द मानते हैं– अज्ञातसत्त्वं नेष्टम्।

हम देख सकते हैं कि सकल भेद ओर नानात्व से युक्त जगत् एवं जागतिक वस्तुओं की सत्ता ज्ञान से पृथक् नहीं है। इनकी सत्ता दृष्टिपर्यन्त ही है या कहिये कि दृष्टि से पृथक् इनकी सत्ता नहीं है। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि जब हम वस्तुओं को देख नहीं रहते हैं, सुन नहीं रहते हैं, स्पर्श नहीं कर रहे होते हैं तब क्या उनका अस्तित्व नहीं रहता है ? क्या जगत् जब हमारे ज्ञान का विषय नहीं हो रहा है तब उसकी सत्ता नहीं रहती ? क्या जब हम आंख बंद किये हों, या दीर्घ निद्रा या सुषुप्ति में हों, या मूर्च्छा की अवस्थाओं में हों तब जगत् नहीं रहता है ? क्या सुषुप्ति से उठने पर जीव पुनः वापस उसी संसार में नहीं लौट जाता ? प्रकाशानन्द पूरी ईमानदारी से यह स्वीकार करते हैं कि देखने के क्रम में ही या जाने जाने के क्रम में ही जगत् की सृष्टि होती है। जब हम देख नहीं रहे होते हैं, यथा सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि स्थितियों में, तब यह जगत् तिरोहित हो जाता है। अर्थात् क्षण–क्षण में इसका उद्भव होता है, लय होता है–जगत् सर्वं... उद्भूय स्थितम् आस्थाय विनश्यति मुहुर्मुहुः।[24] सुषुप्ति या मूर्च्छा के समय सचमुच जगत् तिरोहित हो जाता है । जहाँ तक जगने पर पुनः उसी जगत् में लौटने की बात है तो यह उसी तरह के कल्पित लोक में वापस लौटने की तरह है। जिस जगत् में निद्रा के बाद हम लौटते हैं वह पुराने कल्पित लोक के समान होने से भ्रम पैदा करता है कि वही लोक है, वही जगत् है। यह भ्रान्ति वस्तुतः समानता के कारण होती है, न कि तादात्म्य के कारण।

एवंभूत हम देख सकते हैं कि प्रकाशानन्द ज्ञाता के ज्ञान से पृथक् किसी वस्तुनिष्ठ स्थायी जगत् की संभावना को सिरे से खारिज करते हैं। समस्त जगत् दृष्टिमात्र है– दृष्टिमात्रं जगत्त्रयम्। सकल भेद और नानात्व की सत्ता ज्ञान से पृथक् नहीं है। सब कुछ आत्मा ही है, आत्मा के भीतर है। आँख का खोलना ही जगत् है। आँख बन्द करना ही जगत् का लय है– आत्मसत्तैव द्वैतस्य सत्ता नान्या यतस्ततः। आत्मन्येव जगत् सर्वं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्।।[25] जाहिर है प्रकाशानन्द दृष्टिसृष्टिवाद को उसकी चरम तार्किक परिणति तक ले जाते हैं। विज्ञाता के विज्ञान से पृथक् किसी 'अन्य' की सत्ता नहीं है। यह 'अन्य' चाहे बाह्य जड़ वस्तुयें हों या अन्य दूसरे जीव। जिस प्रकार जड़ वस्तुओं के रूप में प्रतिभासमान 'अन्य' की सत्ता विज्ञाता के विज्ञान से पृथक् नहीं है उसी प्रकार नाना जीवों के रूप में प्रतिभासमान हमारी ही तरह दिखने वाले अन्य मनुष्यों, जीवों की सत्ता नहीं है। जैसे नानाविध वस्तुएँ नहीं हैं वैसे ही नानाविध जीव भी नहीं है। नानाविध वस्तुओं की तरह ही नानाविध जीव स्वप्नवद् आभास हैं। जाहिर है अन्य जीवों की सत्ता का खण्डन कर प्रकाशानन्द अहम्मात्रवाद के घोर समर्थक के रूप में सामने आते हैं। न कोई नाना वस्तुएँ हैं, न नाना जीव–जन्तु (व मनुष्य) और न कोई सर्वलोकप्रत्यक्ष जगत्। मैं हूँ और मेरा जगत् है। यदि मैं और मेरे जगत् की ही सत्ता है तो इस जगत् की उपपत्ति के लिये किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह जगत् तो मेरा ही जगत् है, कोई अन्तर्विषयी वस्तुनिष्ठ जगत् तो है नहीं जिसके स्रष्टा के रूप में ईश्वर की अपेक्षा होगी। मैं मात्र हूँ, हाँ मेरा एक वास्तविक स्वरूप है और एक अज्ञानबद्ध।[26] वास्तविक स्वरूप में मैं ब्रह्म ही हूँ, अद्वितीय प्रज्ञानधन आनन्दात्मा, अज्ञानवश मैं अपने को नानाविध जगत् में विचरित करते हुए पाता हूँ। प्रकाशानन्द कहते हैं– एक ही नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव उपनिषद्मात्रैक्यगम्य आत्मतत्त्व है। अज्ञान का आश्रय लेकर वही जीवभाव को प्राप्त होता है, देवतिर्यङ्मनुष्य आदि के देहों की परिकल्पना करता है, अज्ञान द्वारा चौदह भुवनों की रचना करता है तथा यह सोच भ्रान्त होता है कि इन देहों में कोई देव है, कोई मनुष्य है, कोई सबका स्रष्टा हिरण्यगर्भ है, कोई पालनकर्त्ता विष्णु तो संहारकर्त्ता रूद्र।[27]

प्रकाशानन्द का दृष्टिसृष्टिवाद विज्ञानवादी दर्शन का एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।[28] अन्य विज्ञानवादी दार्शनिकों की अपेक्षा प्रकाशानन्द विज्ञानवाद को उसके चरम् तक पहुँचाते हैं। यदि ज्ञाता के ज्ञान से पृथक् अन्य सत्ता नहीं है तो पिर नाना जीवों की सत्ता को मानने का कोई आधार नहीं बनता। आत्मनिष्ठ विज्ञानवाद की तार्किक परिणति अहम्मात्रवाद में होती है। प्रकाशानन्द इस निष्कर्ष को पूरी ईमानदारी से स्वीकार करते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि विज्ञानवाद के प्रबल समर्थक बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति विज्ञानवाद के धरातल पर सन्तानान्तरसिद्धि का प्रयत्न करते हैं।[29] पर यदि विज्ञाता के विज्ञान की ही सत्ता है– तो इस विज्ञान से पृथक् अन्य जीव या उनके मन की सत्ता का कोई आधार नहीं बनता है। प्रकाशानन्द न केवल दृष्टिसृष्टिवाद के अहम्मात्रवादी परिणति को स्वीकार करते हैं अपितु इस अहम्मात्रवाद या एकजीववाद के एकमात्र उद्घोषक दार्शनिक के रूप में सामने आते हैं। दर्शन के इतिहास में यह प्रकाशानन्द ही हैं जो एकजीववाद या अहम्मात्रवाद का इतना स्पष्ट रूप से समर्थन करते हैं।

अपने दृष्टिसृष्टिवाद व एकजीववाद के सिद्धान्त के द्वारा प्रकाशानन्द अद्वैतचिन्तन को उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचाते हैं। यदि एक अद्वितीय आत्मतत्त्व की ही सत्ता है तो सकल भेद व नानात्व आविद्यक ही हो सकता है, प्रातीतिक ही कहा जाएगा। यदि एक मात्र अद्वितीय परमतत्त्व की ही सत्ता है तो सकल नानात्व – चाहे जड़ जगत् के रूप में प्रतीयमान हो या नाना जीवों के रूप में– मिथ्या ही हो सकता है। यदि एक आत्मतत्त्व की ही सत्ता है तो अनात्म किसी भी रूप में चाहे जड़ जगत् के रूप में या अन्य जीवों के रूप में हो, स्वीकार्य नहीं हो सकता है। प्रकाशानन्द यदि एक जीववाद के प्रतिपादन के लिये अत्यधिक उत्सुक हैं तो इसे इस रूप में ही समझाना होगा कि उन्हें नानात्व व अनात्म की कथंचित् भी सत्ता स्वीकार नहीं है, यहाँ तक कि व्यावहारिक सत्ता भी नहीं । पुनश्च जैसा कि हम जानते हैं कि अद्वैत मत की अन्य दार्शनिक मतों से श्रेष्ठता का एक प्रमुख हेतु यह है कि यह एक अद्वितीय चैतन्य रूप परमत्त्व की सत्ता की अभिकल्पना द्वारा ही समस्त जगत् की व्याख्या कर लेता है। लाघव का यह विलक्षण गुण अद्वैत को अन्य दर्शनों की अपेक्षा श्रेष्ठता प्रदान करता है । प्रकाशानन्द लाघव के इस तर्क का और विस्तार करते हैं । सृष्टिदृष्टिवाद, अनेक जीववाद व अनेक अज्ञानवाद जैसे सिद्धान्त अनावश्यक ही जगत् की व्याख्या के लिये ब्रह्म के अतिरिक्त, सर्वलोकप्रत्यक्ष एक वस्तुनिष्ठ जगत् व उसके स्रष्टा के रूप में ईश्वरतत्त्व, नानाविध जीवों तथा विभिन्न जीवों में स्थित नानाविध अज्ञान की कल्पना कर बैठते हैं, सत्ता के त्रिविध स्तरों–पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातीतिक की व्यवस्था करते हैं । दूसरी ओर प्रकाशानन्दकृत दृष्टिसृष्टिवाद में एक अद्वितीय ब्रह्म की ही सत्ता की बात कही गयी, अज्ञानवश वही अपने को जीव के रूप में समझता है और सकल दृश्य जगत् की कल्पना करता है । जाहिर है इस मत में ब्रह्म के अतिरिक्त ईश्वर, नाना जीवों तथा नाना अज्ञानों को मानने की कोई जरूरत नहीं होती । हम समझ सकते हैं कि एकजीववाद व एक अज्ञानवाद को पोषित करता हुआ प्रकाशानन्द का दृष्टिसृष्टिवाद अद्वैतचिन्तन को लाघव पर आधारित एक ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करता है जिसमें कम से कम तत्त्वों के अभ्युपगम से सत्ता की व्याख्या की गयी है।

इन तमाम अच्छाइयों के बावजूद दृष्टिसृष्टिवाद की अपनी अन्तर्निहित कमियां हैं। यह सही है कि अद्वैत के स्थापन में या कहिये कि नानात्व के निरसन में सृष्टिदृष्टिवाद की अपेक्षा यह सिद्धान्त एक कदम आगे बढ़ता है। सृष्टिदृष्टिवादी जहाँ नानात्व युक्त जगत् की वस्तुनिष्ठ सत्ता को स्वीकार कर अद्वैत सिद्धान्त के परिपार्श्व में सृष्टि के रहस्यों को समझना चाहता है, दृष्टिसृष्टिवादी को द्वैत या नानात्व की किसी भी प्रकार की वस्तुनिष्ठ सत्ता स्वीकार्य नहीं है। दृष्टिसृष्टिवादी द्वैत या नानात्व की (या उससे युक्त जगत् एवं जागतिक वस्तुओं की) सत्ता को सिरे से खारिज करते हैं। कथित भेद या नानात्व की सत्ता प्रतीति या प्रतिभास मात्र में है। इस प्रतीति या प्रतिभास से इतर उसकी किसी तरह की सत्ता नहीं है । पर प्रश्न उठता है कि द्वैत या नानात्व की वस्तुनिष्ठ सत्ता को खारिज करने के बावजूद दृष्टिसृष्टिवादी प्रतिभास के स्तर पर ही सही क्या इसकी सत्ता को स्वीकार नहीं कर लेते हैं ? यदि द्वैत की सत्ता वस्तुतः न भी हो तो भी प्रतीति के स्तर पर तो वह रह ही जाती है। फिर अद्वैत कहाँ रहता है ? वस्तुक्षेत्र में न सही कल्पना या मनस् के क्षेत्र में तो द्वैत यथावत बना रहता है। यदि नानात्व या जगत् के अस्तित्व

को न स्वीकार कर उसकी प्रतीति, अनुभूति या ज्ञान को ही स्वीकार करते हैं, यदि द्वैत को न स्वीकार कर द्वैत दर्शन या द्वैत– अनुभव को ही स्वीकार करते हैं, तो भी मूल अद्वैत सिद्धान्त को क्षति तथाविध ही पहुँचती है क्योंकि हम अद्वैत (आत्मतत्त्व) से भिन्न द्वैतानुभव को तो स्वीकार ही कर रहे हैं। अतः द्वैत के समान ही द्वैतदर्शन या द्वैत की प्रतीति को भी अन्ततः मिथ्या मानना होगा। रेवतीरमण पाण्डेय के अनुसार प्रकाशानन्द की मुख्य विशेषता इस बात में नहीं है कि वे दृष्टिसृष्टिवाद का प्रतिपादन करते हैं, बल्कि प्रो0 पाण्डेय के अनुसार प्रकाशानन्द का वास्तविक महत्त्व इस बात में है कि अन्ततः वे इस सिद्धान्त से भी कि नानात्वयुक्त जगत् वस्तुतः ज्ञान मात्र है, परे हो जाते हैं, उसे भी खारिज कर देते हैं।[30] नानात्वयुक्त जगत् की प्रतीति भी, द्रष्टा की आत्मनिष्ठ कल्पना भी अन्ततः अध्यस्त मात्र है। द्वैत की प्रतीति या अनुभव भी अन्ततः उतना ही असत् या तुच्छ है जितना द्वैतयुक्त जगत्। नानाविध जगद्प्रपञ्चों को सृष्ट करने वाली दृष्टि दृष्टि का वास्तविक स्वरूप नहीं है। दृष्टि या ख्याति वस्तुतः निष्प्रकारिका है, शुद्ध चेतना है जो कि आत्मा का तात्त्विक स्वरूप है, इसका नानाविध आकारों में, द्वैत या नानात्व के रूप में भान वस्तुतः मिथ्या है । शुद्ध चेतना सारे विकल्पों के दूषण से सर्वथा मुक्त है । इस निर्विकल्पक अद्वितीय चेतना की ही पारमार्थिक सत्ता है, इससे अलग नानाविध वस्तु–आकारों के रूप में जो चेतना की प्रतीति होती है–द्वैत की अनुभूति होती है– वह नितान्त मिथ्या है, असत् है, अलीक है । वस्तुतः स्वयंप्रकाश चित्तत्त्व के अतिरिक्त किसी की कोई सत्ता नहीं है– न व्यावहारिक और न ही प्रातीतिक । कथित द्वैत या उसकी प्रतीति बराबर ही असत् हैं, अलीक हैं । यहाँ यह ध्यातव्य है कि परम्परा में बहुत से आचार्य यह कहना चाहेंगे कि यह द्वैत या द्वैत की प्रतीति, उसका प्रतिभास परमार्थतः 'मिथ्या' या 'अनिर्वचनीय' है, प्रकाशानन्द का कहना है कि यह मिथ्यात्व या अनिर्वचनीयत्व उसका त्रैकालिक असत्त्व है । इस त्रैकालिक असत्त्वत्व से भिन्न किसी भी प्रकार की सत्ता न तो 'द्वैत' की है और न ही 'द्वैताभास' की। अतः द्वैताभास या द्वैत की प्रतीति निरपेक्षतः उतना ही असत् है, तुच्छ है जितना द्वैत युक्त जगत्। परमार्थतः किसी भी प्रकार की भ्रान्त प्रतीति के लिये कोई अवकाश नहीं है, उसका त्रैकालिक अभाव है। अब यदि हम चीजों को इस प्रकार देखते हैं तो समझ सकते हैं कि भ्रामिक प्रतीति, प्रतिभास या विवर्त के अद्वैतप्रोक्त सिद्धान्त की जिसकी अभी तक दृष्टिसृष्टिवादी ढंग से व्याख्या की जा रही थी का कोई महत्त्व नहीं रह जाता और अन्त में उसे भी खारिज कर दिया जाता है। प्रकाशानन्द कहते हैं कि उपनिषद् का चरम प्रयोजन विवर्तवाद का प्रतिपादन नहीं है, यह तो केवल बालों को अद्वैत की ओर ले जाने का कदम है । केवल बालों के लिये, मन्दबुद्धि वाले साधकों के लिये यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है, सुधीजन तो इसे अविवर्तित आनन्द के रूप में पाते हैं –

बालान् प्रति विवर्तोऽयं ब्रह्मणः सकलं जगत्।
अविवर्त्तितमानन्दमास्थितः कृतिनः सदा।।[31]

अब यदि चेतना की नानात्वयुक्तजगत् के रूप में भ्रामिक अभिव्यक्ति भी अत्यन्त असत् है, यदि जगत् या नानात्व की प्रतीति वस्तुतः नितान्त असत् है तो अज्ञान या अविद्या का भी कोई अस्तित्व नहीं रह जाता । हम समझ सकते हैं परमार्थतः अविद्या अविद्यमान है, तुच्छ है। एवंभूत प्रकाशानन्द जगत्–अनुभव का जो विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं उसमें सकल नानात्वयुक्त जगत्,

उसकी प्रतीति अथवा ज्ञान तथा इनका कारणभूत अज्ञान अन्ततः नितान्त असत् (अलीक), तुच्छ सिद्ध होते हैं । वस्तुतः एक अद्वितीय आत्मतत्त्व की हमेशा से सत्ता है जो अपने अविवर्तित आनन्द स्वरूप में विद्यमान है। रेवतीरमण पाण्डेय प्रकाशानन्द के व्याज से ब्रह्म के इस अविवर्तित आनन्द स्वरूप और तद्भिन्न सकल के तुच्छत्व की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं ।

अब यदि सकल भेद तुच्छ है तथा ब्रह्म सर्वदा अपने अविवर्तित स्वरूप में विद्यमान रहता है तो हम देख सकते हैं कि तत्त्वतः न तो किसी की उत्पत्ति होती है और न उसका निरोध होता है, न बन्धन होता है और न मुक्ति। न कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त। तत्त्व सदा असंग एक रस विद्यमान होता है। जो न कभी उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है, जिसमें जन्म मृत्यु का कोई अवकाश ही नहीं, उस अज का ही एकमात्र अस्तित्व है । वह कैसे अपने स्वभाव को छोड़कर अन्यथाभाव धारण कर सकता है ? अतः न तो तात्त्विक और न अतात्त्विक ही अन्यथाप्रथा संभव है। परिणाम व विवर्त दोनो असम्भव है । अजातवाद का ही सिद्धान्त अद्वैतियों का मुख्य सिद्धान्त है। सृष्टिदृष्टिवाद की ही तरह दृष्टिसृष्टिवाद का भी अन्ततः आभिप्रायिक ही महत्त्व है। अजातवाद ही अद्वैतियों का मुख्य प्रतिपाद्य है। रेवतीरमण पाण्डेय ने अपने अध्ययन के क्रम में यह सिद्ध किया है कि यद्यपि मुक्तावलीकार दृष्टिसृष्टिवाद के प्रणेता के रूप में माने जाते हैं, पर अन्ततः यह उनके द्वारा प्रयुक्त प्रविधि मात्र है जिससे अद्वैतनिष्ठा उत्तरोतर प्रबल होती है। या दूसरे दृष्टि से कहें तो दृष्टिसृष्टिवाद का सिद्धान्त मुक्तावलीकार का पारमार्थिक सिद्धान्त नहीं है। यहाँ ध्यातव्य है कि इस पर परपक्षियों को भी आपत्ति नहीं होगी क्योंकि कोई भी अद्वैती सृष्टिविषयक सिद्धान्त को अद्वैत के मुख्य प्रतिपाद्य के रूप में नहीं लेता। प्रकाशानन्द की खासियत यह है कि वे इस सिद्धान्त के उपस्थापन द्वारा पहले तो यह सिद्ध करते हैं कि यावत् दृश्यमान नानात्व रूप सकल जगत् प्रतीति मात्र है। प्रतीति के परे या इतर इसकी कोई सत्ता नहीं है। परिणामतः (एवं प्रकारेण) अद्वैतोपस्थापन में सबसे प्रबलतम बाधक के रूप में अवस्थित देशकालावच्छिन्नस्तुजगत् को उसकी प्रतीति में विघटित कर प्रकाशानन्द चुटकी में इस द्वैत/भेद/प्रपञ्च का उपशमन कर देते हैं। अतः सर्वसाधारण प्रसिद्ध किसी बाह्यजगत् की सत्ता वस्तुतः नहीं है । यावत् नानात्व अज्ञानवश हमें प्रतीत होता है। अब इस पर कहा जा सकता है कि प्रातीतिक ही सही नानात्व की अनुभूति को, इसकी प्रतीति को नकारा नहीं जा सकता । इस पर प्रकाशानन्द का कहना है कि यह नानात्व की प्रतीति भी वस्तुतः मिथ्या है, अनिर्वचनीय है। वस्तुतत्त्व तो निर्विभाग चैतन्य रूप है, सत्ता तो सकल भेदों से अतीत, ज्ञाता–ज्ञेय, द्रष्टा--दृश्य विभाग से परे निर्लिप्त व निर्विशिष्ट चेतना की है, दृष्टि की है, इसमें नानात्व युक्त जगत् की प्रतीति सर्वथा मिथ्या ही हो सकती है, सत्य नहीं। फलतः जगत् की प्रतीति भी नितान्त मिथ्या है, अनिर्वचनीय है, असत् है, तुच्छ है। अब यदि ऐसा है तो दृष्टिसृष्टिवाद का सिद्धान्त भी वस्तुतः एक सीढ़ी ही है। प्रकाशानन्द अन्ततः इसको भी खारिज कर देते हैं । वस्तुतः देखा जाए तो इसमें कोई बहुत आश्चर्य करने की बात भी नहीं है। यह सही है कि अद्वैती अपने ब्रह्मवाद की सिद्धि के लिये मायावाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। पर इस 'माया' का परमार्थतः अद्वैत–सराणि में क्या स्थान बनता है– परम्परा इसको लेकर पूरी तरह से एकमत है। विद्यारण्य पंचदशी में कहते हैं –

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः।।[32]

माया वस्तुतः ज्ञानियों के लिये तुच्छ ही है। विद्यारण्य की उपर्युक्त पंक्तियों को उद्धृत करते हुए प्रकाशानन्द कहते हैं कि देशकालावच्छिन्न सर्वप्रतीतिगोचरजगत् परमार्थतः तुच्छ ही है। यह सकल जगत् जीव के अज्ञान द्वारा कल्पित है, और अज्ञान वस्तुतः नितान्त असत् है, तुच्छ है जैसा कि विवरणकार द्वारा प्रस्तुत अद्वैत सम्मत मिथ्यात्व के लक्षण "प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक–निषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्" से प्रतिपादित होता है ।[33] एवंभूत हम देखते हैं कि प्रकाशानन्द पहले तो सकल जगत् और नानात्व को विवर्त या प्रातीतिक सिद्ध करते हैं। बाद में यह बताते हैं कि किसी प्रकार के आभास या विवर्त का भी अद्वैत में कोई स्थान नहीं है। जैसा की पीछे हमने देखा था, प्रकाशानन्द कहते हैं कि मन्दबुद्धि बालकों के लिये ही यह सिद्धान्त है कि यह सकल जगत् ब्रह्म का विवर्त है। मन्दबुद्धि बालक ही जगत् को ब्रह्म का विवर्त समझते हैं, सच तो यह है कि एक अद्वितीय सच्चिदानन्द रूप परमसत् सर्वदा अविवर्तित रूप से यथातथ बना रहता है। अतः नानात्व की न तो परमार्थतः, न ही व्यावहारिक सत्ता के रूप में और अन्त में न ही प्रतिभास के रूप में सत्ता स्वीकार की जा सकती है। वस्तुतः वह नितान्त तुच्छ है, असत् है।

अद्वैत की बृहद् परम्परा का इतिहास भेद या नानात्व के निरसन का इतिहास है। अद्वेतेतर परम्परा में इस भेद या नानात्व को पारमार्थिक महत्त्व दिया गया है। न्याय–वैशेषिक, माध्व वेदान्तादि दर्शनों में भेद को पारमार्थिक रूप से सत्य बताया गया है। शङ्कर मिश्र 'भेदरत्नम्' में भेद को सत्य सिद्ध करने के लिये अत्यधिक आतुर दिखते हैं तो मध्वाचार्य पाँच प्रकार के भेदों को नित्यसिद्ध बताते हैं। कहने की जरूरत नहीं है कि एक अद्वितीय आत्मतत्त्व की ही सत्ता मानने वाले अद्वैती आचार्यों को नानात्व की सत्ता स्वीकार नहीं है। पर प्रश्न उठता है कि यदि एक अद्वितीय चैतन्य रूप परमतत्त्व की ही सत्ता है तो सकल लोक प्रसिद्ध नानात्वयुक्त जगत् की प्रतीति की व्याख्या कैसे होगी ? जगत् की इस प्रतीति को स्वप्नवद् कहकर झुठलाया नही जा सकता है क्योंकि स्वप्न से जाग्रत का अन्तर नितराँ सुस्पष्ट है। स्वाप्निक जगत् का न केवल बाध होता है बल्कि यह नितान्त व्यक्तिगत होता है, जबकि जाग्रत विश्व का न तो बाध होते हुए देखा जाता है और न हीं यह व्यष्टि तक सीमित होता है। जाग्रतकालीन जगत् एक समष्टिगत जगत् होता है जो देशकाल–कार्यकारणादि नियमों से नियन्त्रित होता है। उपर्युक्त कारणों से सृष्टिदृष्टिवाद समेत अद्वैत की एक प्रबल परम्परा सत्ता के त्रिविध स्तरों की अभिकल्पना करती है और भेद व नानात्व को व्यावहारिकतया सत्य बताती है। भेद अब पारमार्थिक नहीं रहा, पर व्यावहारिक बना रहता है। प्रकाशानन्द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में भेद के इस व्यावहारिक सत्त्व का भी जमकर खण्डन करते हैं। यदि एक अद्वितीय अत्मतत्त्व की ही सत्ता है तो तद्भिन्न यावत् नानात्व या भेद आविद्यक होने के कारण प्रातीतिक ही हो सकता है। परिणामतः सत्ता का द्विविध रूप ही बनता है–पारमार्थिक और प्रातिभासिक। सकल भेद और नानात्व प्रतिभास मात्र है। पर जैसा कि प्रो. पाण्डेय दिखाते हैं, भेद निरसन के अंतिम चरण में वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार को यह भी स्वीकार्य नहीं है कि भेद को प्रातीतिक भी सत्ता दी जाय, इसलिये अन्ततः वे उसे नितान्त असत् या तुच्छ बताते हैं। हम समझ सकते हैं कि भेद निरसन की जो यात्रा सृष्टिदृष्टिवादियों के

नेतृत्व में सत्तात्रैविध्यवादियों द्वारा भेद को परमार्थ से अपदस्थ कर व्यवहार मात्र में ही सीमित करने आरम्भ हुयी थी उसका चरम पर्यवसान मुक्तावलीकार के इस अजातवादी शंखनाद में होता है कि सकल भेद नितान्त अलीक हैं, तुच्छ हैं। और तभी हम समझते हैं कि सृष्टिदृष्टिवाद, दृष्टिसृष्टिवाद व अजातवाद में क्रमशः उत्तरोत्तर का अद्वैतदृष्ट्या कितना महत्त्व है। सृष्टिवाद जहाँ भेद को व्यावहारिक सत्ता प्रदान करता है, दृष्टिसृष्टिवाद उसे प्रातिभासिक कहता है, अजातवादियों के लिये तो भेद की न तो व्यावहारिक और न ही प्रातिभासिक सत्ता स्वीकार्य है। सकल भेद नितान्त तुच्छ है, अलीक है, असत् है।

एक अद्वितीय आत्मतत्त्व से भिन्न सकल नानात्व रूप प्रपञ्च के मिथ्यात्व को सारे अद्वैती स्वीकार करते हैं । परम्परा में इस मिथ्यात्व के स्वरूप को लेकर गहन मन्थन हुआ है तथा आचार्यों में इसको लेकर मतभेद भी दिखाई पड़ता है। जैसा कि पीछे हम लोगों ने देखा वेदान्तसिद्धान्तामुक्तावलीकार जहाँ एक ओर जगत् को मिथ्या व अनिर्वचनीय बताते हैं तो वहीं दूसरी ओर इसे नितान्त तुच्छ व असत् भी घोषित करते हैं। जाहिर है प्रकाशानन्द का मत उस पारम्परिक मत से नितान्त भिन्न प्रतीत होता है जिसके अनुसार मिथ्यात्व का अर्थ सदसदनिर्वचनीयत्व समझा जाता है। ध्यातव्य है कि पंचपादिकाकार मिथ्यात्व को सद्, असद्, सदसदुभय से विलक्षण बताते हैं– मिथ्येत्यनिर्वचनीयतोच्यते। चूँकि जगत् की त्रिकालाबाधित सत्ता नहीं है अतः वह सत् नहीं है, तथा चूँकि उसकी प्रतीति होती है अतः वह खपुष्प के समान असत् नहीं है । फलतः सत्, असत् तथा सदसत् उभय रूप से निर्वचनीय न होने के कारण वह अनिर्वचनीय है । यह अनिर्वचनीयत्व या मिथ्यात्व तुच्छत्व नहीं है। दूसरी ओर प्रकाशान्द के अनुसार जैसा कि पाण्डेय का कहना है, मिथ्यात्व से आशय जगत् प्रपञ्च के त्रैकालिक असत्त्व से से ही है। चूँकि यावत् नानात्व की प्रतीति जिस अधिष्ठान में होती है वहीं उसका त्रैकालिक अभाव है अतः जगद् आदि सकल प्रपञ्च वस्तुतः तुच्छ हैं, अलीक हैं। पाण्डेय का मन्तव्य है कि प्रकाशानन्द कृत मिथ्यात्व निरूपण विवरणकार प्रकाशात्मन् के मत का अनुसरण करता प्रतीत होता है । जिसके अनुसार प्रतिपन्न उपाधि में त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगित्व ही मिथ्या है– प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक–निषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्। नानात्व की प्रतीति जिस अधिष्ठान में होती है वहीं उसका त्रैकालिक निषेध होता है। अब वस्तुएँ यदि स्वाधिष्ठान में ही नहीं हैं तो अन्यत्र भला कहाँ होगीं? अस्तु, सकल वस्तुजगत् का त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व या अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व आपादित होता है। प्रकाशानन्द पूछते हैं – किमिदं मिथ्यात्वं त्रैकालिकासत्वम्? असत्त्वाविशेषेऽपि कदाचित्प्रतीयमानत्वं वा ? नाद्यः, इष्टापत्तेः। न द्वितीयः, तत्प्रतीत्यैवाद्वैतक्षतेस्तादवस्थात्।[34] यदि जगत् को तुच्छत्व से भिन्न कथंचित भी सत्त्व दिया जाए, उसकी प्रातीतिक भी सत्ता मानी जाए तो अद्वैत को क्षति बराबर ही पहुँचती है। इसीलिये वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली मिथ्यात्व को 'त्रैकालिक असत्त्वम्' के रूप में ही परिभाषित करना चाहते हैं।

अब यदि वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार के और विशेषतः रेवतीरमणपाण्डेयकृत इसकी व्याख्या के आलोक में प्रकाशात्मन् कृत मिथ्यात्व के लक्षण का स्वारस्य नानात्व के अत्यन्त असत्त्वत्व के रूप में लिया जाए तो अद्वैत परम्परा में 'मिथ्यात्व' निरूपण को लेकर कुछ नए सन्दर्श उद्घाटित होते हैं। सत् असत् से अनिर्वचनीय रूप में मिथ्यात्व को वे ही परिभाषित कर सकते

हैं जो व्यावहारिक या कदाचित् प्रातीतिक सत्ता को मानते हैं। वस्तुतः सत्तात्रैविध्यवादियों व सृष्टिदृष्टिवादियों के मत में ही "सदसद्विलक्षणत्व रूप मिथ्यात्व" के लक्षण की (ठीक से) उपपत्ति होती है। प्रातीतिक सत्ता के आग्रही दृष्टिसृष्टिवादियों के लिए आनन्दबोधभट्टारक अनुमत "सद्विविक्तत्वं मिथ्यात्वम्" लक्षण उपयुक्त होगा। जहाँ तक अजातवादियों की बात है तो सकल जगत् के परमार्थतः तुच्छ होने के कारण उनके अनुसार 'अत्यन्तासत्त्वं मिथ्यात्वम्' या 'त्रैकालिकासत्त्वं मिथ्यात्वम्' ही मिथ्यात्व का उपयुक्त लक्षण हो सकता है। प्रकाशात्मन् कृत मिथ्यात्व लक्षण 'प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेध– प्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्' या कहिये कि चित्सुखाचार्य सम्मत मिथ्यात्व–लक्षण 'स्वाश्रया– निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्' का स्वारस्य इन्हीं अजातवादियों के साथ है, ऐसा समझा जा सकता है।[35]

अद्वैत परम्परा का इतिहास मात्र बौद्धिक चिन्तन या तर्क का इतिहास न हो आत्मानुभूति की गहन साधना का इतिहास है। इतिहास के विकासक्रम में परम्परा में साधना की विभिन्न भूमियों के अनुरूप नाना प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये, विभिन्न मतवादों की स्थापना हुयी । परम्परा के सम्यक् अर्थबोध के लिये हमें यह देखना होगा कि कौन से सिद्धान्त या कौन से ग्रन्थ साधना की किस भूमि को ध्यान में रखकर पुरस्कृत हुए। कहा जा सकता है कि सृष्टिदृष्टिवाद व सत्तात्रैविध्यवाद जैसे सिद्धान्त साधना की आरम्भिक अवस्था में स्थित लोगों के लिये प्रवृत्त हुए थे। इस अवस्था पर जगत् की व्यावहारिक सत्ता को अक्षुण्ण रखा गया तथा इस बात को सिद्ध करने की सायास चेष्टा की गयी कि एक अद्वितीय परमतत्त्व की सत्ता को मानने के बावजूद ईश्वर–ईशितव्य, भोक्ता–भोग्य व्यवस्था अन्य दर्शनों की ही तरह यथावत् उपपन्न होती है।[36] दृष्टिसृष्टिवाद का सिद्धान्त मध्यम कोटि के साधकों के लिये प्रवृत्त हुआ प्रतीत होता है जिनके अनुसार एक अद्वितीय आत्मतत्त्व से भिन्न सकल भेद प्रपञ्च की प्रातीतिक ही सत्ता है । यावत् द्वैत प्रपञ्च चित्त का प्रसार मात्र है, दृष्टि से परे इसकी कोई सत्ता नहीं है। साधना की अत्युच्च अवस्था वाले लोगों के लिये तो द्वैत का कथंचित् भी सत्त्व स्वीकार्य नहीं है। भेद की न तो व्यावहारिक ही सत्ता है और न प्रातिभासिक ही। सकल नानात्व युक्त जगत् तुच्छ मात्र है। परमार्थतः न तो किसी चीज की उत्पत्ति होती है और न निरोध, न कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त। अजातवाद ही साधकों का उत्तमोत्तम सिद्धान्त है।[37] वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली साधना की इसी अत्युच्च अवस्था का ग्रन्थ है जिसमें जहाँ एक ओर जगत् की तुच्छता को बार–बार रूपायित किया गया है तो वहीं साथ ही परमत्त्व के अविवर्तित आनन्द स्वरूप का पुनश्च पुनः गान हुआ है।[38] अजातवाद जगत् के तुच्छत्व मात्र का सिद्धान्त नहीं है । यदि ऐसा होता तो फिर माध्यमिक शून्यवाद से अद्वैती की क्या विशेषता ? जगत् की तुच्छता का सिद्धान्त भी अन्ततः साभिप्रायिक ही है। मुक्तावलीकार यदि जगत् की तुच्छता को प्रदर्शित करने के लिये अत्यधिक आतुर खिते हैं तो इसके पीछे उनका उद्देश्य मात्र यह दिखाना है कि सकल नानात्वयुक्त जगत् के असत् सिद्ध होने से जहाँ एक ओर द्वैत को कथंचित् भी स्थान नहीं प्राप्त होता है और फलतः अद्वैत की पूर्ण सिद्धि होती है वहीं साथ ही दूसरी ओर सकल द्वैत के असत् होने से यह भी निगमित होता है कि वह अद्वैत सत्ता अपने निष्कलुष शुद्ध रूप में अर्थात् चिदानन्द स्वरूप में नित्य विद्यमान है। प्रकाशानन्द के अनुसार आत्मा का न केवल स्वयंप्रकाश

चैतन्य रूप नित्य प्रकाशित है अपितु उसका आनन्द रूप भी तथाविध नित्य भासमान है, तभी तो आत्मा की प्रतीति परमप्रेमास्पद रूप में होती है। यह जो कहा जाता है कि संसार दशा में प्रतिबन्ध के कारण पूर्ण आनन्द स्वरूप का भान नहीं हो पाता, वह उचित नहीं है। हम देख चुके हैं कि किस तरह सकल अज्ञान अन्तः तुच्छ है, असत् है; फलतः समस्त प्रतिबन्धों के असत् कल्प होने से संसार दशा में भी अप्रतिबन्धित ही आनन्द स्थित रहता है। आत्मा की इस नित्य आनन्दरूपता का प्रतिपादन ही अद्वैतप्रोक्त अजातवाद का मुख्य तात्पर्य है। प्रकाशानन्द अपने वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली तथा श्रद्धेय गुरुवर प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय मुक्तावली की अपनी व्याख्या में आत्मा के इस नित्यभासमान आनन्दस्वरूप की ओर हमारा बार–बार ध्यान आकृष्ट करते हैं।[39]



सन्दर्भ –

1. *रमाकान्त त्रिपाठी, प्रॉब्लम्स ऑफ फिलासफी एण्ड रेलिजन, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1971, पृ० 3*
2. *देखें, वहीं, पृ० 128–136*
3. *त्रिपाठी का आशय है कि जहाँ माध्यमिक सत्ता के द्विविध स्तर–पारमार्थिक और सांव्यावहारिक– को स्वीकार करते हैं, वहीं अद्वैती सत्ता के त्रिविध स्तरों–पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक को स्वीकार कर मिथ्यात्व की व्याख्या अधिक अच्छे ढंग से करने में सक्षम होते हैं । देखें, रमाकान्त त्रिपाठी, "नागार्जुन और शङ्कर ?", प्रॉब्लम्स ऑफ फिलासफी एण्ड रेलिजन, पृ0 129*
4. *रेवतीरमण पाण्डेय, "सम फन्डामेण्टल इश्यूज ऑफ पोस्ट–शाङ्कर वेदान्त इन द लाइट ऑफ द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली", साइन्टिफिक टेम्पर एण्ड अद्वैत वेदान्त, सुरेशोन्मेष प्रकाशन, वाराणसी, 1991, पृ० 105–136। पाण्डेय का यह लेख मूल में डब्ल्यू0जेड0 के0 एस0, अंक 20, वियना, 1976 में प्रकाशित हुआ था।*
5. *अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेक कर्तृभोक्तसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकाल– निमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति, तद् ब्रह्मेतिकृकृकृन यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वान्यतः प्रधानादचेतनात्, अणुभ्योऽभावात्, संसारिणो वा उत्पत्त्यादि संभावयितुं शक्यम्। शङ्कराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, 1/1/2*
6. *द्रष्टव्य, शङ्कराचार्य, श्वेताश्वतर उपनिषद् भाष्य, 6/11, 6/16 तथा 3/1*
7. *अद्वितीयः परमात्मा, न चासौ कुम्भकारवद् आत्मानं केवलं मृत्पिण्डस्थानीय– मुपादानकारणमुपादत्ते । किं तर्हि ? स्वशक्तिविक्षेपं कुर्वन् स्रष्टा नियन्ता वाभिधीयते । शङ्कराचार्य, श्वेताश्वतर उपनिषद भाष्य, 3/2*
8. *सर्वप्राणिगतानि चक्षूँसि अस्येति विश्वतश्चक्षुः अतः स्वेच्छयैव सर्वत्र रूपादौ सामर्थ्यं विद्यते...। वहीं, 3/3*
   हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वः ...। वहीं, 3/4
9. *द्रष्टव्य, शङ्कराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, 1/1/5–11*
10. *शङ्कराचार्य, छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य, 6/1/4–6*
11. *शङ्कराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, 1/4/14*
12. *न हि अयं सृष्ट्यादिप्रपञ्चः प्रतिपिपादयिषितः । न हि तत्प्रतिबद्धः कश्चित् पुरुषार्थो दृश्यते, श्रूयते वा । न च कल्पयितुं शक्यते, उपक्रमोपसंहाराभ्यां तत्र तत्र ब्रह्मविषयैर्वाक्यैः साकमेकवाक्यताया गम्यमानत्वात् । देखें, वहीं ।*
13. *गौडपाद, माण्डूक्यकारिका, 3/15*

14. तस्मादुत्पत्त्यादिश्रुतय आत्मैकत्वबुद्ध्यवतारायैव नान्यार्थाः कल्पयितुं युक्ताः । अतो नास्त्युत्पत्त्यादिकृतो भेदः कथंचन ।
शङ्कराचार्य, माण्डूक्यकारिकाभाष्य, 3/15
15. तस्मात् स्वप्नवदाभासः संविदात्मनि संस्थितः ।
मायेयं स्वप्नवद् भ्रान्तिर्मिथ्यारचितचक्रिका ।
मनोराज्यमिवालोलसलिलावर्तसुन्दरी।। योगवाशिष्ठ 6/195/44
प्रतिभाससमुत्थानं प्रतिभासपरिक्षयम्।
यथा गन्धर्वनगरं तथा संस्षतिविभ्रमः।। योगवाशिष्ठ 6/33/45
16. दृष्टिसृष्टिवाद सहित सृष्टिसम्बन्धी विभिन्न अद्वैत मतों के लिये देखें, उर्मिला शर्मा, अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान, छन्दस्वती प्रतिष्ठान, वाराणसी 1978, पृ0 196–228
17. प्रकाशानन्द, वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, सं0 आर्थर वेनिस, चौखम्भा ओरियण्टालिया, दिल्ली, 2008, पृ0 35
18. सत्त्वत्रयं वदन् वादी प्रष्टव्योऽत्राधुना मया ।
सत्यं द्वैतमसत्यं वा नाऽसत्ये विविधं कुतः ।।
वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका–11
19. रेवतीरमण पाण्डेय (1991), पृ0 122
20. सर्वस्यद्वैतस्य प्रातीतिकसत्त्वमपरित्यज्य तैभ्रान्तसन्तोषमात्रस्य कृतत्वात् प्रातीति– कत्वेऽपि प्रपञ्चस्य भ्रान्तबुद्धिसिद्धावान्तरवैषम्याश्रित्य व्यावहारिक सत्त्वाभिधाना– विरोधात्। वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 28
21. देखें, अप्पय दीक्षित कृत सिद्धान्तलेशसंग्रह तथा उस पर अनुवादक मूलशङ्करव्यास की टिप्पणी, भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली, 2005, पृ0 358–359। साथ ही देखें, वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 117 रेवतीरमणपाण्डेय (1991), पृ0 123
22. अयमेको दृष्टिसमसमया विश्वसृष्टिरिति दृष्टिसषष्टिवादः । अन्यस्तु दृष्टिरेव विश्वसृष्टिः । दृश्यस्य दृष्टिभेदे प्रमाणाभावात् । 'ज्ञानस्वरूपमेवाऽऽहुर्जगदेतद्वि– चक्षणाः । अर्थस्वरूपं भ्राम्यन्तः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः ।।' इति स्मृतेश्चेति सिद्धान्तमुक्तावल्यादिदर्शितो दृष्टिसृष्टिवादः ।
अप्पय दीक्षित, सिद्धान्तलेशसंग्रह मूलशङ्कर व्यास रचित अनुवाद सहित, भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली, 2005, पृ0 361–2 ।
23. इस मत में यह संभावना शेष रहती है कि ज्ञान से पृथक् वस्तुओं का अस्तित्व है पर इसका बोध ज्ञान के दौरान होता है अथवा यह कि वस्तुओं का और ज्ञान का समकालीन उद्भव होता है। अब यदि ऐसा है तो दृष्टि की ही सत्ता नहीं बनती है, दृष्टि से इतर उसके विषय की सत्ता की संभावना भी बनी रहती है।
24. प्रत्येतव्यप्रतीत्योश्च भेदः प्रामाणिकः कुतः।
प्रतीतिमात्रमेवैतद्भाति विश्वं चराचरम्।।
ज्ञानज्ञेयप्रभेदेन यथा स्वाप्नं प्रतीयते।
विज्ञानमात्रमेवैतत् तथा जाग्रच्चराचरम् ।।
आत्मन्येव जगत्सर्वं दृष्टिमात्रं सतत्त्वकम् ।
उद्भूय स्थितिमास्थाय विनश्यति मुहुर्मुहुः ।।
पूर्णानन्दाद्वये शुद्धे पाप्मदोषादिवर्जिते ।
प्रतिबिम्बमिवाभाति दृष्टिमात्रं जगत्त्रयम् ।।
वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका 18, 19, 22, 23
25. वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका 56
26. अद्वैत वेदान्त की परम्परा में प्रकाशानन्द के अतिरिक्त अन्य दूसरे आचार्यों ने भी एकजीववाद का समर्थन किया है। पर प्रकाशानन्द से भिन्न दूसरे आचार्यों ने जो एकजीववाद का समर्थन किया है– यथा संक्षेपशारीरककार, न्यायमकरन्दकार, न्यायरत्नदीपावलिकार, नृसिंहाश्रम, मधुसूदन सरस्वती या चित्सुखाचार्य– उनमें दोष यह है कि ये आचार्य जीव पद के लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ में व्यामिश्र पैदाकर अपनी युक्तियाँ

देते हैं । जीवैकत्व हेतु प्रस्तुत उनकी युक्तियों का आधार जीव का लक्ष्यार्थ है । पर जीव के लक्ष्यार्थ को लेकर भला कौन अद्वैती नानात्व की बात करेगा ? समस्या जीव के वाच्यार्थ को लेकर है, देहेन्द्रियसंघात से युक्त कर्त्ता भोक्ता रूप जो चेतन संसारी है, वह एक है अथवा अनेक ? प्रकाशानन्द की खासियत यह है कि वे जीव के इस वाच्यार्थ को लेकर इस मत का समर्थन करते हैं कि वह जीव एक है । प्रकाशानन्द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में एकजीववाद निरूपण के क्रम में श्वेताश्वतर उपनिषद् के "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां मुक्तभोगामजोऽन्यः ।। श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/5" श्रुतिवाक्य की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत करते यह प्रतिपादित करते हैं कि अविद्या एक है, तदुपहित चैतन्य जीव भी एक ही है । हाँ, इस जीव का एक अविद्याबद्ध रूप है तथा एक उससे असम्पृक्त, अनुपहित । यदि यह कहा जाए कि जीव के एक होने पर बन्धमोक्ष व्यवस्था कैसे बनेगी तो इस पर प्रकाशानन्द का कहना है कि इसकी भी उपपत्ति स्वप्नवद् करनी चाहिए।

बन्धमोक्षव्यवस्था स्याज्जीवाभेदे कथं तव ।
यथा दृष्टं तथैवास्तु दृष्टत्वात्स्वप्नदृष्टवत् ।।

देखें, वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० 16–18

27. एक एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव उपनिषन्मात्रगम्यो वस्तुतोऽस्ति। स एवाज्ञानमाश्रित्य जीवभावं लब्ध्वा देवतिर्यङ्मनुष्यादि देहान् परिकल्प्य तदुप– करणत्वेन ब्रह्माण्डादिचतुर्दशभुवनं सृष्ट्वा तेषु तेषु देहेषु कष्चिद्देवः कश्चिन्मनुष्यः कश्चिद् हिरण्यगर्भः सर्वेषां स्रष्टा कश्चिद्विष्णुः पालकः कश्चिदन्यः सर्वसंहारकर्त्ता रुद्रः प्रलये।— एवं सति एक एवात्मा परिपूर्णः स्वेयं प्रकाशानन्दैकस्वभावः स्वाज्ञानवशाज्जीवः संसारीत्यादि शब्दाभिधेयो भवति । न तदन्य कश्चित् संसारी संभावयितुमपि शक्य इति स्थितम् ।
वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० 23–24

28. ए.के. चटर्जी के अनुसार प्रकाशानन्द का दृष्टिसृष्टिवाद ब्राह्मण परम्परा का एकमात्र विज्ञानवादी दर्शन है। यहाँ ध्यातव्य है कि भारत में विज्ञानवादी चिन्तन के आद्य प्रवर्तक बौद्ध दार्शनिक माने जाते हैं । योगाचार सम्प्रदाय में आचार्यों की एक लम्बी परम्परा है जो विज्ञान को ही एकमात्र परमसत् मानती है तथा सकल बाह्य जगत् को स्वप्नवत् मिथ्या घोषित करती है । जाहिर है प्रकाशानन्द का मत जैसा कि पाण्डेय कहते हैं, सहज ही इन बौद्ध विज्ञानवादियों की याद दिलाता है जिनके अनुसार सब कुछ विज्ञप्ति मात्र है, चित्त मात्र है। पाण्डेय के अनुसार प्रकाशानन्द को बौद्ध विज्ञानवाद से जोड़ने वाली कड़ी योगवाशिष्ठ है जिसका वे बार–बार उद्धरण देते हैं। एक अन्य सन्दर्भ में पाण्डेय गौडपादाचार्य का उल्लेख करते हैं जिन पर उनके अनुसार महायान का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है और जिनका प्रभाव मुक्तावली में यत्र–तत्र महसूस किया जा सकता है। वास्तव में गौडपादाचार्य और योगवाशिष्ठकार ये दो ऐसे आचार्य हैं जिनका सन्दर्भ प्रकाशानन्द बार–बार बड़े ही श्रद्धा के साथ वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में देते हैं। हम कह सकते हैं कि बौद्ध विज्ञानवादियों और शून्यवादियों का जो प्रभाव गौडपाद या योगवाशिष्ठकार के ऊपर दिखाई पड़ता है, वही प्रकाशानन्द में एक बार पुनः परिलक्षित होता है। प्रकाशानन्द गौडपाद व योगवाशिष्ठकार की परम्परा का पुर्नस्थापन करते हैं ।

चटर्जी के अनुसार प्रकाशानन्द का विज्ञानवाद आत्मनिष्ठविज्ञानवाद है। चटर्जी की ही तरह पाण्डेय भी वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली को आत्मनिष्ठविज्ञानवादी दर्शन की पृष्ठभूमि में देखने की वकालत करते हैं। उनके अनुसार प्रकाशानन्द जब स्वयं के मत का उद्घोष करते हैं तो एक आत्मनिष्ठविज्ञानवादी की ही तरह प्रतीत होते हैं जिसके अनुसार जगत् उसके ज्ञान से पथ्थक् नहीं है। बौद्धविज्ञानवादियों और दृष्टिसृष्टिवादियों में महत्वपूर्ण समानता होने के बावजूद चटर्जी का कहना है कि जहाँ बौद्ध विज्ञानवादी के अनुसार विषय–जगत् चित् का वास्तविक परिणमन है वहीं दृष्टिसृष्टिवाद के अनुसार यह परिणमन वास्तविक न होकर कल्पित और भ्रामिक है। कहा जा सकता है दृष्टिसृष्टिवाद भी अन्ततः प्रतीतिगोचर–प्रपञ्च की व्याख्या के लिए प्रस्तुत एक आभिप्रायिक या कामचलाऊ सिद्धान्त मात्र है । परमार्थतः यह भी मिथ्या है। दूसरी ओर बौद्ध विज्ञानवादियों के अनुसार विज्ञानवाद एक आभिप्रायिक सिद्धान्त मात्र न होकर

पारमार्थिक सिद्धान्त है। पर क्या विज्ञानवाद वस्तुतः योगाचार का अनन्तिम सिद्धान्त है ? स्वयं चटर्जी के अनुसार योगाचार विज्ञानवाद भी अन्ततः परमनिरपेक्षवादी सिद्धान्त ही है, विज्ञेय के तिरोधान के पश्चात् विज्ञान विज्ञान न रहकर विज्ञेय–विज्ञान से परे शुद्ध चित् मात्र रह जाता है । बौद्ध–विज्ञानवाद के विस्तृत प्रतिपादन के लिये देखें ए0के0 चटर्जी, योगाचार आइडियलिज्म, मोतीलाल बनरसीदास, दिल्ली, 1987

29. बौद्ध विज्ञानवाद में 'अन्य मनस्' के अस्तित्व को लेकर एक द्वन्द्व दिखाई पड़ता है। धर्मकीर्ति जहाँ एक ओर विज्ञानवादी दर्शन की परिधि में सन्तानान्तरसिद्धि की बात करते हैं और इस तरह अहम्मात्रवाद की संभावना मात्र का निरास करते हैं तो दूसरी ओर रत्नकीर्ति सन्तानान्तर–दूषण में अन्य–मनस् की सत्ता को सिरे से खारिज करते हैं । प्रस्तुत लेखक के मत में वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का स्वारस्य धर्मकीर्ति की अपेक्षा रत्नकीर्ति के साथ है ।
30. रेवतीरमण पाण्डेय (1991), पृ0 127–129
31. वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, पृ0 172
32. विद्यारण्य, पञ्चदशी, 6/130
प्रकाशानन्द आश्चर्य रूप से विद्यारण्य की इस बहु–पठित कारिका को गौडपादकृत (तुदक्तं गौडैः) बताते हैं। देखें, वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 178
33. मिथ्यात्व का यह लक्षण वस्तुतः विवरणकार द्वारा प्रस्तुत लक्षण का मधुसूदन सरस्वती कृत अनुवाद हैं विवरणकार का मूल लक्षण है– प्रतिपन्नोपाधावभाव– प्रतियोगित्वमेव मिथ्यात्वं नाम ।
34. वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. 171
35. विभिन्न मिथ्यात्व–लक्षणों को यहाँ मधुसूदन सरस्वती द्वारा अनूदित स्वरूप में प्रस्तुत किया गया है । उदाहरणार्थ चित्सुख का लक्षण जैसा कि मधुसूदन सरस्वती प्रस्तुत करते हैं 'स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम्' न होकर मूल में "सर्वेषामपि भावनां स्वाश्रयत्वेन सम्मते । प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मा ।" है ।
36. शङ्कराचार्य ब्रह्मसूत्र 2/1/3 के भाष्य में यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि अद्वैत में भी यावत् व्यवहार यथावत् बनेगा– परमकारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वेऽपि उपपद्यते भोक्तृभोग्यलक्षणो विभागः समुद्रतरंगादिन्यायेनेत्युक्तम् । आगे "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" ब्र0सू0 2/1/14 के भाष्य में कहते हैं–सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण 'तदनन्यत्वम्' इत्याह। व्यवहाराभिप्रायेण तु 'स्याल्लोकवत्' इति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति । अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां चाश्रयति– सगुणेषूपासनेषूपयोक्ष्यत इति ।
37. एतत् तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते । माण्डूक्यकारिका, 4/71
38. रेवतीरमणपाण्डेय अपने लेख में अनेकशः इस बात को रेखांकित करते हैं कि वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली रहस्यात्मक आनन्दानुभूति की चरमावस्था का ग्रन्थ है। इस सन्दर्भ में पाण्डेय विशेषकर वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली की कारिका संख्या 44 से 55 का उल्लेख करते हैं । पाण्डेय के अनुसार इन कारिकाओं के पारायण से पाठकों को यह अनुभूति हुए बिना नहीं रह सकती कि इन पंक्तियों का लेखक साधना की चरम आनन्दानुभूति में स्थित होकर बोल रहा है ।
39. परमसत् के आनन्दस्वरूप पर प्रकाशानन्द वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में आग्रहपूर्वक बल देते हैं। प्रो. पाण्डेय के अनुसार यह वह मुख्य व्यावर्तक विशेषता है जो प्रकाशानन्द को अन्य अद्वैतियों से पृथक् करती है जिनमें यह उतने मुखर रूप में नहीं पायी जाती है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि बीसवीं सदी के कई एक विद्वान अद्वैत की तुलना में काश्मीर शैव दर्शन या श्री अरबिन्द के दर्शन में परमत्त्व के आनन्द पक्ष पर अपेक्षाकृत अधिक आग्रह पाते हैं। पर जब हम प्रकाशानन्दकृत वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली का अवलोकन करते हैं या पाण्डेयकृत उसकी व्याख्या का अवलोकन करते हैं तब हम सहज समझ सकते हैं कि उपर्युक्त मत में कितना सत्य है। वास्तव में वेदान्त का समस्त आयोजन ही स्वरूपभूत नित्य आनन्द के साक्षात्कार हेतु पुरस्कृत होता है।

अमृतस्य पुत्राः :*

एन अद्वैतिक एन्काउन्टर विद ग्लोबलिज़्म एण्ड पोस्टमॉडर्निज्म

संजय कुमार शुक्ल

"अमृतस्य पुत्राः– एन अद्वैतिक एन्काउन्टर विद ग्लोबलिज़्म एण्ड पोस्टमॉडर्निज्म" आचार्य रेवतीरमण पाण्डेय की मानक कृति है जिसका वैशिष्ट्य साम्प्रतिक भूमण्डलीवाद एवं पराआधुनिकतावाद के संदर्भ में अद्वैतवादी निरपेक्षवाद की सार्थक परिचर्चा है। भूमण्डलीकरण मूलतः बाज़ारीकरण है जो कि भोग की संस्कृति एवं आधिपत्य की प्रवृत्ति पर आधृत है। पराआधुनिकतावाद एक समकालीन वैचारिक आन्दोलन है जो तर्कबुद्धि की विखण्डनात्मक समीक्षा है क्योंकि इसके अंतर्गत अपोलो की व्यवस्था, क्रम, सौन्दर्य एवं सामंजस्यवादी दृष्टि के स्थान पर डायोनीज़ की अविवेकी, अव्यवस्था और सामंजस्यहीनता को प्रश्रय प्राप्त है। विखण्डनात्मक विधि में ऐतिहासिक प्रसंगों एवं सांस्कृतिक भाषा खेलों के प्रकीर्ण एवं विजातीय स्वरूप को प्रदर्शित किया जाता है और इस प्रकार भाषागत संरचना एवं राजनैतिक क्रियाकलाप में खण्डयुक्त–स्थानीय नियतत्त्ववाद का महत्त्व है। परन्तु इस सभ्यता बोध के विकल्प में नव विश्व–व्यवस्था की आधारशिला मात्र वेदान्त की आध्यात्मिक संस्कृति पर ही संभव है।

चतुर्दश अध्यायों में विभक्त इस विनिबन्ध के प्रथम अध्याय का शीर्षक *'अमृतस्य पुत्राः'* है। भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, बाज़ारीकरण आदि वस्तुतः यूरोकेन्द्रित विश्व–दृष्टि का नवीन संस्करण है जिसकी प्रमुख निष्पत्तियाँ उपनिवेशवाद, प्राच्य विद्या, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद एवं यूरोपीयवाद है। भूमण्डलीकरण अथवा नव विश्व–व्यवस्था की अभिन्नता बाज़ारीकरण से है जिसके अंतर्गत बहु–राष्ट्रीय निगमों को अधोविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों के आर्थिक (प्राकृतिक) संसाधनों के मुक्त दोहन की स्वतंत्रता प्राप्त है। विखण्डनात्मक संवाद अथवा विभेद की श्रुत्यर्थ विधि से सम्बन्धित गैडमर एवं डेरिडा अन्यता के आत्मसात्करण की किसी संभावना को स्वीकार नहीं करते हैं, जबकि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भारतीय प्रारूप में परत्व अथवा भेद दृष्टि की जगह समतामूलक अभेद दृष्टि की प्रधानता है। पराआधुनिकतावाद में भाषाई एवं धार्मिक–सांस्कृतिक बहुत्ववाद की स्वीकृति है, किन्तु विश्व संस्कृति आध्यात्मिक मानवतावाद पर ही प्रतिष्ठित हो सकती है। बीसवीं शताब्दी में आर्थिक साम्राज्यवाद का उद्भव एवं प्रसार स्पष्टरूपेण दृष्टिगोचर होता है जिसे चामस्की 'नव निरंकुशता' से अभिहित करते हैं। पराआधुनिकतावाद तर्क के वर्चस्वरूपी मिथक का भंजन करता है और इस प्रकार से वह विक्षिप्तता एवं अराजकता के विषमावस्था का परिचायक है। आधुनिकता स्वयं को प्रधान आख्यान यथा आत्मा के द्वन्द्वन्याय, तर्कबुद्धि–आश्रित अर्थबोध अथवा निर्धारण, बौद्धिक मन अथवा आत्मा की मुक्ति के रूप में प्रस्तुत करती है। पराआधुनिक दृष्टिकोण में प्रधान आख्यान के प्रति अविश्वास एवं सतत अथवा प्रगामी

---

*प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय की यह कृति कला प्रकाशन, वाराणसी से 2001 में प्रकाशित हुई थी।

दर्शन विभाग, यूइँग क्रिश्चियन कॉलेज, इलाहाबाद (उ.प्र.)

इतिहास के संदर्भ में संशयवादी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। पराआधुनिकतावाद में आधुनिकता के विरूद्ध संगठित आक्रमण का आधार आधुनिक पाश्चात्य बुद्धिवाद एवं सार्वभौमिकतावाद है जो कि यूरोकेन्द्रित अभिकल्प के वैश्विक आधिपत्य की आधारशिला है। प्रो. पाण्डेय इस संदर्भ में पराआधुनिकतावाद से सम्बन्धित विचारकों हाइडेग्गर, डेरिडा, बेटाइली एवं फूको आदि का व्यवस्थित विवेचन एवं विश्लेषण करते हैं।

यह अत्यन्त ही सुस्पष्ट है कि वैश्विक शान्ति एवं सामंजस्य की प्राप्ति पाश्चात्य संवाद, द्वन्द्वन्याय श्रुत्यर्थ विधि एवं विखण्डन के द्वारा संभव नहीं है क्योंकि यहाँ विभेद एवं विविधता पायी जाती है। स्वामित्व एवं आधिपत्य की प्रवृत्ति स्वार्थमूलकता में निहित होती है जो अशान्ति, कटुता एवं संघर्ष को उत्पन्न करती है। विविधता एवं विभेद में अंतर्निहित एकता कि सिद्धि अद्वयं ब्रह्म द्वारा स्थापित होती है। वैदिक एवं औपनिषदिक चिंतन में आत्मा के अमरत्व को अमृतस्य पुत्राः से अभिहित किया जाता है जो स्वरूपतः सत्, चित् एवं आनन्द है जबकि पाश्चात्य (ईसाई) परंपरा में मनुष्य को मूलतः पतित के रूप में कल्पित किया गया है। वर्तमान परिस्थिति में नैराश्य, कुंठा, असंतोष एवं विक्षिप्तता का साम्राज्य सर्वत्र व्याप्त रहता है जिस पर नियंत्रण तर्कबुद्धि के सर्वस्वरूपी मिथक के भंजन से नहीं अपितु प्रज्ञा को जाग्रत करके संभव है। आत्मा का निरपेक्षत्व 'सत्यस्य सत्य' है एवं ध्यान द्वारा 'आर्यत्व–सद्‌गुण' की सिद्धि होती है : 'कृणवन्तु विश्वमार्यम्' और केवल तब ही वैश्विक एकता के आदर्श की प्राप्ति होती है: 'यत्र विश्वं भवत्येकनिड़म्'। आत्म–बोध अमरत्व प्रदान करता है : 'ये तद्‌विदोरऽमृतः भवन्ति'। विलहेल्म हाल्बफास अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'ट्रैडिशन एण्ड रिफ्लेक्शॅन्स इन इंडियन थॉट' के अंतर्गत लुई रिनाऊ के इस मत का परीक्षण करते हैं कि भारत में वेद का इतिहास अंततः असफलता एवं अभाव का इतिहास है। हाल्बफास की यह मान्यता है कि वेद भाषा एवं जगत् के मौलिक विभेद एवं वर्गीकरण की आधारशिला है और इसमें विवेचित कर्मकाण्ड सामाजिक एवं प्राकृतिक व्यवस्था को पोषित करता है। कुछ उग्र पाश्चात्य विचारकों की यह धारणा है कि हिन्दुवाद उपयुक्त ढंग से परिभाषित नहीं है और इसमें स्पष्टरूपेण अभिज्ञेय पंथ भी नहीं है एवं इसके अतिरिक्त हिन्दुवाद में सुसंगत संगठनात्मक संरचना का भी अभाव है, अतएव ईसाई एवं इस्लाम जिस रूप में संस्थागत धर्म हैं उस रूप में हिन्दु धर्म धर्म नहीं है। हाल्बफास इन पाश्चात्य विचारकों (डब्लु कैन्टवेल स्मिथ एवं पी. हैकर आदि) के मतों का सम्यक् परीक्षण करके यह अभिमत प्रस्तुत करते हैं कि वे पाश्चात्य शोध की विधि, मूल्य प्रणाली, बौद्धिक कोटियों एवं अभिविन्यास आदि को अनुचित रूप में भारतीय परंपरा पर आरोपित करते हैं जिसके फलस्वरूप भारतीयों की गौरवशाली अस्मिता का हनन होता है।

सनातन अथवा वैदिक धर्म में कर्म का सिद्धान्त अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है जो कि आत्मा के अमरत्व, पुनर्जन्म, ईश्वर के प्रत्यय एवं संकल्प स्वातंत्र्य से सुसंगत है। कर्मवाद भाग्यवाद (दैववाद) नहीं है और 'लोकोयम् कर्मबंधनः' स्थापित मान्यता है, अतएव कोई जीवात्मा कर्म के बिना नहीं रह सकता है क्योंकि शरीर का निर्माण त्रिगुण द्वारा होता है। काम्य कर्म जीव को जगत् अथवा स्वर्ग में बंधनग्रस्त करते हैं किन्तु बंधन से मुक्ति (मोक्ष)–सन्यास, त्याग एवं ईश्वर के प्रति शरणागति (प्रपत्ति) से संभव है। अनेक यूरोपीय विद्वानों की यह भ्रान्ति है कि हिन्दुवाद निषेधात्मक, निराशावादी एवं जगत् का निषेध करने वाला सिद्धान्त है। यह उनके या तो अज्ञानता का

परिचायक है अथवा उनका यूरोकेन्द्रित पूर्वाग्रह है जिसमें प्राच्य विद्या का अवमूल्यन किया जाता है। भारतीय संस्कृति में ऋण की अवधारणा विलक्षण है जिसमें पितृ, ऋषि, देव एवं भूत ऋण आते हैं जो हमारे समाज के प्रति कर्तव्यों का द्योतक है। पुरूषार्थ एक भारतीय मूल्य व्यवस्था है जिसमें प्रवृत्ति एवं निवृत्ति में समन्वय स्थापित किया जाता है और जिसका निहितार्थ है, 'अयंअर्थ अभिलक्ष्य पुरुषः प्रवर्तते स पुरुषार्थः'। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को पुरुषार्थ में सम्मिलित किया जाता है किन्तु कालान्तर में भक्ति को पंचम पुरुषार्थ के रूप में कुछ विचारक स्वीकार करते हैं। हिन्दु, धर्म में ब्रह्म की सिद्धि के दो मार्ग हैं– यज्ञ एवं योग। तत्पदार्थ शोधनविधि जो कि वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण है में यज्ञ की प्रधानता है तो वहीं त्वम्पदार्थ शोधनविधि जो कि आत्मनिष्ठ अधिगम है, में योग महत्त्वपूर्ण है। वैदिक परंपरा का वैशिष्ट्य वर्ण–आश्रम व्यवस्था में निहित है जो कि एक सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवस्था है। अतः वैदिक परंपरा एक जीवन्त परंपरा है जो कि आध्यात्मिक एवं मूल्यकेन्द्रित होने के साथ ही साथ वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक भी है। पराआधुनिकतावाद मूल्यों के संकट का काल है और इस संत्रास से मुक्ति प्रज्ञा द्वारा ही संभव है।

पुस्तक के द्वितीय अध्याय का शीर्षक *'द कन्सेप्ट ऑफ ईश्वर इन इन्डियन फिलॉसफी'* है। ईश्वर का प्रत्यय ऋग्संहिता में प्राप्य नहीं है यद्यपि ईश का प्रयोग इसमें अनेक स्थल पर किया गया है जिससे ईश्वर की व्युत्पत्ति हुई है। यजुर्वेद एवं सामवेद में भी ईश्वर का स्पष्टरूपेण प्रयोग नहीं हुआ है– 'प्राणों हि सर्वस्येश्वरः', 'कालो हि सर्वस्येश्वरः', 'यो भूतः सर्वस्येश्वरः' आदि। यहाँ पर ईश्वर शब्द का प्रयोग परमेश्वर के अर्थ में नहीं अपितु लौकिक अर्थ में राजा अथवा स्वामी के लिए है। भगवद्गीता में ईश्वर से परमेश्वर का बोध होता है– 'समवस्थितमीश्वरम्', 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्', 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' आदि। योग, न्याय एवं सांख्य सूत्रों में भी ईश्वर परमेश्वर के अर्थ में प्रयुक्त होता है– 'पुरुष विशेषः ईश्वरः' (योग–सूत्र), 'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्' (न्याय सूत्र), 'ईश्वरासिद्धेः' (सांख्य सूत्र)। नीत्शे के क्रान्तिकारी कथन कि ईश्वर की मृत्यु हो गई है के पश्चात् कुछ धर्मज्ञों के अतिरिक्त अन्य कोई पाश्चात्य विचारक सामान्यतः ईश्वर के प्रत्यय का गंभीर अनुशीलन नहीं करता है। चार्वाक दर्शन में ईश्वर की सत्ता का खण्डन सुस्पष्ट है जबकि बौद्ध एवं जैन दर्शन अपने प्रारंभिक काल में निरीश्वरवादी रहे किन्तु कालान्तर में क्रमशः बोधिसत्व एवं तीर्थंकर को ईश्वरत्व के रूप में स्वीकृति प्रदान की गई है। कणाद एवं गौतम ईश्वर के संदर्भ में कोई निश्चित धारणा नहीं रखते हैं किन्तु बाद में न्याय–वैशेषिक दर्शन ईश्वर का प्रबल समर्थक हो जाता है। यहाँ तक की सांख्य एवं मीमांसा दर्शन में भी कालान्तर में ईश्वर के प्रत्यय को स्वीकृति प्राप्त होती है। मीमांसा दर्शन में श्रुति शाश्वत, अनादि एवं अपौरुषेय है और जगत् की प्रक्रिया को 'न कदाचिदऽनीदृशम जगत्' के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसके परिणामस्वरूप ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। वैदिक दर्शन में जगत् की सृष्टि एवं लय के विचार को मीमांसा दर्शन मात्र अर्थवाद मानता है। उसकी कर्मवाद में दृढ़ आस्था है किन्तु ईश्वर के प्रत्यय के बिना कर्मवाद की संतोषजनक व्याख्या संभव नहीं है क्योंकि ईश्वर हमारे समस्त कर्मों का साक्षी (द्रष्टा) ही नहीं अपितु कर्मों के अनुरूप हमें पुरस्कृत एवं दण्डित भी करता है। योग दर्शन में ईश्वर को विशेष पुरुष से अभिहित किया जाता है जो कि दुःख, कर्म एवं कर्मफल से अप्रभावित रहने के कारण निषेधात्मक अवधारणा है।

यहाँ पर ईश्वर सर्वज्ञ तो है किन्तु सर्वशक्तिमान एवं विभु नहीं है क्योंकि उसका प्रकृति पर कोई नियंत्रण नहीं है। न्याय–वैशेषिक एवं वेदान्त संप्रदाय में ईश्वर सृष्टिकर्ता है किन्तु न्याय वैशेषिक में ईश्वर केवल निमित्तकारण है। विशिष्टाद्वैत में ईश्वर निमित्त एवं उपादान कारण है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वह मात्र निमित्त कारण है क्योंकि चिद्–अचिद् तत्त्व भी ईश्वर की भांति यथार्थ हैं (तत्त्वत्रयी)। पाश्चात्य विचारक इन्हें ईश्वरवाद के अंतर्गत नहीं रखते क्योंकि पूर्ण सृष्टि (सर्जन) ही सृष्टि है। यदि ईश्वर जगत् की सृष्टि शून्य से करता है (पूर्ण सृष्टि) तो अशुभ की समस्या उत्पन्न होती है जिसकी व्याख्या भारतीय दर्शन में कर्म के सिद्धान्त से संभव है। अशुभ, दुःख एवं असमानता के लिए ईश्वर उत्तरदायी नहीं अपितु वे हमारे कर्म के परिणाम हैं।

भारतीय ईश्वरवादी संप्रदाय एवं पाश्चात्य धर्मशास्त्री यथार्थवाद का समर्थन करते हुए निरपेक्षवाद एवं सर्वेश्वरवाद का खण्डन करते हैं। ईश्वरवाद एवं सर्वेश्वरवाद में अंतर्विरोध का आधार यह है कि ईश्वरवाद एकत्व के प्रति असहिष्णु है तो वहीं सर्वेश्वरवाद भेद के संदर्भ में अस्वीकृति का भाव रखता है। ईश्वर के व्यक्तित्त्व को लेकर पर्याप्त मतभेद हैं – सर्वेश्वरवाद एवं अद्वैतवाद में ईश्वर व्यक्तित्त्वविहीन है जबकि ईश्वरवाद में ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है क्योंकि वह हमारी प्रार्थना को सुनता है और हमारी भक्ति को ग्रहण करता है। वैयक्तिक ईश्वर एवं अवतारवाद में द्वैत का भाव स्वभाविक है यथा रामानुज ईश्वर में सजातीय एवं विजातीय भेद तो नहीं मानते किन्तु स्वगत् भेद की कल्पना करते हैं। ईश्वरवादियों की यह भूल है कि वे एकत्व एवं भेद दोनों को ही यथार्थ मानते हैं। ईसाई धर्म में जगत् की सृष्टि को यथार्थ ही नहीं माना गया है अपितु जगत् की उत्पत्ति शून्य से हुई है। ईश्वरवाद को तर्कसंगत होने के लिए उसे यथार्थवाद का परित्याग करते हुए मायावाद की निष्पत्तियों के साथ निरपेक्षवाद को स्वीकार करना उसकी बाध्यता है। धर्म में अवतारवाद समस्यात्मक है। यथार्थवादी पूर्वाग्रह के कारण यहूदी एवं इस्लाम धर्म ईश्वर के अवतार को नहीं मानते हैं। ईश्वर का प्रत्यय शुभत्व के बिना संतोषजनक नहीं है जिसका निहितार्थ है उसे अतीन्द्रिय के रहस्य को उद्घाटित करना चाहिए और इसके अतिरिक्त वह सृष्टिकर्ता है एवं मानवता के उद्धार तथा धर्म की स्थापना के लिए उसे अवतरित भी होना चाहिए। अद्वैत वेदान्त में ईश्वरवाद का सर्वाधिक सुसंगत स्वरूप तत्त्वमसि एवं संभवामि युगे–युगे के रूप में विवेचित है।

पुस्तक का तृतीय अध्याय *'एन अद्वैतिक अप्रेजल ऑफ द कन्सेप्ट ऑफ साक्षी'* है। संवृत्ति जगत् में दृक एवं दृश्य महत्त्वपूर्ण हैं। तत्पदार्थ शोधनविधि से ब्रह्म जो कि जगत् का अधिष्ठान है, उद्घाटित होता है तो वहीं त्वम्पदार्थ शोधनविधि से आत्मा का स्वरूप प्रव्यक्त होता है। आत्मा किस प्रकार विषयों को उद्घाटित अथवा उद्भासित करती है? का समाधान साक्षी चैतन्य में निहित है। माण्डूक्य उपनिषद् में आत्मा की तीन अवस्थायें वैश्वानर, तैजस एवं प्रज्ञा के रूप में विवेचित की गई हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा को सर्वज्ञ माना गया है किन्तु उसे किसी अन्य से नहीं जाना जा सकता है – 'विज्ञातारम् अरे केन विजानियात' और इस कारण से साक्षात् अपरोक्ष स्वरूप है। शुद्ध चैतन्य को कभी ब्रह्म, कभी साक्षी एवं कभी ईश्वर से भी व्यक्त किया जाता है। शंकराचार्य इसे सर्वसाक्षी से अभिहित करते हैं। जीव एवं साक्षी दोनों ही चेतना के प्रकार हैं, यद्यपि विभिन्न ढंग से विशेषित होते हैं – जीव जहाँ पर 'अंतःकरणवच्छिन्न चैतन्य'

है तो वहीं साक्षी 'अंतःकरणोपहित चैतन्य' है। जीव–साक्षी एवं ईश्वर–साक्षी में भेद का आधार यह है कि जीव–साक्षी 'अंतकरणोपहित चैतन्य' एवं अनेक है जबकि ईश्वर–साक्षी 'मायोपहित चैतन्य' एवं एक है। जीवात्मा एवं साक्षी में एक ही चेतना अंतर्निहित होती है किन्तु दोनों में सूक्ष्म अंतर यह है कि जीव कर्ता एवं भोक्ता है जबकि साक्षी दोनों में से कोई नहीं है। साक्षी को 'द्रष्टत्वे सति उदासीनत्वम् साक्षीत्वम्' के रूप में परिभाषित किया जाता है। मुण्कोपनिषद् में जीव एवं साक्षी में भेद करते हुए कहा गया है कि– 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरनयः पिप्पलं स्वादवत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'।। प्रो. पाण्डेय साक्षी के स्वरूप, प्रस्थिति एवं महत्त्व को विवेचित करने के लिए पंचदशी, तत्त्वप्रदीपिका, वेदान्त कौमुदी, तत्त्वशुद्धि, सर्ववेदान्तसंग्रह, सिद्धान्तबिन्दु, एवं सिद्धान्तलेक्षसंग्रह आदि अद्वैत ग्रंथों का सम्यक् विश्लेषण एवं परीक्षण करते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक परंपरा में ज्ञान की वस्तुनिष्ठता को सर्वप्रथम सुकरात ने स्वीकार किया है जिसका विस्तार प्लेटो, डेकार्ट, काण्ट एवं हुस्सर्ल के चिंतन में दृष्टिगोचर होता है। हुस्सर्ल के फिनोमिनोलॉजकीय दर्शन में आनुभविक एवं अतीन्द्रिय अहं में स्पष्ट विभेद प्राप्य है जिसकी तुलना जीव एवं ब्रह्म से की जा सकती है किन्तु हुस्सर्ल की दृष्टि में चेतना का स्वरूप सदैव विषयापेक्षी होता है जबकि अद्वैत वेदान्त में आत्मा शुद्ध चैतन्य है। चेतना की विषयापेक्षिता में चेतना एवं उसका विषय परस्पर सापेक्ष होने के कारण शुद्ध वस्तुनिष्ठता की कोई संभावना नहीं है किन्तु अद्वैत वेदान्त में वस्तुनिष्ठता साक्षी में अवस्थित होती है।

अद्वैत वेदान्त यथार्थवादी ज्ञानमीमांसा का समर्थन करते हुए यह प्रतिपादित करता है कि 'ज्ञानं तु वस्तुतंत्रम'। ज्ञान पूर्वविद्यमान वस्तु के अज्ञानरूपी आवरण को निरस्त करके उद्घाटित अथवा उद्भासित करता है। वृत्ति द्वारा अज्ञानरूपी आवरण निवर्त्य होता है और इस प्रकार वृत्ति का कार्य आवरणभंग के रूप में निषेधात्मक है। अविद्या अथवा अज्ञान विषयी एवं विषय में द्वैत की स्थापना करती है। विषयी या ज्ञाता अहंकार द्वारा सीमित चेतना (प्रमातृ चैतन्य) है तो वहीं विषय भी अविद्या के विभिन्न अनुबद्ध द्वारा सीमित चेतना (विषय चैतन्य) है। वृत्ति का कार्य विषयी एवं विषय में मध्यस्थता करना है जिसकी परिणति आवरणभंग है। आवरणभंग से विषयी एवं विषय में तादात्म्य की पुनर्स्थापना होती है क्योंकि वस्तुतः वे दोनों एक ही प्रकार की चेतना हैं। वृत्ति अंतःकरण का रूपान्तरण है जिसमें बुद्धि, चित्त, मनस एवं अहंकार अंतर्निहित होता है। वृत्ति का इन्द्रियों के माध्यम से बहिर्गमन होता है, तत्पश्चात् वह विषयों का आकार धारण करती है। ज्ञातता बुद्धि में प्रतिबिम्बित होती है जो प्रमाता अथवा चिदाभास का कारण है। प्रमाता विभिन्न वृत्तियों में अहं के रूप में व्याप्त रहता है और वह कर्ता एवं भोक्ता है। साक्षी प्रकटन का अंतिम (पर) सिद्धान्त है जिस पर समस्त बहुत्व, ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान का ज्ञानात्मक विभेद आरोपित होता है। वह आत्मज्योति है जिसके प्रकाश से समस्त विषय प्रकट अथवा उद्भासित होते हैं– 'तस्य भासा सर्वमिदम विभाति'। अतः समस्त विषय–यथार्थ एवं अयथार्थ, ज्ञात एवं अज्ञात साक्षी के ज्ञान का विषय है– अयथार्थ एवं अज्ञात का साक्षात् तो वहीं यथार्थ एवं ज्ञात का बोध वृत्तियों के माध्यम से संभव होता है।

'द कन्सेप्ट ऑफ तितिक्षा एज़ द सेन्ट्रल थीम ऑफ भगवद्गीता' चतुर्थ अध्याय है। तितिक्षा की अवधारणा का प्रयोग ऋग्वेद में भी प्राप्य है। यह हमारे सुख–दुःख, जय–पराजय, शीतलता–ऊष्णता में सहनशीलता का परिचायक है। यह अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थिति में

समभाव की स्थिति है जो कि निर्विकार अथवा निष्काम भाव से जीवनयापन द्वारा संभव है– 'सुख दुःखे समानभूते इन्नु रन्तये'। सुख एवं दुःख को समानरूपेण भोगना धृति अथवा समचित्तता का लक्षण है और इसे ही शंकराचार्य द्वन्द्वसहिष्णुः की संज्ञा देते हैं। भगवद्गीता में 'समत्वंयोगमुच्यते' को परम आदर्श के रूप में प्रतिपादित किया गया है। धम्मपद में तितिक्षा को परम तप से अभिहित किया गया हे– 'खांति परमं तपो तितिक्खा'। भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ को इस प्रकार से विश्लेषित किया गया है कि जिस काल में मनुष्य मन में स्थित संपूर्ण कामनाओं को त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, उस काल में वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है – 'प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।' दुःखों की प्राप्ति से जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय एवं क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है– 'दुःखेष्वनुद्विगन्मनाः सुखेषु, विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरूच्यते।।'' भगवद्गीता का स्थितप्रज्ञ अद्वैत वेदान्त के जीवनमुक्त के सदृश है। भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ के आदर्श की प्राप्ति क्रिया योग, समाधि योग, भक्ति योग, ज्ञान योग, अनासक्ति योग आदि के द्वारा संभव है। विवेकचूड़ामणि में तितिक्षा को इस रूप में परिभाषित किया गया है– 'सहनं सर्वदुःखानाम् अप्रतिकारपूर्वकं चिंताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते'। स्थितप्रज्ञ ब्रह्मस्थिति से अभिन्न है और इसलिए तितिक्षा को धारण करने वाला समत्वयोगी है। ज्ञान निष्काम कर्म एवं भक्ति की अनिवार्य पूर्वशर्त है। अव्यय योग वस्तुतः राज योग है जिसे भगवान कृष्ण ज्ञान योग के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं और जिसकी प्राप्ति तितिक्षा के अभ्यास से संभव है।

पुस्तक के पंचम अध्याय का शीर्षक *'राज–योग : एन अद्वैतिक ईलूसिडेशॅन'* है। सामान्यतः राज–योग को पातंजल योग से अभिन्न माना जाता है किन्तु शंकराचार्य इस मत का खण्डन करते हुए राज–योग को आत्मविद्या या ब्रह्मविद्या से अभिहित करते हैं। यह गौड़पाद का प्रणव अथवा अस्पर्श योग है। आचार्य संगम लाल पाण्डेय ने 'ह्विदर इन्डियन फिलॉसफी' के अंतर्गत नॉन–पातंजल राज–योग की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। सांख्य–योग परंपरा का परमार्थ (आदर्श) कैवल्य, विवेकख्याति अथवा पुरूष एवं प्रकृति का भेद ज्ञान है। शांकर वेदान्त में सच्चिदानन्द की सिद्धि, एकमेएवाद्वितीयम्, सर्वं खलु इदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन को परमार्थ के रूप में स्वीकार किया जाता है। स्वामी श्री नरहरि 'बोधसार' में राज–योग के अद्वैत योग होने के पक्ष में कुछ महत्त्वपूर्ण तर्क प्रस्तुत करते हैं। वाचस्पति मिश्र, अमलानन्द एवं अप्पय दीक्षित आदि पातंजलि के 'योगश्च चित्त–वृत्ति निरोधः' का समर्थन करते हैं, किन्तु शंकराचार्य इसका खण्डन करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि 'अथ तत्त्वदर्शनोपायः योगः'। आचार्य संगम लाल पाण्डेय की दृष्टि में अद्वैत वेदान्त में राज–योग चित्त–वृत्तियों के निरोध के बिना संभव है क्योंकि जहाँ कहीं मन की गति है वहाँ समाधि की संभावना है। आनन्दगिरी की यह दृढ़ मान्यता है कि अद्वैत वेदान्त के योग में महत्त्वपूर्ण उपागम पातंजलि का अष्टांग योग नहीं अपितु श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन है। गौड़पाद प्रणव (ब्रह्म) पर ध्यान केन्द्रित करने की अनुशंसा करते हैं जो अपर एवं पर ब्रह्म है और प्रणव का तादात्म्य तुरीय के साथ माण्डूक्य उपनिषद् में स्थापित किया गया है। वे अपरोक्ष ज्ञान की दो शर्तों – वीतरागअभयऽक्रोध एवं वेदपारंग को अनिवार्य मानते हैं। वे अमनीभाव को

इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि जिस क्षण तुरीय अवस्था प्राप्त होती है मानसिक संरचना समाप्त हो जाती है, ग्राह्य–ग्राहक संबंध का अभाव होता है और जिसके परिणामस्वरूप मन अमन हो जाता है– 'आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा अमनस्ताम तदा याति ग्राह्याभावे तद्ऽग्रहम्।' अस्पर्शयोग समाधि में दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति का (सनिर्वाणम्), परम शान्ति का, आत्मनिष्ठ (स्वस्थम्), अनिर्वचनीय और निरातिशय आनन्द का, सर्वज्ञता का तथा नित्य (अज) ब्रह्म के अद्वैत स्वरूप का अनुभव प्राप्त होता है।

विद्यारण्य अस्पर्शयोग समाधि को निर्विकल्प समाधि के समतुल्य मानते हैं जो टी.एम.पी. महादेवन की दृष्टि में उपयुक्त नहीं है क्योंकि अस्पर्शयोग चित्त–वृत्तियों का निरोध नहीं है। पातंजलि योग आत्मज्ञान का साधन है जबकि अस्पर्शयोग भेदरहित आत्मज्ञान में अंतर्निहित होता है (ज्ञाननिष्ठ)। राज–योग में प्राणलय एवं मनोलय का विलक्षण समन्वय दृष्टिगोचर होता है। राज–योग में सप्त अज्ञान (अविद्या) एवं उसके निरास से उतने ही प्रकार के ज्ञान की विवेचना की गई है। सप्त अज्ञान के अंतर्गत बीज–जाग्रत, जाग्रत, महाजाग्रत, जाग्रत स्वप्न, स्वप्न, स्वप्न जाग्रत एवं सुषुप्त आते हैं। सप्तविद ज्ञान के निम्नलिखित प्रकार हैं– जिज्ञासा, विचार, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असमसक्ति, पदार्थऽभवनि एवं तुरीय हैं। तुरीय अवस्था को अनेक पदों से यथा गूढ़सुषुप्तिका, योग निद्रा, श्रेष्ठ स्थिति, अनुत्तर, सहज एवं स्वरूपस्थिति आदि से व्यवहृत किया जाता है। अतः इस प्रकार से राज–योग अथवा प्रणव–योग पातंजलि के अष्टांग योग से भिन्न है जो अमनी भाव एवं अस्पर्शयोग को समाहित करता है।

पुस्तक का षष्टं अध्याय *'एन अद्वैतिक अप्रेज़ल ऑफ विनोबाज़ कन्सेप्ट ऑफ स्वराज* (सेल्फ–रूल)' है। स्वराज के आदर्श की दार्शनिक पृष्ठभूमि उपनिषद् के द्वारा निर्मित है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'। सामान्यतः हमारी धारणा है कि मात्र राजनैतिक स्वतंत्रता ही वास्तविक स्वतंत्रता है। राजनैतिक स्वतंत्रता को हम लोकतांत्रिक गणराज्य राष्ट्रों के संविधान में पाते हैं यथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, उपासना की स्वतंत्रता आदि और इसे 'फ्रीडम ऑफ' के अंतर्गत रखा जाता है। द्वितीय प्रकार की स्वतंत्रता का सम्बन्ध ईश्वर से है जिसे कर्तुम्ऽकर्तुम्अन्यथाकर्तुम् शक्यः के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है और इसे 'फ्रीडम टु' से अभिहित किया जाता है। स्वतंत्रता का तृतीय प्रारूप अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म से संबद्ध है जो की जगत् की अशुद्धियों एवं सीमाओं से स्वतंत्र है और यही स्वतंत्रता का वास्तविक स्वरूप है क्योंकि द्वैत की स्थिति में स्वतंत्रता यथार्थ नहीं हो सकती है और इसे 'फ्रीडम फ्रॉम' से व्यक्त किया जाता है।

विनोबा के भूदान एवं ग्रामदान का सम्बन्ध सर्वोदय से है। सर्वोदय का दर्शन स्वराज के प्रत्यय में मूलित है। उनके साम्य योग का आदर्श समस्त जीवन के प्रति आदर का भाव है और इसलिए वे मनुष्यों में किसी भी प्रकार का भेद नहीं करते हैं एवं इतना ही नहीं उन्हें मनुष्यों एवं अन्य प्रजातियों की आत्मा में भी कोई मूलभूत (तात्त्विक) भेद स्वीकार्य नहीं है। विनोबा की दृष्टि में अंतिम मानवहित आत्मनिष्ठ नहीं है अपितु उसका स्वरूप सार्वभौम है और इस संदर्भ में हितों के विरोध अथवा संघर्ष का विचार अनुचित है। जाति संघर्ष एवं धार्मिक वैमनस्य और मिथ्या है क्योंकि सभी धर्म प्रेम, करूणा एवं शान्ति की शिक्षा देते हैं और केवल रूढ़िवादिता एवं संस्थागत

स्वरूप के कारण विभक्त हैं। सर्वोदय के प्रत्यय में यह धारणा अंतर्निहित है कि व्यक्ति (व्यष्टि) का हित सभी (समष्टि) के हित में अंतर्विष्ट है और इसी प्रकार सभी का हित अथवा कल्याण वैयक्तिक हित में अंतर्भूत है। विनोबा मार्क्स के वर्ग संघर्ष, डार्विन के योग्यतम की जीत एवं उपयोगितावादियों के अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख का प्रबल विरोध करते हैं। स्वराज की अवधारणा के मूल में आत्मानुशासन अथवा रामराज्य है। वे प्रतिनिधित्ववादी लोकतंत्र के आलोचक हैं क्योंकि इस शासन व्यवस्था में व्यक्ति की स्वायत्तता का हनन होता है। उनकी दृष्टि में भौतिक पदार्थ अथवा शरीर के प्रति मोहासक्ति ही समस्त दुःखों का कारण है। यह मोहासक्ति अत्यन्त ही स्वाभाविक है किन्तु, इस प्रवृत्ति के बने रहने पर आत्मबोध कदापि संभव नहीं है। हम आत्मा अथवा शरीर से तादात्म्य सम्बंध स्थापित करने के लिए स्वतंत्र हैं और यदि हमारी शरीर के साथ घनिष्ठता है तो हम बंधनग्रस्त हैं एवं यदि हम आत्मा के साथ अभिन्न संबन्ध रखते हैं तो यह मुक्ति अथवा मोक्ष है। शरीर किन्तु हेय एवं त्याज्य नहीं है क्योंकि कर्तव्य पालन के लिए यह नितान्त आवश्यक है। अतः इसका उपयोग ईश्वरीय इच्छा अथवा प्रयोजन की सिद्धि में करना यथोचित है। प्रत्येक मनुष्य को अपने स्वधर्म का पालन अवश्य करना चाहिए। स्वराज की प्राप्ति के लिए शरीर की भावना का त्याग अपरिहार्य है। वैदिक ऋषि जब 'यतेमहि स्वराज्य' का उद्घोष करते हैं तो इसका निहितार्थ त्रिगुणों पर विजय (नियंत्रण) है। विनोबा सत्त्व, रजस एवं तमस को क्रमशः बुद्धि, भावना एवं मूलप्रवृत्ति के रूप में कल्पित करते हैं।

स्वतंत्रता के इच्छुक व्यक्ति को सर्वप्रथम अपने अहंकार पर विजय प्राप्त करना चाहिए और इसके लिए सत्त्वनिष्ठ होने की आवश्यकता है। निष्काम कर्मयोग एवं योगः कर्मसु कौशलम् के आदर्श को विनोबा अपने लक्ष्य व्यक्तिगत संपत्ति के ईश्वर अथवा समाज के लिए त्याग से संयुक्त करते हैं जो कि भूमि पुनर्वितरण का साधन है। वे दृष्टिसृष्टिवादी हैं जिसके अनुसार जगत् की प्रतीति हमारी दृष्टि पर निर्भर करती है। मानव–जाति की मुक्ति तब तक संभव नहीं है जब तक वर्तमान सामाजिक व्यवस्था जो कि असमानता, शोषण एवं संघर्ष पर आधारित है का प्रतिस्थापन नवीन व्यवस्था द्वारा न हो जाए जिसमें समानता, प्रेम एवं परस्पर सहयोग की भावना का समावेश होता है।

पुस्तक के सप्तं अध्याय का शीर्षक *'सेकुलर कन्सेप्टस इन द वर्ल्ड रिलिजन्स : एन अद्वैतिक पर्सपेक्टिव'* है। लौकिक (ऐहिक) एवं धार्मिक प्रत्ययों को तथ्यतः विरोधी माना जाता है। लौकिक जीवनपद्धति तर्काश्रित होने के कारण पारलौकिक जगत् एवं अतीन्द्रिय सत्ता का निषेध करती है। धार्मिकता में अतीन्द्रिय विषय महत्त्वपूर्ण होते हैं। इहलोक एवं परलोक में नैसर्गिक तनाव पाया जाता है और यही तनाव लौकिक (सेक्युलर) एवं धार्मिक (रिलिजियस) में परिलक्षित होता है। क्या इस तनाव–मुक्ति का कोई मार्ग है? धर्म में जब तक तटस्थ ईश्वरवाद समर्थित रहेगा तब तक इस तनाव से मुक्ति संभव नहीं है क्योंकि इस प्रकार की विचारधारा में ईश्वर एवं जगत् में सदैव द्वैत बना रहता है। धर्म के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं कि ईश्वर सृष्टि का कारण है (सृष्टिकर्ता) अपितु उसे विभिन्न युगों में संसार में धर्म एवं नैतिक व्यवस्था की पुनर्स्थापना के लिए और इसके अतिरिक्त मानवजाति के मुक्ति एवं अन्य प्राणियों के कल्याणार्थ अवतरित भी होना चाहिए। धार्मिकता का प्रधान लक्ष्य समस्त जगत् का आध्यात्मिकरण है– सर्वं खलु इदं ब्रह्म'।

लौकिक होने का अर्थ अध्यात्मविरोधी होना नहीं है और इसी प्रकार धार्मिक होने का आशय आध्यात्मिक होना नहीं है। अतः किसी व्यक्ति के आध्यात्मिक हुए बिना धार्मिक और धार्मिक हुए बिना आध्यात्मिक होने की संभावना होती है। वर्तमान आर्थिक एवं सामाजिक संगठन (संरचना) पर भौतिकतावादी चिंतन और अर्थक्रियावादी दर्शन का प्रभाव स्पष्टरूपेण दृष्टिगोचर होता है एवं जिसकी परिणति मूल्यों का संकट है। सामी धर्म में ईश्वर एवं जगत् का पार्थक्य है और इसके अतिरिक्त ईश्वर के मानवरूपी अवतार की कोई संभावना नहीं है। अद्वैत वेदान्त में तत्त्वमसि द्वारा ब्रह्म एवं जीव में तादात्म्य संबन्ध स्थापित होता है और इसी में अवतारवाद की भी संभावना है। अद्वैतवादी तत्त्वमीमांसा में धार्मिक एवं सांस्कृतिक बहुत्ववाद के लिए पर्याप्त अवकाश है। अतः अद्वैतवादी परंपरा में 'सर्वभूतहितेरतः' एवं 'अभेददृष्टि' को अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया गया है और जिसे आत्मसात् करके भूमण्डलीकरण एवं पराआधुनिकतावाद की समस्याओं का समाधान संभव है।

पुस्तक का अष्टं अध्याय *'कन्सेप्टस ऑफ कर्म एण्ड संसार इन इन्डियन एण्ड जापानीज़ कल्चर'* है। कर्म एवं संसार (पुनर्जन्म) को अपवादस्वरूप चार्वाक के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दार्शनिक संप्रदाय स्वीकार करते हैं। मनुष्य एक नैतिक प्राणी है एवं संकल्प स्वातंत्र्य नैतिकता की एक पूर्वमान्यता है। कर्म का सिद्धान्त भाग्यवाद नहीं है अपितु हमारी स्वतंत्रता का द्योतक है और यह हमें समस्त शुभाशुभ कर्मों के लिए उत्तरदायी बनाता है। नैतिक जीवन अव्यवस्था नहीं है अपितु एक सुव्यवस्थित जीवनपद्धति है जिससे अतीत के कर्म वर्तमान परिस्थिति को निर्धारित करते हैं एवं वर्तमान कर्म भविष्य को निर्मित करते हैं। कर्म का सिद्धान्त ऋत (नैतिक–वैश्वीय व्यवस्था) में मूलित है और ऋत के संचालन का उत्तरदायित्व वरूण का है। ब्राह्मण ग्रंथों में ऋत यज्ञ के पर्यायवाची रूप में गृहीत होता है। अतः इस प्रकार से ऋत एवं यज्ञ कर्म के सिद्धान्त की प्रत्याशा है क्योंकि उनसे यह प्रतिपन्न होता है कि प्रत्येक कर्म का एक निश्चित कर्म–फल होता है जिसे व्यक्ति को भोगना होता है। कर्म के सिद्धान्त की सुस्पष्ट प्रस्तुति हमें उपनिषद् में भी प्राप्य है। प्रत्येक कर्म का द्विविध प्रभाव होता है : प्रथमत : उसे उपयुक्त कर्म–फल प्रदान करना चाहिए एवं द्वितीयः यह कर्ता के चरित्र को भी प्रभावित (निर्धारित) करता है, और इस संदर्भ में बृहदारण्यक उपनिषद् में विवेचित देवयान पथ तथा धूमयान पक्ष अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण एवं सार्थक हैं। कर्म के सिद्धान्त में कर्मों को त्रिवर्ग–संचित, प्रारब्ध एवं क्रियामाण कर्म–में विभक्त किया जाता है। ज्ञान की प्राप्ति से संचित एवं क्रियमाण कर्म के परिणाम (प्रभाव) से तो बचा जा सकता है किन्तु प्रारब्ध कर्म तो अवश्य भोगना होगा। कर्म के सिद्धान्त को नैतिक मूल्यों के संरक्षण सिद्धान्त से भी अभिहित किया जाता है जो कि कृतप्रणाश एवं अकृतभ्युपगम के प्रत्यय पर आधृत है।

कर्म के प्रत्यय को आत्मा के प्रत्यय से पृथक् कर नहीं समझा जा सकता है। कर्म कोई यांत्रिक प्रक्रिया नहीं है अपितु इसमें संकल्प एवं वरण की स्वतंत्रता निहित है। संकल्प का साक्षात् संबन्ध मनुष्य की नैतिक चेतना से है और इस कारण से जड़वादी जो कि आत्म तत्त्व अथवा स्वतंत्र चेतना का स्पष्ट निषेध करता है औचित्यपूर्ण ढंग से कर्म के सिद्धान्त को नहीं प्रस्तुत कर सकता है। कर्तापन आत्मा का मौलिक स्वरूप है अथवा उसका आकस्मिक गुण है के संदर्भ में भारतीय

दार्शनिक परंपरा में दो प्रकार के विचार प्राप्य हैं। 1. मीमांसा दर्शन एवं काश्मीर शैववाद की यह मान्यता है कर्तृत्व आत्मा में अंतर्निहित होता है। 2. अद्वैत वेदान्त में आत्मा को शुद्ध चैतन्य स्वीकार किया जाता है और जब यह जड़ पदार्थ से संयुक्त होती है तब कर्म संभव है। सांसारिक सुख के प्रति आसक्ति ही पुनर्जन्म का कारण है। कर्म–फल के प्रति आसक्ति में द्विगुणित भ्रान्ति है–प्रथम भ्रान्ति यह है कि कर्म करने से अवश्यरूपेण मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है एवं द्वितीय यह है कि कर्म–फल से निःसंदेह आनन्द प्राप्त होगा। भगवद्गीता में इसलिए ही निष्काम कर्मयोग को शिक्षा दी गई है जिसमें मनुष्य मात्र निमित्त है और अंततः ईश्वरीय इच्छा ही प्रबल है। कर्म के सिद्धान्त का घनिष्ठ सम्बन्ध संसार अथवा पुनर्जन्म से है। भोग के प्रति वासना या इच्छा ही आत्मा को जड़ पदार्थों से संयुक्त करती है और यही जीव का बंधन है। विज्ञान की कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त में कोई अधिकारिता नहीं है। कर्म एवं पुनर्जन्म के विचार द्वारा धर्म–दर्शन की महत्त्वपूर्ण अशुभ की समस्या का समाधान संभव है। हम इस समस्या को इस रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं कि यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान एवं दयालु है तो संसार में अशुभ एवं असमानता क्यों है? भारतीय धर्म एवं दर्शन में ईश्वर को अशुभ के लिए उत्तरदायी नहीं स्वीकार किया जाता है अपितु इसकी व्याख्या कर्म एवं संसार के आधार पर की जाती है। अतः कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त जीव के मोक्ष प्राप्ति की ईश्वरीय अनुकम्पा है। जापान श्रम–संस्कृति के लिए विश्व में सुविख्यात है जहाँ आर्थिक संपन्नता एवं सांस्कृतिक उत्कर्ष में विलक्षण समन्वय है। जापान कर्म–योग के महत्त्व से सुपरिचित है क्योंकि कर्म की अवधारणा जापानियों की आत्मा अथवा चेतना में मूलित है। जापान में मेजी पुनरूद्धार, शिन्तो धर्म एवं कालान्तर में बौद्ध धर्म का प्रचार एवं प्रसार जापानी संस्कृति के मूल आयाम हैं जिसका वैशिष्ट्य कर्म एवं पुनर्जन्म (संसार) में निहित है।

पुस्तक के नवं अध्याय का शीर्षक *'द कन्सेप्ट ऑफ लोकसंग्रह एज़ सोशियो–कॉस्मिक आइडियल ऑफ भगवद्गीता'* है। संपूर्ण भगवद्गीता जो कि 'वेदान्तसार–सर्वस्व' के रूप में प्रतिष्ठित है, आध्यात्मिक निरपेक्षवाद को प्रतिपादित करती है। आध्यात्मिक निरपेक्षवाद की अभिव्यक्ति 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति', 'सर्वत्रभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः', 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' आदि के रूप में होती है। सत् के स्वरूप को गीता में इस रूप में विवेचित किया गया है– 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' एवं वासुदेवः सर्वं''। योगेश्वर कृष्ण लोकसंग्रह के आदर्श द्वारा बहु–सांस्कृतिक, बहु–धार्मिक एवं बहु–प्रजातीय समाज में समन्वय करते हैं। लोकसंग्रह का प्रत्यय दो शब्दों– लोक एवं संग्रह से निर्मित है। लोक से मनुष्य अथवा संसार का बोध होता है जबकि संग्रह को 'लोकस्यनुमार्गप्रवृत्तिनिवारणं' के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। विवेकानन्द लोकसंग्रह को परकल्याण के रूप में कल्पित करते हैं। लोकसंग्रह से सामान्यतः मानवजाति के कल्याण का अर्थबोध होता है किन्तु ईश्वर भूर्लोक, पितृलोक, देवलोक एवं अन्य उनके द्वारा सृजित लोकों के सामंजस्य एवं व्यवस्था की कामना करता है– 'लोकानां संग्रह'। गांधी की दृष्टि में मनुष्य की सेवा वस्तुतः ईश्वर की सेवा है जिसे वे यज्ञ से अभिहित करते हैं। अरविन्द लोकसंग्रह को मनुष्य के संगठित रूप अथवा एकत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। राधाकृष्णन लोकसंग्रह को जगत् का एकत्व एवं समाज का अंतःसंबन्ध मानते हैं। विनोबा के

अनुसार लोकसंग्रह का उद्देश्य व्यक्ति को उचित मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित/बाध्य करना है। कर्मयोग द्वारा मनुष्य की स्वार्थपरता से मुक्ति एवं आत्मपरिष्कार होता है। डान्डेकर लोकसंग्रह में समाज की प्रगति, स्थायित्व एवं एकात्मता को ही सन्निहित नहीं करते हैं अपितु इसमें सामाजिक प्रतिबद्धता का स्पष्ट संज्ञान भी उपस्थित होता है। पी.टी. राजू के अनुसार निष्काम कर्म 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' का सिद्धान्त है और इसे उद्देश्यरहित अथवा इच्छारहित कर्म के रूप में व्याख्या करना अनुचित एवं भ्रान्तिमूलक है।

विवेकानन्द ने व्यावहारिक वेदान्त की स्थापना हेतु रामकृष्ण मिशन स्थापित किया जिसका लक्ष्य 'आत्मनो मोक्षार्थम् जगतहिताय च' जो कि 'आत्मनः श्रेयार्थं लोकसंग्रहाय च' के सदृश है। गांधी ने लोकसंग्रह केन्द्रित कर्म–योगी जीवन का पालन किया था। भगवद्गीता में लोकसंग्रह पद का प्रयोग दो बार हुआ है एवं अन्य पद सर्वभूतहितेरतः जो की लोकसंग्रह के ही समान है भी दो बार प्रयुक्त होता है। कुछ पाश्चात्य विचारक अपनी अज्ञानता का परिचय इस रूप में देते हैं कि वे उपनिषद् के जीवन एवं समाज के प्रति दृष्टिकोण को मूलतः व्यक्तिपरक मानते हैं। यदि उपनिषद् आत्मविद्या या ब्रह्मविद्या है तो वह कैसे व्यक्तिपरक जीवनदृष्टि प्रस्तावित कर सकता है? उपनिषद् के तत्त्वमीमांसीय निरपेक्षवाद की अभिव्यक्ति 'सर्वभूतान्तरात्मा', 'सर्वभूतादिवासः', 'एकोदेवः सर्वभूतेषु गुढ़ाः' आदि के रूप में होती है। लोकसंग्रह के आदर्श की प्राप्ति कैसे संभव है? ममत्व एवं अहंकार के त्याग से लोकसंग्रह संभव है। स्वधर्म से लोकसंग्रह एवं कर्म कौशल्य की सिद्धि होती है। अतः पाश्चात्य संस्कृति में सामाजिक आदर्श मात्र मानव कल्याण तक ही सीमित है जबकि भारतीय संस्कृति में लोकसंग्रह मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियों के कल्याण तथा समस्त चराचर प्रकृति में सामंजस्य एवं व्यवस्था की चेतना से अनुप्राणित है।

पुस्तक का दशम अध्याय *'द फ्यूचर ऑफ इन्डोलॉजिकल स्टडीज़'* है। पराआधुनिकता परिभाषाओं एवं वस्तुनिष्ठिकरणों का विरोध करते हुए सापेक्षता एवं बहुत्ववाद के प्रति मोहासक्त है। यह विखण्डन है जिसका प्रतिनिधित्व डेरिडा, फूको एवं अन्य समकालीन पाश्चात्य विचारक करते हैं। ज्ञान एवं सत्य का कोई अंतिम (परं) अधिष्ठान नहीं है अपितु समस्त मानक सापेक्ष एवं सम्बन्धात्मक हैं। प्राच्य विद्या अथवा भारतीय अध्ययन पद्धति में सत्य, ज्ञान, शुभत्व एवं सौन्दर्य आदि के निरपेक्ष अधिष्ठान का विवेचन अत्यधिक आकर्षक एवं प्रासंगिक प्रतीत होता है। पाश्चात्य विचारकों द्वारा इस भ्रान्ति का सुनियोजित प्रचार एवं प्रसार किया गया कि दर्शनशास्त्र एक यूरोपीय क्रियाकलाप है और इस प्रकार से भारत एवं अन्य प्राच्य संस्कृतियों में सही अर्थ में कोई दर्शन नहीं है। भारतीय दर्शन किन्तु अत्यन्त ही प्राचीन है जिसे पराविद्या, ब्रह्मविद्या अथवा अध्यात्मविद्या से अभिहित किया जाता है। यह मात्र सिद्धान्तीकरण नहीं है अपितु उपचारशास्त्र भी है अर्थात् इसमें सिद्धान्त एवं व्यवहार का पार्थक्य नहीं है। पाश्चात्य दर्शन में यूरोकेन्द्रित विचारधारा हीगेल के दर्शन में प्राप्य है और वर्तमान में वर्ग, वर्गणा विखण्डन एवं विभेद का आधिपत्य इस पर स्पष्टरूपेण दृष्टिगोचर होता है। समकालीन पाश्चात्य चिंतन में भूमण्डलीकरण एवं क्षितिज के विलयन का प्रख्यापन तो है किन्तु डेरिडा एवं गैडमर 'विभेद के श्रुत्यर्थ विधि' के पक्षधर हैं। भारत के लिए यद्यपि पूर्व सहस्राब्दी विदेशी आधिपत्य, पराभव, दासता एवं मानमर्दन

के कारण अंधकार युग से अभिहित की जाती है जिसमें हम वैज्ञानिक एवं तकनीकी दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े थे किन्तु दार्शनिक मेधा (प्रज्ञा) अक्षुण्ण रही है। शांकरोत्तर वेदान्त, न्याय–वैशेषिक, सांख्या–योग, पूर्वमीमांसा, शैव एवं शाक्त संप्रदाय आदि पर इस काल में अनेक रचनाओं का लेखन हुआ है।

संपूर्ण भारतीय पुनर्जागरण काल जिसका प्रारंभ राजाराम मोहन राय से हुआ था और जिसको विस्तारित एवं संवर्द्धित करने का श्रेय रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, टैगोर, तिलक, गांधी, के.सी. भट्टाचार्य, श्री अरविन्द एवं राधाकृष्णन आदि को जाता है। शंकराचार्य का प्रभाव इतना गहन एवं समृद्ध था कि इस परंपरा में अनेक कालजयी रचनायें हमें प्राप्त होती हैं यथा स्वामी करपात्री ने वेदार्थ–परिजात का प्रणयन किया तो वहीं गंगाधर सरस्वती ने स्वाराज्यसिद्धि की रचना की है। रामावतार शर्मा ने परमार्थदर्शम्, पंडित गोपीनाथ कविराज ने भारतीय संस्कृति एवं साधना, पंडित ब्रदीनाथ शुक्ल ने शतश्लोकी एवं माथुरी पंचलक्षणी, पंडित रामेश्वर झा ने पूर्ण प्रत्यभिज्ञादर्शनं और स्वामी योगीन्द्रानन्द ने अद्वैत वेदान्त में विपुल साहित्य का सृजन किया है। शास्त्रीय वेदान्त से संबद्ध दार्शनिक साहित्य के अतिरिक्त इस काल की द्वितीय प्रवृत्ति के रूप में हम तुलनात्मक दर्शन को पाते हैं जिसका नेतृत्व के.सी. भट्टाचार्य एवं आर.डी. रणाडे ने किया है और इस वर्ग से सम्बन्धित अन्य कृतविद्य टी.आर.वी. मूर्ति, टी.एम.पी. महादेवन, सी.डी. शर्मा, आर.के. त्रिपाठी, बी.एल. आत्रे, ए.सी. मुखर्जी, के.डी. भट्टाचार्य, के.एस. मूर्ति, एस.एस. रॉय आदि हैं। तृतीय प्रवणता के रूप में मार्क्सवादी प्रवणता अथवा नव–चार्वाक प्राप्त होता है जिसका प्रतिनिधित्व देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने किया जिनकी मानक कृति लोकायतः ए स्टडी इन एन्शियेंट मैटीरियलइज़्म है और इसके अतिरिक्त इन्डियन एथिस्म एवं व्हाट इज़ लिविंग एण्ड व्हाट इज़ डेड हैं जिसमें वे यह निरूपित करते हैं कि संपूर्ण भारतीय दर्शन जड़वादी है। चट्टोपाध्याय की परंपरा कौशाम्बी, डांगे, नम्बूदरीपाद एवं आर.एस. शर्मा आदि में परिलक्षित होती है। चतुर्थ प्रवृत्ति भाषाई विश्लेषण की है जिसे दो उपवर्गों में विभक्त किया जा सकता है– भारतीय भाषाविद् एवं पाश्चात्य भाषाविद्। भारतीय भाषाविद् में जी.एन. शास्त्री, के.ए. सुब्रमन्यम अय्यर, के.राजा एवं टी.आर.वी. मूर्ति आदि हैं। भर्तहरि के वाक्यपदीयम् का अध्ययन वैश्विक स्तर पर हो रहा है। पाश्चात्य भाषाविद् के केन्द्र में विटगेन्स्टाइन का ट्रैक्टेस एवं फिलॉस्फिकल इन्वेस्टीगेशन्स है और भारत में इसका प्रतिनिधित्व के.जे. शाह, दयाकृष्ण, एस.एस. बार्लिंगे एवं राजेन्द्र प्रसाद आदि ने किया। पंचम प्रवणता के रूप में मूल्यकेन्द्रित दर्शन हमें प्राप्य है, जिसके अंतर्गत एन.के. देवराज के सृजनात्मक मानवतावाद, जे.एल. नेहरू के समग्र मानवतावाद, दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानवतावाद, राम मनोहर लोहिया के समाजवाद आदि की प्रस्तुति है।

वर्तमान में वैश्विक स्तर पर जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड, अमेरिका, कनाडा, डेनमार्क, स्वीडेन एवं पोलैंड आदि राष्ट्रों में प्राच्य विद्या संस्थान हैं जिसके अंतर्गत भारतीय धर्म, दर्शन एवं संस्कृति का गंभीर अनुशीलन एवं परीक्षण किया जाता है। फ्रेड डालमियर की 'बियोन्ड ओरियन्टेलिज्म' में अन्यत्व, विभेद तथा भूमण्डलीकरण के अंतःसम्बन्ध का विश्लेषण एवं परीक्षण किया गया है। बहुचर्चित वैश्विक ग्राम का क्या स्वरूप है? के विभिन्न संभावनाओं पर सार्थक चिंतन का प्रयास डालमियर द्वारा किया गया है। क्या पाश्चात्य आधुनिकरण एवं विकास के प्रारूप में आधिपत्य एवं सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति अंतर्निहित नहीं है अथवा स्थानिक संस्कृति के संरक्षण की

भी कोई संभावना है। अंतर्सांस्कृतिक मिलन के विभिन्न संभाव्य प्रणाली के ऐतिहासिक परिदृश्य में विचारोपरान्त डालमियर विखण्डनात्मक संवाद अथवा विभेद की श्रुत्यर्थ विधि का समर्थन करते हैं जिसमें परत्व आत्मसात्करण के परे है। वे इस आधार पर राधाकृष्णन्, जे.एल. मेहता एवं हाल्बफास के सांस्कृतिक समन्वय सम्बन्धित विचारों का परीक्षण करते हैं। यदि विभेद की श्रुत्यर्थ विधि परत्व (अन्यत्व) को आत्मसात से परे के रूप में कल्पित करती है तो वह किस प्रकार से अनेकता में एकता से भिन्न है? क्या टी.आर.वी. मूर्ति का दृष्टिकोण कि आत्मा का निरपेक्षत्व अस्तित्त्व की मौलिक एकता के साथ ही साथ विश्व के विभिन्न सांस्कृतिक समूहों में विविधता को विभेद की श्रुत्यर्थ विधि की तुलना में कहीं अधिक अच्छे ढंग से विवेचित नहीं करता है? आत्मा के अतिक्रामी स्वरूप का निहितार्थ आनुभविक धरातल एवं सार्वभौमिकता से मुक्ति है। आत्मा की विभिन्न साधनों से सिद्धि सार्वभौमिकता से सुसंगत है। एशियाटिक सोसाइटी ऑफ कलकत्ता, भण्डारकर इन्सटीट्यूट ऑफ पूना, अड्यूर लाइब्रेरी ऑफ मद्रास, गीता प्रेस गोरखपुर, रामकृष्ण मिशन से प्रकाशित साहित्य आदि से प्राच्य विद्या का निरंतर प्रचार एवं प्रसार हो रहा है। अतः निःसंदेह प्राच्य विद्या और जिसमें विशेषरूपेण भारतीय दर्शन का भविष्य स्वर्णिम है।

पुस्तक के एकादश अध्याय का शीर्षक *'आइडियल ऑफ ग्लोबल ह्यूमन युनिटी'* है। वैश्विक मानवीय एकता का साक्षात् सम्बन्ध मनुष्य के स्वरूप से है। काण्ट मनुष्य को बौद्धिक प्राणी मानते हैं। कार्ल मार्क्स मनुष्य को 'होमो फेबर' के रूप में परिभाषित करते हैं और इस प्रकार वह पशुओं से नितान्त भिन्न है जिसे वे 'एनिमल फेबर' से अभिहित करते हैं। मनुष्य एक उपकरण उत्पादक प्राणी है। मनुष्य को प्रतीक निर्माता प्राणी के भी रूप में परिभाषित किया जाता है जिसके माध्यम से मनुष्य भाषा को विकसित करता है जो कि अंतर्संवाद की मूलभूत शर्त है। कुछ दर्शनिकों (मार्क्स, विलियम जेम्स, बर्गसां आदि) ने मनुष्य को परिभाषित करने के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण का प्रयोग किया है और वे मनुष्य को ऐतिहासिक एवं कालिक मानते हैं, किन्तु इसे स्वीकार करने पर मनुष्य के स्वरूप का निर्धारण संभव नहीं होगा। मनुष्य को परिभाषित करने में गणितीय 'चर' एवं 'अचर' राशियाँ महत्त्वपूर्ण हैं जिसका प्रयोग फ्रायड एवं मार्क्स क्रमशः मनोवैज्ञानिक एवं आर्थिक विश्लेषण में करते हैं। एरिक फ्राम मनुष्य में आध्यात्मिक तत्त्व को स्वीकार करते हैं जिसके फलस्वरूप उसमें स्वयं को एवं अन्य को जानने की क्षमता है। भारतीय परंपरा में मनुष्य को मूल्याभिमुख प्राणी के रूप में स्वीकार किया जाता है– 'धर्मो हि तेषामधिको विशेषः'। कठोपनिषद् में आत्मा 'तमेव भान्तंमनुभाति' एवं 'सर्वं तस्य भासा सर्वमिदम् विभाति' है। अद्वैत वेदान्त के आध्यात्मिक मानवतावाद में मात्र मनुष्य की अन्य मनुष्यों के साथ एकात्मकता नहीं है अपितु ब्रह्म के साथ तादात्म्य संबन्ध कल्पित है। पाश्चात्य दर्शन में काण्ट, मार्क्स, फ्रायड एवं सार्त्र आदि मनुष्य की स्वायत्तता अथवा स्वतंत्रता को स्वीकार करते हैं, किन्तु मार्क्स एवं फ्रायड द्वारा स्वीकृत स्वतंत्रता का स्वरूप सतही है, क्योंकि मार्क्स 'आर्थिक नियतत्त्ववादी' हैं तो फ्रायड 'लिबिडो नियतत्त्ववादी' हैं। सार्त्र के अस्तित्त्ववादी चिंतन में स्वतंत्रता अभिशप्त है जबकि अद्वैतवेदान्त में आत्मा नित्य मुक्त है। शुद्ध चैतन्यता अथवा प्रज्ञा के कारण मनुष्य समस्त भेदों के अतिक्रमण की सामर्थ्य रखता है और जिसकी परिणति अंततः अभेद दृष्टि में होती है।

अद्वैत वेदान्त में अंतर्विषयिकता की समस्या कोई समस्या नहीं है क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म की एक मात्र सत्ता है जो कि शुद्ध चैतन्य रूप है। पाश्चात्य दर्शन में यह समस्या अत्यन्त ही जटिल है जिसके समाधान के रूप में हुस्सर्ल अन्य को 'आल्टर इगो' कहते हैं और इसका अवबोध सादृश्यता द्वारा संभव है, जबकि सार्त्र की दृष्टि में मनुष्यों के परस्पर संवाद की कोई संभावना नहीं है। श्री अरविन्दो के अनुसार आध्यात्मिक समाज में व्यक्ति सामूहिक अहं नहीं अपितु सामूहिक आत्मा है। मिथ्या अहं के कारण व्यक्ति स्वयं को भौगोलिक क्षेत्र, धर्म, भाषा एवं प्रजाति में सीमित अथवा संकुचित करता है। वैश्विक मानवीय एकता की अनिवार्य शर्तें–मनुष्यत्व का होना, आत्म–साक्षात्कार के लिए सतत प्रयत्नशील रहना एवं उत्कृष्ट मूल्यों को धारण करना है। अतः इस संदर्भ में राधाकृष्णन का यह कथन अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है कि हमारी मनुष्य की आत्मा में आस्था होनी चाहिए जिसमें तितिक्षा, करूणा, धैर्य एवं त्याग का भाव विद्यमान होता है।

पुस्तक के द्वादश अध्याय का शीर्षक *'साइन्टिफिक टेम्पर एण्ड अद्वैत वेदान्त'* है। वर्तमान युग में विज्ञान की श्रेष्ठता एवं तकनीकी आधिपत्य स्पष्टरूपेण दृष्टिगोचर होती है। वैज्ञानिक सत्य के दो निकष तार्किक सुसंगति एवं अनुभूत तथ्य के साथ सहमति है। अतः विज्ञान का स्वरूप आनुभविक एवं वस्तुनिष्ठ है। अद्वैत वेदान्त वस्तुतः अतीन्द्रिय एवं अनुभूतिपरक होने के कारण आध्यात्मिक है। विज्ञान से प्रेयस की सिद्धि तो संभव है किन्तु श्रेयस एवं निःश्रेयस की सिद्धि के लिए हमें दर्शन की शरण में जाना होगा। कोपरनिकसीय क्रान्ति ने केवल पृथ्वी को ही ब्रह्माण्ड के केन्द्र से विस्थापित नहीं किया अपितु, मनुष्य भी विस्थापित होगा। गैलीलियो–न्यूटनकृत क्रान्ति की तार्किक परिणति हमें इस रूप में प्राप्य है कि मनुष्य सदैव के लिए ब्रह्माण्ड की परिधि में संकुचित हो गया। रेने डेकार्ट प्रकृति अथवा जगत् के यंत्रवत् स्वरूप को प्रस्तावित करते हैं अर्थात् यह निरूद्देश्य एवं आध्यात्मिकता से विहिन है। सार्वभौम गुरूत्वाकर्षण शक्ति द्वारा समस्त भौतिक, सामाजिक एवं नैतिक घटनाओं की व्याख्या का प्रचलन अतिवैज्ञानिक सोच की द्योतक है। 20वीं शताब्दी के सापेक्षता के सिद्धान्त एवं क्वान्टम भौतिकी ने न्यूटनकृत भौतिकी के समस्त महत्त्वपूर्ण प्रत्ययों यथा निरपेक्ष देश एवं काल, मौलिक ठोस द्रव्य (कण), जगत् के कारणात्मक स्वरूप एवं वस्तुनिष्ठता के आदर्श का खण्डन किया है। क्वान्टम भौतिकी में प्रसंभाव्यता पारमाणविक एवं द्रव्य दोनों ही स्तरों पर प्रदर्शित होती है। हाइज़ेनबर्ग के अनिश्चितता अथवा अनिर्धारण का सिद्धान्त शास्त्रीय (न्यूटनकृत) भौतिकी के ठोस द्रव्य को पारमाणविक स्तर पर प्रसंभाव्य में विघटित करता है। क्वान्टम के सिद्धान्त में विश्व की मौलिक एकता प्रस्तावित है जो इस मान्यता पर आधृत है कि मन (चेतन तत्त्व) एवं द्रव्य (जड़ तत्त्व) में, अहं एवं जगत् में तीव्र पार्थक्य अथवा विभाजन अनुचित है। जगत् को संरचित करने में द्रष्टा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। प्रो. पाण्डेय कैपरा के 'ताओ आफ फिजिक्स' में विवेचित मूलगामी परिवर्तन (टर्निंग पॉइन्ट) जिसकी अभिव्यक्ति मानवकेन्द्रित दृष्टि से यांत्रिक दृष्टि और पुनः यांत्रिक दृष्टि से मानवकेन्द्रित दृष्टि की ओर प्रत्यागमन के रूप में होती है, को विज्ञान एवं पाश्चात्य दार्शनिक परंपरा में निरूपित करने का सार्थक प्रयास करते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण में समीक्षात्मक मस्तिष्क कुछ भी पूर्वस्वीकृत नहीं करता है। यह मानव मन (मस्तिष्क) का निरीक्षण, वस्तुनिष्ठता, यथार्थता एवं बौद्धिकता में प्रशिक्षण है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण की भी अपनी सीमा है क्योंकि मानवीय जीवन के अनेक ऐसे आयाम हैं जो वैज्ञानिक अन्वेषण से परे हैं। वैज्ञानिक अनुसंधान का मुख्य उपकरण तर्क है, किन्तु इससे अंतिम सत्य उद्घाटित नहीं होता क्योंकि वह ससीम एवं सान्त तक ही सीमित है। अतः असीम एवं अनन्त का अवबोध तर्क द्वारा संभव नहीं है। शंकराचार्य श्रुति का समर्थन करते हुए 'तर्काप्रतिष्ठानात्' को शारीरिक भाष्य में प्रस्तुत करते हैं। हमारी जीवन–दृष्टि में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का दर्शनशास्त्र के साथ समन्वय नितान्त आवश्यक है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू वैज्ञानिक दृष्टिकोण को जीवन की समग्र दृष्टि मानते हैं जो सत्यान्वेषण के अतिरिक्त शुभम् एवं सौन्दर्य को अंतर्निहित करती है।

पुस्तक का त्रयोदश अध्याय *'सम रिफ्लेक्शॅन्स ऑन शाक्तोपासना विद स्पेशल रिफरेन्स टु श्रीविद्या'* है। उपासना की व्युत्पत्ति 'उप–समीपे आसना–स्थितिः' से है और इस प्रकार से आराध्य के प्रति पूर्ण समर्पण एवं भक्ति का भाव उपासना में पाया जाता है। यह ईश्वर के देवत्व स्वरूप का दीर्घकालिक अबाधित ध्यान है। उपासना या भक्ति में मानव मन विषय वासना से मुक्त होकर ईश्वर में ध्यानावस्थित हो जाता है जो कि आत्मशुद्धि की अनिवार्य शर्त है। शारीरिक शुद्धि के लिए विभिन्न उपासनात्मक कर्मकाण्ड विवेचित हैं यथा भूतशुद्धि, प्राण–प्रतिष्ठा, अंतर्मात्रिकान्यास, बहिर्मात्रिकान्यास आदि। शारीरिक शुद्धि के बिना आध्यात्मिक परमानन्द की अनुभूति संभव नहीं है। श्रीविद्या गुह्य विद्या है– 'गुरूमुखेकमात्रंसमाधिगमेयं विद्या। श्रीविद्या को अनेक नामों ललिता, राजराजेश्वरी, महात्रिपुरासुन्दरी, पंचदशी, षोड़शी आदि से अभिहित किया जाता है। इसे ब्रह्मविद्या या ब्रह्ममयी से भी व्यक्त किया जाता है। श्रीविद्या की साधना से लौकिक सुख एवं मोक्ष दोनो की प्राप्ति होती है– 'भोगश्च मोक्षश्च करस्य ऐव'। इसके कर्मकाण्ड का मुख्य प्रयोजन आत्मशोधन तत्त्वाचमनं है। यदि मोक्ष परं पुरूषार्थ है जिसकी सिद्धि उपनिषद् के श्रवण, मनन निदिध्यासन द्वारा संभव है तो श्रीविद्या के जटिल कर्मकाण्ड की क्या आवश्यकता है? यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि उपनिषद् ब्रह्म विद्या या आत्मविद्या है किन्तु यह अत्यन्त दुःसाध्य है जिसे वह स्वयं स्वीकार करता है– 'आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुषिष्टः'। श्रीविद्या की साधना साधारण मनुष्य के द्वारा भी संभव है क्योंकि यह देवी की उपासना है जो अपने भक्त का स्वयं ध्यान रखती है। औपनिषदिक आत्मविद्या निवृत्ति मार्ग है– 'अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः', जबकि श्रीविद्या में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का विलक्षण सामंजस्य है। महाकामेश्वर निष्प्रपंच सत्ता है जो स्वरूपतः सच्चिदानन्द है तो वहीं महात्रिपुर–सुन्दरी ललिता जो कि सच्चिदानन्दमय की प्रपंचात्मक सत्ता है। महाकामेश्वर निर्गुण, निर्विशेष आत्मा है जबकि उपासक अंतःकरणावच्छिन्न आत्मा (चैतन्य) है। निष्प्रपंच ब्रह्म (महाकामेश्वर) विभिन्न शक्तियों से संयुक्त होकर ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र आदि का आकार (रूप) धारण करके पंचकृत्य में संलिप्त होता है– सृष्टि, स्थिति, लय, निग्रह एवं अनुग्रह। कामेश्वरी के चार हस्त में चार शस्त्र पाश, अंकुश, इक्षुधनु, एवं पंच–पुष्पबाण प्रतीकात्मक हैं– पाश छत्तीस पदार्थों के प्रति आसक्ति का प्रतीक है (राग पाशः), अंकुश घृणा एवं द्वेश का, इक्षुधनु मनस का, पंच–पुष्पबाण पंच तन्मात्रा–शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध का प्रतीक है। पाश इच्छाशक्ति, अंकुश ज्ञानशक्ति एवं बाण धनुष क्रियाशक्ति के द्योतक हैं।

भक्त के सामर्थ्य पर अवलम्बित चार प्रकार की उपासना श्रीविद्या में विवेचित हैं। स्थूल रूप में महाकामेश्वरी की भक्ति से भक्त उनके अलौकिक सौन्दर्य से परमानन्द की साक्षात् (प्रत्यक्ष) अनुभूति करता है। सूक्ष्मरूप में महाकामेश्वरी स्तोत्र अथवा भजन रूप हैं और इस प्रकार से कर्ण एवं वाक् इन्द्रिय के प्रत्यक्ष का विषय कामेश्वरी है जो कि ललिता–सहस्त्रनाम में संदर्भित है। परारूप में भक्त मात्र मनस इन्द्रिय द्वारा देवी के स्वरूप को अनुभूत कर सकता है क्योंकि 'चैतन्यं आत्मनो रूपं कामेश्वरी' हैं। तुरीयरूप में महाकामेश्वरी की अनुभूति वाक एवं मनस इन्द्रियादि से संभव नहीं है और इस प्रकार से उनका अखण्ड–बोध केवल मुक्त आत्मा द्वारा अखण्ड अहंता के स्तर पर संभव है। श्रीविद्या साधना की महत्ता भक्त के उनके गुरू के साथ पूर्ण तादात्म्य में निहित है। यह साधना चैतन्यस्वरूप है जिसके अंतर्गत श्रीविद्या, उसके स्तोत्र (मंत्र) एवं गुरू में अभेद संबन्ध है। श्रीविद्या के द्वादश उप–संप्रदाय गुरू के नाम के आधार पर हमें प्राप्त हैं– मनु, चन्द्र, कुबेर, लोपामुद्रा, मनमठ (कामदेव), अगस्ति, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, स्कन्द (कुमार कार्तिकेय), शिव एवं क्रोधभट्टारक (दुर्वासा)। इन द्वादश गुरूओं की अपनी स्वतंत्र परंपरा थी। वर्तमान में लोपमुद्रा एवं मनमठ अत्यधिक प्रचलित हैं। श्रीकामराज विद्या–परंपरा में त्रिपुरा प्रधान देवता हैं जिसकी अनेक व्याख्या उपलब्ध हैं – त्रिपुरा से गुण–त्रय के अतिक्रमण का बोध होता है। त्रिपुरार्णव में इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना नाड़ी–त्रिपुरा हैं जो शक्ति के रूप मनस, बुद्धि एवं चित्त में अवस्थित होती हैं। संकेतपद्धति एवं वामकेश्वरतंत्र में त्रिपुरा का स्वरूप–ब्रह्मा, विष्णु एवं ईशरूपिणी है। श्रीविद्या ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति एवं इच्छाशक्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है। श्रीविद्या के दस लीला शरीर विवेचित हैं – कुमारी, त्रिपुरा, गौरी, रमा, भारती, काली, चंद्रिका, कात्यायनी, दुर्गा एवं ललिता हैं। श्रीविद्या ब्रह्ममयी होने के कारण जगत् के कल्याणार्थ अवतरित होती हैं।

आचार्य पाण्डेय बौद्ध एवं जैन धर्म दर्शन में शाक्तोपासना विवेचित करते हैं। बौद्ध दर्शन के महायान में वज्रयान अथवा मंत्रयान शाक्तपरंपरा है। तारा की उपासना हिन्दु एवं बौद्ध दोनों ही परंपराओं में होती है। प्रारंभिक जैन दर्शन में मंत्र एवं तंत्र के लिए कोई स्थान नहीं था किन्तु कालान्तर में पर्श्वनाथ अथवा पद्मावती की उपासना प्रारंभ हो गई। सागरमल जैन की विरचित पुस्तक 'जैन धर्म और तांत्रिक साधना' एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ ग्रंथ है जिसमें जैन धर्म में तांत्रिक साहित्य का सर्वेक्षण किया गया है। जैन दर्शन में यंत्र एवं तंत्र और विभिन्न देवताओं से संबद्ध स्तोत्र भी प्राप्त होते हैं। पद्मावती स्तोत्र में ललितासहस्त्रनाम की भांति काली, कराली, चण्डी, चामुण्डी, तारा, त्रिपुरा, भारती, वज्रा एवं माया आदि की स्तुति की गई है। पद्मावती की उपासना से भक्त सांसारिक सुख एवं मोक्ष दोनों को ही प्राप्त करता है। शाक्त–तंत्र परंपरा में पराशक्ति को त्रिपुर–सुन्दरी से अभिव्यक्त करते हैं जो स्वातन्त्र्य, सौन्दर्य एवं आनन्द की पराकाष्ठा है। अतः काश्मीर शैव दर्शन में शिव–शक्ति सामरस्य, शाक्त दर्शन में कामेश्वर–कामेश्वरी सामरस्य और वैष्णव दर्शन में श्रीकृष्ण–राधा सामरस्य पूर्ण चिदानन्दानुभूति को व्यक्त करते हैं।

पुस्तक के अंतिम अध्याय का शीर्षक *'द वैलिडटी, रोल एण्ड फिलॉसफी ऑफ पुराण'* है। पुराण की परिभाषा 'पुरापरंपराम् वास्ति पुराणम् तेन तत्स्मृति' के रूप में दी जाती है। पुराण के पंच लक्षण इस रूप में विवेचित है 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वामंसो मनवन्तरानि च वंशानुचरितम् चेति पुराणं पंच लक्षणं'। पुराण सांस्कृतिक शब्दकोश हैं जिसके अंतर्गत तत्त्वमीमांसा, सामाजिक

संस्थाओं, नीतिशास्त्र एवं वंशावली आदि का विवेचन प्राप्य है। 'पूर्णात् पुराणं' का निहितार्थ यह है कि यह वेद के अर्थ एवं निष्पत्ति को पूर्णता प्रदान करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में इतिहास एवं पुराण को पंचम् वेद की संज्ञा दी गई है। पुराण भी वेद के भांति स्वतः प्रामाण्य हैं। वैदिक परंपरा में वेद अपौरूषेय है जबकि पुराण स्मृति के अंतर्गत आते हैं और इसलिए पौरूषेय हैं। पुराण की प्रामाणिकता वेद के साथ सुसंगति में निहित है और यदि वे वेद–विरोधी विचार प्रतिपादित करते हैं तो उनकी वैधता अथवा प्रमाणिकता नहीं है। वैदिक मंत्रों का उपयोग पुराणों में देवताओं की स्तुति अथवा प्रार्थना के लिए है और इसके अतिरिक्त पुराण वैदिक मंत्रों की व्याख्या भी करता है। वैदिक आख्यानों का विस्तार पुराणों में प्राप्त होता है। वेद में प्रयुक्त विभिन्न प्रतीकों की व्याख्या एवं स्पष्टीकरण पुराणों की विशेषता है। अतः पुराण वैदिक प्रतीकों एवं बिम्बविधान को अत्यन्त साधारण भाषा में जनसमूह के लिए स्पष्ट करते हैं। राजधर्म जिसमें राजा के सप्तअंग, चार धर्म–साम, दाम, दण्ड एवं भेद और इसके अतिरिक्त राजकुमार के लिए किस प्रकार की शिक्षा उपयुक्त है आदि का विवेचन मत्स्य पुराण में प्राप्त होता है। नीतिसार गरूड़ पुराण का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है जिसमें कल्याणकारी राज्य, पुरूषार्थ एवं नैतिक प्रतिमानादि विवेचित हैं। दैनिक उपयोगिता से संबन्धित व्यावहारिक अथवा आनुभविक विज्ञान यथा अश्व शास्त्र, आयुर्वेद, वास्तुविद्या, ज्योतिष आदि की पुराण में विस्तृत विवेचना है। सांख्य–योग, अद्वैत वेदान्त, वैष्णव वेदान्त, शैववाद एवं शाक्त परंपरा आदि पुराणों में सुव्यवस्थित ढंग से विवेचित है।

वैदिक संहिता में अद्वैत वेदान्त के अद्वय ब्रह्म को विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता है जबकि पुराण ईश्वरवाद एवं उसकी उपासना–पद्धति पर केन्द्रित है। पुराण में ज्ञान, कर्म एवं भक्ति योग का विस्तृत विवरण प्राप्त है यद्यपि उसका मुख्य प्रयोजन भक्ति (उपासना) है। पुराण में विभिन्न भारतीय दार्शनिक संप्रदायों को विवेचित किया गया है यद्यपि सेश्वर सांख्य दर्शन की चर्चा अत्यधिक है। प्रो. पाण्डेय अष्टादश पुराणों के दार्शनिक–धार्मिक पक्ष की संक्षिप्त विवेचना इस अध्याय के अंतर्गत प्रस्तुत करते हैं और उनकी दृष्टि में पुराणों के वैज्ञानिक अध्ययन की नितान्त आवश्यकता है क्योंकि इसमें भारतीय प्रज्ञा एवं जीवन–दृष्टि संरक्षित है।

अतः पुस्तकीय समीक्षा के उपरान्त यह कहने में लेशमात्र भी संकोच नहीं कि आचार्य पाण्डेय ने अमृतस्य पुत्राः के माध्यम से अद्वैत वेदान्त के पक्ष को बलपूर्वक भूमण्डलीकरण एवं पराआधुनिकतावाद से उत्पन्न समस्याओं के समाधान के रूप में प्रस्तुत किया है और इसके अतिरिक्त वे भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों को भी उदघाटित करते हैं। प्राच्य–विद्या के वैविध्यपूर्ण आयाम–धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की समीक्षात्मक विवेचना के कारण जिज्ञासुओं एवं दर्शनानुरागियों के लिए यह अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण, उपयोगी एवं लोकप्रिय विनिबन्ध है। वेदान्त का तत्त्वबोध और उसकी विश्वदृष्टि एवं उसे एक वैकल्पिक सभ्यता बोध के साथ प्रस्तुत करना इस ग्रन्थ की अत्युच्च विशेषता है।

❀❀❀

साइन्टिफिक टेम्पर एण्ड अद्वैतवेदान्त*

अम्बिकादत्त शर्मा

आचार्य रेवतीरमण पाण्डेय द्वारा विरचित विनिबन्ध "साइन्टिफिक टेम्पर एण्ड अद्वैत वेदान्त" का वैशिष्ट्य इसमें निहित है कि एक ओर वे अद्वैत वेदान्त के मूल सिद्धान्तों का सम्यक् विश्लेषण करते हैं, तो वहीं दूसरी ओर वैज्ञानिक दृष्टि एवं सिद्धान्तों के आधार पर अद्वैतवादी निष्पत्तियों को प्रमाणित करतें हैं। वे अद्वैत वेदान्त की तुलना पाश्चात्य दार्शनिक विचारों से भी उपयुक्त संदर्भ में प्रस्तुत करते हैं। आचार्य पाण्डेय विनिबन्ध के मुख्य प्रयोजन को प्रस्तावना में स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि आनुभविक एवं वस्तुनिष्ठ होने के कारण विज्ञान, तकनीक एवं वैज्ञानिक दृष्टि का क्षेत्र वाह्य ऐन्द्रिक जगत् तक ही सीमित है, जबकि अद्वैत वेदान्त का स्वरूप अतीन्द्रिय एवं अनुभूतिपरक होने के कारण आध्यात्मिक है। विज्ञान से प्रेयस की सिद्धि तो संभव है, किन्तु श्रेयस एवं निःश्रेयस की सिद्धि के लिए हमें दर्शन की शरण में जाना होगा। ऐसा भी नहीं यह श्रेयश कोई कपोल कल्पना है, वास्तव में यह मनुष्य की नितान्त आन्तरिक अभीप्सा है। न्यूटनकृत भौतिकी में तकनीक की स्वायत्तता एवं उसका पारम्परिक मूल्यों पर आधिपत्य स्पष्टतः परिलक्षित होता है। 20वीं शताब्दी में सापेक्षता के सिद्धान्त एवं क्वान्टम भौतिकी ने न्यूटनकृत भौतिकी में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। वे कैपरा के 'ताओ ऑफ फिजिक्स' में विवेचित मूलगामी परिवर्तन (टर्निंग पॉइन्ट) जिसकी अभिव्यक्ति मानवकेन्द्रित दृष्टि (एन्थ्रोपोमॉरफिज्म) से यांत्रिक दृष्टि (मेकनोमॉरफिज्म) और पुनःयांत्रिक दृष्टि से मानवकेन्द्रित दृष्टि की ओर प्रत्यागमन के रूप में होती है, को विज्ञान एवं पाश्चात्य दार्शनिक परम्पराओं में निरूपित करने का प्रयास करते हैं।

यह पुस्तक षट् अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय का शीर्षक *'द कॉन्सेप्ट ऑफ मैन, साइन्स–टेक्नोलॉजी एण्ड साइन्टिफिक टेम्पर'* है और जिसमें वे मनुष्य के स्वरूप का विवेचन एवं विश्लेषण करते हैं। मनुष्य को परिभाषित करने के अनेक प्रयास विचारकों द्वारा किए गए हैं – मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है, सामाजिक प्राणी है, मनुष्य एक सोद्देश्य प्राणी है आदि। कार्ल मार्क्स मनुष्य को 'होमो फेबर' के रूप में परिभाषित करते हैं और इस प्रकार वह पशुओं से नितान्त भिन्न है जिसे वे 'एनिमल फेबर' से अभिहित करते हैं। मनुष्य एक उपकरण–उत्पादक प्राणी है। पुनः मनुष्य को प्रतीक निर्माता प्राणी के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है। प्रतीकों के माध्यम से मनुष्य भाषा को विकसित करता है जो कि अंतर्संवाद की मूलभूत शर्त है। मनुष्य को परिभाषित करने में गणितीय 'अचर' एवं 'चर' राशियाँ महत्त्वपूर्ण हैं जिसका प्रयोग फ्रायड एवं मार्क्स क्रमशः मनोवैज्ञानिक एवं आर्थिक विश्लेषण में करते हैं। एरिकफ्राम मनुष्य में आध्यात्मिक तत्त्व को स्वीकार करते हैं जिसके फलस्वरूप उसमें स्वयं को एवं अन्य को जानने की क्षमता है। अन्य को जानने की योग्यता में ही स्व–पर की एकता पूर्वगृहीत है। इसीलिए अद्वैत वेदान्त में मनुष्य का यथार्थ स्वरूप चित्रित होता है– वह स्वरूपतः ब्रह्म है। वह 'प्रतिबोधविदितम्' है जो कि स्वयं

---

*प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय की यह कृति सुरेशोन्मेष प्रकाशन, वाराणसी से 1991 में प्रकाशित हुई थी।

दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

को समस्त संज्ञान की प्रक्रिया में उद्भासित करता है। पाश्चात्य दर्शन में काण्ट, मार्क्स, फ्रायड एवं सार्त्र आदि मनुष्य की स्वायत्तता अथवा स्वतंत्रता को स्वीकार करते हैं, किन्तु मार्क्स एवं फ्रायड द्वारा स्वीकृत स्वतंत्रता का स्वरूप सतही है क्योंकि मार्क्स 'आर्थिक नियतत्त्ववादी' हैं तो फ्रायड 'लिबिडो नियतत्त्ववादी' हैं। सार्त्र के अस्तित्ववादी चिंतन में स्वतंत्रता अभिशप्त है जबकि अद्वैत वेदान्त में पूर्ण स्वतंत्रता के लिए पर्याप्त अवकाश है। शुद्ध चैतन्य अथवा प्रज्ञा के कारण मनुष्य समस्त भेदों के अतिक्रमण की सामर्थ्य रखता है और जिसकी परिणति अंततः अभेद दृष्टि में होती है।

आधुनिक विज्ञान की कोपरनिकसीय क्रान्ति ने केवल पृथ्वी को ही ब्रह्माण्ड के केन्द्र से विस्थापित नहीं किया अपितु मनुष्य भी विस्थापित हो गया। गैलीलियो– न्यूटनकृत क्रान्ति की तार्किक परिणति हमें इस रूप में प्राप्य है कि मनुष्य सदैव के लिए ब्रह्माण्ड की परिधि में संकुचित हो गया। रेने डेकार्ट प्रकृति अथवा जगत् के यंत्रवत स्वरूप को प्रस्तावित करते हैं अर्थात् यह निरूद्देश्य एवं आध्यात्मिकता से विहीन है। उनकी यह गर्वोक्ति इस संदर्भ में द्रष्टव्य है कि 'मुझे विस्तार एवं गति दें, मैं जगत् को निर्मित कर दूँगा'। सार्वभौम गुरूत्वाकर्षण शक्ति द्वारा समस्त भौतिक, सामाजिक एवं नैतिक घटनाओं की व्याख्या का प्रचलन अतिवैज्ञानिक सोच का परिचायक है। 20वीं शताब्दी के सापेक्षता के सिद्धान्त एवं क्वान्टम भौतिकी ने न्यूटनकृत भौतिकी के समस्त महत्त्वपूर्ण प्रत्ययों यथा निरपेक्ष देश एवं काल, मौलिक ठोस द्रव्य (कण), जगत् के कारणात्मक स्वरूप एवं वस्तुनिष्ठता के संदर्श का खण्डन किया है। क्वान्टम भौतिकी में प्रसंभाव्यता पारमाणविक एवं द्रव्य दोनों ही स्तरों को निरूपित करती है। हाइज़ेनबर्ग के अनिश्चितता अथवा अनिर्धारण का सिद्धान्त शास्त्रीय (न्यूटनकृत) भौतिकी के ठोस द्रव्य को पारमाणविक स्तर पर प्रसंभाव्य के प्रारूप में विघटित करता है। क्वान्टम का सिद्धान्त विश्व की मौलिक एकता को प्रस्तावित करता है। इसकी यह मान्यता है कि मन (चेतन तत्त्व) एवं द्रव्य (जड़ तत्त्व) में, अहम् एवं जगत् में तीव्र पार्थक्य अथवा विभाजन अनुचित है। जगत् को संरचित करने में द्रष्टा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण में समीक्षात्मक मस्तिष्क कुछ भी पूर्वस्वीकृत नहीं करता है। यह मानव मन (मस्तिष्क) का निरीक्षण, वस्तुनिष्ठता, यथार्थता एवं बौद्धिकता में प्रशिक्षण है। वैज्ञानिक दृष्टि में तर्कबुद्धि की प्रधानता परिलक्षित होती है जो विवेकपूर्ण विश्लेषण एवं तार्किक अन्विति को समाहित करती है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण की भी अपनी सीमा है क्योंकि मानवीय जीवन के अनेक ऐसे आयाम हैं जो वैज्ञानिक अन्वेषण से परे हैं। वैज्ञानिक अनुसंधान का मुख्य उपकरण तर्क है, किन्तु इससे अंतिम सत्य उद्घाटित नहीं होता क्योंकि वह ससीम एवं सान्त तक ही सीमित है। अतः असीम एवं अनन्त का अवबोध तर्क द्वारा संभव नहीं है। शंकराचार्य श्रुति का समर्थन करते हुए 'तर्काप्रतिष्ठानात्' को शारीरिक भाष्य में प्रस्तुत करते हैं। हमारी जीवन–दृष्टि में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का दर्शनशास्त्र के साथ समन्वय नितान्त आवश्यक है। पण्डित जवाहर लाल नेहरू वैज्ञानिक दृष्टिकोण को जीवन की समग्र दृष्टि मानते थे जो सत्यान्वेषण के अतिरिक्त शुभम् एवं सौन्दर्य को अंतर्निहित करती है।

पुस्तक का द्वितीय अध्याय तीन आलेखों को समाहित करता है जिसमें प्रथम आलेख का शीर्षक *'अध्यासः ए प्राइराइ कन्डिशन ऑफ एक्सपीरियन्स,'* द्वितीय का शीर्षक *'दी अद्वैतिक थ्योरी ऑफ कॉजेशन'* एवं अंतिम आलेख का शीर्षक *'द स्टेटॅस ऑफ द*

फिजिकल वर्ल्ड इन द शंकर वेदान्त' है। प्रथम आलेख में आचार्य पाण्डेय अध्यास को अनुभव की प्रागनुभविक शर्त के रूप में कल्पित करते हैं। अध्यास का प्रत्यय अत्यन्त ही सहजता से जगत् को संवृत्ति एवं ब्रह्म के अद्वय स्वरूप को स्थापित करता है। आचार्य शंकर अस्मद् एवं युष्मद् प्रत्यय को नितान्त विरोधी मानते हैं, किन्तु अध्यास में विषयी के गुण को विषय पर और विषय के गुण को विषयी पर आरोपित किया जाता है। अध्यास के बहुचर्चित दृष्टान्त रज्जु–सर्प में अध्यस्त सर्प न तो सत् और न ही असत् अपितु अनिर्वचनीय अथवा सद्–असद्विलक्षण है। टी.आर.वी. मूर्ति की दृष्टि में अज्ञान के बारे में परिपृच्छा अनुभव के प्रागनुभविक शर्तों की एक गवेषणा है। यदि प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्दादि को प्रमाण के रूप में स्वीकृति प्रदान की गई है तो ऐसी परिस्थिति में इन्हें नैसर्गिक अध्यास की कोटि में कैसे रख सकते हैं? शंकराचार्य ने इस शंका का निवारण करते हुए यह प्रतिपादित किया कि प्रत्यक्ष अथवा शब्द पर आश्रित ज्ञान मूलतः विषयी– विषय के सम्बंध पर आधारित है। आत्मा अथवा अहं सदैव अनात्म अथवा शरीर से संबद्ध रहता है और इस प्रकार से समस्त ज्ञान सामान्यतः सम्बन्धात्मक है। अतः संबन्ध–सूचक कोटियों पर आधृत ज्ञान सत् का यथार्थ चित्रण नहीं कर सकता और इस कारण से वह अध्यास पुरस्सर है।

द्वितीय आलेख में अद्वैतवादी कारणता के सिद्धान्त का विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है। गौड़पादाचार्य ने मांडूक्य–कारिका में अजातिवाद का प्रतिपादन किया है जिसके अनुसार आत्मा अज है एवं कारणता मिथक है, जिसकी परिणति मायावाद में होती है। कारणता के प्रत्यय के विरूद्ध मुख्य तर्क यह है कि कुछ भी स्वयं से उत्पन्न नहीं होता और न ही अन्य से अथवा दोनों के संयुक्त प्रयास से उत्पन्न होता है। उदाहरण के तौर पर घट न तो स्वयं से और न ही पट से और न ही घट–पट से संयुक्त रूप में उद्भूत हो सकता है। कारणता मिथक क्यों है के समर्थन में अनेक तर्क प्रस्तुत किए गए हैं –

1. असत् का कारण कोई असत् नहीं हो सकता है उदाहरणार्थ शश–विषाण आकाश–कुसुम का कारण नहीं हो सकता है।
2. सत् का कारण कदापि असत् नहीं हो सकता है यथा शश–विषाण घट का कारण नहीं हो सकता है।
3. सत् किसी भी परिस्थिति में किसी अन्य सत् का कार्य नहीं हो सकता है क्योंकि सत् पहले से विद्यमान है जैसे घट पट का कार्य नहीं हो सकता।
4. सत् कदापि असत् का कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि जो असत् है वह किसी को उत्पन्न नहीं कर सकता है।

भारतीय दर्शन में कारणता को लेकर दो प्रचलित विरोधी सिद्धान्त सत्कार्यवाद एवं असतकार्यवाद हैं जिन्हें काण्टीय शब्दावली में इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। सत्कार्यवाद कारण एवं कार्य में अनिवार्य सम्बन्ध को स्वीकार करता है, किन्तु कार्य के संदर्भ में कोई नवीनता नहीं है, और इस प्रकार से कारणता के अंतर्गत केवल कारण पद महत्त्वपूर्ण है। असत्कार्यवाद इसके विपरीत कार्य में नवीनता को कल्पित करता है, यद्यपि कारण एवं कार्य में अनिवार्य सम्बन्ध की कोई संभावना नहीं है, और कारणता में मात्र कार्य पद का महत्त्व है। कारणता को किन्तु किसी एक पद में ही सीमित करना निरर्थक है। आचार्य पाण्डेय ने अपने आलेख के अंतर्गत शंकराचार्य,

जयन्त भट्ट एवं प्रकाशानन्द आदि के कारणता संबन्धित विचारों की तार्किक प्रस्तुति की है। अतः यदि गौड़पाद से शांकरोत्तर अद्वैत वेदान्त तक के कारणता के सिद्धान्त की भाषाशास्त्रीय विवेचना की जाए तो इसमें अजातिवाद, कार्यकारणअनन्यत्ववाद एवं विवर्तवाद महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विचार हैं जो कार्य की कारण पर एकपक्षीय निर्भरता को प्रस्तावित करते हैं।

आचार्य पाण्डेय तृतीय आलेख में शांकर वेदान्त के अंतर्गत वाह्य जगत् की प्रस्थिति को विवेचित करते हैं। जगत् का स्वरूप माया अथवा मिथ्या अथवा सद्–असद् विलक्षण है। जगत् दृश्यत्वात्, जड़त्वात्, अंशीत्वात् एवं परिच्छिन्नत्वात् मिथ्या है। अद्वैत वेदान्त की तर्कणा पद्धति में सत् एवं असत् परस्पर व्यावर्तक एवं व्याघाती पद नहीं हैं और इसी कारण से संवृत्ति जगत् न तो सत् है और न ही असत् कहने मात्र से मध्यम परिहार के नियम का उल्लंघन नहीं होता है। वे राधाकृष्णन के इस मत से सहमत हैं कि भ्रम का उत्स तत्त्वमीमांसीय न होकर तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक है। जगत् का नानात्व एक निर्णयात्मक त्रुटि है। शंकराचार्य जगत् का पूर्ण निषेध नहीं करते है परंच उसकी पुनर्व्याख्या करते हैं। वे रज्जु–सर्प दृष्टांत का प्रयोग ब्रह्म पर जगत् की एक पक्षीय निर्भरता को उद्घाटित करने के करते हैं। वे कारणता की वर्गणा को ब्रह्म के संदर्भ में अनुपयुक्त मानते हैं क्योंकि कारणता मात्र संवृत्ति तक ही सीमित रहती है। ब्रह्म जगत् का कारण नहीं अपितु उसका अधिष्ठान है। शंकराचार्य 'अनन्यत्व' के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट करते हैं कि जगत् ब्रह्म से अनन्य है। तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म एवं जगत् वस्तुतः एक हैं जिसमें प्रथम सत् एवं द्वितीय आभासवान् है।

आचार्य पाण्डेय ने तृतीय अध्याय में दो आलेखों को सम्मिलित किया है जिनका शीर्षक क्रमशः *'द कॉन्सेप्ट ऑफ जीवात्मन, साक्षी एण्ड ब्रह्मन्'* एवं *'द कन्सेप्ट ऑफ फ्रीडम इन शांकर वेदान्त'* है। मनुष्य की आनुभविक आत्मा को जीवात्मा से अभिहित किया जाता है जो कि कर्त्ता एवं भोक्ता होने के कारण शुभ (पुण्य) एवं अशुभ (पाप) अर्जित करके सुख एवं दुःख का अनुभव करता है। मनुष्य वस्तुतः आत्मा है जो अज्ञानवश स्वयं को शरीर, इन्द्रिय एवं मन आदि से अभिन्न समझता है। जीवात्मा की तीन अवस्थायें जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति हैं। जाग्रत में जीवात्मा का सम्बंध स्थूल शरीर एवं इन्द्रियों से होने के कारण इसे विश्व कहते हैं, तो वहीं स्वप्न में सूक्ष्म शरीर से संयुक्त होने के कारण इसे तैजस से व्यवहृत करते हैं और सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा कारण शरीर से संबद्ध होने के कारण प्रज्ञा से अभिहित किया जाता है। साक्षी इन तीनों अवस्थाओं में अंतर्निहित होता है, यद्यपि वह ज्ञान का विषय कदापि नहीं हो सकता। साक्षी के स्वरूपतः स्वयं प्रकाश होने के कारण उसे किसी माध्यम से ज्ञेय होने की आवश्यकता नहीं है। आचार्य पाण्डेय साक्षी के स्वरूप, प्रस्थिति एवं महत्त्व को विवेचित करने के लिए पंचदशी, तत्त्वप्रदीपिका, वेदान्त कौमुदी, तत्त्वशुद्धि, सर्ववेदान्तसंग्रह, सिद्धान्त बिन्दु एवं सिद्धान्तलेशसंग्रह आदि प्रौढ़ अद्वैत ग्रंथों का सम्यक् विश्लेषण एवं परीक्षण करते हैं। साक्षी का प्रत्यय वस्तुनिष्ठता के आधारभूत सिद्धान्त की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पाश्चात्य दार्शनिक परंपरा में ज्ञान की वस्तुनिष्ठता को सर्वप्रथम सुकरात ने स्वीकार किया है और इस विचार को पुष्पित एवं पल्लवित करने का श्रेय प्लेटो, डेकार्ट, काण्ट एवं हुस्सर्ल आदि को जाता है। हुस्सर्ल के फिनोमिनोलाजकीय दर्शन में आनुभविक अहं एवं अतीन्द्रिय अहं में स्पष्ट विभेद प्राप्य है जिसकी तुलना जीव एवं ब्रह्म

से की जा सकती है, किन्तु हुस्सर्ल की दृष्टि में चेतना का स्वरूप सदैव विषयापेक्षी होता है जबकि अद्वैत वेदान्त में शुद्ध चैतन्य आत्मा का स्वरूप है। चेतना के विषयापेक्षिता में चेतना एवं उसका विषय परस्पर सापेक्ष होने के कारण शुद्ध वस्तुनिष्ठता की कोई संभावना नहीं है किन्तु अद्वैत वेदान्त में वस्तुनिष्ठता साक्षी में अवस्थित होती है।

ब्रह्म की दो परिभाषायें (लक्षण) – तटस्थ एवं स्वरूप–अद्वैत वेदान्त में हमें प्राप्त होती है। यहाँ पर विचारणीय बिन्दु यह है कि ब्रह्म की दो परिभाषाओं का औचित्य क्या है? शंकराचार्य क्यों तटस्थ परिभाषा को पहले प्रस्तुत करते हैं? हम इसके कारण (औचित्य) को इस रूप में समझ सकते हैं कि संवृत्ति जगत् का निषेध करने पर ही ब्रह्म का स्वरूप उद्घाटित होता है। काण्ट के दर्शन में मानवीय ज्ञान मात्र संवृत्ति तक ही सीमित है और परमार्थ अथवा स्वलक्षण अज्ञात एवं अज्ञेय है। शंकराचार्य किन्तु परमार्थ के संदर्भ में संदेहवादी एवं अज्ञेयवादी दृष्टि नहीं रखते हैं अपितु अद्वैत वेदान्त संवृत्ति से परमार्थ, तटस्थ लक्षण से स्वरूप लक्षण का मार्ग प्रशस्त करता है। तटस्थ लक्षण जगत् को ब्रह्म का आभास (दृश्यत्वात् मिथ्या) मानता है। यह ब्रह्म को जगत् के अप्रतिबन्धित कारण के रूप में स्थापित तो करता है किन्तु इससे ब्रह्म के स्वरूप की अंतर्दृष्टि नहीं प्राप्त होती है और इसके लिए स्वरूप लक्षण आवश्यक है। जगत् न तो ब्रह्म का परिणाम है और न ही ब्रह्म जगत् से प्रभावित होता है। अतः जगत् ब्रह्म का विवर्त है और इसलिए ब्रह्म जगत् का कारण न होकर अपितु अधिष्ठान है। ब्रह्म स्वतः प्रामाण्य एवं स्वयं–प्रकाश है जबकि अन्य सभी इसके द्वारा भासित होते हैं (तस्य भासा सर्वम् इदम् विभाति)। तटस्थ लक्षण– स्वरूपान्तराभूतत्वे सति इतरव्यावर्तकं ते स्वरूप लक्षण– स्वरूपान्तराभूतत्वे सति अन्यव्यावर्तकं है। सत्, चित् एवं आनन्द ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है जो ब्रह्म के विधेय अथवा विशेषण नहीं हैं अपितु तात्त्विक हैं एवं प्रत्येक पद का ब्रह्म के साथ अभिन्न सम्बन्ध है। स्वरूप लक्षण की तार्किक निष्पत्तियों को इस रूप में रेखांकित किया जा सकता है– प्रथमतः ज्ञानम् तु वस्तुतंत्रम्, द्वितीयतः विषयी (आत्मा) कदापि ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है एवं तृतीय निष्पत्ति यह होगी कि सत्ता तात्त्विक होने के कारण बोधगम्य नहीं अपितु अपरोक्षानुभूति का विषय है। ब्रह्म का त्रयकत्व स्वरूप है जिसमें सत् चित् एवं आनन्द सन्निहित हैं और जिसकी व्याख्या मन के त्रिक व्यापार– संज्ञान, संकल्प एवं भावना द्वारा संभव है।

आचार्य पाण्डेय अपने द्वितीय आलेख *'द कॉन्सेप्ट ऑफ फ्रीडम इन शंकर वेदान्त'* में यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं कि संपूर्ण भारतीय पुनर्जागरण काल, जिससे राजा राम मोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, टैगोर, गांधी, के.सी. भट्टाचार्य, श्री अरविन्द, राधाकृष्णन आदि संबद्ध हैं, शांकर वेदान्त में मूलित हैं। शंकराचार्य आत्मा को शुद्ध चैतन्य एवं पूर्ण स्वतंत्र मानते हैं जिससे स्वतंत्रता संग्राम आन्दोलन अत्यधिक प्रभावित एवं उत्प्रेरित है। उनकी स्वतंत्रता की अवधारणा सार्त्र से भिन्न है क्योंकि सार्त्र के दर्शन में स्वतंत्रता का स्वरूप अभिशप्त है, जबकि शंकराचार्य में यह सच्चिदानन्द है। वे मोक्ष को कर्म अथवा धर्म का प्रतिफल नहीं मानते हैं क्योंकि मोक्ष किसी नवीन अवस्था की प्राप्ति नहीं है अपितु स्व का बोध अथवा अनुभूति है जो कि नित्य मुक्त, स्वप्रकाश एवं कूटस्थ है।

आचार्य पाण्डेय के चतुर्थ अध्याय में दो आलेख सम्मिलित हैं जिनका शीर्षक क्रमशः *'रिविलेशन एण्ड रीजन एण्ड दी अद्वैतिक नोशन'* एवं *'इम्पैक्ट ऑफ श्री भगवद्पाद शंकराचार्य ऑन इन्डियन कल्चर'* है। प्रथम आलेख में आचार्य पाण्डेय श्रुति एवं तर्क के अंतर्संबन्ध का विश्लेषण करते हैं। शंकराचार्य वेद को नित्य मानते हैं किन्तु नित्यता प्रवाहरूप है कूटस्थरूप नहीं है। वे वेद को आप्त वचन मानते हैं जो फलवत्, अनधिगत् एवं अबाधित है। शंकराचार्य की यह मान्यता है कि एक कल्प से दूसरे कल्प में वैदिक प्रवाह अविच्छिन्न एवं अनादि है। शांकरोत्तर वेदान्त में वेद के नित्यत्व स्वरूप को लेकर पर्याप्त मतभेद है यथा विद्यारण्य वेद की नित्यता अनादि एवं कूटस्थ मानते हैं जबकि प्रकाशात्मन एवं रामानन्द सरस्वती की मान्यता है कि वेद का नित्यत्व अनादि एवं प्रवाहरूप है। मीमांसा दर्शन में वेद को अपौरूषेय माना गया है जिसका अद्वैत वेदान्त समर्थन करता है किन्तु इसके साथ ही वेदान्त दर्शन में ईश्वर को भी वेद का कारण माना गया है। धर्म एवं ब्रह्म का एक मात्र अभ्रान्त स्रोत वेद है और स्मृति एवं पुराण की प्रामाणिकता वेद के साथ अन्विति में निहित है। वेद को शास्त्रयोनित्वात्, तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं के रूप में कल्पित करते हुए शंकराचार्य यह मानते हैं कि महावाक्यों से अपरोक्षतः ब्रह्म–ज्ञान की प्राप्ति होती है। सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य एवं मघुसूदन सरस्वती भी शंकराचार्य की भांति यह स्वीकार करते हैं कि महावाक्यों से ब्रह्म–ज्ञान की उपलब्धि होती है। मण्डन मिश्र की शंकराचार्य से असहमति है और वे प्रसंख्यान को अपरोक्षानुभूति का कारण मानते हैं। वाचस्पति की इन दोनों समूह से असहमति है क्योंकि वे न तो महावाक्यों और न ही प्रसंख्यान को ब्रह्मज्ञान का साधन मानते हैं, अपितु महावाक्यों के मनन से अपरोक्षानुभूति संभव है। शंकराचार्य की यह दृढ़ मान्यता है कि अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान यौगिक–प्रातिभ अनुभूति से संभव नहीं है अपितु वेद ही उनके एक मात्र ज्ञान का स्रोत है। मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त आनुभविक ज्ञान एवं श्रुति में कोई विरोध नहीं स्वीकार करते हैं। श्रुति की प्रामाणिकता केवल अतीन्द्रिय एवं आध्यात्मिक विषयों तक ही सीमित है। श्रुति को लोकानुभव विरूद्ध नहीं होना चाहिए जैसे सैकड़ों श्रुतियाँ भी अग्नि को शीतल एवं अप्रकाश बतायें तो भी अनुभवविरूद्ध होने के कारण उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है।

अद्वैत वेदान्त में तर्क के महत्त्व को इस प्रकार से रेखांकित किया गया है– 1. श्रुति वाक्यों का अर्थ–निर्धारण 2. संशय एवं विपर्यास का निराकरण 3. ज्ञेय वस्तुओं के अस्तित्व की संभावना का विनिश्चय अथवा दूसरे शब्दों में प्रमेय संभव निश्चय। शंकराचार्य शुद्ध तर्क को नहीं स्वीकार करते अपितु श्रुत्यानुग्रहित तर्क ही ग्राह्य है। वाचस्पति की दृष्टि में तर्क को तीन शर्तों का पालन अवश्य करना चाहिए– 1. तर्क को श्रुति पर आश्रित होना चाहिए 2. श्रुति की अंतर्वस्तु को स्पष्ट करना चाहिए 3. तर्क को श्रुतिविरोधी नहीं होना चाहिए। अद्वैत वेदान्त में तर्क का मुख्य प्रयोजन विरोधी संप्रदायों में असंगति को प्रदर्शित करना है और साथ ही साथ यह भी स्थापित करना है कि वेदान्त दर्शन ही सम्यक् दर्शन अथवा विचार है। तर्क इसके अतिरिक्त एक अन्य खतरे का भी निराकरण करता है कि विरोधी दार्शनिक संप्रदाय श्रुति (वैदिक) वाक्यों का उद्धरण एवं प्रयोग करके अपने दार्शनिक दृष्टिकोण को स्थापित करने का प्रयास करते हैं। शंकराचार्य की मान्यता है कि श्रुति वाक्यों की ऐसी व्याख्या यथार्थ व्याख्या न होकर अपितु उनका विरूपण है और इन विरूपणों का बोध एवं प्रदर्शन मात्र स्वतंत्र तर्कणा द्वारा संभव है। शंकराचार्य की दृष्टि में ब्रह्म का

ज्ञान अन्वय– व्यतिरेक तर्क से संभव है (अन्वय–व्यतिरेकाभ्यां निष्प्रपंचम् प्रपंचयेत)। उपनिषद् में वे इस पद्धति को निरूपित करते हैं– 1. ज्ञान का कोई विषय आत्मा नहीं हो सकता है। शरीर, इन्द्रिय, मनस्, अहमं एवं बुद्धि ज्ञान के विषय हैं, अतः वे आत्मा नहीं हो सकते हैं। 2. कोई भी जड़ पदार्थ आत्मा नहीं है। शरीर, इन्द्रिय एवं मनस् आदि जड़ हैं, अतएव वे आत्मा नहीं हो सकते हैं। 3. जो कुछ भी परिवर्त्य है आत्मा नहीं हो सकता है। शरीर, इन्द्रिय एवं मनस् आदि विकास, क्षरण एवं विनाश को प्राप्त होते हैं और इस कारण से वे आत्मा नहीं हैं। जाग्रत एवं स्वप्न अवस्था में जो उपस्थित होते हैं उनका सुषुप्ति अवस्था में अभाव होता है यथा शरीर एवं इन्द्रियादि और इसलिए वे आत्मा नहीं हो सकते हैं। अतः तुरीय–अंतिम अवस्था में उपस्थित (उद्घाटित) आत्मा–उपरोक्त तीनों अवस्थाओं में अंतर्निहित है एवं वह एकीकरण का आधार है और इस रूप में मात्र उसकी ही सत्ता है।

आचार्य पाण्डेय अपने द्वितीय आलेख में शंकराचार्य के अद्वैतवादी दर्शन का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव रेखांकित करते हैं। शंकराचार्य ने काश्मीर से कन्याकुमारी, द्वारिका से पुरी तक के विशाल भूखण्ड में सांस्कृतिक एकता स्थापित करने के उद्देश्य से चार पीठों की स्थापना की है। उनके शारीरिक भाष्य का मुख्य प्रयोजन ब्रह्मवाद की स्थापना है और जिसकी परिणति समस्त दुःखों से निवृत्ति है एवं दुःख निर्विवाद रूप से अविद्याजन्य है। आचार्य शंकर का भावात्मक अथवा निषेधात्मक प्रभाव मात्र भारतीय दार्शनिक संप्रदायों तक ही सीमित नहीं है अपितु इसकी सार्वभौमिकता इसमें निहित है कि सांस्कृतिक व्यवस्था एवं मूल्यबोध भी इससे अप्रभावित नहीं रह सकते हैं। कृति, प्रकृति, संस्कृति एवं विकृति आदि के विश्लेषण का प्रयास इस स्थल पर स्पष्टरूपेण दृष्टिगोचर होता है। जगत् मायी महेश्वर की कृति है तो वहीं दिक् एवं काल में इन्द्रिय एवं बुद्धि के द्वारा निर्मित एवं कारणता के प्रत्यय के द्वारा संचालित संवृत्ति (घटना) प्रकृति है। संस्कृति मानवीय मूल्यों की सिद्धि है जबकि विकृति भेद दृष्टि है अथवा द्वैत भाव है। पाश्चात्य दर्शन एवं विशेष रूप से सामी धर्म तथा संस्कृति में प्रकृति (जगत्) को मनुष्य के उपभोग की वस्तु माना गया है और इस प्रकार से मानवकेन्द्रित दृष्टि में प्रकृति के अविचारित उपभोग एवं दोहन की स्वतंत्रता है जिसका विध्वंसक परिणाम पर्यावरणीय प्रदूषण एवं पारिस्थितिकीय असंतुलन है। भारतीय दृष्टिकोण ब्रह्माण्डकेन्द्रित है जिसके मूल में 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' की अद्वैतवादी संकल्पना है। प्रकृति (जगत्) के दैवीय स्वरूप (ईशावास्यमिदं सर्वं) में प्रकृति के दोहन (शोषण) के लिए कोई स्थान नहीं है। ऋत जो कि नैतिक–वैश्वीय व्यवस्था है का महत्त्व इसमें निहित है कि दिक् एवं काल के स्तर पर कारणता का सिद्धान्त प्रभावी होता है, जबकि मानवीय व्यवहार के धरातल पर यह कर्म का सिद्धान्त है। अतः कारणता एवं नैतिकता का प्रत्यय ऋत की अवधारणा में मूलित है। कर्म का सिद्धान्त नियतिवाद नहीं है अपितु स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति है। यहाँ पर स्वतंत्रता अभिशप्त नहीं है अपितु इसका स्वरूप सच्चिदानन्द है। आधुनिक काल में क्वान्टम यांत्रिकी एवं सापेक्षता के सिद्धान्त ने भौतिकी को तत्त्वमीमांसीय आयाम प्रदान किया है जो उसे अद्वैत वेदान्त के मूलभूत सिद्धान्तों को स्वीकार करने के लिए प्रवृत्त करता है। आचार्य पाण्डेय टी.आर.वी. मूर्ति के इस कथन का समर्थन करते हैं कि भौतिकवाद का दुष्चक्र अशान्ति, असंतोष एवं संघर्ष का साम्राज्य स्थापित करता है और इस प्रकार से केवल आध्यात्मिक दर्शन

ही विश्व–संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित हो सकता है। विश्व–संस्कृति का सार–तत्व अहंकार का निषेध एवं समस्त चराचर पदार्थों में एकत्व की सिद्धि है। आत्मा के निरपेक्षत्व द्वारा ही अस्तित्त्व की मौलिक एकता स्थापित होती है और साथ ही साथ विभिन्न सांस्कृतिक समूहों में वैशिष्ट्य एवं विभेद का मार्ग प्रशस्त होता है।

पुस्तक के पंचम अध्याय का शीर्षक *'सम फन्डामेंटल इस्यूज ऑफ पोस्ट–शांकर वेदान्त इन द लाइट ऑफ वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली'* है जिसमें एकजीववाद, सृष्टि–दृष्टिवाद एवं दृष्टि–सृष्टिवाद तथा नानात्व जगत् के प्रत्यक्ष का अभाव (अनस्तित्त्व) की परिचर्चा हमें प्राप्य है। प्रकाशानन्द ने वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली में केवल आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया है जो स्वरूपतः सच्चिदानन्द है, तो ऐसी स्थिति में जगत् के नानात्व (प्रपंच) को मिथ्या या माया मानना हमारी तार्किक बाध्यता होगी। शांकरोत्तर वेदान्त में हमें इस संदर्भ में चार प्रारूप प्राप्त होते हैं– 1. अध्यास का सिद्धान्त चेतना को त्रिविध रूप में शुद्ध ब्रह्म, ईश्वर एवं जीव के रूप में प्रस्तुत करता है। 2. अध्यास का सिद्धान्त चेतना को द्विविध रूप में ब्रह्म अर्थात् ईश्वर एवं जीव के रूप में अभिव्यक्त करता है। 3. अध्यास का सिद्धान्त चेतना के द्विविध रूप शुद्ध ब्रह्म एवं जीव अर्थात् सृजनकर्ता का कारण है। 4. अध्यास का सिद्धान्त ब्रह्म को अपरोक्षतः जीव में घटित करता है और इस रूप में ब्रह्म भी जगत् का सृजनकर्ता है। यह चार प्रारूप–ब्रह्म, ईश्वर एवं जीव के सम्बंध को लेकर प्रतिबिम्बवाद, आभासवाद, अवच्छेदवाद को प्रतिपादित करता है। वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली में चतुर्थ प्रारूप को समर्थन प्राप्त जिसके अनुसार ब्रह्म अपनी अविद्या द्वारा जीव में घटित होता है। प्रकाशानन्द ब्रह्म को ही अविद्या का अधिष्ठान एवं विषय मानते हैं और ब्रह्म एवं जीव में तादात्म्य (अभेद) संबन्ध है। स्वयं–प्रकाश ब्रह्म का अविद्यारूपी आवरण कैसे संभव है? ब्रह्म के स्वयंप्रकाशता की रक्षा इस रूप में की जा सकती है कि अविद्या केवल ब्रह्म (आत्मा) के आनन्द पक्ष को आच्छादित करती है जबकि चित् पक्ष अविद्या के प्रभाव से मुक्त होता है। ब्रह्म का आनन्द पक्ष किन्तु उसके चित् पक्ष से भिन्न अथवा पृथक् नहीं है, अतः आनन्द का आवरण चित् पक्ष के आवरण के बिना अंसभव है।

प्रकाशानन्द एकजीववाद का समर्थन करते हैं जबकि लोकानुभव में हमें अनेक जीव प्राप्त होते हैं तो ऐसी परिस्थिति में एकजीववाद से इसकी युक्तिसंगत व्याख्या अपेक्षित है। एकजीववाद के कुछ समर्थकों का यह मानना है कि केवल एक जीव है जो कि मात्र एक चेतन शरीर से संबद्ध है एवं समस्त जगत् अज्ञान के द्वारा कल्पित है। यदि हम केवल एक जीव की सत्ता को स्वीकार करते हैं तो बद्ध एवं मुक्त जीव में भेद का कोई औचित्य नहीं है। यह विचार एक–शारीरक–जीववाद के नाम से प्रचलित है। एकजीववाद से संबद्ध कुछ अन्य विचारकों की यह मान्यता है कि हिरण्यगर्भ जो की ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है एक मात्र प्रधान जीव है जबकि अन्य जीव प्रधान जीव के गौण प्रतिबिम्ब हैं। अतः वे सविशेष–अनेक शरीर–जीववाद का प्रतिपादन करते हैं। एकजीववाद के कुछ अन्य समर्थक यह प्रतिपादित करते हैं कि हिरण्यगर्भ की एक कल्प से दूसरे कल्प में भिन्नता होती है, अतएव यह निर्धारित करना संभव नहीं कि कौन हिरण्यगर्भ प्रधानजीव है। अतः वे इस विचार के पक्षधर हैं कि एक जीव से अनेक शरीर अविशिष्ट अथवा अस्पष्ट रूप में उद्भूत

होता है और इसे अविशेष–अनेक–जीववाद से अभिहित किया जाता है। प्रकाशानन्द जीव के बहुत्व के अनुभव की व्याख्या स्वप्न के दृष्टान्त पर करते हैं और इस प्रकार से वे एक–शारीरक–जीववाद के पक्ष में है।

अद्वैत दर्शन में जगत् को मिथ्या एवं जड़ स्वीकार करने के कारण इसे अविद्या का प्रतिफल कहा जाता है। इस स्थल पर महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि किस अर्थ में माया अथवा अविद्या एवं ब्रह्म जगत् का कारण है? सिद्धान्त लेश संग्रह में इस संदर्भ में अनेक विचार प्राप्य हैं। कुछ अद्वैतवादियों के अनुसार अविद्या एवं ब्रह्म दोनों ही जगत् के उपादान कारण हैं। सर्वज्ञात्मन की दृष्टि में इसके विपरीत मात्र ब्रह्म ही उपादान कारण है, किन्तु अविद्या इसमें मध्यस्थ कारक की भूमिका का निर्वहन करती है। मण्डन एवं वाचस्पति मिश्र के अनुसार ब्रह्म एक मात्र उपादान कारण है जबकि अविद्या जो जीव में अवस्थित होती है सहकारी है। प्रकाशानन्द की यह मान्यता है कि कारणता का प्रत्यय अथवा वर्गणा ब्रह्म पर आरोपित नहीं की जा सकती है क्योंकि वह नित्य एवं कूटस्थ है और इसलिए केवल अविद्या जगत् का कारण है। उनकी दृष्टि में ब्रह्म केवल लाक्षणिक रूप में जगत् का कारण हो सकता है क्योंकि वह अविद्या जो कि जगत् का कारण है का अधिष्ठान है।

यदि जगत् एक जीव की आत्मनिष्ठ संरचना अथवा सृष्टि है तो सार्थक प्रश्न यह होगा कि क्या जगत् का प्रत्यक्ष अथवा बोधगम्यता से पूर्व अस्तित्त्व है (सृष्टि–दृष्टिवाद) या जगत् उसी क्षण अस्तित्त्व में आता है अथवा उसकी सृष्टि होती है जिस क्षण वह अनुभूत होता है (दृष्टि–सृष्टिवाद)? सृष्टि–दृष्टिवाद के अनुसार जगत् की सत्ता (निःसन्देह आभासिक) तब भी रहती है जब वह प्रत्यक्ष का विषय न हो (अज्ञात सत्ता)। दृष्टि–सृष्टिवाद में इसके विपरीत यह स्वीकार किया जाता है कि जगत् का जब बोध या प्रत्यक्ष नहीं होता है तब उसकी सत्ता नहीं होती है अर्थात् उसका अस्तित्व केवल उस क्षण है जब वह बोधगम्य है (प्रतीतिसमकालीनं एव सत्त्वं, प्रातीतिकं सत्त्वं)। उपनिषद् में ब्रह्म अथवा आत्मा द्वारा जगत् की सृष्टि को स्वीकार किया जाता है जो कि वैश्विक सत्य को उद्घाटित नहीं करता अपितु अध्यारोपोपवाद द्वारा ब्रह्म ज्ञान के मार्ग को प्रशस्त करता है। यदि जगत् एवं उसके वस्तुओं की सत्ता मात्र उस काल तक ही सीमित है जब तक उनका प्रत्यक्ष हो रहा है तो महत्त्वपूर्ण प्रश्न होगा कि क्या ज्ञान के बाहर (बिना) उनका अस्तित्त्व संभव है अथवा उनका अस्तित्त्व मात्र संज्ञान की अंतर्वस्तु है? सिद्धान्त लेश संग्रह इस संदर्भ में दृष्टि–सृष्टिवाद के दो प्रकारों में भेद करता है– एक सिद्धान्त के अनुसार जगत् की सृष्टि प्रत्यक्ष के समय तक ही सीमित है (दृष्टि समय एव प्रपंच सृष्टिः), तो वहीं दूसरे सिद्धान्त के अनुसार जगत् की सृष्टि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कुछ भी नहीं अर्थात् प्रत्यक्ष के विषय एवं प्रत्यक्ष में भेद का कोई औचित्य अथवा प्रमाण नहीं है। प्रकाशानन्द द्वितीय सिद्धान्त का समर्थन करते हुए संज्ञान के विषय एवं संज्ञान में भेद नहीं करते हैं (प्रतीतिमात्रम् एव)। अतः जगत् संज्ञान के बाहर (परे) तुच्छ अथवा अत्यन्तासत् अथवा अनिर्वचनीय है। नानात्व जगत् का प्रत्यक्ष अथवा संज्ञान (द्वैतदर्शन) नानात्व (प्रपंचात्मक) जगत् की भांति अत्यन्तासत् अथवा तुच्छ है क्योंकि वस्तुतः स्वयंप्रकाश ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी का बोध अथवा संज्ञान संभव नहीं है।

आचार्य पाण्डेय षष्ठं अध्याय में वेदान्त की समकालीन प्रासंगिकता को उद्घाटित करते हैं। स्वामी विवेकानन्द अद्वैत वेदान्त को मूर्त, बोधगम्य, वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित करते हैं। उन्हें राष्ट्र की सुप्त (सुषुप्त) आत्मा को जाग्रत करने का श्रेय दिया जाता है क्योंकि वे भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों, रूढ़िवादिता एवं अंधविश्वासों के विरोध को तार्किक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। उनकी दृढ़ आस्था थी कि व्यावहारिक वेदान्त द्वारा न केवल भारतीय जनमानस अपितु संपूर्ण मानवता को बंधन एवं जड़ता से मुक्त किया जा सकता है। हिन्दु, (वैदिक) धर्म वेद में मूलित है एवं वेद तो 'ऋषयोस्तु मंत्र द्रष्टारः' है। हिन्दु धर्म के अतिरिक्त अन्य सभी महान धर्मों का कोई न कोई संस्थापक अवश्य है और इस प्रकार से उनकी समस्त नैतिक (धार्मिक) शिक्षा एवं सिद्धान्त संस्थापक के व्यक्तिगत जीवन से संबद्ध हैं। विश्व के महान धर्म वैयक्तिक ईश्वर में दृढ़ आस्था रखते हैं, जबकि हिन्दु धर्म अवैयक्तिक एवं निरपेक्षवादी है और इस कारण से यह सार्वभौम धर्म है। वैदिक धर्म का मूल मंत्र 'एकम् सत् विप्राः बहुधा वदन्ति' है। वेदान्त के निरपेक्षवाद में आत्मा–आत्मनिष्ठता के अधिष्ठान एवं ब्रह्म–वस्तुनिष्ठता के अधिष्ठान का तादात्म्य स्थापित होता है। वेदान्त दर्शन में सार्वभौम धर्म की क्षमता एवं सृष्टि के एकत्व का सिद्धान्त परिलक्षित होता है। हिन्दु धर्म एवं भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि इसने अन्य आस्थाओं को समायोजित किया है एवं विभिन्न आस्थाओं और जीवन पद्धति का आत्मसातीकरण हमारी आस्था में होता है क्योंकि इसके मूल में वेदान्त दर्शन का आध्यात्मिक मानवतावाद है। ब्रह्म तथा जीव में तादात्म्य सम्बंध द्वारा मनुष्य अद्वैतवादी तत्त्वमीमांसा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करता है। मनुष्य में प्रच्छन्न (गुप्त) देवत्व का साक्षात्कार उसके यथार्थ स्वरूप के बोध से संभव है।

स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक अवदानों के उपरान्त आचार्य पाण्डेय सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में श्री अरविन्द के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं। दर्शनशास्त्र को सभ्यता के इतिहास में महत्त्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि जब परंपरा विघटित होती है एवं संशयवाद प्रबल होता है तो केवल दर्शनशास्त्र ही हमें सही दिशा निर्देश प्रदान करता है। अरविन्द की 'ह्यूमन साईकल' में सामाजिक उद्‌विकास का सुस्पष्ट चित्रण प्राप्य है। उनकी मान्यता है कि मानवीय समाज की प्रगति एक निश्चित, विशिष्ट एवं मनोवैज्ञानिक चरणों से होकर ही संभव है और जिसके विविध आयाम–प्रतीकात्मक, प्ररूपी, परंपरागत, व्यक्तिपरक एवं आत्मनिष्ठ हैं। प्रतीकों के माध्यम से जीवन के विविध पक्षों की अभिव्यक्ति होती है। प्ररूपी मुख्यतः मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक है जिसके अंतर्गत निश्चित सामाजिक मूल्यों का उद्‌भव होता है और उनका प्रभाव अवस्था समाप्ति के पश्चात् भी दृष्टिगोचर होता है। परंपरागत अवस्था में समाज की जड़ता, बाह्य कर्मकाण्ड, दुर्नम्य श्रेणीबद्धता एवं रूढ़िग्रस्त धर्म की प्रधानता परिलक्षित होती है। व्यक्तिपरक चरण में तर्कबुद्धि एवं समीक्षात्मक चिंतन प्रतिष्ठित होता है, जो कि समस्त प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त, पारंपरिक रूढ़िवादी मान्यताओं एवं अंधविश्वास का विरोधी है। तर्क बुद्धि की भी किन्तु अपनी सीमायें हैं जो मनुष्य को उच्चतर एवं गहन ज्ञान अथवा अंतर्दृष्टि के लिए प्रेरित करती है। अंतिम सत्य के साक्षात्कार एवं आत्मबोध के लिए प्रातिभ ज्ञान नितान्त आवश्यक है। सत्य आत्मनिष्ठता है अर्थात् उसकी आंतरिक अनुभूति प्रामाणिक जीवन की आधारशिला है। सृष्टि का प्रत्येक कण परा–मानसिक रूपान्तरण के उपरान्त परम तत्त्व के प्रकाश से आलोकित होता है (तस्य भासा सर्वमिदम् विभाति)। अतः मानवीय चक्र की अंतिम परिणति 'तत्त्वमसि' की अनुभूति है।

पण्डित नेहरू वैज्ञानिक दृष्टि के पक्षधर थे जिसमें कुछ भी पूर्वकल्पित नहीं है अर्थात् तर्क–बुद्धि के द्वारा परीक्षित होने के पश्चात् ही किसी विचार अथवा सिद्धान्त की स्वीकृति एवं नवीन साक्ष्य के आधार पर पूर्व–स्वीकृत सिद्धान्त में परिष्कार की संभावना है। वैज्ञानिक दृष्टि (साइन्टिफिक टेम्पर) से उनका आशय जीवन की समग्र दृष्टि है जिसमें ज्ञान के अतिरिक्त सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् का सर्वोच्च मूल्य समाहित है। एन.के. देवराज नेहरू जी को धर्मनिरपेक्ष मानवतावादी के रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु आचार्य पाण्डेय की दृष्टि में वे समग्र मानवतावादी हैं। यद्यपि उनके मानवतावादी प्रवृत्तियों का परीक्षण अपेक्षित है। एडवर्ड एम. बर्न्स के अनुसार पाश्चात्य शिक्षा, गांधी जी के दर्शन एवं मार्क्सवादी समाजवाद ने नेहरू के विचारों को अत्यधिक प्रभावित किया है। पण्डित नेहरू की जीवन दृष्टि पर अद्वैतवादी वेदान्त दर्शन का प्रभाव भी स्पष्टरूपेण दृष्टिगोचर होता है।

विनिबन्ध के परिशिष्ट का शीर्षक *'द प्रत्यभिज्ञा कॉन्सेप्ट ऑफ मैन एण्ड क्रियेशन : ए कन्टेम्पोरेरी रीअसेसमेंट'* है। भारतीय दर्शन वैदिक एवं आगमिक परंपराओं में मूलित है। यदि वैदिक दर्शन की परिणति शंकराचार्य के अद्वैतवाद में होती है तो वहीं आगमिक दर्शन की पराकाष्ठा अभिनवगुप्त का आभासवाद है जिसे काश्मीर शैववाद से भी अभिहित किया जाता है। माधवाचार्य अपने सर्वदर्शनसंग्रह में काश्मीर शैववाद को प्रत्यभिज्ञा दर्शन कहते हैं। काश्मीर शैववाद में प्रत्यभिज्ञा के अतिरिक्त अन्य प्रवृत्तियाँ यथा क्रम एवं कुल के रूप में परिलक्षित होती हैं। क्रम दर्शन की विशेषता इस बात में है कि मूलतः शिवाद्वयवाद का अंग होते हुए भी यह अपनी निष्ठा में शक्तिपरक है और शिवाद्वयवाद में शाक्त प्रवृत्तियों के क्रमबद्ध उद्रेक का द्योतक है। कुल प्रवृत्ति में संकल्प स्वातंत्र्य के महत्त्व को स्वीकार किया जाता है। प्रत्यभिज्ञा में स्वरूप बोध दो विरोधी बिन्दुओं (शिव एवं शक्ति) के समन्वय में निहित है और इस कारण से सांसारिक अनुभवों का विशुद्धीकरण और अतिसंसारी अनुभवों में उदात्तीकरण संभव होता है।

काश्मीर शैववाद के संस्थापक के रूप में वसुगुप्त को स्वीकार किया जाता है जिनसे शिवसूत्र एवं स्पन्दकारिका संबन्धित हैं। सोमानन्द ने शिवदृष्टि तो वहीं उत्पलदेव ने ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा–कारिका, एवं सिद्धत्रयी विरचित की है। अभिनवगुप्त ने ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा–कारिका पर विमर्शिनी नामक टीका एवं तंत्रालोक की रचना की है। क्षेमराज ने काश्मीर शैव दर्शन को संक्षिप्त रूप में प्रत्यभिज्ञाहृदयं के रूप में प्रस्तुत किया है। महेश्वरानन्द ने महार्थमंजरी का लेखन किया जो कि क्रम परंपरा का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। आचार्य पाण्डेय काश्मीर शैववाद की तुलना अद्वैत वेदान्त से करते हैं। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म–त्रिकालाबाधित सत् है जबकि काश्मीर शैव दर्शन में निरपेक्ष–शिवशक्ति सामरस्य है एवं जिसका स्वरूप प्रकाश और विमर्श है। अद्वैत वेदान्त में निरपेक्ष अशुद्धियों एंव सीमाओं से मुक्त है, जबकि काश्मीर शैववाद में निरपेक्ष असंभव कार्य भी निष्पन्न करने के लिए स्वतंत्र है और इस प्रकार से अद्वैत वेदान्त में स्वतंत्रता का स्वरूप निषेधात्मक है, जबकि काश्मीर शैव दर्शन में स्वतंत्रता की भावात्मक अभिव्यक्ति है। विमर्श, शक्ति एवं स्वातंत्र्य के प्रत्यय द्वारा काश्मीर शैववाद विषयिता एवं विषयता में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करता है। काश्मीर शैववाद में परम तत्त्व चित्–शक्ति है और उनका दावा है कि अन्य निरपेक्षवादी दर्शन में सुसंगति का अभाव होता है क्योंकि द्वैत एवं बहुविधता का उनमें निषेध किया जाता है। काश्मीर शैव दर्शन

में निरपेक्ष का स्वरूप न तो अद्वैतवाद के समान शुद्ध सत् है, न ही माध्यमिक के समान चतुष्कोटिविनिर्मुक्त और न ही योगाचार्य की विज्ञप्तिमात्रता के समान विषयीकरण की शक्ति से रहित है। काश्मीर शैववाद में निरपेक्ष परम शिव हैं जिसमें ज्ञान एवं क्रिया, बोध एवं स्वातंत्र्य, शिव एवं शक्ति, प्रकाश एवं विमर्श का अनुपम सामंजस्य घटित होता है। संपूर्ण सृष्टि परम शिव की अभिव्यक्ति है एवं परम शिव प्रकाश के रूप में विश्वोत्तीर्ण तो वहीं विमर्श के रूप में विश्वमय है। काश्मीर शैव दर्शन में जीवात्मा एवं परम शिव में तादात्म्य संबद्ध स्वीकार किया जाता है। अद्वैत दर्शन में जीवात्मा शुद्ध सत् अथवा प्रकाश है जबकि योगाचार दर्शन में यह क्षणिक विज्ञान है। काश्मीर शैववाद में हमें इनका अद्भुत समन्वय प्रकाश एवं विमर्श, शिव एवं शक्ति के रूप में प्राप्त होता है। माया तत्त्व को परम शिव की आवरण शक्ति से अभिहित किया जाता है और इस माया से ही अन्य कंचुक के रूप में काल, विद्या, राग, कला एवं नियति का आविर्भाव होता है जो परम शिव की शक्ति को आच्छादित एवं सीमित करते हैं। काश्मीर शैव दर्शन में मोक्ष पशु एवं पशुपति के तादात्म्य का अभिज्ञान है अर्थात् स्व का बोध है। काश्मीर शैव दर्शन में शिव–शक्ति–सामरस्य की अनुभूति ही मोक्ष है एवं इसकी प्राप्ति के साधन आणवोपाय अथवा क्रियोपाय, शाक्तोपाय अथवा ज्ञानोपाय एवं शाम्भवोपाय अथवा इच्छोपाय है, किन्तु अंतिम उपाय या साधन प्रत्यभिज्ञोपाय अथवा अनुपाय है।

आचार्य पाण्डेय अद्वैत वेदान्त को काश्मीर शैववाद में प्रस्तावित करने की नवीन प्रवृत्ति का सम्यक् विश्लेषण भी करते हैं। इस प्रवृत्ति का आधार यह है कि सर्जन परम शिव का स्वरूप लक्षण नहीं अपितु तटस्थ लक्षण है। चित् एवं आनन्द स्वरूप लक्षण है जबकि इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया (सृजन) परम शिव का तटस्थ लक्षण है। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाए तो प्रश्न होगा कि क्या परम शिव स्वरूपतः बिना विमर्श अथवा स्पन्द के संभव है? यदि परम तत्त्व बिना स्पन्द के संभव है तो वह अद्वैत वेदान्त का शुद्ध ब्रह्म होगा। काश्मीर शैव दर्शन किस प्रकार परम शिव के अद्वय रूप को संरक्षित रख सकता है जबकि उसके छत्तीस आभास यथार्थ हैं? यह तो सत्य है कि काश्मीर शैववाद में निरपेक्ष के संदर्भ में भावात्मक दृष्टिकोण है किन्तु संवृत्ति एवं परमार्थ के भेद को मिटाने में वह अपने अद्वय स्वरूप को खो देता है। अतः पुस्तकीय समीक्षा के उपरान्त यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि आचार्य पाण्डेय ने अद्वैत वेदान्त की दार्शनिक निष्पत्तियों को युक्तियुक्त ढंग से प्रस्तुत किया है एवं आवश्यकता के अनुरूप वे पाश्चात्य दर्शन के साथ उसका तुलनात्मक विवेचन एवं विश्लेषण करते हैं। उनकी दार्शनिक प्रायोजना का उद्देश्य अद्वैत वेदान्त को वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित भी करना है और उपर्युक्त कारणों के फलस्वरूप दर्शनानुरागियों के लिए यह अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण एवं लोकप्रिय तथा विचार–प्रवण कृति है।

❀❀❀

समग्र योग

विष्णुदत्त पाण्डेय

भारत में योग की परम्परा बहुत पुरानी है। विभिन्न सम्प्रदायों, उपासना–प्रणालियों में अधिकारी–भेद के अनुसार तत्त्व साक्षात्कार भिन्न–भिन्न साधनाओं के माध्यम से होता है। लेखक ने सभी साधनाओं की व्यापक संज्ञा को योग माना है। 'समग्र–योग' भारतीय योग को उसकी समग्रता में देखने का प्रयत्न है। 'आभार' में लेखक ने स्वीकार किया है कि समग्र योग की एक व्यापक योजना मन को एक लम्बे अरसे से आन्दोलित कर रही थी। प्रस्तुत पुस्तक उस व्यापक योजना–समग्र–योग ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प है। लेखक के असमय तिरोधान से आगे का गुम्फन तो अभी रुक गया है, आगे योगेश्वर की इच्छा। लेखक के अग्रज, एवं अन्तरंग रहे आचार्य विद्यानिवास मिश्र 'प्राक्कथन' में लिखते हैं – 'यह सही है कि योग प्रायोगिक विज्ञान है, केवल शास्त्र नहीं, वह पोथी नहीं प्रक्रिया है और इस बात को लेखक ने कहीं अनदेखा भी नहीं किया है, परन्तु योगपरक चिन्तन की भाषा में से अभी बहुत कुछ नया अर्थ अन्वेषणीय है। प्रो. पाण्डेय इसी अन्वेषण में लगे हैं। प्रस्तुत पुस्तक उनके अन्वेषण का प्रथम सोपान है। अगले सोपानों में उनका विचार है कि पातंजल योग, शाक्त योग, शैव योग, वैष्णव योग, मध्ययुगीन सन्तों की साधना में योग जैसे विशिष्ट साधना– रूपों का विमर्श विशद् रूप में किया जाय।

'समग्र–योग' नामक लेखक की पुस्तक में चार अध्याय हैं– प्रथम अध्याय 'प्राचीन योग' का है, जिसमें (अ) वैदिक वाङ्मय में योग और (ब) श्रीमद्भगवद्गीता में योग सम्मिलित है। दूसरा और तीसरा अध्याय क्रमशः जैन योग एवं बौद्ध योग का है। अन्तिम चौथा अध्याय श्री अरविन्द के समग्र योग पर है, जो ग्रन्थ के शीर्षक के साथ सांयोगिक है। प्रो. पाण्डेय ने पुस्तक के नामकरण के विषय में 'आभार' में स्वयं लिखा है कि उन्होंने 'समग्र' शब्द को श्लिष्ट अर्थ में लिया है। प्रथम तो यह कि इससे श्री अरविन्द के समग्र योग की झलक आती है, दूसरे, यह कि 'समग्र' में वह सभी प्रकार की साधना–पद्धतियों, योगों को क्रमशः लेखन का विषय बनाना चाहते थे। साथ ही यह भी कि ग्रन्थ अधिक उपादेय बन सके, इसलिए योग–विधि, उसका क्रम, साधन, उसके अंग किस प्रणाली में कहाँ–कब–क्यों कितने कारगर समझे गये, अन्य प्रणाली से उसका साम्य या अन्तर क्या और क्यों है, यह सब पाठक भलीभाँति जान सके, इसलिए उन–उन प्रणालियों की आधारभूत वैचारिक पृष्ठभूमि पर कहीं संक्षिप्त तो कहीं विशद् प्रकाश भी डाला है।

प्रथम अध्याय – प्राचीन योग (अ) वैदिक वाङ्मय में योग – वस्तुतः वेदों की अनेकशः शाखाओं का विवरण हमें प्राप्त होता है, किन्तु आज उनमें से अधिकांश लुप्त हो चुकी हैं। मान्यता के अनुसार वैदिक साहित्य अनन्त हैं – 'अनन्ता वै वेदाः।' जितनी शाखाएँ थीं, उतनी ही संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् भी थे। शंकर ने जिन 11 उपनिषदों पर भाष्य लिखा है, प्रायः उनको ही मौलिक, प्राचीन एवं विश्वसनीय मान लिया जाता है किन्तु आचार्य शंकर के

---

*प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय की यह कृति कला प्रकाशन, वाराणसी से 2003 में प्रकाशित हुई थी।

दर्शन विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी (उ.प्र.)

भाष्य के आधार पर उपनिषदों की प्राचीनता स्वीकारना सर्वथा समीचीन नहीं है, ऐसा मानते हुए लेखक ने पाया कि 'उपनिषदों का दूसरा वर्गीकरण सम्प्रदाय के आधार पर भी देखने को मिलता है। अड्यार लाइब्रेरी मद्रास से वेदान्त उपनिषद्, सन्यास उपनिषद्, योग उपनिषद् एवं वैष्णव उपनिषदों के चार संग्रह प्रकाशित हुए हैं। योगोपनिषदों की 20 उपनिषदें बतायी गयी हैं।' एक और उपनिषद् योग से संबंधित है– योगराजोपनिषद्। प्रो. पाण्डेय ने इन सभी योगोपनिषदों का सर्वेक्षण करके योग क्या है, इसे साधने का क्रम क्या है, इसका फल क्या है इत्यादि विषयों पर स्पष्ट एवं विस्तृत जानकारी उपलब्ध करायी है और स्पष्ट कहा है कि उपनिषदों में मोक्ष के दो उपाय बताये गये हैं– मनोजय एवं प्राण जय। मनोजय वासनाओं के क्षीण होने पर होता है, किन्तु प्राण जय हो जाने से मनोजय अनायास सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि प्राण जय पर योग में इतना बल दिया गया है। प्राण जय श्वाँस–प्रश्वाँस का नियन्त्रण है। उपनिषद् प्रायः एक मत से स्वीकार करते हैं कि इन्द्रियों का संयम करके, मन को हृदय में निरुद्ध करके, उपराम वृत्ति धारण करके, प्राणायाम परायण होकर के, तितिक्षा का भली–भाँति अभ्यास करके समाधि द्वारा योगी सुख–दुःखादि द्वन्द्व से, हर्ष–शोक से पार उतर जाता है। इस प्रकार इन उपनिषदों में अध्यात्म योग, ध्यान योग, निदिध्यासन योग, अभ्यास योग, ज्ञानयोग, कर्म योग, मंत्र योग, लय योग, हठ योग, राजयोग, सम्पुट योग, विभूति योग, तारक योग, अमनस्क योग, क्रियायोग, प्राणापान समायोग, वेधक त्रय योग, मनोयोग, उत्तरयोग, सांख्य योग, महायोग आदि का प्रयोग हुआ है। फिर भी चार प्रकार के योगों की विवेचना अधिक हुई है– प्रथम मन्त्र योग– जिसमें प्रणव, गायत्री आदि का अजपा जप, 'सोऽहम्' साधना का निर्देश और उसका फल बताया गया है। द्वितीय लय योग– जिसमें प्राण–साधना के द्वारा मन को लय करने का तरीका बताया गया है। जैसे – 'लयो विषय विस्मृतिः, निरालम्बं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।' तृतीय हठ योग– जिसमें स्वर साधना के द्वारा प्राण निरोध करना, प्राण संरोध (नियमन) के द्वारा मन का निरोध करना है। इसमें प्राणायाम की समता साधी जाती है तथा चतुर्थ राज योग–राजयोग जो सूक्ष्म है, बल्कि कहना चाहिए कि मंत्र योग, लय योग, हठ योग सबका फल राज योग है। कुछ ग्रन्थों में राजयोग का वर्णन तांत्रिक सा प्रतीत होता है, जैसे– 'योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबन्धूक सन्निभम्' या 'रजसो रेतसो योगात् शक्तिशिव योगाद् राजयोग' (योगशिखोपनिषद्); जबकि पतंजलि ने अपनी अष्टांगिक योग पद्धति को राजयोग अर्थात् राजमार्ग के रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ प्रो. पाण्डेय राजयोग के वर्णन को अद्वैती पुट देने लगते हैं। यथा– 'नित्यानित्य वस्तु विवेक, इहामुत्रार्थ भोग विराग, षट् सम्पद्, मुमुक्षा, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, तत्पदार्थ एवं त्वं पदार्थ शोधन विधि अष्टांगिक राजयोग है। योगोपनिषदों एवं उनके अलावा अन्य उपनिषदों में भी जहाँ योग सम्बन्धी जानकारी दी गयी है, सबका सर्वेक्षण करते हुए लेखक ने यह दिखाया है कि किनमें कितने योगांगों (पंचदशांग, अष्टांग, षडंग, चतुरंग) का वर्णन प्राप्त होता है तथा किस योगांग में कौन–कौन से आचारों को शामिल किया गया है। अस्तु यहाँ तत्त्व ज्ञान का व्यवहार में अनुप्रयोग योग बन जाता है। इसमें इन्द्रियों को मन में, मन को आत्मा में प्रतिष्ठित करने की साधना, जैसा कि 'प्राक्कथन' में आचार्य मिश्र ने संकेत किया है, योग बतायी गयी है। 'बहुत कुछ है, जो आँखों से ओझल है, मन की आँख से भी ओझल है। उसके लिए आवश्यक है इन्द्रिय का मन में लय हो, मन का बुद्धि

में, बुद्धि का अहंकार में और अहंकार का भी लय हो जाय। यहाँ लेखक का यह विश्वास उल्लेखनीय है कि बाह्य प्रकृति और हमारे अन्दर की प्रकृति में अनूठा तादात्म्य है। 'जो शक्ति बाह्य प्रकृति के कण–कण को व्यवस्थित कर रही है, वही शक्ति मेरी इच्छा, संकल्प एवं विचार में भी व्याप्त है।' बल्कि मैं तो कहूँगा कि जो नियम प्रकृति जगत् में काम कर रहे हैं, वे ही हमारे मनोजगत् में भी वैसे ही व्याप्त हैं, जैसे– गुरुत्वाकर्षण का नियम ही मोह का नियम है। कार्य–कारण नियम कर्म सिद्धान्त, गति के नियम जैसे आकर्षण–विकर्षण के नियम हैं। योग ने इसे 'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' कहा। हम ऋत् के छन्द को समझें। उसके अनुरूप अपने संकल्प–विकल्प को संयमित करें और अपनी शक्तियों को उसमें नियोजित करें– योग इसी का उपक्रम है। यही कारण है कि वैदिक ऋषियों ने जब से 'ऋत्' को समझा, तब से उससे जुड़ने का प्रयत्न साधा, तद्रूप होना चाहा। इसी क्रम में विभिन्न ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों से प्राण सम्बन्धी विवरणों को जुटा–जुटा कर लेखक ने यह दर्शाया है कि कैसे इस प्राणशक्ति द्वारा ही चींटी से लेकर बड़े तक समस्त जीव विधृत हैं और इसकी साधना से ही इस लोक में अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है। इसीलिए लेखक ने ग्रन्थ के आभार प्रदर्शन की भूमिका के रूप में यज्ञ पर संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवरण दिया है और बताया है कि यज्ञ के माध्यम से कैसे बाह्य एवं आभ्यन्तर का, ब्रह्म एवं अहं का तादात्म्य होता है। लेखक के अनुसार यज्ञ संस्था को जीवन में इस तरह निबद्ध किया गया है, ताकि व्यक्ति क्रमशः पूर्णता की ओर अग्रसर हो सके।

(ब) श्रीमद्भगवद्गीता में योग– प्राचीन योग की वैदिक परम्परा का वर्णन गीता के बिना अधूरा रह जाता है, क्योंकि वैदिक परम्परा गीता को सर्वशास्त्रमयी मानती है। यहाँ प्रो. पाण्डेय ने योग के सभी संभव अर्थों पर विचार किया है। उन्होंने पहले तो योग का सही अर्थ जुड़ना (संयोग) मात्र नहीं, अपितु समाधि बताया है, फिर अन्य अर्थों पर भी विचार किया है, दूसरे, समाधि अर्थ को वैदिक साहित्य से भी निगमित किया है तथा तीसरे गीता में योग की जितनी अवधारणाएँ हो सकती हैं, सबको दर्शाया है। और कहा है कि मनुष्य के सारे धार्मिक कृत्य, अनुष्ठान, यज्ञ, उपासना एवं योग अहंता, ममता के त्याग के माध्यम से पूर्णता का साक्षात्कार है। .... देवयज्ञ से........प्रातः एवं सायं दी हुई आहुतियों से........ 'स्वाहा' एवं 'इदं देवाय न मम' कह कर अपनी अहंता एवं ममता के त्याग की भावना की जाती है। भूतयज्ञ का नाम ही बलिवैश्व देव है। देवयज्ञ से बचे हुए अन्नादिक के द्वारा भूतयज्ञ का अनुष्ठान होता है। सकल प्राणियों के साथ तादात्म्य स्थापित करना ढोंग नहीं है। आज प्राकृतिक सम्पदा जल, वायु, वनस्पति को प्रदूषित कर तथाकथित विकसित मानव ने अपने ही अस्तित्व पर एक प्रश्नचिन्ह लगा लिया है। विश्व का कोई पदार्थ उपेक्षणीय नहीं है, मेरे में सबका अपना–अपना अंश है। जो भी अभ्यागत दरवाजे पर आ जाय, वह नारायण है, वैश्वानर है। अतिथि को आदरपूर्वक खिला कर भोजन ग्रहण करना ही नृयज्ञ की सम्पन्नता है। इस प्रकार वैदिक धर्म में पंच महायज्ञ पूर्णता के मुख्य सोपान हैं। अतः गीता के अनुसार भी मनुष्य के सारे कृत्य, सारे अनुष्ठान अन्ततः परमात्मा की ओर ही ले जाते हैं। इन सबको यज्ञ और योग माना गया है। लेखक लिखता है– 'योग का वैय्याकरण इसे भले ही समाधि, संयोग या संयम अर्थ दें, किन्तु क्रियात्मकदृष्टि से रूढ़ि अर्थ में तो साधन का नाम ही योग है।

आत्मान्वेषण के हर मार्ग को गौरव प्रदान करती और सबका समन्वय करती हुई भगवद्गीता नर–नारायण संवाद रूप में नर की नारायण बन जाने की अधिकारी भेदानुसार विविध योगों की ऐसी अप्रतिम संहिता है, जिसमें क्रियायोग, समाधियोग, मंत्रयोग, जपयोग, लययोग, हठयोग, कुण्डलिनी योग, भक्तियोग, प्रेम योग, प्रपत्तियोग, निष्काम कर्मयोग, अभ्यासयोग, ध्यानयोग, सांख्ययोग, ज्ञानयोग, राजयोग, राजाधिराजयोग, महायोग, पूर्णयोग आदि अनेकानेक योगों की परिकल्पना की गई है। भगवद्गीता में निम्न योगों का उल्लेख एकाधिक बार हुआ है– समत्वयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, दैवयज्ञयोग, आत्मसंयमयोग, यज्ञयोग, ब्रह्मयोग, संन्यासयोग, दुःखसंयोगवियोगयोग, अभ्यासयोग, ऐश्वर्ययोग, नित्याभियोग, सततयोग, बुद्धियोग, आत्मयोग, भक्तियोग एवं ध्यानयोग।' गीता में योग को इतने व्यापक अर्थों में प्रयोग किया गया है कि उसके प्रत्येक अध्याय का नाम भी योग ही रखा गया है। यहाँ तक कि प्रथम अध्याय में अर्जुन के मोह और विचिकित्सा तक को योग कहा गया है– 'अर्जुन विषाद योग।' लेखक का मन्तव्य है कि 'यदि इनका विश्लेषण किया जाय तो प्रत्येक छः अध्यायों में विविक्त रूप से एक नवीन उपदेश भी है। पहले छः अध्यायों में पंच साधना प्रणाली रूप कर्मयोग, परवर्ती छः अध्यायों में ईश्वरोपदिष्ट भक्तियोग है तथा अन्तिम छः अध्यायों में सिद्धान्तमीमांसा रूप ज्ञान योग है, किन्तु इन तीनों प्रकार के योगों का अद्भुत समन्वय भी है। इस दृष्टि से लेखक के अनुसार गीता के योग की कुछ विचारणीय विशेषताएँ भी हैं यथा– 1. गीता में कर्म योग, भक्ति योग एवं ज्ञान योग की त्रिवेणी एकमेव हो जाती है। 2. गीता में योग साधना के सरल से सरलतम विकल्प सुझाये गये हैं। यहाँ तक कि केवल स्वधर्म पालन करते रहने से भी संसिद्धि प्राप्त हो जाने का आश्वासन है– 'स्वे स्वे कर्मण्याभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।' 3. युक्ततम योगी को तपस्वी, ज्ञानी, कर्मयोगी आदि से श्रेष्ठ माना गया है। 4. गीता में वर्णित अन्यान्य योगों में आपाततः योग के तीन स्वरूप स्पष्ट मिलते हैं, जो योग के व्यापक अर्थ को हर तरह से परिपूर्ण करते हैं– (क) योग को दुःख के संयोग–वियोग से रहित माना गया है और इस प्रकार साधना की दृष्टि से सबसे बड़ी साधना तितिक्षा को माना गया है। (ख) योग को कर्मों में कुशलता कहा गया है। (ग) गीता में हर तरह के 'समत्व' को योग माना गया है। ऐसे आचारवान योग साधक को गीता स्थित–प्रज्ञ कहती है। द्वन्द्वों में भटकाने वाली बुद्धि जब स्थिर हो जाती है तो वही ब्राह्मी स्थिति होती है, जहाँ पहुँचकर लौटना (पतन) नहीं होता। समत्व योग पर आरूढ़ होकर ही उस अव्यय पद को प्राप्त किया जा सकता है।

द्वितीय अध्याय : जैन योग– (अ) तत्त्वमीमांसीय आधार, (ब) जैन योग – जैन दर्शन भले ही अपने को अवैदिक माने, लेकिन वैदिक चिन्तन जैसे अधिकारी भेद आदि को वह भी मान कर चलता है। व्यक्ति की समझ और सामर्थ्य के अनुसार ही पात्रता का भेद है। इसी दृष्टि से लेखक ने जैन दर्शन की साधना–प्रणाली पर विचार करने के पूर्व उसका संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित तत्त्वमीमांसीय विवेचन प्रस्तुत किया है। तत्त्व चिन्ता 'सत्' की खोज से आरम्भ होती है। दार्शनिकों में यद्यपि सत् या द्रव्य के स्वरूप के विषय में गंभीर विवाद है, किन्तु जैन दर्शन के अनुसार उत्पत्ति, व्यय और ध्रौव्यता (नित्यता) सत् के लक्षण हैं। कर्मानुसार नाना शरीरों को धारण करता जीव संसार चक्र में संसरण करता रहता है। जैन दर्शन इस सत् के ज्ञान के लिए तथा

संसरण से बचने के लिए वह विधि विकसित करता है, जिससे जीव के कर्म पुनः आत्मा में प्रविष्ट न हों और जो कर्म आत्मा में प्रविष्ट हो चुके हैं, वे एक–एक कर आत्मा से निकल सकें। जीव में पौद्गलिक कर्मों के प्रवेश को 'आस्रव', प्रवेश रोकने को 'संवर' और कर्मों के छुटकारे को 'निर्जरा' कहते हैं। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय मोक्ष है। इस कर्म क्षय की विधि को जैन दर्शन 'योग', 'अयोग' दोनों कहता है। यहाँ मन, वचन और शरीर की क्रियाओं से उत्पन्न आत्म प्रदेशों का कम्पन, जिससे कर्म परमाणुओं का बन्ध होता है, योग है। वस्तुतः जैन दर्शन का अयोग शब्द पातंजल योग के योग शब्द से साम्य रखता है। अयोगी जीव नये कर्मों का बन्धन नहीं करता अपितु पूर्वकृत कर्मों का निर्जरा करता है। यहाँ अयोग शब्द शरीर एवं वाणी के व्यापारों के निरोध के साथ मन के व्यापारों के निरोध को भी सूचित करता है। जैन–साधना के रूप में 'योग' शब्द का चलन करने का श्रेय आचार्य हरिभद्र सूरि को है जिन्होंने योग का 'संयोग' अर्थ किया है। उनका मानना है कि 'मोक्ष तत्त्व के साथ संयोग कराने वाला धर्म व्यापार योग है।' अन्य यौगिक विधियों के समान योग बाह्याभिमुखता से स्वाभाविक परिणमन या अन्तर्मुखता की ओर यात्रा है। लेखक की दृष्टि में शब्दावली का अन्तर करके जैन योग की विधि लगभग वैसी ही है, जैसी पतंजलि ने बतायी है।

हरिभद्र सूरि ने जैन योग को पंच आयामी अथवा पाँच अंगों वाला माना है– स्थान, उर्ण, अर्थ, आलम्बन और अनालम्बन। जिस प्रकार बौद्धागमों में प्रज्ञा, शील एवं समाधि या हिन्दू धर्म में ज्ञान, कर्म और भक्ति के रूप में सार्वभौम साधनात्रय प्रचलित है, वैसे ही जैनागमों में भी सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चरित्र की साधना को मोक्षमार्ग के रूप में स्वीकार किया गया है। यहाँ लेखक की टिप्पणी है कि वस्तुतः मानवीय चेतना के तीन पक्ष माने गये हैं– ज्ञान, भावना, संकल्प। इन्हीं तीनों पक्षों के विकास के लिए साधनात्रय का विधान किया गया है। जैन परम्परा में 'चेतना के भावात्मक पक्ष को सम्यक् बनाने के लिए एवं उसके सही विकास के लिए सम्यक् दर्शन या श्रद्धा की साधना का विधान किया गया है। इसी प्रकार ज्ञानात्मक पक्ष के लिए ज्ञान का और संकल्पात्मक पक्ष के लिए सम्यक् चरित्र का विधान है। प्रो. पाण्डेय के अनुसार यहाँ त्रिविध साधना–पक्ष के विधान के पीछे एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि रही है।' वह यह कि श्रद्धा से तत्त्व को स्वीकारें, ज्ञान के माध्यम से उसका स्वरूप पहचानें एवं आचरण के माध्यम से उसका साक्षात्कार करें। जब तक तत्त्व का साक्षात्कार न हो जाय, स्थिर मति से उसके प्रति आस्थावान बने रहें, तभी सम्यक् चरित्र की पूर्णता है।

तृतीय अध्याय : बौद्ध योग (अ) तत्त्वमीमांसीय आधार (ब) बौद्ध योग – यद्यपि स्वयं महात्मा बुद्ध तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों को अव्याकृत कहकर टाल देते थे तथापि लेखक की दृष्टि में बौद्ध योगानुशासन समझने के पूर्व उसकी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि समझनी आवश्यक है। इस क्रम में चारों आर्य सत्यों का वर्णन करते हुए प्रो0 पाण्डेय ने पाठ्य–पुस्तकों की घिसी–पिटी शैली से भिन्न इनकी व्याख्या करते हुए लिखा है– 'आर्य अर्थात् अर्हत् ही जिन्हें सत्य रूप से जानते हैं, उन्हें आर्य–सत्य कहते हैं।' आर्य जन उस थोड़े भी दुःख से बहुत उद्विग्न हो जाते हैं, जिसकी सामान्य जन उपेक्षा कर जाते हैं कारण कि जो जितना ही संवेदनशील होता है, वह उतना ही दुःखी होता है। बुद्ध भी अपनी सूक्ष्म वैचारिक सजगता या अति संवेदनशीलता के नाते जिन सत्यों को

समझे उन्हें ही आर्य सत्य कहा। ऐसा नहीं है कि ये आर्य सत्य (दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध, दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद्) बुद्ध की नयी खोज हैं। लेखक ने दिखाया है कि 'महर्षि व्यास एवं आचार्य विज्ञानभिक्षु ने चार आर्य सत्यों की समानता चिकित्सा शास्त्र के चतुर्व्यूह से की है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, रोग हेतु, रोग निदान एवं रोग निदानोपाय हैं, उसी प्रकार अध्यात्म शास्त्र में भी दुःख, दुःख हेतु, दुःख निरोध एवं दुःख निरोध मार्ग हैं।' बुद्ध ने इन सत्यों में वह देखा जो पृथग्जन नहीं देख पाते।

अवधेय है कि स्थायी सत्ता का निराकरण करने के बावजूद अनात्मवादी बौद्ध दर्शन कर्म सिद्धान्तवादी है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्म सिद्धान्त से जुड़ा है। अतः अनात्मवाद के साथ पुनर्जन्म की संगति बैठाने में बौद्ध दर्शन को कोई असुविधा नहीं होती, क्योंकि भले ही वह शाश्वतवादी नहीं है, सन्तानवादी होने से परिणाम नित्यतावादी है। यहाँ निर्वाण की स्थिति भावात्मक है या अभावात्मक? लेखक ने इस पर भी चर्चा किया है एवं अश्वघोष की उक्ति – 'दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् स्नेह क्षयात् केवलमेति शान्तिम्।।' को उद्धृत करते हुए दिखाया है कि शेरवात्स्की निर्वाण को क्यों अभावात्मक मानते हैं। वहीं टी.आर.वी. मूर्ति का भी जिक्र किया है, जिनके अनुसार बौद्ध दर्शन का कोई भी सम्प्रदाय निर्वाण को अभावात्मक नहीं मानता। अधिकांश ने व्यवहार से परे इसे परमार्थ के रूप में ही स्वीकारा है। किन्तु परमार्थ का स्वरूप कैसा हो, इस पर प्रो. एस.के. मुकर्जी जैसे विद्वानों ने निर्वाण को शुद्ध चेतना की अवस्था माना है। बुद्ध ने इस निर्वाण के लिए जिस चर्या का विधान किया है, उसे चतुर्थ आर्य सत्य– दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद् या अष्टांगिक मार्ग के नाम से जाना जाता है। इसमें वे समस्त साधनाएँ आ जाती हैं, जो दुःख निरोध में सहायक हैं। जैसे गीता में योग युक्ताहार एवं विहार या दो अतियों का सन्तुलन है, वैसे ही बौद्ध साधना में भी इनकी 'सम्यक्' साधना है। दृष्टि, संकल्प, वाणी, कर्म, जीविका, अभ्यास, स्मृति सब को सुनियंत्रित करके ही सम्यक् समाधि सध सकती है। अष्टांगिक मार्ग के प्रथम दो अंगों– सम्यक् दृष्टि एवं सम्यक् संकल्प को प्रज्ञा, अन्तिम तीन अंगों को सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि को समाधि तथा शेष सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्म एवं सम्यक् आजीव को शील कहते हैं। प्रज्ञा, शील एवं समाधि बौद्ध साधना के वैसे ही त्रिरत्न हैं जैसे सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चरित्र जैन साधना के त्रिरत्न हैं। प्रज्ञा बिना सम्यक् दृष्टि और श्रद्धा के स्थिर नहीं हो सकती। बिना प्रज्ञा या विवेक के आध्यात्मिक यात्रा की शुरुआत भी नहीं हो सकती। यह मात्र चार आर्य सत्यों के अनुशीलन से ही संभव है। शील का महत्त्व वही है, जो शरीर में सिर का है। गृहस्थों के लिए पंचशील और भिक्षुओं के लिए दस शील का विधान है। 'शील सम्पन्न साधक ही बौद्ध योग में समाधि का अधिकारी होता है। बौद्ध योग में आसन–प्राणायाम–धारणा–ध्यान–समाधि सभी समाधि के अन्तर्गत ही समाहित हैं। लेखक ने दिखाया है कि पातंजल योग के यम–नियमादि के प्रायः सारे चरण बौद्ध साधना में भी हैं, केवल ईश्वर प्राणिधान ही उस रूप में नहीं है। वैसे महायान तक आते–आते प्रकारान्तर से बुद्ध का ईश्वरीकरण हो ही जाता है एवं उनका लोकवाद भी वही हो जाता है जो उस समय वैदिक परम्परा में प्रचलित था, जैसे– स्वर्ग, नरक, देवी–देवता आदि। वे अर्हत् को सर्वोच्च समझते थे। साधक से अर्हत् बनने की जो साधना पद्धति बुद्ध ने सुझाई है,

वह पातंजल योग की प्रणाली, जैसे वैज्ञानिक या सैद्धान्तिक ढंग से विन्यस्त भले ही न हो, व्यावहारिक बहुत है। शील सम्पन्न होने के लिए साधक के लिए 10 विरतियों–सभी प्रकार की हिंसा, कामेच्छा, मद्य आदि के विरंभण, रात्रि भोजन, मनोरंजन, सुख–शयन आदि के त्याग और कठिन तपश्चर्या का विधान है, तो भी शारीरिक अहं की धारणा को नष्ट करने के लिए उसके प्रति जुगुप्सा उत्पन्न करने के तरीकों से लेकर अनित्य की विपश्यना करना, रूपालंबनों के प्रति घृणा अपनाना, कामगुणों में दोष देखना, स्वाद–विषयक, रुचिभोग विषयक आसक्ति का त्याग करना, अशुभ की भावना का अभ्यास करना आदि कितने ही तरीकों को सहज–सुलभ करके इस साधना पद्धति में सुझाया गया है। कुछ चीजों को निरन्तर याद भी रखना है – ये 10 अनुस्मृतियाँ हैं। कुछ भावनाओं का विस्तार करना है– मैत्री, करुणा–मुदिता और उपेक्षा का, जिन्हें ब्रह्म–विहार कहा गया है। परहित में लीन होना इसका क्रियात्मक रूप है। बुद्ध का सम्यक् सम्बोधि के बाद का जीवन इसका उदाहरण है। अस्तु साधक अर्हत होकर भी जब लोक कल्याण में उतर आता है तो महायानी उसे बोधिसत्व कहते हैं। लेखक की दृष्टि में यह बोधिसत्व ही बौद्ध योग का आदर्श है।

चतुर्थ अध्याय : समग्र योग– इस अध्याय में लेखक ने बताया है कि श्री अरविन्द ने अपने तत्त्वमीमांसीय चिन्तन का आरम्भ दो निषेधों का निषेध करते हुए किया है। प्रचलित अध्यात्मवादी, जो अचित् की सत्ता का निषेध करता है, उतना ही एकांगी है, जितना कि भौतिकवादी, जो चित् तत्त्व का निषेध करता है। श्री अरविन्द ने सत्ता के स्वरूप में दोनों तत्त्वों का समावेश मानते हुए यह समन्वय करने का प्रयत्न किया है कि देह–प्राणादि में वास करने वाला शाश्वत परमात्मा जितना सत्य है, उतना ही सत्य और श्रेष्ठ वह भौतिक तत्त्व भी है, जिससे ये शरीरादि निर्मित हैं, क्योंकि उसके अलावा कुछ भी नहीं हैं। अब तक के चिन्तन पर श्री अरविन्द का यह आरोप है कि यहाँ अध्यात्मवादियों ने चित् की स्वीकृति के अतिरेक में अचित् की तथा भौतिकवादियों ने चैतसिक् जगत् की खूबियों की अवहेलना की है इसलिए श्री अरविन्द समग्र पूर्णता की खोज में लगे, जिससे उनके दर्शन में विज्ञानवाद एवं भौतिकवाद का मंजुल समन्वय हुआ है। उनके दर्शन को समग्र अद्वैतवाद कहा जाता है। उनका परम तत्त्व उपनिषद् का सच्चिदानन्द है। श्री अरविन्द का कहना है कि शांकर वेदान्त में ब्रह्म के विषय में 'एकमेवाद्वितीयम्' पर अधिक बल दिया गया है और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की उपेक्षा हुई है। इस स्थल पर लेखक का किंचित् प्रतिवाद के साथ शांकर वेदान्त की श्रेष्ठता के प्रति आग्रह है कारण कि लेखक की दृष्टि में जो तार्किक विश्लेषण शांकर वेदान्त में हुआ है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। वैसे तो श्री अरविन्द पर सम्पूर्ण तांत्रिक वाङ्गमय का, किन्तु उसमें भी कश्मीर शैव दर्शन का स्पष्ट प्रभाव है। श्री अरविन्द की समग्रता की अवधारणा में परमसत्ता या सच्चिदानन्द में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनंदमय कोशों की समग्रता है फिर भी, यह अद्वैत ही है। सच्चिदानन्द की एक ही शक्ति है– चित् शक्ति– जो सत्ता के विभिन्न स्तरों में विकसित होते हुए अन्ततः अपने स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहती है। सर्वप्रथम सच्चिदानन्द अन्नमय कोश में अपनी कला को उतारता है, फिर प्रत्येक स्तर पर आरोहित होकर उस सत्ता विशेष को उद्वेलित करता है। यही उनके दर्शन में विकास की अवरोहण–आरोहण की अवधारणा है। सच्चिदानन्द का मूर्त जगत् में यह अवरोहण मर्त्य (पृथ्वी) को दिव्यता प्रदान कर देता है। श्री अरविन्द का मानना है कि परमसत् की आद्या

शक्ति, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों में है, वही वैश्व शक्ति है। उसका जो मूर्त रूप विभिन्न आकारों में दृश्यमान है, वह उसका व्यष्टि रूप है। विश्व सत्ता में जो कुछ है, वह शिव–शक्ति का आनन्दातिरेकी नृत्य है। सब कुछ आनन्दरूप है। दुःख एवं अशुभ हमारे सीमित 'स्व' के सतही स्पन्दन मात्र हैं। अतः दिव्य जीवन का साक्षात्कार करने के लिए सर्वप्रथम हमें आन्तरिक जीवन की ओर उन्मुख होना पड़ेगा। पुनः अपने समूचे बाह्य जीवन को– विचार, अनुभूति एवं क्रिया को– उसी आन्तरिक जीवन का पूर्ण साधन बनाना होगा। शक्तियों के बहिर्मुख विक्षेप को रोके बिना ऐसा नहीं किया जा सकता। इसे रोकने की विधि ही श्री अरविन्द का योग है। अपनी प्रसिद्ध कृति 'द सिंथेसिस ऑफ योग' का प्रारम्भ जीवन और योग से करते हुए श्री अरविन्द बताते हैं कि पूर्ण जीवन ही चेतन रूप से या अर्द्धचेतन रूप से योग है। वैसे भी भारतीय योग सारतः प्रकृति की कुछ महान् शक्तियों का सूत्रीकरण है, जिसके माध्यम से व्यक्ति अधिक विशाल समन्वय को प्राप्त करता है। प्रकृति का जो लक्ष्य समष्टि के लिए क्रमिक विकास का है, व्यष्टि के लिए तत्काल क्रान्ति के माध्यम से वही लक्ष्य योग सम्पन्न कराता है। प्रकृति अपने प्रतीकों में दिव्य की खोज करती है, योग प्रकृति से परे जाकर, प्रकृति के अधिपति तक जाकर परमार्थिक प्रकाश एवं शक्ति के साथ सर्वशक्तिमान की मुद्रा के साथ लौट सकता है।

अवधेय है कि अपने समग्र योग की विधि व्याख्यायित करने से पूर्व श्री अरविन्द भारत में प्रचलित योग परम्पराओं का भी मूल्यांकन करते हैं, विशेषतः हठयोग का, जिसका बल शरीर एवं प्राण पर है। स्थूल शरीर ही इसकी सीमा है। राजयोग चित्त पर बल देता है। इसकी गति सूक्ष्म शरीर तक केन्द्रीभूत है। कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग संकल्पेक्षा, भावना एवं बुद्धि पर टिके हैं। ये सभी प्रणालियाँ अपने अतिरेक में समस्त चैतसिक जगत् की या पार्थिव जगत् की उपेक्षा कर देती हैं, जबकि किसी भी साधना विधि में व्यक्तित्व के सभी तत्त्वों का संश्लेषणात्मक समन्वय होना चाहिए। लेखक की दृष्टि में इस धारणा को लक्ष्य करके ही श्री अरविन्द प्रायः सभी योगों का संश्लेषण करना चाहते हैं। इनके समग्रयोग में निम्न प्रकृति की अस्वीकृति के बिना उच्च प्रकृति में रूपान्तरण तथा निम्न से उच्च की ओर आरोहण एवं प्रतिष्ठा है। फिर भी इनके समग्रयोग का मार्ग एवं रूपान्तरण की विधि वेदान्त की है। यही तंत्र साधना से समग्र योग की साधना का अन्तर है। श्री अरविन्द के अनुसार इस समग्रता की साधना में पूरे अस्तित्व के साथ जुट जाना है। इसके लिए अपने चिदस्तितत्त्व को अलौकिक दिव्य के प्रति उन्मुख करना एवं सार्वभौम दिव्य से एकाग्रता रखना है। साधक को उसी दिव्य की टेर लगानी है ताकि वह मेरे सम्पूर्ण अस्तित्त्व को अपने में रूपान्तरित कर ले। अन्ततः यह टेर उस दिव्य का साक्षात्कार करा देती है जो सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है किन्तु सकारण सीमित एवं धुँधले पर अवतरित होता है, धीरे–धीरे समूची निम्न प्रकृति को आलोकित एवं उद्दीप्त करते हुए लघु मानव ज्ञान एवं मर्त्य व्यापार के बदले अपने दिव्य व्यापार को प्रतिस्थापित करता है। समग्र योग की यह साधना वस्तुतः शरणागति की है, परमात्मा के प्रति लगन की, पूर्ण समर्पण की है। निश्चित ही पूर्ण समर्पण इतना आसान नहीं है। इसके लिए अटूट विश्वास, साहस, त्याग एवं सबसे ज्यादा धैर्य की आवश्यकता होती है, क्योंकि इसका अन्तिम चरण आनन्द है। इस आनन्द एवं अनन्त के साथ तादात्म्य जैसे अन्य योगों में समाधि से प्राप्त है, वैसे ही समग्रयोग में भी है। सार्वभौम दिव्य से साधक की एकाग्रता, एकाकार हो जाने

की पूर्णता समाधि में ही होती है। एक सीमा तक तो बिना समाधि के भी व्यक्ति कुछ उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकता है, किन्तु चेतना एवं अध्यात्म की कुछ ऊँचाईयाँ तो मात्र समाधि से ही संभव हैं। आज फ्रायड के मनोविश्लेषण के सन्दर्भ में समाधि की कोई भी चर्चा बहुत गंभीर हो गयी है। श्री अरविन्द इस गंभीरता को भलीभाँति समझते हैं। इसके साथ ही वह यह भी जानते हैं कि प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान ने फ्रायड के स्वप्न से आगे बढ़ कर सुषुप्ति का जो विशद् चित्रण किया है, एवं उससे भी परे तुरीय का, वह विश्व वाङ्गमय में अन्यत्र दुर्लभ है। लेखक श्री अरविन्द के अनुसार योग–समाधि का वर्णन करते हुए लिखता है– 'समाधि अथवा योगनिद्रा में जाग्रत संसार से धीरे–धीरे चेतना की गहराई में लीन हो जाना है। समाधि की पूर्णावस्था में साधक को आसानी से उठाया नहीं जा सकता। साधक या तो अपनी इच्छा से सामान्य अवस्था में लौटता है अथवा साधक को सशक्त शारीरिक चोट देने पर ही समाधि भंग हो सकती है, किन्तु इससे साधक को हानि भी हो सकती है। समाधि में अधिक समय तक लीन हो जाने पर साधक सामान्य अवस्था में लौटना पसन्द भी नहीं करता। समाधि तक पहुँचा साधक इच्छा–मृत्यु से देह त्याग करता है।' जहाँ तक उसकी मुक्ति का प्रश्न है, वह तो श्री अरविन्द के अनुसार अनन्त के साथ पूर्ण साक्षात्कार, पूर्ण आन्तरिक परिवर्तन से ही हो जाती है। लेखक की दृष्टि में श्री अरविन्द की इस धारणा में बोधिसत्त्व या मसीहा की अवधारणा समाहित लगती है। इससे गीता में वर्णित मुक्ति भी मेल खाती है, जहाँ जीवन मुक्त को लोक संग्रह के लिए काम करना है या जहाँ ईश्वर तक लोक कल्याण में उतर आता है।

अन्त में 'परिशिष्ट' जोड़ कर प्रो0 पाण्डेय ने पुस्तक के कलेवर में जान डाल दी है। वैसे तो पुस्तक श्री अरविन्द के समग्र योग से समापन को प्राप्त कर सकती थी, तो भी लेखक ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में दिये गये स्वामी करपात्री जी के 'धार्मिक स्वतन्त्रता का स्वरूप' विषयक संभाषण को टेप से संग्रहित करके, परिशिष्ट के रूप में लगाकर न केवल पुस्तक की गरिमा में श्रीवृद्धि की है, बल्कि सनातन जीवन विधा की दृष्टि से जितने ही आधुनिक एवं ज्वलन्त मुद्दों पर, मनुष्य के कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचार पर, व्यष्टि एवं समष्टि के दायित्व आदि पर एक महापुरुष के विचारों से अवगत करा कर सुधी पाठकों का कल्याण साधा है। इस प्रतीयमान अप्रासंगिक परिशिष्ट को प्रासंगिक बनाने के प्रच्छन्न प्रयास के पीछे शायद लेखक की रुचि स्वामी जी के माध्यम से योग के सरल एवं सहज अर्थ की प्रस्तुति है। स्वामी जी के अनुसार– 'कोई काम करो, विचार करके करो। धर्म एक प्रकार की रुकावट है– 'सहसा विदधीत न क्रियाम् अविवेकः परमापदांपदम्' । अतः नियंत्रित देह, मन, इन्द्रिय, अहंकार की चेष्टा ही धर्म है। मैं तो यह कहता हूँ कि नियन्त्रण ही सभ्यता है, जो जितना नियंत्रित है, वह उतना ही सभ्य है। उपासना के लिए जो भी आपको जँचे उसी का ध्यान रखिए– यदेव अभिमतं तदेव ध्यायेत्। योग क्या है? पानी बरस कर बह न जाय, इसीलिए हम बाँध बनाते हैं। इसी प्रकार मन की प्रवृत्ति, इन्द्रिय की प्रवृत्ति को बिखरने से रोकना ही योग है। श्वाँस को बिखरने से रोकने के लिए हम प्राणायाम करते हैं। इससे ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार हो सकता है, सारा विश्व ही परम मंगलमय हो जाता है।

इसी क्रम में स्वामी जी ने आज के विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के युग में धर्म की आवश्यकता या भूमिका पर भी विचार किया है– 'धर्म का विज्ञान से कहाँ विरोध है? विज्ञान क्या है?– यथार्थ

ज्ञान, अनुभूत ज्ञान, सुपरीक्षित ज्ञान ही तो विज्ञान है। विज्ञान का वास्तविक अर्थ है प्रमाण से, वैज्ञानिक साधनों से यथार्थता का ठीक–ठीक ज्ञान। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से हम आज अपने को शक्तिशाली बना रहे हैं, किन्तु हम कितने भी शक्तिशाली हों, यदि हमारा मस्तिष्क हमारे काबू में नहीं है तो ऐसी शक्तिशालिता किस काम की? अर्जुन का दृष्टान्त है। अर्जुन ने भयंकर से भयंकर परिस्थिति के आने पर भी, नारायण अस्त्र का प्रयोग होने पर भी पाशुपत अस्त्र का प्रयोग नहीं किया। ऐसा दृढ़ नियन्त्रण होना चाहिए।' विज्ञान तो अध्ययन की एक विधि है, करना तो सब मनुष्य को होता है। स्वामी जी का कहना है– 'व्यष्टि को अपने अभ्युदय हेतु सब कुछ करने की छूट है, किन्तु वह समष्टि के विपरीत न हो। व्यक्ति की उन्नति यदि समाज की उन्नति में बाधक नहीं है तो व्यक्ति को अपनी उन्नति की पूरी छूट है। व्यक्ति को कोई भी कार्य ऐसा नहीं करना चाहिए, जो समाज के विघटन में हेतु हो।' समष्टि का हित ही व्यष्टि का हित है। हमें सारी मानवता को ध्यान में रखना होगा। हम मानव के साथ–साथ प्राणी भी हैं। मानवता के साथ–साथ समस्त चेतनाचेतनात्मक समष्टि के साथ अपना तादात्म्य बनाना चाहिए। सब मिलाकर समष्टि हैं। समष्टि, व्यष्टि की उन्नति हेतु सब प्रकार की सुविधा देता है। खाली समष्टि–समष्टि चिल्लाने से काम नहीं चलेगा। प्रत्येक व्यक्ति को सोचना और तद्वत् व्यवहार करना होगा। अतः किसी के भी प्रति राग–द्वेष न रख कर 'अमृतस्य पुत्राः' की भावना के साथ सबके साथ समन्वयपूर्वक रहना चाहिए।

वस्तुतः योग आज के सभ्य समाज में बड़ी रुचि का विषय बनता जा रहा है। भारतीय मनीषियों की इस खोज का पूरे विश्व में बहुत ताम–झाम के साथ व्यापक प्रचार--प्रसार हो रहा है, किन्तु यह सही अर्थों में हो तो ठीक है। यहाँ प्राक्कथन में व्यक्त आचार्य विद्यानिवास मिश्र के कथन स्मरणीय हैं कि योग को निरा व्यायाम या स्वास्थ्यवर्धक उपाय के रूप में निर्यात करना भारत के लिए शोभन नहीं है। भारतीय प्रज्ञा का दायित्व है कि वह इसके समग्र अर्थ का प्रसार करे। प्रो. पाण्डेय इस दायित्व की पूर्ति में लगे हैं। योगमूर्ति स्वामी करपात्री जी के चरणों में बैठ कर उन्होंने इसकी जो व्यापक–व्यावहारिक शिक्षा पायी है उसके अनुसार 'मनुष्य का न केवल शारीरिक बल्कि आध्यात्मिक आधियों–व्याधियों को दूर कर पाने में समग्रयोग ही सक्षम है। प्रो. पाण्डेय ने योग परम्परा की कुछ शाखाओं को ही सही, उनके तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि में समग्रता के साथ प्रस्तुत करके सचमुच स्तुत्य कार्य किया है। आशा है, परम्परा आगे भी चलेगी।

❀❀❀

मैन एण्ड द यूनिवर्स*

इन द आर्थोडॉक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी

श्रीप्रकाश पाण्डेय

श्रुति, शील, कुल एवं कर्म की परीक्षा के बिना किसी व्यक्ति एवं उसकी कृति का मूल्यांकन अनाधिकार चेष्टा होगी। वेदान्त की परम्परा में शिक्षित, आचार्य कुल की शील परम्परा में दीक्षित एवं कुशल कर्म सिद्धान्त में प्रशिक्षित प्रो. रेवती रमण पाण्डेय की रचनाओं की यह प्रथम पुष्पिका है जिसमें समग्रतापूर्ण दृष्टि के आलोक में मनुष्य एवं विश्व के सम्बन्ध विवेचन में उनकी दृष्टि अद्वैत वेदान्तीय पुट से सम्पुट है। अपने कलेवर में गम्भीर समीक्षात्मक चिन्तन एवं महत्त्वपूर्ण जिज्ञासाओं के साथ 'आदि' तथा परस्परापेक्षापूर्वक सहअस्तित्व की आकांक्षा के साथ 'इति', पुस्तक की अपनी विशिष्टता है। अग्रसारण एवं प्राक्कथन के अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ कुल सात अध्यायों एवं इनके अन्तवर्ती कई उपाध्यायों में विभक्त है। अपने प्रस्फुट कलेवर में अपेक्षित विषय के स्थापन एवं सुसंगत विवेचन में यह ग्रन्थ पूर्णतः सफल है एतदर्थ हर वर्ग के जिज्ञासुओं के लिए उपादेय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अग्रसारण में अद्वैत वेदान्त के सुधी विद्वान् प्रो. आर.के. त्रिपाठी ने मनुष्य एव विश्व के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्थापन एवं उसका समाधान दोनों प्रस्तुत किया है। प्रश्न यह कि प्रकृतितः आध्यात्मिक होने के बावजूद मनुष्य प्रकृति में रूचि क्यों लेता है? और समाधान यह कि यद्यपि प्रकृति मनुष्य से स्वतन्त्र नहीं है किन्तु मनुष्य के विकास में प्रकृति की एक आध्यात्मिक भूमिका भी है। प्रकृति निःसन्देह स्वनियम से शासित है फिर भी कर्म नियम की आज्ञाकारिणी भी है। इस दृष्टि का अभाव महसूस करने के कारण ही लेखक का प्राक्कथन में मन्तव्य है कि यद्यपि भारतीय दर्शन में सृष्टि एवं आत्मा के बारे में विस्तृत विचार हुआ है किन्तु मनुष्य के स्वरूप एवं विश्व में उसकी स्थिति पर सम्भवतः विचार नहीं हुआ है। एतावतः जब हम इनके बीच सम्बन्धों पर विचार करते हैं तब भिन्नता के बावजूद हमें इन दोनों में जो महत्त्वपूर्ण समानता दिखायी देती है वह 'परिवर्तन' है। इस संसार में प्रत्येक चीजें परिवर्तित हो रही हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह विश्व स्वभावतः या किसी अन्य शक्ति के कारण परिवर्तित होता है? क्या यह परिवर्तन सोद्देश्य है या निरूद्देश्य? क्या इस परिवर्तन के पीछे कोई अपरिवर्तित भी है? यदि हाँ तो इस परिवर्तित एवं उस अपरिवर्तित में क्या सम्बन्ध है? ये दोनों मनुष्य के लक्ष्य में सहायक हैं या विरोधी? इन प्रश्नों के माध्यम से लेखक ने न केवल इस पुस्तक के वृहद् वर्ण्य विषय की ओर संकेत किया है अपितु यह अभिमत व्यक्त किया है मनुष्य एवं विश्व के बीच सम्बन्ध के विषय में सम्पूर्ण आस्तिक दर्शनों की चार दृष्टियाँ हैं –

1. मनुष्य प्राकृतिक नियमों से शासित है।
2. मनुष्य एवं प्रकृति दोनों का सम्बन्ध कर्म नियम से बँधा है।

---

*प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय की यह कृति जी.डी.के. पब्लिकेशन, दिल्ली से 1978 में प्रकाशित हुई थी।

दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

3. मनुष्य प्रकृति का स्वामी है, दास नहीं।
4. मनुष्य प्रकृति से अपने को केवल अलग ही नहीं करता अपितु एक महान सत्य का अन्वेषण कर उससे अपना तादात्म्य कर लेता है एवं प्रकृति को माया एवं अविद्या की रचना घोषित कर देता है।

इन्हीं प्रश्नों, उत्तरों एवं विकल्पों के साथ प्रो. पाण्डेय का अध्यायीकृत चिन्तन प्रारम्भ होता है। 'वेदों में प्रकृति मनुष्य एवं ईश्वर' विषयक प्रथम अध्याय 1. कारणता की समस्या, 2. जगत् की सृष्टि, एवं 3. भौतिक जगत् तथा मनुष्य एवं प्रकृति में सम्बन्ध इन तीन उपशीर्षकों से समन्वित है जो एक तरफ तो जगत् के मूल कारण की मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासा से शुरू होकर ऋत् एवं इसकी दो महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं – कारणता एवं नैतिकता के विवेचन में पर्यवसित होता है वहीं दूसरी तरफ यहाँ मानवीय बुद्धि द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का स्वर्ग (उर्ध्व) एवं नरक (अधः) इन दो क्षेत्रों में विभाजन कर क्रमशः प्रेय एवं हेय के रूप में विवेचन है। यहाँ वर्णित 'कस्मैदेवाय हविषा विधेम' की जिज्ञासा का पुरुष सूक्त में 'सहस्रशीर्षाः पुरुषः' तथा 'तदेकम्' द्वारा स्थापित अभिन्ननिमित्तोपादान रूप एक असीम तत्त्व का ससीम आत्मविस्तार के रूप में पहली बार शमन होता दिखायी देता है किन्तु साथ ही प्रकृति पूजा में मुखरित धार्मिक नैतिकता के विस्तार के साथ कुप्रभावों से बचने के लिए प्राकृतिक शक्तियों एवं एक ईश्वर में विश्वास भी दृढ़तर होता दिखायी देता है। अस्तु प्रो. पाण्डेय का मानना है कि यहाँ वेदों में बाह्य जगत् की वास्तविकता के साथ मनुष्य एवं प्रकृति के बीच गहरे सम्बन्ध की स्थापना तथा ऋत् के माध्यम से एक सामाजिक नैतिक व्यवस्था का संकेत है, सब कुछ नियमबद्ध है।

'उपनिषद् एवं परमसत् की अवधारणा' विषयक द्वितीय अध्याय 1. आदि कारण की अवधारणा, 2. जगत् की सृष्टि एवं 3. भौतिक जगत् तथा मनुष्य एवं प्रकृति में सम्बन्ध, इन तीन उपशीर्षकों के माध्यम से विवेचित है। प्रो. पाण्डेय की दृष्टि में वस्तुतः उपनिषदों में सुव्यवस्थित कारणता सिद्धान्त नहीं है किन्तु वहाँ यत्र तत्र अस्फुट संवादों में विविध कारणता सिद्धान्तों का विवेचन है। श्वेताश्वतर, छान्दोग्य, तैत्तिरीय आदि उपनिषदों में ब्रह्म की जगत् के कारण के रूप में चर्चा है, यथा – उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतम् विज्ञातं (छा.), यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ... (तैत्ति.) आदि। प्रो. पाण्डेय के अनुसार यद्यपि जगत् की रचना के सम्बन्ध में यहाँ चार सिद्धान्त हैं –

1. जल, अग्नि, वायु को मूलकारण रूप द्रव्य मानना (छा., कठ., वृह.)
2. सत् या असत् को कारण रूप मानना (वृह. छा., तैत्ति., नासदीय सूक्त)
3. आत्मन् से निःसरण का सिद्धान्त (तैत्ति.)
4. एक पुरुष रूप कारण से निःसरण का सिद्धान्त (प्रश्न.)

तथापि उपनिषदों का लक्ष्य सृष्टि विज्ञान की व्याख्या नहीं है अपितु परमसत् की खोज है। इसी कारण प्रारम्भ में मुक्ति का तात्पर्य दुःख से मुक्ति था जो बाद में कठोपनिषद् में श्रेय–प्रेय के विभाजन में परिवर्तित होते हुए अन्ततः आत्मज्ञान में पर्यवसित हुआ। अस्तु वेदों में जहाँ मनुष्य प्रकृति की कृपा पर निर्भर था, उपनिषदों में अपनी आत्म गरिमा के साथ प्रतिष्ठित हुआ।

'न्याय–वैशेषिक परमाणुवाद और जीवात्मन् की स्थिति' विषयक तृतीय अध्याय 1. कारणता का सिद्धान्त, 2. परमाणुवाद एवं सृष्टि प्रक्रिया, 3. भौतिक जगत् एवं मनुष्य से उसका सम्बन्ध, इन उपशीर्षकों में विभाजित है। लेखक की दृष्टि में अपनी उत्पत्ति में भिन्नता के बावजूद ये दोनों ही वस्तुवादी दर्शन भौतिक जगत् के स्वरूप एवं रचना में समानधर्मी हैं। वस्तुतः इनका सृष्टि सिद्धान्त जिस कारणता के नियम पर आधारित है उसके अनुसार तदितर वस्तु का कारण होने के लिए तीन चीजें आवश्यक हैं – 1. उसका निकट पूर्ववर्ती हो, 2. नियत हो एवं 3. अन्यथा सिद्ध न हो। इस दृष्टि से तीन प्रकार के कारण भी हैं – समवायी, असमवायी एवं निमित्त। प्रो. पाण्डेय ने बड़ी शालीनता से यह प्रश्न उठाया है कि क्या कारणता का तात्पर्य कार्य का आविर्भाव या आरम्भ है? और इस सन्दर्भ में न्याय–वैशेषिक के पक्ष 'असत्कार्यवाद' का निदर्शन भी किया है किन्तु वेदान्तीय पटुता से 'सत्कार्यवादियों' के उस आक्षेप को भी प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार यदि कार्य अपने कारण से सर्वथा भिन्न है तथा कारण के द्वारा कार्य एक नवीन उत्पत्ति है तब तो किसी वस्तु की उत्पत्ति तदितर किसी भी पदार्थ से हो सकती है। इतना ही नहीं प्रो. पाण्डेय ने सत्कार्यवादियों की भी वेदान्तीय दृष्टि से आलोचना करते हुए यह भी स्थापित किया है कि बौद्ध कारणतावाद न्याय वैशेषिक कारणतावाद का चरमोत्कर्ष है। इसीलिए शंकर ने बौद्धों को सर्ववैनाशिक एवं वैशिषिकों को अर्द्ध वैनाशिक कहा है। वस्तुतः कारणता के सन्दर्भ में प्रो. पाण्डेय का पूर्वाग्रह विवर्तवाद के साथ है जिसके व्यामोह से वह निकलना नहीं चाहते, ऐसा लगता है।

न्याय–वैशेषिक तत्त्वमीमांसा में यद्यपि सृष्ट्यर्थ विविध पदार्थों की संयुक्त स्वीकृति के बावजूद यह सर्वमान्य है कि न्याय दर्शन में जहाँ प्रमाण विवेचन को प्रधानता दी गयी है वहाँ वैशेषिक में प्रमेय विवेचन को। यहाँ प्रो. पाण्डेय ने प्रशस्तपाद का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वस्तुतः वैशेषिक के पदार्थ विवेचन में जिन तत्त्वों को अन्तर्भूत कर विश्लेषित किया गया है उनकी विशेषता अभिधेयत्व एवं ज्ञेयत्व में है। यह विश्व असंख्य स्वतन्त्र परमाणुओं से सृजित है। प्रो. पाण्डेय ने वैशेषिक सम्मत सप्त पदार्थों जिनमें द्रव्य को सर्वाधिक महत्त्व दिया है (सर्वाश्रय होने के कारण) की परिभाषा में उल्लिखित गुण एवं क्रिया तथा समवायी कारण की समीक्षा करते हुए स्वयं वैशेषिक सम्मत 'उत्पन्न द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियं च तिष्ठति' को उदधृत करते हुए परिभाषित सिद्धान्त का अन्तर्विरोध प्रदर्शित किया है। ये द्रव्य के तृतीय लक्षण समवायी कारण को अपेक्षाकृत अधिक संगत मानते हैं किन्तु आलोचना भी करते हैं कि विनाश के क्षण से अव्यवहित पूर्व क्षण में द्रव्य समवायी कारण भी नहीं हो सकता क्योंकि उसके परवर्ती क्षण में द्रव्य के विनष्ट हो जाने से कोई कार्य उत्पन्न ही नहीं हो सकता।

वस्तुतः न्याय–वैशेषिक दर्शन में जिन नित्य, अविभाज्य परमाणुओं के संयोग से सृष्टि हुई है वे इन्द्रिय संवेद्य किन्तु अनुमानगम्य हैं। प्रो. पाण्डेय ने इन परमाणुओं में गति की स्वोत्पन्नता या आकस्मिकता का प्रश्नोत्थापन एवं समाधान हेतु चेतन की अपेक्षा कर परोक्ष रूप से वेदान्त का पक्ष लिया है क्योंकि चूँकि जीवात्मा अज्ञानादि से युक्त है अतः परमेश्वर अपनी इच्छा से स्थिर परमाणुओं में गति की प्रेरणा करते हैं। किन्तु यह प्रेरणा क्यों होती है? वैशेषिक के अनुसार जीवों को उनके अदृष्ट के अनुसार सुख–दुःखादि के निरन्तर उपभोग से विश्रान्ति देने के लिए होती है

जिसमें जीवों के अदृष्ट अपने कर्म से विरत हो जाते हैं। यहाँ सृष्टि एवं प्रलय का चक्र अनादि काल से चला आ रहा है। इस प्रक्रिया में जीवात्मा पूर्वकृत अपने कर्मफल के आधार पर अपेक्षित वातावरण प्राप्त करती है। चूँकि नैतिक एवं अनैतिक वृत्तियाँ तथा मानवीय क्रियाएँ अत्यन्त जटिल होती हैं अतएव इनसे सम्पन्न संसार का कारण ईश्वर को ही मानना पड़ता है।

निःसन्देह वस्तुवादी न्याय–वैशेषिक दर्शन परमाणुवाद की अनुशंसा करते हैं किन्तु इनके परमाणु केवल भौतिक या मानसिक नहीं हैं क्योंकि ये जगत् के नैतिक स्वरूप का निषेध नहीं करते। यहाँ जीवात्मा एवं उसकी नियति कर्म नियम से बँधी है परन्तु प्रो. पाण्डेय का मानना है कि यहाँ जीवात्माओं का भाग्य संतोषजनक नहीं है। क्योंकि मोक्षावस्था में अन्ततः वे शिलावत् हो जाती हैं। तब परमात्मा की स्थिति भी स्रष्टा नहीं शिल्पकार की हो जाती है। यहाँ चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण है। अतः इसका स्वरूप आध्यात्मिक नहीं है। इस दृष्टि से इसका वह स्वरूप जो गुणात्मक दृष्टि से भिन्न है उसका उद्‌घाटन नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में उसका लक्ष्य क्या है? आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति जो तत्त्वज्ञान पूर्वक प्रलय से सम्भव है? यही निःश्रेयस या अपवर्ग है? तब तो यह शान्ति एवं आनन्द की नहीं अपितु अनानुभव की स्थिति है जो किसी वस्तुवादी दर्शन के लिए व्यवहार्य नहीं है।

'सांख्य दर्शन में जगत् का विकास' विषयक चतुर्थ अध्याय तीन उपखण्डों अ ब तथा स में विभक्त है, जिसमें जगत् का व्यवस्थित विवरण, परिवर्तन एवं अपरिवर्तन रूप दो नित्य सिद्धान्त, विकासवाद, सत्कार्यवाद, प्रकृति एवं इसका विकास, मनुष्य का स्वातन्त्र्य हेतु प्रकृति से संघर्ष तथा मानव नियति का स्वरूप आदि विषयों पर विस्तृत विवेचन है। यहाँ प्रो. पाण्डेय ने 'परिवर्तन' के माध्यम से विषयोत्थापन करते हुए कहा है कि परिवर्तन ने मनुष्य को न केवल कालबोध कराया है अपितु दैनिक जीवन की विविध वस्तुओं एवं परिस्थितियों के प्रति उसे सचेतन भी किया है और यह जिज्ञासा उत्पन्न किया है कि क्या कोई ऐसी वस्तु भी है जो अपरिवर्तित है? वस्तुतः जब इस परिवर्तनशील जगत् में कोई स्थायी तत्त्व नहीं मिलता तब मनुष्य इस परिवर्तन के साथ किसी बाहरी तत्त्व के सहअस्तित्व को स्वीकार कर लेता है। ऐसा ही किया है सांख्य दर्शन ने, नित्य चेतन पुरुष एवं अचेतन प्रकृति को स्वीकार कर। प्रो. पाण्डेय की दृष्टि में प्राचीन भारतीय दार्शनिक चिन्तन में यहाँ पहली बार सूक्ष्म से स्थूल तक के वैश्विक विकास की वैचारिकी में मनुष्य के स्वरूप, आनुभविक जगत् से उसके सम्बन्ध तथा उसकी नियति की व्याख्या मिलती है किन्तु विडम्बना यह है कि इस द्वैतवादी दर्शन में त्रिगुणात्मिका प्रकृति जो जड़ एवं अनादि है उसकी दो स्थितियों – अव्यक्त (साम्यावस्था) एवं व्यक्त (वैषम्यावस्था) अर्थात् अव्यक्त जो देशकाल निरपेक्ष था उसका देश एवं काल में व्यक्त रूप या उसके सूक्ष्म से स्थूल की ओर विकास में हमें कहीं भी चैतन्य तत्त्व विकसित नहीं मिलता। इसीलिए सांख्य–योग दर्शन एक अपरिवर्तनीय स्वतन्त्र, शुद्ध चैतन्य, नित्य, तत्त्व पुरुष को स्वीकार करता है। यहाँ यद्यपि प्रकृति भी नित्य एवं स्वतन्त्र सत्ता है किन्तु मनुष्य के उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति की अपेक्षा में इसे निम्न स्तर प्राप्त है। यहाँ दुःखत्रय से आत्यन्तिक निवृत्ति की अनुभूति (आनन्द) मानव नियति की पूर्णता है। अस्तु यहाँ विकास इस रूप में सोद्देश्य है कि प्रथम यहाँ आत्माओं को अपनी नियति के अनुसार कार्य करना है दूसरा यह कि इसमें रहते हुए अपने लक्ष्य

मुक्ति की अनुभूति करना है। यही वह लक्ष्य है जिसके लिए प्रकृति साधन है साध्य नहीं। यही कारण है कि सांख्य–योग दर्शन में इस लक्ष्य की अनुभूति (प्राप्ति) हेतु विस्तृत विचार एवं व्यावहारिक पद्धति की व्याख्या मिलती है जो इसे किंचित् वस्तुवादी बना देती है। इसलिए प्रो. पाण्डेय के विचार से इस प्रकृति को जीतने या इसके सम्मोहन की पकड़ से निकलने का एक ही मार्ग है – प्रकृति के चौबीस तत्त्वों के वाह्य परिवर्तन एवं एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व के रूप में रूपान्तरण का ही नहीं अपितु उनके आन्तरिक एवं अभिव्यक्त रूप का भी साक्षात्कार।

वस्तुतः सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद उसकी वह दार्शनिक भित्ति है जिसके अनुसार स्वोत्पत्ति पूर्व कारण में कार्य की सत्ता विद्यमान रहती है क्योंकि अविद्यमान वस्तु कथमपि उत्पन्न नहीं हो सकती (नावस्तुनो वस्तु सिद्धि)। यहाँ प्रो. पाण्डेय ने सांख्य के साथ वैज्ञानिक सिद्धान्त 'शक्ति के संरक्षण एवं रूपान्तरण के नियम की तुलना करते हुए प्रकृति के गुणों के सम्बन्ध में बी. एन.सील को उद्धृत करते हुए लिखा है कि गुण न तो उत्पन्न किये जा सकते हैं न नष्ट क्योंकि ये सदैव बराबर रहते हैं। विकास विनाश एवं स्थिति का परिवर्तन है, शक्य से अशक्य या सम्भावना से असम्भावना का या इनके विपरीत क्रम का भी। इस क्रम में प्रो. पाण्डेय ने एम. हिरियन्ना समर्थित प्रयोजन मूलक विकास एवं उसके विरूद्ध प्रो. सूर्यनारायण शास्त्री के विचार की भी चर्चा किया है साथ ही जैविक विकास एवं सांख्यकृत तत्त्वमीमांसीय विकास के अन्तर से सम्बन्धित टी.एम.पी. महादेवन के तर्कों के साथ अपनी सहमति भी जताई है।

सांख्य दर्शन में मनुष्य को जहाँ जीव (अहंकार युक्त पुरुष) एवं आत्मन् दोनों कहा गया है वहीं पुरुष की विशेषता के सन्दर्भ में उसे कभी शुद्ध चैतन्य तो कभी जीवात्मन् (भोक्ता) भी कहा गया है। प्रो. पाण्डेय की टिप्पणी है कि यदि यहाँ भोग का तात्पर्य निर्विषयक अनुभव है, शुद्ध विषयिता है तब तो यह अर्थ अद्वैत वेदान्त के पक्ष में होगा। वस्तुतः 'मनुष्य ससीम असीम है', यह उपनिषदीय अन्वेषण सांख्य दर्शन में कभी पुरुष के ससीम तथा कभी उसके असीम रूप में व्याख्यायित है। शायद यही कारण है कि यहाँ मनुष्य वह आत्मा है जो प्रकृति से सम्बद्ध है किन्तु उसमें प्रकृति एवं पुरुष दोनों का सह–अस्तित्व है। सांख्य इस तथ्य की बौद्धिक व्याख्या करता है कि जीवन में ये दोनों सह–अस्तित्व युक्त सिद्धान्त कैसे कार्य करते हैं। इस प्रयास में वह पुरुष को भोक्ता तो मान लेता है किन्तु यह भूल जाता है कि मनुष्य को जो कुछ मिला है स्वभावतः वह उससे असन्तुष्ट रहता है, कुछ और चाहता है। अन्ततः ऐसी स्थिति आती है जहाँ उसकी संतृप्ति यद्यपि विराम तो लेती है किन्तु वह उससे भी निकलना चाहता है किंवा सुख नहीं आनन्द चाहता है। योगानुशासन में हमें इसी की प्राप्ति की विधि मिलती है। जब उसे व्यक्ताव्यक्त प्रकृति का ज्ञान हो जाता है तब वह मुक्त होकर अपनी आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त कर लेता है। प्रो. पाण्डेय ने इस अध्याय का समापन इस विवेचन के साथ किया है कि मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करने वाली सबसे महत्वपूर्ण वस्तु आन्तरिक जीवन की चित्तवृत्ति है, इसीलिए योग इसके निरोधपूर्वक अन्तर्मुखी होने एवं ध्यानपूर्वक विवेकख्याति प्राप्त करने का एवं मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त करता है, यह अनुभूति ही मानव की नियति है। यहाँ उन्हें सांख्य दर्शन की सैद्धान्तिक एवं योग की व्यावहारिक परिणति वेदान्त में होती दिखती है जो उनके वेदान्ती होने के नाते स्वाभाविक है।

'पूर्वमीमांसा में धर्म, स्वर्ग एवं मानव-उत्तरदायित्व' विषयक पंचम अध्याय 1. जगत् एवं उसके घटक, 2. भौतिक जगत् की स्थिति, 3. मनुष्य एवं प्रकृति से इसका सम्बन्ध इन उपशीर्षकों के माध्यम से व्याख्यायित है। जगत् के सम्बन्ध में यद्यपि सूत्रकार जैमिनी एवं भाष्यकार शाबर ने कुछ भी नहीं लिखा है कितु इनके परवर्ती आचार्यों मुख्यतः प्रभाकर एवं कुमारिल ने जो विश्लेषण किया है उसके आधार पर इनके विचार वस्तुवादी एवं बहुलवादी तो हैं किन्तु कारणता की व्याख्या के प्रसंग में जहाँ प्रभाकर न्याय वैशेषिक की तरह आरम्भवादी (असत्कार्यवादी) हैं वहाँ कुमारिल सांख्य-योग की तरह सत्कार्यवादी हैं। जगत् की उत्पत्ति, आदि और अन्त के बारे में प्रभाकर का मत है कि यद्यपि जगत् जिन विभिन्न अवयवों से बना है उस रूप में इसका आदि और अन्त तो अवश्य होना चाहिए तथापि इस विश्वास का कोई आधार नहीं है कि किसी काल विशेष में इसकी उत्पत्ति एवं विनाश होता है। इतना ही नहीं इस सन्दर्भ में किसी बाह्य सत्ता की स्वीकृति भी निराधार है। कुमारिल के अनुसार यह जगत् हमेशा गतिशील, नित्य, सत्य एवं यथार्थ है। ऐसा कभी नहीं था न होगा जब यह नहीं था या नहीं रहेगा। यह अनादि एवं अनन्त है।

मीमांसा दर्शन में पदार्थों के सम्बन्ध में जहाँ शाबर ने मात्र चार (द्रव्य, गुण, कर्म एवं अवयव) की ओर संकेत किया है वहीं प्रभाकर ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति एवं सादृश्य तथा कुमारिल ने भाव (द्रव्य, गुण, कर्म एवं सामान्य) तथा अभाव (प्रागभाव, प्रध्वंशाभाव अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव) को स्पष्टतः उल्लिखित किया है। मीमांसा की द्रव्य की अवधारणा न्याय वैशेषिक सदृश ही है। चूँकि यह जगत् कुछ नित्य द्रव्यों के संयोग से बना है अतः इसमें वस्तुएँ ही परिवर्तित एवं विनष्ट होती हैं, अपनी सम्पूर्णता में जगत् यथावत् रहता है। इसलिए यहाँ किसी सृष्टिकर्त्ता की अपेक्षा नहीं है। यहाँ तक कि जीवात्माओं के कर्माकर्म के निर्देशक एवं फलदाता के रूप में किसी नैतिक कर्त्ता की भी नहीं। निःसन्देह यह जगत् एक नैतिक नियम से शासित है, किन्तु शासक ईश्वर नहीं है बल्कि वेदवचन हैं जो निर्वैयक्तिक एवं नित्य हैं। प्रो. पाण्डेय बड़ी शालीनता से कहते हैं कि मीमांसक एक तरफ तो भौतिक जगत् की पूर्ण तस्वीर के लिए नित्य द्रव्यों को स्वीकार करते हैं दूसरी तरफ मानवीय नैतिक मूल्य के लिए नित्यशब्द (वेदवचन)को स्वीकार करते हैं। अतः जगत् की नैतिक व्यवस्था हेतु सिद्धान्ततः शासन को तो मानते हैं किन्तु नैतिक शासक को नहीं।

मीमांसा में आत्मा कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता एवं सर्वव्यापक (विभु) जड़ किन्तु बोधात्मक (मधुसूदन सरस्वती) चैतन्य गुण का आधार, एवं स्वयं प्रकाश रूप है। चूँकि धर्माधर्म की भिन्नता के कारण यह अनेक है एतदर्थ यहाँ सुख-दुःखादि गुण पूर्णतः वैयक्तिक हैं। इस आत्मा के धर्माधर्म के ज्ञान में वेद प्रमाण हैं। यहाँ प्रो. पाण्डेय ने एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही है कि जब वेदार्थ एवं व्यवहार दोनों के लिए अन्ततः मनुष्य, जिन्हें माना जाता है कि वही अधिकारी एवं प्रमाण हैं, पर ही व्यक्ति एवं समाज को निर्भर रहना है तब तो समाज में स्वभावतः इनका ही वैशिष्ट्य रहेगा जो एक प्रकार से ऐसी बौद्धिक अभिजात्य तन्त्रात्मक व्यवस्था होगी जिसमें अशिक्षित लोगों का ऐसे लोगों द्वारा भावनात्मक शोषण किया जायेगा। धर्मान्धता के रूप में ऐसे अपभ्रंशन का इतिहास साक्षी है। यज्ञ एवं कर्म फल के बीच सम्बन्ध स्थापन हेतु मीमांसक जिस अपूर्व

(अर्थापत्तिसिद्ध) की अवधारणा का प्रतिपादन करते हैं उसके बारे में भी कुमारिल (कर्त्ता की योग्यता) एवं प्रभाकर (कर्म में स्थिति एक तत्त्व) में भिन्नता है। मोक्ष के सन्दर्भ में जैमिनी एवं शाबर जो केवल धर्म एवं तत्प्राप्तव्य अपवर्ग (स्वर्ग) जो आत्मावस्थिति की अवस्था है को मानते हैं से भिन्न परवर्ती मीमांसक मोक्ष को परमपुरुषार्थ मानते हैं। यहाँ ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। मनुष्य सर्वोच्च है। क्योंकि यही मात्र यज्ञ कर सकता है, वैदिक ऋचाओं के अर्थों को जान सकता है, आचरण कर सकता है, संसार को नैतिक व्यवस्था दे सकता है, सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। हाँ यह मनुष्य भौतिक जगत् का अतिक्रमण कर सकता है किन्तु नैतिक जगत् का नहीं क्योंकि वह स्वयं इस जगत् का एक भाग है। चूँकि भौतिक जगत् का सम्बन्ध तथ्य से है एवं नैतिक जगत् का सम्बन्ध मूल्य से है इसलिए मानव जीवन में इस 'तथ्य' एवं 'मूल्य' का द्वन्द्व सदैव चलता रहता है। पर क्यों? क्या द्वन्द्वात्मकता ही जीवन का 'अथ' एवं 'इति' है? यह प्रश्न मीमांसा दर्शन में अनुत्तरित है।

'वेदान्त में प्रकृति मनुष्य एवं 'सत्' विषयक षष्ठ अध्याय चार खण्डों (अ, ब, स, द) में विभक्त है, जिसमें प्रथम दो खण्ड अ एवं ब क्रमशः तीन तीन उपशीर्षकों – 1. गौड़पाद का आरम्भिक अद्वैत वेदान्त, 2. माया के रूप में जगत्, 3. जीवात्मन् एवं सत् तथा 1. शंकर का अद्वैतवेदान्त, 2. जगत् की स्थिति, 3. अद्वैतवेदान्त में मनुष्य की अनन्य स्थिति; स– पाँच उपशीर्षकों – 1. रामानुज का विशिष्टाद्वैत, 2. सोपाधिक ब्रह्म, 3. जगत् की सृष्टि, 4. जगत् की स्थिति एवं 5. मनुष्य का जगत् से सम्बन्ध तथा द– सेश्वर वेदान्त के अन्य सम्प्रदाय में विभक्त हैं। उपनिषदीय शिक्षाओं का सूत्रीकृत रूप 'ब्रह्मसूत्र' जो सभी वेदान्त सम्प्रदायों के लिए समानतः वर्ण्य है के अतिरिक्त गौडपाद कृत माण्डूक्यकारिका जिसमें कारणता का खण्डन एवं अजातिवाद की स्थापना तथा जगत् की मायिकता पर विस्तृत विवेचन है, प्रो. पाण्डेय की दृष्टि में अद्वैत वेदान्त का व्याकरण है। सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, सर्वास्तिवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, शून्यवाद एवं योगाचार विज्ञानवाद आदि की समीक्षा के साथ यहाँ सृष्टि का निषेध करते हुए इसे माया मात्र, मिथ्या, वैतथ्य, विपर्यय, संवृत्ति एवं आभास आदि कहा गया है। माया के कारण ही यह जगत् नाम, रूप एवं क्रिया में विभक्त है। यहाँ 'जीवात्मनोरनन्यत्वम्' तथा 'अयमात्माब्रह्म' आदि का स्थापन करते हुए आत्मा को अजन्मा, नित्य, असीम एवं स्वयंप्रकाश माना गया है। जीव एवं आत्मा के सम्बन्ध के विषय में 'घटाकाश' एवं 'महाकाश' का उदाहरण देते हुए जीव के सन्दर्भ में गौडपाद विविध कोषों के साथ इसकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय अवस्थाओं का भी विवेचन करते हैं। प्रो. पाण्डेय की दृष्टि में यहाँ विवेचित विश्व, तैजस् एवं प्राज्ञ वस्तुतः एक ही चेतना की विविध अवस्थाएँ हैं। अन्ततः जो तुरीय आत्मन् है वह नित्य, प्रकाश स्वरूप है। अतः यहाँ मनुष्य का जीवन जगत् में प्रकृति के विविध आभासों को मिथ्या तथा वास्तविक तत्त्व ब्रह्म को सत् समझने की चुनौती के रूप में व्याख्यायित है।

प्रो. पाण्डेय की दृष्टि में अद्वैत वेदान्त प्रतिपादित 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैवनाऽपरः' की तार्किक एवं आनुभूतिक परीक्षा इस प्रत्यक्षगम्य जगत् की अवास्तविकता (अध्यासरूपता) सिद्ध किये बिना नहीं हो सकती। एतदर्थ ही शंकर युष्मद्–अस्मद् प्रत्यय के विवेचन एवं इस नैसर्गिक

लोकव्यवहार रूप अध्यास तथा इसके विविध रूपों की परीक्षा तथा अन्ततः इसके मिथ्यात्व की सिद्धि करते हैं। इस विवेचन में प्रो. पाण्डेय प्रो. मूर्ति के इस कथन से सहमत दीखते हैं कि वस्तुतः अज्ञान विषयक जिज्ञासा अनुभव की प्रातिभ शर्तों की खोज है। इस आलोक में शांकर वेदान्त में माया की दार्शनिक अवधारणा जगत् की व्याख्या के एक ऐसे आधारभूत तत्त्व के रूप में की गयी है जो न सत् है न असत् एतदर्थ अनिर्वचनीय है। इसके अध्यास रूप के विवेचन में प्रयुक्त रज्जू–सर्प के सम्बन्ध की पहेली विश्व की पहेली है। रस्सी सर्प के रूप में क्यों प्रतीत होती है, यह प्रश्न जब कोई बच्चा पूछता है तब बड़े से बड़े दार्शनिक उसके समाधान में 'अनुत्तीर्ण' हो जाते हैं। यहाँ प्रो. पाण्डेय ने 'रज्जूसर्प' विषयक भ्रम की समीक्षा करते हुए शंकर की उस दृष्टि की स्थापना किया है जिसके अनुसार भ्रम सत्य एवं असत्य का मिथुनीकरण है, असत् का सत् के साथ तादात्म्य है, अवास्तविक का वास्तविक पर अध्यारोप है; और स्पष्ट किया है कि यहाँ भ्रम एक अलग कोटि है (अनिर्वचनीय) क्योंकि भ्रमगत सर्प न सत् है न असत्। पर क्यों? प्रो. मूर्ति का मानना है, जिससे प्रो. पाण्डेय भी सहमत हैं कि वस्तुतः दर्पण में प्रतिबिम्बित वस्तु का अपना रूप, रंग, आकार, प्रकार नहीं होता, ये सब उस वस्तु के होते हैं जो प्रतिबिम्बित होती है। अतः रज्जू में प्रतिबिम्बित भ्रमात्मक सर्प न तो उद्देश्य हो सकता है न विधेय, कारण कि इसका स्वरूप किसी सत्तात्मक वस्तु जैसा नहीं है इसीलिए यह अनिर्वचनीय भी है। राधाकृष्णन् के लिए तो यह समस्या तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक है तत्त्वमीमांसीय है ही नहीं किन्तु प्रो. पाण्डेय के लिए है। इनके अनुसार शंकर ब्रह्म एवं जगत् का पूर्ण एकत्व नहीं मानते, 'अनन्यत्व' का तात्पर्य तादात्म्य नहीं भिन्नत्व का निषेध मानते हैं। इसीलिए यहाँ भ्रम का निराकरण तो किया जा सकता है, निषेध नहीं, वह भी किसी, सत् की प्रतिष्ठा पर। इसी आधार पर शंकर शून्यवाद की आलोचना भी करते हैं। इतना ही नहीं प्रो. पाण्डेय कारणता की कोटि को भी शंकर के ब्रह्म प२ लागू नहीं मानते, इसे भौतिक जगत् के साथ सम्बद्ध मानते हैं क्योंकि इसका सम्बन्ध जिस कारण–कार्य से है वह आनुभविक कोटि है और ब्रह्म आनुभविक कोटि से परे अपरोक्षानुभूति का विषय है। वस्तुतः शंकर जगत् की सत्ता का निषेध नहीं करते अपितु जगत् के सन्दर्भ में द्वैत दृष्टि का निषेध करते हैं और यह कहते हैं कि ब्रह्मकारणता की यह समस्या तो तब आती है जब हम कार्य–कारण की दृष्टि से इस तत्त्वमीमांसीय सत्ता को देखते हैं। माया का सिद्धान्त सापेक्षिक दृष्टि से जगत् की सत्यता मानता है। जब भौतिक जगत् को मिथ्या कहा जाता है तब दृष्टि पारमार्थिक होती है। जगतः इस रूप में भ्रम नहीं है कि इसकी सत्ता ही नहीं है अपितु इस रूप में है कि सभी नाम, रूप, क्रिया, फल आदि आनुभविक मात्र हैं। इसीलिए प्रो. पाण्डेय का मानना है कि यहाँ जगत् मिथ्या है का तात्पर्य सत्य का विरोधी नहीं है अपितु यह है कि सत्य को जानने के लिए आनुभविक जगत् के सत्य के परम्परागत अर्थ से अलग होना पड़ेगा क्योंकि यह अनिर्वचनीय स्थिति है। इसी तरह ब्रह्म जगत् का निमित्तोपादान कारण है का तात्पर्य वैसा कारण नहीं है जैसा कुम्हार बर्तन का क्योंकि ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान नहीं है। इस दृष्टि से सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म का कठोर पार्थक्य भी सही नहीं है।

शांकर वेदान्त में मनुष्य की आनुभविक आत्मा जीवात्मा है। यह कर्त्ता–भोक्ता, धर्माधर्मरूप साधन वाला, सुखदुःखादि वाला सीमित शक्ति एवं सीमित ज्ञान वाला है किन्तु अपने मूल स्वरूप में आत्मा है। अज्ञान के कारण यह अपने को शरीरीन्द्रियादि गुणों से उपहित मान लेता है। शंकर

कहते हैं कि वास्तविक आत्मा आनन्दमयादि कोषों से भी परे है। इसका मूल स्वरूप आनन्द है। अस्तु अज्ञान निवृत्ति पूर्वक ज्ञान की प्राप्ति ही मोक्ष है, यह ब्रह्म भाव की स्थिति है, 'प्राप्तस्य प्राप्तिः' है। 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि वाक्यों से यह सिद्ध है।

इस प्रकार शांकर वेदान्त में मनुष्य का अपना वैशिष्ट्य है। उसे बाह्य प्रातीतिक जगत् एवं आभ्यन्तर प्राकृतिक जगत् दोनों से जूझना है। आन्तरिक जगत् बाह्य की अपेक्षा अधिक संश्लिष्ट है। यह वह जगत् है जो मनुष्य को अपने स्वरूप को जानने के लिए प्रेरित करता है। इसी कारण वह इस जगत् में मनुष्य होने का अर्थ ढूँढता है और पाता है कि मनुष्य प्रकृति में शरीरधारी आत्मा है, इस तथ्य को तभी स्वीकार किया जा सकता है जब उसकी जागतिक सत्ता को स्वीकार किया जाय। वस्तुतः मनुष्य व्यावहारिक एवं पारमार्थिक के बीच सेतु है। प्रो. पाण्डेय की दृष्टि में प्रकृति, मनुष्य एवं जगत् के स्वरूप के विषय में जब अद्वैत वेदान्त, तर्क एवं श्रुति का प्रयोग करता है तब वह इसी तथ्य को प्रकाशित करना चाहता है।

वस्तुतः अद्वैत वेदान्त के ज्ञानमार्गी शुष्क तर्क का मानवीय जिज्ञासा की पूर्ति में किंचित् योगदान अवश्य है किन्तु मनुष्य बौद्धिकता की अपेक्षा भावनात्मकता के अधिक निकट है। इस दृष्टि से रामानुज के विशिष्टाद्वैत दर्शन में जहाँ व्यक्ति की स्वाभाविक भावात्मक माँग को मूल्य प्रदान किया गया है वहाँ सृष्टिकर्त्ता सगुण ईश्वर के साथ वेदान्त में धर्म का भी प्रवेश हुआ है। यह वह दर्शन है जहाँ ईश्वर के साथ मंनुष्य एवं जगत् को भी महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। यहाँ सृष्टि सत्य है, सृष्टिकर्त्ता कारणब्रह्म एवं सृष्टि कार्यब्रह्म है। यह जगत् उस सर्जक पालक एवं संहारक, चिद्चिद्विशिष्ट पुरूषोत्तम ब्रह्म (विष्णु) की लीला का विलास है जो भक्ति एवं प्रपत्ति से प्राप्य हैं। सम्पूर्ण जगत् ईश्वर की शरीर एवं ईश्वर उसकी आत्मा है। ब्रह्म एवं जगत् में समानाधिकरण सम्बन्ध है। ईश्वर में विरोधी गुण अपृथक सिद्ध हैं। आधार–आधेय नियन्ता–नियम्य शेषि–शेष शरीर–शरीरी, अलग नहीं हैं। अतः यहाँ प्रकृति अक्षर, अविद्या, माया, त्रिगुणात्मिका एवं नित्य है। जगत् सूक्ष्म से स्थूल रूप की अभिव्यक्ति है एवं प्रलय स्थूल का सूक्ष्म में विलय है। सृष्टि एवं प्रलय का यह चक्र अनादि है। अस्तु यहाँ सब कुछ सत्य है, कुछ भी मिथ्या नहीं है। जहाँ तक जीव का प्रश्न है यह ब्रह्म की ही तरह है, फिर भी वह उससे भिन्न है क्योंकि यह उपासक है एवं ब्रह्म उपास्य। यह जन्म मृत्यु से परे कर्त्ता–भोक्ता है। चूँकि यहाँ जीवों को कर्म स्वातन्त्र्य है एतदर्थ ये बन्धन एवं मोक्ष हेतु स्वयं उत्तरदायी हैं। प्रो. पाण्डेय इस दर्शन का योगदान इस रूप में मानते हैं कि इसने परमसत् की अनुभूति के लिए प्रेम का मार्ग प्रशस्त किया है और कहा है कि ईश्वर के प्रति प्रेम की अनुभूति मानव मात्र में प्रेम से होगी। आज विश्व में इसका अभाव है अन्यथा किसी प्रकार का झगड़ा नहीं होता। प्रेम वह शक्ति है जो मनुष्य से मनुष्य एवं ईश्वर को बाँधती है। अतः वैष्णव वेदान्त मानव जीवन के लिए मोक्ष विषयक एक व्यावहारिक मार्ग प्रशस्त करता है।

प्रो. पाण्डेय की दृष्टि में अन्य सेश्वर वेदान्तियों के अनुसार मनुष्य एवं जगत् के बीच सम्बन्ध इस रूप में है कि प्रकृति मनुष्य की सहायिका है। आत्मशुद्धि में प्रकृति एवं मनुष्य दोनों एक सत्ता के दो विविध पक्ष हैं। यद्यपि मनुष्य का अंतिम लक्ष्य कृष्ण या विष्णु की प्राप्ति है किन्तु

सामाजिक प्राणी होने के नाते उसकी नैतिक जिम्मेदारी भी अधिक है, ऐसी अनुभूति सेश्वर वेदान्त की अपेक्षा है। इसी कारण यह मैत्री भाव की आकांक्षा के साथ प्रेम एवं नैतिकता का सामाजिक संदेश देते हुए दिव्य विष्णु पद की प्राप्ति में विराम लेता है।

इस ग्रन्थ का सप्तम अध्याय उपसंहार है, जिसमें प्रो. पाण्डेय की सूक्ष्म समीक्षात्मक एवं विकल्पात्मक दृष्टि का समग्रीकृत प्रस्फुटन हुआ है। इनके अनुसार भारतीय दर्शन में यद्यपि प्रकृति या जगत् की उत्पत्ति तथा इनके स्वरूप का विश्लेषण तो अवश्य मिलता है, यह भी कि मनुष्य इस जगत् से सम्बन्धित है तथा प्रकृति एवं मनुष्य का सह अस्तित्व है फिर भी इन दोनों का परस्पर क्या सम्बन्ध है जिसके आलोक में मानव जीवन की दिशा, उसका लक्ष्य एवं तत्प्राप्ति के लिए पथ प्रदर्शन किया जा सके, का स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। कदाचित् सूचनाएँ हैं। प्रो. पाण्डेय के अनुसार सबसे यह अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। इसीलिए अद्वैत वेदान्त में अधिकारी का विवेचन किया गया है। प्रो. पाण्डेय की दृष्टि में निश्चित रूप से प्रकृति एवं मनुष्य एक ही ब्रह्माण्ड की दो सह–अस्तित्वमयी सत्ताएँ हैं फिर भी इन दोनों का सम्बन्ध ढूँढ़ा जाना चाहिए किन्तु वैसे नहीं जैसे पाश्चात्य जगत् में है (सर्वथा विरोधी)। उपनिषद् भी यद्यपि इनकी भिन्नता का निषेध नहीं करते तथापि मूलतः इनके एकत्व पर जोर देते हैं। स्वयं मनुष्य में चित् एवं अचित् का विरोध है किन्तु जब मान लिया जाता है कि ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं तब सारा विरोध सहयोग की आवश्यक शर्त बन जाता है। तब हम जितना अधिक प्रकृति को जानते हैं उतना ही अच्छा मनुष्य को तथा जितना अधिक मनुष्य को उतना ही अच्छा प्रकृति को जानते हैं। इस भाव की सिद्धि इस तथ्य से भी होती है कि सृष्टि सम्बन्धी विविध सिद्धान्तों में (कुछ अपवादों को छोड़कर) जहाँ प्रकृति के क्रमिक विकास रूप अभिव्यक्ति का सूक्ष्म विवेचन है वहीं उपनिषदों में मनुष्य के विकास के सम्बन्ध में भी भौतिक से प्राण, प्राण से मन, मन से बुद्धि एवं बुद्धि से आनन्द और इससे भी आगे सच्चिदानन्द की ओर अग्रसर होने का संदेश है। चूँकि यहाँ प्रकृति, मनुष्य एवं ईश्वर तीनों अन्तः सम्बन्धित हैं इसलिए उपनिषद् घोषणा करता है कि किसी एक के सत्य ज्ञान से सबका ज्ञान हो सकता है बशर्ते कि दृष्टि एकत्वमयी हो (यस्मिन् ज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति)। यह दृष्टि केवल वेदान्त के पास है क्योंकि वही यह मानता है कि सत् अद्वैत ही नहीं विभु भी है इसलिए यह बुद्धि नहीं बोधिगम्य है।

❀❀❀

2

वेदान्त : चेतना का तत्त्वशास्त्रीय विश्लेषण

अद्वैत वेदान्त में चेतना का स्वरूप

देवकीनन्दन द्विवेदी
राजीव द्विवेदी

भारतीय परम्परा में 'आत्मा' एवं पाश्चात्य संस्कृतियों में 'सोल' या 'स्प्रिट' का प्रयोग आरम्भ से ही प्राप्त होता है और इसका प्रमाण है मृत्यु से सम्बन्धित कर्म–काण्ड। आरम्भ में आत्मा की अवधारणा नं स्पष्ट थी न विकसित। यूनानी संस्कृति में आत्मा को शरीर की छाया की तरह माना गया था। यहूदी धर्म में भी इसे प्राण वायु के रूप में स्वीकार किया गया था। भारतीय परम्परा में भी आत्मा को शरीर एवं श्वास के रूप में ही समझा गया था किन्तु धार्मिक चेतना के विकास के फलस्वरूप आत्मा की अवधारणा स्पष्ट होती गई। तब विवाद का यह विषय था कि आत्मा अपने मूल स्वरूप में अशरीरी है अथवा शरीर युक्त। किन्तु अब 'आत्मा' या 'सोल' का प्रयोग प्रायः धार्मिक सन्दर्भों तक सीमित हो गया है। दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं संज्ञानात्मक विवेचन में 'मनस' एवं 'चेतना' का ही प्रयोग किया जाता है और इनमें 'चेतना' का सर्वाधिक महत्त्व है। अद्वैत वेदान्त में इन शब्दों से कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती क्योंकि इस दर्शन में आत्मा एवं चेतना में अभेद माना गया है।

प्रश्न है कि चेतना है क्या ? इस प्रश्न का विमर्श भी दो रूपों में किया गया है। एक, चेतना, द्रव्य, गुण, धर्म, क्रिया है या इनसे भिन्न ? दो, चेतना का प्रयोग किन सन्दर्भों में एवं किन व्यापारों के लिए किया जाता है ? भारतीय दर्शनों में प्रथम अधिक महत्त्वपूर्ण है एवं पाश्चात्य दर्शनों में द्वितीय, यद्यपि कहीं भी द्वितीय विकल्प की उपेक्षा नहीं की गयी है। हम इस पर विचार कर सकते हैं कि चेतन किसे कहा जाता है। मनुष्य निश्चित रूप से चेतन है, पत्थर अचेतन है, किन्तु क्या सभी जीवित प्राणी चतेन हैं ? एक कोशीय जीव चेतन हैं या अचेतन ? अमीबा को पीड़ा का अनुभव भी नहीं होता। वनस्पतियाँ, पक्षी, पशु आदि क्या हैं ? क्या अचेतन एवं चेतन के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा है ? यदि हम मनुष्य पर ही विचार करें तो चेतना की अभिव्यक्ति किन रूपों में होती है ? चेतना का सार तत्त्व क्या है – बौद्धिकता, अनुभूति एवं संवेदन, प्रयोजन एवं संकल्प अथवा अमूर्तीकरण ? क्या चेतना का त्रिविध वर्गीकरण –ज्ञान, अनुभूति एवं संकल्प–पूर्णतः स्पष्ट एवं परस्पर व्यावर्तक है ? यह भी विचारणीय है कि मनुष्य को चेतन कब कहा जाता है। क्या मूर्छा अथवा प्रगाढ़ निद्रा में मनुष्य चेतन है ? क्या वह तभी चेतन है जब विभिन्न परिस्थितियों में उत्तेजना की प्रतिक्रिया संभव हो ? क्या मूर्छा, कोमा एवं स्वप्नरहित निद्रा में ज्ञान, विश्वास जैसी क्षमताओं का विलोप हो जाता है ? व्यवहारवादी दार्शनिकों के अनुसार मानसिक संप्रत्ययों एवं चेतना से सम्बन्धित शब्दों का अर्थ केवल शारीरिक व्यवहार है। उदाहरण के लिये पीड़ा का अर्थ है कराहना, रोना आदि। किन्तु विचार अथवा चिन्तन की अभिव्यक्ति किस व्यवहार में होती है? ऐसी समस्याओं से बचने के लिये व्यवहारवादी बाह्य व्यवहार एवं आन्तरिक व्यवहार में भेद करते

सेवानिवृत्त आचार्य, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ.प्र.)
दर्शन विभाग, आगरा कॉलेज, आगरा (उ.प्र.)

हैं। जैसे सोचना एक आन्तरिक क्रिया है जिसमें होठों, तालु एवं अन्य सम्बन्धित अंगों में निम्न स्तरीय क्रिया होती रहती है। किन्तु क्युरारी के प्रयोग से सभी शारीरिक क्रियाओं को अवरुद्ध किया जा सकता है। जिन व्यक्तियों पर यह प्रयोग किया गया है उनके कथन से स्पष्ट हो जाता है कि शारीरिक निष्क्रियता के समय भी चेतना का अभाव नहीं था। हमारे अनुभव से यही प्रमाणित होता है कि चेतना की अभिव्यक्ति के लिये शारीरिक क्रियाओं की आवश्यकता पड़ती है पर इससे यह सिद्ध नहीं होता की शारीरिक क्रिया ही चेतना है। इस समस्या के समाधान के लिये व्यवहारवादी दार्शनिक प्रवृत्ति का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिये घुलनशीलता चीनी की प्रवृत्ति है। इसका यह अर्थ नहीं है कि चीनी सदैव घुलती रहती है। इसका केवल यह अर्थ है कि पानी में डालने पर चीनी घुल जाती है। अतः किसी चेतन या मानसिक संप्रत्यय के लिये सदैव बाह्य या आन्तरिक व्यवहार की आवश्यकता नहीं है, केवल सम्बन्धित व्यवहार की प्रवृत्ति आवश्यक है। किन्तु किसी मानसिक संप्रत्यय के लिये कोई निश्चित प्रवृत्ति नहीं होती तथा इस संप्रत्यय की अभिव्यक्ति लगभग अनन्त प्रवृत्तियों के रूप में संभव है। इसी प्रकार प्रवृत्तियों का निरूपण करने के लिए मानसिक शब्दों का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। अन्त में यह भी स्पष्ट है कि प्रवृत्तियाँ न तो अनिवार्य हैं, न पर्याप्त। यह संभव है कि किसी व्यक्ति का मानसिक संप्रत्यय कभी भी प्रवृत्ति के रूप में व्यक्त ही न हो अथवा व्यवहार घटित होने पर भी सम्बन्धित मानसिक संप्रत्यय विद्यमान न हो। अद्वैत वेदान्त के अनुसार सभी मानसिक क्रियायें चैतन्य पूर्वक होती हैं किन्तु ये क्रियायें चेतना से भिन्न हैं। सभी मानसिक क्रियायें वृत्तियों से सम्बन्धित हैं किन्तु वृत्तियाँ चैतन्य का मूल स्वरूप नहीं हैं।

वृत्तियाँ चेतना पर निर्भर हैं तथा चेतना से भिन्न हैं पर क्या चेतना को विषय के रूप में समझा जा सकता है ? यह समस्या ह्यूम के साथ साथ अनेक दार्शनिकों की रही है। ह्यूम कहता है कि जब भी मैं अपने अन्तस्थल में प्रवेश करता हूँ तो मुझे केवल प्रत्यक्षों का अनुभव होता है किसी अन्य तत्त्व का नहीं। अतः वह मान लेता है कि आत्मा केवल अचिन्तनीय गति से परिवर्तनशील प्रत्यक्षों का समूह मात्र है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार प्रत्यक्ष चेतना पर अधिष्ठित है, चैतन्य का सार नहीं। किन्तु अनेक समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक अतिवैज्ञानिकता के मोह से ग्रस्त हैं। उनकी मान्यता है कि यदि विज्ञान सभी विषयों की व्याख्या कर सकता है तो केवल चैतन्य विज्ञान के परे कैसे हो सकता है ? इसी दर्प के आधार पर प्लेस, स्मार्ट आदि दार्शनिकों ने तादात्म्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इनके अनुसार मानसिक अवस्थाओं एवं मस्तिष्क की अवस्थाओं से तथ्यात्मक एवं आपातिक तादात्म्य है। इसे कुछ दार्शनिक दो प्रकारों के रूप में लेते हैं, कुछ प्रकारों के उदाहरण के रूप में। पर इससे केवल मानसिक अवस्था एवं मस्तिष्क की अवस्था का सहसम्बन्ध सिद्ध होता है। स्मार्ट ने लाघवन्याय के आधार पर तादात्म्य को स्वीकार किया है, किन्तु लाघवन्याय सर्वत्र वैध नहीं है। मानसिक संप्रत्ययों का निराकरण भी असंभव है। इसी प्रकार व्यापारवाद (फंकशनैलिज्म) के अन्तर्गत् अनेक सिद्धांत हैं जिनसे केवल संज्ञानात्मक क्रियाओं की व्याख्या हो सकती है, चेतना की नहीं। इस प्रकार की सभी क्रियायें वृत्तियों के स्तर पर घटित होती हैं एवं अद्वैत वेदान्त के अनुसार वृत्तियाँ जड़ हैं, अतः अद्वैत वेदान्त के अनुसार इन सिद्धान्तों से चेतना का स्वरूप निरूपित नहीं हो सकता। यदि ये मत सत्य हैं तो भी इनसे चेतना की व्याख्या

नहीं हो पाती। इसका कारण यह है कि संज्ञानात्मक क्रियायें अथवा परिणाम आकारिक प्रतीकों एवं आकारिक नियमों पर निर्भर हैं और जहाँ भी इन प्रतीकों एवं नियमों का प्रयोग संभव है वहाँ कृत्रिम उपकरणों द्वारा इन्हें सम्पादित किया जा सकता है, किन्तु चेतना एक आन्तरिक अवबोध है, चाहे वह सविषयक हो या निर्विषयक, और किसी भी आकारिक या अनाकारिक व्यापार से उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। विकासवादी सिद्धान्तों से भी केवल यह सिद्ध होता है कि चेतना की अभिव्यक्ति मस्तिष्क के माध्यम से होती है पर चेतना केवल मस्तिष्क की क्रिया नहीं है।

अतः महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि चेतना क्या है यदि हम अनुभववादी विधि का प्रयोग करें तो किसी विषय पर ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं जैसा जी.ई.मूर ने नीले धब्बे पर किया था। किसी विषय पर ध्यान देने पर केवल उस विषय की चेतना होती है। यदि हम विषय से पृथक् चेतना को समझना चाहें तो कुछ भी प्राप्त नहीं होता। मात्र शून्यता शेष रह जाती है तथा यही आभास होता है कि चेतना कुछ नहीं या पूर्णतः पारदर्शी है। स्पष्ट है कि स्वंय चेतना विषय के रूप में ज्ञेय नहीं है तथा जो ज्ञेय है वह चेतना नहीं है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए भारतीय दर्शनों में चेतना के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है। ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों तक आत्मा अथवा चेतना की अवधारणा को क्रमशः स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। विभिन्न सन्दर्भों में आत्मा को शरीर, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्द मानकर उसके स्वरूप को स्पष्ट करने की प्रक्रिया देखी जा सकती है। अन्तिम निष्कर्ष है कि आत्मा न द्रव्य है, न गुण, न क्रिया बल्कि शुद्ध चेतना है। शुद्ध चेतना का स्वतंत्र अस्तित्व है। उसी पर सब कुछ निर्भर है। जब कोई विषय नहीं होता तब भी चेतना का लोप नहीं होता। जब भी प्रतीत होता है कि चेतना नहीं है जैसे मूर्च्छा या प्रगाढ़ निद्रा में तब भी चेतना की सत्ता रहती है। चेतना के लोप का आभास वास्तव में विषय के अभाव के कारण है। किन्तु अन्य दर्शनों में इस मत का खण्डन किया गया है। प्रारम्भिक बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि चेतना पंच स्कन्धों का अवयव मात्र है और माध्यमिकों के अनुसार चेतना भी अन्य तत्त्वों के समान निःस्वभाव, शून्यता है। चार्वाकों की दृष्टि में चेतना भूत पदार्थों के विशेष संयोग से उत्पन्न होती है तथा इसकी स्वतंत्र सत्ता संभव नहीं है। न्याय वैशेषिक एवं मीमांसकों की मान्यता है कि आत्मा अभौतिक द्रव्य है और जब आत्मा का मन तथा इन्द्रियों के माध्यम से किसी विषय से सम्बन्ध होता है तभी चेतना की उत्पत्ति होती है। न्याय मत के अनुसार चेतना आत्मा का आगन्तुक गुण है और मीमांसकों के लिए क्रिया है। इन परिस्थितियों के अभाव में चेतना का विनाश हो जाता है। रामानुज मानते हैं कि आत्मा आध्यात्मिक द्रव्य है तथा चेतना उसका नित्यगुण है। सांख्य एवं अद्वैत वेदान्त के अनुसार चेतना आत्मा का स्वरूप है अर्थात् चेतना ही आत्मा है।

अद्वैत वेदान्त में चेतना का स्वरूप अन्य दर्शनों के सन्दर्भ में अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। माध्यमिक दर्शन में चेतना की स्थिति आरम्भ से ही विवाद का विषय है। नागार्जुन ने लोक संवृत्ति एवं पारमार्थिक दोनों स्तरों पर शून्यता का प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से चेतना भी शून्य है। अन्य भारतीय दर्शनों में शून्यता का अर्थ पूर्ण निषेध या अभाव मान लिया गया है। पर यदि पूर्ण निषेध या अभाव ही सत्य है तो उसका न तो बोध हो सकता है न कथन। यदि अभाव का बोध होता है तो चेतना की सत्ता सिद्ध हो जाती है। जैसा नैयायिक एवं अद्वैत वेदान्ती कहते

हैं कि पूर्ण निषेध संभव नहीं है, क्योंकि पूर्ण निषेध अपना भी निषेध कर देता है। चेतना के किसी विशेष रूप या सिद्धांत का खण्डन हो सकता है किन्तु चेतनामात्र का निषेध संभव नहीं है। शारीरक भाष्य, बृहदारण्यक भाष्य एवं प्रश्नोषनिषद् भाष्य में शंकर ने स्पष्ट किया है कि किसी विशेष का निषेध तार्किक रूप से संभव है किन्तु सर्व–निषेध स्वयं अपना निषेध कर देता है। किसी ने चेतना के अभाव का अनुभव नहीं किया है एवं यदि कोई ऐसा अनुभव करता है तो यह अनुभव ही चेतना को सिद्ध कर देता है। चेतना के निषेध का एक अन्य कारण चेतना के विषय के रूप में उसकी अनुपलब्धि हैं किन्तु चेतना स्वयं अपना विषय नहीं हो सकती। समग्र विषय को शून्य मान लेने पर भी शून्य के द्रष्टा की पूर्व मान्यता करनी ही होती है – शून्यस्यापि स्वसाक्षित्वात्। किसी भी विधि या निषेध में ज्ञान की अपरोक्ष स्थिति निहित है – अपरोक्षत्वात् प्रत्यगात्मा प्रसिद्धः। किन्तु यदि शून्यता का तात्पर्य अवर्णनीयता एवं चतुष्कोटि विनिर्मुक्तता है तो शून्यता ही शुद्ध चैतन्य है क्योंकि अद्वैत वेदान्त में भी चेतना न अहं रूप है, न इदम् रूप, न द्रव्य है, न गुण, न क्रिया। चार्वाक एवं अन्य भौतिकवादी दर्शन चार महाभूतों के सूक्ष्म कणों के विशिष्ट संयोग से चेतना की उत्पत्ति मानते हैं। वास्तव में चेतना की अखण्डनीयता की स्वीकृति के पश्चात् भी चेतना की उत्पत्ति एवं स्वरूप के विषय में अद्वैतेतर दृष्टि संभव है। यही कारण है कि भौतिकवादी मत आज भी हमें आकर्षित करता है। किन्तु सभी भौतिक पदार्थों में चेतना नहीं मिलती। अतः भौतिक कणों का विशेष सम्बन्ध या अनुपात ही इसके लिये उत्तरदायी हो सकता है। चार्वाक प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण मानता है, किन्तु प्रत्यक्ष से ऐसे किसी सम्बन्ध का या अनुपात का ज्ञान नहीं होता। साथ ही अद्वैतवेदान्त के अनुसार जो भी भौतिक पदार्थों से उत्पन्न होता है उसका प्रत्यक्ष होना चाहिये तथा यदि चेतना भौतिक पदार्थों का गुण है तो उसे भी प्रत्यक्ष का विषय मानना पड़ेगा। पर दोनों ही स्थितियाँ समस्याग्रस्त हैं। भौतिक तत्त्व एवं उनकी उत्पत्ति चेतना के विषय हैं, अतः इनके द्वारा चेतना की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार भौतिक गुण स्वयं अपना प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। अतः चेतना भौतिक तत्त्वों से भिन्न है। अद्वैत वेदान्त की मान्यता है कि जो चेतना का विषय है उसका तादात्म्य चेतना से नहीं हो सकता एवं चेतना का विषय उसकी उत्पत्ति का कारण भी नहीं हो सकता। भौतिकवादियों के अनुसार चेतना उत्पन्न एवं परिवर्तित होती है किन्तु शंकर के अनुसार जिसकी अपेक्षा से परिवर्तन होता है वह स्वयं परिवर्तन से परे है तथा सर्वदा वर्तमान स्वभाव है।

अद्वैत वेदान्त में न्याय–वैशेषिक सिद्धान्त का भी खण्डन किया गया है। न्याय–वैशेषिक मानते हैं कि न तो चेतना भौतिक तत्त्वों से उत्पन्न होती है, न भौतिक वस्तु का गुण है। चेतना नित्य आत्मा का अनित्य गुण है तथा नित्य आत्मा जड़ न होकर आध्यात्मिक द्रव्य है, किन्तु आध्यात्मिक आत्मा स्वरूपतः अचेतन है। आत्मा में चेतना की उत्पत्ति तभी होती है जब आत्मा का इन्द्रियों एवं मन के माध्यम से विषय से सम्बन्ध होता है। जयन्त के अनुसार परिशेषानुमान से सिद्ध होता है कि चेतना का आश्रय मन एवं इन्द्रियाँ नहीं है। आत्मा एवं चेतना में अविच्छेद्य सम्बन्ध भी नहीं है। आत्मा चिद्धर्म है चित्स्वरूप नहीं। शंकर के अनुसार चेतना एवं आत्मा में न समवाय सम्बन्ध संभव है, न संयोग। यदि इन दोनों में सम्बन्ध है तो या तो यह सम्बन्ध किसी

अन्य सम्बन्ध से सम्बन्धित है या यह सम्बन्ध सम्बन्धित पदों से सम्बन्धित नहीं है। गौड़पाद कारिका भाष्य में शंकर मानते हैं कि प्रथम विकल्प या तो अनवस्था दोष उत्पन्न करता है या सम्बन्ध को असंभव बना देता है। द्वितीय विकल्प भी असंभव है क्योंकि आत्मा एवं चैतन्य भौतिक वस्तु नहीं हैं। आत्मा एवं चेतना में केवल अभेद ही संभव है –आत्मचैतन्योर्भेदः। यह सत्य है कि हम व्यवहार में ज्ञान के उत्पन्न एवं विलीन होने की बात करते हैं किन्तु यहाँ वास्तविक अर्थ ज्ञान की विषय–वस्तु से है।

चेतना के विषय में मीमांसा सिद्धान्त न्याय–वैशेषिक से भिन्न है। चेतना स्वयं को तथा ज्ञाता और ज्ञेय को (त्रिपुटी) प्रकाशित करती है। प्रभाकर के अनुसार चेतना की एक त्रिपुटी संवित् है। किन्तु चेतना स्वयं क्या है? मीमांसा के अनुसार चेतना आत्मा की क्रिया है। मीमांसा में ज्ञाता आत्मा तथा चेतना में भेद मान्य है एवं दोनों के मध्य कर्त्ता एवं क्रिया का सम्बन्ध है, पर चेतना आत्मा की नित्य क्रिया नहीं है। मीमांसा भी न्याय के समान मानती है कि प्रगाढ़ निद्रा एवं मुक्ति में चेतन क्रियाओं का लोप हो जाता है। मीमांसा का महत्त्व इसलिये है कि इस दर्शन में प्रभाकर ने ज्ञान अथवा चेतना को स्वप्रकाश माना है और यही तथ्य उसे न्याय से पृथक् करता है। रामानुज के दर्शन में इस विकास क्रम की उच्चतर अवस्था मिलती है। रामानुज के अनुसार आत्मा नित्य है एवं उसका गुण चैतन्य भी नित्य है जबकि अन्य दर्शनों में उसे अनित्य गुण ही माना गया है। रामानुजीय मत की एक अन्य विशेषता भी है। रामानुज के अनुसार चेतना आत्मा का गुण भी है और स्वरूप भी। वह चित् गुणक तथा चित् स्वरूप दोनों है। आत्मा केवल ज्ञान ही नहीं है वह ज्ञान का विषयी भी है। ज्ञान सदैव सभेद और सविषय है –न च निर्विषया काचित् संवित् अस्ति। किन्तु आत्मा चित् रूप एवं चित् गुण युक्त दोनों कैसे है ? यदि चेतना केवल गुण या धर्म है तो वह विशेष परिस्थितियों में जड़ हो सकती है, एवं यदि आत्मा चित्रूप है तो आत्मा एवं चेतना में भेद किस प्रकार होगा। रामानुज दोनों अप्रिय विकल्पों से बचना चाहते हैं, अतः वह एक जटिल समस्या से उबर नहीं पाते। पर यही मत उन्हें शांकर सिद्धान्त के निकट ला देता है। सांख्य मत अद्वैत वेदान्त से सबसे अधिक निकट है। वह मानता है कि चेतना पुरुष का स्वरूप है, गुण या क्रिया नहीं। किन्तु ज्ञान की समस्या सांख्य दर्शन में एक पहेली बन जाती है। सांख्य यह भी स्पष्ट नहीं कर पाता कि चेतना के विभिन्न केन्द्र वास्तविक कैसे हो सकते हैं अर्थात् एक चेतना अन्य चेतन पुरुषों से अपने स्वाभाविक रूप में किस प्रकार भिन्न हो सकती है ? इन सभी समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में यही प्रतीत होता है कि शांकर वेदान्त ही चेतना के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या करने में समर्थ है। चेतना ही यथार्थ एवं पूर्ण सत् है। चेतना ही स्वयं को तथा अन्य सभी विषयों एवं वृत्तियों को प्रकाशित करती है – तस्य भासा सर्वमिदम् विभाति। शुद्ध चेतना सभी भेदों से रहित एवं सभी का आधार है, अनुभव में प्राप्त भेद मायाकृत हैं। जगत् में स्वीकृत ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान विभाजन भी चेतना पर ही आश्रित है तथा उसी का विवर्त है। शुद्ध चेतना के दो रूप हैं– अनुभवातीत एवं आनुभविक। अनुभव में ही अहम् और इदम् का भेद प्रतीत होता है। शुद्ध चेतना अहम् एवम् इदंम् के परे है। अनुभवातीत आत्मा अद्वैत, सार्वभौम, अक्रिय, अपरिवर्तनीय तथा भेद रहित है। आनुभविक आत्मा परिवर्तनशील, विशिष्ट, सक्रिय तथा भेदों से परिपूर्ण है।

अब एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है। शंकर ने विषय रहित, त्रिविध भेद रहित, शुद्ध चैतन्य को ही यथार्थ आत्मा मानते हुए उसे ही पर ब्रह्म माना है। क्या यह मात्र एक प्राक्कल्पना है ? शंकर की दृष्टि में ब्रह्म प्राक्कल्पना नहीं है। उसे सिद्ध करने के लिये तर्क, यहाँ तक कि श्रुति की भी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि शंकर ने अपना पक्ष पुष्ट करने के लिये दोनों का प्रयोग किया है। शांकर मत का वास्तविक आरम्भ आत्म चैतन्य से होता है। प्रत्येक व्यक्ति व्यावहारिक जीवन में भी अनुभव करता है कि मैं हूँ, कोई यह अनुभव नहीं करता कि मैं नहीं हूँ : सर्वोहि आत्मास्तित्वं प्रत्येति नचाहमस्मीति। यदि कोई व्यक्ति अपना अस्तित्व न मानने का प्रयास करता है तब भी निराकरण के लिये उसे अपना अस्तित्व मानने के लिये बाध्य होना पड़ेगा – य एव हि निराकर्त्ता तदैव तस्य स्वरूपम्। अस्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने चेतन स्वरूप का अनुभव करता है। चार्वाक भी इस तथ्य का खण्डन नहीं करता। कुछ समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक चेतना एवं चेतना से सम्बन्धित पदों का निराकरण करना चाहते हैं। उनके अनुसार चेतना से सम्बन्धित पद प्राचीन परम्परा के अवशेष हैं जैसे चुड़ैल, फ्लोगिस्टान आदि शब्द, जिनकी अब कोई आवश्यकता नहीं है तथा जिन स्थितियों के लिये इनका प्रयोग किया जाता था अब उनकी व्याख्या प्राकृतिक रूप से संभव है। किन्तु अब इस मत का महत्त्व समाप्त हो गया है। कारण यह है कि मानसिक घटनाओं, क्रियाओं तथा चेतन अवस्थाओं का निराकरण कर दिया जाय तो भौतिक विज्ञानों के अतिरिक्त अन्य विषयों का अन्त करना पड़ेगा। स्पष्ट है कि चेतन अनुभव तथा उसकी विभिन्न अवस्थाओं का निषेध असंभव है। अतः व्यावहारिक जीवन में भी चेतना स्वतः सिद्ध है। यही कारण है कि शंकर चेतना की सिद्धि के लिये किसी प्रमाण या युक्ति का प्रयोग नहीं करते। उनका मत है कि आत्मा सभी प्रमाणों के पहले ही है, अतः प्रमाणों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता– आत्मा तु प्रमाणादि व्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेवप्रमाणादि व्यवहारात्सिद्धयति। न चेदस्य निराकरण संभवति। शुद्ध चैतन्य–स्वरूप आत्मा के अतिरिक्त जो भी है – मानसिक व्यापार, शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ अन्तःकरण, आनुभविक अहम् आदि आत्मा पर आश्रित होकर उसके सम्बन्ध में व्यक्त एवं क्रियाशील होते हैं। इस प्रकार शंकर ने आत्म तथा अनात्म, विषयी तथा विषय में भेद करते हुए शुद्ध चेतना को ही वास्तविक माना है। इस चेतना के स्वरूप का विवेचन करते हुये शंकर ब्रह्म–चैतन्य तक पहुँचते हैं एवं चित् से भिन्न प्रत्येक विषय को मिथ्या सिद्ध करते हैं। शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म प्राक्कल्पना न होकर आत्मा का ही वास्तविक रूप है। यदि जीव, आत्मा, साक्षी, ईश्वर एवं ब्रह्म में एक ही चेतना न होती तो आत्मा (जीव) के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता को स्वीकारना संभव न होता। एक ही भेद रहित चेतना उपाधियों के आधार पर भिन्न–भिन्न रूपों में प्रतीत होती है।

चेतना के वास्तविक स्वरूप का निरूपण अत्यन्त दुरुह कार्य है। इसका मुख्य कारण यह है कि हम व्यावहारिक जीवन में जिन विषयों एवं नियमों तथा सिद्धान्तों से परिचित हैं अथवा प्राकृतिक जगत् की सीमा के अन्तर्गत् जो भी ज्ञेय हो सकता है उन्हीं के आधार पर सभी विषयों की व्याख्या करना चाहते हैं। कुछ समकालीन दार्शनिक स्पष्ट रूप से मानते हैं कि जब सभी विषयों की व्याख्या प्राकृतिक नियमों के द्वारा होती है या हो सकती है तो केवल चेतना को इससे बाहर कैसे रखा जा सकता है। जब चेतना मुख्यतः मनुष्य से सम्बन्धित है और मनुष्य विकास का

परिणाम है तो चेतना भी विकास प्रक्रिया के अन्तर्गत आ जाती है। यदि मस्तिष्क के क्षतिग्रस्त या अन्य प्रकार से प्रभावित होने पर व्यावहारिक चेतना प्रभावित होती है तो चेतना को मस्तिष्क तथा केन्द्रीय स्नायु संस्थान से स्वतंत्र मानना उचित प्रतीत नहीं होता। साथ ही यह भी मान लिया जाता है कि हम सामान्य जीवन में चेतना के जिन रूपों से परिचित हैं उन्हीं की व्याख्या कर सकते हैं, उनका अतिक्रमण करने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। इन्हीं कारणों से प्रभावित होकर अन्य दार्शनिक चाहे वह भारतीय हों या पाश्चात्य, व्यवहारवादी, तादात्म्यवादी, व्यापारवादी हों या न्युरोलॉजिस्ट, सभी चेतना के अनुभवात्मक स्वरूप तक सीमित रहना चाहते हैं। जागतिक चेतना निश्चित रूप से हमारे सामान्य अनुभव तक ही सीमित रहती है। चार्वाक, बौद्ध (अधिकतर सम्प्रदाय), जैन, न्याय–वैशेषिक, सांख्य–योग एवं वैष्णव वेदान्ती भी या तो सांसारिक चेतना तक सीमित रहते हैं या बहुत दूर जाने में समर्थ नहीं होते। पाश्चात्य दार्शनिक भी, व्यवहार उत्तेजना–प्रतिक्रिया अथवा मस्तिष्क की संरचना एवं क्रियाशीलता तक सीमित रहते हैं। कुछ दार्शनिक अवश्य आन्तरिक अनुभव या संवृत्तिशास्त्रीय अनुभव को महत्त्व देते हैं किन्तु वे भी चेतना के व्यापक आयामों की उपेक्षा ही करते हैं। पर इन सभी प्रयासों में चेतना का तात्त्विक रूप स्पष्ट नहीं हो पाता।

यह सत्य है कि सामान्य रूप में व्यवहार के आधार पर चेतना को समझने का प्रयास होता है। किसी व्यक्ति को चेतन कहना तभी संभव है जब वह बाह्य उत्तेजनाओं के प्रति प्रतिक्रिया करने में समर्थ होता है। मूर्च्छा, निद्रा आदि में यही कहा जाता है कि व्यक्ति अचेतन है। हम यह भी कहते हैं कि व्यक्ति चेतनाशून्य हो गया है। अथवा वह धीरे–धीरे पुनः चेतन हो रहा है। इसी प्रकार चेतना को सदैव विषय युक्त ही माना जाता है। चेतन होने का अर्थ ही है किसी विषय के प्रति चेतन होना, विषय चाहे वास्तविक हो या मात्र प्रत्यय। किन्तु यह भी सत्य है कि शारीरिक क्रिया के अभाव में भी चेतना विद्यमान रहती है। वैज्ञानिक प्रयोगों से असाधारण चेतना की सत्ता भी सिद्ध हो गई है। यद्यपि अतिवैज्ञानिकता के कारण उसे केवल आभासी ही माना जाता है, वास्तविक नहीं। विश्वास, साधारण ज्ञान, योग्यता भी चेतना के रूप हैं किन्तु यह तो नहीं कहा जाता कि सोते हुए मनुष्य में ज्ञान, विश्वास, योग्यता आदि का विनाश हो जाता है। स्वप्न रहित निद्रा में न्युरान या मस्तिष्क की क्रियायें अत्यन्त निम्न स्तर पर ही होती हैं पर तब भी चेतना का लोप नहीं होता। यदि यौगिक क्रियाओं को स्वीकार करें तो मस्तिष्क की क्रियायें शून्य हो जाती हैं, संवेदन, संप्रत्यय भी समाप्त हो जाते हैं, फिर भी चेतना विद्यमान रहती है। जिन स्थितियों में चेतना का अभाव स्वीकार किया जाता है उन स्थितियों में अद्वैत वेदान्त के समर्थकों के अनुसार केवल विषय का अभाव होता है। इसी प्रकार चेतना की परिवर्तनशीलता केवल विषय की परिवर्तनशीलता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि ए.जे.एअर ने अपनी सभी रचनाओं में आत्म चैतन्य की व्याख्या केवल अनुभव के रूप में किया था पर अपने अन्तिम दिनों में जब उसे मृत्यु–सदृश्य अनुभव हुआ तो उसने अपने लेख ''व्हाट आई सा व्हेन आई वाज डेड'' में एक दूसरे मत का समर्थन किया। कृत्रिम–बुद्धि के समर्थक केवल यही सिद्ध कर सकते हैं कि संज्ञानात्मक व्यापारों से सम्बन्धित भाषा को आकारिक प्रतीकों में व्यक्त किया जा सकता है एवं इन प्रतीकों पर सीमित संख्या वाले आकारिक नियमों का प्रयोग संभव है। अर्थात् जो चेतन व्यापार आकारिक

प्रतीकों एवं आकारिक नियमों द्वारा संचालित हो सकते हैं, उन्हें कम्प्युटर द्वारा संपादित किया जा सकता है। किन्तु चेतना केवल आकारिक क्रियाओं तक सीमित नहीं है। गुणात्मक अनुभव चेतना का दूसरा पक्ष है, यद्यपि शुद्ध चेतना आकारिक क्रियाओं एवं गुणात्मक अनुभव से भी परे है।

अद्वैत वेदान्त में चेतना ही पारमार्थिक सत्ता है। यही सत्ता ब्रह्म है तथा ब्रह्म सत्यं ज्ञानम् अनन्तम् है। सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ही आत्मा है। इस प्रकार शुद्ध चेतना विजातीय, सजातीय तथा स्वगत भेदों से परे है। पर इस चेतना का अन्य सिद्धान्तों से अविरोध है। सामान्य अथवा व्यावहारिक स्तर पर ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान में भेद स्वीकार किया गया है। इस स्तर पर ज्ञान का कोई न कोई विषय भी है –चाहे वह बाह्य हो या आन्तरिक। यह भी स्वीकार किया गया है कि व्यावहारिक चेतना परिवर्तनशील तथा अनित्य है। कुछ परिस्थितियों में व्यावहारिक चेतना के लोप का भी अनुभव होता है। अद्वैत वेदान्त की यह भी मान्यता है कि इस स्तर पर ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिये अहम्, मनस्, बुद्धि, इन्द्रियाँ एवं विषय तथा वृत्तियाँ आवश्यक हैं। इन सबके साथ स्नायु संस्थान तथा मस्तिष्क को भी सम्मिलित करने में कोई समस्या नहीं है। मूल प्रश्न यह है कि क्या उपरोक्त विषयों से, उनके संयोग से चेतना की उत्पत्ति संभव है ? अद्वैत वेदान्त के अनुसार उक्त विषयों के माध्यम से चेतना की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। इस सम्बंध में मनोवैज्ञानिक अथवा आनुभविक अहम् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है किन्तु शंकर के अनुसार जिस अहम् को हम अन्तर्निरीक्षण, तर्क अथवा विचार के माध्यम से जानते हैं वह स्वयं चेतना में अध्यस्त है, शुद्ध चैतन्य नहीं है। वास्तविक ज्ञाता अथवा शुद्ध चैतन्य साधारण अर्थ में ज्ञान का विषय नहीं है। विज्ञातारम् अरेकेन विजानीयात्। अद्वैत वेदान्त के अनुसार सभी विषय मिथ्या हैं। सभी विषय नाम–रूप हैं एवं चेतना के विवर्त्त हैं। प्राकृतिक पदार्थ भी विषयावच्छिन्न चैतन्य हैं। ज्ञान विषयों के निषेध से अथवा नेति–नेति अथवा अध्यारोप विधि से शुद्ध चैतन्य की अनुभूति संभव है। कुछ दार्शनिकों के लिये यहाँ समस्या उत्पन्न होती है। क्या पत्थर भी चेतन है? किन्तु अद्वैत वेदान्त सर्वजीववाद नहीं है, और न तो सर्व चेतनवाद है। चेतन वही है जिसमें प्राण है। पंच कोशों–अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय के माध्यम से इसे स्पष्ट किया गया हैं। इसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय के द्वारा चेतना के विविध आयामों में निहित शुद्ध चैतन्य की भेद रहित एकतानता की व्याख्या का प्रयास किया गया है। अन्त में एक और स्पष्टीकरण आवश्यक है। शुद्ध चैतन्य विषय के रूप में अज्ञेय होते हुए भी अपरोक्षानुभूति से ज्ञेय है। (अवेद्यतेसति अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्वम्) इसीलिये आत्मा को स्वप्रकाश, स्वयंज्योति माना गया है। व्यावहारिक स्तर पर मानसिक अवस्थाओं को विषयिनिष्ठ तथा भौतिक अवस्थाओं एवं वस्तुओं को विषयनिष्ठ कहा जाता है किन्तु शुद्ध चैतन्य के स्तर से ये दोनों विषयनिष्ठ हैं तथा शुद्ध चैतन्य पर अध्यस्त हैं। सभी विभक्त भौतिक एवं मानसिक स्थितियों में अविभक्त चेतना निहित है। यद्यपि इसकी व्यावहारिक अभिव्यक्ति केवल चेतन प्राणियों के माध्यम से ही होती है। पारमार्थिक रूप से एकमात्र शुद्ध चेतना ही वास्तविक सत्ता है।

आत्मा का स्वरूप : प्रो. ए.सी. मुखर्जी की दृष्टि

जटाशंकर

वेदान्त दर्शन के मर्मज्ञ आचार्य रेवतीरमण पाण्डेय की स्मृति में प्रकाश्य ग्रन्थ "वेदान्त दर्शन के आयाम" में कुछ लिखने का निर्देश अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के महामंत्री और उत्कृष्ट दर्शन प्रेमी भाई अम्बिकादत्त शर्मा से मिला। मैंने विचार बनाया कि यह लेख ऐसे बिन्दु पर लिखा जाय जो वेदान्त सम्मत होने के साथ साथ स्मर्यमाण आचार्य से सम्बद्ध भी हो। प्रस्तुत बिन्दु महामनीषी और 'इलाहाबाद के प्लेटो'[1] के नाम से विख्यात आचार्य अनुकूल चन्द्र मुखर्जी (1888–1968) द्वारा रचित आत्मा का स्वरूप (The Nature of Self -1938) ग्रन्थ में सविस्तार चर्चित और निर्णीत हुआ है। आचार्य मुखर्जी अपने समय के अत्यन्त सम्भावनावान एवं मौलिक दार्शनिकों में अन्यतम रहे। इनकी दो रचनाओं (The Nature of Self एवं Self, Thought and Reality) में तुलनात्मक दार्शनिक संस्कृति और उसकी नवोन्मेषी सृजनात्मकता का भारतीय दर्शन और विशेषकर अद्वैत वेदान्त के सन्दर्भ में उत्कर्ष देखा जा सकता है। आचार्य मुखर्जी इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के आचार्य थे और आचार्य पाण्डेय इसी विभाग में छात्र रहे। यह सम्बन्ध सीधे–सीधे वर्ग शीक्षक और छात्र का तो नहीं रहा होगा, किन्तु इलाहाबाद की दर्शन–परम्परा के सदस्य दोनों ही आचार्य रहे हैं। नारायण, पद्मभव, वशिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, शुक, गौड़पाद, गोविन्दपाद, शंकर इत्यादि की तरह ही उक्त परम्परा से हम सब इलाहाबाद के दर्शनानुरागी जुड़े हैं। इस गौरवशाली परम्परा का स्मरण जो आह्लाद प्रदान करती है, उसका वर्णन करना संभव नहीं है। इस गूढ़ विषय पर लेखनी उठाने का साहस भी उसी आह्लाद द्वारा प्रसूत है।

आत्म केन्द्रित विषमावस्था (Ego Centric Predicament) की समस्या का उद्‌भव, आत्मज्ञान विषयक प्रचलित मतों का विवेचन, परस्पर विरोधी मतवादों की अपर्याप्तता का निरूपण, अविरोधवादी शांकर मत का प्रतिपादन; ये चार चरण प्रस्तुत आलेख की विषय वस्तु का निर्माण कर रहे हैं। आचार्य मुखर्जी के उपर्युल्लिखित ग्रन्थ का कलेवर मुझे इन्हीं चार पादों में विभक्त समझ में आता हैं। मैं वही लिख रहा हूँ, जो मैंने पाया है। इस पूरे प्रयास में केवल लेखन का श्रम ही मेरा है, शेष सब कुछ उस आचार्य परम्परा का है, जिसके ऋण से मुक्त होने का सतर्क प्रयास मेरे जीवन का लक्ष्य बन गया है। जो कुछ सीखा है, अगर उसका प्रचार (प्रकाशन) न किया जाय तो अधीति, बोध, आचरण इत्यादि असिद्ध रह जाते हैं, अतएव चार चरणों में आबद्ध यह आलेख प्रस्तुत किया जा रहा है।

I

आत्म जिज्ञासा दर्शन जगत् की मूल जिज्ञासा है। "आत्मा वै श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च" उपनिषद् वचन और "Know thy self" सुकरात का वचन इसकी सार्वभौमिकता का परिचय देते हैं। सार्वभौम ही नहीं यह दर्शन की सार्वकालिका समस्या भी है, क्योंकि तब से

अध्यक्ष, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ.प्र.)

अब तक हम समस्या का समाधान निरन्तर खोज रहे हैं। यह एक विषमावस्था के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित है। इस विषमावस्था का स्वरूप निम्न बिन्दुओं में रखा जा सकता है –

- प्रत्येक ज्ञेय विषय ज्ञाता की प्रागपेक्षा रखता है,
- जब ज्ञाता स्वयं ज्ञेय विषय के रूप में प्रस्तुत होता है, तब ज्ञान की उस अवस्था में ज्ञाता कौन होगा?
- क्या ज्ञाता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्य ज्ञाता की आवश्यकता होती है?
- क्या ज्ञाता का ज्ञेय के रूप में ज्ञान संभव है?
- ज्ञेयत्व के लिए किसी न किसी कोटि (Category) से संबद्ध होना आवश्यक है।
- उच्चतर एव गहनतर स्तर पर ज्ञेयत्व के लिए 'ज्ञाता सापेक्षत्व' या कम से कम 'ज्ञाता सापेक्षत्व की संभावना' गहनतम पारमार्थिक शर्त है।
- इससे यह प्रतीत होता है कि ज्ञाता अनेक समकेन्द्रीय वृत्तों का केन्द्र है, जिसके विभिन्न वृत्तों की परिधियाँ विभिन्न ज्ञेयों का प्रतिनिधित्व करती हैं।
- यह भी स्पष्ट है कि जो भी सिद्धान्त केन्द्र को परिधि पर रखकर समस्या का समाधान करने का प्रयास करेगा, वह इस विषमावस्था का समुचित समाधान नहीं कर सकेगा।

उपर्युक्त बिन्दुओं से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञाता/आत्मा ज्ञेयत्व की शर्तें पूरी नहीं करता, अतः इसका ज्ञान संभव नहीं है। दूसरी ओर औपनिषद आदेश है– कि "उसे जानो जिसे जानने के बाद कुछ भी जानने को शेष नहीं बचता"। समस्या विकट है – "येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्, विज्ञातारम् अरे! केन विजानीयात्" (बृहदारण्यक), जिसके द्वारा यह सब जाना गया, उसे किसके द्वारा जाना जाय। 'जिमि आँखिन सब देखियत आँख न देखी जाँहि,' जैसे आँख से सब कुछ देखते हैं किन्तु आँख को किससे देखा जाय। समस्या जटिल न होती तो सार्वकालिक कैसे होती, इतनी उत्कृष्ट मेघा से सम्पन्न पूरब और पश्चिम के दार्शनिकों ने जो भी समाधान खोजा, वह अपर्याप्त बनकर रह गया। समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है।

II

तं केन विजानीयात्? इस प्रश्न का उत्तर देने की दो प्रणालियाँ दर्शन जगत् में प्रचलित हैं। प्रथम विधि है प्रायोगिक या आगमनात्मक और दूसरी है, तार्किक या पारमार्थिक विधि। प्रो. मुखर्जी की विवेचना में इन दोनों विधियों के मूल लक्षणों का सुन्दर चित्रण मिलता है। प्रायोगिक विधि ज्ञान को ज्ञाता और ज्ञेय के सन्निकर्ष के रूप में स्वीकारती है। इसे मनोवैज्ञानिकों के अतिरिक्त यथार्थवादी और अर्थक्रियावादी परम्परा में स्वीकार किया गया है। यह विधि ज्ञाता का स्वरूप चेतना के अस्थायी विशेष रूपों तक सीमित कर देती है। इस विधि में शुद्ध ज्ञाता और छद्म अहं के बीच अन्तर नहीं मिलता, इसी कारण यह आत्मा के विकेन्द्रीकरण के दोष से ग्रस्त हो जाती है। इसमें आत्मा को मन, बुद्धि, चित्त इत्यादि रूपों में कल्पित कर लिया जाता है। प्रो. मुखर्जी की दृष्टि में इस प्रकार का दोष न्यायदर्शन और जान लॉक के विचारों में देखा जा सकता है। विकेन्द्रीकरण के दोष को स्वीकार कर लेने पर ज्ञाता को ज्ञेय के रूप में जानने का दावा किया जा सकता है। किन्तु यदि मान लिया जाय कि क ख को जानता है, तो एक ऐसा

ज्ञाता भी होना चाहिए जो क को ख से अलग कर सके और स्वयं इनसे भिन्न भी हो। यदि यह ग है तो क और ग तथा ख और ग के भेद के लिए पुनः अन्य ज्ञाता की आवश्यकता होगी और यह प्रक्रिया अनवस्था दोष से ग्रस्त हो जाती है।

तार्किक या पारमार्थिक विधि इस मान्यता को स्वीकार करके प्रवर्तित है कि प्रायोगिक विधि से केवल विशेष का ज्ञान संभव है, सामान्य का ज्ञान इस विधि से नहीं हो सकता। इसी प्रकार प्रायोगिक विधि देश–काल तथा कारणता इत्यादि का ज्ञान नहीं करा सकती, क्योंकि ये तो ज्ञान की पारमार्थिक शर्तें हैं। इनका ज्ञान पारमार्थिक विश्लेषण या तार्किक विचारण से ही संभव है। इस प्रकार के विश्लेषण या विचारणा से उद्भूत सामान्यों एवं कोटियों का अस्तित्व भी 'ज्ञेय' की ही तरह ज्ञाता–सापेक्ष होता है। ''ज्ञाता के लिए अस्तित्व'' ज्ञेयत्व ही गहनतम शर्त है, इसीलिए ज्ञाता का अस्तित्व केन्द्रीय है। पारमार्थिक विधि के समर्थक इसी आधार पर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'स्वचैतन्य' विचार एव अस्तित्व की उच्चतम कोटि है। पुनश्च 'ज्ञाता के लिए अस्तित्व' सर्वोच्च प्रागनुभविक आकार है और समस्त आकार पारमार्थिक विचारण के द्वारा जाने जाते हैं। अतः ज्ञाता को भी इसी विधि से जाना जा सकता है।

पारमार्थिक विधि को स्वीकार करने वाले आत्मज्ञान के क्षेत्र में निम्नलिखित मान्यताओं को स्वीकार करके चलते हैं–

1. आत्मा एवं ज्ञान में द्रव्य एवं गुण का सम्बन्ध नहीं है।
2. ज्ञान स्वयं से भिन्न किसी अन्य पद के द्वारा परिभाष्य नहीं है।
3. ज्ञाता एवं ज्ञेय का सम्बन्ध अनन्य है और ज्ञेयों के पारस्परिक सम्बन्धों की प्रागपेक्षा है।

पारमार्थिक विधि में आत्मा भेदों में अभेद के रूप में सिद्ध होता है। नव्य हेगलवादी विचारक इस मत का समर्थन करते हैं; किन्तु विचार के प्रत्येक विषय को 'भेद में अभेद' के रूप में स्वीकार कर लेने पर भी यह सिद्ध नहीं होता कि ज्ञाता भी 'भेद में अभेद' रूप है; जिसके समक्ष समस्त ज्ञेय प्रस्तुत होते हैं। आकार और द्रव्य में से ज्ञाता को आकार भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि यह भेद भी उसी पर निर्भर है और इस भेद को जानने के लिए ज्ञाता को इन दोनों से भिन्न होना चाहिए। प्रो. मुखर्जी नें प्रिंगल पेटीसन को उद्धृत किया है कि नव्य हेगलवादी एक तार्किक आदर्श को सिद्ध करते हैं, जो वास्तविक आत्मा नहीं हो सकता। ज्ञाता–ज्ञेय सम्बन्ध के माध्यम से सिद्ध आत्मा अनात्म के सम्बन्ध के द्वारा निर्धारित होने के कारण अनेक ज्ञेयों में से एक है। इसीलिए बोसांके भी इस विधि से निर्धारित आत्मा को परमसत्ता नहीं स्वीकार करते। टी० एच० ग्रीन ने इस कठिनाई को दूर करने के लिए यह कहा कि यद्यपि यह सत्य है कि आत्मा समस्त ज्ञेय विषयों का आधार है, किन्तु स्वरूपतः 'यह क्या है' नहीं कहा जा सकता। सम्बन्धों के माध्यम से निस्सम्बन्ध आत्मा का निर्धारण नहीं हो सकता। एडवर्ड केयर्ड ने आत्मा को 'भेदों में व्याप्त अभेद' के रूप में स्वीकार करते हुए काण्ट की आलोचना इस बात पर किया, कि उन्हें आत्मा ज्ञेय के रूप में क्यों नहीं दिखायी पड़ी? और ग्रीन लॉक की आलोचना करते हुए यह कहते हैं, कि लॉक ने उसे जानने का प्रयास किया जो समस्त ज्ञान का आधार है। परिणामस्वरूप केयर्ड विकेन्द्रीकरण के दोष में और ग्रीन अज्ञेयवाद में फँस गये।

प्रो. मुखर्जी ने आत्मज्ञान की इन विधियों की विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचना की है, जिसमें इनके पारस्परिक विरोध स्पष्ट हो जाते हैं। दोनों ही विधियाँ अन्ततोगत्वा किसी न किसी तर्कदोष में उलझ जाती हैं। या तो विकेन्द्रीकरण का दोष उनमें दिखायी पड़ता है, या वे अज्ञेयवाद के दोष से ग्रस्त हो जाती हैं, या फिर किसी अयथार्थ ज्यामितीय बिन्दु को आत्मा मान बैठती हैं, अथवा आत्मा की संकल्पना रिक्त आकार रूप में कर लेती हैं। आत्मज्ञान की विधियों के इस पारस्परिक द्वन्द्व का किन्चित् व्यापक वर्णन आवश्यक एवं उपयुक्त लगता है।

III

पाश्चात्य दर्शन में आत्मज्ञान की समस्या पर दो दृष्टिकोण मिलते हैं। प्रथम वह दृष्टिकोण है, जिसमें काण्ट के द्वारा किये गये 'ज्ञाता के रूप में आत्मा' और 'द्रव्य के रूप में आत्मा' के भेद को अस्वीकार किया गया है। यह दृष्टिकोण आत्मा को इन्द्रिय, मनस, मस्तिष्क और आजकल तो कम्प्यूटर के रूप में भी स्वीकार कर लेता है। इस मान्यता में आत्मा के विषय में कुछ भी रहस्यात्मक नहीं रह जाता। द्वितीय दृष्टिकोण वह है, जिसमें 'ज्ञाता के रूप में आत्मा' एवं 'द्रव्य के रूप में आत्मा' के भेद को स्वीकार किया गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार आत्मा ज्ञेय के साथ – साथ स्वंय को भी प्रकाशित करता है। प्रथम दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक और संज्ञानवादी है तथा द्वितीय दृष्टिकोण ज्ञानमीमांसीय है।

मनोवैज्ञानिक विचारधारा

प्रो. मुखर्जी ने मनोवैज्ञानिक विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए जेम्स वार्ड कृत अनुभव के विश्लेषण को उद्धृत किया है। वार्ड के अनुसार अनुभव के अन्तर्गत समस्त ज्ञान, अनुभूति, क्रिया, तथ्य, सिद्धान्त, भावनाएँ, आदर्श एवं साध्य सम्मिलित हैं।[2] वार्ड यह मानते हैं कि ज्ञाता एवं ज्ञेय का द्वैत अनुभव का स्थायी लक्षण है और यह प्रत्येक स्तर पर प्रकट होता है। अनुभव के विकास की पराकाष्ठा आत्मचेतना में होती है। उनके अनुसार अनुभव का एक स्तर से दूसरे स्तर तक विकास होता है; किन्तु ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण के समर्थक इस तथ्य की अनदेखी करते हैं। उनके अनुसार अधिकांश भ्रम इस कारण उत्पन्न होते हैं, कि हम यह स्वीकार नहीं करते कि विचार और तर्क सामाजिक अन्तर्क्रिया के परिणाम हैं। इस अन्तर्क्रिया द्वारा सम्पन्न क्रमिक विकास को स्वीकार कर लेने पर 'मनुष्य स्वतः बौद्धिक प्राणी है' की अपेक्षा 'मानवता ने बौद्धिकता को अर्जित किया है' कहना अधिक उचित लगता है। ऐसा न मानने पर भ्रमवश मनोविज्ञान के स्थान पर ज्ञानमीमांसा की स्थापना कर दी जाती है और इससे आत्मनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ का द्वन्द्व उत्पन्न होता है। वार्ड यह मानते हैं कि इन भ्रमों और द्वन्द्वों को मनोविज्ञान व्यक्तिगत अनुभव तथा सार्वजनिक अनुभव के स्पष्ट भेद के द्वारा दूर कर सकता है।

मनोवैज्ञानिक किसी अन्य व्यक्ति के अनुभव का विश्लेषण करते समय द्वैधपाश में फँसा दिखता है। 'अनुभव का दृष्टिकोण' और 'अनुभव की व्याख्या का दृष्टिकोण' अलग–अलग हैं, अतः यदि मनोवैज्ञानिक अन्य व्यक्ति के अनुभव की व्याख्या करते समय अपना दृष्टिकोण मिश्रित करता है, तो मनोवैज्ञानिक दोष से, और यदि नहीं मिश्रित करता है, तो अबोधगम्यता के दोष से ग्रस्त हो जाता है। वार्ड यह मानते हैं कि निम्नस्तर पर अनुभव की व्याख्या में अबोधगम्यता का अंश होता है, किन्तु इसके क्रमिक विकास में यह दोष दूर होता जाता है। वार्ड की मान्यता है कि

विकास का तात्पर्य संभावित का वास्तविकीकरण नहीं है, अपितु विकास की उत्तर अवस्था नितान्त नवीन होती है और पूर्व अवस्था से पूर्णतः भिन्न होती है। किन्तु विकास के इस स्वरूप में क्रम भंग दिखाई पड़ता है, और आत्म–चेतना का विकास तो इस विधि से संभव ही नहीं है। इसीलिए ग्रीन ने कहा था कि आत्म–चेतना का प्रकृतिक इतिहास असंभव है। कोई भी मनोवैज्ञानिक अनुभव का विश्लेषण करते समय अपने दृष्टिकोण को पूर्णतया अलग ही नहीं रख सकता। उदाहरण के लिए यदि कोई मनोवैज्ञानिक वनस्पतिशास्त्री भी है, तो किसी फूल को देखकर किसी व्यक्ति के अनुभव की व्याख्या करते समय क्या अपने ज्ञान के उस अंश को अलग रख सकता है, जो वनस्पतिशास्त्री के रूप में उसे प्राप्त है? यही कारण है कि मनोवैज्ञानिक व्याख्या सदैव 'मनोवैज्ञानिक तर्कदोष' से ग्रस्त होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समझने योग्य प्रत्येक विवरण में मनोवैज्ञानिक तर्कदोष होता है। पुनश्च ज्ञाता–ज्ञेय सम्बन्ध उस अन्तर्क्रिया की भी पूर्व शर्त है, जिसके माध्यम से जेम्स वार्ड चेतना के विकास की बात करते हैं।

जेम्स वार्ड ने ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण के इस कथन की आलोचना की है कि 'देश–काल का ज्ञान प्रागनुभविक है'। इसीलिए वे देश–काल, के सम्प्रत्यय और 'देशकाल के अनुभव' को अलग–अलग मानते हैं। देशकाल, कारणता इत्यादि को आनुभविक मान लेने पर इनके ज्ञान में कठिनाई नहीं रह जाती, किन्तु ऐन्द्रिक अनुभव में सार्वभौमिकता का अभाव अनिवार्यतः होता है। अतः जेम्स वार्ड का यह प्रयास सफल नहीं हो सका। यदि यह मान लिया जाय कि देश–काल का मानसिक सम्प्रत्यय ही आनुभविक देश–काल है, तब ज्ञानमीमांसा ही मनोविज्ञान का आधार बन जाती है। पुनश्च काण्ट का यह कथन कि सम्प्रत्यय ही ज्ञान की संरचना करते हैं, वार्ड के द्वारा की गयी अनुभव की व्याख्या में प्रकारान्तर से सन्निहित है। इस सम्प्रत्ययात्मक संरचना का अन्तिम स्रोत तो आत्मा ही है, चाहे यह शुद्ध अहं के रूप में हो या अतीन्द्रिय समाकल्पन की एकता के रूप में हो। प्रो. मुखर्जी ने इस बिन्दु पर यह कहा है कि हमारा उद्देश्य अनुभव के मनोविज्ञान का खण्डन करना नहीं है, अपितु यह दिखाना हमारा अभिप्राय है कि उसे उन सिद्धान्तों की वैधता स्वीकार करनी पड़ती है, जो विचार और अस्तित्व के आधार हैं, क्योंकि चाहे यह सत्य भी हो कि आत्म–चेतना, अनुभव के विकास की एक अवस्था में उद्भूत होती है, तथापि यह आत्म–चेतन व्यक्ति के द्वारा तार्किक कोटियों के माध्यम से की गयी व्याख्या के खण्डन का पर्याप्त आधार नहीं है। उन्होंने यह भी कहा है कि क्या समस्त व्याख्याएँ कोटियों की वस्तुगत वैधता को स्वीकार नहीं करतीं? पुनश्च वार्ड ने कहा है कि 'ज्ञाता ज्ञान के क्रम में अन्तिम किन्तु अस्तित्व के क्रम में प्रथम है' क्या यही विचार कोटियों के सन्दर्भ में भी वैध नहीं माना जा सकता? जेम्स वार्ड की व्याख्या आत्मज्ञान की समस्या को सुलझाने के बजाय उसमें सन्निहित विरोधाभास को और स्पष्ट कर देती है।

जी. एफ. स्टाउट ने जेम्स वार्ड की आलोचना करते हुए कहा है, कि उनका सिद्धान्त मनोवैज्ञानिकों के लिए अनुकरणीय है, किन्तु आत्माज्ञान के लिए सक्षम नहीं है, क्योंकि इस सिद्धान्त में आत्मा को ज्ञेय के रूप में ही जाना जा सकता है और ज्ञेय बनते ही वह ज्ञाता नहीं रह जाता। वार्ड की व्याख्या सदोष होते हुए भी अन्य मनोवैज्ञानिकों की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं गहन है। उसके दोष 'मनोवैज्ञानिक की मजबूरी' है, जो विज्ञान की परिधि में अनिवार्यतः

उत्पन्न होती है। वार्ड के विचारों में जीव वैज्ञानिक आग्रह के कारण उनका आत्म विषयक मत अपूर्ण रह गया। उन्होंने जिस शुद्ध अहं की स्थापना की है, वह रिक्त आकार की ही तरह है। इसका मूल कारण यह था, कि उन्होंने ज्ञानमीमांसीय विचारों को मनोवैज्ञानिक तथ्यों से मिश्रित करने का प्रयास किया। किन्तु मनोविज्ञान और ज्ञानमीमांसा के दृष्टिकोणों का जो विरोध है, उससे वार्ड का सिद्धान्त न तो मनोविज्ञान को सन्तुष्ट कर सका और न ही ज्ञानमीमांसा को। वार्ड ने अनुभव और ज्ञान में अन्तर किया है। शुद्ध अहं अस्तित्व की दृष्टि से प्रथम और ज्ञान की दृष्टि से अन्तिम है। उनके अनुसार यह ज्ञान उस अर्थ में ज्ञान नहीं है, जिसमें ज्ञेय वस्तु का होना आवश्यक होता है। उनके अनुसार अनुभव ज्ञान की अपेक्षा अधिक व्यापक है। अतः शुद्ध अहं का अनुभव तो किया जा सकता है, किन्तु ज्ञेय के रूप में नहीं जाना जा सकता। किन्तु कठिनाई को टालने का उनका यह प्रयास सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि यदि अनुभव सदैव ज्ञाता–ज्ञेय सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है, तो क्या यह संभव है कि ज्ञाता का अनुभव बिना उसे ज्ञेय में परिवर्तित किये, किया जा सके? वार्ड स्वयं मानते हैं कि अनुभव ज्ञाता के बिना संभव नहीं है, तो ज्ञाता का अनुभव करने के लिए भी एक अन्य ज्ञाता की आवश्यकता होगी और यह क्रम अनवस्था दोष को उत्पन्न करता है। स्पष्ट है, कि मनोवैज्ञानिक विधि उस आत्मा को जानने में असफल रही, जिसे जानने का वह दावा करती है।

ज्ञानमीमांसीय विधि

मनोवैज्ञानिक विधि अपनी मूलभूत कठिनाइयों के कारण पारमार्थिक भ्रम से ग्रस्त दिखायी पड़ती है। नव्य काण्टवादी और नव्य हेगलवादी विचारक अन्य बिन्दुओं पर मतभेद रखते हुए भी आत्मा विषयक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का समान रूप से विरोध करते हैं। इस विरोध का मुख्य लक्ष्य यह स्थापित करना था, कि ज्ञाता द्रव्य नहीं है और न ही ज्ञान गुण हैं। मनोवैज्ञानिकों ने आत्मा को ज्ञेय के रूप में स्वीकार करने के कारण पारमार्थिक विस्थापन का दोष ओढ़ लिया। दूसरा विकल्प पारमार्थिक आत्मा का सिद्धान्त है, जो समस्त बौद्धिक ज्ञान की सीमा से परे होने के कारण अज्ञेयवाद से ग्रस्त दिखायी पड़ता है। नव्य प्रत्ययवादियों ने तीसरे विकल्प का दावा किया है, जिसके अनुसार अन्य ज्ञेय वस्तुओं जैसा न होते हुए भी आत्मा का ज्ञान संभव है। इस विचारधारा के प्रमुख प्रतिपादकों में टी0 एच0 ग्रीन और एडवर्ड केयर्ड हैं। ग्रीन आत्मा के ज्ञाता स्वरूप और 'द्रव्यस्वरूप' के भेद को स्वीकार करके स्वमत का प्रतिपादन करते हैं। ज्ञेय जगत् का ज्ञान और इसका अस्तित्व दोनों ही चेतना की एकता की प्रागपेक्षा रखते हैं। यह चेतना की एकता का सिद्धान्त वस्तु जगत के ज्ञान की अन्तिम शर्त है। यह चेतना प्रकृति के नियमों का निरूपण करने में सहायक है, किन्तु स्वंय उन नियमों से बँधी नहीं है। यह समस्त कोटियों की जननी है, किन्तु इसे किसी कोटि में नहीं रखा जा सकता। चेतना की एकता का यह सिद्धान्त जो द्रव्य, कारण आदि कोटियों का कारण है और व्यष्टिगत चेतना का आधार है, स्वयं ज्ञेय प्रकृति की सीमित वस्तुओं में से एक नहीं हो सकता। इस व्यापक चेतना का अस्तित्व विश्व के अस्तित्व द्वारा आपादित है और इसके स्वरूप का परोक्ष ज्ञान इसके कार्य स्वरूप विश्व के माध्यम से होता है। भावात्मक रूप से इसके विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि यह प्रत्येक ज्ञान की पूर्व शर्त है।

ग्रीन के विश्लेषण से ऐसी पारमार्थिक आत्मा का संकेत मिलता है, जिसे वस्तु की तरह नहीं जाना जा सकता। यही कारण है कि उनके आलोचक इस आत्मा को ज्यामितीय बिन्दु और काल्पनिक बिन्दु जैसी संज्ञा देते हैं। ग्रीन की इसी कमजोरी का आरोपण सम्पूर्ण ज्ञानमीमांसीय विश्लेषण पर कर दिया जाता है। किन्तु यह आरोप अविचारित है और ग्रीन की मूल मान्यताओं को दृष्टि में रखे बिना लगाया गया है। 'आधारभूत एकता' और 'ज्ञेय विषय के आकार' के बीच प्रायः भ्रम हो जाता है, अतः इस आत्मा को रिक्त आकार कहना या न कहना इस बात पर निर्भर है कि हम किस सीमा तक इस भ्रम को दूर कर सके हैं। अर्थात् 'ज्ञाता–ज्ञेय सम्बन्ध' और 'ज्ञेय विषयों का पारस्परिक संबन्ध' अलग–अलग प्रकार के सम्बन्ध है, इस सत्य की समझ पर निर्भर है, कि हम आत्मा के किस रूप को रिक्त आकार कह रहे हैं। ज्ञाता तो समस्त ज्ञान का आधार है, अतः इसे इस कारण रिक्त आकार कहना उचित नहीं है कि यह विषय के रूप में ज्ञेय नहीं है। ग्रीन का विश्लेषण निश्चय ही रिक्त आकार की ओर संकेत करता है, किन्तु यह उनकी ज्ञानमीमांसा के दोष का नहीं, अपितु उनके विश्लेषण की गहनता का परिचायक है! हेगेल के प्रभाव के कारण उन्होंने इसी 'रिक्त आकार' को स्वचेतन आध्यात्मिक सत्ता कहा है। समस्त सत्तायें उसी की क्रिया अथवा अभिव्यक्ति हैं। क्रियायुक्त ज्ञाता और अभिव्यक्तियुक्त ज्ञेय परस्पर संबद्ध हैं किन्तु ग्रीन का अभिप्राय यह नहीं है कि ज्ञाता और ज्ञेय समान रूप से सत् होने के कारण, समान विधि से जाने भी जा सकते हैं। वे अनेकशः' यह कहते हैं कि ज्ञाता को द्रव्य, गुण, कारण इत्यादि कोटियों में नहीं रखा जा सकता।

ग्रीन की भाषा ऐसी है, जिससे यह संकेत मिलता है कि आध्यात्मिक सत्ता और उसका संबंध, विषय और विश्व का निर्माण करने वाले सम्बन्धों से पूर्णतः भिन्न नहीं है। यद्यपि वह अनेक प्रसंगों में इस बात पर बल देते हैं कि परमसत्ता निरपेक्ष है, और दृश्य जगत् की रचना करने वाले सम्बन्धों से परे है, तथापि वे ज्ञाता – ज्ञेय के अन्तस्सम्बन्धों का विवेचन करते हुए कहते हैं, कि एक का निर्धारण दूसरे के निर्धारण को आपादित करता है। इस प्रक्रार परमसत् को कभी निरपेक्ष और कभी सापेक्ष बना देते हैं। ग्रीन की इस दोलायमान स्थिति का कारण संभवतः यह है कि वह ज्ञान के विश्लेषण से प्राप्त रिक्त आधार में कुछ (तथ्य) भरने का प्रयास करने में लग गए। यहाँ वे स्वयं अपने विश्लेषण की परिधि का अतिक्रमण करते दिखाई देते हैं। ग्रीन के आलोचक ठीक कहते हैं, कि उन्होंने काण्ट की पारमार्थिक आत्मा को निरपेक्ष चेतना में परिवर्तित कर दिया और साथ ही इसका विरोध भी उनके विचारों में दिखाई पड़ता है, जब वे कहते हैं कि आत्मा को शाश्वत आध्यात्मिक सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में नहीं जाना जा सकता। आत्मा के विषय में ग्रीन केवल इतना कहते हैं, कि इसे विषय के रूप में नहीं जाना सकता। एडवर्ड केयर्ड द्वारा की गयी ग्रीन की आलोचना में भी यह बात स्पष्ट दिखती है, कि उनके दर्शन का निषेधात्मक पक्ष भावात्मक पक्ष की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

ज्ञानमीमांसीय विधि के दूसरे प्रबल प्रतिपादक एडवर्ड केयर्ड थे। ग्रीन ने अपनी तार्किक प्रतिबद्धता के फलस्वरूप मनस् और आत्मा के अन्तर को महत्त्व दिया और इसी कारण वे अज्ञेय वाद के पक्ष में चले गए। केयर्ड ने इस अन्तर को उतना महत्त्वपूर्ण नहीं माना, इसलिए वे ग्रीन और विशेषतः काण्ट के निष्कर्ष के विपरीत खड़े दिखते हैं। काण्ट के साथ केयर्ड यह स्वीार करते

हैं, कि 'आत्मा की पारमार्थिक एकता' का सिद्धान्त प्रत्येक ज्ञान की प्रागपेक्षा है, किन्तु काण्ट द्वारा की गई विवेचना को वे दोषपूर्ण पाते हैं। उनकी दृष्टि में काण्ट स्वयं तर्काभास में फँसे दिखते हैं। पारमार्थिक मनोविज्ञान की असंभावना को सिद्ध करते समय काण्ट कतिपय पूर्वकल्पित विचारों से आबद्ध दिखते हैं। स्वयं काण्ट के विश्लेषण से यह प्रतीत होता है, कि प्रत्येक ज्ञेय विषय ज्ञाता संबद्धता की अपेक्षा रखता है, अर्थात् यह सरल तादात्म्य नहीं है, अपितु इसमें भेद भी निहित है। पूर्वाग्रह के कारण काण्ट इसे शुद्ध तादात्म्य मान लेते हैं, जबकि यह 'भेद में अभेद' रूप है। इस पूर्वाग्रह को छोड़ते ही स्पष्ट हो जाता है कि आत्म–चेतना सरल तादात्म्य नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह या तो शुद्ध ज्ञेय होता, या शुद्ध ज्ञाता। वस्तुतः वह एक साथ दोनों है, समस्त ज्ञेय विषय उसके लिए है, परन्तु वह स्वयं अपने लिए है। इस दृष्टि से आत्म–चेतना सर्वोच्च ज्ञान है, क्योंकि इसमें ज्ञेय ज्ञाता से अलग होते हुए भी पूर्णतः एकीकृत है। केयर्ड की दृष्टि में ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध तब और भी घनिष्ठ हो जाता है, जब भेद के प्रकट होते हुए भी ज्ञाता और ज्ञेय में तादात्म्य स्थापित हो जाता है। जब द्वैत को तादात्म्य की अभिव्यक्ति मान लिया जाता है, अथवा जब चेतना का संक्रमण आत्म–चेतना में हो जाता है। आत्म–चेतना की अवधारणा उनके लिए समस्यात्मक है, जो तादात्म्य और भेद में वास्तविक विरोध मानते हैं। जब यह स्थापित हो जाता है, कि ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत का अतिक्रमण करती हुई एक ऐसी एकता है, जिसमें समस्त विरोधों का शमन हो जाता है, तब यह समझने में कठिनाई नहीं होती कि आत्मा का अस्तित्व समस्त विरोधों का समाधान है।

केयर्ड के इन विचारों से स्पष्ट है, कि आत्मा एक सावयव एकता है और आत्म चेतना एक व्यवहित चेतना है, जो वस्तु चेतना की प्रागपेक्षा रखती है। इस विवरण से यह भी स्पष्ट होता है, कि वस्तु–चेतना और आत्म–चेतना साथ–साथ विकसित होती है और केयर्ड आत्म–चेतना के इस सावयव विकास से आध्यात्मिक सिद्धान्त तक का विवरण देते हैं, जिसकी अभिव्यक्ति यह विश्व है। उनकी मान्यता है कि देश–काल और उसमें स्थित वस्तु–जगत् को तब तक ठीक से नहीं जाना जा सकता, जब तक इन्हें चेतन आत्मा से सम्बद्ध न माना जाए और आत्म चेतना का अंग न समझ लिया जाए। द्वन्द्वात्मक विकास के क्रम में यह आध्यात्मिक सिद्धान्त स्वयं अपनी एकता को स्थापित करता है और यह स्वीकार करके चलता है कि देश–काल में स्थित विश्व इसी की अभिव्यक्ति है। इस विवरण का स्वरूप हमें उस मूल प्रश्न की ओर ले जाता है, कि क्या यह व्यवहित आत्म–चेतना उस मूल समस्या का समाधान करती है, जो उस आत्मा के स्वरूप की समस्या है जो समस्त ज्ञान एवं अनुभव का आधार है? वास्तव में सारी उलझन का कारण यह है कि ये सभी दार्शनिक आत्मा शब्द से अलग–अलग अर्थ ग्रहण करते हैं। केयर्ड चेतना से आत्म–चेतना तक के जिस विकास की बात करते हैं, वह तो देश–काल–कोटि सापेक्ष है और देश–काल–कोटि वस्तुत्त्व की शर्तें हैं। अतः इस सापेक्ष आत्म–चेतना का सही आर्थों में ज्ञाता नहीं कहा जा सकता।

केयर्ड उन्हीं आधार वाक्यों से अपना विश्लेषण प्रारम्भ करते हैं, जिनसे टी.एच. ग्रीन ने किया था। इन आधार वाक्यों की तार्किक परिणति अज्ञेयवाद में होती है और ग्रीन के प्रसंग में यह निष्कर्ष दिखाई पड़ते हैं। इसी कारण एक असंगत निष्कर्ष निकालते हुए केयर्ड ज्ञाता को भी

ज्ञेय वस्तुओं की श्रेणी में रख देते हैं और स्वयं अपनी आरम्भिक मान्यताओं को सुरक्षित नहीं रख पाते। आत्म–चेतना के विकास को स्वीकार कर लेने पर परम सत्ता की विभिन्न अवस्थाएं कालगत हो जाती हैं। य़द्यपि केयर्ड इस बाह्यता का निषेध करने का प्रयास करते हैं, किन्तु कठिनाई यह है कि जब तक वह स्वचेतन सत्ता विकास में संलग्न है, तब तक उसकी अवस्थिति देश–कालगत ही होती है और वह स्वयं के लिए अस्तित्ववान नहीं हो सकती। यदि वह देश–काल निरपेक्ष मान ली जाय, तो परिवर्तन और विकास अर्थहीन हो जाते हैं। इस कठिनाई का उत्तर देते हुए केयर्ड ने कहा है कि देश–काल और उसमें स्थित समस्त वस्तुएँ आत्मा के लिए होती हैं, किन्तु चूँकि यह स्वचेतन सत्ता निगमित स्वचेतना है, अतः इसे केवल ज्ञाता के रूप में नही अपितु ज्ञेय के रूप में भी स्वीकार करना पड़ेगा, यद्यपि यह सत्य है कि आत्मा सही अर्थ में केवल ज्ञाता होना चाहिए। केयर्ड एक दो राहे पर खड़े दिखाई पड़ते हैं, जहाँ उन्हें निम्नांकित दो विकल्पों में से एक चुनने की बाध्यता थी। प्रथम विकल्प था कि आत्मा अन्य ज्ञेय वस्तुओं सदृश ज्ञेय है और द्वितीय विकल्प यह था कि आत्मा अज्ञेय है। ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त के ठीक विपरीत होते हुए भी केयर्ड ने प्रथम विकल्प को चुना और पारमार्थिक विस्थापन के उस दोष से ग्रस्त हुए, जिसमें मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त फँसा था। केयर्ड के द्वारा प्रयुक्त 'निगमित आत्म–चेतना' और 'विषय के रूप में स्वीकृत ज्ञाता' जैसे सम्प्रत्यय ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्तों की अवहेलना किए बिना टिक ही नहीं सकते। वस्तुतः ये अचिन्त्य और स्वव्याघाती पद हैं, जो तर्क से नहीं अपितु केयर्ड के ज्ञान सम्बन्धी पूर्वाग्रह से उत्पन्न हुए हैं। उनके दर्शन में जिस 'भेद में अभेद' सत्ता को स्वीकार किया गया है, वह न शुद्ध ज्ञाता है और न ही शुद्ध ज्ञेय है। यही कारण है कि उनकी दार्शनिक स्थिति में रह कर यह कहना संभव नहीं रह जाता, कि स्वचेतन सत्ता अन्य ज्ञेय विषयों के साथ–साथ स्वयं को भी उसी तरह जानती है, जैसे प्रकाश अन्य वस्तुओं के साथ–साथ स्वयं को भी प्रकाशित करता है। केयर्ड स्वयं ही आत्मा के संदर्भ में दो विकल्पों की चर्चा करते हैं। एक यह कि आत्मा समस्त काटियों से परे, उनकी एकता का आधार है; और दूसरा विकल्प यह कि आत्मा स्वयं सर्वोच्च कोटि है। प्रथम विकल्प आत्मा का अज्ञेय मानता है, क्योंकि जो भी ज्ञेय है, वह कोटि से बंधा है। दूसरे विकल्प में आत्मा ज्ञेय अवश्य है, किन्तु तब वह ज्ञाता नहीं रह जाता। केयर्ड दूसरे विकल्प को अधिक महत्त्व देते हैं। केयर्ड काण्ट का संशोधन करने के संकल्प से अपने दर्शन का आरम्भ करते हैं; किन्तु इसमें वे सफल नहीं हो सके। इसके विपरीत एक तार्किक ज्ञाता को तत्त्वमीमांसीय सत्ता मान लेने की गलती कर बैठे। आत्मा को भेद में अभेद रूप मान कर उसे देश–काल–कोटि से पृथक् करना तो संभव है, किन्तु शुद्ध ज्ञाता से इसका तादात्म्य संभव नहीं है, और यदि ज्ञाता से इसका तादात्म्य मान लिया जाए, तब ज्ञाता से अन्य विषयों का तादात्म्य भी मानना पड़ेगा और ज्ञाता तथा ज्ञेय का भेद ही निरर्थक हो जाएगा। केयर्ड यह नहीं देख पाते कि ज्ञेय और ज्ञाता का सम्बन्ध विभिन्न ज्ञेय विषयों के पारस्परि सम्बन्धों से भिन्न प्रकार का है। इसीलिए ज्ञाता के स्थान पर ज्ञेय को रख देने का साहस उन्होंने किया है। वस्तु को ज्ञान का विषय सिद्ध करते समय केयर्ड विषयों के अन्तस्सम्बन्धों का विश्लेषण करते हैं और सम्बन्ध के इन्हीं लक्षणों का आरोपण ज्ञाता–ज्ञेय सम्बन्ध पर भी कर डालते हैं।

केयर्ड जिस आध्यात्मिक एकता ही स्थापना करते हैं, उस पर एक सीधा सवाल पूछा जा सकता है कि वह ज्ञेय है या नहीं? यदि ज्ञेय है तो विषय से भिन्न वह नहीं हो सकता और यदि नहीं है तो उसे अज्ञेय मानने की बाध्यता है। भेद और अभेद उसी प्रकार की कोटियाँ हैं जैसे कारणता, द्रव्य इत्यादि; और ये काटियाँ विषयत्त्व के लक्षण हैं, विषयित्त्व के नहीं। अतः भेद में अभेद रूप केयर्ड का परमतत्त्व भी विषय के लक्षणों से युक्त दिखाई पड़ता है। केयर्ड प्रयोज्य मानते हैं। किन्तु कोटि कितनी भी उच्च क्यों न हो, उसे जहाँ भी प्रयुक्त किया जाएगा वह ज्ञाता नहीं ज्ञेय ही होगा। जो ज्ञाता विश्व को अर्थवान बनाता है, वह विश्व का अवयव नहीं हो सकता। ग्रीन के विचारों की चर्चा करते समय केयर्ड ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि ज्ञाता विश्व का अंग नहीं हो सकता, क्योंकि यवि वह विश्व का अंग होगा, तो उसे जान नहीं सकता। किन्तु यह सब कहने के बावजूद केयर्ड अज्ञेयवाद विरोधी पूर्वाग्रह के कारण अनिवार्य निष्कर्ष को भी अस्वीकार कर देते हैं। ग्रीन ने भी यह स्वीकार किया था कि जो समस्त काटियों का स्रोत है, उसे कोटि में नहीं बाँधा जा सकता और इसके आगे आत्मा के स्वरूप को खोजने का प्रयास उन्होंने बन्द कर दिया। शायद तार्किक सुसंगति को त्यागे बिना इससे आगे बढ़ना संभव नहीं था। ग्रीन और केयर्ड की तुलना करते हुए प्रो. ए.सी. मुखर्जी ने ग्रीन की अन्तर्दृष्टि को केयर्ड की अन्तर्दृष्टि से अधिक गहन माना है। किन्तु वे काण्ट की दृष्टि को गहनतर मानते हैं। काण्ट के परवर्तियों ने उनके दोषों को दूर करने का प्रयास अवश्य किया, किन्तु वे काण्ट की गहराई तक नहीं पहुँच सके।

IV

आत्मा के स्वरूप की जिस जिज्ञासा से यह विचारयात्रा आरम्भ हुई, उसमें अब तक प्राप्त मनोवैज्ञानिक और ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त सन्तोषजनक समाधान देने में असमर्थ रहे। इससे यह संकेत मिलता है, कि यात्रा अभी पूरी नहीं हुई है। प्रो0 मुखर्जी ने इस क्रम को आगे बढ़ाते हुए भारतीय परिप्रेक्ष्य की विशद् चर्चा की है। उन्होंने प्रश्नोपनिषद् के शांकरभाष्य को उद्धृत किया है, जहाँ आत्मविषयक चार प्रकार के सिद्धान्तों की समीक्षा की गई है –

1. आत्मा का क्षणिक चेतना के रूप में स्वीकार करने वाला सिद्धान्त
2. आत्मा का अस्तित्व का निषेध करने वाला सिद्धान्त
3. चेतना को नित्य आत्मा का नश्वर गुण मानने वाला सिद्धान्त
4. चेतना को जड़ द्रव्य का गुण मानने वाला सिद्धान्त

उपर्युक्त सभी मतों की अपर्याप्तता की चर्चा आचार्य आचार्य शंकर ने इस भाष्य में की है। उनके अनुसार ज्ञान के अभाव में कोई विषय नहीं हो सकता। विषय का रूप परिवर्तित हो सकता है। किन्तु चैतन्य में परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि वह सबके साथ–साथ परिवर्तन का भी साक्षी है। इस चैतन्य के बिना तो विषय के अभाव का भी ज्ञान नहीं हो सकता। अद्वैत वेदान्त का यह दृढ़ मत है कि चैतन्य सर्वदा और सर्वथा विषय से भिन्न होता है। इस मान्यता से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक यह कि चैतन्य स्वयं अपना विषय नहीं हो सकता और दूसरा यह कि चैतन्य का विषय अचेतन अथवा जड़ होता है। चैतन्य दो तत्त्वों का सम्बन्ध नहीं है, अपितु ऐसा प्रकाश है, जो समस्त विषयों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों को प्रकाशित करता है। चैतन्य इस सम्पूर्ण

विषय जगत् का केन्द्र है, जिसमें जड़ विषयों के साथ–साथ इन्द्रियाँ एवं मन भी सम्मिलित है। सामान्यतः इसे आत्मा का केन्द्रीय सिद्धान्त कहते हैं, जिसके अनुसार समस्त विषय, विषयी से सम्बद्ध होकर अर्थवान् बनते हैं। सम्पूर्ण विश्व इसी के द्वारा प्रकट किया गया है, जैसे समस्त आकार एवं रंग सूर्य के प्रकाश के द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं। नैष्कर्म्यसिद्धि में सुरेश्वर ने 'सर्वमात्मपूर्वकम्' अर्थात् आत्म एवं अनात्म तत्त्व प्रत्यक्षादि ज्ञान के साधनों द्वारा स्थापित होते हैं; किन्तु अनात्म की स्थापना सदैव इस मान्यता पर आधारित होती है कि आत्मा की सत्ता है। 'चैतन्य की सत्ता विषय के पूर्व है', यह न केवल प्रत्ययवाद में अपितु वस्तुवाद में भी सिद्ध होता है। यदि वस्तुवादियों के साथ यह मान भी लिया जाय कि ज्ञान विषय की सृष्टि नहीं करता, अपितु केवल उसे प्रकट करता है, जो विषय पहले से विद्यमान हैं, तब भी यह तो निर्विवाद है कि चैतन्य के बिना विषयों की अभिव्यक्ति संभव नहीं है। टी0एच0ग्रीन ने भी इसके सदृश मत का प्रतिपादन किया है, किन्तु आर0बी0 पेरी ने इस स्थिति को केवल प्रत्ययवाद के लिए उचित कहा है। पेरी की यह मान्यता असंगत है, क्योंकि उक्त मान्यता वस्तुवाद के साथ भी समान रूप से सत्य दिखायी पड़ती है।

अद्वैत वेदान्त के एतद् विषयक सिद्धान्त को समझने के लिए यह आवश्यक है कि पूर्व पक्ष के रूप में प्रयुक्त पूर्वोक्त चार मतों का परीक्षण किया जाय। विज्ञानवादी बौद्धों के क्षणिक चैतन्यवाद से असन्तुष्ट माध्यमिकों ने इसका पूर्ण निषेध ही कर दिया है। उनकी इस स्थिति की तुलना जेम्स वार्ड सदृश मनोवैज्ञानिकों से की जा सकती है। किन्तु वार्ड भी उस चेतना को गौण स्थान देते हैं; जिसका माध्यमिकों ने पूर्णतः निषेध कर दिया है। सर्ववैनाशिकवाद का खण्डन करते हुए अद्वैत मत मानता है कि किसी सत्ता का निषेध करने के लिए भी कोई न कोई भावात्मक सत्ता आवश्यक होती है। रज्जु–सर्प न्याय में भी सर्प के अस्तित्व का निषेध रज्जु के अस्तित्व के आधर पर होता है। यदि सबका निषेध किया जाय तो निषेध आत्मघाती हो जाता है, और परिणामतः जिसका निषेध किया जा रहा था, वह स्थापित हो जाता है। देकार्त का सन्देह भी सन्देह कर्त्ता पर पहुँचकर रूक जाता है। पाश्चात्य विचारकों ने या तो आत्मा को विषय के रूप में माना या इसे अज्ञेय कह दिया, किन्तु अद्वैतवेदान्त की मान्यता इन दोनों से पृथक् है। आत्मा विषय के रूप में ज्ञेय न होते हुए भी समस्त ज्ञान का आधार है और प्रकाश की भाँति अन्य सत्ताओं के साथ–साथ स्वयं को भी प्रकाशित करती है। इसे स्वयं प्रकाशता का सिद्धान्त कहा गया है।

आत्मा अथवा चैतन्य के विषय में अधिकांश भ्रम इस तार्किक मान्यता के कारण है, कि जो भी सत् है उसे अनिवार्यतः विचार का विषय बनना चाहिए। इस मान्यता का खण्डन करके इन भ्रमों को दूर किया जा सकता है। इसके खण्डन का किञ्चित् प्रयास बर्कले, अलेक्जेण्डर, जेम्स वार्ड आदि ने किया है, किन्तु अद्वैत वेदान्त में तो इसका पूर्णतः निराकरण हो जाता है। इस निराकरण से अज्ञेयवाद के मूल पर प्रहार होता है। अद्वैत वेदान्त यह मानता है कि सम्पूर्ण विश्व का ज्ञाता यह अथवा वह के रूप में ज्ञेय नहीं हो सकता। ज्ञाता–ज्ञेय सम्बन्ध पर आधारित आत्मा सम्बन्धी समस्त सिद्धान्त वैसे ही असफल रहे हैं, जैसे ह्यूम द्वारा इस दिशा में किया गया प्रयास। विषय के रूप में आत्मा को जानने का प्रयास निरर्थक श्रम है, क्योंकि विषय प्रमाण पर आश्रित होते हैं, जबकि आत्मा प्रमाण का आश्रय है और इसलिए प्रमाण के पूर्व ही उसकी सत्ता है।[3]

उपर्युक्त विवेचन चेतना के सम्बन्धात्मक सिद्धान्त के दोष को स्पष्ट कर देता है। यही स्थिति चेतना को गुण मानने वाले सिद्धान्तों की भी है। वर्तमान युग के यथार्थवादी और जड़द्रव्यवादी विचारक प्रत्ययवाद के विरूद्ध तर्क देते हैं, जिसका मूल आधार है कि चैतन्य ज्ञान की दृष्टि से पूर्ववर्ती होते हुए भी अस्तित्व की दृष्टि से विषय का परवर्ती है। शंकर ने चार्वाक मत के विरूद्ध जो तर्क दिये हैं, वे इस प्रसंग में उपादेय हैं। चार्वाक मान्यता में चेतना विभिन्न जड़ द्रव्यों के संयोग से उसी प्रकार उत्पन्न होती है; जिस प्रकार पान, सुपाड़ी, कत्था एवं चूना के संयोग से लाल रंग उत्पन्न होता है। प्रश्न यह उठता है कि जड़ द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न होने वाली चेतना का स्वरूप क्या है? यह चेतना या तो उन जड़ द्रव्यों का द्रष्टा है या उनका गुण है, किन्तु दोनों प्रश्न यह उठता है कि जड़ द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न होने वाली चेतना का स्वरूप क्या है? यह चेतना या तो उन जड़ द्रव्यों का द्रष्टा है या उनका गुण है, किन्तु दोनों स्थितियों में यह सिद्धान्त सदोष दिखायी पड़ता है। प्रथम स्थिति में जड़ द्रव्य एवं इनके उत्पाद चेतना के विषय बन जाते हैं और तब स्वयं चेतना ऐसे द्रव्यों का उत्पाद नहीं हो सकती है। द्वितीय स्थिति में यह कहना ही निरर्थक लगता है, कि भौतिक द्रव्यों का एक गुण–चेतना, अपने आधारभूत द्रव्यों एवं उसके अन्य गुणों को विषय के रूप में जानती है। चेतना को गुण मान लेने पर इसकी वह विशेषता समाप्त हो जाती है, जिससे यह स्वयं से भिन्न वस्तुओं को अपना विषय बनाती है। यह वैसी स्थिति है, जैसे यह कहा जाय कि अग्नि की दाहकता स्वयं अग्नि को जलाती है। आयार्य शंकर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि चेतना का स्वरूप भौतिक द्रव्यों से भिन्न होना चाहिए, अन्यथा वह भौतिक द्रव्यों का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकती। तात्पर्य यह है कि जड़ द्रव्य विषय होने के कारण चेतना के समक्ष प्रस्तुत होने में ही अर्थवान् बन सकता है। अतः चेतना द्रव्य का गुण नहीं हो सकती। शंकर के इस मत का आश्चर्यजनक ढ़ंग से अलेक्जेण्डर जैसे यथार्थवादी भी समर्थन करते हैं।[4] चार्वाक दर्शन के विरूद्ध शंकर ने यह कहा है कि जो जड़–द्रव्य चेतना का विषय है, वह चेतना की उत्पत्ति का कारण नहीं बन सकता। वास्तव में यह आलोचना जड़वाद और वस्तुवाद के विरूद्ध प्रत्ययवादियों द्वारा उठायी गयी आपत्ति है। ग्रीन ने भी इसी प्रकार की बात कही है। ये आलोचनाएँ प्रत्ययवाद और वस्तुवाद के मूल विवादों की ओर संकेत करती हैं। वस्तुवादी फिर भी कह सकता है कि 'ज्ञान की पूर्वता' 'अस्तित्व की पूर्वता' का विरोधी नहीं है, किन्तु 'अस्तित्व की पूर्वता' स्वयं एक विचार है और इसलिए तभी सत्य हो सकती है, जब इसके पूर्व विचारकर्ता चैतन्य विद्यमान हो। काण्ट ने भी यही कहा है, जो प्रकृति को अर्थवान् बनाता है वह प्रकृति का अंग नहीं हो सकता और यदि प्रकृति इतिहास से प्रतिबद्ध है, तो इतिहास चेतना का विषय होकर ही अर्थवान् बनता है।

प्रो. मुखर्जी ने शारीरक भाष्य[5] को उद्धृत करते हुए कहा है कि जो सर्वदा वर्तमान स्वभाव वाला है, वह भूत, वर्तमान एवं भविष्य जैसे कालगत विभाजन को भी अर्थवान् बनाता है, इसलिए इस विभाजन का प्रयोग उस पर नहीं हो सकता। यह विभाजन केवल विषयों पर ही प्रयुक्त होता है। भारतीय दर्शन में न्याय–वैशेषिक और पाश्चात्य दर्शन में जॉन लॉक एक ऐसे आत्म–द्रव्य को स्वीकार करते हैं, जो अनित्य एवं परिवर्तनशील चेतना का आधार है। यह सिद्धान्त चेतना की उत्पत्ति जड़–द्रव्य से नहीं, बल्कि आत्मा से मानता है। इसका आरम्भ चित्–अचित् द्वैत के साथ

होता है और यह ज्ञान को एक ऐसे गुण के रूप में स्वीकार करता है, जो अचित् से उत्पन्न होता है और चित् तत्त्व में रहता है। यह सिद्धान्त जड़वाद सदृश ही है, क्योंकि दोनों ही चैतन्य को उत्पाद मानते हैं और दोनों में चैतन्य की स्थिति परतंत्र है, एक में चेतना जड़–द्रव्य के अधीन है और दूसरे में आध्यात्मिक–द्रव्य के अधीन है। वैशेषिक मत की आलोचना करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि ज्ञान इनके लिए अग्नि एव घट के संयोग से उत्पन्न लाल रंग के समान है।[6] इसी प्रकार लॉक की आलोचना करते हुए केयर्ड ने कहा है कि लॉक ज्ञान को आत्मा का वैसा ही गुण मानता है, जैसा गुण भार पत्थर का है। आत्मा सम्बन्धी ये सिद्धान्त सदोष इसलिए हैं; क्योंकि ये चैतन्य के लिए द्रव्य–गुण, कारण–कार्य इत्यादि कादियों का प्रयोग करते हैं और इस प्रकार के असंगत प्रयोग परिणामतः संशयवाद एवं अज्ञेयवाद का जन्म देते हैं। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी में यदि ज्ञान को ज्ञाता से पृथक् माना जाय और इसे क्रिया अथवा परिणाम के रूप में गुण कहा जाय, तो इस विधि से आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि समस्त क्रियाएँ विषयोन्मुख होती है, आत्मोन्मुख नहीं। इस कठिनाई का सामना होने पर जो सर्वाधिक आसान लगता है, वह है आत्मा को भी ज्ञेय विषय मान लेना। जेम्स वार्ड, सैमुअल अलेक्जेण्डर की ही तरह नैयायिक भी इसे अन्य प्रमेयों की ही भाँति प्रमेय मानते हैं और चैतन्य को इसका गुण कहते हैं। इसीलिए जयन्त भट्ट जैसे नैयायिक चैतन्य की उत्पत्ति के पूर्व आतम को जड़ मानते हैं। आत्म को विषय रूप मान लेने पर जो कठिनाई उत्पन्न होती है, उसका समाधान करने में अक्षम ह्यूम और माध्यमिक बौद्ध इसे बन्ध्यापुत्र की भाँति कल्पना मान बैठने हैं। प्रो. मुकर्जी ने प्रवाह रूप आत्मा की कल्पना करने वाले मतों के विरूद्ध टी0एच0ग्रीन, आचार्य शंकर, प्रशस्तपाद और श्रीधर के विभिन्न कथनों का उद्धरण दिया है। इन सब का सारांश इतना ही है कि प्रत्यक्षादि ज्ञान नित्य आत्मा की प्रागपेक्षा रखते हैं, जो रंग और ध्वनि के प्रत्यक्षों को एकीकृत कर सके।

नैयायिक एक ओर यह स्वीकार करते हैं, कि जड़–द्रव्य स्वयं एकीकरण या समन्वय नहीं कर सकता और दूसरी ओर वे मानते हैं, कि चैतन्य का प्रादुर्भाव अचेतन आत्मा में होता है, जिसे जयन्त भट्ट ने जड़ ही कह दिया। समन्वय या संश्लेषण को लेकर न्याय दर्शन परस्पर विरोधी मत प्रतिपादित करता है। उन्हें या तो जड़ को संश्लेषण क्षमता से युक्त मानना पड़ेगा या संश्लेषण को चैतन्य का कार्य मानना होगा। प्रथम विकल्प को स्वीकर करने पर जड़ और आत्मा में अन्तर करना असंभव हो जायेगा और दूसरे विकल्प को मानने पर चैतन्य को स्थायी मानना पड़ेगा, क्योंकि परिवर्तनशील, नश्वर चेतना संश्लेषण का कार्य नहीं कर सकती। इस प्रकार के संश्लेषण की बात काण्ट ने भी की है और न्याय–वैशेषिक भी इसकी आवश्यकता मानते हैं। किन्तु काण्ट इसे स्थाई चेतना के सिद्धान्त के द्वारा संभव मानते हैं, जबकि न्याय–वैशेषिक में इसे अव्याख्यायित छोड़ दिया गया है। न्याय–वैशेषिक में आत्मद्रव्य को जा नित्य माना गया है, इसलिए ये बौद्ध विज्ञानवादियों और विलियम जेम्स जैसी समस्या का सामना तो नहीं करते, किन्तु ये जड़वाद में फंस जाते हैं। संश्लेषण का कार्य केवल शाश्वत चेतना ही कर सकती है। इस कार्य को न तो जड़–द्रव्य कर सकता है, चाहे वह चितना स्थाई हो और न ही परिवर्तनशील चेतना इसे कर सकती है, चाहे वह जितनी चाहे वह जितनी चेतन हो। द्रव्य के रूप में आत्मा और परिवर्तनशील आत्मा,

इन दोनों सिद्धान्तों का आधार एक ही है। दोनों इस मान्यता पर आधारित हैं कि आत्मा अन्य विषयों की भाँति एक विषय है। प्रत्येक विषय अन्य विषयों से भिन्न होने के लिए कुछ लक्षणों से युक्त होता है। यह लक्षण जड़ जगत् का भी हो सकता है और चेतन जगत् का भी। दोनों ही अवस्थाओं में आत्मा द्रव्य, गुण, कोटि में बंध जाती है और इन दोनों सिद्धान्तों की तार्किक स्थिति एक जैसी है। इस सिद्धान्त में भी द्रव्य, गुण से पृथक् कुछ होना चाहिए और यदि गुण, ज्ञान या चेतना है, तो द्रव्य (आत्मा) में चेतना से पृथक् कुछ अचेतन अंश अवश्य होना चाहिए और इस प्रकार इसकी तार्किक परिणजित जड़वाद या सर्वविषयवाद में होती है।

चेतना और परिवर्तन

काण्ट के पारमार्थिक समाकल्पन की एकता की विस्तृत चर्चा करते हुए प्रो. मुकर्जी ने यह कहा है कि ग्रीन के द्वारा किया गया विश्लेषण इसी पर आधारित है। आचार्य शंकर के दर्शन में अन्तःकरण का विवेचन भी इसी प्रकार मिलता है, जहाँ यह कहा गया है कि चित् अथवा बोध के अपरिवर्तित रहने पर ही अन्तःकरण की परिवर्तनशील वृत्तियाँ चित्त, बुद्धि इत्यादि प्रत्यक्ष आदि को संभव बनाते हैं। प्रो. मुखर्जी ने इस प्रकार के विश्लेषण का स्पष्ट विरोध लॉक, विलियम जेम्स, वात्स्यायन, श्रीधर एवं रामानुज से सविस्तार दर्शाया है। ग्रीन ने इस परिवर्तनशील अंश को Wave कहा है और अद्वैत वेदान्त में इसे वृत्ति–प्रवाह कहते हैं। इसी विश्लेषण के आधर पर अद्वैत–वेदान्त ग्रीन के निष्कर्षों से आगे निकल जाता है और शाश्वत ज्ञान तथा परिवर्तनशील या क्षणिक ज्ञान के बीच भेद स्थापित करता है। इस प्रकार के शाश्वत ज्ञान के स्वरूप की आलोचना रामानुज, कणाद एवं ब्रैडले के विचारों में दिखायी पड़ती हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि यही शाश्वत ज्ञान (जो आत्मा का स्वरूप है) समस्त क्षणिक ज्ञान का आधार है। शंकर के इस विचार को भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने और स्पष्ट करते हुए कहा है, कि यद्यपि आत्मा में कोई भेद प्रसक्त नहीं होता, तथापि इस पर भेद का आरोप किया जाता है, जब हम 'देवदत्त' की चेतना जैसे प्रयोग करते हैं। यह भेद–रहित शाश्वत ज्ञान स्वयं उसी प्रकार परमसत्ता का स्वरूप बन जाता है, जैसे बर्गसाँ के दर्शन में Elan और शोपेनहॉवर के दर्शन में Will। शांकर दर्शन का ज्ञान किसी अन्य पद के माध्यम से, Elan और Will की ही तरह, अपरिभाष्य है। इसी रूप में आत्मा को 'अदृष्टम् अश्रुतम् अमृतम् और अविज्ञातम् कहा गया है। केनोपनिषद में इसी आत्मा का विवेचन मन का मन, जिह्वा की जिह्वा, कान का कान और नेत्र का नेत्र आदि कह कर किया गया है। इसी शाश्वत चेतना के समक्ष समस्त प्रत्यय विषय बनकर उपस्थित होते हैं और चित्तवृत्तियाँ भी इसी का विषय बनती हैं।

आचार्य शंकर ने शारीरकभाष्य में परिवर्तन की आलोचना करते हुए वैशेषिक मत को अर्धवैनाशिकवाद कहा है। प्रो. मुखर्जी ने इस अर्धवैनाशिकवाद की तुलना योगाचार बौद्ध, ह्यूम एवं वर्गसाँ के चेतना के परिवर्तन सम्बन्धी विचारों से किया है। उन्होंने ह्यूम के विचारों की सविस्तार चर्चा करते हुए कहा है कि ह्यूम आत्मा के नित्य स्वरूप का निषेध करके उसे सुख–दुःख, शीत–उष्ण आदि संवेदों के प्रवाह के अतिरिक्त कुछ नहीं मानते हैं। प्रो. मुखर्जी की दृष्टि में ह्यूम एवं योगाचार मत समतुल्य हैं, केवल एक अन्तर दिखायी पड़ता है कि योगाचार मत में प्रतित्यसमुत्पाद को स्वीकार किया गया है, जबकि ह्यूम कारणता का खण्डन करते हैं। योगाचार

मत की आलोचना करते हुए आचार्य शंकर ने शारीरक भाष्य में कहा है कि निरन्तर परिवर्तन को स्वीकार कर लेने पर कारण–कार्य सम्बन्ध की स्थापना संभव नहीं है। वे यह भी कहते हैं कि कारण होने के लिए स्थायी होना आवश्यक है, क्षणभंगुर कारण नहीं बन सकता। इस विवेचन के आधार पर प्रो0 मुखर्जी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि योगाचार मत की अपेक्षा ह्यूम के विचारों में आन्तरिक सुसंगति अधिक है। ह्यूम के सिद्धान्त में असत् से सत् की उत्पत्ति और योगाचार दर्शन में कारणता की असंभावना इन मतों के असंगत होने का प्रमाण देते हैं। परिवर्तनवादी यह तर्क देते हैं कि क्षणिक दीपशिखा को समानता के आधार पर भ्रमवश नित्य मान लिया जात है, किन्तु चेतना के सन्दर्भ में यह तर्क नहीं दिया जा सकता, क्योंकि आधारभूत समानता का ज्ञान करने के लिए भी किसी चेतन सत्ता की आवश्यकता होगी, जो योगाचार और ह्यूम के दर्शन में नहीं दिखायी देती। परिवर्तन को जानने के लिए भी किसी चेतन सत्ता की आवश्यकता होगी, जो योगाचार और ह्यूम के दर्शन में नहीं दिखायी देती। परिवर्तन को जानने के लिए भी नित्य ज्ञाता की आवश्यकता होती है। विलियम जेम्स योगाचार मत की उपर्युक्त विवेचना के अत्यन्त निकट दिखायी पड़ते हैं, इसलिए प्रो. मुखर्जी ने उन्हें बौद्धों का वास्तविक उत्तराधिकारी कहा है।

विलियम जेम्स अपने ग्रन्थ The Principles of Psychology में अनुभववादी दर्शन का चरमोत्कर्ष करते हुए वैयक्तिक अनन्यता की स्थापना करते हैं और यह स्थापित करते हैं कि चेतना के विभिन्न क्षणों और उनके बीच समानता का अनुभव हमें होता है। इसी समानता का वैयक्तिक अनन्यता मानते हुए उन्होंने यह कहा है कि इस प्रकार के ज्ञान के लिए किसी नित्य तत्त्वमीमांसीय आत्मा की आवश्यकता नहीं है। प्रो. मुखर्जी ने जेम्स की इस मान्यता की तुलना वसुबन्धु द्वारा की गयी स्मृति की व्याख्या के साथ किया है, जहाँ वसुबन्धु यह कहते हैं, कि पूर्व की चेतना अपने समरूप उत्तर चेतना को ही जन्म देती है। इसीलिए देवदत्त को देखते ही उसके शेष गुण प्रकट होने लगते हैं और उस यज्ञदत्त नहीं समझा जाता है। जेम्स और वसुबन्धु ने परिवर्तनशील चेतना का निरूपण सर्वोत्कृष्ट ढंग से किया है। वे मानते हैं कि एकता का तात्पर्य प्रवाह की एकता है, आत्मा की एकता नहीं। किन्तु चेतना के प्रवाह को आधार बनाकर वैयक्तिक अनन्यता एवं स्मृति की व्याख्या संभव नहीं है, क्योंकि परिवर्तनशील चेतना स्वयं भी नश्वर एवं परिवर्तनशील हो जाती है। रसेल भी आत्मा को घटनाओं के क्रम में कारण के रूप में परिभाषित करते हैं, किन्तु परिवर्तनशील घटनाओं में ही विद्यमान होने से आत्मा भी परिवर्तनशील और नश्वर हो जाती है और तब स्मृति और अनन्यता की समस्या का समुचित विवेचन संभव नहीं रहता।

स्मृति और अभिज्ञान को परिवर्तन के साथ जोड़ने के ये सारे प्रयास वस्तुतः समस्या का निराकरण करने के बजाय उसे छिपा देते हैं। परिवर्तनवादी प्रेषण (Transmission) को सिद्ध नहीं कर सकते, वे इसे मान लेते हैं, क्योंकि अपरिवर्तित आधर के अभाव में एक विज्ञान का प्रेषण दूसरे विज्ञान तक संभव नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मनस् का विकास नहीं होता या यह एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक नहीं पहुँचता, किन्तु मनस् के इस परिवर्तन को चेतना का परिवर्तन मान लेना असंगत है। भौतिक पिण्ड सावयव होते हैं और चैतन्य निरवयव होता है। इसलिए भौतिक जगत् के विषय में यदि निरन्तर परिवर्तन का सिद्धान्त सत्य भी हो, तब भी चैतन्य के विषय में यह सत्य नहीं हो सकता। इन सभी मतवादों की समीक्षा करते हुए प्रो0 मुखर्जी ने यह कहा

है कि काण्ट एवं ग्रीन के द्वारा किया गया ज्ञान का विश्लेषण आचार्य शंकर के प्रत्यक्ष सम्बन्धी विचारों का अद्भुत भाष्य है। सुरेश्वर ने अद्वैत मत की पुष्टि करते हुए 'नैष्कर्म्य सिद्धि' में कहा है कि आत्मा मनस् के परिवर्तनशील विकारों का अपरिवर्तित द्रष्टा है। वह अविक्रिय, निष्क्रिय एवं कूटस्थ है।

वैयक्तिक अनन्यता एवं आत्मचेतना

आत्मज्ञान सम्बन्धी पूर्वोक्त सभी सिद्धान्त चैतन्य को मनस् के विकार के रूप में स्वीकार कर लेने के कारण दोषग्रस्त दिखायी पडते हैं। शायद इसी कारण ब्रैडले ने यह कहा था कि आत्मा के स्वरूप की समस्या का सबसे अच्छा निराकरण यह है कि इसके विषय में कोई प्रश्न न किया जाय। ब्रैडले का मत्त इस दृष्टि से सत्य प्रतीत होता है कि वैयक्तिक अनन्यता का प्रश्न तब तक निरर्थक है, जब तक इसका निर्णय न हो जाय कि आत्मा पद से किसका बोध होता है? उनका यह मत भी सत्य है कि अनन्यता का बोध निरन्तरता पर निर्भर है, किन्तु ब्रैडले का वह मत नितान्त असंगत है, जिसमें वे सुषुप्ति में निरन्तरता को संदिग्ध मानते हैं और इसी आधार पर अनन्यता को असिद्ध करते हैं। ब्रैडले का निष्कर्ष उसी प्रकार अविचारित लगता है, जिस प्रकार कणाद एवं रामानुज के विचार थे। भौतिक निरन्तरता के विच्छिन्न हो जाने को अनन्यता या तादात्म्य में बाधक मानना असंगत है। जान लॉक भी तब तक सुषुप्ति के इसी स्वरूप को मानता रहा, जब तक उसने इस प्रश्न पर विचार नहीं किया कि सोने के पूर्व और जागने के पश्चात् व्यक्ति एक ही होता है, या अलग–अलग? इसी प्रश्न के उत्तर में लॉक ने देकार्त के सूत्र Cogito ergo sum को स्वीकार किया और यह भी स्वीकार किया कि चैतन्य सर्वदा विद्यमान होता है। यदि षुप्ति के पूर्व और जाग्रत के पश्चात् सुकरात में सामान्य चैतन्य विद्यमान न हो, तो हम किस आधार पर यह कहेंगे कि यह वही सुकरात है? विलियम जेम्स जैसे मनोवैज्ञानिक शरीर आदि भौतिक परिस्थितियों को वैयक्तिक अनन्यता का आधार मानते हैं और चैतन्य की निरन्तरता अस्वीकार करते हैं। वह क्षणिक चैतन्य को ही अनुभव का एकीकरण करने वाली सत्ता मानते हैं और इसी आधार पर काण्ट, ग्रीन तथा केयर्ड के मतों का खण्डन करते हैं। ज्ञाता और द्रव्य के भेद को जेम्स ने स्वीकर नहीं किया है। इसीलिए वे काण्ट के साथ–साथ ग्रीन एवं केयर्ड के विचारों का भी आसानी से खण्डन कर देते हैं। परमार्थवादी विचारधारा का मूल आधार यह मान्यता है कि चैतन्य को द्रव्य, गुण इत्यादि कोटियों में नहीं रखा जा सकता। छान्दोग्य उपनिषद् के भाष्य में आचार्य शंकर ने स्पष्ट कहा है कि ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है, 'वेदनम् अस्य स्वरूपम् इति अवगम्यते', फिर भी सामान्य भाषा में 'आत्मा का ज्ञान' इस प्रकार का प्रयोग हम करते हैं। वास्तव में यह प्रयोग वैसा ही है, जैसा 'राहु का शिर'। ध्यान देने पर जैसे यह स्पष्ट हो जाता है कि राहु ही शिर है, उसी प्रकार यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा ही ज्ञान है। ये प्रयोग सामान्य भाषा की कमजोरी के कारण यह भ्रम उत्पन्न करते हैं कि आत्मा, ज्ञान से और राहु, शिर से अलग कुछ है। यह ऐसा भ्रम है, जिससे अधिकांश विचारक ग्रस्त दिखायी पड़ते हैं। जब हम इस प्रकार का वाक्य बोलते हैं कि 'सूरज चमक रहा है' तो स्वाभाविक रूप से यह लगता है कि चमकना सूरज की क्रिया है, जबकि चमक ही सूरज का स्वरूप है। इसीलिए आचार्य शंकर ने माना है कि ज्ञान ही ज्ञाता का

स्वरूप है, इसका व्यतिरेक कहीं नहीं होता। चूँकि वर्णनात्मक कथन उद्देश्य–विधेय पदों के माध्यम से ही संभव होता है, इसलिए हम कहते हैं कि 'ज्ञाता का ज्ञान' या 'आत्मा का ज्ञान' ये समस्त कथन अनन्य आत्मा का परोक्ष विवेचन करते हैं; प्रत्यक्षतः तो उसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका कोई विधेय उपलब्ध ही नहीं होता।

शंकराचार्य आत्मज्ञान के प्रसंग में विचार एवं तर्क का खण्डन नहीं करते, इसीलिए उनका दर्शन रहस्यवाद और अज्ञेयवाद जैसे दोषों से मुक्त है। वे केवल इतना कहते हैं कि विचार एवं तर्क इसका विवेचन करने में असमर्थ इसलिए हैं, क्योंकि विचार उद्देश्य–विधेय भेद पर आधारित है और आत्मा समस्त भेदों से परे और उनका आधार है। उनका मानना है कि सुषुप्ति में आत्मचेतना का अभाव इसलिए प्रतीत होता है, क्योंकि उस अवस्था में भौतिक एवं मानसिक समस्त विषयों का अभाव होता है, इसलिए नहीं कि चेतना का अभाव है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त एक ओर कहता है कि चैतन्य आत्मा का स्वरूप है और दूसरी ओर यह कहता है कि सुषुप्ति में विषय की चेतना नहीं होती, क्या ये दोनों मान्यताएँ परस्पर विरोधी नहीं है? अद्वैत वेदान्त का उत्तर है कि इसमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि इस अवस्था में आत्मा देखते हुए भी नहीं देखता। यदि संसार में कोई वस्तु न हो, तो कुछ भी प्रकाशित न करते हुए, जिस प्रकार सूर्य अपने स्वरूप प्रकाश को तो प्रकाशित करता ही है, उसी प्रकार विषय के अभाव में सुषुप्तावस्था में चैतन्य विद्यमान होता है। पाल डायसन ने शंकराचार्य के सुषुप्ति सम्बन्धी मत का विवेचन करते हुए इस अवस्था में ज्ञान को मूलतः काल्पनिक माना है, किन्तु उनका यह मत स्वयं उन्हीं के द्वारा अन्य स्थलों पर की गयी विवेचना के विरूद्ध होने के कारण असंगत है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य की उक्ति इस संदर्भ में दर्शनीय है, जहाँ वे कहते हैं कि सुषुप्ति में आत्मा देखता नहीं, फिर भी वह देखता है। वह देखता है, क्योंकि वह नित्य है और नहीं देखता, क्योंकि स्वयं उसके अतिरिक्त देखने को कुछ होता ही नहीं।

निरपेक्ष चेतना

शंकर का निरपेक्षवाद बौद्धों से प्रभावित है, इस प्रकार का आक्षेप लगाया जाता है। वसुबन्धु द्वारा प्रतिपादित विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त शंकराचार्य के मत से पृथक् नहीं प्रतीत होता। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शांकर दर्शन बौद्धों की अनुकृति है। यह आक्षेप भी असंगत है कि शंकर उपनिषद् को आधर बनाकर तर्क की अवज्ञा करते हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासन में मनन तर्क का पर्यायवाची है और अद्वैत वेदान्त इसे परम आवश्यक मानता है। पुनश्च वेदान्त परम्परा में यह स्वीकृत है कि जो तर्क पूर्वक अनुसंधान करता है, तत्त्व का बोध उसी को होता है। विरोध तो केवल शुष्क तर्क या कुतर्क का ही किया गया है। निरपेक्ष चेतना की सिद्धि के लिए आधुनिक युग के निरपेक्षतावादी आत्मा के अतिक्रमण को आवश्यक मानते हैं, जबकि शंकराचार्य के अनुसार इस प्रकार के अतिक्रमण की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि आत्मा निरपेक्ष से भिन्न नहीं है, केवल भ्रमवश वह सीमित एवं एकान्तिक प्रतीत होती है। शांकर दर्शन के अनुसार निरपेक्ष चेतना की निषेधात्मक परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है– "निरपेक्ष वह है, जो विषयत्व के विरूद्ध है, यह न गुण है और न द्रव्य, न कारण है और न कार्य है, न स्रष्टा है और न सृष्टि है। वस्तुतः यह समस्त कोटियों से परे है, क्योंकि कोटियाँ सम्बन्धात्मक है और यह निरसम्बन्ध है"।

परन्तु यह निषेध नहीं है और न ही अज्ञेय स्वतः सद्वस्तु है। शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित आत्मा का सिद्धान्त सर्वविषयवाद और अज्ञेयवाद दोनों से स्वतंत्र है। उनके दर्शन में आत्मा ज्ञात से परे है और अज्ञात से ऊपर है।

यह सम्पूर्ण आलेख प्रो. ए.सी. मुखर्जी के द्वारा आत्मा के स्वरूप के सन्दर्भ में स्थापित मत पर आधारित है। यत्र–तत्र कुछ शब्दों को जोड़ने, प्रो. मुखर्जी के विचारों को हिन्दी भाषा के माध्यम से रखने, अन्यन्त दुरूह प्रत्ययों का सरलीकरण करने और यथासंभव यथावत् प्रस्तुत करने के श्रम के अतिरिक्त मेरा कुछ नहीं है। हाँ यदि उन विचारों को ग्रहण करने में कोई त्रुटि रह गयी होगी, तो वह निश्चित ही मेरी है। प्रो. मुखर्जी के ग्रन्थ प्रणयन की कला पर इतनी टिप्पणी आवश्यक लगती है कि उन्होंने ठीक उसी विचार पद्धति का अनुसरण किया है जिसका 'शरीरकभाष्य' में आचार्य शंकर ने प्रयोग किया है। विभिन्न मतवादों को परस्पर विरुद्ध चित्रित करके शंकराचार्य ने अपने प्रतिपाद्य को अविरोधवाद की संज्ञा दी है, ठीक उसी प्रकार प्रो. मुखर्जी ने मनोवैज्ञानिक विधि और ज्ञानमीमांसीय विधि, ग्रीन और केयर्ड, काण्ट और विलियम जेम्स के पारस्परिक विरोध को दर्शाते हुए अद्वैत वेदान्त की मान्यता को सर्वोपरि प्रतिष्ठित किया है।



संदर्भ –

1. *Eds. Nalini Bhushan and Jay L Garfield, Indian Philosophy in English, Oxford Uni versity Press, Page XI.*
2. *Experience is a term which includes all that we know and feel and do, all our facts and theories, all our emotions and ideals and ends. James ward; Naturalism and Agnosticism II, p. 110.*
3. *आत्मा तु प्रमाणादि व्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादि–व्यवहारात् सिद्धयति, शीरीरक भाष्य II, 3,7*
4. *I can not have knowledge of my mind in the sense of making it an object of contem plation for that would mean that my mind could act upon itself. Proceedings of Aristotelian society 1910-11, p.19.*
5. *सर्वदावर्तमानस्वभावः, शीरीरकभाष्य, II, 3,7*
6. *अग्नि घट संयोगज रोहितादिगुणवत् : शीरीरक भाष्य II, 3, 18 और द्रव्यमात्रस्तु भवति घट इव रागसमवायी केनोपनिषद्, शांकरभाष्य II, 4*

शांकर वेदान्त में आत्म तत्त्वविज्ञान

बालेश्वर प्रसाद यादव

संसार भर के दार्शनिकों चाहे वे प्राच्य या प्रतीच्य, प्राचीन अथवा आर्वाचीन चिन्तनधारा के रहे हों, के लिए आत्मतत्त्व का चिन्तन एंव मनन अत्यन्त गंभीर विषय रहा है। वस्तुतः आत्मतत्त्व विमर्श दर्शनशास्त्र का वह केन्द्रीय सिद्धान्त है जहाँ पर तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं नीतिमीमांसा विभिन्न विषयों एवं समस्याओं के रूप में इस उद्‌गम स्रोत को प्राप्त कर अन्य सिद्धान्तों एवं उपपत्तियों की विसंगतियों को सटीक करने हेतु सदैव आत्मसिद्धान्ताभिमुख एवं तर्कासन्न रहते हैं। यही कारण है कि 'आत्मा के दर्शन' को 'दर्शन की आत्मा' कह देने में कोई अतिशयोक्ति नहीं प्रतीत होती। किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय या दार्शनिक के सम्पूर्ण चिन्तन-तंत्र में त्रुटिरहितता एवं सुसंगति का परीक्षण उसके आत्मतत्त्व विमर्श के द्वारा किया जा सकता है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में आर्षचिन्तनधारा से प्रस्फुटित दर्शन के निगूढ़ विषय एवं उसकी प्रणाली पाश्चात्य चिन्तनधारा से भिन्न है। यहाँ तत्त्वविमर्श चिन्तनमात्र न होकर मननात्मक एवं अपरोक्षादानुभूति पर आधारित रहा है। वैदिक ऋषियों के तत्त्व-साक्षात्कार से निःसृत 'आत्मतत्त्व' का दर्शन उपनिषदों, कतिपय पुराणों, महाकाव्यों एवं षड्दर्शन के स्वतंत्र एवं परस्पर संवादों से निरंतर स्पष्ट से स्पष्टतर होता हुआ आचार्य शंकर के अद्वैत दर्शन में तर्कणा एवं अनुभूति की चरम परिणति के रूप में प्रतीत होने लगती है। प्रस्तुत आलेख के द्वारा यह देखने का एक विनम्र प्रयास है जिसमें कि शंकर वेदान्त में आत्मतत्त्व का विवेचन हुआ है एवं उसका सत्ताविज्ञान (*ऑण्टोलॉजी*) कैसे आधुनिक तत्त्वमीमांसा (*मेटाफिजिक्स*) के विवादित अपरीक्ष्यता से नितान्त भिन्न है?

I

आचार्य शंकर के आत्मतत्त्व विमर्श पर सीधे आ जाने से पूर्व यह जान लेना अनिवार्य है कि तत्त्व के विमर्शात्मक विधा के स्वरूप को लेकर जो आधुनिक तत्त्वमीमांसा (*मेटाफिजिक्स*) पर आक्षेप है वह सत्ताविज्ञान (*आण्टोलॉजी*) से पृथक् कैसे है ? इसके आकलन के पश्चात् आचार्य शंकर का आत्मतत्त्व विमर्श किस क्षेत्र से सम्बद्ध होता है– सत्ताविज्ञान या तत्त्वमीमांसा से? दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में इन दोनों पदों का बहुशः समानार्थी प्रयोग भ्रामक है। इस भ्रम का निरूपण एवं निराकरण करने के पश्चात् ही यह स्पष्ट हो सकता है कि भारतीय आर्ष परम्परा के चिन्तन में क्रमिक विकास के परिणामस्वरूप आचार्य शंकर ने आत्मतत्त्व के जिस स्वरूप का निरूपण एवं आख्यान किया है, वस्तुतः वह तत्त्वविमर्श आत्मतत्त्व का सत्ताविज्ञान (*ऑण्टोलॉजी*) है या सत्तामीमांसा (*मेटाफिजिक्स*)। इस प्रकार सत्ताविज्ञान एवं तत्त्वमीमांसा का भेद स्पष्ट रूप से उपस्थित है। इसकी सम्पूर्णता में परिशीलन हेतु प्रयुक्त होने वाले पद, वाक्य एवं भाषा की भूमिकाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। अतः इनकी प्रयोज्यता, ऐतिहासिकता से सम्बन्धित वास्तविकताएँ एवं तत्सम्बन्धी नवीन अन्वेषणों पर भी दृष्टिपात करना अपेक्षित है।

दर्शन विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी (उ.प्र.)

मेटाफिजिक्स[1] (तत्त्वमीमांसा) की उद्‌भव भूमि प्राचीन यूनान है। यह मध्यकालीन यूरोपीय विश्वविद्यालयों से पोषित होकर पुनर्जागरण काल में यद्यपि अपनी साख को कुछ हद तक खोया, इस बात के बावजूद कि सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के कतिपय दार्शनिकों ने इसे अपने चिन्तन का केन्द्र बिन्दू बनाया। बीसवीं शताब्दी के आते-आते पाश्चात्य दार्शनिकों ने इस पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करना आरम्भ कर दिया एवं 'निन्द्य नामधेय' की श्रेणी में ला खड़ा किया जिसके विषयवस्तु निराधार कल्पना के रूप में देखे गये। तब से यह प्रश्न उपस्थित होता रहा है कि सत्ता के सम्बन्ध में अस्तित्वपरक अनुशीलन को किस रूप में ग्रहण किया जाय? अरस्तू की रचनाओं के संकलनकर्ताओं के द्वारा वर्गीकरण के आधार पर जिसे सार्वभौम विज्ञान की संज्ञा दी गयी थी, वे तार्किक एवं प्रमाणों के द्वारा प्रदर्शन योग्य तथ्य थे। इसके विपरीत जिनका क्षेत्र इस प्रेक्षणीयता से 'परे' था उसे *'मेटाफिजिक्स'* कहा गया जिसका समतुल्य हिन्दी पद 'तत्त्वमीमांसा' हो सकता है। तत्त्वमीमांसा के सम्बन्ध में यह धारणा सबल हुई बीसवीं शताब्दी में, परन्तु अरस्तू ने इनमें रखे विषय-वस्तुओं के संदर्भ में कोई विभाजन नहीं किया था। यह सब उसके अनुभूति एवं तर्क के व्यवस्थित क्रम के अनुरूप थे। बीसवीं सदी में विज्ञान एवं दर्शन के बीच भेदक रेखा खींचे जाने के बाद एक प्रश्न यह भी उपस्थित हुआ कि आखिर उन 'अस्तित्वबोधकता' को जो विज्ञान के क्षेत्र में है, क्या कहा जाय? एतत्हेतु *'ऑण्टोलॉजी'* नामक पद चलन में आया जिसका 'तत्त्वमीमांसा' से भेद स्पष्ट था। इस तरह यदि देखा जाय तो *'आण्टोलॉजी'* का हिन्दी समतुल्य 'सत्ताविज्ञान' हो सकता है। प्रबोधकाल के पाश्चात्य दार्शनिकों ने तो अब तत्त्वमीमांसा के विषयवस्तु पर पुनर्विचार करते हुए इसके अद्यतन विभाग को ही *'ऑण्टोलॉजी'* (सत्ताविज्ञान) नाम दे दिया है जिसे कतिपय साम्प्रतिक दार्शनिकों ने भी स्वीकार कर लिया है।[2] फिर इन दोनों पदों का भेद स्पष्टतः चिन्हित है और *ऑन्टोलॉजी* (सत्ताविज्ञान) के नाम पर जितनी स्वीकार्यता आज है उतनी शायद *मेटाफिजिक्स* (तत्त्वमीमांसा) के नाम पर नहीं। अतः आत्मतत्त्व पर विमर्श को अग्रेतर करते हुए यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि पाश्चात्य दर्शन की चिन्तनधारा से निःसृत इन पदों के सापेक्ष भारतीय चिन्तनधारा में आत्मतत्त्व का विवेचन तत्त्वमीमांसा नहीं, वरन् वह सत्ताविज्ञान या तत्त्वविज्ञान है जो अनुभूति एवं अवगाह्य तर्कों पर आधारित है।

II

उपर्युक्त निराकरण के पश्चात् शांकर वेदान्त के आत्म-तत्त्वविज्ञान पर विमर्श को आरम्भ करने से पूर्व वेदान्त एवं शांकर वेदान्त का एक संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना समीचीन होगा। भारतीय तत्त्वचिन्तन के उत्स वेद के अन्तिम भाग जो 'ज्ञानकाण्ड' है को वेदान्त कहा जाता है। इसे उत्तर-मीमांसा भी कहते हैं क्योंकि यह पूर्वमीमांसा जो वेद का कर्मकाण्ड-खण्ड है, के पश्चात् आता है। वेदान्त दर्शन मूलतः उपनिषद् (यही वेद के अन्त में आते हैं), भगवद्‌गीता एवं ब्रह्मसूत्र पर आधारित है। इन्हें समवेत रूप में प्रस्थानत्रयी कहते हैं। इस प्रस्थानत्रयी का भारतीय दर्शन पर व्यापक प्रभाव है। जैसे वैदिक दर्शन वेद पर आधारित है, वैसे ही वेदान्त दर्शन वेदों के सारांश उपनिषद् पर आधृत है। यही कारण है कि इसे वेदान्त दर्शन कहा जाता है।

ब्रह्मसूत्र के सूत्रकार बादरायण ने अपने ग्रन्थ में स्पष्ट किया है कि उपनिषदों का मुख्य कथ्य अद्वैतवाद है, यद्यपि यह निर्धारित करना कठिन है कि उनमें किस प्रकार का अद्वैत निर्दिष्ट है? उन्होंने मीमांसा के इस अध्यर्थन को भी खण्डित करने का प्रयास किया है जिसमें यह कहा

गया था कि वेदों का प्रमुख उद्देश्य कर्मकाण्ड का अभ्यास है। उपनिषदों की शिक्षाएँ इतनी रहस्यमयी एवं अनेकार्थक थीं कि कुछ अन्य आचार्यों ने इनके निर्विरोध तात्पर्य को प्राप्त करने का प्रयास किया। एतत्हेतु उपनिषदों के अतिरिक्त भगवद्गीता एवं ब्रह्मसूत्र की भी आवश्यकता पड़ी जिससे वेदान्त दर्शन अस्तित्व में आया। इस प्रक्रिया में कई आचार्यों ने भिन्न–भिन्न अर्थों को अपनाया जिससे अद्वैतवाद के कई सम्प्रदाय बन चले। प्रायः वेदान्त से आचार्य शांकर के अद्वैत वेदान्त का अर्थ लगा लिया जाता है जो उचित नहीं है। यह अन्य वेदान्त दर्शनों की शाखा में से एक है जिसे आचार्य शांकर द्वारा प्रतिपादित होने से शांकर वेदान्त के रूप में अभिहित किया जाता है। वेदान्त की अन्य शाखाओं में रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्य का 'द्वैतवाद', निम्बार्काचार्य का 'द्वैताद्वैतवाद', बल्लभाचार्य का 'शुद्धाद्वैतवाद' एवं चैतन्य महाप्रभु का 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' प्रसिद्ध हैं।

उपर्युक्त सभी सम्प्रदायों को वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत वर्गीकरण का कारण यह है कि वे सभी वेदान्तिक अवधारणा के अनुकूल प्रस्थानत्रयी के आधार पर अपने सिद्धान्तों एवं मतों का प्रतिपादन करते हैं। इन सबमें शांकर वेदान्त तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण से अत्यन्त भिन्न एवं महत्त्वपूर्ण है। जिस सत्य को वैदिक ऋषियों ने अपने साक्षात्कार में प्राप्त किया वह उपनिषदों में भाषित हुआ एवं आचार्य शांकर के वेदान्त में क्रमबद्ध होकर प्रकट हुआ। शांकर वेदान्त का सम्पूर्ण दर्शन श्लोकार्द्ध में निर्दिष्ट हो जाता है– 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'– अर्थात् (i) ब्रह्म ही सत्य है (ii) जगत् मिथ्या है (iii) ब्रह्म ही जीव है, तथा (iv) (जीव ब्रह्म से) परे या भिन्न नहीं (अर्थात् अभिन्न) है। यही शांकर वेदान्त का संक्षिप्त परिचय है।

III

अब आचार्य शांकर के अद्वैत वेदान्त में प्रतिपादित आत्म-तत्त्वविज्ञान पर विमर्श अपेक्षित है। शांकर वेदान्त में आत्मतत्त्व के विवेचन के मुख्यतः तीन उद्देश्य हैं : प्रथम, जिसमें यह बताना कि आचार्य शांकर ने विश्वात्मा ब्रह्म एवं जीवात्मा में तादात्म्य दिखाया है जो औपनिषदिक दर्शन के समीकरण-आत्मा = ब्रह्म[3] का ही व्यवस्थित एंव तार्किक परिणाम है; द्वितीय, आत्मतत्त्व के ज्ञानमीमांसीय पक्षों को अग्रेतर कर ज्ञान के यथार्थ स्वरूप को जानना, जिससे जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त हो सके; तथा तृतीय, शांकर वेदान्त में द्रव्य या तत्त्व के स्वरूप एवं संख्या का विवेचन, जिससे सत् का यथार्थ स्वरूप जाना जा सके।

आचार्य शांकर ने स्पष्ट किया है कि आत्मा एवं ब्रह्म में अभेद है। इनमें प्रमुख प्रातीतिक भेद यह है कि सत्ताविज्ञान की दृष्टि से एक ही तत्त्व 'ब्रह्म' नामक पद से अभिधेय है, जबकि ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से उसी सत् का अभिधान 'आत्मा' है। वस्तुतः किसी भी चिन्तन-तन्त्र के तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा के बीच तत्त्व के स्वरूप को लेकर यदि विसंगति उत्पन्न होती है, तो यह मानना पड़ेगा कि उस सम्प्रदाय में त्रुटि है। परन्तु, यदि आत्मतत्त्व, तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा दोनों ही क्षेत्रों में सुसंगति स्थापित करने में सक्षम है, तो वह तंत्र व्यवस्थित एवं तर्कतः दृढ़ है। 'आत्मा' के स्वरूप में वही सत् पारमार्थतः ब्रह्म है तथा व्यवहारतः जीव है। अब आत्म-तत्त्वविज्ञान (*ऑण्टोलॉजी ऑफ सोल*) को शांकर वेदान्त में अवगाहन हेतु 'ब्रह्म', 'ईश्वर', 'चैतन्य', 'जीव' एवं 'साक्षी' से इसके सम्बन्धों की विवेचना अत्यन्त अनिवार्य होगी, जो अग्रवत् आख्यायित है।

आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा ही 'ब्रह्म' एंव 'ईश्वर' है। निरपेक्ष आत्मतत्त्व ही निर्गुण होने पर ब्रह्म कहलाता है, जबकि सगुण ब्रह्म को ईश्वर कहते हैं। अज्ञानावस्था में ब्रह्म ही जीव के रूप में भासित होता है, अतः जीव भी परमार्थतः ब्रह्म या आत्मा ही है। शंकराद्वैत वेदान्त में आत्मा, ब्रह्म, जीव एवं ईश्वर सभी अद्वैत रूप में हैं। ज्ञान के भिन्न–भिन्न स्तरों पर एक ही तत्त्व के ये सभी भिन्न–भिन्न नाममात्र हैं। तात्त्विक रूप से सभी अभिन्न हैं। उपनिषदों की भाँति आचार्य शंकर भी आत्मा को शुद्ध चैतन्य मानते हैं। आत्मतत्त्व स्वयंप्रकाश है जो सभी प्रकार के द्वित्व, त्रित्व एवं चिन्तन की अन्य कोटियों से परे है। यह शुद्ध चैतन्य के रूप में निरपेक्ष सत्ता है। यह सभी पदार्थों का सारतत्त्व है। जगत् की प्रत्येक वस्तु सापेक्ष होने से आत्यन्तिक रूप से अवास्तविक (असत्) है। एकमात्र आत्मतत्त्व ही सापेक्ष नहीं है। अतः यही एकमात्र सत् है जो स्वयंसिद्ध है। विशेष रूप से आत्मा सभी प्रकार के ज्ञानों का आश्रय एवं संज्ञान का केन्द्र है। शुद्ध चैतन्य की भाँति आत्मा ज्ञानस्वरूप है। जो ज्ञाता है वही आत्मा है क्योंकि यही सबका सारतत्त्व है। यहाँ समस्या इस बात की है कि मानवीय बुद्धि सबको वस्तु के रूप में जानना चाहती है, परन्तु जो कुछ वस्तु के रूप में ग्रहण होता है, वह सारतः सापेक्ष होता है। अतएव वह सत् नहीं होता है। विषयी या ज्ञाता वस्तु-रूप में कभी ज्ञेय नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञाता एवं ज्ञान में कोई भेद नहीं होता। यह बुद्धि ही है जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को सीमित समझती है। व्यावहारिक स्तर पर यह अनिर्वचनीय है, क्योंकि इस स्तर पर इसे ग्रहण करने की सभी कोटियाँ इसकी सम्पूर्णता में ज्ञान करने में असफल हो जाती हैं। अतः इसके निर्वचन की सर्वोत्तम विधि नकार मुख–नेति नेति (न इति, न इति.....) ही हो सकती है। साक्षात् रीति से केवल इसे 'सच्चिदानन्द' अर्थात् 'विशुद्ध सत्', 'विशुद्ध चित्' एवं विशुद्ध आनन्द कहा जा सकता है।

आचार्य शंकर अब आत्मा एवं ब्रह्म के तादात्म्य के लिए प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। उनका कथन है कि "ब्रह्म वह है जो महत्तम है या जो बृहत्तम है।[4]" ब्रह्म परम सत्ता है क्योंकि यह अनन्त रूप से वर्द्धमान है जो निरपेक्ष माना जा सकता है। यही स्थिति आत्मा के साथ लागू होती है। आत्मा वह है जो सर्वव्यापक[5] हो। सर्वव्यापकत्व के कारण आत्मा भी परम सत्ता है। परन्तु दो सत्ताओं को तर्कतः निरपेक्ष या परम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि निरपेक्षता सर्वदा एक में ही हो सकती है। अतः ब्रह्म एवं आत्मा में तादात्म्य है, दोनों एक ही तत्त्व हैं, भिन्न नहीं। औपनिषदिक महावाक्य, यथा–तत्त्वमसि[6] (वह तू है) एवं अहं ब्रह्मास्मि[7] (मैं ब्रह्म हूँ), आदि भी आत्मा एवं ब्रह्म की एकता या तादात्म्य को सिद्ध करते हैं। आत्मा के सम्बन्ध में जो हम कह सकते हैं या नहीं कह सकते हैं, वही ब्रह्म के सम्बन्ध में तादात्म्योपरांत लागू हो जाती है। 'नेति, नेति' के द्वारा निर्वचन आत्मा एवं ब्रह्म के लिए समान रूप से प्रयोज्य है। परन्तु यहाँ ध्यातव्य है कि निर्वचन की नकारात्मक विधि द्वारा किसी निषेधक तत्त्व का नहीं, वरन् अपरोक्ष अर्थात् साक्षात् ब्रह्म का ही वर्णन होता है। आत्मा या ब्रह्म के साक्षात् निर्वचन हेतु 'सत्–चित्–आनन्द' पद का प्रयोग होता है। ब्रह्म या आत्मा में सत्, चित् और आनन्द, सभी एक साथ एक ही हैं, अलग–अलग तीन नहीं। आत्मा की सत्ता बोध रहित और उसका बोध सत्ता रहित नहीं हो सकता[8]। अपि च, 'आनन्द' भी इनसे भिन्न नहीं है। ये तीनों अभिन्न होकर एकत्व में शांकर वेदान्त के अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं।

आत्मा एवं ब्रह्म की एकता की प्रस्थापना के पश्चात् ब्रह्म एवं ईश्वर के सम्बन्ध में शंकर वेदान्त की मान्यता है कि सत्ताविज्ञान की दृष्टि से ब्रह्म एवं ईश्वर एक ही हैं। जब ब्रह्म माया की शक्ति से उपहित होकर सृष्टिकर्त्ता के रूप में होता है, तब वह सविशेष सगुण ब्रह्म ईश्वर कहलाता है। ईश्वर एवं ब्रह्म के बीच तादात्म्य आचार्य शंकर औपनिषदिक परिशीलन के पश्चात् निर्धारित करते हैं। ब्रह्म को जब हम सृष्टि-शक्ति से सम्पन्न देखते हैं तो वह ईश्वर के रूप में व्यक्त होता है।[7] माया ईश्वर की शक्ति है। यद्यपि ईश्वर माया के सत्त्व-गुण से अवच्छिन्न है, पर वह उससे तनिक भी प्रभावित नहीं होता। जैसे कोई जादूगर अपने जादू से दूसरों को प्रभावित कर लेता है, किन्तु वह स्वयं अपने ही जादू के द्वारा प्रभावित नहीं होता; वैसे ही, ईश्वर भी अज्ञानी मनुष्यों को अपनी माया से प्रभावित तो कर लेता है, किन्तु वह स्वयं उससे अप्रभावित रहता है, क्योंकि स्वयं ईश्वर की ही शक्ति है माया।[8] शंकर ने आभासवाद के सिद्धान्त द्वारा ईश्वर एंव जीव को समझाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार 'ईश्वर' और 'जीव', ब्रह्म के आभास हैं। एतत्हेतु माया एवं अविद्या की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार माया के कारण ब्रह्म का विवर्त या अध्यास ईश्वर के रूप में भासित होता है, ठीक वैसे ही अविद्या (वैयक्तिक माया) के कारण आत्मा (या ब्रह्म) का विवर्त या अध्यास जीव के रूप में भासित होता है। ज्योंहि सदसत् का विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है, अविद्या या माया का आवरण हट जाने से जीव के वास्तविक स्वरूप आत्मा, एवं ईश्वर के मूल में ब्रह्म प्रकट हो जाता है, यही ब्रह्मभाव[9] है, मोक्ष है।

शांकर वेदान्त के तत्त्वविज्ञान के अनुसार हमने यह देख लिया कि आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर एवं जीव सत्ताविज्ञान की दृष्टि भिन्न–भिन्न तत्त्व नहीं हैं, वरन् एक तत्त्व की विभिन्न स्थितियों में भिन्न–भिन्न नाममात्र हैं, सत्ता तो केवल एक ब्रह्म की ही है। यही शांकर वेदान्त का मूल तत्त्व है, मूल द्रव्य है। उपर्युक्त के पश्चात् यह भी आवश्यक है कि आचार्य शंकर ने आत्मा-तत्त्व को चेतना के संदर्भों में कैसे विवेचित किया है? शंकर ने आत्मा को परम चेतना का नित्य प्रकाश माना है। उनके अनुसार आत्मा एवं चैतन्य में अभिन्न सम्बन्ध है। छान्दोग्य उपनिषद् के ऊपर लिखे अपने भाष्य में उन्होंने कहा है कि सभी जीवों के संदर्भ में आत्मतत्त्व प्रत्यक्षतः अन्तस्थ 'चैतन्य' के रूप में ज्ञात है और स्वयं को प्रकट करता है।[10] आचार्य रामानुज के अनुसार चेतना द्रव्य है, तदपि वह आत्मा का गुण है। नैयायिक, वैशेषिक और प्राभाकर यह मानते हैं कि चैतन्य आत्मा का गुण है। कुमारिल आत्मा के एक कर्म के रूप में चेतना को स्वीकार करते हैं। सांख्य के अनुसार चेतना आत्मा (पुरुष) का वास्तविक स्वरूप है और यह उसका गुण या कर्म नहीं है। सांख्य की भाँति शंकर भी मानते हैं कि चेतना न तो द्रव्य है और न ही गुण या कर्म। यह आत्मा से अभिन्न होने के कारण उसका तत्समक है। आत्मा नित्य चैतन्य है। इस प्रकार शांकर वेदान्त का आत्मतत्त्व, चैतन्य के रूप में औपनिषदिक अवधारणा के समान है। उनका मानना है कि आत्मा या चेतना ज्ञाता के रूप में होने के कारण ज्ञान के विषय नहीं हो सकते। किसी भी प्रकार की ज्ञान-प्रक्रिया में विषयी एवं विषय का होना अत्यावश्यक है। इनमें से प्रत्येक एक-दूसरे से सम्बन्धित होकर ही ज्ञात होते हैं। विषय हमेशा विषय के रूप में तथा विषयी भी सर्वदा विषयी के रूप में प्रकट होता है। विषय कभी भी विषयी तथा विषयी या ज्ञाता कभी भी विषय नहीं हो सकता। ज्ञान प्रक्रिया

के क्रम में चेतना स्वयंप्रकाश होने के कारण प्रकाशित हो जाती है। परन्तु आत्मा चेतना की वस्तु से भी भिन्न है क्योंकि यह स्वयं चैतन्य-रूप है और ज्ञान के क्रम में बनने वाली तात्कालिक चेतना उस मूल आत्म-चेतना की वृत्ति मात्र है जो मूलात्मा से भिन्न है।

आचार्य शंकर के अनुसार चेतना की नित्य ज्योति-पूँज ही आत्मा है। यह अविषय है। इस प्रकार, ज्ञान की किसी भी विधा से परम चेतना को ग्रहण करना ठीक उसी प्रकार का प्रयत्न है जैसे पानी में मछली का एवं आकाश में पक्षी का पदचिन्ह ढूँढना। विषय-विषयी या ज्ञेय-ज्ञाता द्वन्द्व के सम्बन्ध में चेतना का सामान्य अनुभव या ज्ञान परम चेतना का ज्ञान नहीं है, अपितु यह सोपाधिक चेतना का प्रकार है। इस प्रकार ज्ञातता की दृष्टि से चेतना के दो प्रकार हैं : सोपाधिक एंव निरूपाधिक। सोपाधिक चेतना साश्रय एवं सविषय होती है और प्रत्यक्षानुमानादि पर आश्रित होती है क्योंकि विषय-विषयी आश्रयभूत होने से इसकी केवल व्यावहारिक सत्ता ही होती है और यह अन्तःकरण के द्वारा प्रदर्शित होती है। यह अन्तःकरण की वृत्ति में निहित होती है। अतः विषयिता या ज्ञातृत्व को अन्तःकरण या लौकिक आत्मतत्त्व (जीव) से सम्बद्ध होना चाहिए जो अन्तःकरण से उपहित हो। जबकि दूसरी ओर निरूपाधिक चेतना शुद्ध एवं निरपेक्ष होती है। यह निराश्रय एंव निर्विषय दोनों होती है। यह अपने अस्तित्व के ज्ञान हेतु किसी पर भी आश्रित नहीं होती। यह विशुद्ध सत् एवं विशुद्ध आनन्द के एक ही साथ तत्समक है। यही विशुद्ध चेतना ब्रह्म कही जाती है। जब यह विशुद्ध चेतना अविद्या से उपहित होती है, तब सांवृत्तिक आत्मा या जीवात्मा की विषय-वषयी द्वन्द्व के द्वारा प्रतीति होने लगती है और ज्योंहि प्रज्ञा का उदय होता है इसका तिरोभाव होकर विशुद्ध चैतन्य या आत्मतत्त्व का प्रकाशन हो जाता है।

आचार्य शंकर ने अपने आत्मतत्त्व विज्ञान को अग्रेतर करते हुए 'जीव' एवं 'साक्षी' पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया है। आत्मा एवं जीव ज्ञान की दो अवस्थाओं के अनुरूप एक ही सत् के दो भिन्न नाम हैं। उन्होंने आत्मा एवं जीव के बीच भेद केवल सांवृत्तिक स्थिति में किया है। आत्मा (विशुद्ध सत्) परमार्थिक एवं अनुभव-निरपेक्ष सत्ता है, जबकि जीव आनुभविक, मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक सत्ता है। आत्मतत्त्व सर्वदा नित्य चैतन्य है, जबकि जीव विभिन्न उपाधियों यथा– इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अहंकार, अंगकों आदि से सीमित चैतन्य है। आत्मा शुद्ध चेतना है जो सर्वानुभवों की पूर्वमान्यता है; यह सभी विषयों के अनुभव द्वारा पूर्व में ही मान्य है, अतः पूर्णतः निर्विषय है। जीव आत्म-चेतना (अस्मत्प्रत्यय) का विषय है। यह आत्मचेतना का विषय तब बन जाता है जब अविद्या के विभिन्न उत्पाद इसे ग्रस लेते हैं, यथा– शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरणादि। जब 'अहं' एवं 'मम' के मिथ्या प्रत्यय नष्ट हो जाते हैं और वास्तविक ज्ञान का उदय हो जाता है, तब यह आत्मचेतना के विषयरूप में विलुप्त हो जाता है और इसका विशुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है।

आचार्य शंकर यह स्वीकार करते हैं कि जीव एवं आत्मा में आत्यन्तिक या पारमार्थिक रूप से कोई भेद नहीं है। जीव अविद्या की स्थिति मात्र तक बना रहता है। ज्योंहि प्रज्ञा का उदय होता है, प्रत्यगात्मा का फिर से अभिज्ञान हो जाता है[11] और सभी प्रकार की उपाधियों एवं प्रातिभासिक भेदों का क्षय हो जाता है तथा आत्मा के वास्तविक स्वरूप का प्रकाश हो जाता है।

आत्मा एवं जीव के समान ही, आत्मा एवं साक्षी में भी आत्यन्तिक रूप में कोई भेद नहीं है। ये दोनों ही तत्त्वतः एक ही हैं। आत्मा निरपेक्ष एवं सार्वभौम चैतन्य है और यही व्यक्ति विशेष में सभी संज्ञानों एवं मानसिक वृत्तियों का साक्षी है। संज्ञान उत्पन्न एवं तिरोहित होते हैं, परन्तु साक्षी चैतन्य या आत्मा अपरिवर्तित रहता है जो सभी ज्ञान एवं कर्मों के नित्य एवं तटस्थ द्रष्टा के रूप में वर्तमान रहता है। आत्मा प्रकृतितः स्वयंप्रकाश होने से 'स्वयं' को एवं इसकी 'स्वयंचेतना' को भी प्रकाशित करता है। यह सभी प्रकार के ज्ञान एवं आत्मचेतना (अहंप्रत्यय)[12] का साक्षी होता है। वाचस्पति मिश्र ने *भामती* नामक अपने प्रसिद्ध कृति में स्पष्ट किया है कि साक्षी एवं आत्मा में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। भेद केवल अज्ञानजन्य है। बुद्धयादि से उपहित विशुद्धात्मा जीव है, जबकि इसका वास्तविक स्वरूप आत्मा या साक्षी है।[13] जीव यद्यपि आत्मा से अभिन्न है, तथापि यह बुद्धयादि कतिपय अतात्त्विक संलग्नकों से सांवृत्तिकतः आबद्ध है। वह सक्रिय कर्त्ता जो अहंप्रत्यय का विषय है, जीवात्मा है। परमात्मा, जो इस जीवात्मा का साक्षी है, कभी अहंप्रत्यय का विषय नहीं बनता।

इस प्रकार हमने शांकर वेदान्त के आत्म-तत्त्वविज्ञान में देखा कि आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर, जीव एवं साक्षी सभी तत्त्वतः एक ही हैं। ये एक ही सत्ता के विभिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न–भिन्न नाममात्र हैं। जब वास्तविक ज्ञान या प्रज्ञा (ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मविद्या) का उदय हो जाता है, सभी प्रकार के विभेदीकरण विनष्ट हो जाते हैं और आत्मतत्त्व का वास्तविक प्रकाश (ज्ञान) हो जाता है। यही अवस्था मुक्ति की अवस्था कही गयी है। इस क्षण ज्ञाता और ज्ञेय का आत्यन्तिक भेद समाप्त हो जाता है क्योंकि ज्ञाता स्वयं ज्ञेय या ब्रह्म हो जाता है।

IV

शांकर वेदान्त में आत्म-तत्त्वविज्ञान (*आण्टोलॉजी ऑफ सोल*) के उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह आवश्यक है, जिसमें यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि आचार्य शंकर ने जिस मत के द्वारा आत्म-तत्त्व की सिद्धि की है वह सर्वप्रथम अनुभव एवं अपरोक्षानुभूति से प्राप्त है, तदुपरान्त तर्क एवं श्रुति से प्रमाणित है। अतः उपर्युक्त विवेचन आधुनिक तत्त्वमीमांसा पर लगे आधारहीन कल्पना के आक्षेप से पृथक क्षेत्र से सम्बन्धित है क्योंकि आचार्य शंकर का तत्त्वविज्ञान, ब्रह्मविज्ञान[14] या आत्मविज्ञान है। शंकर के अनुसार तत्त्व वह है जो सत् है और "जिस विषय के सम्बन्ध में बुद्धि का व्यभिचार (परिवर्तन) नहीं होता है, वह सत् है, पर जिस विषय के सम्बन्ध में बुद्धि का व्यभिचार होता है वह असत् है।[15]" तत्त्व या द्रव्य के इस निकष पर चैतन्य ही एक ऐसा है जो सम्पूर्णता में स्वयं को सिद्ध कर पाता है। जगत् की समस्त वस्तुएँ जो हमारे ज्ञान के विषय हैं, वे व्यभिचरित होती हैं या हो सकती हैं, किन्तु उनके ज्ञाता-रूप चैतन्य का कभी व्यभिचार नहीं हो सकता। अतः चैतन्य-रूप ज्ञाता या आत्मा ही एकमात्र तत्त्व है, क्योंकि ज्ञाता या आत्मा का निराकरण नहीं हो सकता।[16] उपर्युक्त विवेचन में हम देख चुके हैं कि आत्मा एवं ब्रह्म में अद्वैत सम्बन्ध है जिसे आचार्य शंकर ने सिद्ध भी किया है। अब यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि यदि ब्रह्म या आत्मा न तो प्रत्यक्ष के द्वारा, न अनुमान द्वारा, न सीधे तर्क द्वारा, और न श्रुति के द्वारा ही जाना जा सकता है, तो आचार्य शंकर के ब्रह्म या द्रव्य को कैसे जाना जा सकता है? यदि

यह तत्त्व अज्ञेय हो या इसके ज्ञान के लिए कोई साधन या प्रमाण आचार्य शंकर के द्वारा नहीं दिया गया हो, तब उनका समस्त दर्शन तत्त्वमीमांसा के विवादों से घिर जायेगा। परन्तु ऐसा नहीं है। इसके समाधान के लिए उन्होंने अनुभव, अपरोक्षानुभूति, तर्क एवं श्रुति, सबका उचित स्थान एवं परिस्थित्यानुरूप सहारा लिया है। उनका दर्शन अनुभव एवं उसके परीक्षण के विपरीत नहीं है। उनका समस्त दर्शन जीवन के अनुभवों पर आधारित है। *ब्रह्मसूत्र भाष्य* में 'अध्यास' की व्याख्या के क्रम में, उन्होंने लोकानुभव की ओर इंगित करते हुए कहा कि 'सामान्य जीवन का अनुभव है कि शुक्तिका चाँदी के समान दिखाई पड़ती है तथा एक चन्द्रमा दूसरे चन्द्रमा के साथ दिखाई पड़ता है।[17]' उनकी स्पष्ट मान्यता है कि दृष्ट के आधार पर ही अदृष्ट की व्याख्या की जा सकती है।[18] किसी भी दृष्ट वस्तु में अविश्वास उत्पन्न करना अज्ञानता है, क्योंकि दृष्ट वस्तु कभी भी अनुपपन्न नहीं हो सकती।[19] यदि कोई ऐसी कल्पना करता है जो दृष्ट वस्तु के विपरीत है, तो भी उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।[20] इस तरह हम देख सकते हैं कि आचार्य शंकर ने अनुभव को कितना महत्त्व दिया है।

परन्तु यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि आचार्य शंकर के इस 'अनुभव' से ब्रह्म या तत्त्व किस प्रकार जाना जा सकता है? क्या इस अनुभव में लौकिक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अलौकिक प्रत्यक्ष भी है या केवल लौकिक मात्र या दोनों प्रकार के अनुभवों में कोई विरोध है? आचार्य शंकर का मानना है कि लौकिक एवं अलौकिक प्रत्यक्षों के बीच कोई विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि इन दोनों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। दोनों की श्रेणीयाँ अलग-अलग हैं। यदि दोनों में विरोध या समानता की तुलना की जाय, तो श्रेणीपरक भूल की समस्या आ जायेगी। अतः इन दोनों को अपने-अपने क्षेत्रों में उच्चतम महत्त्व है। व्यावहारिक जगत् की वस्तुओं के लिए लौकिक प्रत्यक्ष की प्रमुखता है, किन्तु पारमार्थिक जगत् के लिए आचार्य शंकर श्रुति को ही एकमात्र प्रमाण स्वीकार करते हैं।

आचार्य शंकर की स्पष्ट मान्यता है कि ब्रह्म का स्वरूप जगत् की वस्तुओं की तरह नहीं है और न ही यह उस रूप में ज्ञान का विषय बन सकता है। अतः इसे न तो प्रत्यक्ष के द्वारा जाना जा सकता है, और न ही अनुमान या तर्क के द्वारा। जनसामान्य के द्वारा ब्रह्म को जानने का एकमात्र प्रमाण श्रुति ही है। एतत्हेतु आचार्य शंकर का कहना है कि रूपादि के अभाव के कारण ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता।[21] लिंगादि के अभाव के कारण ब्रह्म अनुमान का भी विषय नहीं हो सकता है।[22] पुनश्च, उनकी मान्यता है कि ब्रह्म को केवल तर्क के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता क्योंकि पुरुषमति की विरूपता के कारण तर्क को प्रतिष्ठित नहीं माना जा सकता।[23] आचार्य शंकर का कहना है कि विशुद्ध तर्क अनवस्थित होता है और केवल भ्रम को उत्पन्न करता है।[24] ज्ञान के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में मत-भिन्नता का कोई अर्थ नहीं है, अर्थात् वहाँ मत-वैभिन्न्य स्वीकार्य नहीं है। किन्तु, हम यह पाते हैं कि तर्क पर आधारित ज्ञान परस्पर विरोधात्मक होते हैं। यदि कोई तार्किक किसी ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहता है, तो दूसरा तार्किक उसी ज्ञान को असिद्ध घोषित कर देता है। इस लोक के भूत, वर्तमान एवं भविष्य के सभी तार्किकों को एक काल में और एक स्थान पर एकत्रित करके किसी वस्तु के विषय में एक निश्चित मत प्राप्त कर सम्यक् ज्ञान को स्थापित कर लेना संभव नहीं है।[25]

तर्क के सम्बन्ध में आचार्य शंकर के उपर्युक्त विचार को देखते हुए पुनः यहाँ प्रश्न उत्पन्न हो जाता है कि क्या तर्क को हटाकर सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है? क्या आचार्य ने तर्क को उसकी सम्पूर्णता में ही निराकरण कर दिया है? इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने स्वयं दिया है। उनका कहना है कि यदि हमेशा सभी तर्कों को अप्रतिष्ठित ही मान लिया जाय, तो लोक व्यवहार ही असम्भव हो जायेगा।[26] इससे स्पष्ट है कि उन्होंने तर्क को बिल्कुल नकार नहीं दिया है। तर्क के महत्त्व को रेखांकित करते हुए आचार्य शंकर का कहना है : "युक्ति जो दृष्टसाम्य के आधार पर अदृष्ट के विषय में विधान करती है, श्रुति की अपेक्षा अनुभव के अधिक निकट है, क्योंकि श्रुति की प्रामाणिकता परम्परागत मात्र होती है।[27]" आगे भी अपनी बात को स्थापित करने का प्रयास करते है जहाँ वे कहते हैं कि 'दृष्ट के आधार पर ही अदृष्ट का निर्धारण किया जा सकता है।[28]

आचार्य शंकर के उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने सभी प्रकार के तर्कों को नहीं अस्वीकार किया है, बल्कि उन्हीं तर्कों को अप्रतिष्ठित कहा है जो प्रागनुभविक हैं अर्थात् अनुभव पर आधारित नहीं हैं, अपितु शुष्क तर्क हैं जिनकी इस जगत् में कोई उपयोगिता नहीं है। इस प्रकार तर्क के सम्बन्ध में आचार्य शंकर के मत को समर्थित करते हुए पंचदशीकार ने कहा है कि "स्वानुभूति के अनुसार ही तर्क करना चाहिए, व्यर्थ कुतर्क नहीं करना चाहिए।[29]"

तत्त्वावबोध के संदर्भ में आचार्य शंकर द्वारा प्रमाणों के सम्बन्ध में उपर्युक्त मान्यता के पश्चात् अभी भी यह प्रश्न अनुत्तरित ही है कि अन्ततः उनके द्रव्य सिद्धान्त की मान्यता के आधार पर स्वीकृत एकमात्र तत्त्व- 'ब्रह्म' को कैसे जाना जाय? यहाँ शंकर का कहना है कि अनुभूति के अतिरिक्त जितने प्रमाण हैं, वे सभी अनुभव की प्राप्ति के साधन मात्र हैं। स्वानुभूति के अतिरिक्त जितने प्रमाण हैं, उनसे ब्रह्मज्ञान नहीं, अपितु अविद्या-जन्य भेदों की निवृत्ति हो सकती है।[30] श्रुति-ज्ञान का प्रत्यक्ष लाभ यह है कि यह अन्य प्रमाणों की तुलना में अनायास ही अनुभव के सन्निकट जल्दी ला देती है। आचार्य शंकर की मान्यता है कि सभी प्रमाणों के द्वारा अनुभव को ही प्राप्त किया जाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, श्रुति आदि प्रमाणों का कार्य केवल इतना ही है कि वे यह स्पष्ट करें कि अनात्म वस्तुएँ नश्वर हैं एवं आत्मा उनसे भिन्न है। इस प्रकार तत्त्व के वास्तविक स्वरूप तक प्रत्यक्षतः साधक को कोई भी प्रमाण न पहुँचाकर उसके अविद्या की निवृत्ति कर देते हैं और सत् या तत्त्व के रूप में ब्रह्म प्रकट हो जाता है। यही अपरोक्षानुभूति है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शंकर का तत्त्वविज्ञान, तत्त्व के वास्तविक स्वरूप तक पहुँचने में उपर्युक्त सभी प्रमाणों का उनकी सम्यक् मात्रा में आश्रय लेता है तथा अपरोक्ष रीति से तत्त्व के साक्षात्कार में सक्षम प्रतीत होता है।

V

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में यह स्पष्ट हो चुका है कि आचार्य शंकर का तत्त्वविज्ञान आधुनिक तत्त्वमीमांसीय विवादो से भिन्न कैसे है? तत्त्वमीमांसा के संबन्ध में 'आधारहीन कल्पना' का निन्द्य नामधेय केवल भाषा विश्लेषण जनित समस्या एवं शुष्क प्रागनुभविक तर्कों का सम्मिलित परिणाम है जिसे आचार्य शंकर ने अस्वीकृत कर दिया है। उनके अनुसार सत् के स्वरूप

एवं सत्ता के स्तर के अनुरूप ही सत्य का निकष निर्धारित है जिसमें एकमात्र तर्क का ही स्थान न होकर अनुभव एवं श्रुति की भी अहम् भूमिका है जो पाश्चात्य चिन्तन प्रणाली में दृष्टिगत नहीं होती। अतः तथाकथित निन्द्य तत्त्वमीमांसीय आक्षेप शंकर वेदान्त के आत्म-तत्त्वविज्ञान पर आरोपण हेतु अर्ह नहीं है। जिस आत्म-तत्त्व का प्रतिपादन आचार्य शंकर ने अपने अद्वैतवादी विवेचन में प्रस्तुत किया है वह ब्रह्म तत्त्व है। वही शंकर वेदान्त का सत् है। इस तत्त्वविज्ञान के अवगाहन हेतु आचार्य शंकर का सर्वप्रमुख प्रमाण अपरोक्षानुभूति का प्रमाण है जो स्वयमेव कोई प्रमाण नहीं है जो प्रत्यक्षतः तत्त्व तक पहुँच जाता हो। वस्तुतः अन्य प्रसिद्ध लौकिक प्रमाणों के सम्यक् सम्मिलन से उदित प्रज्ञा के द्वारा जैसे ही यह भान हो जाता है कि क्या आत्मा है और क्या अनात्मा है, वैसे ही ब्रह्म-तत्त्व या आत्म-तत्त्व का विज्ञान प्रकट हो जाता है। यही अपरोक्षानुभूति है।



संदर्भ –

1. *अरस्तू द्वारा लिखित कुछ निबन्धों के सम्मुचय को एकल शीर्षक से अभिहित करने के क्रम में सर्वप्रथम यह पद 'मेटाफिजिक्स' प्रयुक्त हुआ जिसे दर्शन के इतिहासकार यूनानी भाषा के पदबन्ध* **'ta meta ta physica'** *के द्वारा निरूपित करते हैं और जिसका अर्थ है– "वह (पुस्तक) जो भौतिक शास्त्र के परे (हो)।" यह पदबन्ध स्वयं अरस्तू ने प्रयोग नहीं किया, वरन् अरस्तू की रचनाओं के तत्कालीन संकलनकर्त्ताओं ने की। मूलतः अरस्तू की सम्पूर्ण रचनाओं को जिन तीन भागों में वर्गीकृत कर संकलित किया गया, उनमें से एक था- सार्वभौम विज्ञान (यूनिर्वसल साइंस) जिसकी तार्किकता एवं प्रमाणों द्वारा प्रदर्शन संभव था। ठीक इसके विपरीत जिसका क्षेत्र इनसे परे था उसे ही मेटाफिजिक्स (अर्थात् वेयाण्ड फिजिक्स) कहा गया। देखें, Aune, Bruce, Metaphysics (The Elements), Minneapolis : University of Minnesota Press), p. 3.*
2. *Bruce Aune holds that "Metaphysics has two principal divisions : general metaphysics and special metaphysics. General metaphysics includes ontology and most of what has been called universal science; it is concerned, on the whole, with the general nature of reality : with problems about abstract and concrete being, the nature of particulars, the distinction between appearance and reality, and the univeral principles holdng true of what has fundamental being. Special metaphysics is concerned with certain problems about particular kinds or as pects of being." Aune, Bruce, op. cit., p. 11.*
3. *दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी (कैम्ब्रिज : ऐट द यूनिवर्सिटी प्रेस, 1957), जिल्द 1, पृ0 45.*
4. *'निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्वाद् ब्रह्मेति विद्धिः', केन उपनिषद् (शांकर भाष्य), 1.5. अपि च, तैत्तिरीयोपनिषद् (शांकर भाष्य) (गीता प्रेस), पृ. 98.*
5. *'आप्नोतेर्व्याप्तिकर्मणः आत्मा', तैत्तिरीयोपनिषद् शांकर भाष्य, (गीता प्रेस), पृ0 43.*
6. *'सत्ता एव बोधः बोध एव च सत्ता' (Atman cannot be existence without intelligence or intelligence without existence"), देखें राधाकृष्णन, एस0, इण्डियन फिलॉसफी (नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, चौदहवी आवृत्ति, 2006), जिल्द–2, पाद टिप्पणी, 1, पृ0 483.*
7. *ब्रह्मैव स्वशक्ति प्रकृत्याभिधेयम् आश्रित्य लोकान् सृष्ट्वा नियन्तृत्वाद् ईश्वरः।*
8. *'यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात् एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यते इति।', ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, 2.1.9.*
9. *'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', मुण्डकोपनिषद् 3.2.9.*

10. 'प्रत्येक चेतनः स्वसंवेद्यः', छान्दोग्य उपनिषद्, 8.14.1 पर शांकर भाष्य।
11. 'न तावदयमेकान्तेनाविषयः.............' ब्रह्मसूत्र शांकर–भाष्य, 1.1.1 देखें आचार्य द्वारा परिचय भाग।
12. ब्रह्मसूत्र, 1.1.4. पर शांकर भाष्य देखें।
13. 'तस्योपहितम् रूपम् जीवः शुद्धम् तु रूपम् तस्य साक्षी', वाचस्पति मिश्र, भामति, 1.1.4.
14. आचार्य शांकर ने अपने साध्य तत्त्व के सम्बन्ध में जो विमर्श उपस्थापित किया है वह उनका तत्त्वविज्ञान है क्योंकि उनके अनुसार इस जगत् का मूल द्रव्य या तत्त्व है– 'ब्रह्म', जिसका 'आत्मा' से तादात्म्य है। उनका ब्रह्मविज्ञान ('निःश्रेयस फलं तु ब्रह्मविज्ञानं........', ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, 1.1.1) या आत्मविज्ञान ही उनका तत्त्वविज्ञान है।
15. 'यद्विषया बुद्धिः न व्यभिचरति तत् सत्, यद्विषया बुद्धि व्यभिचरति तत् असत्।', आचार्य शंकर का गीता भाष्य, 2.15.
16. "नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते। य एवहि निराकर्त्तातदेव तस्य स्वरूपम्", ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, 2.3.7.
17. '.........लोकेनुभवः शुक्तिका हि रजतवदवभासतेएकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति।', उपोद्घात, ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य।
18. 'दृष्टाच्चादृष्टसिद्धि'।, उपर्युक्त, 2.2.2
19. 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम', बृहदारण्यक उपनिषद्, 4.3.6.
20. 'दृष्टविपरीतकल्पनाऽनुपपत्तेः', ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, 1.4.15.
21. 'रूपादि अभावात् हि नायमर्थः प्रत्यक्षगोचरः।', उपर्युक्त, 2.1.11.
22. 'लिंगादि अभावात् च न अनुमानादीनाम्।', उपर्युक्त।
23. 'न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुं पुरुषमति वैरूप्यात्।', उपर्युक्त।
24. 'तर्कस्तु अनवस्थितो भ्रान्तोऽपिभवति।' केनवाक्य पर शांकर भाष्य।
25. 'सम्यग्ज्ञाने पुरुषाणां विप्रतिपत्तिः अनुपन्ना। तर्क ज्ञानानां त्वन्योऽन्यविरो-धात्प्रसिद्धविप्रतिपत्तिः। यदि केनचित्तार्किकेणेदमेव सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपादितं तदपरेण व्युत्थाप्यते इति प्रसिद्धं लोके। न च शक्यतेऽतीतानागत वर्तमानास्तार्किकाः एकस्मिन्देशे काले च समाहर्तुं येन तन्मतिरेकरूपैकार्थविषया सम्यङ्मतिरिति स्यात्।', ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, 2.1.11.
26. 'सर्वतर्क अप्रतिष्ठायां च लोकव्यावहारोच्छेद प्रसंगः।', उपर्युक्त।
27. 'दृष्टसाम्येन चादृष्टमर्थ समर्थयन्ती युक्तिरनुभवस्य सन्निकृष्यते, विकृष्यते श्रुतिरैतिह्यमात्रेण स्वार्थाभिधानात्।', उपर्युक्त, 2.1.4.
28. 'दृष्टात् च अदृष्टसिद्धिः।', उपर्युक्त, 2.2.2
29. 'स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यताम् मा कुतर्क्यताम्।' पंचदशी।
30. 'अविद्याकल्पित भेद–निवृत्ति परत्वात् शास्त्रस्य, न हि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपादयिषति।', ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, 1.1.4.

अद्वैत वेदांत में प्रत्यक्-चैतन्य और उसकी अवस्थायें

सविता गुप्ता

अद्वैत वेदांत का अद्वयतत्त्व शुद्ध ब्रह्मचैतन्य ही एक मात्र सत् है। यही चैतन्य सृष्टि प्रपंचार्थ उपाधि भेद से त्रिविध रूप ईश्वर, साक्षी एवं प्रत्यक् चैतन्य में प्रसक्त होता है । यद्यपि अद्वयतत्त्व की त्रैरूप्य प्रतीति व्यावहारिक स्तर ही है, परमार्थतः इन तीनों का समाहार अद्वयतत्त्व ब्रह्म में ही हो जाता है किन्तु जागतिक व्यवहार हेतु तीनों की ही सार्थकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ईश्वर और साक्षी चैतन्य स्वरूपानुसार ब्रह्म के निकट ही दृष्ट होते हैं परन्तु प्रत्यक् चैतन्य अपने प्रत्यक् रूप में अपने वास्तविक ब्रह्म स्वरूप से पूर्णतः इतर रूप में ही प्रतीत होता है। इसकी सत्ता के अभाव में सम्पूर्ण जागतिक प्रपंच की सार्थकता ही प्रश्नांकित हो जाती है। यही नहीं ब्रह्म चैतन्य की अन्य द्विविध प्रतीतियों की सार्थकता भी इसी कारण दृष्ट होती है। यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि अद्वैत वेदांत में अद्वयतत्त्व के बाद भी प्रत्यक् चैतन्य की सत्ता और महत्ता अपरिहार्य है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि अद्वैत वेदांत के अद्वयतत्त्व की द्विविध (ईश्वर और साक्षी) अभिव्यक्ति और सम्पूर्ण जागतिक प्रपंच का औचित्य प्रत्यक् चैतन्यापेक्षा से ही है।

I

अद्वैतवादी दार्शनिक चिन्तन परम्परा ने सम्पूर्ण सृष्टि के मूल में जिस एकमात्र तत्त्व को जाना वह सत्, ज्ञान तथा आनंदघन है। वह अद्वितीय, अविकारी, निरपेक्ष, विशुद्ध चैतन्य है जो अपनी महिमा में ही स्थित है (स्वमहिम्ने प्रतिष्ठितः)। इसके साथ संसार में अनेक विविध विकारों से युक्त अज्ञानी जीव नाना प्रकार के शोक, मोह, पीड़ित कभी सुख और कभी दुख का अनुभव करने वाले असंख्य कर्त्ता, भोक्ता, अनुभविता सतत् अनुभूयमान हैं जो मूलतः अद्वैततत्त्व स्वरूप ही हैं। किन्तु अविद्या के प्रभाव से सर्वथा अप्रतिहत व निरतिशय, सुख, दुख, ज्ञान एवं परिच्छिन्न सत्ता स्वरूप अत्यंत सीमित शक्तियों वाला होकर वर्तमान हैं। यही प्रत्यक् चैतन्य है। प्रत्यक् चैतन्य का तात्पर्य है प्राण धारण करने वाला चेतन तत्त्व। इस अर्थ में प्रत्यक् चैतन्य में कर्त्तव्य और आत्म चेतना का सम्मिश्रण है, उसमें एक तरफ चैतन्यांश है और दूसरी तरफ कर्तृत्त्वाभिमान। कठोपनिषद्[1] में कहा गया है कि ईश्वर के तप से सर्वप्रथम (सृष्टि आरम्भ में) प्रत्यक् चैतन्य उत्पन्न हुआ जो बुद्धि रूप गुहा में स्थित है। सर्वदेवतामयी अदिति (आत्मा) प्राण (हिरण्यगर्भ) रूप से प्रकट होकर बुद्धि रूप गुहा (हृदयाकाश) में प्रविष्ठ होकर रहती है। यही प्रत्यक् चैतन्य है। यह ग्यारह द्वारों वाले शरीर रूपी पुर में वास करने से पुरूष है, जो प्राण–अपान आदि प्राणों का आश्रय है, इसी से जीवन बनता है। मुण्डक उपनिषद्[2] में उल्लिखित है कि सुदीप्त अग्नि से जैसे सहस्त्रों विस्फुलिंग निकलते हैं वैसे ही अक्षर ब्रह्म से विविध भाव उत्पन्न होते हैं एवं उसी में लीन होते हैं। आगे पुनः[3] कहा गया है कि प्रकाश स्वरूप ब्रह्म ही सबके हृदय में स्थित हुआ गुहाचर नाम वाला होता है, उसी के प्रति सचराचर विश्व समर्पित है अर्थात् उसी का विषय है, वह सदसत् स्वरूप है, यही प्रत्यक् चैतन्य कहलाता है।

दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

आचार्य शंकर[4] स्पष्ट करते हैं कि यह अविद्यावच्छिन्न चैतन्य है जो शरीर और इन्द्रिय रूपी अस्थि-पंजर का स्वामी है तथा कर्मफल का सम्बन्धी है। सुरेश्वराचार्य[5] के अनुसार यह बुद्धि से उपहित, बुद्धि से तादात्म्यापन्न और बुद्धिगत से अविविक्त चित् है अर्थात् बुद्धि उपहित चित् है। विद्यारण्य एवं विवरणकार के अनुसार प्रत्यक् चैतन्य अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य है। संक्षेप शारीरिक[6] में अज्ञान तथा आभास दोनों से अन्वित शुद्ध चैतन्य को बिम्ब माना गया है जिसका लक्ष्यार्थ प्रत्यक् चैतन्य ही है। मधुसूदन सरस्वती[7] ने सिद्धांतबिन्दु में प्रत्यक् चैतन्य के सम्बन्ध में चार्वाक से लेकर वेदांत तक के सभी मतों का संग्रह करते हुए कहा है कि किन्हीं, (वैशेषिक, नैयायिक, प्रभाकर मीमांसक) के मत से प्रत्यक् चैतन्य भोक्ता, जड़ और विभु है, भाट्ट मीमांसक उसे बोध रूप भी मानते हैं। सांख्य व योग ने उसे केवल ज्ञान रूप तथा भोक्ता स्वीकार किया है, कर्त्ता नहीं । अद्वैत मत में उसे अविद्या से कर्तृत्त्वादि अवस्थाओं को प्राप्त होने वाला निधर्मक परमानंद बोध माना गया है। विद्यारण्य[8] का मत है कि प्रत्यक् चैतन्य अविद्या में प्रतिबिंबित और उसके अधीनस्थ हुआ चिदात्मा है, जो उपाधि रूप अविद्या प्रकारक है। यह चिदाभास विशिष्ट अहंकार ही है जो व्यवहारावस्था में देहादि में 'मैं' का अभिमान रखता हुआ कर्तृत्त्वादि धर्म विशिष्ट है। उसका साधन काम आदि वृत्ति वाला अन्तःकरण का एक भाग मन है जिससे उठने वाली अन्तर्मुख और बहिर्मुख वृत्ति नाम की दो क्रियाएं हैं, जिसमें अन्तर्मुख वृत्ति 'मैं' रूप कर्त्ता है और बहिर्मुख रहने वाली इदं रूप वृत्ति देह से बाहर पदार्थों को 'यह' से निर्दिष्ट करती है। वाचस्पतिमिश्र[9] ने अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य को प्रत्यक् चैतन्य माना है। अर्थात् वह चैतन्य जिसने अन्तःकरण के साथ तादात्म्य भाव स्थापित कर लिया है। वस्तुतः ब्रह्म ही अविद्याजन्य अन्तःकरण की उपाधि द्वारा प्रत्यक् चैतन्य के रूप में संसारी बन जाता है। सर्वज्ञात्मा[10] का मत है कि जब चित् का प्रतिबिम्ब अविद्या से उत्पन्न अन्तःकरण में पड़ता है तब वह प्रत्यक् चैतन्य कहलाता है।

प्रत्यक् चैतन्य ब्रह्म स्वरूप होने पर भी सृष्टि में कर्त्ता, भोक्ता एवं सुख-दुख का अनुभवकर्ता है। उसकी ज्ञान एवं शक्तियाँ दोनों सीमित हैं। वह प्रकृति के तीनों गुणों सत्व, रज और तम के प्रभाव से भ्रम में पड़ता है एवं रागद्वेषादि का विषय बनता है। शंकर[11] का कथन है कि यह ब्रह्म से भिन्न नहीं फिर भी अज्ञान के कारण अपने को मरणशील, भयत्रस्त, कर्त्ता, भोक्ता, सुखी-दुखी इत्यादि मानता है। प्रत्यक् चैतन्य अविद्या के वशीभूत होकर देहादि में आत्मभाव को प्राप्त कर तत्कृत दुख से 'अहं दुखी' इत्यादि अविद्याकृत दुख के उपभोग का अभिमानी होता है। अतः सार रूप में कह सकते हैं कि शुद्ध चैतन्य स्वरूप अद्वयतत्त्व ही अविद्या में प्रतिबिम्बित होकर प्रत्यक् चैतन्य रूप से उद्भुत हुआ जो अनादि काल से विद्यमान है तथा कर्तृत्त्व, भोक्तृत्त्व की परिधि से वेष्ठित हुआ जागतिक प्रपंचों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर राग-द्वेष, सुख-दुखादि का अनुभवकर्ता होकर अपने आत्मस्वरूप से पूर्णतया विमुख होकर बन्धन ग्रस्त रहता है । यद्यपि यह बन्धन भी मिथ्या है तथापि वह रज्जु सर्पवत् उसे सत् समझता है और इस कारण अपने स्वरूप से च्युत रहता है।

II

प्रत्यक् चैतन्य की मुख्यतः तीन अवस्थायें हैं – जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। यहाँ चैतन्य स्वरूपतः अपरिवर्तनशील रहता है लेकिन उसके वृत्तिज्ञान में परिवर्तन होता है जिसकी तीन अवस्थायें हैं। विज्ञान भिक्षु[12] ने इन अवस्थाओं को बुद्धि (अन्तःकरण) की वृत्तियाँ कहा है। योग

वासिष्ठ में इन्हें चेतना के तीनरूप तथा चित्त या मन की वृत्तियाँ कहा गया है। यहाँ वृत्ति पद बहुत व्यापक अर्थ लिए हुए है। जाग्रत वृत्ति का तात्पर्य सम्पूर्ण जाग्रत अवस्था से है जिसमें असंख्य और विविध वृत्ति रूप ज्ञान समाविष्ट हैं। ऐसे ही स्वप्न एवं सुषुप्ति वृत्ति के अन्तर्गत स्वप्न और सुषुप्ति की सम्पूर्ण अवस्थायें आती हैं। ये अवस्थायें प्रत्यक् चैतन्य की उपाधि की विशेष परिणतियाँ हैं जो विशेष प्रकार के ज्ञान समूह को उत्पन्न करती हैं एवं भिन्न भिन्न प्रकार के अनुभव के निमित्त हैं। प्रत्यक् चैतन्य अपनी उपाधि (अन्तःकरण) की स्थूल, सूक्ष्म व कारण अवस्थाओं में कमशः रहने वाली जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति रूप वृत्ति से तादात्म्यापन्न होकर उपनिषदों में उल्लिखित विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ संज्ञा से अभिहित होता है। इन तीनों अवस्थाओं के अतिरिक्त भी एक अवस्था है जिसे तुरीयावस्था कहते हैं। यह प्रत्यक् चैतन्य की अक्षर या प्रपंचोपशम शुद्ध अद्वैतत्त्व की अवस्था है। आचार्य गौड़पादाचार्य[13] ने प्रत्यक् चैतन्य की इन चारों अवस्थाओं का सम्यक् वर्णन करते हुए प्रथम तीन अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति) को अकार, उकार, मकार (ओम्, अ,उ,म्) रूपों में वर्णित किया है तथा तुरीयावस्था को अक्षर शुद्ध अद्वैतावस्था बताया है।

जाग्रत अवस्था में व्यावहारिक जगत् का ज्ञान होता है। यहाँ प्रत्यक् चैतन्य शरीर और इन्द्रियों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। सुरेश्वराचार्य[14] के अनुसार जाग्रत अवस्था में केवल अज्ञान एवं अन्तःकरण ही नहीं अपितु समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ भी स्वाधिष्ठित देवताओं के अनुग्रह से अपने–अपने विषय का ग्रहण करती हैं। यहाँ स्थूल देह सर्वथा सचेष्ट रहता है। पंचदशी[15] में उल्लिखित है कि देवता के अनुग्रह से युक्त इन्द्रियों के विषय का ज्ञान जिसमें होता है उसे अथवा इन्द्रिय जन्य ज्ञान और इन्द्रिय जन्य ज्ञान के संस्कार के आश्रयभूत काल को जाग्रत कहते हैं, यही जाग्रतावस्था है। जाग्रत अवस्था में विविधता होने से शब्द, स्पर्शादि विषयों का परस्पर भेद माना गया है परन्तु एक होने से उनके ज्ञान (संवित्) में परस्पर भेद नहीं है। यह संवित् जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में एक ही है क्योंकि वह न उदित होती है और न अस्त होती है। जाग्रतावस्था में प्रत्यक् चैतन्य, उसकी वृत्तियॉ और उसके विषय घटपटादि स्फुट रूप से भासित होते हैं। मन की अन्तःवृत्ति 'मैं' रूप प्रत्यक् चैतन्य का और बहिर्वृत्ति देह के बाहर पदार्थों को 'यह' से निर्दिष्ट वस्तु के रूप में उल्लेख करती है। मन समान रूप से 'इदम्' का ग्रहण करता है। उस 'इदम्' से रूपादि विशेष वस्तुयें निर्दिष्ट होती हैं जिनको चक्षु आदि पंच इन्द्रियाँ पृथक्–पृथक् करते हुए ग्रहण करती हैं जो इन इन्द्रियों का प्रयोजन भी है। जाग्रतावस्था में एक ही उपाधि बीजांकुर रूप में रहती है। पांचों कोश (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय) क्रियाशील रहते हैं और स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर भी सम्प्रयुक्त रहते हैं। जाग्रत से स्वप्नावस्था में जाने पर जाग्रत नहीं रहता और उसी तरह सुषुप्ति में स्वप्न नहीं रहता। अतः प्रत्यक् चैतन्य इनसे कहीं भी आबद्ध नहीं है। जाग्रतावस्था में रज्जू में सर्प की भाँति स्वाप्निक पदार्थ बाधित हो जाते हैं। अतः स्वप्न के पदार्थों से प्रत्यक् चैतन्य का राग नहीं रहता किन्तु जाग्रत में ऐसा नहीं होने से जाग्रत व्यवहार एवं जाग्रत पदार्थों से ब्रह्मज्ञान के पूर्व तक राग रहता है।

इन्द्रियों द्वारा अपने विषयों का त्याग कर देनें पर जाग्रत अवस्था के संस्कारों से उत्पन्न विषयाकार ज्ञान अथवा इन्द्रियों से अजन्य ज्ञान और उसके विषय के आश्रय काल को स्वप्न कहते हैं । आनंदगिरी के अनुसार बाह्य इन्द्रियों के उपसंहत होने पर जाग्रत की वासना के अनुसार मन का जाग्रत कालीन विषयों के आभास के आकार में अवभासन स्वप्न है। स्वप्नावस्था में इन्द्रियां क्रियाशील नहीं रहतीं परन्तु मन कियाशील रहता है। मन पर जाग्रत अवस्था में जो संस्कार पड़ते हैं उनको लेकर मन काल्पनिक विषयों की रचना करता है एवं प्रत्यक् चैतन्य अपनी माया से कल्पित लोक में सुख–दुख का भोक्ता बनता है । आचार्य शंकर[16] स्वप्नावस्था को जाग्रतावस्था से विलक्षण मानते हुए उसे स्वयं ज्योति स्वरूप बताते हैं। वे कहते हैं कि इस अवस्था में प्रत्यक् चैतन्य स्वयं ही विशुद्ध ज्योति स्वरूप होता है । वह बाह्य भूत एवं भौतिक संसर्ग से रहित ज्योति होती है। जाग्रतावस्था में प्रत्यक् चैतन्य की आत्मज्योति इन्द्रिय, बुद्धि, मन और आलोकादि व्यापार में व्याप्त रहती है किन्तु स्वप्न में इन्द्रियों के अभाव तथा उनके उपकारक आदित्य आदि के प्रकाश के अभाव में वह विशुद्ध रहती है, अतः विलक्षण है। मधुसूदन सरस्वती[17] कहते हैं कि स्वप्न–अवस्था में भोग कराने वाले कर्मों का उदय होता है तब 'निद्रा' नाम की तामसी वृत्ति से स्थूल देह का अभिमान दूर होता है। इन्द्रियाँ निश्चेष्ट होकर मन में लीन हो जाती हैं एवं प्रत्यक् चैतन्य के लिए विश्व भी विलीन सा हो जाता है। तब भी प्रत्यक् चैतन्य जाग्रत के समान सभी प्रकार के चर – अचर पदार्थों का ज्ञान और उनसे सुख–दुख का अनुभव स्वप्न में इन्द्रियों एवं विषयों के अभाव में अन्तःकरण में स्थित वासनाओं से करता है।

स्वप्नावस्था में सम्पूर्ण करण सो जाते हैं, व्यापार रहित हो जाते हैं एवं ज्ञानेन्द्रियाँ प्राण में लीन हो जाती हैं। स्वप्नावस्था में जो कुछ भी प्रतीत होता है उसकी प्रतिभासिक सत्ता रहती है। स्वप्नावस्था में पृथ्वी, आकाश, नदियाँ, प्राणी समुदाय सम्पूर्ण दृश्य जगत् दिखता है किन्तु स्वप्न का द्रष्टा उससे विलक्षण रहता है। यहाँ केवल 'मैं' के विषय में तीन भेद माने जा सकते हैं यथा– स्वप्न पुरूष, स्वप्नाभिमानी और स्वप्नद्रष्टा। स्वप्न में 'मैं' अपने को देखता है कि स्नान करने जा रहा हूँ। यह स्नान करने जाने वाला स्वप्न पुरूष है। जागने पर मैं सोचता हूँ कि यह पूरा स्वप्न मेरे संस्कार से बना था । यह स्वप्नाभिमानी है । स्वप्न का द्रष्टा और जाग्रत का द्रष्टा एक ही है और स्वप्नपुरूष का अभिमान तथा जाग्रत पुरूष का अभिमान भिन्न है किन्तु द्रष्टा एक ही है। स्वप्न में समस्त स्वप्न बनाने वाला 'मैं' था वैसे ही जाग्रत में सम्पूर्ण दृश्य बनाने वाला 'मैं' ही हूँ। स्वप्न का सारा व्यवहार बिना किए ही प्रतीत होता है, अतः स्वप्न विवर्त है किन्तु संस्कार से प्रतीयमान होता है। जाग्रत भी विवर्त है क्योंकि वह भी एक अद्वैत तत्त्व में संस्कार के कारण प्रतीत हो रहा है। जाग्रत भी अद्वैत तत्त्व का विवर्त है।

शंकर[18] के अनुसार सुषुप्ति का अभिप्राय ऐसा है जहाँ स्वप्न रहित निद्रा अर्थात् सब प्रकार की प्रमितियॉ शांत हो जाती हैं एवं बुद्धि जीव रूप में स्थिर रहती है । वृहदारण्यक उपनिषद्[19] में उल्लिखित है कि सुषुप्ति में इन्द्रियादि सभी का विलय हो जाता है एवं प्रमातृत्व की निवृत्ति हो जाती है। माण्डूक्यकारिका[20] में कहा गया है कि जाग्रत तथा स्वप्नावस्था के स्थूलात्मक एवं वासनात्मक भोगों को भोगने के कारण श्रान्त प्राणी जगत् का चिदाभास विशिष्ट अविद्या में विश्रामार्थ अवस्थान सुषुप्ति है। यह वह अवस्था है जहाँ न स्थूल देह की चेष्टाएँ रहतीं हैं न ही

मन का वासनात्मक स्फुरण रहता है और न विशेष विज्ञान जनक प्रमातृ – प्रमाण – प्रमेय विभाग की अभिव्यक्ति रहती है। स्पष्ट है कि सुषुप्ति वह अवस्था है जहाँ चैतन्य के अतिरिक्त स्थूल, सूक्ष्मार्थ विषयक जाग्रत एवं स्वप्नावस्था से सम्बन्धित सभी प्रकार के ज्ञानों से शून्य केवल अविद्या रहती है। प्रत्यक् चैतन्य का अन्तःकरण अपने स्थूल तथा कारण रूप में अविद्यात्मना उसी प्रकार अवस्थित रहता है जैसे सूक्ष्म बीजात्मक विशाल वट वृक्ष अपने बीज में रहता है। शंकर[21] इसे 'सम्प्रसाद' की अवस्था कहते हैं। जाग्रत में देह और इन्द्रियों के असंख्य व्यापारों के सम्बंध से जो क्लेश हुआ था, प्रत्यक् चैतन्य उसे छोड़कर इन्द्रियों और देह से मुक्त हो जाने के कारण स्वप्नावस्था में थोड़ा परन्तु सुषुप्तावस्था में पूर्णतया प्रसन्न होता हुआ ब्रह्म से अभिन्न रहता है। अतः कुछ नहीं जानता क्योंकि उससे पृथक् कुछ होता ही नहीं है जिसे वह जाने।

यहाँ शंका होती है कि यदि वास्तविक अर्थ में सुषुप्ति की अवस्था ब्रह्म है और ब्रह्म से अभिन्न होकर रहने की अवस्था सुषुप्ति है तो एक बार सुषुप्त अवस्था में पहुँचा प्रत्यक् चैतन्य जाग्रतावस्था को पुनः कैसे प्राप्त करता है। क्योंकि तत्त्वतः प्रत्यक् चैतन्य और ब्रह्म एक ही हैं और सुषुप्ति में तथाकथित अभेद है। प्रत्यक् चैतन्य की उपाधि नष्ट हो जाने पर उसका सुषुप्ति के पश्चात् पुनः जागना संभव नहीं है। जैसे जलराशि में कोई बूंद मिल जाने के पश्चात् उसी बूंद का उसमें से निकालना संभव नहीं। यह शंका उचित लगती है लेकिन वास्तव में उचित नहीं है क्योंकि सुषुप्ति में जीव की उपाधि विनष्ट नहीं होती है अपितु उपशांत या अभिभूत रहती है। पंचदशी[22] में भी कहा है कि सुषुप्ति में प्रत्यक् चैतन्य परमात्मा से एकता अनुभव करने वाला होता है, तब वह न आभ्यन्तर को जानता है और न बाह्य को और इस तरह केवल आनन्द रूप बना रहता है। सुषुप्ति काल में यह सम्पूर्ण प्रपंच अपनी उपादान भूत तम प्रधान प्रकृति में विलीन हो जाता है, तब उस तमो रूप प्रकृति से आच्छादित प्रत्यक् चैतन्य ब्रह्म हो जाता है, वह आनंदमय चैतन्य की अधिकता वाली वृत्तियों से आनंद का भोग करता है। वह प्रत्येक चैतन्य जो जाग्रतावस्था में विज्ञानमयादि आकार विशेषों से युक्त हो रहा था वही सुषुप्ति में विज्ञान, मन, प्राण, चक्षुरादि उपाधियों के विलय हो जाने के कारण एक रूप हो जाता है। जाग्रत अवस्था में घटादि को गोचर करने वाली बुद्धि वृत्तियाँ सुषुप्ति में घटादि विषयों के न रहने के कारण 'चिद्घन' अर्थात् चेतन से एकरस हो जाती हैं। यही 'प्रज्ञानघन' है जो वेदांत दर्शनों में साक्षिता नाम से प्रसिद्ध है। सुषुप्त अवस्था में चैतन्य किसी भोग की इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्न देखता है। वह एकीभूत प्रज्ञानघन होकर प्रचुर आनंद स्वरूप बन जाता है।

III

प्रत्यक् चैतन्य की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त तीन अवस्थायें हैं । इन अवस्थाओं में प्रत्यक् चैतन्य के त्रयरूप–विश्व, तैजस और प्राज्ञ रूप में दृष्ट होते हैं, जो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर तथा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय रूप पंच कोशों पर आधारित हैं। जाग्रत अवस्था में स्थित अन्नमय कोश रूप स्थूल शरीर रूपी अभिमानी प्रत्यक् चैतन्य 'विश्व' कहलाता है। स्वप्नावस्था में स्थित मनोमय, प्राणमय और विज्ञान मय कोश रूप सूक्ष्म शरीर रूपी अभिमानी प्रत्यक् चैतन्य 'तैजस' और सुषुप्त अवस्था में स्थित आनंदमय कोश रूप कारण शरीर रूपी अभिमानी प्रत्यक् चैतन्य 'प्राज्ञ' कहलाता है।

शंकराचार्य[23] 'स्वाप्ययात्' सूत्र से जाग्रत, स्वप्नावस्था का स्पष्टीकरण करते हुए प्रत्यक् चैतन्य के तीनों रूपों को भी बताते हैं । नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा घटादि आकार में परिणत अन्तःकरण की वृत्ति का नाम 'मनः प्रचार' है । इस वृत्तिरूप उपाधियों द्वारा स्थूल घटादि अर्थों का अनुभव करने वाला और स्थूल देह के साथ 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रकार भ्रांति को प्राप्त होने वाला प्रत्यक् चैतन्य 'विश्व' नाम का होकर जागता है । अहं कर्त्ता, अहं भोक्ता– इस प्रकार मन की उपाधि के साथ ऐक्य रूप भ्रांति को प्राप्त करने वाला प्रत्यक् चैतन्य स्वप्नावस्था में 'तैजस' नाम से अभिभूत होता है । अंत में यही प्रत्यक् चैतन्य सुषुप्त अवस्था में स्थूल और सूक्ष्म दोनों उपाधियों के कारण में विलय होने से 'मैं मनुष्य हूँ', कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ इत्यादि अभिमान के नहीं होने के कारण केवल अविद्योपाधिक होने से 'प्राज्ञ' कहलाता है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त तीनों अवस्थायें आती और जाती रहती हैं। ये अवस्थायें पृथक्–पृथक् नहीं हैं। इनमें एक ही चैतन्य तत्त्व अनुस्यूत है। अतः प्रत्यक् चैतन्य के तीनों रूप विश्व, तैजस और प्राज्ञ पृथक्–पृथक् नहीं हैं । 'एक एव त्रिधा स्मृतः' अर्थात् तीनों एक ही (चैतन्य तत्त्व) हैं जो तीन प्रकार से कहे जाते हैं। जैसे एक ही व्यक्ति पुत्र के सापेक्ष पिता, पिता के सापेक्ष पुत्र और पत्नी के सापेक्ष पति है, वैसे ही एक ही प्रत्यक् चैतन्य जाग्रत में इन्द्रिय वृत्तियों का आश्रय करके बाह्य विषयों का अनुभव करता हुआ विश्व, वही स्वप्न में अपनी स्फुरणाओं को मूर्त करके स्वाप्निक विषय का अनुभवकर्ता 'तैजस, और सुषुप्ति में समस्त उपाधियों के उपशम हो जाने पर कुछ भी नहीं जानता हुआ प्रज्ञानघन रूप में आनंदमय होकर 'प्राज्ञ' कहलाता है।

जाग्रत अवस्था में विश्व, तैजस और प्राज्ञ तीनों कियाशील रहते हैं। तैजस और प्राज्ञ दोनों ही विश्व से एक होकर रहते हैं। अतः प्राज्ञ द्वारा अनुभूत सुषुप्ति एवं तैजस द्वारा अनुभूत स्वप्न का स्मरण विश्व को होता है। स्वप्नावस्था में विश्व कार्य नहीं करता, अतः तैजस को जाग्रत की स्मृति नहीं होती। सुषुप्त अवस्था में विश्व और तैजस दोनों प्राज्ञ में लीन हो जाते हैं, फलतः सुषुप्ति में जाग्रत और स्वप्न दोनों की स्मृति नहीं होती है । प्रत्यक् चैतन्य के ये तीनों रूप अलग–अलग नहीं हैं जो विश्व है वही प्राज्ञ है । 'प्राज्ञ' ही जाग्रत में विश्व से एकाकार हो भोक्ता बनता है, वही स्वप्न में तैजस हो जाता है । प्रत्यक् चैतन्य से चैतन्य का कहीं विलय नहीं होता है, वह तीनों ही अवस्थाओं में विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ संज्ञक होकर वर्तमान रहता है। श्रुतियाँ भी कहती हैं कि विलय तो उत्पत्तिमद् वस्तु का होता है नित्य का नहीं और प्रत्यक् चैतन्य नित्य है। श्रुति में साक्षात् नित्य प्रत्यक् चैतन्य का विलय नहीं अपितु अनित्य उपाधियों का कारण में विलय होने से तदुपहित प्रत्यक् चैतन्य का गौण रूप से विलय समझ लिया जाता है।

IV

प्रत्यक् चैतन्य की जाग्रतादि तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त एक चतुर्थ अवस्था भी स्वीकार की गई है जो 'तुरीय' अवस्था कहलाती है। यह सबसे भिन्न और सबका अधिष्ठान है। पूर्वोक्त तीनों अवस्थायें वस्तुतः इसी 'तुरीय' चैतन्य की ही अवस्थायें हैं जिनसे वह प्रभावित नहीं होता। शंकर[24] कहते हैं कि तुरीय अवस्था की प्राप्ति तीनों अवस्थाओं के एकत्रीकरण द्वारा होती है फिर भी वह इन तीनों से ऊपर है, व्यापक और विभु है। तुरीय को जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त स्पर्श नहीं

करते। जाग्रत में इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार जिसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, वह तुरीय है। यह तुरीय अद्वैत है, अपरिच्छिन्न है और विभु है। विभु से तात्पर्य है कि वह प्रत्येक देह में पृथक्–पृथक् नहीं वरन् सब शरीरों में एक ही है, जो सम्पूर्ण पदार्थों में, भावों में, क्रियाओं में और स्थितियों में एकरस रहता है। वह परमानंद स्वरूप और सर्वगत है।

तुरीय चैतन्य सभी कोशों से मुक्त पंचकोशातीत है, यह ब्रह्म से अभिन्न है। विवेक पूर्वक जब अन्वय – व्यतिरेक से जाग्रतादि अवस्थाओं एवं पंचकोशों का बाध कर दिया जाता है तब एक मात्र तुरीय चैतन्य की ही सत्ता शेष रहती है । तुरीयावस्था को मोक्षावस्था भी माना जा सकता है क्योंकि इसमें प्रत्येक प्रकार के शरीर (स्थूल, सूक्ष्य और कारण) का अभाव पाया जाता है। यहाँ अविद्या न आवरण रूप में और न ही विक्षेप रूप में कार्य करती है। किसी भी प्रकार के अज्ञान के अभाव के कारण यह मोक्षावस्था ही है। गौड़पादाचार्य[25] कहते हैं कि रज्जू सर्प की भाँति तत्त्व से विपरीत ग्रहण होने पर स्वप्न होता है। केवल तत्त्व को न जानने से निद्रा होती है परन्तु इन दोनों विपर्यय के क्षीण होने पर चैतन्य तुरीयावस्था को प्राप्त होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्यक् चैतन्य की जाग्रतादि तीनों अवस्थायें पृथक्–पृथक् नहीं हैं, उसमें एक ही चैतन्य अनुस्यूत है जो अन्तःकरण की वृत्तिरूप उपाधि से विश्व, मनोपाधि से तैजस एवं अविद्योपाधिक होकर प्राज्ञ कहलाता है। ये तीनों ही अवस्थायें एवं रूप प्रत्यक् चैतन्य की चतुर्थ अवस्था 'तुरीयावस्था' के संदर्भ में कल्पित की गई हैं। तुरीयावस्था इस प्रकार की समस्त उपाधियों से विनिर्मुक्त चैतन्य की वह शुद्धावस्था है जो अनुभव के विश्लेषण से प्राप्त आनंदघन अद्वैत तत्त्व है। इसी को श्रुतियाँ सच्चिदानंद तत्त्व से प्रकाशित करती हैं।



संदर्भ –

1. *य पूर्व तपसो जातमदम्यः पूर्वमजायत । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यतः ।।*
   या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ति या भूतेभिर्व्यजायत ।।–
   कठोपनिषद–2/1/6–7
2. *यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्त्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति । –– मुण्डक उपनिषद् 2/1/1*
3. *मुण्डक उपानिषद् –– 2/2/1*
4. *ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य –– 2/3/17*
5. *वृहदारण्यक् उपनिषद् 1/4/6, 4/3/290*
6. *संक्षेप शारीरक 3/278*
7. *कर्ता भोक्ता जड़ो विभुरिति वैशेषिक प्रभाकराः। जड़ो बोधात्मक इति भाट्ट ।। भोक्तैव केवल बोधात्मक इति सांख्याः पातंजलाश्च। अविद्या कर्तृत्त्वादिभाक् परमार्थतो निर्धर्मकः परमानन्द बोध एवेत्यौपनिषदाः — सिद्धांत बिन्दु पृ. 12*
8. *पंचदशी 1/16*
9. *भामती 1/3/24*
10. *सिद्धांत लेश संग्रह 1/44*
11. *गीता शांकर भाष्य 4/5*
12. *जाग्रत्स्वप्न सुषुप्तं च गुणतो बुद्धि वृत्तयः। योगवार्तिक पृ.39*

13. माण्डूक्य कारिका 1/2,8,12
14. पंचीकरण वार्तिक पृ.26
15. पंचदशी 1/3
16. वृहदारण्यक उपनिषद्, शांकर भाष्य 1/3/9
17. सिद्धांत बिन्दु पृ.107
18. विवेक चूड़ामणि पृ. 123
19. वृहदारण्यक उपनिषद् 3/4/70
20. माण्डूक्य कारिका 1/2
21. एतस्मिन सम्प्रसादे सम्यक् प्रसीदत्यास्मिन्निति, जागरिते...... इत्यतः सुषुप्तं सम्प्रसादः उच्चयते। —वृहदारण्यक उपनिषद्, शांकर भाष्य 4/3/15
22. पंचदशी 11/54, 58
23. ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य 1/1/9
24. त्रयणां विश्वादीनां पूर्व पूर्व प्रविलापनेनं तुरीयत्व प्रतिपतिः। —माण्डूक्य उपनिषद् भाष्य 12
25. अन्यथा ग्रहतः स्वप्नो निंद्रा तत्त्वमजानतः। विपर्यासे तपोः क्षीणे तुरीय पदमश्नुते । माण्डूक्य कारिका, आगम प्रकरण 25

भारतीय दर्शन में चेतना मात्र संज्ञानात्मक नहीं

सुधा चौधरी

चेतना की मूल सत्तामीमांसीय अवस्थिति और उसके स्वरूप का प्रश्न दार्शनिक चिंतन का प्रधान मुद्दा रहा है। इससे दर्शन की अन्य तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय एवं नीतिमीमांसीय समस्याएं, प्रश्न, विवाद, जिज्ञासाएं एवं आपत्तियां और उनके समाधान नालबद्ध हैं। दार्शनिक जिस भी प्रश्न या समस्या पर अपने आप को केन्द्रित करता है उसकी इस आधारभूत प्रश्न से जिरह करने की बाध्यता रही है। इस संबंध में दार्शनिकों ने जिस दृष्टि, समझ, स्थिति एवं दिशा को आधार बनाया है वही उनके अन्य दार्शनिक प्रश्नों से संबंधित विमर्श का निर्माणक एवं निर्धारक रही है। अस्तित्व एवं चेतना, इन्द्रिय एवं इन्द्रियातीत, मनस् एवं शरीर, विषय एवं विषयी, ज्ञात एवं ज्ञेय, आधार एवं आधेय, ग्राह्य एवं ग्राहक, अनुभव एवं अनुभूति, स्वभाववाद एवं निर्माणवाद इत्यादि प्रश्नों संबंधी बहस के मूल में प्रधानतः यही दृष्टि देखी जा सकती है। निस्संदेह यह बहस अनेक रूपों, स्वरूपों, आकारों और प्रकारों में दिखाई देती है। किन्तु चेतना संबंधी दार्शनिकों में रही असहमति व विवाद का मर्म उसकी सत्तामीमांसीय स्थिति को लेकर है। संज्ञानात्मक स्तर पर चेतना की भूमिका को लेकर भौतिकवादी, यथार्थवादी, आदर्शवादी दार्शनिक सम्प्रदायों की मौलिक समझ के बीच कोई गंभीर मतभेद नहीं है।

भारतीय चिंतकों ने मानव एवं प्रकृति के अन्तर्भूत कारणों को जानने की दिशा में ऐतिहासिक एवं निर्णायक प्रयास किये हैं। उपनिषदों से लेकर उत्तरकालीन दर्शन सम्प्रदायों में उनकी चेतना संबंधी चिंतन सम्पूर्ण दार्शनिक अवधारणा के केन्द्र में देखी जा सकती है। इस दिशा में मुख्यधारा के चिंतकों ने जिस दार्शनिक समझ को आधार बनाया है उसमें उनके लिए चेतना की प्रकृति एवं उसकी संज्ञानात्मक स्थिति को समझना महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है। उपनिषद्‌कालीन दार्शनिक मनीषा में 'अस्तित्व' संबंधी समस्याओं के समाधान में चेतना का प्रत्यय महत्त्वपूर्ण भूमिका रखता है। सर्वप्रथम यहां पर चेतना पूजा एवं समर्पण हेतु उचित विषय के पर्याय के रूप में महत्त्वपूर्ण बनी। किन्तु ज्ञान की इस अवस्था में चेतना किसी पृथक् एवं ऐसी शक्ति के रूप में नहीं पहचानी गयी जो शारीरिक एवं मानसिक, आंतरिक एवं बाह्य अस्तित्व से परे स्वायत्त परिघटना बन जाए। इस स्तर पर जीवन के भौतिक एवं मानसिक पक्ष परस्पर गुत्थे हुए थे। चेतना जो आराधना हेतु उचित विषय की तलाश कर रही थी, कालान्तर में स्वयं ही आन्तरिक आधारभूत सिद्धान्त बन गयी।

शाब्दिक दृष्टि से चेतना संस्कृत भाषा के 'चित्' शब्द का पर्याय है।[1] आधुनिक भाषाओं विशेष रूप से हिन्दी में चेतना शब्द चैतन्य को प्रतिबिम्बित करता है। भारतीय दार्शनिक साहित्य में चेतना आत्मा, चैतन्य, जीव ज्ञान, विज्ञान, बोध, अन्तर्बोध, अहंकार, अन्तर्ज्ञान, साक्षी, उपलब्धि, वेदना, अनुभव जैसी संज्ञात्मक स्थितियों को ध्वनित करती है।[2] यद्यपि इन पदों में सन्दर्भ की दृष्टि

दर्शन विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

से भिन्नता देखने को मिलती है। उपनिषदों में यह 'ज्ञान' विज्ञान, आत्मा, चैतन्य है। विज्ञान जैसा कि इसका व्युत्पतिशास्त्र अर्थ बताता है, वस्तुनिष्ठ ज्ञान प्राप्ति का पद्धति शास्त्र है।[3] यद्यपि बुद्ध ने इस पद का प्रयोग भिन्न तरह से किया है।[4] विज्ञप्ति, वेदना नैयायिकों ने चित् एवं ज्ञान के पर्याय हेतु 'बुद्धि' शब्द का उपयोग किया है।[5] अद्वैत वेदान्त में चेतना 'स्वयं प्रकाश्य', साक्षी भाव एवं सच्चिदानन्द ब्रह्म के रूप में प्रयुक्त हुई है।[6] आधुनिक भारतीय दर्शन के प्रतिनिधि दार्शनिक के. सी. भट्टाचार्य[7] के अनुसार चेतना 'अनुभव' अनुभूति एवं अन्तर्बोध का पर्याय है तो अरविन्द ने चेतना को ऊर्जा एवं प्रकाश के रूप में व्याख्यायित किया है।[8] डी.पी. चट्टोपाध्याय के अनुसार चेतना स्वयं को एवं अन्य वस्तुओं को अभिव्यक्त करने वाली शक्ति है।[9] अद्वैतवेदान्ती बाल सुब्रह्मण्य के मत में चेतना अनुभव, ग्रहण एवं अनुभूति करने वाली शक्ति है।[10]

भारतीय दर्शन में प्रयुक्त चेतना संबंधी इन शब्दावलियों से यह स्पष्ट है कि चेतना किसी भी रूप में 'मनस्' का पर्याय नहीं है। यह चारित्रिक रूप से उससे भिन्न स्थिति है। वैदिक एवं अवैदिक, एकत्ववादी एवं द्वैतवादी, आदर्शवादी एवं यथार्थवादी सभी दर्शन सम्प्रदायों ने मनस् की तत्त्वमीमांसीय स्थिति को खारिज करते हुए इसे महज एक आन्तरिक इन्द्रिय माना है (अन्तःकरण) जो संज्ञान प्राप्त करने का उपकरण मात्र है। अर्थात् मनस् केवल व्यावहारिक स्तर पर अपना अस्तित्व एवं महता रखने वाली जीव की शारीरिक विशेषता है। इसका सत्तामीमांसीय स्तर न होने के कारण दार्शनिकों में इसकी ज्ञानमीमांसीय भूमिका को लेकर सहमतियां रही हैं। पाश्चात्य दर्शन में स्थिति भिन्न है। पश्चिमी दर्शन में मनस् को चेतना के पर्याय के रूप में लिया है (देकार्त) और बुद्धि को मनस् की एक बेहतर ज्ञानमीमांसीय बौद्धिक क्षमता के रूप में ग्रहण किया गया है (कान्ट)।

भारतीय आदर्शवादी दार्शनिक अपनी विशिष्ट सत्तामीमांसीय विश्वदृष्टि के कारण 'चेतना' का 'आत्मा' के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। 'चेतना' को चैतन्य या चित् के पर्याय के रूप में स्थापित करने की दृष्टि में देखा जा सकता है कि भारतीय चिंतकों ने अपनी पूरी बौद्धिक ऊर्जा के साथ इनके बीच तादात्म्य संबंध स्थापित किया है। इस अन्तर्दृष्टि से उत्पन्न गम्भीर ज्ञानमीमांसीय समस्याओं से ग्रस्त चेतना संबंधी दार्शनिकों की दृष्टि को चार भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जा सकता है –

1. चेतना अभौतिक है। यह मनुष्य के मनोजगत का आधारभूत लक्षण है जो चारित्रिक रूप से भौतिक पदार्थ से भिन्न है।
2. व्यापक अर्थ में यह सभी प्रकार की मानसिक अवस्थाओं – संज्ञान, वेदना, ग्रहण, प्रत्यक्ष, आत्मबोध, अर्न्तबोध का पर्याय है। इस संदर्भ में सभी प्रकार की सुखात्मक–दुखात्मक भावनाएं, इच्छाएं एवं आकांक्षाएं चेतना के विभिन्न स्तर हैं।
3. संकीर्ण अर्थ में केवल संज्ञात्मक अर्थ में ही चेतना को देखा जा सकता है। जिसमें 'मैं' सहित 'यह जार है' की चेतना भी अन्तर्समावेशित रहती है (मैं एवं अन्य)। किन्तु भारतीय मन्तव्य में चेतना विषयों को केवल स्वतः एवम् परतः रूपों में अभिव्यक्त करती है, उनकी संरचना एवं संश्लेषण नहीं करती।

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में चेतना के उपर्युक्त अर्थ स्पष्ट तौर पर देखे जा सकते हैं। किन्तु भारतीय एवं पाश्चात्य परम्पराओं में चेतना के स्वरूप एवं कार्य के संबंध में बार–बार जिन लक्षणों को स्पष्ट करने का प्रयास है उनमें दो महत्त्वपूर्ण हैं – विषयापेक्षिता एवं 'स्वयंप्रकाश्यता'। प्रधानतः विषयापेक्षिता पाश्चात्य परम्परा में महत्त्वपूर्ण रही है एवं स्वयंप्रकाश्यता भारतीय परम्परा का आधारभूत लक्षण रहा है।

चेतना की स्वयंप्रकाश्यता संबंधी दृष्टि बताती है कि चेतना 'स्वयं' को ही अपने अध्ययन का आधार बनाती है। विषयापेक्षिता चेतना की सत्तामीमांसीय सविषयकता को अभिव्यक्त करती है। चेतना सदैव किसी विषय की चेतना होती है इसलिए यह कोई महत्त्वपूर्ण बिन्दु नहीं है कि इस विषय का सत्तामीमांसीय स्तर क्या है। यह आन्तरिक–बाह्य, संबंधात्मक, संख्यात्मक या भ्रामक कुछ भी हो सकता है। चेतना के इन दोनों ही लक्षणों के संदर्भ में बहुत सी दार्शनिक समस्याएं रही हैं। किन्तु इस संदर्भ में हमारा प्रश्न यह है कि क्या ये दोनों विशेषताएं संयुक्त की जा सकती हैं या वे अपने मूल स्वरूप एवं दिशा में एक–दूसरे से असंगत हैं।

चेतना और उसकी अवस्थाओं के संबंध में भारतीय दार्शनिकों ने जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है उनके अनुसार तीन अर्थों में प्रयुक्त किया जा सकता है –

चेतना स्वतः अस्तित्ववान सत्ता होने से किसी का उत्पाद, परिणाम या कारण नहीं है। यह न तो भ्रामक मान्यता का परिणाम है और न ही अमूर्तन की प्रक्रिया का निष्पादन है। चेतना ठोस है किन्तु अतीन्द्रिय भी। यह बिना किसी परिवर्तन, क्रिया या वृति के प्रकाश और बुद्धि के अपरिवर्तनीय सिद्धान्त के अनुसार अस्तित्ववान है अर्थात् इसके समर्थक दार्शनिक चेतना के किसी भी प्रकार के 'कारणात्मक' उत्पत्ति संबंधी सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं। सांख्य एवं जैन दर्शन का दृष्टिकोण इस धारणा के निकट है।

चेतना 'चेतनसत्ता' की स्वरूपगत विशेषता नहीं है अपितु यह उसकी संज्ञात्मक अवस्था होने के कारण उसका आगन्तुक गुण है जो सार्वभौमिक रूप से विभिन्न अवस्थाओं में अपने आपको अभिव्यक्त करता है। इसलिए चेतना मनस् की संज्ञानात्मक अवस्थिति है जो सदैव सविषयक होती है। न्याय–वैशेषिक दर्शन का चेतना संबंधी अवधारणा इस मत को ध्वनित करती है।

चेतना चित का स्वरूपगत लक्षण है, इसलिए दोनों के बीच तादात्म्य संबंध है। यद्यपि आनुभविक चेतना में इनमें अन्तर होने का भ्रम रहता है। यह दृष्टि अद्वैत वेदांत की है।

कुछ चिंतकों के अनुसार चेतना केवल एक आच्छादित पद है जो सभी संज्ञानात्मक अवस्थाओं को बिना द्रव्य या गुण माने निहित रखती है। बौद्ध दार्शनिक इस दृष्टि का पक्ष पोषण करते हैं।

महत्त्वपूर्ण अवधारणात्मक भिन्नताएं

यद्यपि सभी भारतीय दार्शनिक तर्क देते हैं कि अभौतिक चेतना अपने विषय को प्रकाशित एवं अभिव्यक्त करती है किन्तु इस सहमति के बावजूद चेतना की प्रकृति संबंधी दृष्टि में भिन्नता रखते हैं। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भौतिकविदों एवं प्रकृतिविदों द्वारा किये गये समस्त आक्रमणों को आत्मसात करते हुए भी वैदिक तथा अवैदिक सभी सम्प्रदायों की

तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय एवं नीतिमीमांसीय मान्यताओं के केन्द्र में चेतना प्रधान विश्वदृष्टिकोण रहा है जो पश्चिम के विपरीत चेतना को सूक्ष्मता से जानने का आधार एवं दृष्टि भी प्रदान करता है। इन विभिन्न मतों एवं उनके मूल में पायी जाने वाली दृष्टि का विस्तार से अध्ययन करने से पूर्व चेतना संबंधी महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं को देखना प्रासंगिक होगा जो तीन उपशीर्षकों में विभाजित की जा सकती है –

आनुभविक एवं अतीन्द्रिय चेतना – आनुभविक का महत्त्वपूर्ण लक्षण उसका सविषयक होना है अर्थात् चेतना सदैव किसी विषय की चेतना होती है। अपनी मूल अवस्था में यह सांसारिक घटनाओं, प्रक्रियाओं एवं स्थितियों की कारणात्मक चेतना और चेतन सत्ता की शरीरगत अवस्था है। साथ ही देश–काल में परिवर्तनशील वस्तुओं एवं स्थितियों की ऐसी संज्ञानात्मक अवस्था है जो अतीन्द्रिय स्थिति को बहिष्कृत करती है।

दूसरी ओर, अतीन्द्रिय चेतना सांसारिक कारणता से स्वतंत्र है। यह किसी कारण का कार्य नहीं है। यह न शरीर, आत्मा का गुण है और न ही देशकाल में निरन्तर परिवर्तनशील घटनाओं की प्रक्रिया है। अपने मूलस्वरूप में किसी तरह के द्वैतवाद, आश्रितता एवं सविषयकता को अस्वीकार करती है। स्वयंभू, स्वःप्रकाशिता, नित्यता एवं प्रमाण निरपेक्षता इसकी चारित्रिक अभिलक्षणाएं हैं।

वस्तुनिष्ठ एवं आत्मनिष्ठ चेतना – वस्तुनिष्ठ चेतना परःप्रकाश्य एवं उसकी उत्पत्ति बाह्य विषयगत अवस्थाओं में कारणता पर आधारित होती है। इस रूप में चेतना स्वयं एक विषय है जबकि आत्मनिष्ठ चेतना स्वयं के साथ एक विषय के रूप में व्यवहार नहीं करती है। स्वतः प्रकाश्य इसका स्वभाव होने के कारण अपने आपको प्रकाशित करती है। कारणात्मक संबंधों से स्वतंत्र होने के कारण अतीन्द्रियात्मक अवस्था को निर्देशित करती है।

भारतीय दर्शन में, न्याय–वैशेषिक और मीमांसक चेतना के आनुभविक एवं वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के प्रतिपादक हैं। अद्वैत वेदान्त और सांख्य योग आत्मनिष्ठ–अतीन्द्रिय चेतना के स्वरूप के सिद्धांतकार हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि चेतना की उत्पत्ति एवं स्थिति के संबंध में चार्वाक एवं नैयायिक एक ही दृष्टि रखते हैं या अद्धैतवेदान्त एवं बौद्ध दार्शनिक एक ही जीवन दर्शन का प्रतिपादन करते हैं।

अतीन्द्रियात्मक–अतीन्द्रियातीत चेतना – भारतीय दर्शन में इन दोनों पदों के बीच कोई विभाजन देखने को नहीं मिलता है। पाश्चात्य दर्शन में कान्ट ने इन दोनों के बीच स्पष्ट अन्तर किया है। अतीन्द्रियातीत में वे सभी संभावित सत्ताएं एवं वस्तुएं आती हैं जो हमारे संभावित अनुभव की सीमा से परे हैं (पुनर्जन्म, ईश्वर, आत्मा) जबकि अतीन्द्रियात्मक सिद्धांत वे हैं जो सम्भावित अनुभव से प्रतिबद्ध हैं। कान्ट का प्रवर्ग सिद्धान्त इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। भारतीय दर्शन में अतीन्द्रियातीत को 'विशुद्धचैतन्य' और अतीन्द्रियात्मकता को अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान कहा है।

उपनिषदों में चेतना

भारतीय दर्शन के आधारभूत दार्शनिक ज्ञान के स्रोत ग्रंथ 'उपनिषदों' में चेतना के विषय में विवेचन का प्रश्न 'आत्मा' के वास्तविक स्वरूप के स्पष्टीकरण के संदर्भ में उठा। संस्कृत भाषा में प्रयुक्त 'चित्' शब्द उपनिषदों में 'आत्मा' 'विशुद्धचैतन्य' को निर्देशित करता है। विशुद्धचैतन्य

अतीन्द्रिय चेतना है जो आनुभविक चेतना से केवल गुणात्मक रूप से ही भिन्न नहीं है अपितु उसका आधार भी है। चेतना, 'आत्मा' विशुद्धचैतन्य, 'विशुद्ध आत्मा' एवं चित् ये सभी पद परस्पर आनुभविक जीव से भिन्न हैं जिसमें न केवल 'मैं' की चेतना होती है अपितु सविषय, साकार एवं सतत् परिवर्तनशील स्वभाव से युक्त देशकाल की चेतना है।[11] वस्तुओं की एकता के प्रति अपनी दृष्टि को अभिव्यक्त करने के लिए अधिकांश उपनिषद् एक ऐसे मौलिक सिद्धान्त जो सभी सत्ताओं के मूल में विद्यमान है, की पहचान करने के प्रयास में रहे हैं। इसके लिए सबसे विशिष्ट पद उन्होंने 'ब्रह्म' लिया है। यह आधारभूत सत्ता न केवल व्यक्तिगत सत्ता (जीव) का केन्द्र बिन्दु है अपितु उससे परे, स्वतंत्र, नित्य ऊर्जा एवं जीवन शक्ति है। उपनिषदीय भाषा में ब्रह्म का मर्म आत्मा में खोजा गया। यही सभी अस्तित्वों का प्रथम कारण है। 'आत्मा एवं ब्रह्म' के इस एकत्व की अभिव्यक्ति ही उपनिषदीय शिक्षा का सारतत्त्व है जिसकी अभिव्यक्ति 'तत्त्वमसि', अयमात्मा ब्रह्म, अहम् ब्रह्मास्मि, मैं ब्रह्म ही हूँ जैसे महावाक्यों में हुई है। उपनिषदीय द्रष्टा केवल आत्मा एवं ब्रह्म की इस एकता को समझना ही नहीं चाहते थे, वे इसकी अनुभूति भी करनी की इच्छा रखते थे। इस प्रक्रिया में 'ब्रह्म' की जिन विशेषताओं को जानने हेतु जिस ज्ञानशास्त्र को विकसित किया गया उनमें आत्मा व्यक्तिगत अनुभव की आधारभूत वास्तविकता पायी गयी। इस दृष्टि के कारण आत्मा के स्वरूप को ही जानना उपनिषदीय अन्वेषणा का केन्द्र बन गया। इस प्रक्रिया में वैयक्तिक आत्मा ने यह महसूस किया कि 'आत्मनिष्ठ' एवं 'वस्तुनिष्ठ' एक ही हैं। तब प्रश्न उठता है कि आत्मा क्या है? यह आत्मा शरीर–मनोविज्ञान से कैसे संबंधित है अर्थात् हम, मैं, कैसे पुकारते हैं? जीवन में आत्मा एवं ब्रह्म की एकता को कैसे महसूस करते हैं? इन जिज्ञासाओं की प्रकृति को स्पष्ट करने हेतु द्रष्टाओं ने अनेक पदों एवं अवधारणाओं का उपयोग किया। उदाहरण के लिए चेतना, प्रकाश, दीपक, द्रष्टा, आत्मप्रकाश्य, आत्मज्योति, अन्तर्यामी इत्यादि। याज्ञवल्क्य और राजा जनक के बीच संवाद जनक के इस प्रश्न के साथ शुरू होता है कि उस प्रकाश का स्रोत क्या है जिसके कारण व्यक्ति इस जगत् में अपने कार्य करता है? याज्ञवल्क्य इसका उत्तर सूर्य के रूप में देते हैं। यह उत्तर राजा को सन्तुष्ट नहीं कर सका और उन्होंने दुबारा प्रश्न किया कि जब सूर्य अस्त हो जाता है तो जीव को प्रकाश कौन देता है? याज्ञवल्क्य इसका जवाब चन्द्रमा देते हैं। चन्द्रमा ही प्रकाश का स्रोत है। इस उत्तर से असंतुष्ट जनक ने फिर प्रश्न किया कि जब वे दोनों ही नहीं होते हैं तो प्रकाश कौन देता है? तब याज़वल्क्य ने अग्नि को प्रकाश का स्रोत बताया। तब जनक ने पूछा कि जब अग्नि, सूर्य एवं चन्द्रमा तीनों ही नहीं होते हैं तो प्रकाश कौन देता है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि चेतना (आत्मा) ही उसको समस्त प्रकार का प्रकाश प्रदान करती है। उसी की सहायता से सजीव अपने कार्य को कर सकता है। चेतना स्वयंप्रकाश है, स्वयंज्योति है।[12]

छान्दोग्य उपनिषद् में चेतना (आत्मा) का विवेचन प्रसिद्ध महावाक्य 'तत्त्वमसि' की प्रकृति को स्पष्ट करने के संदर्भ में हुआ है। 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य चराचर जगत् की 'विभिन्नता' में 'एकता' को प्रतिपादित करने वाला सूत्र है। इसकी प्रकृति को स्पष्ट करने हेतु उद्दालक और उसके पुत्र श्वेतकेतु के बीच संवाद को देखना अपेक्षित है। उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु से पूछता है क्या तुम जानते हो कि वह क्या है जिसके कारण अज्ञात ज्ञात बन जाता है, अग्राह्य ग्राह्य बन

जाता है और बिना कान वाला सुनने वाला बन जाता है? श्वेतकेतु के अनभिज्ञता प्रकट करने पर उद्दालक कहता है जिस प्रकार एक ही मिट्टी अनेक रूपों में बदलकर विभिन्न वस्तुओं एवं नामों को ग्रहण करती है, जिस प्रकार सोना पिघलकर अनेक रूपों में अभिव्यक्त होता है किन्तु तुम जानते हो कि मिट्टी एवं सोने की सभी वस्तुओं एवं रूपों के मूल में मिट्टी एवं सोना ही होता है उसी प्रकार सभी प्रकार के आनुभाविक जीव उसी 'स्वयंप्रकाश्य' चेतना (आत्मा) की विभिन्न अभिव्यक्तियों के रूप हैं। यही चेतना समस्त आत्मनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ ध्रुवों के आकारों का आधार एवं कारण है। यह अन्तर्नियन्ता है।[13]

चेतना की प्रकृति एवं कार्य संबंधी उपर्युक्त विवेचन यह स्पष्ट करता है कि चेतना (आत्मा) के लिए उपनिषदीय खोज केवल बौद्धिक विश्लेषण तक ही सीमित नहीं थी। इसका लक्ष्य अनेकतत्त्व में एकत्व के आधार रूप को समझते हुए समस्त चराचर जगत् के साथ उसका तादात्म्य स्थापित करना है। हमने देखा है कि उपनिषदीय द्रष्टाओं ने चेतना (आत्मा) को खोजने की यात्रा में अलग–अलग समय में भिन्न एवं विरोधी प्रतिमानों का उपयोग किया है। इस खोज में उद्दालक ने विकास एवं प्रत्यावर्तन के प्रतिमान से शुरू कर सत् (चेतना) को आधारभूत कारण जिससे जगत् का आविर्भाव एवं तिरोभाव होता है, के पहचान के रूप में किया। इसके विपरीत याज्ञवल्क्य और मान्डुक्योपनिषद् में 'अनुभव' के विभिन्न गहरे होते जा रहे स्तरों की व्याख्या की। द्रष्टाओं ने स्थूल से सूक्ष्म की ओर तथा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर क्रमशः अनुभव के विभिन्न स्तरों के अर्थों को अनावृत करते हुए अंततः सबसे आधारभूत गहनतम स्तर पर पहुँच जाने की दृष्टि रखी है। विषयी खोज के दौरान इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि वस्तुनिष्ठ एवं आत्मनिष्ठ दोनों के मूल में एक ही चेतना है।[14]

चेतना के प्रति उपनिषदीय दृष्टि का निगमन –

यद्यपि, चेतना सभी प्रकार की 'जानने' (सोचना, अनुभव करना एवं ग्रहण करना) की क्रियाओं के मूल में है किन्तु 'ज्ञेय' विषय से भिन्न है। यह जानने की प्रत्येक क्रिया में अन्तर्निहित होने के कारण ज्ञान का आधार एवं कारण है जो स्वयं कभी भी ज्ञान का विषय नहीं हो सकती। यह एक अपरिवर्तनशील, अविभाज्य सत् है जिसे केवल नेति–नेति कहकर वर्णित किया जा सकता है।

विशुद्ध चैतन्य आनुभविक जीव (मैं की चेतना) से भिन्न है जो कि कर्ता, भोक्ता एवं ज्ञाता है। दूसरे शब्दों में, आनुभविक चेतना की जाग्रत, सुषुप्त एवं स्वप्न की जो अवस्थाएं हैं, के प्रभाव से भिन्न एवं परे होने के कारण उनके साथ तादात्म्य नहीं रखती है। चेतना अपने आपके प्रकाश से प्रकाशमान है यह आत्मप्रकाश्य, आत्मज्योति है। अर्थात् चेतना ज्ञान है।

विचार, संज्ञान एवं क्रियाएं सभी के लिए चेतना आवश्यक पूर्व धारणा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उपनिषदीय द्रष्टाओं की चिंतन दृष्टि में चेतन सत्ता एवं चेतना में आधार–आधेय जैसी कोई भिन्नता नहीं है। दोनों के बीच तादात्म्य संबंध है। चेतना प्रकाश है जिस प्रकार सूर्य के बिना पूरा ब्रह्माण्ड अंधेरे में डूब जायेगा उसी प्रकार चेतना के बिना ज्ञाता के लिए कुछ भी जानना या अभिव्यक्ति करना असंभव हो जायेगा।

न्याय–वैशेषिक का आनुभविक वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण

यथार्थवाद का प्रतिनिधित्व करने वाला दार्शनिक सम्प्रदाय, न्याय–वैशेषिक चेतना संबंधी वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं। इनकी दृष्टि में चेतना स्वयं उसी प्रकार विषय है जिस प्रकार अन्य विषय होते हैं। चेतना ही ऐसी सत्ता है जो विषय को ज्ञेय बनाती है या अभिव्यक्त करती है। (अर्थ प्रकाशो बुद्धि) यहाँ बुद्धि चेतना है।[15] बुद्धि एवं चेतना के बीच तादात्म्य संबंध है। विषय का एक विशेष प्रकार चेतना अपनी विषयापेक्षित्ता से परिभाषित की जाती है जो कि उसका अन्तनिर्हित संदर्भित विषय होता है। विषयरहित कोई चेतना नहीं है अर्थात् – चेतना आत्मा (चेतन सत्ता) का सांयोगिक आगन्तुक गुण है। यह सभी वस्तुओं को उद्‌भाषित करने वाले ज्ञान को, भौतिक वस्तुओं के अन्य गुणों की ही भांति आत्मा से संबंधित एक गुण है। न्याय वैशेषिक की दृष्टि में चेतन सत्ता एवं चेतना भिन्न–भिन्न स्थितियां हैं। (गहरी निद्रा एवं कोमा की स्थिति में) चेतना सत्ता (आत्मा) कर्ता, ज्ञाता एवं भोक्ता है जबकि चेतना ज्ञान है, बुद्धि है। जैसे कुछ लौकिक परिस्थितियों की संस्थिति से घड़ा और घड़े की विशेषताएं प्रकट होती हैं उसी भांति आत्मा, मनस्, इन्द्रिय और संवेदना से जुड़ी वस्तुओं के सम्मिलन और क्रमिक सम्पर्क से ज्ञान का उद्‌भव होता है।

चेतना आत्मा का स्वरूपगत नित्य गुण न होने के कारण आविर्भाव एवं तिरोभाव की अवस्था रखती है। जिसकी उत्पत्ति हेतु कुछ दशाओं का विद्यमान होना आवश्यक पूर्वशर्त है। इसका तात्पर्य है कि नैयायिकों के अनुसार चेतना की सत्तामीमांसीय यह पूर्णतया आनुभविक अर्थ में संज्ञानात्मक स्थिति है जिसके लिए ज्ञानेन्द्रियों का होना आवश्यक है। सूत्रात्मक रूप में आत्मा + शरीर + ज्ञानेन्द्रिय + बाह्य वस्तु = चेतना। यह विषयापेक्षी होती है (सविषयक)। इस आधार पर ही आत्मा के दूसरे गुणों सुख, दुखः आनन्द से भिन्न है।

यहाँ हम न्याय–वैशेषिक की चेतना संबंधी अवधारणा को उपनिषदीय धारणा से भिन्न पाते हैं। उपनिषदों में चेतना न केवल सत्तामीमांसीय अर्थात् स्वयंप्रकाश्य स्वयंज्योति स्वरूप आत्म सत्ता है अपितु समस्त चराचर जगत् का आधार एवं कारण भी है किन्तु ज्ञाता, भोक्ता एवं कर्ता नहीं है। परन्तु जबकि न्याय–वैशेषिक दर्शन में चेतना एवं आत्मा में तादात्म्य संबंध के प्रति नकार भाव रहा है। जैसा कि वात्स्यायन कहते हैं – आत्मा सभी वस्तुओं की द्रष्टा, भोक्ता एवं अनुभवकर्ता है, शारीरिक सुख, दुख आनन्द का स्थान एवं अनुभूति का उपकरण है। चेतना उत्पन्न और नष्ट होने वाली होने के कारण (आत्मा) नहीं है। आत्मा क्रिया एवं गति से युक्त है जबकि चेतना कोई गति नहीं रखती है। इसलिए यह केवल गुण हो सकती है। चेतना एक गुण है किन्तु यह गुण न तो ज्ञानेन्द्रियों का है और न ही क्रिया का, यह केवल आत्मा (अभौतिक द्रव्य) का गुण है।[16]

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि न्याय की चेतना संबंधी समझ चार्वाक के निकट है। इस संदर्भ में अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए नैयायिक दार्शनिक चार्वाक दर्शन की तीव्र आलोचना करते हैं। वे तर्क देते हैं कि यदि चेतना शरीर का गुण होती है तो मृत्यु के समय भी होनी चाहिये थी क्योंकि मृत्यु के समय ज्ञानेन्द्रियाँ युक्त शरीर तो रहता ही है।[17] चेतना क्रिया और क्रिया की विभिन्न अभिव्यक्तियां इच्छा, घृणा, पीड़ा आदि का संकेत करती हैं जो कि भौतिक तत्त्वों में नहीं पाया जाता है। नैयायिक चेतना को ज्ञानेन्द्रियों की विशेषता नहीं मानते हैं। उनके अनुसार

आत्मा ही सही अर्थ में अनुभवकर्ता है। ज्ञानेन्द्रियाँ केवल ज्ञान प्राप्त करने के उपकरण मात्र हैं। जबकि ज्ञान एक संज्ञानात्मक मानसिक अवस्था है। चेतना आत्मा का ही गुण है जो शरीर, ज्ञानेन्द्रिय, मनस एवं चेतना से भिन्न एवं स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाली नित्य शाश्वत सत्ता है। चेतना घटनाओं की प्रक्रिया है जिसमें प्रत्येक घटना घटती है, अस्तित्व रखती है और नष्ट हो जाती है। चेतना का विषय यद्यपि संसार की वस्तुएं होती हैं किन्तु केवल संवेदी वस्तुएं ही नहीं अपितु सभी भौतिक एवं मानसिक यहां तक कि 'आत्मा' भी इसके क्षेत्र में आती है। चेतना एवं आत्मा संबंधी इस आत्मविरोधी दृष्टि के कारण न्याय–वैशेषिक अपनी अन्तिम विश्वदृष्टि में वे निष्कर्ष निकालते हैं जो सैद्धान्तिक रूप में उनके लिए अंसगत एवं आत्मघाती स्थितियां पैदा कर देते हैं। इसलिए नैयायिकों को उस आलोचना एवं तिरस्कार का सामना नहीं करना पड़ा जिनका चार्वाकों को करना पड़ा। चेतना के उद्‌भव संबंधी अपनी भौतिकवादी प्रस्थापनाओं के कारण केवल चार्वाक ही चैतन्य प्रधान चिंतकों के आक्रमण के मुख्य शिकार हुए हैं।

क्या आत्मा आनुभविक संज्ञान का विषय है? न्याय वैशेषिक के मत में आत्मनिरीक्षणात्मक निर्णय जैसे मैं प्रसन्न हूँ, मैं दर्द में हूँ', मैं सोच रहा हूँ यह अनुभूतियां आत्मा की हैं। किन्तु यह विशुद्ध आत्मा नहीं है अपितु मानसिक स्थिति के गुणों से युक्त आत्मा है। विशुद्ध आत्मा अभी भी अतीन्द्रिय रहती है और अपनी मुक्ति की दशा में शरीर से स्वतंत्र है। यहाँ तक की वह चेतना का आश्रय भी नहीं है। यही पूरी दृष्टि यद्यपि चेतना को आत्मा पर निर्भर बनाती है और इस संबंधित जटिलता में आत्मा विषय है किन्तु आनुभविक विषय से परे सत्ता है।[18]

इसी के संदर्भ में दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न चेतना की साकारिता एवं निराकारिता को लेकर उठता है। यह एक जटिल प्रश्न है। जब हम आकार की बात करते हैं तो हमें समझना चाहिये कि वस्तुओं के विभिन्न गुणों का एक व्यवस्थित प्रबंधन है। इस संदर्भ में बाह्य भौतिक वस्तुएं देशकाल में स्थित निश्चित आकार एवं स्वरूप रखती हैं।

किन्तु वस्तुवादी न्याय वैशेषिक एवं मीमांसक जो कि बाह्य जगत् की वस्तुओं की सत्ता को स्वीकार करते हैं, चेतना की 'साकारिता' से इंकार करते हैं। योगाचारी बौद्ध दार्शनिक जो कि बाह्य जगत् के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं, वस्तुवादियों के इस दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए चेतना की आकारिता को स्वीकार करते हैं। बौद्ध तर्क देते हैं कि यह प्रतिभास जैसे 'यह हाथी है' हाथी की चेतना स्वयं हाथी का आकार रखती है जबकि न्याय वैशेषिक यह मानते हैं कि यह प्रत्यक्ष ज्ञान स्वयं अपने आपमें मानसिक स्थिति होने के कारण आकारहीन है। न्याय वैशेषिक में चेतना संज्ञान की एक विशेष अवस्था है। उदाहरण के लिए भौतिक विषय को देखना, आवाज को सुनना ये सभी संज्ञानात्मक स्थितियां अपने आप में निराकार हैं। हाथी का मानसिक चित्र हाथी जैसा है किन्तु हाथी मानसिक चित्र जैसा नहीं है।[19]

स्पष्ट है कि न्याय दर्शन में चेतना यद्यपि आत्मा का सांयोगिक गुण है किन्तु यह दूसरे गुणों सुख दुखः से भिन्न है। चेतना सदैव संज्ञानात्मक है। सुख दुखः जैसी अनुभूतियां संज्ञानात्मक नहीं अपितु भावात्मक है। यद्यपि सुख–दुख भी अपनी विषयापेक्षिता उस चेतना से निगमित करते हैं जो विषय में उपस्थित है। उदाहरण के लिए 'मैं' 'ग' के बारे में खुश हूं, मेरी खुशी का कारण 'ग' का सफल होना है। यहां यह महत्त्वपूर्ण है कि न्याय के अनुसार 'जानना' विषय की ओर

निर्देशित एक कालिक क्रिया है। यह इस तरह के प्रत्यक्ष निणर्य से अभिव्यक्त की जाती है। जैसे यह टेबल है। यहां टेबल ज्ञान का विषय है। उसके अनुसार संज्ञान (व्यवसाय) केवल विषय को अभिव्यक्त करता है स्वयं को नहीं। यह प्राथमिक संबोध दूसरे अन्तर्निरीक्षण द्वारा जानकारी में लाता है कि मैं टेबल को जानता हूँ। मैं टेबल का ज्ञान रखता हूँ। (अनुव्यवसाय)

योगाचार बौद्धों की आत्मनिष्ठ–वस्तुनिष्ठ स्थिति

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में चेतना (विज्ञान) प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रक्रिया की तीसरी कड़ी है। यह पंच स्कन्धों की सूची में से भी एक है जो 'मैं' और 'अहं' जैसी मिथ्या धारणाओं को जन्म देती है। बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त का उपयोग मानव अस्तित्व एवं उसकी स्थिति की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए किया। प्रारम्भ में कारणता सिद्धान्त में परस्पर अन्तर्सम्बन्धी धारणाओं जैसे मनो–शारीरिक व्यक्तित्व, अन्तर्बोध–अनुभव, राग–द्वेष, पुनर्जन्म–मृत्यु और इसी तरह की अन्य धारणाओं को शामिल किया। बुद्ध ने मानव व्यक्तित्व, जीवन की निरन्तरता और अवसान, परिवर्तनशील वस्तुओं के स्वभाव, मानव का बंधन एवं मुक्ति को स्पष्ट करने हेतु द्वादश–निदान की अवधारणा प्रस्तुत की। कारणता सिद्धान्त की इन बारह कड़ियों में चेतना तीसरे स्थान पर है। यह अविधा और मानसिक संरचना (कर्म) द्वारा उत्पन्न और नामरूप द्वारा संज्ञेय बनती है।[20]

इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह है कि चेतना वर्तमान और भूत के बीच संबंध स्थापित करने वाली सम्बन्धक भी है। यह कथन कि कर्म अविधा पर निर्भर करता है, मानव बंधन का स्पष्टीकरण उपलब्ध करवाता है। कर्म एवं अविद्या पर निर्भर व्यक्ति इन्द्रियों के माध्यम से अपने चारों ओर व्याप्त आनुभविक संसार का अनुभव करता है, उनके प्रति आसक्त हो जाता है। किन्तु महत्त्वपूर्ण यह है कि बारह कारकों में प्रत्येक कारक स्वयं दूसरे पर निर्भर ही नहीं है अपितु दूसरे को निर्भर करता भी है। इसलिए, चेतना का आकार केवल इस पर निर्भर नहीं होता है कि इस संसार में दूसरे के अनुभव क्या हैं अपितु उस तरीके द्वारा भी जिससे वह उस अनुभव का जवाब देता है। यदि कोई व्यक्ति यह अनुभव करता है कि सुखद अनुभव क्षणिक एवं तात्कालिक है तो यह उनके राग को नियंत्रित करने में मदद करता है। इस दृष्टि से वह अपने चारों ओर के संसार और अपने व्यक्तित्व को अच्छी ढंग से समझ सकता है। दूसरी ओर, यदि उसके कार्य अनुभव के राग और द्वेष से नियंत्रित होते हैं तो वे उसमें इच्छा को उत्पन्न कर देते हैं और फिर दूसरे 'नाम रूप' का संग्रह होता है। जो चेतना कान पर निर्भर रहकर आवाज के रूप में अस्तित्व में आती है वह आवाज चेतना होती है, इसी प्रकार गंध, रस, त्वचा की चेतना आती है। इस दृष्टि से चेतना (विज्ञान) उपस्थित विषय की जानकारी/बोध/ज्ञान है। उदाहरण के लिये जब आँख नामक ज्ञानेन्द्रिय लाल रंग के सम्पर्क में आती है तो दृश्य चेतना प्रतिक्रिया में उठती है जो कि रंग की उपस्थिति की चेतना का बोध है। दृश्य चेतना दृष्टि को दर्शाती है पहचान की चेतना को नहीं। पहचान का कार्य तीसरे स्कन्ध (संज्ञान) प्रत्यक्ष द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि बुद्ध के अनुसार चेतना पदार्थ के विरोधी अवधारणा नहीं है जैसा कि आदर्शवादी दर्शन में। यह कोई आत्मा या पदार्थिक जीव को निर्देशित नहीं करती है जो जन्मों की कड़ियों द्वारा बंधी हुई है।

बुद्ध के अनुसार चेतना 'निर्भर उत्पत्ति' में निश्चित दशाओं में ही उत्पन्न होती है और जब दशाएं बन्द हो जाती हैं तो चेतना भी। ओ! भिक्षु वैसे ही जैसे अग्नि अपने नाम हेतु जो कुछ भी जलता है उस पर निर्भर करती है। जो अग्नि घास के जलने पर निर्भर है वह घास अग्नि कहलायेगी। ठीक उसी तरह ओ! भिक्षु चेतना अपने नाम हेतु इस पर निर्भर करती है कि वह कहाँ से आती है।[21]

इस प्रकार बुद्ध बार–बार यह दर्शाना चाहते हैं कि चेतना (विज्ञान) का उत्पन्न होना कुछ निश्चित दशाओं/शर्तों पर निर्भर करता है और इसलिए किसी शर्त या दशा की अनुपस्थिति में यह उत्पन्न नहीं होती। चेतना चार स्कन्धों और चार कारणों (हेतु, समन्तर, आलम्बन, अधिपतिप्रत्यय) पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए आँख लाल रंग के सम्पर्क में आती तो विषय (आलम्बन) उपस्थित होता है। ज्ञानेन्द्रियां (हेतु प्रयय) उत्पन्न होने की दशाएं बनती है। तात्कालिक पूर्ववर्ती ज्ञान समन्तर प्रत्यय बनता है और विचार अधिपति है। सभी संवेदनाएं, सभी संज्ञा, सभी संस्कार भूत, भविष्य, वर्तमान, बाहर–अन्दर, स्थूल–सूक्ष्म, साधन–साध्य, दूर एवं निकट जो कि असक्ति एवं विरक्ति के संयोजन हैं, चेतना के आसक्ति समूह से संबंधित हैं।[22]

स्पष्ट है कि बुद्ध की चेतना संबंधी धारणा में चेतना कोई स्वतंत्र, शाश्वत या नित्य स्थिति को नहीं दर्शाती है अपितु चार स्कन्ध–पदार्थ, वेदना, संज्ञा एवं संस्कार पर निर्भर है। मानव व्यक्तित्व इन के बिना कुछ नहीं है। सदैव परिवर्तित शारीरिक एवं मानसिक पंच संघातों का सामूहिक नाम है। क्षणिक सत्ता के ये पंच स्कन्ध हर क्षण एक–दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं। यहाँ कोई तादात्म्य नहीं है। बनने की प्रक्रिया है, उत्पन्न नष्ट होने वाले क्षणों का प्रवाह है। चेतना अपनी उत्पतियों के लिए किसी शाश्वत आत्मा या सत्ता की ऋणी नहीं है। यह अपनी उत्पति अनुभव में रखती है जो कार्य करने के माध्यम से विशेषित होती है।

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित चेतना की अवधारणा को उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिकों ने सभी रंगों एवं धारणाओं में विवेचित किया है। क्रमशः पंच स्कन्ध संघटक तत्त्वों के विभाजन हेतु आये जो 'धर्म' कहलाये। यद्यपि इन तत्त्वों की संख्या सम्प्रदाय विशेष में भिन्न रही है। किन्तु वे सभी सहमत है कि व्यक्ति इन क्षणिक धर्मों का समूह है, समष्टि है।

योगाचारियों की चेतना संबंधी मान्यताओं का निगमन

विज्ञान अर्थात् चेतना ही यथार्थ सत्ता है किन्तु यह चेतना पारम्परिक चिंतन परम्परा के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुई है। यहां भी चेतना क्षणिक विचारों का सतत् प्रवाह है। विज्ञान (चेतना) उत्पन्न एवं नष्ट होने वाली घटना है। यह चार कारणात्मक दशाओं (प्रत्ययों) से उद्‌भव होती है। प्रत्येक विज्ञान अपने अन्दर विषयापेक्षी संरचना रखती है। यह अपने आपके प्रतिबोध रखती है (स्वसंवेदना)। इस प्रकार चेतना के सभी प्रकार संवेदी पक्ष रखते हैं, इसका अपवाद केवल मनोमय विज्ञान और आलय विज्ञान है।

योगाचारी दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त विशेषताओं के तीन आधारभूत लक्षण हैं। प्राकृतिक, विषयापेक्षिता और आध्यात्मिक। प्राकृतिक तत्त्व कारणता पर जोर देता है और प्रत्येक विज्ञप्ति के उत्पन्न नष्ट होने की स्थिति को दर्शाता है। विषयापेक्षी तत्त्व इस बिन्दु को चिन्हित

करता है कि प्रत्येक विज्ञप्ति आलय की चेतना की संरचना रखती है। आध्यात्मिक तत्त्व चेतना के स्वयंप्रकाश्य स्वरूप को ध्वनित करता है। 'कारण' के लिए उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन में प्रत्यय शब्द का उपयोग हुआ है।

बसुबन्धु ने चेतना संबंधी विचार अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'त्रिंशिका' में रखे हैं।[23] बसुबन्ध इस बात पर बल देते हैं कि सभी संघटक तत्त्व और सत्ताएं जो 'आत्मा' या 'जीव' कही जाती है; इसी चेतना के रूपान्तरण हैं। आत्मा एवं धर्म अनेक रूपों में उपयोग किये जाते हैं किन्तु दोनों ही पद चेतना के रूपान्तरण को परिलक्षित करते हैं। चेतना तीन रूपों विपाक, चिंतन एवं विषय के प्रतिनिधान में रहती है। आलय विज्ञान प्रधान है जो सभी फलों का बीज रूप है। दूसरा, सारभूत प्रकृति (मनोमय विज्ञान) है और तीसरा, छः ज्ञानेन्द्रियों पर आधारित चेतना है। आलय विज्ञान की अवधारणा योगाचारी दर्शन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण सम्प्रत्यय है। आलय विज्ञान एक ऐसी चेतना है जो उन सभी मूलों को रखती है जिससे भविष्य के आनुमानिक आकार उत्पन्न होते हैं। इसकी गणना प्रायः उस समुद्र से की है जिसकी सतह का पानी हवाओं के द्वारा बाधित है, निरन्तर बदलती हुई लहरों द्वारा प्रदत्त होता है (लंकावतार सूत्र)। असंग आलय–विज्ञान को 'धातु' के रूप में मानते हैं जिसका कार्य सभी धर्मों को सामान्य आधार प्रदान करना है। यद्यपि अपने आपमें आलय विज्ञान कोई स्थैतिक सत्ता नहीं है, यह प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाली आध्यात्मिक सत्ता है। लंकावतार सूत्र में आलय विज्ञान विषयनिष्ठ हवाओं द्वारा आन्दोलित होने वाला समुद्र है जिसमें बहुत सी लहरे नृत्य करती हई दिखाई देती हैं। विज्ञानभिक्षु ने आलय को चेतन क्रियाओं स्पर्श, ज्ञान, अनुभव, इच्छा के साथ साहचर्य रखने वाली सत्ता माना है।

अद्वैतवेदान्त की आत्मनिष्ठ–अतीन्द्रिय चेतना

भारतीय दर्शन के पर्याय के रूप में विख्यात शंकराचार्य की चेतना संबंधी दृष्टि उनके द्वारा उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्र भाष्य पर दी गई टीकाओं में मिलती है। इन टीकाओं में शंकराचार्य ने अपनी दार्शनिक स्थितियों का विकास किया और साथ ही साथ चेतना संबंधी दृष्टि की विशेष रूप में व्याख्या की है। उनकी चेतना संबंधी अन्तर्दृष्टि उपनिषदों की अन्तर्व्याख्या और समझ से निगमित हुई है। उपनिषद् अपनी मूल अन्तर्दृष्टि में सभी वस्तुओं के मूल में अन्तर्निहित एकता एवं सामंजस्य कायम करने वाली सत्ता को अनुभूत एवं स्पष्ट करने हेतु प्रयत्नशील थे।

इस प्रयास में उनको जिस सत्ता का ज्ञान हुआ उसकी अभिव्यक्ति उपनिषदीय ऋषियों ने 'ब्रह्म' शब्द से की। यह प्रथम सिद्धान्त प्रत्येक वैयक्तिक सत्ता को भी नियमित करता है जो 'आत्मा' कहकर व्याख्यायित की गयी है। इसलिए उनकी मूल चिंतन दृष्टि में आत्मा एवं ब्रह्म में तादात्म्य संबंध है (आत्म = ब्रह्म)। विभिन्न ऋषियों और चिंतकों के बीच हुए संवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनोवैज्ञानिक, ज्ञानमीमांसीय और तत्त्वमीमांसीय परिपेक्ष्य में ब्रह्म और आत्मा की अवधारणा चेतना के रूप में विकसित की गयी है।

उपनिषदों में आत्म/ब्रह्म केवल सत् (अस्तित्व) चित् (चेतना) और आनन्द के रूप में ही वर्णित नहीं की गयी है अपितु ज्ञानम्, अनन्तम् एवं सत्यम् के रूप में भी मानी गयी है। शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवेदान्त का चेतना संबंधी दृष्टिकोण इसी चिंतन पर आधारित है।

अद्वैत तत्त्व सत्तामीमांसीय स्तर पर स्वतःप्रकाश्य एवं विषयरहितता चेतना का पारिभाषिक लक्षण हैं। अर्थात चेतना न द्रव्य है न गुण अपितु सर्वव्याप्त प्रकाश है। किसी वस्तु में या उसके लिए नहीं होने के कारण विषयापेक्षिता इसका स्वरूपगत लक्षण नहीं है। विशुद्ध चेतना का सारभूत लक्षण ही यह है कि वह सभी प्रकार के अंशों एवं उपाधियों से रहित होती है।[24]

चेतना किसी संघात या दशाओं के संग्रह का उत्पाद नहीं है। यह इन सब निर्माणात्मक प्रक्रियाओं से इतर स्वयंभू है।

चेतना सभी संज्ञानात्मक क्रियाओं का ग्राह्य, ग्राहक एवं ग्रहण की पूर्व प्रस्थापना के रूप में विद्यमान है जो स्वयं में भेदरहित एवं एक है।

चेतना आत्मा का न तो धर्म है और न ही अन्य कुछ है जो आत्मा पर आरोपित है बल्कि यह आत्मा ही है (आत्मा–चेतना)।

अपनी मूल स्थिति में चेतना किसी भी द्रव्य, गुण या क्रिया की श्रेणी में नहीं है। यह इन सभी का सत्तामीमांसीय आधार है।

चेतना एवं उसके विषय में आन्तरिक अन्तर है। चेतना जहां शाश्वत एवं सर्वव्याप्त स्थिति है वहीं विषय बदलने वाले एवं विशेष होते हैं।

चेतना 'अहं' वादी नहीं है अर्थात् यह 'मैं' या 'तुम' जैसे द्वैत पर आधारित नहीं है। इसके विपरीत 'अहं' चेतना का सांसारिक लक्षण है।

चेतना में कोई अभाव नहीं है। सभी अभाव चेतना के सम्भावित विषयों में है। चेतना अपनी आदि प्रकृति के कारण ध्वंसाभाव भी नहीं रखती। यह किसी भी पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती अभावों से परे है। पारस्परिक अभाव को भी (अन्योन्याश्रय) अस्वीकार करती हैं। इस दृष्टि से चेतना सभी प्रकार की बाह्य एवं आन्तरिक भिन्नताओं से स्वतंत्र है।

चेतना ही सभी सत्ताओं का स्रोत है जहां से भी सत्ताएं अपना अस्तित्व प्राप्त करती हैं। सत्ताएं चेतना के ही स्थूल रूप हैं। नीतिमामांसीय दृष्टि में चेतना केवल सत्ता ही नहीं अपितु सर्वोच्च मूल्य, शुभ और आनन्द भी है।

उपर्युक्त बिन्दुओं के आधार पर अद्वैत वेदान्त की चेतना संबंधी विशिष्टता उनकी अभिव्यक्ति की विशेषता है। यह लक्षण अद्वैत साहित्य में प्रायः 'रस' के रूप (प्रकाश एक रस) में आया है। स्पष्ट है यहां अस्तित्व, उपस्थिति और अभिव्यक्ति में तादात्म्य है। यही सत्ता विभिन्न पदार्थिक स्थितियों में उत्पन्न एवं नष्ट होने की प्रक्रिया में है। किन्तु ये सभी सत्ताएं चेतना के द्वारा जानी जाती हैं। इसलिए चेतना उनसे चारित्रिक दृष्टि से भिन्न है। वैसे ही जैसे रोशनी और अंधेरा। इस दृष्टि से जगत् एवं उसका कोई भी घटक चेतना का सम्भाव्य विषय है स्वयं चेतना नहीं। ज्ञाता की यह अनुभूति कि 'मैं चेतना हूँ' भ्रम पर आधारित है।

शंकर दर्शन में आत्मा और अनात्मा मानव अनुभव के ये दो आधारभूत संघटन हैं जो कभी एक–दूसरे नहीं बन सकते। न ही किसी एक का गुण दूसरे पर आरोपित किया जा सकता है। यद्यपि हमारा दैनिक अनुभव इन दोनों के तादात्म्य का भ्रम फैलाता है (मैं यह मेरा है)। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं सुख, आनन्द, पीड़ा, दुखः सन्हेह, आशंका, विश्वास

आदि को आत्मा पर आरोपित कर देते हैं। यह अध्यारोपण केवल मैं के रूप में नहीं, मेरे के रूप में भी होता है। इनमें धर्मी एवं धर्म का संबंध है। स्पष्ट है अद्वैत वेदान्त की मूल चिंतन दृष्टि में चेतना अखण्डित–अविभाज्य सत्ता है जो अविद्या के कारण विभाजित एवं खण्डित प्रतीत होती है।

अद्वैत वेदान्त की चेतना संबंधी दृष्टि को जानने के लिए वृति (मानसिक रूपान्तरण) चित् (शुद्ध चैतन्य) और साक्षी (दृष्टा) के बीच अन्तर जानना महत्वपूर्ण है।[25] वृति चेतना विशुद्ध एवं साक्षी चेतना का पर्याय नहीं है। वृति का कार्य अविधा के आवरण को हटाना है जो कि ज्ञान के विषय को आच्छादित कर लेता है। वृति ज्ञानमीमांसीय प्रक्रिया है इसलिए इसे मानसिक आकार कहना ज्यादा ठीक होगा। जब हम कहते हैं कि टेबल का प्रत्यक्षीकरण या कुर्सी का प्रत्यक्षीकरण हुआ तो यह अन्तःकरण वृति का परिणाम है और जब विषय का भ्रामक ज्ञान जैसे सांप को रस्सी समझना तो यह अविद्या वृति है। जबकि विशुद्ध चेतना प्रकाश है जो विषय को प्रकट करती है। अद्वैत तर्क देता है कि बिना विशुद्ध चेतना के प्रकाश के सभी भौतिक एवं मानसिक, वास्तविक एवं आभासित विषय अविद्या के अंधेरे में तिरोहित हो जायेंगे।[26]

सम्पूर्ण विश्व में वस्तुएं चेतना के प्रकाश से प्रकाशित होती हैं। सभी ज्ञान एवं विषय विशुद्ध चेतना की आभा से अभिव्यक्त होते हैं। प्रत्येक ज्ञान का प्रकटीकरण विशुद्ध चेतना के मानसिक आकारों के माध्यम से होता है। स्वरूपज्ञान स्वतः सिद्ध, स्वतः प्रकाश्य विशुद्ध चेतना है। जबकि दृष्टि ज्ञान व्यावहारिक, परिवर्तनशील विशेष विषयों का ज्ञान है। अद्वैत कहता है सभी विषय चाहे वे ज्ञात हैं या अज्ञात साक्षी चेतना के विषय हैं। साक्षी चेतना एवं विशुद्ध चेतना में कोई गुणात्मक भिन्नता नहीं है। एक ही सत्ता द्वारा दो भिन्न भूमिकाएं निभाई गई हैं।[27] चैतन्य स्वयं के द्वारा और स्वयं के लिए शुद्ध चैतन्य है जिसका एकमात्र कार्य अभिव्यक्त करना है। अद्वैत में चेतना सभी मानवीय अनुभवों का संघटक सम्भावित आधार एवं आवश्यक शर्त होने के कारण अतीन्द्रिय है। यद्यपि यह सभी प्रकार के अनुभवों, द्वैतों एवं भिन्नताओं के मूल में अन्तर्निहित है। यह विषयापेक्षिता लक्षण का अतिक्रमण करती है।

चेतना के प्रति आधुनिक चिंतकों की दृष्टि

यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि मुख्यधारा की दार्शनिक प्रवृतियां अद्वैत वेदान्त से प्रेरित और निरन्तर उसी के प्रभाव में विकसित हुए हैं। चिंतकों में अद्वैतवेदान्त की चेतना संबंधी सत्तामीमांसीय दृष्टि को सुदृढ़ता से स्थापित करने की दृष्टि देखी जा सकती है।[28] यद्यपि इन दार्शनिकों ने अद्वैत की मूल भावना एवं दार्शनिक दृष्टि को अपनाते हुए भी उसमें बाह्य संज्ञानात्मक परिवर्तन किये हैं। अरविन्द, के.सी. भट्टाचार्य, जे.एन. मोहन्ती, डी.पी. चट्टोपाध्याय, बालसुब्रह्मण्यम के चेतना संबंधी विचारों में अद्वैतवेदान्ती विश्वदृष्टि प्रधान रही है।

अरविन्द घोष ने चेतना का आधारभूत लक्षण स्वयंप्रकाश्यता ही नहीं माना अपितु चेतना शक्ति (ऊर्जा) भी है।[29] एक ऐसी ऊर्जा जो आत्मविरोध एवं आत्मविस्तार, अवतरण एवं विकास की क्रियाओं का आधार एवं कारण है। अरविन्द ने यद्यपि सत्तामीमांसीय दृष्टि में उद्विकासीय विकासक्रम एवं एकत्वयोग की अवधारणा के आधार पर शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित मायावाद को अस्वीकार किया। किन्तु ब्रह्म जो कि चेतना है, समस्त जगत् में अन्तर्व्याप्त और उसे परे दोनों है। सीमित सत्ताएं असीमित ऊर्जा से निर्मित होती हैं। अरविन्द तर्क देते हैं कि प्रकृति अनेक स्तरों पर

क्रियाशील रहती है क्योंकि सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वयं कई स्तरों पर समाहित रहता है। विकासात्मक प्रक्रिया के कई सोपान हैं – पदार्थ, प्राण, जीवन, मनस, अतिमानस, आनन्द, चेतनशक्ति, अस्तित्व। इनमें से प्रथम चार निम्न हैं और अन्तिम चार ऊपर के गोलार्द्ध की संरचना करते हैं। अपनी पुस्तक 'दिव्यजीवन' में अरविन्द यह स्पष्ट करते हैं कि साधारणतया चेतना का तात्पर्य केवल जाग्रत अवस्था एवं संज्ञानात्मक मानस की स्थिति से ही लेते हैं किन्तु दार्शनिकों की यह समझ चेतना की प्रकृति का अपूर्ण एवं अधूरा ज्ञान है। इसलिए, मानते हैं कि यह दृष्टि अब निश्चित रूप से दार्शनिक चिंतन से तिरोहित हो जानी चाहिये। सभी अवचेतन दिखाई देने वाले स्तरों में भी विस्तृत अवचेतन मानस है। प्राणचेतना केवल जानवरों एवं पेड़–पौधों में ही नहीं अपितु सभी मानवीय अंगों में भी विद्यमान रहती है। इस विस्तृत परिपेक्ष्य में अरविन्द चेतना (शक्ति) को कारण सामग्री मानते हैं। विकास क्रम में फैलने, बढ़ने एवं एकीकरण की प्रक्रिया समाहित रहती है।

के.सी. भट्टाचार्य के चेतना संबंधी विचार उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'वेदान्त का अध्ययन' में मिलते हैं।[30] जहां वे मनस् के स्थान पर चेतना को आत्मनिष्ठ और स्वतंत्रता कहते हैं। यहीं पर वे उपनिषदीय चेतना के चारों स्तरों का एक नई दृष्टि के साथ अध्ययन करते हुए दिखाई देते हैं। उन्होंने स्वप्न के अनेक स्तरों को स्पष्ट करते समय जाग्रत एवं स्वप्न के बीच संक्रमण के स्तरों की चर्चा भी की है। चेतना के इन दोनों स्तरों में एक गुणात्मक अन्तर करते हैं। उनका मानना है कि जाग्रत अवस्था में इन्द्रिय अनुभव विषय का निर्धारण करता है वहीं स्वप्न की अवस्था में विषयों का संघात होता है जो जाग्रत अवस्था में असम्भव है। स्वप्न में कोई संवेदना नहीं है और शरीर की चेतना न्यूनतम होती है। उनकी भाषा में स्वप्न की अवस्था में 'यह भारी है' का बोध न्यूनतम हो जाता है।[31] कभी–कभी पूरी तरह से तिरोहित भी रहता है। स्वप्न की अवस्था में शरीर भौतिक नियमों का पालन भी नहीं करता है। देशकाल के संदर्भ अपनी निरन्तरता को खो देते हैं जिसे भट्टाचार्य ने विचारों की 'विचारहीनता का गौरवशाली' जीवन कहा है।[32]

मोहन्ती पश्चिमी एवं भारतीय दर्शन में प्रचलित चेतना संबंधी दो महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं– विषयापेक्षी एवं स्वयंप्रकाश्यता पर अपनी पुस्तक 'विषयापेक्षिता का स्वरूप' में विचार करते हैं।[33] मोहन्ती चेतना की विषयापेक्षिता एवं प्रतिक्रियात्मकता (स्वयं प्रकाश्य) के बीच पाये जाने वाले संबंधों की विवेचना करते हैं और दोनों के बीच कोई असंगति या आत्मविरोध नहीं मानते हैं। संवृतिवादी की दृष्टि में वह संवृतिशास्त्री की तरह विषयापेक्षिता को लेते हैं। अपनी दृष्टि स्पष्ट करने हेतु ब्रेंटनों एवं हुस्सर्ल को लेते हैं। ब्रेंटनों मानते हैं कि सभी मानसिक परिघटना इस तथ्य में भिन्न हैं कि वे किसी उद्देश्य की ओर निर्देशित है। हुस्सर्ल यही दृष्टि अनेक तर्कों एवं चरणों में विकसित करता है और कहता है कि विश्व में प्रत्येक वस्तु एवं विश्व स्वयं अपना अर्थ एवं सार्थकता चेतना और विषयापेक्षिता से प्राप्त करते हैं।[34]

इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि मोहन्ती अपनी विषयापेक्षिता की अवधारणा संबंधी पुस्तक में ब्रेंटनो के इस प्रमेय को लेते हैं कि सभी चेतनाएं विषयापेक्षी हैं। यह स्वयं कोई नयी अवधारणा नहीं है किन्तु भारतीय दर्शन में मोहन्ती जिस वेदान्ती विचारधारा एवं दार्शनिक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं उसके कारण यह जिज्ञासा का विषय बन जाता है। उनकी विशिष्टता यह है कि एक तरफ विषयापेक्षिता रहित चेतना को अस्वीकार करते हैं वहीं दूसरी ओर यह भी मानते हैं कि

विषयापेक्षिता धीरे–धीरे जब खत्म होती है तो मात्र चेतना ही रह जाती है। यहां मोहन्ती चेतना के दूसरे लक्षण 'स्वयं प्रकाश्यता' के प्रति प्रतिबद्ध लगते हैं। इस बिन्दु पर हुस्सर्ल एवं फ्रॉयड से बाहर जाकर भी सोचते हैं और इसमें आने वाली समस्याओं का समाधान करने का प्रयास करते दिखाई देते हैं। जहां ब्रेन्टनों एवं हुस्सर्ल इसे दूसरे कार्य पर संरचित करते हैं वहीं मोहन्ती की दृष्टि में सभी चेतनाएं अपनी ओर अन्तर्मिमुख होती हैं। इस संदर्भ में मोहन्ती रामानुज से भी सहमति रखते दिखाई देते हैं जब वे मानते हैं कि जो चेतना विषयापेक्षी नहीं है वह स्वतःप्रकाश्य भी नहीं है। स्पष्ट है मोहन्ती अपनी मूल चिंतन दृष्टि में अरविन्द एवं के.सी. भट्टाचार्य की तरह भारतीय दर्शन की आधुनिक दार्शनिक प्रस्थापनाओं विशेष रूप से संवृतिशास्त्र के अनुरूप चेतना की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं और पश्चिमी दर्शन के साथ कहीं कोई अन्तर्विरोधी नहीं देखते हैं। उनकी पुस्तक 'विषयापेक्षिता की अवधारणा' का केन्द्र बिन्दु ही चेतना संबंधी दो महत्त्वपूर्ण आयामों 'विषयापेक्षिता एवं स्वतः प्रकाश्यता' को आधुनिक संदर्भों में प्रस्तुत कर अद्वैतवेदान्त को और अधिक प्रासंगिक, पूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण बनाना है। शंकर जहां इन दोनों में असंगतता देख रहे हैं वहीं मोहन्ती यह प्रस्ताव देते हैं कि हमें विषयापेक्षिता एवं स्वतः प्रकाश्यता की मात्रा को पहचानना चाहिये।[35]

डी.पी. चट्टोपाध्याय चेतना संबंधी विमर्श को सत्तामीमांसीय प्राथमिकी के प्रश्न के रूप में देखते हुए उसका आधारभूत लक्षण स्वतः एवं परतः प्रकाशिता मानते हैं अर्थात् जब चेतना स्वयं को प्रकाशित करती है उसी समय यह अन्य विषय को भी अभिव्यक्त करती है। उनकी दृष्टि में चेतना को परिभाषित करना मुश्किल कार्य है। अंग्रेजी भाषा में चेतना शब्द संवेदना, प्रत्यक्ष, ग्रहण, बोध, अनुभव और निरपेक्ष, के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इनमें से प्रत्येक शब्द विषय एवं संदर्भ की दृष्टि से भिन्न प्रकार का अर्थ ध्वनित कर सकता है। किन्तु अपने मूल स्वरूप में चेतना सर्वव्याप्त एवं अविभाज्य है जो उपाधि भेद के कारण पृथक् एवं भिन्न नजर आती है। जब चेतना अविद्या से युक्त होती है तो ईश्वर के रूप में और जब अन्तःकरण के साथ संबंध स्थापित करती है तो जीव के रूप में प्रकट होती है।

के.सी. भट्टाचार्य की तरह चट्टोपाध्याय चेतना के चार प्रकार मानते हैं – वस्तुनिष्ठ, आत्मनिर्भर, अज्ञेय और ज्ञेय। चट्टोपाध्याय इसी संदर्भ में पश्चिमी एवं भारतीय दर्शनों में चेतना संबंधी दृष्टि में पाई जाने वाली भिन्नता को भी दर्शाने का प्रयास करते हैं।[36] उसके अनुसार 'चेतना' संबंधी तत्त्वमीमांसीय 'तादात्म्य सिद्धांत' के विपरीत भी ऐसे दर्शन हैं जो यह मानते हैं कि चेतना क्रियात्मक मस्तिष्क के अलावा कुछ भी नहीं है। ये दार्शनिक चेतना की अतीन्द्रिय अवधारणा को अस्वीकार करते हैं और इस विश्वास के प्रति दृढ़ हैं कि शरीर चेतना है। प्लेटो सोचता है कि चेतना का आधार मस्तिष्क है जबकि अरस्तू इसे हृदय में स्थिति होना मानते हैं। पातंजलि चेतना के मानव शरीर में छः केन्द्र मानते हैं। इसके साथ ही लेखक चेतना संबंधी दूसरे प्रश्न भी – किसकी एवं क्या चेतना भी उठाते हैं। किन्तु जब इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास करते हैं तो हम उच्च तत्त्वमीमांसीय स्तर से ज्ञान सिद्धांत के स्तर तक आवागमन करते हैं। चेतना संबंधी प्रश्न उस समय ओर अधिक जटिल बन जाते हैं जब पृष्ठभूमि के रूप में हम सत्तामीमांसीय मुद्दों को छोड़ देते हैं

और मुद्दे को प्रमाणित एवं प्रयोगात्मक स्तर पर ले आते हैं। चेतना में उस समय भिन्नताएं स्पष्ट हैं जब इसके विषय और उनकी सामग्री भिन्न होती है। उदाहरण के लिए सूर्य की चेतना सूर्य की कल्पना की चेतना से भिन्न है। यह सूर्य के अनुभव की चेतना से भी भिन्न है।[37]

चेतना में संरचना की शक्ति होती है। शायद विषय की चेतना स्वयं है जो संबंधित प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा प्रदत्त सामग्री से बाहर की आंशिक कल्पना का निर्माण करती है। चेतना की 'संरचनात्मक' प्रकृति को प्रस्तुत कर चट्टोपाध्याय ने भारतीय दर्शन में एक नयी विशेषता जोड़ी है जिसकी दार्शनिक उपेक्षा करते रहे हैं। इनका मानना है कि चेतना संबंधी प्रश्न और अधिक गंभीर दार्शनिक समस्याओं को जन्म देते हैं जब हम उसके गुणों को समझने का प्रयास करते हैं।

आर. बालसुब्रह्मण्य अपनी अद्वैतवादी दृष्टि के आधार पर चेतना संबंधी उपनिषदीय परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। उपनिषदों में चेतना एक, सजातीय, निर्विषयक एवं अविभाज्य है। इसी आधार पर मानते हैं कि चेतना जो हमारे अनुभव के द्वारा प्राप्त होती है, अनुभव के बाहर है। तर्क देते हैं कि उपनिषद में चित्त एवं चेतना एक ही सत्ता के बोधक हैं। यद्यपि हमारे रोजमर्रे के जीवन में भिन्नता रहती है।[38] उदाहरण के लिए पेड़ की चेतना, मूल्यों की चेतना, जागने एवं खाने की चेतना। इसी प्रकार विषय द्वारा प्रतिबन्धित होने से बहुआयामी दिखाई देती है। यहां हम देख सकते हैं कि आधुनिक दार्शनिक कैसे अद्वैत वेदान्त, संवृतिशास्त्र एवं चैतन्य की ज्ञानमीमांसा के बीच विद्यमान मतभेदों को पाटने का प्रयास करते हैं। अरस्तू की चेतना संबंधी दृष्टि हीगेल एवं अद्वैत वेदान्त के निकट है, जहां सत्ता स्वयं को अनेक भेदों एवं स्तरों में अभिव्यक्ति करती हुई एकता को प्राप्त करती है। दूसरी ओर मोहंती हैं जो दावा करते हैं कि विशुद्ध संवृतिशास्त्रीय ढंग से विवेचना करते हुए भी उसकी स्वतः प्रकाश्यता को बनाये रख सकते हैं। के.सी. भट्टाचार्य अपनी विशिष्ट कान्टीय शैली में संवृतिशास्त्र ढंग से आत्मा की अद्वैती तत्त्वमीमांसा तक पहुंचते हैं।[39] किन्तु ये सभी दार्शनिक इस बात पर सहमत हैं कि चेतना की स्वायत्त सत्तामीमांसीय अवस्थिति है जिसके स्तर होते हैं और शरीरी चेतना उनमें से एक है।

अन्त में, भारतीय दर्शन के चेतना संबंधी उपर्युक्त विवेचन का विश्लेषण करने पर जो दृष्टि परिलक्षित होती है उसमें दो तरह की धाराएं स्पष्टतौर पर देखी जा सकती हैं। प्रथम, उपनिषदीय विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय अद्वैत, योगाचारी, अरविन्द, के.सी. भट्टाचार्य, डी.पी. चट्टोपाध्याय एवं बाला सुब्रह्मण्य हैं जिनकी मूल चिंतन दृष्टि में चेतन एवं चेतना एक ही सत्ता की ओर संकेत करती हैं जो न केवल स्थूल जगत् का उपादान–निमित्त कारण ही नहीं अपितु संज्ञानात्मक शक्ति भी है। दूसरी ओर गैर–उपनिषदीय चिंतन धाराएं हैं जिनमें जैन, सांख्य जैसे दर्शन सम्प्रदाय आते हैं जिनके अनुसार चेतना नित्य, शाश्वत एवं निरपेक्ष सत्ता है किन्तु भौतिक जगत् भी उतना ही यथार्थ एवं वास्तविक है। इन दर्शन सम्प्रदायों में चेतना जगत् का उपादान एवं निमित कारण नहीं है।[40]

इसके साथ ही वस्तुवादी दर्शन न्याय वैशषिक दार्शनिक धाराएं हैं जहाँ चेतना अभौतिक द्रव्य आत्मा का आगन्तुक गुण है। जिसकी उत्पति हेतु अन्तःकरण शरीरी अवस्था की उपस्थिति आवश्यक है। किन्तु आगन्तुक गुण मानने का तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिये कि यह दर्शन लोकायती चार्वाक दर्शन की भौतिकवादी दृष्टि को आगे बढ़ाती है जो चेतना को पदार्थ का

उप-उत्पाद मानती है। बुद्ध की चेतना संबंधी दृष्टि में चेतना कोई नित्य, शाश्वत सत्ता या भौतिक जगत् की उत्पति करने वाली ऊर्जा नहीं है अपितु चेतना कारणात्मक श्रृंखला की एक कड़ी है अर्थात् बुद्ध की दृष्टि में भी चेतना शरीर का आगन्तुक गुण है। यद्यपि उनकी पुनर्जन्म एवं संतानवाद जैसी मान्यताएं गंभीर समस्याओं को जन्म देती हैं।

किन्तु सम्पूर्ण भारतीय दर्शन की चेतना संबंधी दृष्टि दर्शाती है कि चार्वाक दार्शनिकों के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शन सम्प्रदाय इस मत को सीरे से खारिज करते हैं कि चेतना केवल शरीर-मस्तिष्क की एक विशेष संज्ञानात्मक अवस्थिति है। अतः भारतीय दार्शनिकों का कार्य भी केवल चेतना संबंधी परम्परागत दृष्टि का अध्ययन, पुनर्व्याख्या करना ही नहीं होना चाहिए अपितु समकालीन समय में मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, भौतिकी एवं तंत्रिका-विज्ञान द्वारा मिलने वाली चुनौतियों और ज्ञानशास्त्र के आलोक में उसको यथार्थ व संगत बनाना भी है क्योंकि किसी भी चिंतन की जीवंतता अतीत की अवधारणाओं एवं दृष्टियों की आत्मप्रशंसा भाव से पुनर्व्याख्या करने, उन्हें पूर्ण सत्य एवं अन्तिम ज्ञान सिद्ध करने में ही नहीं है अपितु प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञानों में होने वाली नित नये अनुसंधानों के प्रकाश में उन्हें देखने में है।



संदर्भ –

1. *दर्शनकोश, प्रगति प्रकाशन, पृ.सं. 182.*
2. *Consciousness, Bina Gupta, p. 35.*
3. *The Oxford Companion to Philosophy, Ted Honderich, p. 180.*
4. *एस.एन. दास गुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-1, पृ.सं. 208.*
5. *न्यायसूत्र 1/1/14.*
6. *S.K. Saxena, Nature of Consciousness in Hindu Philosophy, p. 18.*
7. *के.सी. भट्टाचार्य, वेदान्त का अध्ययन, पृ.सं. 192.*
8. *अरविन्द, दिव्य जीवन, पृ.सं. 947.*
9. *D.P. Chattopadhyay, Reflections on the Relationships between matter, life, mind and the beyond, Spirituality, Science and Technology, I.P.C. Proceed ings, 2000 A.D., p. 14.*
10. *Consciousness, Bina Gupta, p. 38.*
11. *S.K. Saxena, Nature of Consciousness in Hindu Philosophy, p. 18.*
12. *बृहदारण्यक उपनिषद, 1/4/10.*
13. *छादोग्य उपनिषद, 6/8/10.*
14. *राहुल सांकृत्यायन, दर्शन-दिग्दर्शन, पृ.सं. 318.*
15. *न्यायसूत्र 1/11/18.*
16. *वात्स्यायन सूत्र 1/8/7.*
17. *डी.पी. चट्टोपाध्याय, भारतीय दर्शन कितना जीवंत, कितना मृत, पृ.सं. 396.*
18. *S.K. Saxena, Nature of Consciousness in Hindu Philosophy, p. 19.*
19. *डी.पी. चट्टोपाध्याय, भारतीय दर्शन कितना जीवंत, कितना मृत, पृ.सं. 398.*
20. *एस. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग-1, पृ.सं. 398.*
21. *रीडडेविड्स, बुद्धिस्ट लेक्चर्स, पृ.सं. 18.*
22. *एस.एन. दास गुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-1, पृ.सं. 208.*

23. वसुबन्धु, त्रिशिखा 1/2/108.
24. Consciousness, Bina Gupta, p. 40.
25. S.K. Saxena, Nature of Consciousness in Hindu Philosophy, p. 19.
26. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 1/11/36.
27. S.K. Saxena, Nature of Consciousness in Hindu Philosophy, p. 19.
28. Consciousness, Bina Gupta, p. 40.
29. अरविन्द, दिव्यजीवन, पृ.सं. 998.
30. K.C. Bhattacharya, The Concept of Philosophy, p. 187.
31. Sachidananda Murty, Origin of Indian Philosophy, p. 108.
32. Consciousness, Bina Gupta, p. 40.
33. J.N. Mohanty, Lectures on Consciouness and Interpretation, edited Tara Chatterjee, p.13.
34. Consciousness, Bina Gupta, p. 40.
35. Consciousness, Bina Gupta, p. 40.
36. D.P. Chattopadhyay, Reflections on the Relationships between matter, life, mind and the beyond, Spirituality, Science and Technology, I.P.C. Proceedings, 2000 A.D., p. 14.
37. D.P. Chattopadhyay, Reflections on the Relationships between matter, life, mind and the beyond, Spirituality, Science and Technology, I.P.C. Proceedings, 2000 A.D., p. 14.
38. Phenomenology of Consciousness Series: 6, ICPR, R. Balsubramanian.
39. Consciousness and Scientific Knowledge, Radhakrishnan Memorial Lecture, Advanced Study Centre, Shimla.
40. डी.पी. चट्टोपाध्याय, भारतीय दर्शन कितना जीवंत, कितना मृत, पृ.सं. 398.

योग का गहन मनोविज्ञान

पूर्णेन्दु शेखर

नये युग के मनुष्यों अथवा मानव–समाज को पुरातन विचार उपयोगी एवं अनुकूल नहीं लगते क्योंकि समय के साथ–साथ आज न केवल उनकी अभिव्यक्ति के तरीकों, पदावली के व्यवहारों में अंतर आया है, बल्कि उनके रूपायित होने की विधियों, रूचियों, जरूरतों आदि में भी अंतर आया है। वर्तमान पीढ़ी की प्रवृत्ति तार्किक–भाववादी (Logical Positivist) है। वह अनुभव से परीक्षण करता है और बुद्धि से विश्लेषण। आनुभविक परीक्षण सत्यता की कसौटी है और स्पष्टता एवं निगमन बुद्धि का विश्लेषण है। वह विषयों को या घटनाओं को बिल्कुल उसी रूप में लेता है जो विविध आयामी आनुभविक परीक्षण से संभव है अथवा बुद्धि के विश्लेषण अथवा निगमन से निर्धारित है। घटनाओं व घटनाओं के अन्तर्सम्बन्धों के अध्ययन का लक्ष्य वर्तमान जगत में उनकी उपयोगिता के आधार पर तय हो रहा है। आधुनिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी उपयोगिता उन्मुखी है। इसी क्रम में मनोविज्ञान का अध्ययन बिल्कुल शुद्ध विज्ञान (Exact Science) की तरह करने की मांग बढ़ती गई। विज्ञानों की एकता (Unity of Sciences) एवं विज्ञानों (समाज विज्ञान, मनोविज्ञान आदि) का प्राकृतिक विज्ञानों में समञ्जन (Reduction) की मांग इसी के देन रही। दैहिक, भौतिक, मानसिक जगत के बीच क्रिया–प्रतिक्रिया (व्यवहार) के अध्ययन के लिए सार्वजनिक वस्तुनिष्ठ ढंग से परीक्षण किया जाना अधिक प्रभावकारी, उपयोगी एवं स्वीकार्य लगता रहा है। तात्त्विक, नैतिक, आध्यात्मिक चिंतन की छत्र–छाया में मनोवैज्ञानिक अध्ययन को, कुछ मनोवैज्ञानिकों को छोड़कर, पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने लगभग ठुकरा दिया या यूं कहें नकार दिया। लेकिन यहां मनोविज्ञान संबंधी विचार तत्त्वमीमांसीय, नैतिक, आध्यात्मिक विचारों एवं विविध साधनाओं की छत्रछाया में अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित हुआ है। यह कहा जा सकता है कि यही विशेषता भारतीय मनोविज्ञान को पाश्चात्य मनोविज्ञान से भिन्न बनाती है, जिसकी झलक यहां के अधिकांश लोगों के सामान्य जीवन में भी देखने को मिलती है। आई.पी. सचदेवा ने अपनी किताब (योग एण्ड डेथ सॉयकॉलजी–1978)[1] में माना है कि प्राच्य एवं पाश्चात्य विचार के मध्य करीब 100 वर्षों से विरोध चल रहा था, लेकिन दोनों के बीच संवाद पिछले कुछ 50 वर्षों से चल रहा है।[2] उन्होंने स्पष्ट बतलाया है कि फ्रायड ने संभवतः योग का अध्ययन नहीं किया था और वे शायद ही योग से परिचित थे। लेकिन विलियम जेम्स (William James) संभवतः पहले पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक हुए जिन्होंने अपनी रचना "The Varities of Religious Experince" में योग में अन्तर्निहित मूल्यों की तरफ ध्यानाकर्षित किया।[3] लेकिन योग को पश्चिम में प्रसिद्ध बनाने का श्रेय जुंग (Jung) को जाता है[4] और उसके विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान में कुछ हद तक यौगिक उन्मुखता भी देखी जा सकती है। उसी के पश्चात् पाश्चात्य मनोविज्ञान की तुलना योग से करने के संबंध में रूचि बढ़ती गयी। इससे पाश्चात्य मनोविज्ञान का योग के विचारों के साथ एक संसर्ग स्थापित होना प्रारंभ हुआ। दो जाने–माने विचारकों, भगवान दास[5] एवं पी.ए. सोरोकिंग (P.A. Soroking)[6] की बातें से भी यह स्पष्ट होता है।

दर्शन विभाग, तिलकामांझी विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार)

इसमें संदेह नहीं, नैतिक एवं तत्त्वमीमांसीय विमर्श को आत्मसात करते हुए योग–दर्शन ने मनोविज्ञान संबंधी विचार पर गंभीर एवं गहन विमर्श को एक ऊंचायी दी है। ज्ञान, भावना, संकल्प (इच्छा) संबंधी नैतिक एवं इतर आचरणों पर योग दर्शन ने जिस सुव्यवस्थित शास्त्रीय ढंग से विचार को उकेरा एवं स्थापित किया है, वह आज उत्सुकता एवं कौतुहल पैदा करता है। पूरा विश्व योग के मनोविज्ञान, अभ्यास एवं ज्ञानमीमांसा आदि को टकटकी लगाकर देख एवं अपना रहा है। योग का मनोविज्ञान अनुभव और बुद्धि से कहीं आगे आत्मसाक्षात्कार (आत्मानांसिद्धि/तदा दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्[7]) की परिधि को भी शामिल करता है जो पाश्चात्य मनोविज्ञान के स्वबोध से भिन्न स्वरूप का माना जाता है। यह साधारण मनुष्य के सामान्य मनोविज्ञान के साथ–साथ साधारण से उत्क्रमित होता हुआ, परिष्कृत होता हुआ मानव के उस उच्चत्तर मनोविज्ञान के आयामों को स्पर्श करता है जो अभ्यास–वैराग्य[8], अष्टांग योग[9], क्रिया योग[10], ईश्वर प्रणिधान[11], प्रतिपक्ष भावना[12], मैत्री, करूणा, मुदिता और उपेक्षा[13] का दृढ़ता से पालन करते हुए मुक्ति के मार्ग पर चलता है, कई विघ्नों (व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांतिदर्शन, अलब्ध भूमिकत्व, अनवस्थितत्त्व – चित्तविक्षेप) का सामना करता है और इसी क्रम में कई असाधारण सिद्धियां[14] भी हासिल करता है एवं जीवन मृत्यु के चक्र से मुक्ति पाने की प्रेरणा लेकर मुक्ति का अनवरत प्रयास भी करता रहता है। "मन की एक सहज प्रवृत्ति है जो उसे मुक्ति के मार्ग में प्रवृत्त करती है।"[15] इस तरह यह साधारण मानव के सामान्य (क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त) मनोविज्ञान की स्थापना तो करता ही है साथ ही साधक/ज्ञानी के असाधारण (एकाग्र एवं निरूद्ध) मनोविज्ञान का भी प्रवर्तन करता है।

योग यह स्पष्ट कर देता है कि परम ज्ञान (मुक्ति) केवल साधारण सूचनात्मक ज्ञान, साधारण आचरण या साधारण संकल्प आदि से संभव नहीं है। बल्कि इसके लिए भौतिक, दैहिक, ऐन्द्रिय, प्राणिक, नैतिक, मानसिक व आध्यात्मिक अनुशासन की जरूरत होती है।[16] इस तरह यौगिक मनोविज्ञान का संबंध केवल ज्ञानात्मक मनोविज्ञान (Cognitive Psychology) या साधारण व्यवहारपरक मनोविज्ञान मात्र से नहीं माना जा सकता है, बल्कि यह नैतिक, आध्यात्मिक मनोवैज्ञानिक पक्ष को भी समेटता है। इसे अधिकता में संयमात्मक एवं उच्च ज्ञानात्मक मनोविज्ञान से संबद्ध भी कहा जा सकता है। योग न केवल इसी जन्म, आयु एवं भोग के मनोवैज्ञानिक पहलू पर विचार करता है बल्कि यह पूर्व एवं भावी–जन्म–आयु–भोग के मनोवैज्ञानिक पक्ष को स्पर्श करता है, यह केवल देशकालिक आचरणों तक अपने को सीमित नहीं करता है बल्कि देशकालिक स्थिति से परे द्रष्टा/साक्षी के साक्षात्कार से भी संबद्ध हुआ करता है। यह स्थूल विषयक ज्ञानात्मक मनोविज्ञान से लेकर सूक्ष्म विषयक (ग्रहीतृ–अस्मिता व महतत्त्व) ज्ञानात्मक मनोविज्ञान को भी समेटता है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि योग में ज्ञान के परम स्थिति तक पहुँचने की प्रक्रिया या विधि बहिर्मुखी (परांग) नहीं है बल्कि अन्तर्मुखी (प्रत्यक् चेतना) है। इसलिए ओशो रजनीश कहते हैं, पतंजलि अन्तर्जगत के वैज्ञानिक हैं। यह विषयक उच्च ज्ञान संप्रज्ञात समाधि की ज्ञानात्मक प्रक्रिया के साथ–साथ निर्विषयक उच्च ज्ञान असंप्रज्ञात समाधि से भी संबंधित है।

पाश्चात्य चिंतकों में जी. यूर्सटीन का नाम योग पर गंभीर विमर्श करने वालों की श्रेणी में रखा जाता है। उन्होंने निम्न अवधारणाओं या संप्रत्ययों को मनोवैज्ञानिक संप्रत्यय के अध्याय में शामिल किया है। वे हैं– 1. चित्त 2. वृत्ति एवं परिणाम 3. क्लेश, क्लिष्ट–अक्लिष्ट 4. संस्कार, वासना, आशय 5. निरोध 6. प्रत्यय।[17] इस तरह इन सभी मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं से पातंजल योग के मनोविज्ञान की गहनता एवं व्यापकता का भी संकेत मिलता है।

"मनुष्य की क्षमता का विकास करने की पद्धति को योग कहा जाता है।"[18] यदि कुछ अन्य ढंग से इसी बात को अभिव्यक्त किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि योग मानव जीवन को प्रत्येक (भौतिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक) दृष्टि से बेहतरीन यानि समेकित व्यक्तित्व बनाने का उपाय है या बेहतरीन बनाने की विधि है। लेकिन परंपरागत ढंग से पतंजलि ने योग को 'चित्तवृत्तियों का निरोध[19] बताया है। इस तरह चित्तवृत्तियों का निरूद्ध होना योग का लक्षण बताया गया है। क्लेश, कर्म एवं विपाकाशय जोकि योग के विरोधी तत्त्व हैं उनको उत्पन्न करनेवाली चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं।[20] चित्तवृत्तियों के निरूद्ध हो जाने के पश्चात् ही कैवल्य (विवेक ख्याति या प्रकृति–पुरुष वियोग का विवेक) उपलब्ध होता है। कैवल्य (परम साध्य) की उपलब्धि में चित्त की भूमिका किसी भी रूप में नकारी नहीं जा सकती है। सच पूछिए 'चित्त' योग–मनोविज्ञान की वह धूरी है जो ज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं संकल्पात्मक समस्त आचरणों (मनोदैहिक, नैतिक, आध्यात्मिक) के केन्द्र में स्थित है। भोग एवं मोक्ष या यूं कहें क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट; व्युत्थानावस्था एवं निरूद्धावस्था में चित्त योग का केन्द्रीय मनोवैज्ञानिक संप्रत्यय है।

चित्त : संरचना, स्वभाव, भेद एवं कार्य

अलग–अलग विचारकों ने 'चित्त' शब्द का अनुवाद भिन्न–भिन्न ढंग से किया है। आर. प्रसाद, एस. दासगुप्त ने इसे 'माइण्ड' (Mind); जे.एच. वुड्स (Woods), एच. जिम्मर (Zimmer) ने 'माइण्ड स्टफ' (Mind Stuff); जी. झा ने 'इंटरनल ऑरगन' (Internal organ); जे.डब्ल्यू. होएर (J.E. Hauer) ने 'इनर बेल्ट' (Innere Welt); जी.एम. कोलमन (G.M. Koelmann) 'माइण्ड कम्पलेक्स' (Mind complex); एम. इलियड (M. Eliade) ने 'कॉन्ससनेस' (Consciousness); एम. एन. द्विवेदी ने 'थिकिंग प्रिंसिपल' और सी.एच. जान्सटन (Johnston) ने 'साइकिक नेचर' कहा है।[21]

प्रश्न उठता है कि चित्त क्या है? इसका एक सामान्य–सा उत्तर यह दिया जा सकता है कि जो जानता, अनुभूत करता, इच्छा या संकल्प करता है वह चित्त है। लेकिन योग के अनुसार चित्त का आविर्भाव सत्, रज और तम नामक त्रितत्त्व से होता है जो चेतन क्रियाओं को संपन्न करनेवाला आधारभूत उपकरण है, जिसमें निरापद रूप से सत्त्व का आधिक्य होता है। ये तीनों तत्त्व एक दृष्टि से मानव के वैयक्तिक एवं सामाजिक व्यक्तित्व के निर्मायक तत्त्व हैं, चूंकि इन्हीं गुणों की अधिमानता एवं निम्नमानता के आधार पर वर्तमान अथवा भावी जीवन का निर्धारण होता है। जहां तक गुणों के कार्यों का प्रश्न है तो योग के अनुसार सत्त्व, रजस और तमस के कार्य क्रमशः प्रकाश (अभिव्यक्ति), प्रवृत्ति (क्रियाशीलता) और नियमन (अवरोध) हैं।[22] इन तीनों से क्रमशः सुख, दुःख और आलस्य (तन्द्रा) उत्पन्न होते हैं। सभी विषयवस्तु इन तीन गुणों से मिलकर बनी हैं। इनमें जो भेद है वे भिन्न–भिन्न गुणों की प्रधानता या आधिक्य के कारण है।

राधाकृष्णन लिखते हैं– "गुणों की इस प्रकार की कल्पना का आदिश्रोत निःसंदेह मनोवैज्ञानिक है, क्योंकि इनके अन्दर जो भेद किए गए हैं वे भावना के भिन्न–भिन्न प्रकारों के आधार पर हैं।"[23] प्रकृति के विकार, बुद्धि, अहंकार एवं मनस – ये तीनों अन्तःकरण हैं और इन तीनों के एकीभूत रूप को चित्त कहा गया है। इसलिए यहां बुद्धि, अहंकार एवं मन के कार्यों को समझना आवश्यक है। सांख्य दर्शन में बुद्धि, अहंकार एवं मनस के कार्यों पर स्पष्ट चर्चा मिलती है। बुद्धि का व्यापार निश्चय करना तथा निर्णय पर पहुंचना है। सात्विक रूप में यह कर्त्तव्यपालन, ज्ञान–सम्पादन, इच्छा की अधीनता से स्वातंत्र्य तथा दैवीय शक्तियों से पहचानी जाती है; अपने राजस रूप में यह इच्छाओं को उत्पन्न करती है; और अपने तमस रूप में यह उपेक्षा तथा अज्ञान आदि को उत्पन्न करती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अहंकार का कार्य अभिमान अथवा आत्मप्रेम है। कर्तृत्व का सम्बन्ध इसके साथ हुआ करता है। मन के द्वारा इसके समक्ष संवेदनाएं एवं सुझाव मिला करते हैं यह उन्हें आत्मा को अर्पण कर देता है।

मन वह इन्द्रिय है जिसका महत्त्वपूर्ण कार्य इन्द्रियों से प्राप्त सामग्री का संश्लेषण करके उन्हें संप्रत्यय के रूप में परिणत करना है, कार्यों के वैकल्पिक मार्गों का सुझाव देना तथा इच्छा द्वारा दिए गए आदेशों का कर्मेन्द्रियों द्वारा पालन कराना है। मन को इन्द्रियों का द्वार कहा जाता है और इन्द्रियों को द्वाररक्षक कहा जाता है।

वस्तुतः त्रिगुण योग के मनोविज्ञान की भौतिक तात्त्विक पृष्ठभूमि खड़ा करता है और पुरुष समस्त चेतन क्रियाओं के अधिष्ठान के रूप में दूसरी महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक तात्त्विक कड़ी की स्थापना करता है। यहां इन तात्त्विक पृष्ठभूमि के उपर चर्चा को केन्द्रित किये बगैर सीधे चित्त, चित्त के निर्मायक घटक, चित्त की अवस्थाएं, चित्त के भेद, कार्य, स्वरूप, क्रियात्मक संभावना आदि पर विचार करने की कोशिश की की जा रही है। आवश्यकतानुसार तत्त्वमीमांसीय विचारों को भी शामिल किया जायगा।

चित्त महत्तत्व में अन्तर्भूत होता है, जो सर्वव्यापी स्वरूप का है। इस बात को लेकर मतवैविध्य है कि वह प्रकृति का प्रथम विकार है या महत्तत्व में अन्तर्भूत है, नित्य और सर्वव्यापी है। किंतु चित्त को समस्त चेतन क्रियाओं का क्रियात्मक आधार कहा जा सकता है जिसके द्वारा हम अपने आपको और इस विश्व को जानते, अनुभूत करते, भोगते एवं मुक्त हुआ करते हैं। नैतिक एवं इतर नैतिक व्यवहारों में चेतना का गत्यात्मक आश्रय चित्त निर्णायक ढंग से भूमिका अदा करता है और उनसे प्रभावित भी होता है जिसका योग गहन पड़ताल करता है।[24] बाह्य या भीतर के सत्य की अनुभूति इसी चित्त के माध्यम से होती है।

वैसे 'चित्त' शब्द 'चित्' से व्युत्पन्न हैं जिसका अर्थ पहचानना, अवलोकन करना, संवेदन करना, प्रकाशित होना, चमकना (to recognise, observe, perceive, to shine, to bright) आदि लिया जाता है। चित्त का उपयोग, उपनिषद्, अथर्ववेद, महाभारत आदि में भी किया गया है, लेकिन योग में इसका विशिष्ट प्रयोग किया गया है। सांख्य एवं योग में घनिष्ठ संबंध है। सांख्य सम्मत बुद्धि (महत्), अहंकार और मन इन तीनों के समष्टीभूत अंतःकरण को योग 'चित्त' कहता है। "मन, बुद्धि एवं अहंकार के समष्टिभूत अन्तःकरण को चित्त कहते हैं।"[25] सांख्य में इसे

अन्तःकरण माना गया है जो बुद्धि, अहंकार एवं मनस से संबंद्ध है। जबकि योग के व्याख्याकार बुद्धि, चित्त और अन्तःकरण को प्रायः बिना भेदभाव किये एक ही तरह से प्रयोग में लाते हैं। वाचस्पति मिश्र चित्त का तात्पर्य अन्तःकरण बुद्धि से लेते हैं।[26] विज्ञान भिक्षु ने अन्तःकरण सामान्य को ही चित्त कहा है, जो वस्तुतः एक है परंतु वृत्तिभेद के कारण, जिसके चार विभाग माने गए हैं। ये चार विभाग कौन–कौन हैं– यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। जी युर्सटीन ने भी दर्शाया है कि व्याख्याकारों ने बुद्धि, अन्तःकरण और चित्त को बिना भेदभाव के एक ही माना है।[27]

पतंजलि ने चित्त की परिभाषा नहीं दी है। लेकिन योगसूत्र के कई सूत्रों में इसके प्रयोग से इसका स्पष्टीकरण हो पाया है। जी. युर्सटीन कुछ भिन्न दृष्टि से चित्त संबंधी विचार प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः चित्त समस्त मनःतंत्र (Entire Mental Machinery) को निर्देशित करता है। यह वह महत्त्वपूर्ण संप्रत्यय है जो समस्त विविध अन्तःकरणात्मक प्रक्रियाओं को आत्मसात किये रहता है।[28]

ध्यान देने की बात यह है कि चित्त की स्थापना कोई स्वतंत्र तत्त्वमीमांसीय सत्ता के रूप में नहीं हुई है। योगदर्शन में चित्त के अस्तित्व की तत्त्वमीमांसीय स्थापना 1. विशेष (5–महाभूत, 5–कर्मेन्द्रियां, 5–ज्ञानेन्द्रियां व मन) 2. अविशेष (5–तन्मात्र एवं अहंकार) 3. लिंग (महत्तत्व), 4. अलिंग (प्रधान) के रूप में, नहीं हुई है। हालांकि वाचस्पति मिश्र महत्तत्व के द्वारा पुरुष का भोग एवं मोक्ष संपादित होना मानते हैं। उनका मानना है कि समस्त भोग एवं मोक्ष इसी महत्तत्व एवं बुद्धि में होता है। चन्द्रधर शर्मा ने भी चित्त को सांख्य के तीन अन्तःअंग बुद्धि, अहंकार और मन बताया है। चित्त अन्तःकरण ही है। यह महत्त या बुद्धि है जो अहंकार एवं मनस को भी शामिल करता है।[29] एनी बीसेन्ट के अनुसार मनस, बुद्धि, अहंकार चित्त रूपी त्रिभुज के तीन फलक या पक्ष हैं।[30] थियोस बर्नार्ड लिखते हैं– ये तीनों संपूर्ण चित्त के निर्मायक हैं।[31] राधाकृष्णन सांख्य दर्शन के विचार को स्पष्ट करते हुए इस संबंध में कहते हैं– "महत्, जो सकल विश्व का कारण है, प्रकृति के विकास में सबसे प्रथम उत्पन्न पदार्थ है। यह व्यक्ति की बुद्धि का आधार है। जहां 'महत्' शब्द विश्वीय पक्ष को दर्शाता है, वहां बुद्धि शब्द से, जो इसका पर्यायवाची होकर प्रयुक्त होता है तात्पर्य तत्समान मनोवैज्ञानिक पक्ष है, जो प्रत्येक व्यक्ति में रहता है।"[32] राधाकृष्णन लिखते हैं– "सांख्य जिसे 'महत्' कहता है, योग उसे 'चित्त' कहता है। इसकी उत्पत्ति प्रकृति से सबसे पहले हुई, यद्यपि इसे सर्वतोग्राही अर्थों में लिया जाता है जिसमें इसके अन्तर्गत बुद्धि, आत्म–चैतन्य तथा मन भी सम्मिलित हैं।"[33] लेकिन जी. युर्सटीन राधाकृष्णन के इस विचार का खंडन करते हैं कि चित्त सांख्य के महत्तत्व का पर्यायवाची है।[34] वे यह भी मानने को तैयार नहीं है कि चित्त प्रकृति का प्रथम विकार है जबकि चित्त को सर्वतोग्राही/समग्र (comprehensive) अर्थ में लिया गया है। वे कहते हैं चित्त को कभी भी प्रकृति के प्रथम विकार के रूप में लिया ही नहीं गया है।[35]

जी. युर्सटीन ने पी. टक्सन (P. Tuxen) एवं ई. फ्राउवॉलनर के इस मत को कि 'मनस' समग्रता में चित्त के समतुल्य है, को भी भ्रमात्मक ठहराया।[36] एक अर्थ में, उनके अनुसार, चित्त एक समेकित कार्यात्मक संप्रत्यय है (कम्प्रीहेन्सिभ ऑपरेशनल कान्सेप्ट)।[37]

इस तरह चित्त को बुद्धि, अहंकार, मन के सत्तात्मक रूप से भिन्न इन सबों का एकीभूत कार्यात्मक रूप माना जा सकता है। लेकिन सत्त्व, रज, तम के अधिकता के अनुसार चित्त क्रमशः प्रख्या (ज्ञान) शील, प्रवृत्ति शील और स्थितिशील तीन प्रकार होता है। स्वभावतः प्रख्या (ज्ञान) रूप

चित्त तीनों गुणों से सम्पृक्त होने पर, ऐश्वर्य एवं विषयों का प्रेमी बनता है। तमोगुण के आधिक्य होने पर यह अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य से व्याप्त हो जाता है। तमोगुण के नितांत क्षीण होने पर रजोगुण के आधिक्य से युक्त होकर वही चित्त धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से परिपूर्ण हो जाता है। जिस अवस्था में चित्त में रजोगुण रूपी मल किंचित मात्र भी नहीं रहता है, तब वह स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही अवस्था विवेक–ख्याति कहलाती है। ध्यान देने की बात यह है कि सांख्य का मानना है कि गुणों में एक सत्त्वगुण ऐसा है जो पुरुष के समान ही शुद्ध है और बुद्धि के भी अनुरूप है। इसलिए वह पुरुष की बुद्धि या चेतना को प्रतिफलित कर सकता है।

ज्ञान की क्रिया में चित्त का एकतरफ विषय से उपरक्त इन्द्रियों से सन्निकर्ष होता है, दूसरी तरफ चित्त पुरुष के निकटस्थ होने कारण उसके चैतन्य से आविष्ट या उपरक्त हुआ करता है। इस तरह पुरुष के चैतन्य से निकटस्थ होने के कारण उस चैतन्य से उपरक्त रहते हुए विषयों से उपरक्त–इन्द्रियों से सन्निकर्ष में आने वाला कार्यात्मक (Functional or operational) अन्तःकरण (बुद्धि, अहंकार एवं मन) चित्त है। यह जोड़ा जा सकता है कि ये तीनों क्रियात्मक रूप से पृथक एवं स्वतंत्र नहीं हैं बल्कि ये एक कार्यात्मक ईकाई हैं जिसे चित्त के नाम से जाना जाता है।[38] इसे साधारण ढंग से यूं कहा जा सकता है कि विविध क्रियाओं या प्रक्रियाओं में संलग्न अंतःकरण चित्त है, क्रियाओं से पृथक चित्त अन्तःकरण है या यूं कहें कार्यों में संलग्न अन्तःकरण चित्त है। जो स्वभाव से तो अचेतन है लेकिन निकटस्थ आत्मा के प्रतिबिंब से सचेतन हो जाता है।

ध्यान देने की बात यह है कि चित्त में विषय के अनुरूप परिवर्तन होता है और जो पदार्थ उसके समक्ष होता है, उनका रूप वह धारण कर सकता है किन्तु वह जो देखता है उसका प्रत्यक्ष ज्ञान उसे प्राप्त नहीं हुआ करता, क्योंकि यह अपने स्वरूप में अचेतन यानि जड़ स्वभाव का है; लेकिन इस पर पड़नेवाला आत्मा का प्रतिबिंब ही इसे प्रस्तुत पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान कराता है। राधाकृष्णन योग में चित्त के उभयविध प्रभाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "समस्त विषयनिष्ठ ज्ञान में चित्त विषय तथा विषयी दोनों से प्रभावित होता है।"[39] नलिनी शुक्ला ने काफी स्पष्ट ढंग से इस विचार को रखा है– "वस्तुतः ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता अर्थात् बाह्यार्थ, चित्त एवं पुरुष सर्वथा भिन्न हैं। फिर भी पूर्वोक्तरीति से द्रष्टा एवं दृश्य से उपरंजित चित्त चेतन और अचेतन उभयस्वरूप बन जाता है। वह अचेतन होने पर भी चेतन तथा स्वयं (पुरुष का) विषयात्मक होने पर भी अविषयात्मक होने पर भासित होता है।[40] इस तरह यह कहा जा सकता है कि द्रष्टा एवं दृश्य से उपरंजित होने से चित्त उभय स्वभाव का है। इसके अन्दर प्रतिबिंबित पुरुष के चैतन्य से ऐसा आभास होने लगता है कि यहीं अनुभवकर्त्ता है।[41] चित्त का अस्तित्व पुरुष के लिए है जो विचार संवेदना तथा इच्छा से भी अगाध है।[42] इस बात को नलिनी शुक्ला पाश्चात्य मनोविज्ञान से भारतीय मनोविज्ञान की तुलना करते हुए स्वीकारती हैं। आई.के. टैमनी भी इसे योग के संबंध में स्वीकारते हैं। पुरुष या विश्व व्यापी आत्मा, स्वयं अपरिवर्तनशील है, किन्तु बुद्धि के सांचे में ढाले जाने के कारण उसमें आत्मसंवेदना प्रकट होती है। आत्मा के साथ एकीभूत बुद्धि ही वह महत्वपूर्ण स्थान है जो आत्मसंवेदना को उत्पन्न करता है।[43] इस तरह चित्त वस्तुतः पुरुष से भिन्न मात्र विषयों 'की चेतना' ('कन्ससनेस ऑफ'....ऑब्जेक्ट्स) है।[44] जो विषयी एवं विषय दोनों की उपरक्तता की अपेक्षा रखता है, लेकिन चित्त स्वप्रकाश नहीं है पुरुष स्वप्रकाश है। और वह चित्त एवं विषय को

प्रकाशित करता है। लेकिन "इन्द्रियों के, अहंकार के और बुद्धि के व्यापार कभी क्रमिक रूप में और कभी–कभी (जैसे अचानक भय के समय) एक साथ काम करते हैं।"[45] एक जिज्ञासा यह भी उठती है कि चित्त के सदैव परिवर्तनशील होने के बावजूद हमारा ज्ञान स्थिर कैसे होता है? राधाकृष्णन इस संबंध में स्पष्ट करते हैं, "क्योंकि आत्मा, जो वास्तविक ज्ञाता है, स्थिर है।"[46]

प्रश्न उठता है कि क्या एक समय में एक ही ज्ञान प्राप्त होता है? राधाकृष्णन ध्यान दिलाते हैं कि, "क्योंकि चित्त में एक समय में एक ही परिवर्तन हो सकता है, इसलिए आत्मा एक समय में एक ही ज्ञान प्राप्त कर सकती।"[47] दो भिन्न–'भिन्न विचार एक ही समय में उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। यहां यह भी ध्यान दिलाना आवश्यक है कि विषयों से इन्द्रियों का सन्निकर्ष से प्राप्त संवेदना का मनस के सन्निकर्ष को लेकर यह जिज्ञासा उठती रही है कि विषयों के सन्निकर्ष से इन्द्रियों के द्वारा जो संवेदना ग्रहण होती है वे मनस के सन्निकर्ष में क्रमिक रूप से आती है या एक ही समय में एक साथ आती है (समानांतर रूप से)? क्रमिक संवेदन एवं समानांतर संवेदन में फर्क किया जाता है। न्याय का मानना है कि मन इन्द्रियों से प्राप्त संवेदनाओं से एक साथ सन्निकर्ष नहीं करता है। जबकि सांख्य एक ही साथ में विभिन्न इन्द्रियों के भिन्न–भिन्न संवेदना ग्रहण करने की बात भी स्वीकार करता है।[48]

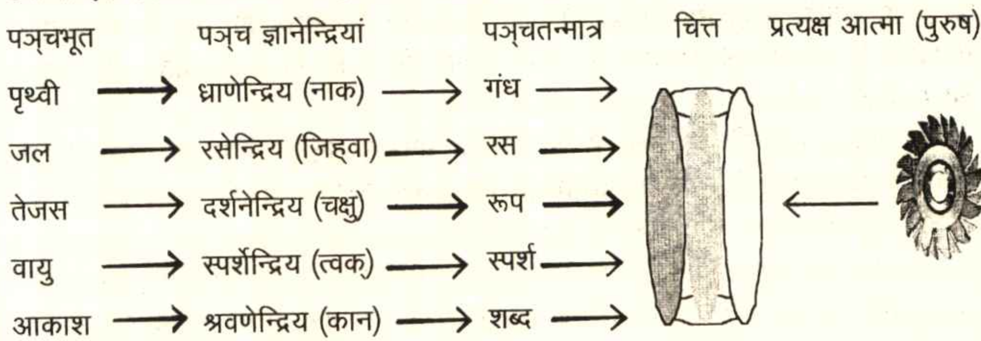
जहां तक चित्त के भेद का प्रश्न है वाचस्पति मिश्र ने कारण चित्त और कार्य चित्त दो तरह के चित्त में भेद किया है। कारण रूप चित्त आकाश के समान सर्वव्यापक बताया गया है। चूंकि प्रत्येक पुरुष के साथ एक–एक चित्त सम्बद्ध है इसलिए जितने पुरुष हैं उतने ही चित्त हैं। यहां यह भी ध्यान देने की बात है कि पूर्वानुसार जीवनों में नानाविध आश्रय स्थानों के अनुकूल चित्त सिकुड़ता एवं फैलता है। जब पुरुष किसी पशु का शरीर धारण करता है तो वह अपेक्षाकृत संकुचित प्रतीत होता है और जब वह मनुष्य देह धारण करता है तो अपेक्षाकृत विस्तारित प्रतीत होता है। "इस तरह संकुचित एवं प्रसारित चित्त कार्यचित्त है जो चैतन्य की दशाओं में अपने को व्यक्त करता है।"[49] विकासशील होने से चित्त न तो अणुमात्र हैं, न विभु वरन् पदार्थान्तर सापेक्ष उभयात्मक, मध्यम परिमाण वाला होता है।

मृत्यु के समय कारण चित्त जो सदा पुरुष के साथ सम्बन्ध रहता है, अपने को कार्यचित्त के रूप में नए शरीर में अभिव्यक्त करता है। कारण चित्त को जहां विभु या सर्वव्यापी माना जाता है वहां कार्यचित्त के संबंध में यह स्पष्ट है कि वह अपने आश्रय रूप शरीर के अनुकूल सिकुड़ता अथवा विस्तारित होता है। इसे यूं कहा जा सकता है कि वह आश्रय शरीर परिणामी है। लेकिन जी. युर्सटीन इस विचार को सही नहीं मानते हैं, क्योंकि – प्रथमतः वाचस्पति की चित्त संबंधी धारणा चित्त की गैर जरूरी प्राक्कल्पित स्थिति के तरफ ईशारा करती है। और द्वितीयतः एक सर्वव्यापी, निरपेक्ष, सर्वज्ञ कारणचित्त की अवधारणा पुरुष की अवधारणा को सतही बना देती है।[50] इस तरह कारण चित्त का विचार पुरुष विचार के विरूद्ध खड़ा हो जाता है। जी. युर्सटीन ने एक गहन विश्लेषण के माध्यम से कारण–चित्त एवं पुरुष के विचार के बीच सामंजस्य की समस्या को विराम दे दिया है। शायद यह अधिक उपयुक्त प्रतीत हो रहा है कि यह विभु पुरुष का ही प्रतिबिंब है जो सत्त्व के आधिक्य और ओतप्रोत चित्त में विभु रूप प्रतिबिंबन संभव बना पाता है। जिसके कारण यह भ्रम हो जाता है कि चित्त ही विभु रूप है। वस्तुतः पुरुष ही विभु है। फिर भी चित्त

विभु है और इसकी वृत्तियां संकोच–प्रसारशील हैं – इसी बात पर अधिक बल दिया गया है। हालांकि चित्त को मध्यम–परिमाण मानने वाले की आपत्ति है कि यदि चित्त को विभु माना जायेगा, तो वह नित्य एवं सक्रिय होने से, चित्त का प्रलयकाल में लय और संसृतिकाल में लोकान्तरों में गमनागमन असंभव हो जाएगा। इस विषय में योगाचार्यों के मत को स्पष्ट इस तरह किया गया है कि चित्त के नित्य (विभु होने से नित्य) होने पर भी उनकी संकोच विकासशील वृत्ति सक्रिय एवं अनित्य होने से प्रलयकाल में उसका लय तथा सृष्टिकाल में संसरण संभव है। अतः चित्त को विभु मानना समीचीन है। इस बात को लेकर मत वैविध्य है। लेकिन कारण एवं कार्यचित्त का भेद कई तरह की जटिलताओं में उलझा देता है। किंतु चित्त की वृत्तियां संकोच–प्रसारशील है – इस बात को लेकर प्रायः सभी एकमत ही हैं।

चित्तवृत्ति

चित्त का विषय आकार (विषयाकार) में परिणत होना ही चित्तवृत्ति है। चित्त विषय से उपरक्त होकर जो आकार ग्रहण करता है या जिस आकार में परिणत (विषयाकार) हो जाता है वही चित्तवृत्ति कहलाता है। चित्त का विषय के संसर्ग से विषयाकार होना ही चित्तवृत्ति है। चित्त 'बाह्यविषय' एवं अन्तः संबंधी विषय या यूं कहें स्थूल विषयों एवं सूक्ष्म विषयों के संपर्क में आने से – दोनों तरह से आकार ग्रहण कर सकता है। बाह्य विषयों की संवेदना के ग्रहण को सरल ढंग से एक चित्र के माध्यम से इस तरह व्यक्त किया जा सकता है।



'वृत्ति' शब्द की उत्पत्ति 'वृत्त' से हुई है जिसका अर्थ है चक्कर काटना, घूमना, आदि। कोलमन ने वृत्ति को परिणाम से जोड़ा है। चित्तवृत्तियां असंख्य हैं और प्रतिक्षण उदित एवं लीन होती रहती हैं। इस तरह चित्त में उठने वाली विचार लहरियां वृत्ति कहलाती है। वैसे संसार में पदार्थ असंख्य हैं। उनके संसर्ग से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्तियां भी असंख्य है, लेकिन पतंजलि ने उन्हें पांच श्रेणियों में बांटा है। वे हैं – प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।[51]

पतंजलि ने चित्त में होने वाले परिणामों की व्यापक संभावना पर विचार किया है। रजनीश लिखते हैं– "मन दासता का स्रोत हो सकता है और स्वतंत्रता का भी।"[52] चित्त के पास विषयानुरूप; यथा– रूप में परिणत (प्रमाण–प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द)[53] या आकार ग्रहण करने की क्षमता है या यूं कहें कि सम्यक ज्ञान में परिणत होने की उसमें क्षमता है। चित्त असत, विपर्यय, मिथ्या, झूठा, विवृत, अयथा या अन्यथा आकार में भी परिणत हो सकता है; पुनः उन्हें यथारूप में प्रमाण के द्वारा निराकृत कर लेने की भी क्षमता है।

ज्ञेय पदार्थ से भिन्न मिथ्या रूप से प्रतिष्ठित होने वाली चित्त की वृत्ति ही विपर्यय है।[54] यह विषय का वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं कराती है और प्रमाण के द्वारा बाधित हो जाती है। वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु ने संशय को भी विपर्यय वृत्ति के अन्तर्गत रखा है।

शब्द ज्ञान से उत्पन्न निर्वस्तुक चित्तवृत्ति को विकल्प कहा गया है।[55] इसे शब्द प्रमाण के अन्तर्गत इसलिए नहीं रखा गया है चूंकि यह वस्तुशून्य है। चित्त की यह अद्‌भुत क्षमता है कि वह बिना वास्तविक वस्तु के ही शब्द के आधार पर ही उसकी कल्पना या आकार ग्रहण कर लेता है। लेकिन इसका अन्तर्भाव विपर्यय में नहीं किया गया है चूंकि शब्दज्ञान के आधार पर इस वृत्ति के अन्तर्गत व्यवहार देखा जाता है। विपर्यय प्रमाणवृत्ति से बाधित हो जाता है और उसके अनुरूप व्यवहार का भी उच्छेद हो जाता है जबकि विकल्पवृत्ति के द्वारा हुए बोध का बाध नहीं भी हो सकता है।

अभाव के कारण–स्वरूप तमोगुण को आलम्बन करने वाली वृत्ति निद्रा कहलाती है।[56] वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु अभाव का तात्पर्य जाग्रत एवं स्वप्नकालिक वृत्तियों के अभाव से मानते हैं। जाग्रतावस्था में चित्त रजो गुण प्रधान रहता है और सत्त्वगुण को गौण रूप से सहायक बनाकर अस्थिर रहते हुए भी विषयों में प्रवृत्त रहता है। सुषुप्ति अथवा निद्रावस्था में रजोगुण एवं सतोगुण को दबाकर तमोगुण प्रधानता से रहती है। चूंकि तमोगुण बुद्धि सत्व को अंधकार की तरह आवृत्त कर लेता है जिससे वह विषयों के ज्ञान को प्राप्त नहीं करा पाता है। ध्यान देने की बात यह है कि समाधि में वृत्तियां निरूद्ध हो जाती हैं जबकि निद्रावृत्ति की, जागृति के पश्चात्, स्मृतिवृत्ति से उस वृत्ति की स्थिति ज्ञात होती है। अतः निद्रा को एक स्वतंत्र वृत्ति की कोटि में रखा गया है।

जहाँ तक स्मृति का प्रश्न है पतंजलि के अनुसार अनुभूत विषय का असंप्रमोष ही स्मृति है।[57] विज्ञानभिक्षु ने स्मृति का प्रत्यभिज्ञा से भेद करने के लिए 'संस्कारमात्र जन्यत्वम्' पद को जोड़ा है। इस तरह स्मृति संस्कार जन्य वृत्ति है।

ओशो रजनीश ने 'योग : दी अल्फा एण्ड दी ओमेगा' में चित्त की वृत्तियों की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। वैसे तो चित्तवृत्ति का विचार पतंजलि के प्रमाणमीमांसा को अधिमानता में स्पर्श करता है लेकिन चित्त के विषय आकारित होने की विविध संभावनाओं का विचार उनके गहन मनोवैज्ञानिक पक्षों को निश्चय ही आत्मसात किये हुए है, चूंकि पातंजल–योग में इस बात की स्पष्ट स्वीकृति है कि चित्त विषयों के संपर्क में आकर या वस्तु शून्य स्थिति में शब्दों के माध्यम से या निद्रा में तमोगुण के आवरण से किस तरह रूपायित होता है। चित्त की ही क्षमता है कि वह वस्तु को यथार्थ (सत्य) रूप में रूपायित कर सकता है, अयथार्थ (असत्य) रूप में रूपायित कर सकता है, बिना वस्तु के ही शब्द द्वारा कल्पित कर सकता है; जाग्रत व स्वप्न से परे की स्थिति के अनुरूप रूपायित हो सकता है और अनुभूत किये गए विषयों के संस्कार मात्र से पुनः उसे अनुभूत कर सकता है।

क्लेश, क्लिष्ट, अक्लिष्ट

ये सभी वृत्तियां क्लेशजन्य यानि क्लिष्ट और अक्लेशजन्य यानि अक्लिष्ट होती हैं। इसमें राग द्वेषादि क्लेशों की हेतुभूत वृत्तियों को क्लिष्ट तथा रागद्वेषादि क्लेशों को नष्ट करने वाली

वृत्तियों को अक्लिष्ट कहते हैं। ज्ञानविषयक वृत्तियां गुणाधिकार विरोधिनी अक्लिष्टा वृत्तियां कहलाती हैं। योग का मनोविज्ञान मात्र क्लिष्ट वृत्ति के निरोध की वकालत नहीं करता है बल्कि साधक से अक्लिष्टवृत्ति के निरोध की अपेक्षा भी करता है। योग में दोनों ही तरह की वृत्तियों का निरोध अपेक्षित है लेकिन अक्लिष्टवृत्तियों के निरोध से पहले क्लिष्ट वृत्तियों के निरोध की प्रक्रिया को अपनाये जाने की बात को स्वीकृति मिली हैं अक्लिष्टवृत्तियों से पहले क्लिष्टवृत्तियों के विरोध का उपदेश किया गया है तब परमवैराग्य से अत्यन्त अक्लिष्टवृत्ति विवेकख्याति का भी निरोध करना पड़ता है।

योग मनोविज्ञान इस तथ्य को स्पष्ट स्वीकारता है कि जिस तरह की वृत्ति का उदय होता है उसी अनुरूप उसके संस्कारों का भी उदय होता है। क्लिष्ट वृत्तियों से क्लिष्ट संस्कार तथा अक्लिष्ट वृत्तियों से अक्लिष्ट संस्कार बनते हैं। यह वृत्ति–संस्कार का चक्र अनवरत चलता रहता है, जबतक निर्बीज समाधि उपलब्ध न हो जाय, ये संस्कार समुचित परिस्थिति में दृष्ट एवं अदृष्ट से प्रेरणा पाकर वृत्ति रूप में परिणत होने वाले क्लेश युक्त चित्त को विविधकार्यों में संलग्न करता है जिससे कर्माशय बनता है। क्लेशमूलक कर्माशय जाति, आयु एवं भोग (विपाक) का हेतु है। जिसे मीमांसा 'अपूर्व', वैशेषिक 'अदृष्ट' कहता है योग उसे कर्माशय कहता है। लेकिन, कैवल्य के लिए क्लेश, वृत्ति, संस्कार, विपाक, कर्माशय से मुक्त होना नितांत आवश्यक है।

क्लेश, कर्म, चित्तवृत्ति, संस्कार, वासना, कर्माशय, विपाक आदि योग मनोविज्ञान के उस महत्वपूर्ण पहलू को आत्मसात करता है जिसका संबंध भूत, वर्तमान एवं भावी तीनों तरह के जन्मों, आयु एवं भोगों से है। इस तरह यह केवल वर्तमान जीवन के मनोवैज्ञानिक तथ्यों को ही उद्घाटित नहीं करता है बल्कि अन्य जीवन के मनोवैज्ञानिक पक्षों की पृष्ठभूमि पर भी विचार करता है।

योग दर्शन में पांच प्रकार के क्लेश बताये गए हैं। वे हैं– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश।[58] जिनके द्वारा प्राणि दुःख को प्राप्त करते हैं, वे क्लेश कहे जाते हैं। इन क्लेशों के द्वारा ही प्राणी त्रिविध दुःखों (आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक) को भोगता है। ये क्लेश संस्कार के रूप में चित्त में विद्यमान रहते हैं। यह आगे दुःख देंगे यह जानते हुए विवेकी इन्हें नष्ट करने का प्रयास करते हैं। इन पांच क्लेशों में अविद्या ही मूल विपर्यस्त ज्ञानरूपा वृत्ति है। अन्य क्लेश चतुष्टय भी अविद्यामूलक होने से विपर्यय ज्ञानस्वरूप ही हैं। इन क्लेशों की चार अवस्थायें प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार बताये गए हैं[59] जिसके अनुरूप मानव की चित्त की दशा को समझने में मदद मिलती है। ये चार अवस्थाएं क्लिष्ट होने से हेय हैं।

अनित्य, अपवित्र, दुःखद एवं अनात्म पदार्थों में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुखद एवं आत्मबुद्धि रखना अविद्या है।[60] दृक्शक्ति (पुरुष) एवं दर्शनशक्ति (बुद्धि) की अभिन्नवत प्रतीति अस्मिता है।[61] सुख भोग के पश्चात् उसके प्रति पुनः भोगने की जो अभिलाषा या आकांक्षा रहती है उसी को राग कहते हैं।[62] दुःख एवं दुःख के साधनों के प्रति जो स्वाभाविक विकर्षण, घृणा अथवा क्रोध है वह द्वेष है।[63] जीवन के प्रति उत्कट अभिलाषा या मृत्यु से भय ही अभिनिवेश हैं। प्रत्येक प्राणी चाहे वह मूर्ख हो या विद्वान, बालक हो या वृद्ध वह मरना नहीं चाहता है जीवित रहना चाहता है यही अभिनिवेश है।[64]

चित्तभूमि

योग दर्शन में गुणों की अधिकता एवं न्यूनता के आधार पर चित्त की मुख्य पांच अवस्थायें या दशायें मानी गई हैं। वे हैं – क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरूद्ध।[65]

क्षिप्त चित्त की अतिचंचल दशा है। इसमें चित्त रजोगुण की अधिकता और सतोगुण व तमोगुण की गौणता के कारण अस्थिर एवं चंचल बना रहता है। इनमें चित्त की बहिर्मुखी गति होती है। क्रियाशीलता रजोगुण का स्वभाव है इससे वह संसार के सुख–दु:ख, विषयों की ओर स्वतः प्रवृत्त हुआ करता है। वाचस्पति मिश्र ने इसे अत्यंत अस्थिर माना है। मूढ़ चित्त तमोगुण की अधिकता के कारण उसकी स्थिति विवेकशून्य जैसी रहती है। वह कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य, अच्छा–बुरा का निर्णय नहीं कर पाता है। क्रोधादि के द्वारा विरूद्ध कार्यों में प्रवृत्त रहता है। निद्रादि वृत्तियों से यह युक्त रहता है। विक्षिप्त में सत्त्व के आधिक्य के कारण कभी–कभी स्थिरता आती है, लेकिन रजोगुण के कारण वह स्थिरता अधिक देर तक ठहर नहीं पाती है। यद्यपि यह अवस्था क्षिप्तावस्था के समान ही रजोगुण प्रधान है लेकिन जहां क्षिप्तावस्था में चित्त कभी भी स्थिर नहीं होता है, चंचल बना रहता है वहां विक्षिप्त अवस्था सत्त्व के आधिक्य से कभी–कभी स्थिरता धारण कर लेता है। क्षिप्त से विशिष्ट बताने के लिए क्षिप्त के आगे 'वि' उपसर्ग जोड़ा गया है।

लेकिन चित्त की अन्तिम दोनों अवस्थाओं में सत्त्व की अधिकता बढ़ जाती है। तमोगुण एवं रजोगुण के प्रभाव शनैः शनैः कम होने लगते या खत्म हो जाते हैं। इन दोनों अवस्थाओं में चित्त समाधि के लिए उपयोगी बन जाता है। एकाग्र चित्त सत्त्वगुण प्रधान अवस्था है। इस अवस्था में चित्त किसी विषय विशेष पर केन्द्रित हो जाता है। एकाग्र का अर्थ है एक ही विषय को चिन्तन करनेवाला चित्त। निरूद्ध का अर्थ है– रूका हुआ चित्त अर्थात् वह चित्त जिसकी सारी वृत्तियां रोकी गई या हटाई गई हों। जब बाहरी वृत्तियों के निरोध होने पर चित्त एक ही विषय में एकाकारवृत्ति धारण करता है, तब उसे एकाग्र कहते हैं। योग यह स्वीकार करता है कि "एकाग्रता चित्त की सभी अवस्थाओं का एक सामान्य लक्षण है। यद्यपि यह समाधि की अवस्था में अपने सबसे गहन रूप में पाई जाती है। बलदेव उपाध्याय लिखते हैं,"......परन्तु सब वृत्तियों और संस्कारों के लय हो जाने पर चित्त की संज्ञा निरूद्ध है।"[66] पवन कुमारी गुप्ता लिखती हैं,"..... इस अवस्था में समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है और मात्र संस्कार ही अवशिष्ट रहते हैं। ऐसा दोनों टीकाकारों ने स्पष्ट किया है।"[67] इन दोनों विचारों में विरोध प्रतीत होता है। लेकिन निरूद्धावस्था को दो स्तरों में बांटने से इस विरोध को समंजित कर लिया जा सकता है। सबीज समाधि में समस्त वृत्तियाँ निरूद्ध हो जाती है लेकिन संस्कार शेष रहते हैं, लेकिन निर्बीज समाधि में समस्त वृत्तियां, संस्कार वासनाएं आदि सभी निरूद्ध हो जाते हैं। यही परिपूर्णा परम–निरूद्धावस्था है। इस तरह यह एक ही स्थिति के दो स्तर कहे जा सकते हैं। चित्तभूमि, चित्तवृत्ति एवं क्लेश के विचारों में पतंजलि ने एक महत्त्वपूर्ण संबंध की तरफ स्पष्ट ईशारा किया है। जहाँ चित्तभूमि त्रिगुण के आधिक्य से निर्धारित है वहीं क्लिष्ट–अक्लिष्ट वृत्तियों, संस्कारों, वासनाओं की निवृत्ति का पक्ष भी उससे कतई पृथक नहीं है। इस तरह मानव की चित्त की दशा गुण और चित्तवृत्तियों के अन्तर्संबंध से तय किये जाने योग्य हैं और किसी मानव में व्यक्तित्व निर्धारण में इनकी महती भूमिका स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

संस्कार, वासना, विपाकाशय, निरोध

चित्त प्रत्यक्ष जीवन के क्रियाकलापों के संचालन के अलावा संस्कारों एवं पूर्वजन्मों की वासनाओं को भी समाहित रखता है। उचित स्थिति में प्रेरणा पाकर संस्कार जाग्रत हो जाते हैं। संस्कार का अर्थ है अनुभूत विषय या वस्तुओं के चित्त पर पड़े प्रतिबिंब जो बीज रूप में अवचेतन चित्त पर अंकित या चित्त में निहित रहते हैं। हमारे समस्त अनुभव चाहे वे संज्ञानात्मक हों, भावनात्मक या इच्छात्मक अवचेतन रूप में विद्यमान रहते हैं और अनुकूल स्थितियाँ पाकर स्मृति के रूप में प्रकट हो जाते हैं। स्वामी सत्यानन्द सरस्वती लिखते हैं– "संस्कार दो प्रकार के होते हैं– स्मृति और वासना। स्मृति अवचेतन और वासना अचेतन होती है।"[68]

योग कर्मसिद्धांत एवं पुनर्जन्म के जुड़वा सिद्धांत में विश्वास करता है। प्रत्येक जीव पूर्वजन्म में मनुष्य या पशु या सीप या सीरसृप आदि अनेक जीवन चक्रसे गुजरता है। इन सभी जीवन में वही चित्त उसके साथ रहता है। प्रत्येक नये जीवन के चित्त में पूर्वजन्म की प्रवृत्तियां और वासनाएं संस्कार रूप में निहित रहती हैं। जिस प्रकार जाल में अनेक गाठें होती हैं उसी प्रकार चित्त में वासनायें गुंथीं रहती हैं। व्यास भाष्य में वासना एवं संस्कार को एक माना गया है। यदि वासना को संस्कार का ही एक रूप मान लिया जाय तो भी कर्मजन्य स्मृति संस्कार एवं प्रवृत्तिजन्य वाले संस्कार में अंतर अवश्य है। प्रवृत्ति जन्य संस्कार को वासना कहा जाता है। वासना को सुषुप्त (अचेतन) प्रवृत्ति मानी जाती है जबकि संस्कारों को अवचेतन वृत्तियां मानी जाती हैं। वृत्तियां जब रूढ़ होकर स्थायी भाव से चित्त में अंकित हो जाती है, वही संस्कार कहलाती है। वृत्ति स्थूल रूप और संस्कार सूक्ष्म रूप वृत्तियां मानी जाती हैं। एस.एन. दासगुप्त के अनुसार,".... वासना से तात्पर्य पूर्व जन्मों की उन प्रवृत्तियों से हैं जो चित्त में सुषुप्त स्थिति में होती है। केवल वे ही अभिव्यक्त हो पाती हैं जिन्हें इस जीवन में अनुकूल अवसर मिलता है, जबकि संस्कार वे अवचेतन वृत्तियां हैं जो हर बार अनुभव के कारण उद्भूत होती रहती हैं।"[69] ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कार चित्त के अवचेतन का वह पक्ष है जो अनुकूल स्थितियां पाकर स्मृति रूप में उद्भूत हो जाते हैं, लेकिन वासना चित्त के अचेतन का वह पक्ष है जो स्मृति रूप में उद्भूत नहीं होती हैं बल्कि प्रवृत्ति रूप में जाति (जन्म) के अनुरूप प्रदर्शित होती हैं। इस तरह उपरोक्त विचारों को देखने के पश्चात् यदि विविध चेतन अवस्थाओं की बात की जाय तो उन्हें प्रचलित पदावलियों में इस तरह वर्गीकृत किया जाना ज्यादा उपयुक्त प्रतीत हो रहा है – ·

1. उर्ध्वचेतन या परमचेतन (संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात या सबीज समाधि एवं निर्बीज समाधि)
2. चेतन (वृत्ति – क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट)
3. अवचेतन (स्मृति संस्कार) और
4. अचेतन (वासना)

इसलिए यह भी कहा गया कि योग चित्तवृत्ति एवं प्रवृत्ति का निरोध है। संस्कार एवं वासना में यह भी फर्क है कि संस्कार इसी जीवन में अनवरत अनुभव से अर्जित होता है जिसका फल इसी जन्म (दृष्टजन्म) या अधिक से अधिक अगले जन्म (अदृष्टजन्म) में मिला करता है जबकि वासना एक या अनेक पिछले जन्मों की प्रवृत्तियां हैं यानि वासना अनेक भविक (अनेक जन्मों वाली) है जबकि स्मृति संस्कार एकभविक (इस या भावी जीवन में कर्मफल देने वाला) है।

यदि कोई मुनष्य आगे बिल्ली योनि में जन्म लेता है तो उसमें वे वासनाएं जो उसके किसी पूर्वजन्म में बिल्ली रूप में प्रबल रही होंगी वह अभी के इस जन्म में जाग्रत हो जायेंगी और उसकी प्रवृत्तियां बिल्ली के अनुरूप हो जायेंगी। ऐसे में उसकी पूर्वजन्मों की अन्य प्रवृत्तियां सुषुप्त अवस्था में वासना रूप में बनी रहती हैं और वह बिल्लीरूपी प्रवृत्तियों के साथ संस्कार के कर्मफल का भोग करता है। यदि ऐसा नहीं हो तो भिन्न–भिन्न प्रकार की पूर्वजन्म की विविध वासनाएं एक ही जन्म में दिखने लग जायेंगी। मनुष्य जन्म में मनुष्य की प्रवृत्तियों के साथ कुत्ते, बिल्ली आदि की प्रवृत्तियां भी प्रकट होने लग जायेंगी। यदि ऐसा नहीं होता है तो वह इसलिए कि उसके संस्कार के फलस्वरूप जन्मग्रहण करने के अनुरूप ही उसकी वही वासना प्रवृत्ति प्रकट होती है। यह योग मनोविज्ञान का विलक्षण पहलू है जिसमें वह जीव की प्रवृत्तियों के संचरण की व्याख्या देते हैं। इस तरह योग मनोविज्ञान एवं योग ज्ञानमीमांसा चित्त को जन्म के समय सफेद कागज की तरह 'tabula rasa' नहीं मानते हैं। उनमें जन्मजात प्रवृत्तियां रूपी संस्कार वासना सुषुप्त रूप में विद्यमान होती हैं। इसे संतानों में अनुवांशिक लक्षणों के हस्तांतरण की व्याख्या शायद नहीं मानी जा सकती है लेकिन प्रवृत्तियां चित्त में वासना रूप से रहते हुए कई जन्मों में अभिव्यक्त होती हैं – यह एक भिन्न तरह के हस्तांतरण के तरफ इशारा करती है। इस तरह संस्कारों एवं वासनाओं का चित्त में बिंधा होना उसका भंडारण (कर्माशय) ही वे कारक हैं जो किसी व्यष्टि के व्यक्तित्व की गत्यात्मकता की गहन संरचना के अंग होते हैं। "संस्कार वे बीज हैं जिनके कारण जीवन की कोई आदत या प्रवृत्ति या कोई आनन्द जिसका अनुभव व्यक्ति ने किसी समय किया हो अथवा भावनाएं जो उसमें प्रबल रही हों, पुनःजार्ग्रत हो जाती है, चाहे वे उस समय अनुभूत नहीं हो रही हों फिर भी प्रवृत्तियां चित्त में इस प्रकार रहती हैं कि कभी भी अनायास स्वतः प्रकट हो सकती हैं क्योंकि वे पहले की अनुभूतियां हैं और संस्कार रूप में चित्त में विद्यमान हैं।"[70] इसतरह जैसा कि राधाकृष्णन लिखते हैं– "प्रत्येक मानसिक परिवर्तन (वृत्ति) अपने पीछे एक संस्कार अथवा अन्तर्निहित प्रवृत्ति छोड़ जाती है।"[71] "समान वृत्तियां समान प्रवृत्तियों को शान्ति प्रदान करती हैं।"[72] योगी को यह उचित है कि वह न केवल वृत्तियों की रोकथाम करे, बल्कि प्रवृत्तियों का भी नाश करे।

योग यह स्पष्ट मानता है कि चित्त में वह शक्ति निहित हुआ करती है जिससे वह अपना विरोध कर सके। चाहे तो वह एक ही दिशा में (क्लिष्ट, व्युत्थान, बहिर्मुखी या परांग) बढ़ते रहे चाहे तो वह विपरीत दिशा (अक्लिष्ट, निरूद्ध) में परिवर्तित होता रहे। इसलिए व्यास ने चित्त को दो धारा में बहने वाली नदी के समान बताया है। उसका प्रवाह पाप और पुण्य दोनों तरफ संभव है। इसी क्रम में यहां यह बताना आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि योग ने चित्त को विपरीत (व्युत्थान से निरूद्ध की ओर) जाने वाली महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की ओर संकेत किया है। (वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनम्) प्रतिपक्ष भावनम के रूप में योग ने उस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की तरफ इशारा किया है जिससे असद् विचार (स्वार्थ भावना) के विपरीत सद्‌विचार (परमार्थ–भावना) की ओर उन्मुख हुआ जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि इस मनोवैज्ञानिक अभ्यास को विकसित करने में अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है। क्रिया–योग, ईश्वरप्रणिधान, अष्टांग योग के अभ्यास को विकसित करने के प्रति जो रूचि/अभिरूचि देखने को मिलती है वह 'प्रतिपक्ष

भावनम्' रूपी मनोवैज्ञानिक अभ्यास के प्रति नहीं दिखाई देती है। भारतीय मनोविज्ञान को यह योग का महत्वपूर्ण अवदान माना जा सकता है। यदि किसी को क्रोध आता हो, लालच आती हो, बुरे विचार आते हों तो उन्हें प्रतिपक्ष भावनम् के मनोवैज्ञानिक अभ्यास से शेष किये जा सकते हैं। यम–नियम आदि अनुशासन के साथ–साथ मैत्री, करूणा, मुदिता और उपेक्षा जैसे कुछ अन्य अनुशासन भी योग में विहित हैं। लेकिन योग यह मानता है कि यह जीव की सहज शक्ति है। किसी का योग की तरफ उन्मुख होना या मोक्ष की तरफ उन्मुख होना यह चित्त की सहज (innate) शक्ति है।

निर्माण–चित्त

जब योग के मनोविज्ञान की बात हो रही है तो इस चर्चा को और आगे बढ़ाते हए यह माना जा सकता है कि पातंजल–योग में निर्माण–चित्त की अवधारणा एक अनोखी अवधारणा है। स्वामी सत्यानन्द सरस्वती लिखते हैं– "कर्माशय की समाप्ति में कृत्रिम रूप से निर्मित किये जाने वाले मन सम्बन्धी विषय अत्यन्त रोचक हैं।" संयम द्वारा उच्च लोकों की शक्तियों में परिवर्तन द्वारा चेतना के इन कृत्रिम वाहनों का निर्माण होता है। अपने संकल्प द्वारा निर्मित चित्त 'निर्माण–चित्त' है।[73] इन निर्मित चित्तों के माध्यम से योगी चेतना के विभिन्न स्तरों पर एक साथ कार्य करता है जिसके माध्यम से वह पूर्वजन्मों के कर्मों का एक साथ अनुभव कर सकता है। इस निर्माण–चित्त का प्रयोजन संचित कर्माशय का शीघ्र फल–भोग बतलाया जाता है। निर्माण–चित्त (कृत्रिम चित्त) से उपलब्ध अनुभव योगी के स्वाभाविक या मूलचित्त में पहुंचता है और वह इसके फलों का लाभ उठाते हुए कर्माशय से मुक्त हो जाता है। ध्यान देने की बात है कि कर्माशय मूल चित्त का ही होता है, कृत्रिम चित्तों के अपने पृथक कर्माशय नहीं होते हैं। निर्मित चित्त प्राकृतिक चित्त पर निर्भर होता है और उसी के दिशा–निर्देश पर कार्य करता है।[74] तथापि उसमें भी अपार क्षमता या प्रदर्शन की शक्ति होती है, लेकिन जबतक प्रयोजक चित्त के लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो जाती तब तक वह समस्त निर्माण चित्त को क्रियाशील रख सकता है। कुछ विचारकों के अनुसार यह समझा गया है कि योगी के अनेक शरीर धारण करने के अनुरूप साधक अपने संकल्प से उन शरीर के कार्य करने के लिए अलग–अलग चित्त का निर्माण करता है। श्री स्वामी ओमानन्द ने उक्त अनेक शरीर की धारणा एवं निर्माण चित्त की धारणा को काल्पनिक बतलाते हुए इस विषय में संदेह व्यक्त किया है।[75]

यहां यह भी अवधेय है कि योग कुछ भिन्न ढंगसे ही सही लेकिन कुछ अन्य ज्ञान की बात भी करता है; जैसे– प्रत्ययों के संयम के अभ्यास द्वारा दूसरों के मन की जानकारी उपलब्ध की जा सकती है।[76] अन्य मन का ज्ञान एक दार्शनिक समस्या रही है और संदेहवादी ने अन्य मन के ज्ञान पर संदेह व्यक्त किया है। पुनः भूत एवं भविष्य के ज्ञान को लेकर भी विमर्श होता रहा है लेकिन योग का मानना है कि तीनों रूपांतरणों पर संयम के अभ्यास से भूत एवं भविष्य का ज्ञान उपलब्ध होता है।[77] पुनः योग का मानना है कि सक्रिय एवं सुप्त कर्मों पर संयम करने से मृत्यु के समय का ज्ञान होता है।[78] इतना ही नहीं संस्कारों पर संयम द्वारा योगी को पूर्वजन्मों का स्मरण होता है।[79]

कुछ भिन्न ढंग से यदि कहा जाय तो विभूति पाद में संयम से विविध लाभ की बात रहस्यपूर्ण प्रतीत होती है जिसे तार्किक–भाववादी प्रवृत्ति वाली पीढ़ी आज शायद ही मानने को तैयार हों। बावजूद इसके योग में गहन मनोवैज्ञानिक पक्ष अन्तर्निहित है।

व्यक्तित्व

इतना ही नहीं योग में विभिन्न तरह के व्यक्तित्व संबंधी विचार के तरफ भी संकेत किया गया है। अन्य दर्शन–संप्रदायों के अतिरिक्त योग में व्यक्तित्व के विभिन्न रूपों को चिह्नित किया जा सकता है। उन्हें सम्यक् रूप में तीन वर्गों में रखा जा सकता है – 1. आदर्श व्यक्तित्व या ईश्वर का व्यक्तित्व 2. मानव जीव का व्यक्तित्व और 3. उपजीवों का व्यक्तित्व।

ईश्वर एक ऐसा पुरुष विशेष (विशिष्ट) है जो क्लेश (अविद्या–अस्मितादि), कर्म (कृष्ण, शुक्ल आदि) विपाक (जाति, आयु, भोग) आशय आदि से अछूता या अनछुआ है।[80] इसे बद्ध जीव को मुक्ति की ओर प्रेरित करने वाला व्यक्तित्व भी कहा जा सकता है। वह नित्य मुक्त है। मानव जीव क्लेश, कर्म, विपाक आशय से गुजरने वाला, विभिन्न चित्त की अवस्थाओं (चित्तभूमियों) से गुजरने वाला व्यक्तित्व है। वह नित्यमुक्त नहीं है और जो अशुक्ल–अकृष्ण कर्म से मुक्त हो पाता है। इस तरह वे मानव (जीव) जिन्हें मुक्ति मिल गयी वे ईश्वर की सत्ता की तरह नित्य मुक्त नहीं हुआ करते हैं बल्कि वे बंधन ग्रस्त थे लेकिन जिन्हें अब मुक्ति मिली है। परंतु बहुत से मानव अभी मुक्त नहीं हो पाए हैं, जिन्हें क्लेश कर्म, विपांकादि से गुजरना है और मुक्ति के लिए प्रयास करते रहना है। अंत में उपजीव का व्यक्तित्व जो एक तरह से क्लेश, कर्म, विपाक, आशय से गुजर रहे हैं और मूलतः भोगते हुए अपने कर्माशय का क्षय करते हैं। इस तरह योग में आदर्श व्यक्तित्व नित्यमुक्त ईश्वर को ही माना जा सकता है। मानव जीव का व्यक्तित्व बद्ध एवं मुक्त दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। लेकिन उपजीव जिन्हें भोगते हुए विभिन्न योनियों को पार करते हुए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करना होता है और उच्चतर योनियों में आरोहन पथ पर चलना होता है।

जहां तक मानव जीव का प्रश्न है तो योग चित्त के गहन, सहज एवं अर्जित पहलुओं को जानने से प्रारंभ करता है और चित्त को नियंत्रित कर मानव को समाधि के लक्ष्य तक पहुंचा देता है। मानव की परिपूर्ण एकाग्रता समाधि में ही उपलब्ध होती है। जिसमें भौतिक व्यक्तित्व एवं मानसिक व्यक्तित्व आध्यात्मिक पृष्ठभूमि से नियंत्रित, निर्देशित एवं प्रकाशित रहता है। योग एक अनोखा समन्वय है जिसमें भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक, नैतिक, ज्ञानमीमांसीय पहलू का अद्भुत संगम है। जिसमें मनोविज्ञान के सर्वसाधारण एवं अतिसाधारण सैद्धांतिक पक्ष के साथ–साथ मनोपचार संबंधी संयमात्मक विशेषता भी निहित है।

आधुनिक मनोपचार–मनोविज्ञान में दो तरह के चलन अधिक प्रकट रूप में देखने को मिल रहे हैं– पहला मनोपचार के साथ–साथ मूल्यों (विशेषकर आध्यात्मिक मूल्यों का) को प्रोत्साहन दिया जा रहा है और दूसरा धर्म एवं मनोविज्ञान के सहयोगी पहलू को बढ़ावा दिया जा रहा है। इसमें संदेह नहीं योग इन दोनों ही चलन को भलिभांति पूरा करता है।

❀❀❀

सन्दर्भ –

1. सचदेवा, आई.पी.; योग एण्ड डेथ सायकॉलजी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1978.
2. वही, पृ. 13.
3. वही, पृ. 13.
4. वही, पृ. 13.
5. Freudian, Adlerian and Jungian New Psychology is rapidly moving towards and will merge in the very Ancient Psychology or Adhya-tma Vidya- and Metaphysics or A-atma Vidya- of Veda-nta.": दास, भगवान; एन्सिएण्ट सायकोसिन्थेसिस वर्सस मार्डन सायकोएनालइसिस, पृ. 222 (उद्धृत : योग एण्ड डेथ सायकॉलजी, पृ. 13.)
6. Psychology is slowly making its way to a discipline which might some day ally it to Yoga.": सोरोकिंग, पी.ए.; फॉर्म्स एण्ड टेकनीक ऑफ अल्ट्रस्टिक एण्ड स्प्रीच्युअल ग्रोथ, द बेकन प्रेस, बोस्टन, 1954 (उद्धृत : योग एण्ड डेथ सायकॉलजी, पृ. 13)
7. योग सूत्र (यो.सू.) I/3.
8. यो.सू. I/(12, 13, 14, 15, 16).
9. यो.सू. II/(28, 29).
10. यो.सू. II/1.
11. यो.सू. I/23.
12. यो.सू. II/33, 34.
13. यो.सू. I/33.
14. यो.सू. III/46.
15. दासगुप्त, एस.एन.; भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग–1, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1978, पृ.276.
16. टेमनी, आई.के.; द साइन्स ऑफ योग, द थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, मद्रास, 1949, पृ. 272.
17. युर्सटीन, जी.; द फिलॉसफी ऑफ क्लासिकल योग, सेन्ट मार्टिन्ज प्रेस, न्यूयार्क, 1980, पृ. 57–77.
18. शास्त्री, पी.एस.; योग दर्शन का मनोविज्ञान, भारतीय मनोविज्ञान, (सम्पादित), विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, 2007, पृ. 125.
19. यो.सू. I/2.
20. तत्त्ववैशारदी "क्लेशकर्मविपाकाशय परिपन्था चित्त वृत्ति निरोधः"
21. युर्सटीन, जी; द फिलॉसॉफी आफ क्लासिकल योग, पृ. 59.
22. यो.सू. II/18.
23. राधाकृष्णन, एस.; भारतीय दर्शन, भाग–2, राजपाल, दिल्ली, 1998, पृ. 228.
24. "...the mind being the locus of consciousness through which we 'know' and 'experience' ourselves and the world. Yoga offers an acute analysis of the role played by the mind in the act of cognition and accounts for the decisive influence that the psyche exerts over human perception, cognition, and behaviour, ethical or otherwise." fogpj, इयान; द इंटीग्रिटी ऑफ द योग दर्शन, डी.के. प्रिन्ट वर्ल्ड प्रा. लिमिटेड, नई दिल्ली, पृ. 89.
25. "बुद्धिर्मनसवहङ्कारः त्रिभिश्चित्तं प्रकीर्तितम्"–(ज्याख्य संहिता–31–6), उद्धृत : शुक्ला, नलिनी; पातंजल योगसूत्र का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन, शक्तियोग आश्रम, पृ. 8.
26. चित्त शब्देनान्तःकरणंबुद्धिमुपलक्षयति। (तत्त्ववैशारदी)
27. "The Yoga commentators, on the other hand, employ the term buddhi, antahkarana and citta rather indiscriminately", युर्सटीन, जी.; पूर्व उद्धृत, पृ. 58.
28. "...from the commentaries that citta generally denotes the entire mental machinery. It is an umbrella term comprising all the various functionings of the mind." युर्सटीन, जी.; पूर्व उद्धृत, पृ. 58.

29. "Citta means the three internal organs of sankhya, buddhi or intellect, ahankara or ego and manas or mind. Citta is the same as antahkarana. It is mahat or buddhi which includes ahankara and manas." शर्मा, चन्द्रधर; ए क्रिटीकल सर्वे ऑफ इंडियन फिलॉसफी, मोतीलाल बनारसी दास, 1987, पृ. 170.
30. बीसेन्ट, एनी; "Manas, Buddhi, Ahamkara are the three different sides of a triangle, which is called citta." (उद्धृत : योग एण्ड डेथ सायकॉलजी, पृ. 43)
31. बर्नार्ड, थियोस; These three aspects (i.e. Buddhi, Ahankara and manas) constitute the mind (citta) and whole. (उद्धृत– योग एण्ड डेथ सायकॉलजी, पृ. 43.)
32. राधाकृष्णन, एस.; भारतीय दर्शन, भाग–2, पृ. 231.
33. वही, पृ. 296.
34. "........I believe S. Radhakrishnan to be entirely wrong when conjecturing that citta is a synonymous of the Sankhya mahat." युर्सटीन, जी.; पूर्व उद्धृत, पृ. 59.
35. No where in the Yoga-Sutra is citta regarded as the first evolute of the world ground, and if it were thus considered, how could it possibly be said to entail the other categories listed by S. Radhakrishnan? युर्सटीन, जी.; पूर्व उद्धृत, पृ. 59.
36. युर्सटीन, जी; पूर्व उद्धृत, पृ. 59.
37. "In one sense citta is a comprehensive operational concept which embraces the function of the sensorium commune or manas, and on the other hand it is 'consciousness' as a non-structural concept, युर्सटीन, जी.; पूर्व उद्धृत, पृ. 59.
38. It is might be added that these three are not separate entities but constitute a functioning unit known as citta. सचदेवा, आई.पी.; योग एण्ड डेथ सायकॉलजी, पृ. 43.
39. राधाकृष्णन, एस.; भारतीय दर्शन, पूर्वोक्त, पृ. 297.
40. शुक्ला, नलिनी; पूर्व उद्धृत, पृ. 346. एवं यो.सू. प्ट/23
41. राधाकृष्णन, एस.; भारतीय दर्शन, पूर्वोक्त, पृ. 296.
42. वही, पृ. 297.
43. चित्तेर प्रति संक्रमायाः तदाकारापत्तौ स्वबुधि संवेदनम् – यो.सू. IV/22; शास्त्री, पी.एस., पूर्व उद्धृत, पृ.125.
44. "Thus the mind becomes consciousness of or is 'conscious of' objects and can know all purposes (i.e. the purpose of objects is to provide experience and liberation for each being and perceive all objects." वहीचर, इयान; द इंटीग्रिटी ऑफ द योग दर्शन, पृ. 92.
45. दासगुप्त, एस.एन.; भारतीय दर्शन का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ. 267–268
46. राधाकृष्णन, एस.; भारतीय दर्शन, पूर्वोक्त, पृ. 297.
47. वही, पृ. 297.
48. "It (manas) can come into contact with the several sense-organ at the same time. According to the Nyaya-vaishasikka school manas is eternal and atomic and can not come into contact with several senses simultaneously." शर्मा, चन्द्रधर; ए क्रिटीकल सर्वे ऑफ इंडियन फिलॉसफी, पूर्वोक्त, पृ. 160.
49. राधाकृष्णन, एस.; भारतीय दर्शन, पूर्वोक्त, पृ. 296.
50. "...firstly because Vacaspati's interpretation entails an unwarranted hypostatisation of citta, and secondly because an infinite, all-pervasive and hence omniscienent Karana, citta makes the concept of Purusa (self) superfluous", युर्सटीन, जी.; पूर्व उद्धृत, पृ. 61.
51. यो.सू. I/6.
52. रजनीश, ओशो; द अल्फा एण्ड द ओमेगा (अनुवाद), पृ. 53.
53. यो.सू. I/7.

54. यो.सू. I/8.
55. यो.सू. I/9.
56. यो.सू. I/10.
57. यो.सू. I/11.
58. यो.सू. II/3.
59. यो.सू. II/4.
60. यो.सू. II/5.
61. यो.सू. II/6.
62. यो.सू. II/7.
63. यो.सू. II/8.
64. यो.सू. II/9.
65. "क्षिप्तं मूढ़ं विक्षिप्तमेकाग्रं निरूद्धमिति चित्तभूमयः" – व्यासभाष्य (यो.सू. I/1); बंगाली बाबा, मोतीलाल बनारसी दास.
66. उपाध्याय, बलदेव; भारतीय दर्शन, चौखम्भा, ओरियान्टालिया, वाराणसी, 1984, पृ. 294.
67. गुप्ता, पवन कुमारी; पातंजल योग सूत्र : एक समालोचनात्मक अध्ययन, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1979, पृ. 50.

    "निरूद्धसकल वृत्तिकं संस्कारमात्रशेषचित्तं निरूद्धम्" – तत्त्ववैशारदी

    निरूद्धं च निरूद्धसकलवृत्तिकं संस्कारमात्रशेषमित्यर्थः – योगवार्तिक
68. सरस्वती, स्वामी सत्यानन्द; मुक्ति के चार सोपान, बिहार योग विद्यालय, मुंगेर, बिहार, 1994, पृ. 149.
69. दासगुप्त, एस.एन.; भारतीय दर्शन का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ. 268.
70. वही, पृ. 270.
71. राधाकृष्णन, एस.; भारतीय दर्शन, भाग–2, पृ. 298.
72. वही, पृ. 298.
73. यो.सू. IV/4.
74. यो.सू. IV/5.
75. शुक्ला, नलिनी; पूर्व उद्धृत, पृ. 302.
76. यो.सू. III/19.
77. यो.सू. III/16.
78. यो.सू. III/23.
79. यो.सू. III/18.
80. यो.सू. III/24.

3

सत्ता विषयक वेदान्तीय अन्वीक्षा

वेदान्त विमर्श

श्रीप्रकाश दुबे

"वेदान्त" शब्द का प्रयोग जब हम करते हैं तो वाच्यार्थ से ऐसा ध्वनित होता है कि वेद के अंत के बारे में कुछ कहा जा रहा है। वस्तुतः परम्परया वेद तो नित्य तथा शाश्वत माने गये हैं, अतः उनके अंत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। 'वेद' शब्द का अर्थ ज्ञान होता है। वेदों में ज्ञान–राशि का समावेश है। इस दृष्टि से भी वेदों का अंत नहीं हो सकता। ज्ञान का अंत नहीं– यह अनन्त है। प्रायः 'वेदांत' शब्द का अर्थ किया जाता है उपनिषद्, जिन्हें वैदिक वांग्मय के अंतिम अध्यायों के रूप में सामान्यतया पाया जाता है। परन्तु यहां भी एक भ्रान्ति है। सभी उपनिषद् वेदों के अंतिम अध्याय नहीं हैं। चारो वेदों के चारो भागों– संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्– में ये उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ ईशावास्य उपनिषद् यजुर्वेद संहिता का भाग है। मुण्डक उपनिषद् अथर्ववेद की संहिता के अंतर्गत आता है। इसी प्रकार छान्दोग्य तथा केन उपनिषद् सामवेद के तलवकार ब्राह्मण के अंश हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, शुक्ल यजुर्वेद के आरण्यक भाग के अंतर्गत आता है। अन्य बहुत से उपनिषद् वेदों के अंतिम अध्यायों में पाये जाते हैं। अतः वेदान्त का अर्थ उपनिषद् माना जाता है। उपनिषदों की संख्या 100 से भी अधिक है। ये पद्य, गद्य तथा मिश्रित रूप में भी मिलते हैं। आदि शंकराचार्य के भाष्य 11 उपनिषदों पर मिलते हैं और इन्हें प्रमुख उपनिषद् माना जाता है, जो निम्नलिखित हैं :–

1. ईशावास्य,	2. कठ,	3. केन,	4. प्रश्न,
5. मुण्डक,	6. माण्डूक्य,	7. तैत्तिरीय,	8. ऐतरेय,
9. श्वेताश्वतर,	10. छान्दोग्य,	11. बृहदारयण्क।	

इनमें से बृहदारण्यक तथा तैत्तिरीय उपनिषदों पर आचार्य के भाष्यों पर उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य ने वार्तिक लिखा है। इस कारण ये दो उपनिषद् बहुत ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

उपनिषदों पर आधारित दर्शन को वेदान्त दर्शन कहा जाता है। यह वैदिक दर्शनों के षट्दर्शनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। वैदिक दर्शनों में अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के नाम हैं– सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा पूर्व–मीमांसा। वेदान्त को उत्तर–मीमांसा भी कहा जाता है। पाराशर ऋषि के पुत्र बादरायण व्यास ने उपनिषदों को दृष्टि में रखकर वेदान्त–सूत्र की रचना की जिसमें 555 सूत्रों के माध्यम से वेदान्त–दर्शन का संक्षिप्त परिचय मिलता है। भारतीय परम्परा में यह एक ऐसा युग था जब लगभग सभी सम्प्रदायों ने अपने विपुल साहित्य को सूत्रों के रूप में प्रस्तुत किया। वेदान्त–सूत्र को ब्रह्मसूत्र तथा शारीरकसूत्र भी कहते हैं। ब्रह्मसूत्र इसलिए कहा जाता है कि वेदान्त का प्रमुख प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है और यह ग्रन्थ ब्रह्म की जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है– अथातो ब्रह्म जिज्ञासा। वेदान्त सूत्रों पर सर्वाधिक प्राचीन तथा उपलब्ध भाष्य आदि शंकराचार्य का ही है। स्वयं बादरायण अपने सूत्रों में अपने पूर्ववर्ती वेदान्त के सात आचार्यों का उल्लेख करते हैं, यथा, आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनि तथा बादरि। टंक,

---

सेवानिवृत्त आचार्य, दर्शन विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)

भर्तृप्रपंच, भर्तृमित्र, भर्तृहरि, ब्रह्मदत्त तथा बोधायन ब्रह्म–सूत्र के प्राचीन भाष्यकार रहे हैं परन्तु इनके भाष्य उपलब्ध नहीं हैं। वेदान्तसूत्र के प्रमुख भाष्यकार शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभाचार्य हैं। रामानन्द, श्रीकण्ठ, विज्ञानभिक्षु तथा बलदेव के भी इस पर भाष्य उपलब्ध हैं। डॉ. सर्वेपल्ली राधाकृष्णन् ने अंग्रेजी में वेदान्त–सूत्र पर भाष्य लिखा जो वर्ष 1960 में प्रकाशित हुआ। डॉ. भद्रेश दास ने स्वामिनारायण अक्षरधाम की परम्परा में वेदान्त–सूत्र पर संस्कृत में एक भाष्य लिखा है जिसे इस संस्थान ने 2009 में प्रकाशित किया है। 21वीं शताब्दी का वेदान्त–सूत्र पर यह प्रथम भाष्य है।

उपनिषद् तथा वेदान्त–सूत्र वेदान्त दर्शन के प्रस्थान माने जाते हैं। उपनिषदों को श्रुतिप्रस्थान या मूल–प्रस्थान कहा जाता है तथा वेदान्त–सूत्र को दर्शनप्रस्थान या न्यायप्रस्थान माना गया है। वेदान्त दर्शन का एक तृतीय प्रस्थान भी है जिसे हम स्मृति–प्रस्थान कहते हैं। यह ग्रन्थ है श्रीमद्भगवद्गीता जो महाभारत महाकाव्य के भीष्मपर्व का एक अंश है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन की यह प्रस्थानत्रयी है। प्रायः वेदान्त के दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक आचार्य इन तीनों प्रस्थानों पर भाष्य लिखकर आचार्यत्व प्राप्त करते हैं। कुछ सम्प्रदाय कुछ और ग्रन्थों को भी प्रस्थान मानते हैं। श्रीमद्भागवत को भी एक प्रस्थान माना गया है जिसके कारण वेदान्त का एक सम्प्रदाय (शुद्धाद्वैत) प्रस्थान–चतुष्टय स्वीकार करता है।

वेदान्त दर्शन में अद्वैत वेदान्त सर्वाधिक प्रसिद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय है। भारत के बाहर इसी दर्शन को हमारे देश का प्रायः प्रतिनिधि चिन्तन माना जाता है। अद्वैत वेदान्त आत्मा एवं परमात्मा अथवा जीव एवं ब्रह्म में भेद को आत्यंतिक नहीं मानता। कहा गया है– जीवो ब्रह्मैव नापरः। छान्दोग्य उपनिषद् का तत्त्वमसि महावाक्य इसका परिचायक है, जिसे आरुणि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को स्वर्ण–आभूषण तथा मिट्टी के बर्तनों जैसे उदाहरण देकर समझाया था। छान्दोग्य उपनिषद् में इस वाक्य की नौ बार आवृत्ति हुई है। इसलिए महावाक्यों में इसे सर्वाधिक महत्व दिया जाता है। यों तो उपनिषदों में महावाक्य अनेक हैं परन्तु चार महावाक्य अधिक महत्त्व प्राप्त किये हैं। उनमें से प्रत्येक महावाक्य एक–एक वेद का प्रतिनिधित्व करता है जिसे निम्नानुसार प्रदर्शित किया गया है :–

1. तत्त्वमसि (छान्दोग्य उपनिषद्), सामवेद
2. अहं ब्रह्मास्मि (बृहदारण्यक उपनिषद्), यजुर्वेद
3. प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐतरेय उपनिषद्), ऋग्वेद
4. अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य उपनिषद्), अथर्ववेद

शंकराचार्य भाग–त्याग अथवा जहत्–अजहत् लक्षणा के माध्यम से जीव तथा ब्रह्म में अभेद या अद्वैत सम्बन्ध स्थापित करते हैं। दोनों में ही चेतना उपस्थित है और यही चेतना अद्वैत का आधार है। यद्यपि परम चेतना या ब्रह्म को शब्दों अथवा भाषा के माध्यम से स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। इसलिए इसे अनिर्वचनीय भी कहते हैं। इसका निषेधात्मक कथन बृहदारण्यक उपनिषद् के नेति–नेति में मिलता है। परन्तु परम तत्त्व का भावात्मक वर्णन करने का भी प्रयास किया गया है, यथा – सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म या प्रज्ञानं ब्रह्म। इसे ही सच्चिदानन्द कहा जाता है। परन्तु सच्चिदानन्द भी प्रकारान्तर से निषेधात्मक कथन ही है क्योंकि ब्रह्म असत् नहीं है

इसलिए उसे सत् होना चाहिए, वह अचित् नहीं है इसलिए उसे चित् होना चाहिए तथा वह दुःखपूर्ण नहीं है इसलिए उसका स्वरूप आनन्दमय होना चाहिए। सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। ब्रह्म का एक तटस्थ लक्षण भी है जिसे तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया गया है– "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ...."। ब्रह्म इस जगत् का सृष्टिकर्ता है, इसका पालनकर्ता है तथा इसका संहार भी करता है। इसे ही संक्षेप में 'तज्जलान्' कहा गया है। यह इसका तटस्थ लक्षण है। वस्तुतः परब्रह्म जब ऐसे कार्यों को सम्पादित करता है तो वह ईश्वर कहलाता है और माया के सहयोग से वह सृष्टि इत्यादि करता है। यह माया भी अनिर्वचनीय कहलाती है क्योंकि इसे न तो सत् कहा जा सकता है और न ही असत् न ही उभय। वेदान्त में सत् की परिभाषा है जो तीनों कालों में बाधित न हो– त्रिकालाबाधित्वं सत्। जीव को ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर इस माया का भी उसके लिए नाश हो जाता है। जो जगत् दिखाई पड़ रहा है वह भी ब्रह्मदर्शी के लिए मिथ्या हो जाता है। इसीलिए कहा गया है– ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या।

उपनिषदों की धारणा है कि तत्त्वज्ञान की परिणति अनुभव में होती है। इसी अर्थ में 'वेदान्त' शब्द की भी सार्थकता है। वेद या ज्ञान का पर्यवसान अनुभूति में होता है– अनुभवावसानत्वात् ब्रह्मज्ञानस्य। ब्रह्मज्ञान की परिणति अनुभव में ही होनी चाहिए। वेद का अंत अथवा लक्ष्य ब्रह्मानुभूति है, यही मोक्ष है। हम माया अथवा अविद्या के कारण अपने वास्तविक स्वरूप को समझ नहीं पाते इसलिए अपने को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं, वस्तुतः हम भिन्न नहीं हैं। इसे वेदान्त दर्शन में 'दशमस्त्वमसि' (वेदान्त परिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद) के आख्यान से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। किसी गुरुकुल के दस विद्यार्थी एक साथ कहीं पास के गांव में भिक्षाटन के लिए जा रहे थे। प्रस्थान के समय गुरु ने उनको गिनकर भेजा। वे दस थे। रास्ते में एक नाला था जिसे वे पारकर अपने को पुनः गिनने लगे, इस आशंका का समाधान करने के लिए कि कहीं उनमें से कोई डूब तो नहीं गया। प्रत्येक अन्तेवासी अपने मित्रों को गिनता था और अपने को छोड़ देता था। सभी ने यही प्रक्रिया अपनाई और अंत में सब रोने लगे कि उनका एक मित्र नाले के प्रवाह में बह गया। उनका रोना देखकर पास से गुजरते हुए एक साधु ने उनसे रोने का कारण पूछा और तथ्य जान लिया। उसने सभी को एक पंक्ति में खड़ा किया और अपनी छड़ी से ठोंकता हुआ गिनती प्रारम्भ किया और दसवें स्नातक के पास जाकर के कहा : तुम दसवें हो– 'दशमस्त्वमसि'। यही वेदान्त की आत्मानुभूति या प्रत्यभिज्ञान है। यह वस्तुतः किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं है, यह 'प्राप्तस्य प्राप्तिः' है।

शंकराचार्य अपने अद्वैत दर्शन को उपनिषद् के वाक्यों के संकलन द्वारा स्थापित करते हैं– वेदान्तवाक्य कुसुम ग्रथनार्थत्वात्। जैसे फूलों की माला बनाई जाती है उसी तरह से उपनिषद् के वाक्यों को वे चुनकर अद्वैत तत्त्व की स्थापना करते हैं। वेदान्त–सूत्र के समन्वयाधिकरण में वे यह भी दिखाते हैं कि वेदान्त वाक्यों में वस्तुतः विरोध नहीं है, वास्तविकता में उनमें एकवाक्यता है। अपने सिद्धान्त को स्थापित करने के लिए आचार्य ने अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों का खण्डन भी किया है जिनमें सांख्य दर्शन का द्वैतवाद प्रमुख है। सांख्य को वेदान्त का प्रधान मल्ल कहा गया है। सदानन्द रचित वेदान्त–सार अद्वैत वेदान्त को सरल एवं संक्षेप में प्रस्तुत करने का सुन्दर प्रयास है।

अद्वैत वेदान्त के अध्ययन के लिए आचार्य शंकर ने कुछ अपेक्षायें बताई हैं जिन्हें साधनचतुष्टय कहा जाता है। ये हैं– विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति एवं मुमुक्षत्व। यों भी उपनिषद् दर्शन इतना मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण है कि सभी को इसके अध्ययन की पात्रता नहीं होती। उपनिषद् की परम्परा में ज्येष्ठ पुत्र अथवा प्रिय शिष्य को ही यह ज्ञान प्रदान किया जाता है। इस ज्ञान की तुलना में विश्व की सारी सम्पत्ति निरर्थक है। आत्म–ज्ञान के लिए ही नचिकेता यमराज के सारे प्रलोभनों से रीझता नहीं है और उनसे आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करता है। कठोपनिषद् का यह आख्यान भगवद्गीता में भी प्रकारान्तर से उपलब्ध है। श्रीकृष्ण अर्जुन को आत्मा के बारे में बताते हैं कि यह शस्त्रों से काटा नहीं जा सकता, इसे आग जला नहीं सकती, हवा इसको बहा नहीं सकती, इत्यादि। जैसे हम अपने वस्त्र बदलते हैं उसी प्रकार यह आत्मा शरीर बदलती है। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में मैत्रेयी याज्ञवल्क्य की आधी सम्पत्ति लेना स्वीकार नहीं करती। वह तो अपने पति से उनके आत्मज्ञान की सम्पदा में से आधा पाना चाहती है जिसे पाकर व्यक्ति मृत्यु से परे हो जाता है, अमर हो जाता है। यही आत्मज्ञान पराविद्या है– विद्ययाऽमृतमश्नुते। यह विद्या आनुभूतिक है, अनिर्वचनीय है। जो निर्वचन या व्याख्यान शास्त्रों में मिलता है वह तो वस्तुतः अविद्या है– वाचारम्भण विकार (छान्दोग्य उपनिषद्, VI.1.5) है, नामधेय है। परमतत्व तो मन और वाणी से परे है– यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। हमारा शास्त्रीय ज्ञान सीमित है। नारद– सनत्कुमार आख्यान में छान्दोग्य उपनिषद् स्पष्ट रूप से कहता है कि जो कुछ भी दृश्य है वह अल्प है और जो भी अल्प है वह नाशवान है। सच्चा आनन्द तो अनन्त अथवा भूमा में ही है– यो वै भूमा तत्सुखम्।

अद्वैत दर्शन को सबसे पहले व्यवस्थित रूप शंकराचार्य के परम गुरु गौड़पाद ने दिया है। उन्होंने माण्डूक्य उपनिषद् को आधार बनाकर आगमशास्त्र या माण्डूक्यकारिका में चेतना के चार स्तरों की व्याख्या की है। ये चार स्तर हैं– जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय। इनमें से प्रथम तीन स्तर एक दूसरे का परस्पर निषेध करते हैं। तुरीयावस्था का निषेध सम्भव नहीं। आचार्य शंकर ने गौड़पादकारिका पर स्वयं भाष्य लिखा है।

शांकरोत्तर अद्वैत वेदान्तियों में वाचस्पति मिश्र, सुरेश्वर, चित्सुख, मधुसूदन सरस्वती इत्यादि प्रमुख हैं। भारत के बाहर अद्वैत वेदान्त को भेजने का श्रेय मुगल शाहजादा दाराशिकोह को जाता है जिसके द्वारा फारसी भाषा में किये गये उपनिषदों के अनुवाद लैटिन में अनूदित हुए तथा यूरोप के लोग उनसे सुपरिचित हुए। स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका में वेदान्त दर्शन का बहुत ही सशक्त ढंग से प्रचार–प्रसार किया। इनकी मान्यता है कि वेदान्त में ही विश्वधर्म होने के सर्वाधिक गुण मिलते हैं। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने 20वीं शताब्दी में अद्वैत वेदान्त के प्रचार–प्रसार में योगदान दिया। आज पूरे विश्व में वेदान्त दर्शन का प्रमुख स्थान है। इसको महत्त्व दिलाने में अमेरिका में हमारे मित्र डॉ. एस.एस. रामा राव पप्पू का भी योगदान है जो वेदान्त पर प्रतिवर्ष विश्व के विभिन्न देशों में परिषदों का आयोजन करते हैं। वर्ष 2010 की जुलाई में उन्होंने 19वीं अन्तर्राष्ट्रीय वेदान्त महासभा का आयोजन मेसाचुसेट्स विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका) में किया था।

अद्वैत वेदान्त के अतिरिक्त, जैसा कि ऊपर कहा गया है, कुछ अन्य वेदान्त के सम्प्रदाय भी महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत वेदान्त बहुत ही श्रेष्ठ है। रामानुज ने वेदान्त–सूत्र पर जो भाष्य लिखा है उसे श्रीभाष्य कहते हैं। इसमें ब्रह्म को निर्गुण न मानकर सगुण माना गया है और जीव को उसका अंश। ब्रह्म और जीव में अंशी और अंश का सम्बन्ध है। ईश्वर की भक्ति से जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। रामानुज के अनुसार जगत् भी मिथ्या नहीं है। उन्होंने आचार्य शंकर के मायावाद का खण्डन किया है। मध्वाचार्य का द्वैतवाद ब्रह्म और जीव में आत्यंतिक भेद मानता है। जीव और जगत् में भी भेद है। सभी जीव परस्पर भिन्न हैं। ईश्वर की कृपा से जीव को मोक्ष मिलता है। वेदान्त में ब्रह्म के प्रायः तीन कार्य माने गये हैं– सृष्टि, स्थिति तथा संहार। द्वैत वेदान्त के आचार्य मध्व के अनुसार ब्रह्म के आठ कार्य हैं– सृष्टि, स्थिति, संहार, नियम, अज्ञान, बोधन, बंध और मोक्ष। (दाक्षिणात्य शैव दर्शन में पंचकर्म– सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान तथा अनुग्रह– स्वीकार किया गया है)। इसी प्रकार वेदान्त के अन्य सम्प्रदाय भी ईश्वर और जीव में भेद मानते हैं तथा जगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार भक्ति और प्रपत्ति मोक्ष के प्रमुख साधन हैं। चैतन्य महाप्रभु तो भक्ति को पुरुषार्थ (पंचम) मानते हैं।

वेदान्त का एक अति नवीन सम्प्रदाय रसाद्वैत कहा जा सकता है जिसका प्रारंभ गोरखपुर में हुआ। इसके पुरस्कर्ता श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार (1892–1971) हैं जिनका अधिकांश समय गीता प्रेस की सेवा में बीता। इन्हें लोग प्रेम से भाई जी कहते थे। इन्हें आधुनिक चैतन्य भी कहा जाता है। ये 1928 से जीवन के अंतिम समय तक गोरखपुर में ही रहे। इनके राधामाधव सम्प्रदाय या रसाद्वैत के अनुसार दिव्य प्रेम की उच्च अवस्था में प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद अलग–अलग न रहकर एक ही तत्त्व के लीला रसास्वादनार्थ अलग रूप में दिखाई देते हैं। इसी स्थिति को रसाद्वैत कहते हैं। यह द्वैत का अद्वैत रूप है। यहां मुक्ति भक्ति से ही संभव है। पोद्दार जी के दो ग्रन्थ इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं– श्री राधामाधव चिन्तन (सं. 2063) तथा पदरत्नाकर (सं. 2061)।

शांकर वेदान्त में तत्त्व-विवेचन

द्वारकानाथ

शाश्वत सत्य का मार्ग खोज निकालने वालों में शंकर का स्थान बहुत ही ऊँचा है। उनका स्थान विश्व के सर्वोच्च दार्शनिकों में है। उनके जीवन की उपलब्धियाँ इतनी विलक्षण हैं कि उन्हें चमत्कारपूर्ण ही कहा जा सकता है। उनकी गणना उन महान् विभूतियों में की जाती है जिन्होंने अपने ज्वलन्त जीवन द्वारा अति अल्पकाल में तत्कालीन चिन्तन और संस्कृति की धारा ही बदल दी। वे अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न महापुरुष थे। दार्शनिक सूक्ष्म दृष्टि, रहस्यवादी आध्यात्मिकता, तर्कपटुता, असाधारण विद्वता, धार्मिक पवित्रता तथा सर्वातिशायी विवेक और वैराग्य की वे मूर्ति थे। वैदिक धर्म की सुदीर्घ परम्परा को पुनः स्थापित करने का उनका अवदान आगे आने वाली शताब्दियों तक स्मरण किया जायेगा।

आचार्य शंकर की दृष्टि से मनुष्य एक प्रकार की विशिष्टता से सम्पन्न प्राणी है, जिसका यदि संवर्धन किया जाय तो उसमें एक उत्कर्षता आ जाएगी। इस विशिष्टता की व्याख्या शंकर ने कर्म (संकल्पपूर्वक किया गया कार्य) और ज्ञान की उसकी पात्रता के रूप में की है। अपने मंतव्य की पुष्टि में एक श्रुति वाक्य उद्धृत किया गया है– "आत्मा का विस्तार केवल मनुष्य में होता है। बुद्धि की विभूति वस्तुतः उसे ही सबसे अधिक मात्रा में प्राप्त हुई है। उसे जो ज्ञान होता है उसका वह प्रकाश करता है। वह जो जानता है उसे देख लेता है। वह जान सकता है कि क्या होने वाला है। वह दृश्य और अदृश्य दोनों ही जगत् को जान सकता है। वह मर्त्य के माध्यम से अमर्त्य का अनुभव करता है। उसे इतना कुछ प्राप्त है। किन्तु अन्य अवर प्राणियों का ज्ञान खाने और पीने मात्र तक सीमित रह जाता है।"[1] विवेक द्वारा सत्य को देख और पहचान सकने की इस विशिष्ट सामर्थ्य के कारण ही मनुष्य शाश्वत सत्य की खोज करता है और अन्त में उसे प्राप्त करने में समर्थ होता है।

भारत में जितने दर्शनों का विकास हुआ, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण दर्शन वेदान्त को ही माना जाता है। वेदान्त के जितने सम्प्रदाय हैं, उनमें सबसे प्रधान शंकर का अद्वैत दर्शन कहा जाता है। वेदान्त दर्शन के सभी सम्प्रदायों में दार्शनिक दृष्टि से शंकराचार्य का अद्वैतवाद इतना प्रसिद्ध हुआ कि प्रायः वही वेदान्त दर्शन का पर्यायवाची बन गया। डॉ. दासगुप्ता ने कहा है "शंकर के द्वारा प्रस्थापित दर्शन का प्रभाव इतना व्यापक है कि जब भी हम वेदान्त दर्शन की चर्चा करते हैं तो हमारा तात्पर्य उस दर्शन से होता है जो शंकर द्वारा मंडित किया गया है।"[2] शंकराचार्य के अनुयायियों जैसे आचार्य सुरेश्वर, माधवाचार्य, मधुसूदन सरस्वती ने यह दिखाने का प्रयास किया कि भारतीय दर्शन के अन्तर्गत जितने भी चिन्तन हैं (चार्वाक से मीमांसा तक) सभी अन्ततः ही अद्वैत वेदान्त की ओर ले जाते हैं। यानी भारतीय दर्शन के जो विभिन्न संप्रदाय हैं उनका क्रम एक सीढ़ी की तरह है और जो अन्तिम सीढ़ी है वह अद्वैत वेदान्त है। इसका तात्पर्य यह है कि अद्वैत वेदान्त का किसी भी दार्शनिक संप्रदाय के साथ कोई आत्यन्तिक विरोध नहीं है बल्कि सभी विचारधारायें जाकर उसमें समाहित हो जाती हैं (सर्ववादानवसर नानावादानुरोधितद्)।

दर्शन विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ.प्र.)

अद्वैत दर्शन उपनिषद् से प्रारम्भ हुआ और शंकर–पूर्व के कुछ आचार्यों के नामों का भी उल्लेख मिलता है किन्तु परम्परा ने आचार्य शंकर को अद्वैत वेदान्त के सबसे प्रामाणिक व्याख्याता के रूप में स्वीकार किया है। शंकराचार्य ने युक्तियुक्त रूप से प्रतिपादित किया है कि अद्वैत ही उपनिषदों का दर्शन है और अद्वैत द्वारा ही श्रुतियों की एकवाक्यता सिद्ध की जा सकती है। इस औपनिषद् अद्वैत दर्शन को गौड़पादाचार्य ने अपनी कारिका में व्यवस्थित रूप दिया और इसका चरम उत्कर्ष शंकराचार्य के भाष्यों में हुआ।

वेदान्त दर्शन का अर्थ है वह दर्शन जो कि वेदों के अन्त में आता है। वेदों के अन्त में उपनिषद् आता है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन का अर्थ है वह दर्शन जो उपनिषदों पर आधारित हो। वेदान्त दर्शन के दूसरे अर्थ के अनुसार वेद का अर्थ होता है 'जानना' और 'अन्त' का अर्थ है पराकाष्ठा यानी जो वेदों की पराकाष्ठा है या जो वैदिक चिन्तन का निचोड़ है, वह वेदान्त दर्शन है। वेदान्त दर्शन के तीसरे अर्थ के अनुसार 'अन्त' शब्द जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य की ओर संकेत करता है इसलिए जो दर्शन मानव जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य का ज्ञान प्रदान करता हो, वही वेदान्त दर्शन है।

वेदान्त दर्शन का आधार उपनिषद् कहा जाता है। उपनिषदों की साहित्य राशि बहुत विशाल है। यद्यपि उपनिषद् साहित्य उच्चकोटि का दार्शनिक साहित्य है लेकिन उसका दार्शनिक चितन क्रमबद्ध या व्यवस्थित चिन्तन नहीं है। तत्त्व के सम्बन्ध में, जगत् और आत्मा के सम्बन्ध में तथा अन्य दार्शनिक विषयों के सम्बन्ध में विभिन्न तरह के दार्शनिक विचार विभिन्न उपनिषदों में उपलबध हैं। बादरायण नामक ऋषि ने सबसे पहले इस बात की आवश्यकता अनुभव किया कि समस्त औपनिषदिक चिन्तन को एक जगह संक्षिप्त किन्तु व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जाय। इस उद्देश्य से उन्होंने ब्रह्मसूत्र की रचना की जिसे वेदान्त भी कहा जाता है। इन सूत्रों में उन्होंने औपनिषदिक दर्शन को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में सूत्रों के रूप में प्रस्तुत किया। इससे औपनिषदिक चिन्तन एक ग्रन्थ के अन्तर्गत समाहित हो गया। विभिन्न आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे जिसके परिणामस्वरूप एक विशाल वेदान्त साहित्य की रचना हुई जो वेदान्त दर्शन के नाम से जाना जाता है। आचार्य शंकर ने वेदान्त को जिस रूप में प्रस्तुत किया उसे अद्वैत वेदान्त के नाम से जाना जाता है।

अद्वैत वेदान्त शुद्ध ब्रह्मवादी दर्शन है। लेकिन उसी के साथ–साथ वह एक वस्तुवादी दर्शन भी है। जगत् की अनेकता यद्यपि मिथ्या है, अवास्तविक है तथापि एक सीमा तक वह भी वास्तविक है। शंकराचार्य ने व्यवहार और परमार्थ में भेद किया है और उनकी व्यावहारिक दृष्टि में सभी दृष्टियों को आदर प्राप्त है लेकिन वे उससे भी आगे जाते हैं और अन्ततः उसको मिथ्या मानते हैं और ब्रह्म या आत्मा की सत्ता में विश्वास करते हैं।

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के तीन आधार हैं जिसे प्रस्थानत्रयी कहा गया है। ये हैं – (1) उपनिषद् (2) ब्रह्मसूत्र और (3) भगवद्गीता। उपनिषद् को श्रुति प्रस्थान, ब्रह्मसूत्र को न्याय प्रस्थान और गीता को स्मृति प्रस्थान कहा जाता है। शंकराचार्य ने इन तीनों पर भाष्य लिखे हैं। ये ही वेदान्त दर्शन के मूलाधार हैं। इनके भाष्य और 'उपदेश लहरी' तथा 'विवेक चूड़ामणि' जैसे वेदान्त के प्रकरण ग्रन्थ शंकर की प्रमुख रचनाएँ हैं। तत्त्व का विवेचन शंकराचार्य दो विधियों से करते हैं – (1) तत्पदार्थ शोधन द्वारा (2) त्वंपदार्थ शोधन द्वारा।

(1) तत्पदार्थ शोधन – 'तत्' का अर्थ है वह जो हमारे सामने है यानी वस्तु जगत्। हम जिस जगत् को देखते हैं वह अनेकता या विषमता का जगत् है। सामान्य दृष्टिकोण (अदार्शनिक या प्राकृतिक दृष्टिकोण) इनके सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं उठाता है बल्कि जो प्रदत्त स्वरूप है उसे वह ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेता है। सामान्य दृष्टिकोण यह विचार भी नहीं करता कि जो प्रस्तुत है वह ऐसा होने के अतिरिक्त भी कुछ और होगा। दार्शनिक जिज्ञासा इस तरह की स्वीकृति से प्रारम्भ नहीं होती बल्कि वह यह प्रश्न करती है कि क्या जो प्रदत्त है वह ठीक वैसा ही है जैसा प्रदत्त है। दार्शनिक जिज्ञासा इस सन्देह से प्रारम्भ होती है कि यह प्रतीत रूप उसका वास्तविक रूप नहीं है बल्कि इस प्रतीति के पीछे कोई ऐसा तत्त्व हो सकता है जो उनमें प्रतीत हो रहा है। यह जगत् की अनेकता अपने आप में वास्तविक नहीं है बल्कि एक मूलभूत तत्त्व उस अनेकता में अपने को अभिव्यक्त कर रही है। यह तत्पदार्थ शोधन की जिज्ञासा है। शंकराचार्य प्रथम विधि से 'तत्' यानी वस्तु के स्वरूप को निर्धारित करना चाहते हैं। तत्पदार्थ शोधन की जिज्ञासा ब्रह्म तक ले जाती है।

(2) त्वंपदार्थ शोधन – शंकराचार्य द्वितीय विधि के द्वारा 'व्यक्ति' के स्वरूप को तत्त्वतः निर्धारित करना चाहते हैं। हमारा यह व्यक्तित्व जो जाग्रतावस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्ता में विभिन्न रूप धारण कर लेता है, उसकी वास्तविकता क्या है। त्वं पदार्थ शोधन के द्वारा आत्मा की सत्ता प्रमाणित होती है।

शंकराचार्य की यह विशेषता है कि वे अपने तत्त्व के विवेचन में इन दो प्रणालियों का उपयोग करते हैं। पाश्चात्य दर्शन में किसी एक दार्शनिक में ऐसी प्रणालियों का प्रयोग देखने को नहीं मिलता है। दोनो तरह की जिज्ञासा एक ही बिन्दु पर लाती है। शंकराचार्य के अनुसार तत्त्व एक है ब्रह्म या आत्मा।

प्रश्न यह उठता है कि वह कौन सा लक्षण है जिसको देखने पर हम यह कह सकते हैं कि यह तत्त्व है, यह सत् है और इसके अभाव में वस्तु को सत् नहीं कहा जा सकता। इस मानदण्ड को निर्धारित करते हुए शंकराचार्य कहते हैं –

यूद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरेति तत्सत्यम्।
यद्रूपेण निश्चितं यत् तद्रूपं व्यभिचारेद् अनृतमिति उच्यते।।[3]

अर्थात् किसी रूप के द्वारा कोई वस्तु जिस रूप में निश्चित की गई है उस रूप में कोई व्यभिचार या परिवर्तन नहीं होता तो वह सत् है। इसके विपरीत यदि जिस रूप के द्वारा वह वस्तु निश्चित या परिभाषित की गई है, उसमें परिवर्तन होता है तो उसको अनृत या असत् कहते हैं।

यहाँ पर शंकराचार्य हमें सत् और असत् की एक कसौटी प्रदान कर रहे हैं वह है – वस्तु के रूप की अपरिवर्तनशीलता। तत्त्पदार्थ और त्वंपदार्थ के ऊपर शंकराचार्य इसी कसौटी का प्रयोग करते हैं और इसके द्वारा उसके तत्त्वरूप को निर्धारित करते हैं।

तत्पदार्थ शोधन की विधि के द्वारा शंकराचार्य वस्तुजगत् का विश्लेषण करते हैं। तत्पदार्थ शोधन समष्टि का विश्लेषण है। हम देखते हैं कि यह संसार अनेक विशेष पदार्थों का संसार है। ये पदार्थ निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं। वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, फिर नष्ट हो जाती हैं। परिवर्तनशीलता वस्तुजगत् के पदार्थों का लक्षण है। इसलिए उनके सम्बन्ध में कहा जा सकता

है कि अपने इस परिवर्तनशील रूप में यह वस्तुजगत् के पदार्थ वास्तविक नहीं हैं। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि यदि ये वास्तविक नहीं है तो इनका प्रत्यक्ष कैसे होता है? क्योंकि असत् वस्तु तो प्रतीत नहीं हो सकती जैसे बन्ध्यापुत्र, आकाश कमल इत्यादि। ये असत् वस्तुएँ हैं और इसी नाते इनकी प्रतीति नहीं होती है। इस प्रकार जो नितान्त असत् है, जिसकी किसी भी रूप में कोई वास्तविकता नहीं है उसकी प्रतीति ही नहीं हो सकती। लेकिन वस्तुओं की प्रतीति तो हो रही है। इससे यह लगता है कि वस्तुओं के मूलाधार में कोई तत्त्व अवश्य है जो उनकी प्रतीति या प्रत्यक्ष को संभव बना रही है। यहाँ तक कि जो प्रतीतियाँ स्पष्टतः भ्रामक होती हैं जैसे रस्सी में साँप की प्रतीति, उन प्रतीतियों के अधिष्ठान में भी एक वास्तविकता होती है। जैसे– 'यह साँप है।' एक भ्रामक प्रतीति है लेकिन इस भ्रम के मूल में 'यह' (रस्सी) की सत्ता है जिसके नाते साँप की प्रतीति होती है। जब सामान्य भ्रामक प्रतीतियाँ भी किसी वास्तविक के नाते ही संभव होती हैं तो वस्तुजगत् के सम्बन्ध में वे और भी विश्वसनीय है कि उनकी प्रतीति भी निराधार नहीं हो सकती। तब प्रश्न उठता है कि उनकी प्रतीति का आधार क्या है ?

शंकराचार्य के अनुसार उनकी सत्ता का आधार शुद्ध सत्ता है। शुद्ध सत्ता ही वस्तुजगत् के रूप में प्रतीति होती है। वस्तुएँ अपना रूप बदलती है अर्थात् एक वस्तु का रूप दूसरा हो जाता है लेकिन उसके हर परिवर्तन में जो बात सामान्य रूप से विद्यमान रहती है वह है सत्ता जैसे कोई मेज है उसका एक रूप रंग है उसमें परिवर्तन होता है यदि मेज चौकोर और लाल रंग की थी तो वह गोल और काले रंग की हो गई इत्यादि। परिवर्तन केवल मेज के स्वरूप में हो रहा है लेकिन मेज हमेशा विद्यमान रहती है यानी हर रूप में सत्ता सर्वगत होती है। परिवर्तन केवल रूप में हो रहा है लेकिन सत्ता में कोई परिवर्तन नहीं होता। हम किसी भी दशा में यह नहीं कह सकते कि मेज की सत्ता का अभाव था। अभाव विशेष रूप में हो सकता है लेकिन स्वतः मेज की सत्ता का अभाव नहीं हो सकता। इस प्रकार सत्ता अखंडित, अपरिवर्तनीय है। सत्ता निर्विकार रूप में है। इस प्रकार यह जो नानारूपात्मक जगत् है उसके मूल में एक निर्विकार, निर्विशेष, निर्गुण सत्ता निहित है जिसके नाते ही हम वस्तुओं में होने वाले परिवर्तनों की कोई अवधारणा कर सकते हैं।

इस प्रकार यह सत्ता शुद्ध सत्ता है। इसमें कोई विकार नहीं है। यह निर्विकार है। शुद्ध सत्ता स्वयंप्रकाश है। जड़ या अचेतन वस्तुएँ अपने को प्रकाशित नहीं करती। स्वयंप्रकाश का अर्थ है कि वह किसी तर्क या प्रमाण की अपेक्षा नहीं करता। वह स्वयंसिद्ध है। चूंकि शुद्ध सत्ता अबाधित सत्ता है, इसी नाते वह स्वयंसिद्ध और स्वयं प्रकाश भी है। असत् वस्तुएँ अपने को प्रकाशित नहीं करती जैसे बन्ध्यापुत्र और भ्रामक वस्तुएँ प्रकाशित होते हुए भी बाधित हो जाती हैं जैसे रस्सी में साँप का भ्रम। लेकिन समस्त प्रतीतियों में जो सर्वगत अस्तित्व है बाधित नहीं होता। अतएव उसकी सत्ता को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। वह एक अबाधित स्वयंसिद्ध सत्य के रूप सदैव विद्यमान रहता है। इस प्रकार शुद्ध सत्ता के दो रूप हैं (1) वह वास्तविक है और (2) वह चेतन है। स्वयंप्रकाशता या स्वयंसिद्धता चेतन का लक्षण है, अचेतन का नहीं। सत्ता बोधस्वरूप या ज्ञान स्वरूप है। वह होती है और होने के साथ-साथ अपने को प्रकाशित करती है। यही सत्ता ब्रह्म है।

त्वंपदार्थ शोधन व्यष्टि का विश्लेषण है। व्यष्टि के मूल में क्या है? हमारे व्यक्तित्व की तीन दशायें हैं जिससे हमें विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं – (1) जाग्रतावस्था (2) स्वप्नावस्था (3) सुषुप्तावस्था।

जाग्रतावस्था में हम वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं। वे हमारे समक्ष हमसे भिन्न रूप में अवस्थित होती हैं। स्वप्नावस्था में हमारी अनुभूतियाँ वास्तविक वाह्य पदार्थों के सम्पर्क के नाते नहीं होती बल्कि हमारी अनुभूतियाँ हमारे द्वारा ही निर्मित वस्तु जगत् में स्थित पदाथों के सम्पर्क से उत्पन्न होती है। स्वप्नजगत् की अनुभूतियों का स्वरूप जागृत अवस्था के जगत् से भिन्न होती है और सुषुप्तावस्था में हम किसी भी पदार्थों के विषयों की अनुभूति नहीं करते।

प्रश्न यह उठता है कि क्या यह जो जाग्रत, स्वाप्निक और सुषुप्तावस्था की तीन अनुभूतियाँ हैं, इन तीनों अनुभूतियों के अनुभवकर्ता अलग–अलग हैं। इस पर बौद्ध जैसे अनात्मवादी और ह्यूम जैसे मनोवैज्ञानिक का उत्तर होगा कि जितनी अनुभतियाँ हैं उतने अनुभूतिकर्ता हैं क्योंकि अनुभूतियों की कोई एकता नहीं हैं। लेकिन शंकराचार्य कहते हैं कि यदि हम ऐसा मान लें तो हमारे अनुभव की सारी सार्थकता समाप्त हो जायेगी। हमारा अनुभव (ज्ञान) एक समग्रता है और हम प्रत्यक्षतः देखते हैं कि जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त तीनों अवस्थाओं में अनुभूति करने वाला व्यक्ति यह जानता है कि उसने इन तीनों अवस्थाओं की अनुभूति की है। जैसे मैं कहता हूँ कि मैंने इन वस्तुओं का प्रत्यक्ष किया। स्वाप्निक अवस्था से जाग्रतावस्था में आने के बाद मैं कहता हूँ कि मैंने यह स्वप्न देखा और सुषुप्तावस्था से जाग्रतावस्था में आने के बाद कहता हूँ कि मैं अच्छी तरह नहीं सोया। यदि कोई आत्मा की एकता नहीं होती तो मेरे लिए संभव नहीं था कि सुषुप्ति या स्वप्नावस्था से आने के बाद जाग्रतावस्था में आकर भी उन सुषुप्ति और स्वाप्निक अवस्था की अनुभूति को अपनी अनुभूति के रूप में धारण करता लेकिन हम अपने सामान्य अनुभव में पाते हैं कि सत्ता एक अटूट इकाई है। हमारी अनुभूतियों या संवेदनाओं के रूप बदलते हैं लेकिन अनुभूतिकर्ता के रूप में मैं हमेशा विद्यमान रहता हूँ। इस प्रकार व्यष्टि का विश्लेषण करके एक चेतन तत्त्व को हमारे समक्ष उपस्थित करता है जो मन, शरीर, इन्द्रियाँ नहीं है। यदि चेतना को निकाल दिया जाय तो हमारा व्यक्तित्व एकीकृत व्यक्तित्व के रूप में नहीं रह जाएगा। यह चेतना सत्तावान है क्योंकि यह हमेशा विद्यमान रहती है। यही चेतन तत्त्व हमारा वास्तविक स्वरूप है।

इस प्रकार शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म और आत्मा दो तत्त्व नहीं हैं। सत्ता चेतना है और चेतना सत्ता है। तत्पदार्थ शोधन से वे ब्रह्म को प्राप्त करते हैं और त्वंपदार्थ शोधन से वे आत्मा को प्राप्त करते हैं। ब्रह्म और आत्मा दोनों एक तत्त्व है। आत्मा ही ब्रह्म है।[4]

आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य उपनिषदों के ऋषियों की महान देन है। विषयि और विषय, प्रमाता और प्रमेय दोनों में एक ही तत्त्व प्रकाशित हो रहा है जो दोनों में अन्तर्यामी है और दोनों के पारगामी भी है। जीव में जो शुद्ध चैतन्य प्रकाशित हो रहा है वही ब्रह्म रूप से समस्त वाह्य जगत् में भी व्याप्त है। अखण्डचिदानन्दस्वरूप परम तत्त्व को आत्मा या ब्रह्म कहते हैं। आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि से भिन्न है। वह शुद्ध चैतन्य है और समस्त ज्ञान तथा अनुभव का अधिष्ठान है, वह स्वतः सिद्ध तथा स्वप्रकाश है। उसका निराकरण असम्भव है क्योंकि जो निराकर्त्ता है वही उसका स्वरूप है[5]– शुद्ध आत्मचैतन्य।

अविधा के कारण शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण से परिच्छिन्न होकर जीव के रूप में प्रतीत होता है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय आत्मा की अवस्थायें हैं, जिसमें तुरीयावस्था में अविधा की निवृत्ति हो जाने पर शुद्ध अखण्डानन्दस्वरूप आत्मचैतन्य प्रकाशित होता है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि चैतन्य को ही हम तत्त्व क्यों माने? जड़ को तत्त्व क्यो न मानें। इस विषय में तत्त्व का लक्षण स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि "जिस विषय के सम्बन्ध में बुद्धि का व्यभिचार (परिवर्तन) नहीं होता है, वह सत् है पर जिस विषय के सम्बन्ध में बुद्धि का व्यभिचार होता है, वह असत् है" –

यद्विषया बुद्धिः न व्यभिचरति तत सत्, यद्विषया बुद्धि, व्यभिचरति तत् असत्।[6]

तत्त्व की इस कसौटी पर चैतन्य ही खरा उतरता है। संसार की सभी वस्तुएँ जो हमारे ज्ञान के विषय हैं, उनका व्यभिचार होता है या हो सकता है, पर उनके ज्ञाता या चैतन्य का कभी व्यभिचार नहीं हो सकता। अतः चैतन्य ही एकमात्र तत्त्व है। आचार्य शंकर के दार्शनिक चिंतन का सार है – "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"[7] अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है, दृश्य जगत् माया है, तथाकथित जीवात्मा ब्रह्म है, दूसरा कुछ नहीं। यह सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त की आधारशिला है।

उपनिषदीय शब्द–'ब्रह्मन्' और 'आत्मन्' उस परम तत्त्व का निर्देश करते हैं जो अद्वैत है। शंकराचार्य के अनुसार जगत् मिथ्या है, इस सम्बन्ध में एक भ्रान्त धारणा बनी हुई है कि यदि अद्वैत वेदान्त में जगत् माया है, वह नितान्त असत्य पदार्थ है तो जगत् में होने वाले सभी कार्य असिद्ध है। वस्तुतः सत्य का जो लक्षण आचार्य ने दिया है है, उसके अनुसार 'जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है यदि वह रूप सतत समभाव सर्वदा विद्यमान रहे तो उसे सत्य कहते हैं।' अतः इस परिभाषा के अनुसार जगत् कभी भी सत्य नहीं हो सकता क्योंकि उसमें हर क्षण परिवर्तन होता रहता है। इस दृष्टि से ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है जो एकरस, सच्चिदानंद रूप में अनुभूति का विषय बनता है। ब्रह्म एकमात्र सत्ता है जिसका तीनों काल में बाध नहीं होता। शेष समस्त संसार परिवर्तनशील एवं मिथ्या है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार 'सत्' वह है जिसका त्रिकाल में बाध नहीं हो सके (त्रिकालाऽबाध्यत्वे सत्वम्)[8] ब्रह्म इस जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म इस जगत् का आधार है तथा जगत ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं। तत्त्व में अतत्त्वों के भान को ही विवर्त कहते हैं – अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा 'विवर्त' इत्युदाह्यतः।[9]

अविद्या के कारणा ब्रह्म नानारूपात्मक जगत् के रूप में दीखता है। शंकर के अनुसार जगत् ब्रह्म की प्रतीति मात्र है, विकार या तात्त्विक परिवर्तन नहीं। ब्रह्म कूटस्थ नित्य है अतः उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। माया या अविधा के कारण ब्रह्म जीव और जगत् के रूप में प्रतीत होता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है और जगत् की सत्ता व्यावहारिक है।

शंकराचार्य वस्तुओं या पदार्थों का विश्लेषण करके शुद्ध सत्ता की खोज करते हैं और वह सत्ता स्वयंसिद्ध, स्वयं प्रकाश और चेतन सत्ता है। वह सत्ता निर्विशेष और निर्विकार सत्ता है। इसी को शंकराचार्य ब्रह्म का नाम देते हैं। ब्रह्म पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापक, सभी विक्रियाओं से रहित, निरवयव और स्वयं प्रकाश स्वरूप है।[10] ब्रह्म देश, काल,

कारण और प्रपंच से परे है।[11] ब्रह्म शुद्ध अभेद है। वह सर्वथा भेदशून्य है। उसमें न सजातीय, विजातीय और न स्वगत भेद है। ब्रह्म चैतन्य की शाश्वत ज्योति है जो सारे विश्व को प्रकाशित करती है।[12] ब्रह्म सभी उपाधियों से रहित, शान्त, अनन्त, एक और अद्वैत है जिसे भूमा (विराट) कहा गया है -- यत्तु विध्वस्तसर्वोपाधि विशेषं शान्तमनन्तमेकमद्वैतं भूमाख्यं नित्यं ब्रह्म... ।[13] शंकराचार्य कुछ तर्कों के द्वारा ब्रह्म की सत्ता को प्रमाणित करते हैं जो निम्न हैं –

प्रत्यक्ष पर आधारित तर्क -- शंकराचार्य कहते हैं कि हम यह देखते हैं कि जो वस्तु जिस तत्त्व से बनी होती है वह तत्त्व या वह द्रव्य उस वस्तु में विद्यमान होता है जैसे घड़ा मिट्टी से बनता है और घड़े की सत्ता में मिट्टी विद्यमान होती है। इसी तरह से जितने भी पदार्थ हैं उनमें उनकी सत्ता विद्यमान होती है। इससे स्पष्ट है कि जगत में जितनी भी वस्तुएँ हैं, उनमें सत्ता सर्वगत रूप से विद्यमान है। जिन वस्तुओं का अभाव होता है उनमें कोई सत्ता अभिव्यक्त नहीं होती। इससे यह प्रमाणित होता है कि असत् या अभाव से किसी वस्तु की सत्ता की उत्पत्ति नहीं हो सकती जैसे बालू में तेल असत् होता है इसलिए तेल की सत्ता बालू की सत्ता में दिखाई नहीं देती। इस प्रकार स्पष्ट है कि असत् से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता या हमें किसी भी वस्तु में असत् नहीं दिखाई देता। इस प्रकार हमारी प्रत्यक्षानुभूति यह प्रमाणित करती है कि जो भी वस्तुएँ दिखाई देती हैं उनमें सत्ता निश्चित रूप से होती है क्योंकि असत् कभी दिखाई ही नहीं देता। प्रत्यक्ष का यह तर्क अनुमान से भी पुष्ट होता है।

सृष्टि कारण मूलक तर्क – सृष्टि का कारण क्या है? वस्तुओं की रचना कैसे होती है इत्यादि। इस सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियाँ हैं जैसे– सांख्य दर्शन प्रकृति परिणामवाद में विश्वास करता है। न्याय–वैशेषिक परमाणुवाद में, बौद्ध दर्शन संघातवाद में विश्वास करता है।

शंकराचार्य ने बहुत विस्तार से इन सारे सिद्धान्तों का खंडन किया है। संक्षेप में, सांख्य प्रकृति परिणामवाद के सम्बन्ध में शंकराचार्य का मत है कि प्रकृति के माध्यम से सृष्टि की व्याख्या संभव नहीं है क्योंकि प्रकृति एक अचेतन तत्त्व है और उस अचेतन तत्त्व से बुद्धि जैसे चेतन तत्त्व का आविर्भाव नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त प्रकृतिवाद में अनेक कठिनाई है जैसे प्रकृति का पुरुष से सम्बन्ध किस तरह से होता है या जब अनेक पुरुष हैं तो उनमें किस पुरुष के साथ प्रकृति का सम्बन्ध होता है इत्यादि। सांख्य दर्शन इन प्रश्नों की व्याख्या संतोषजनक ढंग से नहीं कर सका है। न्याय वैशेषिक का परमाणुवाद भी उचित नहीं हैं क्योंकि परमाणु स्वयं अचेतन होते हैं और अचेतन परमाणुओं का कोई परस्पर संयोग होना संभव नहीं है। इसी तरह से बौद्ध संघातवाद भी शंकराचार्य के अनुसार असन्तोषप्रद है क्योंकि असंख्य परिवर्तनशील परमाणुओं का कोई परस्पर सम्बन्ध संभव नहीं है।

इस प्रकार भारतीय दर्शन के ये विभिन्न संप्रदाय जो वस्तु जगत् की व्याख्या उपर्युक्तः करते हैं शंकराचार्य की दृष्टि में उचित नहीं है। उनके अनुसार इस विश्व के कारण के रूप में हमें एक चैतन्य सत्ता यानी ब्रह्म की अवधारणा निश्चित रूप से करनी पड़ेगी। इस सृष्टि की रचना किसी अचेतन तत्त्व या अचेतन सिद्धान्त से नहीं हो सकती। यह सृष्टि एक नियम व्यवस्था और विजितता से युक्त है। इसमें एक प्रयोजन है, इसकी एक निश्चित दिशा है। ऐसी सृष्टि किसी

अचेतन क्रिया से उत्पन्न नहीं हो सकती। अचेतन से किसी भी क्रिया, किसी भी गति या व्यापार की व्याख्या हो नहीं सकती। इस सृष्टि के पीछे चेतन ब्रह्म है जो इसको गति देता है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म से कम किसी अन्य सिद्धान्त से इस सृष्टि की व्याख्या नहीं हो सकती।

नैतिक तर्क – विश्व में एक नैतिक व्यवस्था है कि मनुष्य जो कर्म करता है उस कर्म का फल उसे प्राप्त होता है। नैतिक कर्म यज्ञ, परोपकार, दान इत्यादि। इस कर्म का फल कैसे मिलता है? इसे हम नहीं जानते हैं। सभी भारतीय दर्शन इस सम्बन्ध में व्याख्या करते हैं। न्याय दर्शन इस सम्बन्ध में अदृष्ट तत्त्व की और मीमांसा अपूर्व की बात करता है। ये ऐसे रहस्यमय तत्त्व है जिनमें व्यक्ति के कर्म संचित होते हैं वहीं कालान्तर में अदृष्ट (न्याय के अनुसार) और अपूर्व (मीमांसा के अनुसार) उसका परिणाम देता है। कर्म और फल का संयोग अदृष्ट या अपूर्व के नाते होता है। न्याय और मीमांसा दोनों यह मानते हैं कि अदृष्ट और अपूर्व दोनों तत्त्व अचेतन हैं। इसलिए शंकराचार्य यह प्रश्न करते हैं कि अचेतन तत्त्व कर्म और फल में संयोग कैसे स्थापित कर सकता है। उनके अनुसार कोई चेतन सत्ता ही यह क्षमता रखती है क्योंकि कर्म और फल में संयोग स्थापित करने के लिए ज्ञान चाहिए और ज्ञान अचेतन तत्त्व का धर्म नहीं है। इसलिए शंकराचार्य के अनुसार यह ब्रह्म या ईश्वर ही है जो मनुष्य को उसके कर्मों के अनुसार फल देता है और इस नाते संसार में कर्म व फल की जो नैतिक व्यवस्था है वह सुरक्षित रहती है।

श्रुति प्रमाण – लेकिन यदि केवल तर्कों का ही सहारा होता तो संभवतः हम ब्रह्म के सम्बन्ध में उतने सुनिश्चित नहीं हो पाते क्योंकि इनके विरोधी प्रबल तर्क भी हो सकते हैं और वे यदि ब्रह्म या ईश्वर के अस्तित्व को पूरी तरह असिद्ध नहीं करते तो भी उनके सम्बन्ध में संशय तो उत्पन्न कर ही सकते हैं। इसलिए शंकराचार्य के अनुसार केवल तर्क ही नहीं बल्कि श्रुतियाँ भी ब्रह्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रमाण हैं। तर्क को श्रुति पुष्ट करती है। उपनिषदों में ब्रह्म की सत्ता बतलाई गई है।

अपरोक्षानुभूति प्रमाण – श्रुति के बाद ब्रह्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में अपरोक्षानुभूति सबसे प्रबल प्रमाण है। ब्रह्म को अपरोक्षानुभूति से जाना जा सकता है।[14] श्रुतियों के महावाक्य जैसे सर्वं खलु इदं ब्रह्म[15] (सब कुछ ब्रह्म हैं), या अयं आत्मा ब्रह्म[16] (यह आत्मा ब्रह्म है) या अहं ब्रह्मास्मि[17] या मैं ब्रह्म हूँ। ये साधारण वाक्य नहीं है बल्कि अपरोक्षानुभूति से निकले वाक्य हैं। श्रुतियाँ जिस तत्त्व की सत्ता को स्थापित करती हैं वह तत्त्व ऋषियों की अपरोक्षानुभूति का विषय है। अतएव ब्रह्म की सत्ता है।

शंकराचार्य ब्रह्म की सत्ता को स्थापित करने के बाद ब्रह्म का लक्षण प्रतिपादित करते हैं। इस सम्बन्ध में वे ब्रह्म के लक्षण को दो तरह से प्रस्तुत करते हैं – जन्माद्यस्य यतः और सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। जन्माद्यस्य यतः[18] – जिसके कारण इस सृष्टि का आविर्भाव होता है, स्थिति होती है और जिसमें यह सृष्टि अन्ततः विलीन हो जाती है वह ब्रह्म है। यहाँ पर शंकराचार्य यह स्थापित कर रहे हैं कि ब्रह्म ही इस सृष्टि का आदि कारण है और अन्ततः सृष्टि उसी में विलीन हो जाती है। शंकराचार्य ब्रह्म को सृष्टिकर्ता के रूप में स्थापित कर रहे हैं। इस लक्षण को उन्होंने ब्रह्म का तटस्थ लक्षण कहा है। तटस्थ लक्षण वस्तु के आगन्तुक और परिणामी धर्मों का वर्णन करता है। शंकराचार्य के अनुसार यह सूत्र तैत्तिरीय उपनिषद् के उस वाक्य की ओर संकेत करता है जिसमें

कहा गया है कि ब्रह्म वह है जिससे उस जगत के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिसमें स्थित रहते हैं और जिसमें पुनः विलीन हो जाते हैं – यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति... तद् ब्रह्म।[19]

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म[20] – इसको शंकराचार्य ब्रह्म का स्वरूप लक्षण कहते हैं। स्वरूप लक्षण वस्तु के तात्त्विक स्वरूप को प्रकाशित करता है। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि पहला लक्षण ईश्वर का लक्षण है। यानी ब्रह्म सृष्टि का कर्ता नहीं है अपितु ईश्वर सृष्टि का कर्ता है। अतः यह लक्षण ब्रह्म का वास्तविक लक्षण नहीं है। दूसरा लक्षण ही ब्रह्म का लक्षण है। लेकिन स्वयं शंकराचार्य यह नहीं मानते कि इस सृष्टि का कर्ता ब्रह्म नहीं है। यद्यपि उन्होंने सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म या अपर ब्रह्म और परब्रह्म का भेद किया है लेकिन वे यह मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं कि ब्रह्म में सृष्टि की क्षमता या सृष्टि का गुण नहीं होता। वे कहते हैं कि यदि हम यह मान लें कि सृष्टि का कर्ता ईश्वर है ब्रह्म नहीं तो इसका अर्थ यह होगा कि ब्रह्म में ईश्वर के गुण का अभाव है या ईश्वर की क्षमता का ब्रह्म में अभाव है। ऐसा मानने का अर्थ होगा कि ब्रह्म की अनन्तता या उसकी असीमितता सीमित हो जायेगी। इसलिए शंकराचार्य कहते हैं कि जहाँ तक सृष्टि के अस्तित्व का सम्बन्ध है सृष्टि का कर्ता वस्तुतः ब्रह्म है। यदि हम सृष्टि को ब्रह्म से अलग कर देखने का प्रयत्न करें तो हम सृष्टि की कोई कल्पना नहीं कर सकते। इस प्रकार सृष्टि और ब्रह्म का सम्बन्ध वही है जो कृति और कर्ता का होता है। कृति कर्ता से स्वतंत्र नहीं होता बल्कि कर्ता कृति से स्वतंत्र होता है। यद्यपि यह जगत् नहीं होता लेकिन इस जगत् का मूल कारण ब्रह्म होता है। सामान्यतया सृष्टि का कर्ता ईश्वर को कहा जाता है लेकिन शंकराचार्य के अनुसार सृष्टि के कर्ता के रूप में या उसके कारण के रूप में ब्रह्म को ही मानना पड़ेगा।[20] ब्रह्म सच्चिदानंद है। सत् चित् और आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है। ये उसके स्वरूप लक्षण हैं। ये उसके अवयव या गुण नहीं हैं। ये ब्रह्म को विश्व प्रपंच से अलग करते हैं जो कि अन्ततः जड़ और दुःख रूप है।[21] इसके बावजूद शंकराचार्य ब्रह्म के दो रूपों में भेद करते हैं – निर्गुण ब्रह्म या परब्रह्म और सगुण ब्रह्म या अपर ब्रह्म।

ब्रह्म अपने पारमार्थिक रूप में निर्गुण तत्त्व है इसलिए विचार या बुद्धि के माध्यम से उसके सम्बन्ध में परिभाषा के रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता। विचार या बुद्धि का अनिवार्य लक्षण उसका सम्बन्ध मूलक स्वरूप है जिसकी संरचना में ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय के द्वैत आवश्यक होते हैं किन्तु जो स्वरूपतः अद्वैत तत्त्व है, सम्बन्धातीत है और बुद्धि उसे ग्रहण नहीं कर सकती। इसलिए श्रुतियाँ भी अन्ततः शान्त हो जाती हैं और यह कहती हैं कि ब्रह्म का वर्णन करने का सबसे अच्छा तरीका उसको नेति–नेति (ऐसा नहीं है)[22] के सूत्र से प्रस्तुत करना है। इस निषेधात्मक सूत्र नेति का अर्थ यह है कि वस्तु जगत् के भीतर जितनी भी कोटियां हैं उनमें से कोई भी एक कोटि ब्रह्म का लक्षण प्रतिपादित नहीं करती। उनमें से किसी एक के साथ ब्रह्म का तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता। इसलिए जब ब्रह्म को सत्यं ज्ञानंमनन्तं के रूप में व्यक्त किया जाता है तो इन शब्दों को निषेधात्मक अर्थ में ही ग्रहण करना चाहिए यानी ब्रह्म सत्य है इसका वास्तविक अर्थ यह है कि ब्रह्म असत्य नहीं है, ब्रह्म ज्ञान है इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म अज्ञान नहीं है, इसी तरह ब्रह्म आनन्द है इसका अर्थ यह है कि उसमें आनन्द का अभाव नहीं

है अर्थात् दुःख नहीं है। इसी तरह निषेधात्मक रूप में ही ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में कोई कथन कर सकते हैं। भावात्मक कथन ब्रह्म के सम्बन्ध में उचित नहीं हो सकता। वस्तुतः वह एक ऐसा सूक्ष्म तत्त्व है, जिसका निर्देश वाणी एवं मन के द्वारा सम्भव नहीं है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्म अभाव रूप है – वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणोनाभावाभि प्रायेणामिधीयते।[23] ब्रह्म की सत्ता को स्वीकारते हुए शंकराचार्य ने स्पष्ट कहा है – ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधः नाभावावसानः।[24] नेति–नेति से ब्रह्म की अनिर्वचनीयता और निर्विशेषता सिद्ध होती है।

शंकराचार्य के अनुसार उपनिषद् में जो ब्रह्म का वर्णन मिलता है वह वर्णन हमें प्रतीकात्मक अर्थ में लेना चाहिए। जिस बात को अक्षरशः व्यक्त नहीं किया जा सकता उसी बात को उपनिषदों के महावाक्य प्रतीकात्मक रूप से व्यक्त करते हैं। जैसे श्रुति कहती हैं कि तत् त्वं असि (तत्त्वमसि)[25] इस वाक्य की संरचना साधारण वाक्य की तरह है 'तुम वही हो' लेकिन यह इसका अर्थ नहीं है कि 'मनुष्य ब्रह्म है।' यह अर्थ नहीं है। तत् त्वं असि यह दो वास्तविक अलग–अलग वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित नहीं कर रहा है, उनको एक नहीं बता रहा है बल्कि इसका अर्थ यह है कि इन दोनों में कोई भेद नहीं है। वेदान्ती कहते हैं कि हम वस्तुतः अभेद की स्थापना नहीं करते बल्कि भेद का निराकरण करते हैं। 'तत् त्वं असि' तत् और त्वं को एक नहीं कहता बल्कि यह कहता है कि वे दोनों अलग–अलग नहीं है। भेद के निराकरण का अर्थ महावाक्यों का वास्तविक अर्थ है। अद्वैत वेदान्त का समूचा उद्देश्य इसी भेद बुद्धि का निराकरण कर देना है, तब द्वैत भाव तिरोहित हो जाएगा और शुद्ध अद्वैत तत्त्व वहाँ पर प्रकाशित होने लगेगा। अद्वैत हमें यही बताता है कि आत्मा ही ब्रह्म है, यह नहीं कि जीव ही ईश्वर है।

शंकराचार्य ब्रह्म की ईश्वर के रूप में भी कल्पना करते हैं, लेकिन इस सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं होना चाहिए कि ब्रह्म और ईश्वर वस्तुतः दो अलग–अलग सत्तायें नहीं हैं। ईश्वर ब्रह्म ही है लेकिन मनुष्य ब्रह्म को ईश्वर के रूप में देखता है। अतएव शंकराचार्य व्यावहारिक और पारमार्थिक का भेद करते हुए ईश्वर और ब्रह्म के रूप में इस परम सत् को हमारे समक्ष दो रूपों में प्रस्तुत करते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म है लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से ईश्वर भी वास्तविक है। यही ईश्वर माया शक्ति के सहारे इस नाना रूपात्मक जगत् की सृष्टि करता है। यही ईश्वर हमारी पूजा और आराधना का विषय है। यही हमारी प्रार्थनाओं को सुनता है हमारे उपर कृपा करता है। हमारी इच्छाओं को पूरा करता है। लोग इसी ईश्वर की आराधना करते हैं।

शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में सगुण ब्रह्म की निम्नलिखित परिभाषा दी है – ''अस्य जगतोनामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेनकर्तृभोक्तृ संयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकाल निमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसा अपि अचिन्त्य रचनारूपस्य जन्मस्थितभंगं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति, तद ब्रह्म''।[26] अर्थात् जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान कारण से इस जगत् का, जो नाम और रूप से व्यक्त (व्याकृत) है, जो अनेक कर्ता–भोक्ताओं से संयुक्त है, जो देश (स्थान), काल और क्रिया के अनुसार नियत फलों का आश्रय है, और जिसकी रचना का रूप मन द्वारा भी अचिंत्य (अविचारणीय) है तथा जिसमें जन्म स्थिति और भंग होता है, वही ब्रह्म है। शंकराचार्य यद्यपि अन्ततः ईश्वर को वास्तविक नहीं मानते, उसको व्यावहारिक सत्ता कहते हैं तथापि वे ईश्वर की अवधारणा को अत्यन्त मूल्यवान मानते हैं।

लेकिन शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर की यह अवधारणा उपयोगी और आवश्यक होते हुए भी शुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से अन्ततः वास्तविक नहीं है। शंकराचार्य कहते हैं कि जब हम उस शुद्ध अद्वैत तत्त्व को अविद्या के अन्तर्गत देखते हैं तो वही ईश्वर के रूप में प्रतीत होता है। अविद्या के अन्तर्गत ही ईश्वर, जगत् और जीव तीनों की प्रतीति होती है और अविद्या के निराकरण के साथ ही वे तीनों एक साथ तिरोहित हो जाते हैं तब शुद्ध अद्वैत तत्त्व ही प्रकाशित होता है। जिसको हम ईश्वर के रूप में देखते हैं वह वस्तुतः ब्रह्म ही है। उसका ईश्वर रूप हमारी कल्पना के नाते है अर्थात् जिसको हम ईश्वर कहते हैं वह हमेशा ब्रह्म है। स्वतः ब्रह्म कभी ईश्वर नहीं बनता। उसका ईश्वर रूप हमारे अविधा के द्वारा बनाया गया है। 'ब्रह्म कभी ईश्वर नहीं बनता' इस बात को समझाने के लिए शंकराचार्य ब्रह्म के दो रूपों में भेद करते हैं – द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते, नामरूपविकार भेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीत च सर्वोपाधिविवर्जितम।[27] अर्थात् ब्रह्म को दो रूपों में जाना जाता है, एक जो नाम और रूप जनित विकारों (परिवर्तन) के भेद से उपाधि विशिष्ट है, और इससे विपरीत, दूसरा वह जो सब उपाधियों से रहित है।

शंकराचार्य ब्रह्म के तटस्थ एवं स्वरूप लक्षण को एक दृष्टांत से समझाते हैं जैसे– एक गड़ेरिया रंगमंच पर राजा के रूप में अभिनय कर रहा है। हम यहाँ पर उस गड़ेरिया के दो रूप देखते हैं– पहला वह रूप जो उसका वस्तुतः अपना रूप है यानी गड़ेरिया रूप। दूसरा वह रूप जो कि रंगमंच पर दिखाई देता है यानी राजा रूप। जब गड़ेरिया रंगमंच पर राजा के रूप में है तब भी वह वस्तुतः गड़ेरिया ही है और वस्तुतः भी वह गड़ेरिया ही है। यानी दोनों दशाओं में वह गड़ेरिया है। रंगमंच की क्रियायें उसकी अपनी क्रियायें नहीं हैं। जो प्रतीत होता है वह अपने रूप का स्पर्श भी नहीं करता। इसी दृष्टांत से शंकराचार्य ब्रह्म के उन दोनों रूप को समझाते हैं। ब्रह्म का जो ईश्वर रूप है वह रूप ब्रह्म की अद्वैत सत्ता में किसी तरह के परिवर्तन का सूचक नहीं है लेकिन हम जो कि अविद्या के अन्तर्गत है, अनादि अविद्या से ग्रस्त है इसलिए ब्रह्म को ईश्वर के रूप में देखते हैं। ईश्वर की जो कल्पना है वह सम्बन्ध मूलक है और शंकराचार्य के अनुसार जो भी सम्बन्ध मूलक है वह आभास है। इसलिए ईश्वर वस्तुतः आभास जगत् की ही वास्तविकता है। ईश्वर आभास जगत् के भीतर सर्वोच्च वास्तविकता है लेकिन अन्ततः वह मिथ्या है।

शंकराचार्य के अनुसार अद्वैत तत्व को हम चार अवस्थाओं में देख सकते हैं[28]– 1. शुद्ध ब्रह्म या आत्मा। आत्मा ब्रह्म है। यह अवस्था अद्वैत की अवस्था है। इसमें कोई विकार नहीं होता। यह निर्गुण और निर्विशेष है। 2. ईश्वर – जब वही ब्रह्म माया के माध्यम से देखा जाता है तो उसको हम ईश्वर की संज्ञा देते हैं। 3. हिरण्यगर्भ – जिसमें कि माया से युक्त होकर ईश्वर भौतिक वस्तु जगत् का नियन्त्रण करता है। 4. वैश्वानर या विराट रूप – जबकि ईश्वर अपनी माया शक्ति से वास्तविक स्थूल जगत् का निर्माण करता है।

लेकिन यह तीनों रूप (ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट रूप) ब्रह्म को व्यावहारिक रूप में देखने से उत्पन्न होते हैं। जब अद्वैत का ज्ञान हो जाता है तब यह तीनों रूप तिरोहित हो जाते हैं। जानने वाला वही ब्रह्म या आत्मा है। इस प्रकार शंकराचार्य ईश्वर के सगुण रूप को वास्तविक नहीं मानते, आभास के अन्तर्गत शामिल करते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शंकराचार्य ईश्वर

को मिथ्या एक विशेष अर्थ में कहते हैं। शंकराचार्य के अनुसार यह ज्ञान कि ईश्वर आभास है सामान्य लोगों के लिए नहीं है। यह बात उसी के लिए अभिप्रेत है जिसने व्यावहारिक दृष्टिकोण 'अविद्या' का अतिक्रमण कर दिया है। इस प्रकार सच्ची वास्तविकता समग्र अद्वैतवाद है जो केवल ईश्वर या ब्रह्म को सम्पूर्ण वास्तविकता के रूप में प्रतिपादित करता है।



संदर्भ –

1. ऐतरेय आरण्यक 3–2–3
2. डॉ. एस.एन. दासगुप्त, History of Indian Philosophy, Vol. I P.429 प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।
3. उद्धृत प्रोफेसर अर्जुन मिश्र, अद्वैत वेदान्त पृष्ठ 109 म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
4. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 1.1.1
5. य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम् 1 – शा.भा. 2,3,7
6. शांकर गीताभाष्य 2/15
7. डॉ. चन्द्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ. 248, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
8. डॉ. चन्द्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ. 255, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
9. महामहोपाध्याय डॉ. उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन पृ. 355, प्रकाशक उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ
10. शांकर भाष्य 1.1.4
11. तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य, 2.1.1
12. वृहदारण्यक शांकर भाष्य 1.1.5.24
13. केन उप. भाष्य 2–1
14. मांडूक्य शांकर भाष्य, 1.3.9
15. छान्दोग्य उप. 3.14.1
16. वृहदारण्यक उपनिषद् 1.4.10
17. छान्दोग्य उप. 6.8.7
18. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 1.1.2
19. तैत्तिरीय उपनिषद्, 2.1.1
20. तैत्तिरीय उप. 2.1.1
21. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 1.3.9.10
22. अथात आदेशो नेति–नेति उद्धृत दत्त एवं चटर्जी, भारतीय दर्शन, प्रकाशक पुस्तक भंडार, पटना
23. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 3.2.22
24. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 3.2.22
25. छान्दोग्य उप. 4.3.1, 4.3.3.1
26. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 1.1.2
27. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 1.1.11
28. दत्त एवं चटर्जी, भारतीय दर्शन, पृ. 250 प्रकाशक पुस्तक भंडार, पटना

अद्वैत वेदांत में द्वैत का स्वरूप एवं उसका निरास

सभाजीत मिश्र

द्वैतपरक जगत् लोक अनुभव का विषय है। अद्वैत वेदांत में इसे नाम–रूप का संसार कह कर मिथ्या घोषित किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् के 'नेह नानास्ति किंचन', मांडूक्योपनिषद् के 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति', तैत्तिरीय उपनिषद् के 'ब्रह्मविदाप्नोति' आदि कथनों द्वारा एक ओर जगत् के द्वैत के मिथ्यात्व का और दूसरी ओर ब्रह्म की एक मात्र सत्ता का प्रतिपादन करते हुए यह कहा गया है कि आत्म अथवा ब्रह्म के ज्ञान से अविद्याजन्य जगत् के द्वैत का निरास हो जाता है। शंकराचार्य तार्किक स्तर पर प्रतिपादित करना चाहते हैं कि जगत् अध्यासजन्य है और इसी आशय से उन्होंने अध्यासभाष्य में, जो कि उनके ब्रह्मसूत्र भाष्य की भूमिका है, अध्यास की सर्व व्यापकता की स्थापना की है। शंकराचार्य के अनुसार अध्यास के कारण ही समस्त प्रमाण–प्रमेय व्यवहार तथा सभी लौकिक तथा वैदिक व्यवहार प्रवृत्त होते हैं। यहाँ तक कि सम्पूर्ण शास्त्र को उन्होंने अध्यास के भीतर ही स्थापित किया है।[1]

द्वैत के संबंध में यह दृष्टि अद्वैत वेदांत के लिए जितनी केन्द्रवर्ती है उतनी ही विवादास्पद भी है। प्रस्तुत लेख में एतद् विषयक कतिपय कठिनाईयों का संकेत करते हुए अद्वैत वेदांत की दार्शनिक संरचना के भीतर ही, विशेषतः स्वामी विद्यारण्य का अनुसरण करते हुए उसका समाधान तलाशने की चेष्टा की गई है। कुछ कठिनाईयाँ इस प्रकार हैं :

जनसामान्य के लिए द्वैत तथा उसके मिथ्यात्व की घोषणा करने वाले औपनिषद् कथनों का अर्थ आग्राह्य है क्योंकि वह अनुभव विरूद्ध प्रतीत होता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि स्वयं आचार्य शंकर अनुभव को एक सबल प्रमाण मानते हैं और उनकी कई मान्यताओं तथा स्थापनाओं के आधार में लोकानुभव भी है।

बौद्ध विज्ञानवादियों तथा शून्यवादियों की आलोचना करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि ज्ञान वस्तुतंत्र है।[2] प्रत्यक्षगत जगत् विज्ञान नहीं है और न ही उसके प्रत्यक्ष के मूल में शून्यता है। द्वैतमूलक जगत् की प्रतीति का अधिष्ठान सत्ता है और वह सत्ता ब्रह्म है। अब यह प्रश्न उठता है कि यदि जगत् प्रपंच का आधार सत्ता है तो ज्ञान से उसका निरास कैसे हो सकता है? इस प्रश्न को अद्वैतवाद के ही इस तर्क से बल प्राप्त होता प्रतीत होता है कि सत् असत् नहीं हो सकता और असत् सत् नहीं हो सकता।[3]

यह भी विचारणीय है कि ज्ञानोपरांत द्वैत के तिरोभाव का क्या अर्थ है ? तिरोभाव अनुभव विरूद्ध तो है ही तथा साथ ही साथ जीवनमुक्ति की अवधारणा से भी इसका सामंजस्य बैठाने में कठिनाई प्रतीत होती है। जीवनमुक्त जगत् में ही स्थित होता हुआ सक्रियता का जीवन व्यतीत करता है। तिरोभूत द्वैत की दशा में नैतिक जीवन की संभावना भी एक कठिनाई उपस्थित करती है और यह भी माना जा सकता कि अद्वैत वेदांत में नैतिक तथा सामाजिक जीवन के लिए कोई अवकाश नहीं है।

पूर्व उपकुलपति, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ.प्र.)

उपर्युक्त असंगतियों को देखते हुए उपनिषदों में प्रतिपादित तथा अद्वैत वेदांत द्वारा संपुष्ट द्वैत के निरास के अर्थ पर विचार करना समीचीन प्रतीत होता है। अपने इस प्रयास के क्रम में हम यह भी रेखांकित करना चाहेंगे कि अद्वैत वेदांत के समानांतर पद्धति का प्रयोग करके पश्चिम के फेनोमेनालॉजी के विचारकों ने मानवीय विज्ञानों के साथ–साथ प्राकृतिक तथा गणितीय विज्ञानों की सीमाओं को उद्‌घाटित करके एक नई चिंतन धारा का सूत्रपात किया है।

द्रष्टव्य है कि द्वैत के स्वरूप तथा उसके निराकरण की समस्या पर विचार करते हुए स्वामी विद्यारण्य ने पंचदशी में दो प्रकार के द्वैत में भेद किया है। उनके अनुसार एक द्वैत वह है जो ईश्वरकृत है। उस द्वैत का निरास नहीं हो सकता और वह निरास्य भी नहीं है। दूसरा द्वैत जीवकृत है : वह निरासयोग्य है और अद्वैत वेदांत के अनुसार अविद्याजन्य जीवकृत द्वैत ही मोक्ष प्राप्ति में बाधक है। इसका हम संक्षेप में विवेचन करेंगे।

ईश्वरकृत द्वैत

पंचदशी के द्वैत विवेक अध्याय में दोनों द्वैतों में भेद करते हुए स्वामी विद्यारण्य लिखते हैं–"द्वैत की रचना ईश्वर तथा जीव दोनों करते हैं। जब व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाता है कि कौन सा द्वैत ईश्वरकृत है और कौन सा उसके द्वारा कृत है तभी वह यह निश्चय कर सकता है कि कौनसा द्वैत हेय है, बंधन का कारण है तथा निराकरण के योग्य है।[4]"

ईश्वरकृत द्वैत की अवधारणा के पीछे अद्वैत वेदांत का यह मान्य सिद्धांत है कि ईश्वर से ही जगत् की उत्पत्ति होती है, ईश्वर द्वारा ही वह धारित है, तथा ईश्वर में ही वह विलीन हो जाता है (यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रेत्याऽभिसंविशन्ति, तैत्तिरीय उपनिषद् 3.1)। मायावी ब्रह्म ईश्वर है। यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। माया शक्ति के कारण ही नामरूपादि से रहित ब्रह्म की अभेदमूलक सत्ता वस्तुओं तथा जीवों की नानात्मकता में भिन्न–भिन्न रूप में प्रकाशित होती है। न्याय दर्शन के विपरीत अद्वैत वेदांत में ब्रह्म की जगत्कारणता अनुमान के आधार पर नहीं स्थापित की गई है : श्रुतिवाक्यों में सुसंगति स्थापित करके ब्रह्म को जगत् का कारण कहा गया है। हाँ, यदि अनुमान अविरोधी है और वह श्रुतियों के अर्थनिर्धारण को दृढ़ता प्रदान करता है तो वह अनुमान भी ग्राह्य है।[5] अद्वैत ग्रंथों में, विशेषतः ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य में जगत् की उत्पत्ति संबंधी विभिन्न व्याख्याओं की परीक्षा की गई है : श्रुति तथा तर्क की प्रतिकूलता के आधार पर उनका खंडन किया गया है तथा यह स्थापित किया गया है कि ब्रह्म ही जगत् का कारण हो सकता है। अद्वैत तर्क का सारतत्त्व एक तो यह है कि चेतन अधिष्ठान के बिना कोई क्रिया संभव नहीं है और दूसरे यह है कि अभाव का कभी भाव नहीं हो सकता। चार्वाक स्वभाववाद के द्वारा अथवा वैशेषिक परमाणुवाद के द्वारा सृष्टि की व्याख्या इस नाते नहीं कर पाते क्योंकि अचेतन भौतिक तत्त्व या परमाणु स्वतः से क्रिया में नहीं प्रवृत्त हो सकते। यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि भौतिक तत्त्वों या परमाणुओं में क्रिया नहीं हो सकती तो ब्रह्म में भी क्रिया नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्म परिभाषया निष्क्रिय तथा निर्विशेष है। किन्तु अद्वैतवादियों के अनुसार यह प्रश्न असंगत है। अद्वैतवाद का तर्क यह है कि हम मानते हैं कि क्रिया अचेतन में होती है और हम चाहते हैं कि वह उसी में रहे : हम केवल यह कहते हैं कि अचेतन तत्त्व स्वयं क्रिया में प्रवृत्त नहीं हो सकता, चेतन तत्त्व ही उसे क्रिया में प्रवृत्त करता है।[6] लोकानुभव में भी देखा जाता है

कि चेतन के होने पर ही क्रिया होती है और चेतन के न होने पर क्रिया नहीं होती। चेतन शरीर में ही क्रिया होती है : अचेतन शरीर में क्रिया नहीं देखी जाती। यह आशंका निर्मूल है कि स्वयं ईश्वर प्रवृत्ति रहित है इसलिए वह प्रवर्तक नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुतियों में बार–बार स्पष्ट किया गया है कि अविद्या से चेतन में कल्पित द्वैत से प्रवर्त्य–प्रवर्तक भाव उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वगत, सर्वात्मा तथा सर्वशक्तिमान मानने से उसे सबका प्रवर्तक मानना सर्वथा युक्त है।

योगाचार बौद्ध सहोपलंभ नियमादि के आधार पर यह स्थापित करता है कि अंतर्ज्ञेय विज्ञान ही बाह्य पदार्थवत् प्रतीत होता है। विज्ञान और वस्तु में भेद नहीं है अथवा विज्ञान ही वस्तु है। शंकराचार्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों तथा लोकव्यवहार का सहारा लेकर इस व्याख्या का खंडन करते हैं। विज्ञान तथा वस्तु का भेद सामान्य अनुभव का विषय है। पदार्थ को देखता हुआ अथवा पदार्थ के साथ व्यवहार करता हुआ व्यक्ति यह नहीं कहता कि वह विज्ञान को देख रहा है या विज्ञान के साथ व्यवहार कर रहा है। इसके अतिरिक्त, जो प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों से उपलब्ध है, वह संभव है; जो किसी भी प्रमाण से उपलब्ध नहीं है, वह संभव नहीं है। विषय का ज्ञान से सारुप्य होने से विषय का अभाव नहीं होता, विषय के न होने से विषय का ज्ञान से सारुप्य भी नहीं हो सकता। इसलिये यदि विज्ञान और विषय की साथ–साथ प्रतीति होती है तो उनमें उपाय–उपेय संबंध मानना चाहिए, दोनों में अभेद मानना युक्तिसंगत नहीं है। पुनः यदि विज्ञान ही विषय हो तो दोनों में भेद का आधार नहीं रह जाता। अविद्यमान वस्तु के समान वस्तु की प्रतीति संभव नहीं है। यदि विज्ञानवादी यह कहते हैं कि पूर्व संस्कारों के नाते बाह्य पदार्थों की प्रतीति होती है तो भी मूल समस्या ज्यों की त्यों रह जाती है : पदार्थों के अभाव में पदार्थों के संस्कारों का जन्म कैसे होता है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि वस्तुओं तथा जीवों की अनेकता के रूप में अवभासित होने वाले द्वैत का कारण केवल ईश्वर है। इस संबंध में श्रुतियाँ कहती हैं : ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनंत है, उसी ब्रह्म से आकाशादि उत्पन्न हैं।[7] "उसने कामना की है कि मैं अनेक हो जाऊँ।"[8] "जिस प्रकार अग्नि से स्फुल्लिंग उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अचेतन पदार्थ तथा चेतन जीव अविनाशी ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं।"[9] विद्यारण्य लिखते हैं : 'वही ईश्वर अपने अपरिवर्तनीय रूप को परिवर्तित करके जीवों के शरीर में प्रविष्ठ होता है।'[10]

जीवकृत द्वैत

ईश्वरकृत द्वैत के अतिरिक्त जीवकृत द्वैत का उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार उपलब्ध है : परमात्मा पिता ने अपने ज्ञान तथा कर्म से सात अन्नों को उत्पन्न किया। इनमें से साधारण (अनाज आदि) सबके भोग के लिये है। हूत और अहूत अथवा दर्श एवं पूर्णमाश उन दो को देवताओं को प्रदान किया, मन, वाणी तथा प्राण इन तीनों को उसने अपने लिए रख लिया और सातवाँ अन्न, दूध पशुओं के लिए प्रदान किया।'[11] उपनिषद् की इस अवधारणा का विश्लेषण स्वामी विद्यारण्य इस प्रकार करते हैं : ये सात प्रकार के अन्न ईश्वर द्वारा स्वरूपतः उत्पन्न अवश्य हैं किन्तु जीव अपने ज्ञान तथा कर्म द्वारा इन्हें अपने भोग के विषय में बदल देता है।[12] इसका अभिप्राय यह है कि अन्नों की उत्पत्ति का कारक ईश्वर है। उनकी अन्नता का कारण जीव है। अन्य शब्दों में, स्वरूपतः अन्न मात्र अन्न है : उपभोग के रूप में उसका अन्न होना जीव के कारण

है। विद्यारण्य का द्विविध भेद का यह विश्लेषण कितना महत्त्वपूर्ण एवं दार्शनिक दृष्टि से संपन्न है इसको समझने के लिए एक क्षण के लिए हम अपना ध्यान फेनोमेनालाजिकीय अस्तित्ववादियों के द्वारा किये गये इसी प्रकार के भेद की ओर ले जायें। प्रसंग थोड़ा भिन्न है। किन्तु अंर्तदृष्टि समान है। वस्तु तथा चेतना में भेद करते हुए तथा वस्तु के स्वरूप को परिभाषित करते हुए सार्त्र कहता है कि वस्तु मात्र वस्तु है, वह जो है वही है। वस्तु का वस्तुत्व मनुष्यकृत है। स्वरूपतः वस्तु जैसी होती है वैसी ही हो जाती है : उसके अर्थ और प्रयोजन का निश्चय मनुष्य की योजनायें करती हैं। अन्य शब्दों में स्वरूपतः प्रदत्त एवं विद्यमान वस्तु के ऊपर मनुष्य अपने कर्मों एवं योजना के द्वारा एक मानवीय जगत् की रचना करता है। स्पष्ट है कि एक द्वैत प्रदत्त है, एक मानव रचित है।[13]

अस्तु अद्वैत वेदांत के अनुसार जहाँ तक जगत् की सत्ता का प्रश्न है उसका कारण ईश्वर है जो कि अपनी माया शक्ति से द्वैत मूलक जगत् की रचना करता है। जीव का माया के ऊपर कोई नियंत्रण नहीं है और इसीलिए जगत्–प्रपंच की रचना में वह किसी प्रकार का कारण नहीं है। किन्तु जगत् की उत्पत्ति के पश्चात् जीव अपने संकल्प का प्रयोग करता है तथा वस्तु–जगत् को अपने प्रयोग तथा लोभ के विषय में रूपांतरित कर देता है। इस प्रकार ईश्वर निर्मित पदार्थ तो पदार्थ ही रहते हैं जीव उनकी सत्ता भोग्य तथा प्रेय के रूप में स्थापित करता है। अन्न और उनकी अन्नता में भेद का संभवतः ऐसा ही अभिप्राय है।

कतिपय दृष्टांतों द्वारा इस भेद को और अधिक स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है : आकाश से लेकर समस्त स्थूल भौतिक पदार्थ ईश्वर–रचित हैं। स्वर्ण एक पदार्थ है। अपने आप में वह मात्र स्वर्ण है। ज्ञाता व्यक्ति की बुद्धि वृत्तियों के अनुसार वह भोग का विषय बनता है। लोलुप व्यक्ति उसे पाकर सुखी होता है, दूसरा उसे न पाने से दुखी या क्रोधित होता है तथा निस्पृह व्यक्ति पाने से न सुखी होता है और न ही न पाने से दुखी होता है। एक ही विषय भोग और भोक्ता के भेद के नाते भिन्न–भिन्न रूप धारण कर लेता है। स्वरूपतः तो वह वही रहता है किन्तु भोक्ता जीव के कारण उसके रूप भिन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार एक स्त्री, पत्नी, पुत्री, माता आदि विभिन्न रूपों में जानी जाती है किन्तु जहाँ तक उस स्त्री के स्वरूप या आकार का प्रश्न है वह तो वही रहता है। विभिन्न संबंध उसके रूप या आकार में कोई परिवर्तन नहीं करते। वस्तुतः एक ही स्त्री में दो स्त्रियाँ विद्यमान रहती हैं : एक वह जो मज्जा–मांस से निर्मित है। वह स्त्री ईश्वर की रचना है। दूसरी वह, जो जीव निर्मित है : वह मानसिक स्त्री है। मानसिक स्त्री स्वरूपतः शारीरिक स्त्री से भिन्न नहीं है। किन्तु प्रतीत होती है। एक ही स्त्री की भिन्न रूपों में प्रतीति होने के लिए आवश्यक है कि उस स्त्री में भिन्नता हो। यह भिन्नता उसके भौतिक स्वरूप के कारण नहीं है : भिन्नता का कारण उसका मानसिक स्वरूप है और वह स्वरूप जीव द्वारा निर्मित है।[14] दृष्टांतगत स्त्री के, तथा सामान्यतः किसी वस्तु के, मानसिक रूप में भेद दृष्टिगोचर होता है। इसलिए तर्कतः उस भेद की विद्यमानता स्वीकार की जानी चाहिए। सांख्य दर्शन में भी गुणों की भिन्नता के आधार पर पदार्थ की प्रतीति में भिन्नता की गई है किन्तु सांख्य एवं अद्वैत की स्थिति में अंतर है। सांख्य की प्रकृति त्रिगुणात्मिकता है और सभी पुरुष इन्हीं गुणों के वशीभूत होकर जब वस्तुओं को देखते हैं तो वस्तुयें उनमें भिन्न–भिन्न अनुभूतियाँ उत्पन्न करती हैं। अद्वैत मत के अनुसार जीव अपने सचेतन प्रयोजनों और प्रतिक्रियाओं द्वारा मनोमय पदार्थ (अभ्यर्थ) की रचना करता है।

इस अवधारणा के विरूद्ध यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि जाग्रतावस्था में उपलब्ध वास्तविक पदार्थों की सत्ता में मानसिक पदार्थों की सत्ता को जोड़ना कहाँ तक उचित है। यह सही है कि मानसिक पदार्थ अनुभव में उपलब्ध होते हैं किन्तु जब भ्रम, स्वप्न अथवा मानसिक स्वैरणा की स्थितियों में मानसिक पदार्थों का अनुभव होता है, तब वास्तविक पदार्थों का अनुभव नहीं होता है। इसका आशय यह है कि जब वास्तविक पदार्थ उपलब्ध नहीं होते तब मानसिक पदार्थ उपलब्ध हो सकते हैं किन्तु जब जाग्रत जीवन तथा जगत् में वास्तविक पदार्थ उपलब्ध होते हैं तब मानसिक पदार्थ नहीं होते और उनके होने की आवश्यकता या अनिवार्यता नहीं होती। इस आपत्ति का उत्तर अद्वैत ज्ञानमीमांसा में देखा जा सकता है। अद्वैत वेदांत के अनुसार ज्ञान की अवस्था में चित्त अथवा अन्तःकरण मन–पदार्थ संपर्क से विषय तक पहुँचता है। ऐसा होने पर चित्त की वृत्ति विषय का आकार ग्रहण कर लेती है। जिस प्रकार जब कोई धातु गला कर किसी साँचे में ढाली जाती है तो उसी साँचे के आकार की हो जाती है उसी प्रकार चित्तवृत्ति भी विषयाकार हो जाती है अथवा जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश प्रकाशित घटाकार हो जाता है उसी प्रकार विषयों को प्रकाशित करने वाली बुद्धि प्रकाशित विषयाकार हो जाती है। इसीलिए यद्यपि यह सही है कि प्रत्यक्ष की दशा तें बाह्य पदार्थ की विद्यमानता है किन्तु चूँकि पदार्थ बुद्धिवृत्ति के आकार में प्रकाशित होता है इसलिए वह मानसिक या मनोमय है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण की दशा में ज्ञेय पदार्थ द्विविध होता है– वास्तविक तथा मनोमय। उदाहरणार्थ घट के प्रत्यक्ष की दशा में एक तो मृण्मय घट होता है जो कि वास्तविक है तथा प्रत्यक्षात्मक क्रिया के बाहर है। इसके अतिरिक्त एक दूसरा घट भी है जो कि घटाकार बुद्धिवृत्ति के रूप में प्रत्यक्ष होता है। स्वामी विद्यारण्य इस भेद को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं : वास्तविक मृण्मय घट ज्ञाता द्वारा प्रकाशित है वह प्रमाताभास्य है, मनोमय घट साक्षी द्वारा प्रकाशित है, वह साक्षीभास्य है। वास्तविक मृण्मय घट इस अर्थ में प्रमाताभास्य है कि वह साक्षी द्वारा वृत्तिज्ञान से प्रकाशित है। मनोमय घट इस अर्थ में साक्षीभास्य है कि वह साक्षी द्वारा साक्षी के भीतर उद्‌भूत होने वाली आंतरिक वृत्तियों से उत्पन्न है। इच्छा, स्वप्न, सुख–दुःखादि से संबद्ध मनोमय पदार्थ साक्षी के भीतर प्रार्दुभूत तथा साक्षी द्वारा प्रकाशित अंतःवृत्ति के परिणाम हैं। सारांश यह है कि प्रमाताभास्य वस्तु वास्तविक है तथा साक्षीभास्य वस्तु मनोमय है।[15]

ईश्वरकृत तथा जीवकृत द्वैतमूलक जगत् के भेद का संकेत श्रुतियों में कई स्थलों पर उपलब्ध है। ऐतरेयोपनिषद् में कहा गया है : प्रारंभ में केवल आत्मा ही था। क्रिया हेतु कुछ भी नहीं था। आत्मा ने जगत् की रचना करने की इच्छा की। जब सभी लोकों तथा उनके दवेताओं की रचना हो गई, जब उनके लिए भोज्य पदार्थ निर्मित हो गये, जब जीव–शरीरों की रचना हो गई और जब उन्होंने भोजन ग्रहण करना सीख लिया तब आत्मा ने जीवों के शरीर में प्रवेश किया क्योंकि उसके बिना जीवन संभव नहीं था। जब ईश्वर ने जीवों के शरीर में प्रवेश कर लिया तब जीव ने जाग्रतावस्था से लेकर मोक्ष पर्यन्त स्वयं अपने जगत् की रचना की।[16] मुण्डक तथा प्रश्न उपनिषदों में भी सृष्टि प्रक्रिया तथा ईश्वर एवं जीव रचित जगत् के विवरण उपलब्ध हैं। यहाँ यह रेखांकित करना वांछनीय है कि सभी श्रुतियाँ सृष्टि–प्रक्रिया का एक समान विवरण नहीं देती

किन्तु सभी का मूल मंतव्य एक है कि ईश्वर ही जगत् का कारण है जो कि अंततः मिथ्या है : ईश्वर निर्मित जगत् के ऊपर स्वयं जीव एक अपने जगत् की रचना करता है जो कि उसके मोक्ष में बाधक है।

निराकरणीय द्वैत

उपर्युक्त विवेचित दोनों द्वैतों की तात्त्विक स्थिति में भेद है। ईश्वर रचित द्वैत प्रयोजन एवं मूल्य की दृष्टि से तटस्थ है। इसलिए उसके होने मात्र से सुख–दुख तथा बंधादि का आर्विभाव नहीं होता। जीव–रचित द्वैत के होने से सुख–दुखादि का आविर्भाव होता है और उसी के न होने से सुख–दुखादि का तिरोभाव होता है। अतएव इन दोनों द्वैतों में जीवकृत द्वैत बंधादि का कारण होने से हेय है। अन्वय–व्यतिरेक विधि द्वारा इसे प्रमाणित किया गया है। जब अनूकूल अथवा प्रतिकूल पदार्थों के रूप में मानसिक द्वैत उपस्थित होता है तब सुख अथवा दुख भी उत्पन्न होते हैं। स्वप्न, स्मृति अथवा भ्रम की अनुभूतियाँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं। इन अवस्थाओं में जबकि वास्तविक पदार्थ अनुपस्थित होते हैं, सिंह, सर्प अथवा स्त्री के रूप में अवास्तविक मनोमय पदार्थ उपस्थित होकर अपनी अनुकूलता या प्रतिकूलता के नाते सुख अथवा दुख तथा सुषुप्ति की दशाओं में, जब कोई भी पदार्थ नहीं देखा जाता, सुख या दुख का अनुभव नहीं होता। ईश्वर–कृत पदार्थ अनुकूल या प्रतिकूल नहीं होते : ये तो बस होते हैं। अनुकूलता या प्रतिकूलता का समावेश बुद्धि वृत्ति करती है। स्वामी विद्यारण्य इसे तमाम दृष्टांतों से समझाते हैं। एक दृष्टांत इस प्रकार है :

"किसी पिता का पुत्र विदेश में सुख पूर्वक रह रहा है। कोई व्यक्ति उसे आकर बताता है कि उसके पुत्र की मृत्यु हो गई है जबकि वस्तुतः वह जीवित है। इस समाचार से पिता दुःखी होता है और रोता है। वह वास्तविक नहीं अपितु मनोमय पुत्र की मृत्यु पर रोता है। इसके विपरीत यदि उसका पुत्र वस्तुतः मर गया है किन्तु उसका समाचार उसे नहीं मिलता तो वह सुखपूर्वक रहता है। अभिप्राय यह है कि मानवकृत जगत् ही उसे सुखी या दुखी करता है।"[17]

जीवकृत द्वैत दो प्रकार का है : शास्त्रीय तथा अशास्त्रीय। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन शास्त्रीय द्वैत है। यह द्वैत जीव की इस कल्पना पर आधारित है मानो कि ब्रह्म सर्वथा अविषय है। उपचार मात्र से उसे श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन विषय कहा जाता है। ये शास्त्रीय उपाय जीव को ब्रह्मज्ञान के द्वार तक ही ले जा सकते हैं। ब्रह्मज्ञान अनुत्पाद्य है। इसीलिए शास्त्रीय उपायों से वह उत्पन्न नहीं होता। इच्छा, क्रोध, द्वैषादि अशास्त्रीय द्वैत हैं। इन दोनों द्वैतों में अशास्त्रीय द्वैत का निरास ब्रह्मज्ञान के साथ हो जाता है। हम पहले कह आये हैं कि शंकराचार्य ने लौकिक तथा वैदिक दोनों व्यवहारों को अविद्याजन्य कहा है। मोक्ष हेतु विधि–निषेध का प्रदिपादन करने वाली श्रुतियाँ भी अंततः मिथ्यात्व के ही अंतर्गत हैं।

इस बिन्दु पर यह प्रश्न उपस्थापित किया जा सकता है कि यदि मनोमय जगत् ही बंधादि का कारण है तो वास्तविक बाह्य जगत् को स्वीकार करने की आवश्यकता या प्रयोजन ही क्या है। यदि मनोमय ही अनर्थों का मूल है और निराकरणीय है तो योगाचार बौद्धमत ही समीचीन है। किन्तु यह प्रश्न संगत नहीं है। शंकराचार्य ने बलपूर्वक योगाचार मत का खंडन करते हुए यह स्थापित किया है कि वस्तु के अभाव में बुद्धि वस्तु के विज्ञान का रूप नहीं ग्रहण कर सकती। इसके अतिरिक्त, यदि मोक्ष हेतु वाह्य जगत् का कोई प्रयोजन न भी हो, उसकी सत्ता निराधार

नहीं कही जा सकती। प्रत्यक्ष में हमें वस्तु का अनुभव होता है : इस नाते नहीं कि वस्तु का कोई प्रयोजन होता है बल्कि इस नाते कि वस्तु के कारण ही वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। अतएव बाह्यजगत् अपने बल से अथवा ईश्वरकृत होने से, सत्तावान है और मोक्ष हेतु इसके निरास की आवश्यकता भी नहीं है। जो बंधन का कारण है, वही निराकरणीय है। ईश्वर की सृष्टि अथवा जगत् का द्वैत बंधन का कारण नहीं है। जीव कृत जगत् या मनोमय द्वैत बंधन का कारण है और वही निराकरणीय है। पुनः यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि यदि ईश्वरकृत द्वैत निरस्त नहीं हो सकता तो अद्वैत ज्ञान कैसे संभव है और श्रुतियों के इस कथन का अर्थ कैसे निर्धारित होगा कि ज्ञाते द्वैतं न विद्यते? स्वामी विद्यारण्य इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं "ईश्वरकृत द्वैत अद्वैत ज्ञान में बाधक न होकर साधक है क्योंकि शास्त्र एवं गुरु के रूप में रचित द्वैत अद्वैत ज्ञान को सुगम बनाता है। इसके अतिरिक्त ईश्वरकृत आकाश आदि द्वैत का निराकरण हो नहीं सकता। इसीलिए आवश्यक यह है कि ईश्वरकृत द्वैत के मिथ्यात्व को समझा जाये। इसके निराकरण के प्रयास की कोई आवश्यकता नहीं है। वह भय या पलायन का विषय नहीं है।"[18]

ईश्वरकृत द्वैत की यह अवधारणा द्वैत निरास को समझने की कुंजी है और नैतिक–सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। हमें इसी जगत् में रहना है। हमारा प्रयास इसके मिथ्यात्व को समझने पर केन्द्रित होना चाहिए न कि इसके निराकरण पर। अद्वैत वेदांत के इसी विचार के समानान्तर विचार हमें कांट के दर्शन में भी दिखायी देते है। अनुभवातीत भ्रम की व्याख्या करते हुए कांट कहता है कि अनुभवातीत भ्रम का अधिष्ठान स्वयं मानव बुद्धि (रीजन) है। स्वाभाविक होने के नाते वह बार–बार मानव बुद्धि को भ्रमित करता रहता है। आत्मचेतन मानव बुद्धि केवल अनुभवातीत भ्रम को समझ सकती है और इसी अर्थ में वह अपने को उससे भ्रमित होने से बचा सकती है।[19]

अब हम इस लेख के प्रारंभ में उठाये गये अपने मूल प्रश्न पर एक बार पुनः लौटते हैं। हमने प्रश्न उठाया था : ब्रह्म में अधिष्ठित बाह्य जगत् का निरास कैसे हो सकता है ? अपने विवेचन से जो उत्तर हमें प्राप्त हुआ वह यह है कि बाह्य जगत् के निरास की आवश्यकता नहीं है, केवल उसके मिथ्यात्व का ज्ञान होना चाहिए और अद्वैत वेदांत के प्रायोजनों के लिए यह पर्याप्त है। हमने पुनः यह प्रश्न उठाया था कि जब अनुभव में द्वैत का तिरोभाव नहीं देखा जाता तब उस तिरोभाव का क्या अर्थ है। इस प्रश्न का हमें यह उत्तर मिला कि अद्वैत वेदांत द्वारा जिस द्वैत का तिरोभाव अपेक्षित है वह जीवकृत द्वैत है। यह द्वैत मनोमय है जिसंका जन्म जीव के ज्ञान और क्रिया से होता है। यही द्वैत बंधन का कारण है और अद्वैत ज्ञान से इसी का निरास होता है। संक्षेप में, ईश्वरकृत द्वैत के मिथ्यात्व का ज्ञान होना चाहिए और जीवकृत द्वैत का निरास होना चाहिए। जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान उसका निरास नहीं है। मिथ्यात्व के ज्ञान का तात्पर्य यह है कि अब वह हमें भ्रमित नहीं करता अर्थात् अब हम यह विश्वास नहीं करते कि ब्रह्म से अन्य जगत् की सत्ता है। जीवकृत द्वैत का निरास हो जाता है क्योंकि उसका मूल जीव की संकल्प–बुद्धि है और अद्वैत–सम्मत अनुशासन के अभ्यास से संकल्प–बुद्धि की वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। जीवकृत द्वैत के निरास से ही जीवन मुक्ति की स्थिति उत्पन्न होती है। जीवनमुक्त व्यक्ति जीवकृत द्वैत का अतिक्रमण करके तथा ईश्वरकृत द्वैत के मिथ्यात्व को समझकर अद्वैत की स्थिति प्राप्त कर लेता। ऐसा व्यक्ति आत्मकाम हो जाता है तथा स्थितिप्रज्ञ के रूप में लोकसंग्रह हेतु सक्रिय जीवन व्यतीत करता है।

द्वैत की फेनामेनालॉजी

पश्चिम के दार्शनिकों ने भी विभिन्न तरीकों से जगत् की व्याख्या करने का प्रयास किया है। अपने प्रयोजन की दृष्टि से हम एडमण्ड हुसर्ल की फेनोमेनालॉजिकीय पद्धति का संक्षिप्त उल्लेख करके यह दिखाना चाहेंगे कि अद्वैत वेदांत के द्वैतनिरूपण में फेनोमेनालॉजिकीय पद्धति का एक अति श्रेष्ठ रूप उपलब्ध है। हुसर्ल जगत् के प्रदत्त स्वरूप को ज्यों का त्यों स्वीकार करने के बजाय उसके मूल स्वरूप को या उसकी प्रदत्तता की शर्तों को समझना चाहता है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वह जगत् को कोष्ठीकृत करके चेतना की विषयापेक्षी क्रियाओं का अनुसंधान करता है। वस्तु के प्रत्यक्ष या प्रतीति में चेतना की विषयापेक्षी क्रिया अनिवार्यतः विद्यमान होती है और वस्तु के वस्तुत्व का रहस्य उसी में निहित होता है। इसलिए वस्तु–जगत् को समझने के लिए हुसर्ल वस्तु–जगत् को अपने अनुसंधान से कुछ समय के लिए बाहर कर देता है और चेतना की आंतरिक क्रियाओं का विश्लेषण करता है। विश्लेषण की इस प्रक्रिया में हुसर्ल क्रमशः वस्तु जगत् से दूर होता जाता है तथा उसके फेनोमेनालॉजिकीय अन्वेषण की परिणति अनुभवातीत आत्मा की स्थापना में होती है। प्रारंभ में कोष्ठीकृत हुआ जगत् पुनः विचार के लिए प्रस्तुत नहीं होता और इस तरह फेनोमेनॉलाजी का अंत अनुभवातीत प्रत्ययवाद में होता है।[20] अद्वैत वेदांत में फेनोमेनालॉजी का जो रूप मिलता है उसे हुसर्ल की ''सतही फेनोमेनालॉजी'' की तुलना में ''आध्यात्मिक फेनोमेनालॉजी'' कहा जा सकता है।[21] अद्वैत फेनोमेनालॉजी सही अर्थों में समग्र अनुभव की फेनोमेनालॉजी है। वह विषयी तथा विषय दोनों की फेनोमेनालॉजी है। उसके अनुसार जो विषयी का सत्य है वही विषय का भी सत्य है। यद्यपि हुसर्ल ने जागृत जीवन में अनूभूत विषयों के अतिरिक्त स्मृति, स्वप्न, कल्पना आदि में भी अनुभूत विषयों को वस्तु रूप में स्वीकार किया है किन्तु इसके विश्लेषण की सीमा जागृत अनुभव की ही चेतना है। अद्वैत फेनोमेनालॉजी जागृत जीवन के अतिरिक्त स्पप्न तथा सुषुप्ति की चेतनाओं का विश्लेषण करती हुई अंततः उनकी आधारभूत तुरीय चेतना तक जाती है। जागृतावस्था की चेतना का विषय वास्तविक पदार्थ होते हैं, स्वाप्निक चेतना के विषय मानसिक पदार्थ होते हैं तथा सुषुप्ति दशा में चेतना की विषयापेक्षी क्रिया स्थगित होती है। तुरीय चेतना विषयापेक्षा से रहित शुद्ध चेतन सत्ता के रूप में अवस्थित होती है। माण्डूयकारिका तथा ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य के तत्पदार्थशोधन एवं त्वंपदार्थशोधन में विषयी तथा विषय दोनों की फेनोमेनालॉजी का उत्कृष्ट रूप देखने का मिलता है। इस विश्लेषण में समस्त प्रपंचात्मक सत्ता अंततः शुद्ध चेतन–सत्ता अथवा ब्रह्म में न्यूनीकृत हो जाती है जिसमें विषयापेक्षी प्रवाह नहीं होता।

द्रष्टव्य है कि हुसर्ल का उद्देश्य दर्शनशास्त्र को एक सुदृढ़ विज्ञान बनाना तथा समस्त ज्ञान एवं प्राकृतिक विज्ञानों को तार्किक आधार प्रदान करना था। इस उद्देश्य तक पहुँचने के लिए प्रदत्त प्राकृतिक जगत् में अनालोचनात्मक विश्वास को स्थगित करना आवश्यक था। हुसर्ल का फेनोमेनालॉजिकीय अनुसंधान दो संसारों का उद्घाटन करता है : एक, असंरचित जगत् तथा दूसरा संरचित जगत्। हुसर्ल का उद्देश्य संरचित जगत् के विश्लेषण से ही पूरा हो जाता है। अद्वैत फेनोमेनालॉजी और गहराई में जाती है। हुसर्ल की भाँति उसमें भी दो प्रकार के जगत् उद्घाटित

हैं : संरचित जगत्, जो कि जीवकृत द्वैत है तथा असंरचित जगत्, जो कि ईश्वर कृत द्वैत है। अद्वैत वेदांत के लिए संरचित अथवा जीवकृत द्वैत का विवेचन जितना आवश्यक है उतना ही असंरचित अथवा ईश्वरकृत द्वैत का भी, दोनों जगत् या द्वैत अविद्याजन्य हैं। एक अविद्या विश्व–अविद्या है और दूसरी व्यष्टि–अविद्या। विश्व–अविद्या के ज्ञान से ईश्वरकृत जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान होता है तथा व्यष्टि–अविद्या के ज्ञान से जीवकृत प्रपंचात्मक जगत् का निरास होता है। दोनों प्रकार के ज्ञान अंततः यह उद्घाटित करते हैं कि समस्त प्रतीयमान द्वैत का आधार आत्मा अथवा ब्रह्म है जो कि शुद्ध चैतन्य, शुद्ध सत्ता तथा आनन्द स्वरूप है और उसका कोई विषयापेक्षी सहवर्ती नहीं होता। हुसर्ल ने भी अनुभवातीत आत्मा तथा इन्द्रियानुभाविक आत्मा में भेद किया है किन्तु विश्लेषण की प्रक्रिया में वह इस भेद के पूर्ण निहितार्थों को स्थापित नहीं कर पाता और कभी–कभी वह इसे विस्मृत भी कर देता है।[22] अद्वैत वेदांत में इस भेद पर भली–भाँति शोध किया गया है और यह स्थापित किया गया है कि दोनों आत्मा वस्तुतः एक ही है। वस्तु–जगत् के द्वैत में निमग्न आत्मा (जीव) तत्त्वतः ब्रह्म है : बाह्य जगत् के रूप में प्रतीयमान द्वैत तत्त्वत ब्रह्म से अनन्य है।

ईश्वरकृत द्वैत तथा जीवकृत द्वैत के उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं : ईश्वर ने जगत् के द्वैत की रचना की। यह द्वैत मिथ्या है किन्तु यह निरापद है किंवा अद्वैत ज्ञान में साधक है। जीव अपने ज्ञान तथा कर्म द्वारा ईश्वर रचित द्वैत पर अपने द्वारा रचित एक अन्य द्वैत खड़ा करता है। यही द्वैत अनर्थों का कारण तथा बंधनकारी है। यही द्वैत निराकरणीय है। हम अपने इन्द्रियानुभविक जीवन में अनेक प्रकार के भेदों की रचना करते हैं तथा इन्हें मूल्य प्रदान करके उनके प्रति आसक्त होते हैं। किन्तु वे मिथ्याजगत् की पूर्वस्वीकृत वास्तविकता पर आधारित मिथ्या मूल्य होते हैं। इस द्वैत तथा इसके आधारभूत सत्य के ज्ञान से न केवल अद्वैत ज्ञान रूप मोक्ष की उपलब्धि होती है अपितु उसी से अनाशक्त जीवन जीने की कुंजी भी प्राप्त होती है। यह अद्वैत दृष्टि एक सुन्दरतम विश्व के निर्माण की आधारशिला है जिसका संचालन आपसी समझ और सौहार्द, प्रेम तथा सहानुभूति, करुणा तथा समानता जैसे सद्गुणों से होगा। द्वैत निरास तथा अद्वैत की स्थापना का यह व्यावहारिक पक्ष है।



सन्दर्भ –

1. *अभ्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेय व्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि। उपोद्घात, ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य*
2. *वस्तुतंत्रमेव तत्, वही, 1.1.4*
3. *गीता 2.16*
4. *ईश्वरेनापि जीवने सृष्टं द्वैत विविच्यते। विवेके सति जीवने हेयो बंधः स्फुटीभवेत्।। पंचदशी, 4.1*
5. *ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 1.1.22*
6. *न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृत्तिद्देश्यते न तस्य सेति। भवतु तस्यैव सा। वही, 1.2.13*
7. *तैत्तिरीय उपनिषद् 2.1.*
8. *वही 2.6*
9. *मुण्डकोपनिषद् 2.11*
10. *कृत्वा रूपांतरं जैवं देहे प्राविशदीश्वरः। इति ताः श्रुतयः प्राईुजीवतं प्राणधारणात।। पंचदशी, 4.10./प्राणधारणात्*

11. बृहदारण्यकोपनिषद् 1.5.1–2.
12. ईशेन यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः। तथापि ज्ञानकर्मभ्याम् जीवो कार्शीत दन्नताम्।। पंचदशी, 4.17
13. सार्त्र, बीईंग एंड नथिंगनेस (अनु. हैजेज बार्न्स) लन्दनः मेथ्यून ऐंड कं. लि. 1969
14. मैवम् मांसमयी योषिकत् काचिदन्या मनोमयी। मांसमय्याऽभेदेपि भिद्यते हि मनोमयी।। पंचदशी 4.25
15. सत्यमेवम् विषयौ द्वौस्तो घटौ मृण्मयधीमयौ। मृण्मयो मानमेयः स्यात् साक्षिभास्यतु धीमयः।। वही, 4.31
16. ऐतरेयोपनिषद 1.1
17. पंचदशी 4.32–35
18. अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम्। अपनेतुमशक्यं चेत्यास्ताम् तद् द्विष्यते कुतः।। वही, 4.42
19. कांट, क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन, बी. 355,ए 298
20. मिश्र, सभाजीत, द ऐंग्विश्ड फ्रीडम, अलीगढ़ : एस. के. पब्लिशर्स, 2004 पृ.32
21. बाल सुब्रमण्यम, आर. फेनोमेनालॉजी ऑफ कांशसनेस, नयी दिल्ली : आई. सी.पी. आर. प्रकाशन 2003, पृ. 14
22. द्रष्टव्य हुसर्ल, पेरिस लेक्चर्स (अनु. पीटर कोएस्टेनबाम) द हेग : मार्निटनस निजाफ, 1970, पृ. 15

जगत्-मिथ्यात्व का निहितार्थ

संजय कुमार शुक्ला

I

अद्वैत वेदान्त में विश्व की मौलिक एकता प्राप्य है, अतएव ब्रह्म की कल्पना जगत् के मूल उपादान के रूप में हुई है। यह अद्वैत दृष्टि समस्त विश्व एवं उसके असंख्य वैचित्र्य में एक अनन्त और अखण्ड, आत्मपर्याप्त चेतन सत्ता की लीलामय अभिव्यक्ति देखती है। ऐन्द्रिक प्रतिभासों से सूचित एवं मानसिक विकल्पों से परिभाषित दृश्यमान जगत् का अंततः विलय ब्रह्मानुभूति में होता है। अद्वैत स्वानुभूति–सिद्ध है, भेद जगत् व्यवहार–सिद्ध, अतः दोनों के तार्किक अन्वयन के लिए वेदान्त की परंपरा में अज्ञान और मिथ्यात्व की अवधारणा का प्रतिपादन एवं परिष्कार किया गया है। वस्तुतः अद्वैत की सिद्धि आत्मज्ञान में ही होती है और जगत् के मिथ्यात्व का प्रत्यय यही सूचित करता है कि ज्ञानी के लिए तथा–कथित अनात्म–विषय पूर्ववत् सत्य नहीं रहते हैं। मिथ्यात्व का एक अर्थ अनिर्वचनीयत्व है तो दूसरा दृश्यत्व मिथ्यात्व का साधक हेतु है। अव्यभिचारित्व अथवा अबाधितत्व ही सत्य का नियामक है और यह नियम व्यवहार एवं परमार्थ पर समान रूप से लागू होता है। व्यावहारिक वस्तु का सत्यत्व इस बात में है कि जिस रूप में वह जहाँ अवधारित होती है उस रूप में वहाँ व्यावहारिक ज्ञान से बाधित नहीं होती है। व्यावहारिक रूप से सत्य होते हुए भी उस वस्तु का ब्रह्म ज्ञान से अपने अधिष्ठान में बाधित होना ही उसका मिथ्यात्व है। रज्जु–सर्प में आरोपित सर्प भ्रम का विषय है जो कि भ्रान्तिकाल में प्रत्यक्षरूपेण उपलब्ध होता है किन्तु ज्ञानोपरान्त वह निश्चित हो जाता है कि वह किसी अन्य अधिष्ठान पर पूर्व अनुभव के संस्कार से और उपलब्धि–साधन के दोष से आरोपित था। भ्रान्तिकाल में उपलब्ध होने के कारण उसे सर्वथा असत् नहीं कहा जा सकता, तो वहीं ज्ञानकाल में उसके अभाव के निश्चय से उसे सत् नहीं कहा जा सकता। विषय–पक्ष में "सर्प" सत्ता अधिष्ठान सापेक्ष है, विषयि पक्ष में प्रतीति, संस्कार करण–दोष सापेक्षता है। अतः उसकी स्वतंत्र सत्ता न होकर किसी अपेक्षाकृत स्वतंत्र अधिष्ठान में प्रतीति–सापेक्ष सत्ता है, जिसे अद्वैत परंपरा में अनिर्वचनीय या मिथ्या कहते हैं। श्रुति एवं अनुभूति के आधार पर यह मान्य है कि जगत् भी ब्रह्मरूप अधिष्ठान पर अज्ञान के द्वारा आरोपित है और ज्ञान से निवृत्त हो जाता है, जगत् को भी सर्प के समान अनिर्वचनीय अथवा मिथ्या माना जाता है।[1]

अद्वैत वेदान्त को श्लोकार्ध में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है – ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है अर्थात् उससे भिन्न नहीं है (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः)। जीव और जगत् दोनों मायाकृत हैं। जगत् प्रपञ्च माया की प्रतीति है, जिस प्रकार रज्जु–सर्प भ्रम में सर्प की प्रतीति होती है और रज्जु के ज्ञान से सर्प का बाध होता है, उसी प्रकार ब्रह्म, अविद्या या माया के कारण, जीव–जगत् प्रपञ्च रुप में प्रतीत होता है और निर्विकल्प अपरोक्ष ज्ञान (ब्रह्मानुभूति) से जीव–जगत्–प्रपञ्च का बाध या निरास होता है। शंकराचार्य ने अपने

दर्शन विभाग, यूइँग क्रिश्चियन कॉलेज, इलाहाबाद (उ.प्र.)

ब्रह्मसूत्रभाष्य में भ्रम अथवा मिथ्या का विश्लेषण करते हुए लोकव्यवहार को दो तत्त्वों के मिलन अथवा तादात्म्य पर आश्रित माना है– एक तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व जो विषयी, ज्ञाता, चेतन और नित्य है एवं 'अहं' प्रत्ययगोचर है; और दूसरा विषय, ज्ञेय, जड़ एवं अनित्य है एवं इदं (युष्मत्) प्रत्ययगोचर है। यह युक्तियुक्त है कि विषयी आत्मा और विषयरूपी अनात्मा जो कि परस्पर नितान्त भिन्न एवं विलक्षण हैं, अतः उनके मिलन या सम्बन्ध की प्रतीति और तज्जन्य लोक–व्यवहार मिथ्या ही होना चाहिए।[2] इस सम्बन्ध की मिथ्या प्रतीति कराने वाली माया मूलविद्या है, विराट समष्टि की भ्रान्ति है जो समस्त विश्व की जननी है और संसार–चक्र चला रही है। अतः सत् आत्मा और असत् अनात्मा का एक दूसरे पर आरोप एवं एक के धर्मों का दूसरे के धर्मों पर आरोपण हमारे लिए स्वाभाविक है क्योंकि हमारा समस्त लोक–व्यवहार इसी अनादि मिथ्याज्ञान पर, इस सत् और असत् के मिलन पर, इस सत्य और अनृत के मिथुनीकरण पर आश्रित है।[3] अद्वैत वेदान्त में सत् वह है जिसका त्रिकाल में बाध नहीं हो सके (त्रिकालाबाध्यत्वं सत्त्वम्) अर्थात् जो कूटस्थ, नित्य एवं अपरिणामी हो और इस अर्थ में केवल ब्रह्म अथवा आत्मा ही सत् अथवा परमार्थ है। असत् वह है जिसकी त्रिकाल में कोई सत्ता न हो और जिसमें कभी सत् के रूप में प्रतीत होने का सामर्थ्य न हो (क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वम् अत्यन्तासत्त्वम्) और इस अर्थ में बन्ध्यापुत्र एवं खपुष्प आदि असत् हैं। वेदान्त में 'सत्' एवं 'असत्' शब्द अपने आत्यन्तिक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु हमारे समस्त लौकिक अनुभव में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसे हम वेदान्तिक दृष्टि में सत् या असत् कह सकें। सत् ब्रह्म हमारे लौकिक अनुभव के ऊपर है और असत् या तुच्छ बन्ध्यापुत्रादिक लौकिक अनुभव के नीचे हैं। अतः हमारे लौकिक अनुभव का संपूर्ण क्षेत्र 'सदसदनिर्वचनीय' या 'मिथ्या' पदार्थों तक सीमित है। जो भी पदार्थ हैं, वह ज्ञेय, दृश्य, परिच्छिन्न और अचित् होने के कारण मिथ्या हैं; जो मिथ्या है वह अविद्या या भ्रम है। अद्वैत वेदान्त में भ्रम अथवा अविद्या के दो रूप हैं– व्यक्तिगत भ्रम (प्रतिभास) एवं समष्टिगत भ्रम (व्यवहार)। शंकराचार्य ने प्रतिभास एवं व्यवहार में भेद कर व्यवहार को उच्चतर स्तर का माना है और जगत् की व्यावहारिक सत्ता का एवं उसके सापेक्ष सत्यत्व का साग्रह प्रतिपादन किया है। जगत् प्रपञ्च एक व्यावहारिक वास्तविकता है जो ब्रह्मज्ञान होने तक बनी रहती है। प्रतिभास जीवसृष्ट है, व्यवहार ईश्वर सृष्ट है। प्रतिभास साक्षिभास्य एवं व्यक्तिगत है, जबकि व्यवहार वृत्तिभास्य एवं समष्टिगत है। प्रतिभास की सत्ता उपलब्धि तक ही सीमित है, व्यवहार की सत्ता उपलब्धि के बाद भी बनी रहती है। स्वप्न–प्रतिभास मानस और इन्द्रियसन्निकर्षरहित होता है, व्यवहार बाह्य एवं इन्द्रियसन्निकर्षसहित होता है। प्रतिभास क्षीण अस्पष्ट एवं अल्पकालिक होता है, व्यवहार तीव्र, स्पष्ट एवं दीर्घकालिक होता है।

शंकराचार्य ने व्यवहार के स्तर पर समस्त प्रपञ्च के सत्यत्व को स्वीकार किया है। वे तो प्रतिभास तक को उसके स्तर पर सत्य मानते हैं, जिसे वस्तुवादी असत् स्वीकार करते हैं। प्रतिभास और व्यवहार असत् नहीं है; अपितु सदसदनिर्वचनीय और मिथ्या हैं। जगत् सत् नहीं है क्योंकि वह ब्रह्म के समान नित्य एवं कूटस्थ नहीं है; किन्तु वह असत् भी नहीं है क्योंकि वह बन्ध्यापुत्र के समान प्रतीति–रहित नहीं है। जगत् को जिस 'सत्ता' से वंचित किया गया है वह कूटस्थ नित्यता है; तथा उसे जिस 'असत्ता' से भूषित किया गया है वह अनित्यता एवं

देशकालावच्छिन्नता है। व्यवहार के स्तर पर जगत् का निषेध असंभव है, और परमार्थ विधि–निषेध के परे है। अतः कोई भी व्यक्ति जगत् का निषेध अथवा खण्डन नहीं कर सकता है; क्योंकि जो उसका निषेध करता है वह उसका अधिकारी (उपयुक्त) नहीं है, और जो उसके उपयुक्त है वह ऐसा नहीं करेगा; क्योंकि वह भाषा एवं विचार के ऊपर उठ चुका है।

II

अद्वैत वेदान्त के जगत्–मिथ्यात्व के विरूद्ध एक स्वाभाविक शंका यह होगी कि जब जगत् हमारे समस्त व्यावहारिक कर्मों के लिए पर्याप्त है तो उसे यथार्थ मानना चाहिए। वेदान्ती शंका का समाधान इस प्रकार से करते हैं कि बहुधा भ्रान्तिमय प्रत्यक्ष से अनेक व्यावहारिक क्रियायें सम्पन्न होती हैं। रज्जु को सर्प के रूप में जब हम देखते हैं तो उससे वैसा ही भय लगता है जैसा वास्तविक सर्प को देखकर लगता है। स्वप्न में भी हमें सुख एवं दुःख की अनुभूति होती है, किन्तु हम इन्हें यथार्थ रूप में कदापि स्वीकार नहीं कर सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का उसके कर्मों के अनुरूप ही इस संसार में अनुभूति क्षेत्र का निर्माण होता है। अतः एक व्यक्ति के संस्कारों से दूसरे व्यक्ति के अनुभूति क्षेत्र का विनिश्चय संभव नहीं है। दृश्यमान जगत् की अनुभूति को हम मात्र व्यक्तिनिष्ठ स्वानुभूति नहीं कह सकते क्योंकि मनुष्य के व्यक्तिगत संज्ञान के पूर्व भी जगत् प्रपंच अनादिकाल से चला आ रहा है।

गौड़पादाचार्य ने अजातिवाद का प्रतिपादन किया है जो उपनिषद् के "नेह नानास्ति किंचन" से अभिप्रेरित है। वे जगत् की मायिक रचना और उसकी मिथ्या प्रतीति को स्वप्न के सदृश स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में जिस प्रकार स्वप्न काल में मन माया से ही द्वैताभास रूप में स्फुरित होता है उसी प्रकार जाग्रत् काल में भी वह माया से ही द्वैताभास रूप में स्फुरित होता है (यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः तथा जाग्रद् द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः)। वस्तुतः न जगत् है और न वह उत्पन्न ही हो सकता है। सर्वत्र ब्रह्म ही है जो भ्रान्ति से नामरूपात्मक जगत् में प्रतीत होता है। जगत् न होने पर जीव की सत्ता भी सिद्ध नहीं होती है। शंकराचार्य ने जगत् की उतनी उपेक्षा नहीं की है जैसा हम गौड़पाद के अजातिवाद में पाते हैं, अपितु वे जगत् की उत्पत्ति का कारण, विस्तार एवं घटक आदि विभिन्न पक्षों की विस्तृत विवेचना करते हुए समस्त नामरूप, क्रिया कारक एवं उसके फल को जगत् के अंतर्गत स्वीकार करते हैं (जगतो नामरूपक्रियाकारक फल जातस्य)। यह जगत्–सत्त्व, रजस एवं तमस् से संरचित है (रजस्तमः सत्त्वमिति प्रसिद्धा गुणास्तदीयाः प्रथितैः स्वकार्यैः)। यही तीनों गुण मिलकर माया का अव्यक्त रूप निर्धारित करते हैं जिसके व्यक्त होने पर समस्त जगत् का विस्तार होता है। शंकराचार्य ने जगत् एवं संसार में स्पष्ट विभेद करते हुए संसार को क्रिया, कारक और फलरूप भेद में परिभाषित किया है (क्रियाकारकफलभेदी हि संसारः)। सुख–दुःखों का भोग ही संसार है और पुरुषों में जो सुख–दुःखों का भोक्तृत्व है वही उसका संसारित्व है।[4] क्रिया, कारक और सुख–दुःख रूपेण फल तो संसार का रूप निर्धारित करते हैं, किन्तु उसके कारण पर विचार करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि यद्यपि संसार का कारण अविद्या है तो भी भोगे जाते हुए सुख–दुःख और मोहरूप गुणों में जो आसक्त हो जाता है वह जन्मरूप संसार का प्रधान कारण है (सत्याम् अपि अविद्यायां सुखदुःखमोहेषु गुणेषु भुज्यमानेषु यः संगः आत्मभावः संसारस्य स प्रधानं कारणं जन्मनः)। अतः हम

कह सकते हैं कि अविद्या, गुणों का संग, कर्त्ताभाव, विषयों की कामना और उनके प्राप्ति की योजना, कर्म में प्रवृत्ति तद्नुरूप सुख–दुःख की प्राप्ति और उनका भोग ही संसार है। यह संसार ही जीव का बंधन है जो कि जगत् से भिन्न है। यद्यपि संसार की सत्ता जगत् के अंतर्गत है किन्तु संसार जगत् का पर्याय नहीं है। जीवनमुक्त व्यक्ति संसार से निवृत्त हो जाता है अर्थात् उसके संसार का लय हो जाता है, किन्तु जगत् नष्ट नहीं होता है। ब्रह्मरूपी सत् वस्तु पर नामरूपात्मक जगत् अध्यारोपित है। पारमार्थिक दृष्टि से जगत् कुछ भी नहीं है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से जगत् की मनुष्य से स्वतंत्र सत्ता है। जगत् की प्राप्ति पर जीव अपनी अविद्या की कल्पना से अहं और ममत्व का सृजन करता है और उसे जगत् के एक अंश पर अध्यारोपित करता है, तथा इसे ही संसार से व्यवहृत किया जाता है। प्रलय काल में जैसे जगत् के नष्ट होने पर ब्रह्म का विनाश नहीं होता अर्थात् वह असंग रूप से विद्यमान रहता है, इसी प्रकार ज्ञानी जीव के संसार का लय हो जाता है, किन्तु उसके नष्ट होने से जगत् की वस्तुओं की सत्ता अप्रभावित रहती है। अतः जगत् की वस्तुगत एवं इन्द्रियानुभविक सत्ता है जबकि संसार आत्मगत और मनोवैज्ञानिक सृष्टि है।

अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तकों के संदर्भ में एक मूलभूत भ्रान्ति यह है कि अनुभूत विषयों के निषेध में वे जगत् की वस्तुनिष्ठ सत्ता का निषेध करते हैं। वे वस्तुतः वस्तुनिष्ठ सत्ता का निषेध नहीं करते, अपितु उसके अनुभव अथवा ज्ञान का जो अविद्याजन्य है का निरास करते हैं। जगत् में नामगत एवं रूपगत भेद का कारण अज्ञान है और इस अज्ञान के नाश से जगत् के मिथ्यात्व की सिद्धि होती है। जगत्विषयक समस्त विचार अंततः मानव मन की संरचना अथवा कल्पना हैं, और ब्रह्म ही इन कल्पनाओं (सृजन) का वस्तुनिष्ठ तात्त्विक आधार है। ब्रह्मानुभूति के पूर्व जगत् के संदर्भ में विभिन्न विचार एवं उनके प्रति अस्तित्वात्मक एवं व्यावहारिक हेतुओं से जनित आसक्ति सार्थक एवं उचित प्रतीत होती है। जगत् की वस्तुनिष्ठ सत्ता के निषेध से शंकराचार्य का आशय जगत् विषयक विभिन्न विचारों अथवा धारणाओं की वस्तुनिष्ठ वैधता का निषेध है। ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति से एन्द्रिक भेदगत अनुभव का बाध होता है। अतः जगत् के नानात्व (प्रपंच) के खण्डन में वस्तुतः एन्द्रिक अनुभव की वस्तुनिष्ठ वैधता का खण्डन है जो ब्रह्मानुभव अथवा वस्तुनिष्ठ वैध अनुभूति के आधार पर होता है।[5] रज्जु–सर्प के दृष्टान्त में जब हम रज्जु को रज्जु के रूप में देखते हैं तो सर्प का वहाँ कोई अस्तित्त्व नहीं होता, उसी प्रकार सत् के वस्तुनिष्ठ अनुभव में जागतिक अनुभव समाप्त हो जाता है, एवं ब्रह्म की एक मात्र सत्ता रह जाती है। सत् पर अध्यारोपित समस्त दृष्टियाँ जब खण्डित हो जाती हैं तब सत् अपने यथार्थ अथवा वस्तुनिष्ठ स्वरूप में उद्भासित होता है।

III

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म की एक मात्र सत्ता को स्वीकार किया गया है और इस तात्त्विक एवं तार्किक बाध्यता के कारण वे प्रतिपादित करते हैं कि 'जगत् मिथ्या है'। अद्वैत वेदान्त के इस कथन कि 'जगत् मिथ्या है' से सहमति अथवा असहमति व्यक्त करने के पूर्व यह अपेक्षित है कि इसमें प्रयुक्त पदों 'जगत्' एवं 'मिथ्या' का सम्यक् विश्लेषण किया जाए। जगत् से आशय मात्र वाह्य दृश्यमान जगत् नहीं है, अपितु इसके अंतर्गत हमारा शरीर एवं मानसिक अवस्थायें भी आती हैं। अतः इस प्रकार से जो भी हमारे समक्ष वाह्य अथवा आंतरिक रूप में, मन अथवा इन्द्रियों को

उपलब्ध होता है जगत् के अवयव अथवा घटक है, और जगत् के मिथ्यात्व का अर्थ इन सभी का मिथ्या अथवा आभास होना है। हम जो कुछ भी विषय के रूप में अनुभूत, विचार अथवा कल्पित करते हैं मिथ्या के अंतर्गत आते हैं। हमारा समस्त व्यापार एवं कर्म जगत् में संभव होता है– एक तथ्य है– तो ऐसी स्थिति में लोकानुभव के धरातल पर इसे कैसे मिथ्या स्वीकार करें ? हमारे दैनिक जीवन में भ्रम के अनेक उदाहरण प्राप्त लेते हैं यथा रज्जु–सर्प, शुक्ति–रजत इत्यादि जिनका साक्षात् सम्बन्ध दृष्टिगत आभास से है, किन्तु इस स्थल पर एक सामान्य प्रश्न यह होगा कि भ्रम के इन स्थापित उदाहरणों से यह कैसे प्रमाणित होता है कि संपूर्ण जगत् ही मिथ्या है? जगत् मिथ्या है का तार्किक औचित्य प्रायः यह दिया जाता है कि जगत् आभास है। आभास के कुछ उदाहरण जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति, शुक्ति में रजत का आभास आदि असत्य अथवा मिथ्या है, और इन आभासों एवं जगत् के स्वरूप में कोई भेद नहीं है। यदि इस तर्क को युक्ति के रूप में प्रस्तुत किया जाए तो यह दोषपूर्ण सिद्ध होती है। युक्ति का तार्किक स्वरूप होगा कुछ आभास मिथ्या है एवं जगत् एक आभास है, अतः जगत् मिथ्या है। यह युक्ति स्पष्टरूपेण अव्याप्त मध्यम पद तर्कदोष से ग्रसित है। हम यह कल्पित नहीं कर सकते हैं कि आभास एवं मिथ्या में सम्बन्ध विश्लेषणात्मक है अर्थात् मिथ्यात्व का विचार आभास में अंतर्निहित होता है। यदि ऐसा होता तो हमें आभास के रूप में रज्जु–सर्प के विशेष उदाहरण की आवश्यकता इस बात को प्रमाणित करने के लिए नहीं होती कि समस्त आभास मिथ्या हैं। पुनः भ्रमात्मक आभास का मिथ्यात्व किसी युक्ति के द्वारा सिद्ध नहीं होता। इसका मिथ्यात्व तो आभास के स्थल से लुप्त हो जाने से निरूपित होता है, किन्तु जगत् तो स्थायी प्रतीति है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'जगत् एक मिथ्या है' का कोई तार्किक आधार नहीं है।[6] मिथ्यात्व का प्रत्यय जगत् के अंतर्गत तब महत्वपूर्ण होता है जब कोई वस्तु विशेष पर अन्य का अध्यारोप होता है। रज्जु (अधिष्ठान) रज्जु–सर्प के भ्रम में सर्प (अध्यस्त) को मिथ्याकृत करता है, किन्तु वह क्या है जो जगत् के मिथ्यात्व को संभव बनाता है? हम यह नहीं कह सकते कि वह ब्रह्म है जो जगत् को मिथ्या में घटित करता है, क्योंकि ब्रह्म कभी भी वस्तुनिष्ठ रूप में देखा अथवा विचारित नहीं किया जा सकता है। जगत् के मिथ्यात्व में केवल भौतिक पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं आता, अपितु जो कुछ भी वस्तुनिष्ठ अंतर्वस्तु के रूप में विचारित हो सकता है वह भी जगत् में अंतर्निहित होता है। अतः जगत् मिथ्या है कहने का आशय यह होगा कि वस्तुतः जगत् में कोई वस्तुनिष्ठ अंतर्वस्तु नहीं है। किन्तु क्या हम ऐसी परिस्थिति विचारित अथवा कल्पित कर सकते हैं जिसमें कोई वस्तुनिष्ठ अंतर्वस्तु, नहीं हो ? समस्त चिंतन वस्तुनिष्ठ चिंतन होता है, जगत् मिथ्या है कहने मात्र से ही समस्त विचारों का निषेध होगा जो कि आत्मव्याघाती स्थिति है।

'जगत् मिथ्या है'– कथन में 'जगत्' पद के विश्लेषण के उपरान्त 'मिथ्या' पद भी विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। मिथ्या का अर्थ असत् अथवा तुच्छ नहीं है अपितु अनिर्वचनीय है क्योंकि जगत् न तो ब्रह्म के समान सत् है और न ही बन्ध्यापुत्र के समान पूर्णतया असत् है। जगत् का पूर्ण निषेध अद्वैत वेदान्त की दार्शनिक योजना का अभीष्ट नहीं है, अपितु जगत्–मिथ्यात्व के द्वारा उसके स्वरूप को पूर्ण सत् एवं पूर्ण असत् से भिन्न प्रदर्शित करना है। जगत् की व्यावहारिक सत्ता है, जबकि ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता है, ऐसा स्वीकार करने पर अद्वैतवाद खण्डित नहीं होता

है। अतः जिस प्रकार सर्प की रज्जु में प्रतीति से रज्जु अप्रभावित रहता है उसी प्रकार ब्रह्म भी जगत् की प्रतीति से अप्रभावित रहता है। जगत् के मिथ्यात्व को बोधगम्य बनाने में सत् के निकष अथवा लक्षण के रूप आत्मवर्तिता अथवा स्वतंत्र सत्ता अत्यन्त ही सहायक सिद्ध होती है। यदि कोई वस्तु अपने अस्तित्त्व के लिए अन्य पर आश्रित हो तो वह स्वयं में यथार्थ अथवा सत् नहीं हो सकती है। जगत् की भी सत्ता को सदैव ब्रह्म की अपेक्षा होती है अर्थात् ब्रह्म से विच्छिन्न जगत् की कल्पना एक मिथ्या है। यहाँ कहने का यह आशय नहीं है कि जब हम जगत् को ब्रह्म पर आश्रित स्वीकार करते हैं तो जगत् स्वयं में कुछ नहीं है। हम जिस जगत् में रहते हैं और जानते हैं का अत्यन्त ही घनिष्ठ सम्बन्ध हमारी इच्छा, भावना एवं संकल्प से है। मेरे लिए वास्तविकता अथवा यथार्थ का निर्धारण अपने लक्ष्य अथवा हित के द्वारा होता है और इस प्रकार से यदि लेशमात्र भी सांसारिक (भौतिक) वस्तुओं के प्रति आकर्षण है तो हम सत्यनिष्ठा से यह नहीं कह सकते की जगत् मिथ्या है। जगत् मिथ्यात्व के निहितार्थ को ग्रहण एवं धारण करने की पूर्वशर्त है भौतिकतावाद से मुक्ति। भौतिकतावाद में मनुष्य का अपने स्वरूप से अलगाव होता है और वह वस्तुओं के समूह में एक वस्तु बनकर रह जाता है जिसे अमानवीकरण की प्रक्रिया से व्यक्त किया जाता है। अद्वैत वेदान्त के अध्ययन का अधिकारी व्यक्ति वह है जिसमें सांसारिक वस्तुओं के प्रति वैराग्य का भाव हो। व्यक्ति के आध्यात्मिक उन्नयन का प्रतिफल यह होता है कि हमारा सांसारिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण समाप्त होने लगता है, और केवल ऐसी अवस्था में ही हमें जगत् के मिथ्यात्व का सही अवबोध हो सकता है। अतः जगत् के मिथ्यात्व की अनिवार्य पूर्वशर्त सांसारिक आकर्षण (मोह एवं वासना) से मुक्ति है। सांसारिक आकर्षण से मुक्ति एक नैतिक (व्यावहारिक) कथन है, सैद्धान्तिक समस्या नहीं जिसे किसी तार्किक युक्ति के द्वारा हल किया जाए।[7] यह तो उचित है कि मिथ्या का अवबोध एक संज्ञानात्मक क्रिया है किन्तु इसके लिए आवश्यक है हमारे भावना एवं संकल्प का शुद्धिकरण अथवा आत्म–परिष्कार। अतः यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि यदि जगत् के मिथ्यात्व को तार्किक युक्तियों से प्रमाणित नहीं किया जा सके तो भी उसके नैतिक महत्त्व का अवमूल्यन संभव नहीं है।

IV

अद्वैत वेदान्त में मायावाद का विचार अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यदि ब्रह्म की एक मात्र सत्ता है किन्तु जगत् की अनुभूति हमें सदैव होती है तो इन दोनों विचारों में तार्किक सामंजस्य कैसे संभव है ? परमार्थतः ब्रह्म ही एकमात्र सत् है जो निर्गुण, निर्विशेष एवं भेदरहित सत्ता है, किन्तु सांसारिक जीव कुछ अन्य ही अनुभव करता है जिसके अंतर्गत जगत् का प्रपंच एंव जीवों की विविधता आती है अर्थात् उसे जगत्–जीव–प्रपंच की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। अतः ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के साथ जगत्–जीव–प्रपंच की अन्विति कैसे स्थापित की जाए ? अद्वैत वेदान्त इसके लिए माया की अवधारणा प्रस्तावित करता है जिसके अनुसार माया या अविद्या के कारण निर्गुण, निर्विशेष एवं भेदरहित ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत् एवं जीव की विविधता का अनुभव होता है। माया की अवधारणा अर्थापत्ति प्रमाणजन्य है। शंकराचार्य ब्रह्म की एकमात्र पारमार्थिक सत्ता एवं जगत्–जीव–प्रपंच की प्रत्यक्ष अनुभूति के परस्पर विरोध को दूर करने के लिए माया की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि इसके अभाव में इसकी समुचित व्याख्या संभव

नहीं है। अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में जगत् की स्वतंत्र एवं निरपेक्ष सत्ता नहीं है, अपितु वह अपनी सत्ता के लिए पूर्णतया ब्रह्म पर आश्रित है। मायायुक्त ब्रह्म या ईश्वर इस जगत् का कारण है और इस रूप में ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान' कारण के रूप में स्वीकार किया जाता है। वे 'अनन्यत्व' के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट करते हैं कि जगत् ब्रह्म से अनन्य है।[8] तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म एवं जगत् वस्तुतः एक हैं जिसमें प्रथम सत् एवं द्वितीय आभासवान् है। कारण–कार्य सम्बन्ध का प्रयोग ब्रह्म एवं जगत् के विषय में अनुचित है, क्योंकि जगत् ब्रह्म से अनन्य है। ब्रह्म जगत् का कारण मात्र लाक्षणिक अर्थ में है, क्योंकि वास्तव में ब्रह्म अधिष्ठान है और जगत् उसका आभास है। माया अपनी आवरण शक्ति से ब्रह्म की एकता को प्रच्छादित करती है और विक्षेप शक्ति से ब्रह्म के स्थान पर नामरूपात्मक जगत् को आरोपित करती है। शंकराचार्य ने सामान्यतोदृष्ट अनुमान के आधार पर भी जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है। वे स्वप्न एवं भ्रम से जगत् की तुलना करते हुए जगत् मिथ्यात्व को सिद्ध करते हैं। उनकी दृष्टि में ब्रह्म ही एक मात्र सत् है और ब्रह्म से भिन्न होने के कारण शुक्तिरजत के समान ब्रह्मभिन्न सब कुछ मिथ्या है (ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या ब्रह्मभिन्नवात् शुक्तिरजतवत्)। शुक्तिरजत एवं जगत् में सादृश्य है क्योंकि दोनों ही विषयरूप हैं। शुक्तिरजत की प्रतीति मिथ्या है, अतः वाह्य जगत् को भी मिथ्या होना चाहिए। शंकराचार्य अध्यासवाद के आधार पर भी जगत् की पारमार्थिक सत्ता का निषेध करते हुए उसे मिथ्या सिद्ध करते हैं। स्मृतिरूप पूर्व दृष्ट वस्तु की अन्य वस्तु में प्रतीति अध्यास है (स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः)। अध्यास की एक अन्य परिभाषा यह है कि अतत् में तत् का अनुभव अध्यास है (अतस्मिन् तदबुद्धिरिति अध्यासः) अर्थात् जहाँ जो वस्तु नहीं है वहीं उस वस्तु का बोध अध्यास है। शंकराचार्य अध्यास की एक अन्य परिभाषा भी देते हैं जिसके अनुसार अन्य में अन्य धर्म की प्रतीति अध्यास है (अन्यस्य अन्यधर्मावभासता) यथा शुक्ति में रजत के गुणों का ज्ञान अध्यास है। कोई व्यक्ति भ्रमवश जिस प्रकार अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी को सर्प समझ लेता है उसी प्रकार जीव को अविद्या के कारण ब्रह्म के स्थान पर जगत् का अनुभव होता है। अध्यास के आधार पर शंकराचार्य घोषित करते है कि एकमात्र पारमार्थिक सत्ता तो ब्रह्म की है, किन्तु अविद्या या माया के कारण हमें ब्रह्म के स्थान पर जगत् का मिथ्या ज्ञान होता है। स्वामी विद्यारण्य ने पंचदशी में जगत् के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार से किया है कि जगत् पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या, व्यावहारिक दृष्टि से सत् एवं तार्किक दृष्टि से अनिर्वचनीय है।

जगत् के मिथ्यात्व सिद्धि के लिए मधुसुदन सरस्वती ने अद्वैत सिद्धि में चार तर्क दिए हैं– 1. जगत् ज्ञान (प्रत्यक्ष) का विषय है (प्रपंचो मिथ्या दृश्यत्वात्) 2. यह जड़ है (प्रपंचो मिथ्या जड़त्वात्) 3. जगत् अंशो (व्यष्टि) से सृजित अंशी (समष्टि) है क्योंकि यह निर्मित है (प्रपंचो मिथ्या अंशीत्वात्) 4. जगत् की वस्तुयें देश एवं काल में परिच्छिन्न हैं (प्रपंचो मिथ्या परिच्छिन्नत्वात्)। मायावाद में तीन प्रकार की सत्ता सत्, असत् एवं आभास की संभावना व्यक्त की जाती है। सत् एवं आभास में विभेद का निकष यह होगा कि आभास का ज्ञान बाधित हो जाता है एवं जो सत् हो उसका कभी बाध नहीं होता है। असत् एवं मिथ्या (आभास) में विभेद का तार्किक आधार यह होगा कि जो प्रत्यक्ष का विषय है वह असत् नहीं हो सकता है क्योंकि आभास का विषय कैसे असत् हो सकता है जब वह हमें इन्द्रियों को प्रदत्त होता है ? हमें जब तक रज्जु में सर्प की प्रतीति

(प्रत्यक्ष) होती है तब तक उसकी सत्ता तो होती ही है। किन्तु मायावाद तो इसके विपरीत सिद्ध करता प्रतीत होता है कि जो कुछ भी प्रत्यक्ष होता है वह असत् है। यदि हम यह स्वीकार करते हैं जो अबाधित रहता है सत् है, तो सत्, असत् एवं आभास का त्रिविध भेद संभव नहीं होगा, और केवल सत् एवं आभास की दो ही कोटियाँ हमें प्राप्त होगी। असत् जो कि आत्मव्याघाती होता है, की प्रतीति ही संभव नहीं तो उसके बाध का प्रश्न ही निरर्थक होगा। यदि हम त्रिविध भेद को संपोषित करने के लिए दोनों निकष को संयुक्त करें तो इसका स्वरूप होगा– जो प्रत्यक्षगम्य है एवं अबाधित है वह सत् है; जो प्रत्यक्षगम्य है किन्तु कालान्तर में उसका बाध हो जाता है आभास है, और जो न तो प्रत्यक्षगम्य है और न ही उसका बाध हो असत् होगा। किन्तु अद्वैतवादी सत् एवं असत् के इस भेद को नहीं स्वीकार करेगा। मायावाद के अनुसार सत् न तो प्रत्यक्षगम्य है और न ही उसका बाध होता है, किन्तु उपर्युक्त निकष में यह असत् का लक्षण है।[9] भ्रम के आनुभविक विश्लेषण से सामान्य निष्कर्ष के रूप में हम पाते हैं कि– 1. एन्द्रिक अनुभव में भ्रम (आभास) की संभावना तो होती है किन्तु आभास का विषय असत् नहीं हो सकता है 2. किसी भी अनुभव को आभास की कोटि में रखने के लिए किसी अन्य यथार्थ अनुभव की आवश्यकता होती है। 3. आभासित वस्तु एवं वह वस्तु जिसके आधार पर आभासित वस्तु को मिथ्या कहते हैं, का समस्तरीय अस्तित्त्व होना चाहिए। 4. इन दोनों के मध्य कुछ समान तत्त्व अवश्य होना चाहिए। हम इन चतुर्विध बिन्दुओं के आधार पर 'जगत् मिथ्या है' का परीक्षण करेंगे। यदि जगत् का अनुभव मिथ्या है तो इसका आधार (औचित्य) कोई अन्य यथार्थ अनुभव होना चाहिए। अद्वैतवादी इसका स्वीकारात्मक उत्तर देते हुए कहेंगे कि जगत् का अनुभव मिथ्या है क्योंकि ब्रह्मानुभूति यथार्थ अथवा सत् है। अद्वैत वेदान्त का यह उत्तर पुनः अनेक शंका उत्पन्न करेगा यथा, क्या ब्रह्म एवं जगत् समस्तरीय सत्ता हैं ? ब्रह्म एवं जगत् के मध्य समान तत्त्व क्या है? क्योंकि आभास अथवा भ्रम के लिए यह नितान्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त क्या लौकिक भ्रमात्मक अनुभव के आधार पर जगत् का मिथ्यात्व संभव है ? हम किसी अनुभव को आभास इस आधार पर कहते हैं कि जगत् यथार्थ है। अतः क्या हम ऐसी स्थिति में जगत् को मिथ्या शुक्ति–रजत के आभास अथवा मिथ्या अनुभव के धरातल पर स्थापित कर सकते हैं ? जगत्–मिथ्यात्व में एक और भी समस्या है कि लौकिक भ्रम की स्थिति में तथा–कथित आभासित वस्तु यथार्थ अथवा सत् है यद्यपि उस स्थान व काल से अन्यत्र जहाँ उसकी प्रतीति (प्रत्यक्ष) हो रही है। यदि जगत् मिथ्या अथवा आभास है तो उसकी सत्ता (अस्तित्त्व) को किसी स्थान एवं किसी काल में स्वीकार करना होगा। अद्वैति इसका उत्तर इस रूप में दे सकते हैं कि भ्रमात्मक प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक नहीं है कि भ्रमात्मक अंतर्वस्तु यथार्थ हो, अपितु इतना ही पर्याप्त है कि पूर्वसंज्ञान सत्य अथवा असत्य उसी अंतर्वस्तु का हो। प्रत्येक व्यक्ति को जगत् का संज्ञान अवश्य होता है, अतः आभास (मिथ्या) संभव है। इस स्थल पर कोई व्यक्ति यह आक्षेप कर सकता है कि हमें जगत् का पूर्ववर्ती ज्ञान कैसे हो सकता है यदि जगत् सत् ही नहीं है ? इस आक्षेप के उत्तर के रूप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि जगत् मिथ्या है किन्तु अनादि है। यह उत्तर भी संतोषजनक नहीं प्रतीत होता क्योंकि यह एक नवीन प्रश्न को प्रस्तुत करेगा : यदि अनादि जगत् आभास है और इसलिए मिथ्या है, तो किस प्रकार से पहली बार उसकी प्रतीति होती है ? अतः यह कहना कि जगत् अनादि है समस्या का समाधान नहीं, अपितु समस्या से बचने का प्रयास है।

V

लौकिक (सामान्य) भ्रम के आधार पर जगत् के मिथ्यात्व सिद्धि में हम समस्याओं को पाते हैं, अपितु इनके द्वारा तो यह स्थापित होगा कि जगत् यथार्थ है। अद्वैतवादी परंपरा में अबाधितत्व को सत् का लक्षण स्वीकार किया जाता है। भ्रम का बाध उत्तरवर्ती प्रत्यक्ष द्वारा सहज रूप से हो जाता है किन्तु घट–पट आदि का बाध इस रूप में संभव नहीं है। अद्वैती इस बात से सहमत होते हैं कि इनका बाध हमारे सामान्य प्रत्यक्ष से नहीं होता, अपितु तर्क एवं व्यक्ति के आत्मसाक्षात्कार से घट–पटादि जो जगत् को निर्मित करते हैं बाधित (निरस्त) हो जाते हैं। आत्मसाक्षात्कार वाली परिस्थिति विचारणीय नहीं है क्योंकि कोई भी व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार की स्थिति में नहीं हो सकता है जब तक वह बौद्धिक स्तर पर जगत् के मिथ्यात्व से सहमत नहीं हो। तार्किक धरातल पर भी जगत् मिथ्या है सिद्ध अथवा प्रमाणित नहीं होता। अद्वैतियों के द्वारा मिथ्या (प्रपंच) के लक्षण–यथा दृश्यत्व, जड़त्व, अंशत्व एवं परिच्छिन्नत्व जो कल्पित किए गए हैं, वे केवल आभासित वस्तुओं के नहीं हैं, अपितु वे आभासित एवं यथार्थ दोनों ही प्रकार की वस्तुओं के लक्षण हैं। अतः यदि हम इन लक्षणों के आधार पर आभास (भ्रम) का विश्लेषण करते हैं तो युक्ति अव्याप्त मध्यम पद दोष से ग्रसित होगी।

जगत् मिथ्या है की व्याख्या तात्त्विक एवं तार्किक रूप में सामान्यतः प्रस्तुत की जाती है, यद्यपि इन दोनों व्याख्याओं में से किसी को भी स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है। तात्त्विक व्याख्या में ब्रह्म जो कि निर्गुण, निर्विशेष एवं भेदरहित है की एक मात्र सत्ता को स्वीकार किया जाता है तो जगत् को तो मिथ्या होना ही पड़ेगा अन्यथा द्वैतवाद स्थापित हो जाएगा। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के साथ जगत् प्रपंच में अन्विति माया की अवधारणा से संभव होती है। इस व्याख्या के साथ समस्या यह है कि इन समस्त तात्त्विक पूर्वमान्यताओं के साथ ही जगत् के मिथ्यात्व की सिद्धि होती है। तार्किक व्याख्या में जगत् के मिथ्यात्व को प्रमाणित करने के लिए स्वप्न, अध्यास एवं भ्रम आदि का सहारा लिया जाता है, किन्तु इसके लिए प्रयुक्त सामान्यतोदृष्ट अनुमान को बुद्धि स्वीकार करने में असहज हो जाती है अर्थात् यह युक्तिसंगत नहीं है। हम इससे क्या यह निष्कर्ष निगमित कर सकते हैं कि 'जगत् मिथ्या है' एक निरर्थक प्रतिज्ञप्ति है ? जगत् का मिथ्यात्व निरर्थक नहीं है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को एक विशेष मनःस्थिति में यह अनुभूति होती है कि जगत् मिथ्या है, यथा जब वह अत्यन्त नैराश्यभाव से ग्रसित होता है अथवा अत्यधिक कष्ट में होता है। मेरी दृष्टि में जब हम यह अभिकथन करते हैं कि जगत् मिथ्या है तो इसका निहितार्थ यह नहीं होता कि जगत् कभी अस्तित्ववान नहीं था अथवा उसका कोई अस्तित्त्व भविष्य में संभव नहीं है अर्थात् वह असत् (तुच्छ) है। जगत्–मिथ्यात्व का भाव उसकी निःसारता (निरर्थकता) अथवा मूल्यहीनता में निहित है। 'जगत् मिथ्या है', एक तात्त्विक कथन नहीं है अपितु नैतिक (मूल्यपरक) कथन है।[10] मिथ्या के दो संभावित अर्थ आभास एवं मूल्यहीनता है एवं इसके व्यामिश्र से समस्या उत्पन्न होती है। शंकराचार्य के दर्शन में भी 'जगत् मिथ्या है' को नैतिक संदर्भ में देखा जा सकता है जब वे प्रतिपादित करते हैं कि "असारः खलु संसारः।" यह सर्वथा उपयुक्त है कि व्यावहारिक सत्ता प्रातिभासिक सत्ता की तुलना में कहीं अधिक मूल्यवान् है एवं पारमार्थिक सत्ता

व्यावहारिक की तुलना में अधिक मूल्य–प्रतिष्ठित अथवा समादृत है। अतः हम निष्कर्षरूपेण यह प्रस्तावित कर सकते हैं कि तात्त्विक एवं तार्किक व्याख्या की तुलना में जगत्–मिथात्व की नैतिक व्याख्या अधिक प्रत्यायनीय (विश्वसनीय) है, क्योंकि समस्त जगत् आभास है बोधगम्य प्रतीत नहीं होता, अपितु इसके स्थान पर जगत् की निःसारता एवं सांसारिक वस्तुओं के प्रति वैराग्यभाव– आत्मसाक्षात्कार (मोक्ष) की एक अनिवार्य शर्त है।

❀❀❀

संदर्भ –

1. *अम्बिकादत्त शर्मा (संपा0), समेकित दार्शनिक विमर्श, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर (म0प्र0), 2005, पृ0 85–86*
2. *शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, उपोद्घात– विषयिणि चिदात्मके विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, विषयिण– स्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्।*
3. *वही, अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोः मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य 'अहमिदम् ममेदम्' इति नैसर्गिकोयं लोकव्यवहारः।*
4. *श्रीमद्भगवद्गीता शांकर भाष्य– सुखदुःखसंभोगः संसारः पुरुषस्य च सुखदुःखानां संभोक्तृत्वं संसारित्वम्– 13.20, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ0 334*
5. *ए. राममूर्ति, अद्वैत– ए कन्सेप्चुअल ऐनालिसिस, डी0 के0 प्रिन्टवर्ल्ड, प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1996, पृ. 157*
6. *नलिनी भूषण एवं जे0एल0 गारफील्ड, इन्डियन फिलॉसाफी इन इंग्लिश, आक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 2011, पृ0 356–357*
7. *वही, पृ0 361*
8. *शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वात् तदनन्यत्वात्।*
9. *एस0एस0 बार्लिंगे, रीअण्डरस्टैन्डिंग इन्डियन फिलॉसाफी, डी0के0 प्रिन्टवर्ल्ड प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1998, पृ0 204–05*
10. *वही, पृ0 212*

शांकर वेदान्त में जगन्मिथ्यात्व का याथार्थ्य

ऋषिकान्त पाण्डेय

आचार्य शंकर के दर्शन का मूल मंत्र यह है कि "श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः। ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।।"[1] अर्थात् जिन्हें करोड़ों ग्रन्थों में कहा गया है उसे आधे श्लोक के माध्यम से कहा जा सकता है कि एकमात्र ब्रह्म ही सत् है क्योंकि "अबाध्यत्वं लक्षणं सत्" और ब्रह्म से भिन्न होने के कारण यह प्रपंचात्मक जगत् मिथ्या है (ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या ब्रह्म भिन्नत्वात्, शुक्ति–रजतवत्)[2]। प्रश्न उठता है कि जिस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म है ('जन्माद्यस्य यतः'[3] या 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'[4]), वह जगत् मिथ्या कैसे हो सकता है? एक ओर इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय के कारण के रूप में ब्रह्म को मानना और दूसरी ओर जगत् को मिथ्या कहना क्या आत्म–व्याघाती नहीं है? यदि यह कहा जाए कि केवल श्रुतियाँ जगत् को मिथ्या कहती हैं, यथा नेह नानास्ति किंचन्[5] या एकमेवाद्वितीयम्[6] तो आचार्य के समक्ष एक और भी विकट समस्या आ जाती है, क्योंकि आचार्य ने स्वयं ही यह कहा है कि यदि श्रुतियों एवं युक्तियों में विरोध हो तो श्रुतियों का परित्याग करके युक्तियों का सहारा लेना चाहिए, क्योंकि श्रुतियों की अपेक्षा युक्तियाँ अनुभव के अत्यधिक सन्निकट हैं (युक्तिरनुभवस्य सन्निकृष्यते)[7]। यह सत्य है कि श्रुतियाँ जगत् को मिथ्या कहती हैं परन्तु हमारा अनुभव तो यह कहता है कि यह जगत् यथार्थ है, क्योंकि इसका हमें साक्षात् अनुभव होता है। इस प्रकार साक्षात् अनुभव पर आधृत होने के कारण जगत् मिथ्या कैसे हो सकता है? स्पष्टतः एक ओर जगत् के कारण के रूप में सच्चिदानन्द ब्रह्म को मानना और दूसरी ओर जगत् को मिथ्या कहना क्या वद्तोव्याघात नहीं है? अस्तु, आचार्य शंकर का दर्शन या तो श्रुति विरोधी है या युक्ति विरोधी या फिर अनुभव विरोधी है।

लेकिन यदि आचार्य शंकर के मतों पर सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि यह सब विरोध नहीं बल्कि विरोधाभास मात्र है। आचार्य का मत न तो श्रुति विरोधी है न युक्ति विरोधी है और न ही अनुभव विरोधी। वे ब्रह्म को जगत् का कारण भी मानते हैं परन्तु फिर भी वे जगत् को मिथ्या कहते हैं और इसमें कोई आत्म–विरोध नहीं है। वास्तविकता यह है कि आचार्य के दर्शन में 'मिथ्यात्व' शब्द का प्रयोग एक पारिभाषिक अर्थ में किया गया है, जिसका अर्थ है कि जो सत् एवं असत् इन दोनों से ही विलक्षण हो। आचार्य सत् को कई रूपों में परिभाषित करते हैं। प्रथम, सत् वह है जो त्रिकालाबाधित हो (त्रिकालाबाध्य सत्त्वम्)। दूसरा, सत् वह है जो तीनों ही कालों में सदैव एकरूप रहे (एकरूपेण हि अवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः)[8]। तीसरा, सत् वह है जिसके स्वरूप में हमारी बुद्धि में कोई व्यभिचरण या परिवर्तन न हो वह सत् है तथा जिसमें व्यभिचरण हो वह असत् है (यद् विषया बुद्धिर्न व्यभिचरति तत् सत्, यत् विषया व्यभिचरति तदसत्)।[9] चौथा, सत् वह है जिसे जिस रूप में निश्चित किया गया है उसके उस रूप का कभी भी व्यभिचरण नहीं हो। यदि निश्चित किये गये स्वरूप में व्यभिचरण हो तो वह असत्

दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ.प्र.)

है (यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्। यद्रूपेण निश्चितं यत् तद्रूपं व्यभिचरदनृतमिति उच्यते)।[10] इसी प्रकार असत् वह है जिसकी तीनों ही कालों में सत्ता न हो अर्थात् जिसके स्वरूप में प्रतीति सामर्थ्य भी नहीं हो (त्रिकालबाध्यत्वरूपसत्वव्यतिरेको नासत्वम् किन्तु क्वचिदप्युपाधौ सत्वेन प्रतीयमानत्वानधिकरणत्वम्)[11] यथा, बन्ध्यापुत्र, आकाश–कुसुम, शशश्रृंग, वृत्ताकार त्रिभुज, इत्यादि। इस प्रकार आचार्य के दर्शन में सत् एवं असत् का प्रयोग अपने आत्यन्तिक अर्थ में किया गया है। सत् वह है जो तीनों कालों में अखंडित रहे जबकि असत् वह है जो तीनों ही कालों में अनस्तित्त्वान हो। प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में जगत् को क्या कहेंगे? परिभाषतः जगत् सत् नहीं, क्योंकि सत् तो केवल ब्रह्म है। लेकिन जगत् असत् भी नहीं, क्योंकि असत् वह है जिसकी तीनों ही कालों में प्रतीति सामर्थ्य भी न हो। इस प्रकार जगत् सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण मिथ्या है। आचार्य के अनुसार जगत् के जितने भी पदार्थ हैं वे इन दोनों में से किसी भी कोटि में नहीं आते हैं। ब्रह्म हमारे लौकिक अनुभव से परे है जबकि बन्ध्यापुत्र, शशश्रृंग प्रभृति लौकिक अनुभव से नीचे। अस्तु, लौकिक अनुभव पर आधृत प्रपंचात्मक जगत्, सदसत्विलक्षण होने के कारण मिथ्या हैं।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अपने ग्रंथ "अद्वैतसिद्धि" में मिथ्यात्व के पाँच लक्षणों को संकलित किया है।

1. सदसत्विलक्षणत्वम् वा मिथ्यात्वम्।[12] – *पद्मपादाचार्य*
2. सद्विविक्तत्वं वा मिथ्यात्वम्।[13] – *आनंदबोध*
3. अनादिभावरूपत्वेसतिज्ञाननिवर्त्यत्वं वा मिथ्यात्वम्।[14] – *प्रकाशात्मयति*
4. प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेध प्रतियोगित्वम् वा मिथ्यात्वम्।[15] – *प्रकाशात्मयति*
5. स्वाश्रयनिष्ठात्यंताभाव प्रतियोगित्वम् वा मिथ्यात्वम्।[16] – *चित्सुखाचार्य*

प्रथम परिभाषा के अनुसार मिथ्या वह है जो सदसत्विलक्षण हो। वह सत् नहीं है, क्योंकि सत् केवल ब्रह्म है वह असत् भी नहीं, क्योंकि असत् में तो प्रतीति सामर्थ्य भी नहीं है जबकि जगत् का तो वर्तमान में अनुभव होता है। अतः सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण जगत् मिथ्या है। जो सत् एवं असत् से विलक्षण है, वह अनिर्वचनीय भी है। अस्तु, मिथ्यात्व को अनिर्वचनीय भी कहते हैं। दूसरी परिभाषा के अनुसार जो सत् से विविक्त है, वह मिथ्या है। यहाँ विविक्त का अर्थ है भिन्न होना। जगत् ब्रह्म से भिन्न होने के कारण मिथ्या है (ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या ब्रह्म भिन्नत्वात्)। ब्रह्म कूटस्थ नित्य है जबकि जगत् सतत परिवर्तनशील है। तीसरी परिभाषा के अनुसार अनादि काल से भावरूप में प्रतीत होते हुए भी जो यथार्थ ज्ञान से खण्डित हो जाए, वह मिथ्या है। आचार्य मानते हैं कि यद्यपि यह जगत् अनादि काल से भावरूप में प्रतीत होता है परन्तु ज्योंही ब्रह्म ज्ञान होता है जगत् का ज्ञान खण्डित हो जाता है, यथा, रज्जु–सर्प का ज्ञान। जिस प्रकार रज्जु ज्ञान होते ही सर्प ज्ञान खण्डित हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान होते ही जगत् का ज्ञान खण्डित हो जाता है। क्योंकि अधिष्ठान का ज्ञान होते ही अध्यस्त निरस्त हो जाता है, अतः माया को 'ज्ञान निरस्या' भी कहते हैं। चौथी परिभाषा के अनुसार अपनी उस उपाधि में भी जहाँ जगत् की प्रतीति होती है, वहाँ भी उसका त्रैकालिक निषेध है। वास्तव में जगत् तो माया के कारण प्रतीत होता है। वस्तुतः इसका अस्तित्व तो कहीं है ही नहीं। आचार्य शंकर मानते हैं कि माया

अपनी आवरण शक्ति से ब्रह्म के स्वरूप को ढ़क लेती है जबकि विक्षेप शक्ति से वह ब्रह्म के स्थान पर नामरूपात्मक जगत् प्रपंच का बोध कराती है। इस प्रकार त्रैकालिक निषेध होने के कारण यह जगत् मिथ्या है। आचार्य गौड़पाद भी लिखते हैं कि जो आदि और अन्त में नहीं है वह मध्य में कैसे हो सकता है (आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा)।[17] पाँचवीं परिभाषा के अनुसार अपने उस आश्रय में भी जहाँ जगत् की प्रतीति होती है वस्तुतः वहाँ भी उसका आत्यन्तिक अभाव है, जैसे रज्जु–सर्प भ्रम में सर्प का अपने अधिकरण रज्जु में आत्यन्तिक अभाव है फिर भी वह सत् रूप में प्रतीत होता है। लेकिन भ्रम पदार्थ सत् नहीं है, क्योंकि वह परवर्ती ज्ञान से खण्डित हो जाता है और वह असत् भी नहीं है, क्योंकि भ्रम दशा में उसकी प्रतीति होती है। इस प्रकार जगत् प्रपंच बाध होने के कारण सदसत्विलक्षण या मिथ्या है।

आचार्य शंकर अपने मत का स्पष्टीकरण करने के लिए जगत् मिथ्यात्व के पक्ष में कई अन्य तर्क भी प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार यह जगत् दो तत्त्वों के तादात्म्य पर निर्भर है। एक तो विशुद्ध विषयी, ज्ञाता, चेतन एवं नित्य है जो अहं प्रत्यय गोचर है जबकि दूसरा जड़, विषय, अचेतन एवं अनित्य है जो इदं प्रत्यय गोचर है। लेकिन ये दोनों ही प्रकाश एवं अंधकार की भाँति परस्पर विरूद्ध हैं, अस्तु इनका वास्तविक संबंध असम्भव है। अब यदि आत्मा एवं अनात्मा का वास्तविक संबंध असम्भव है तो इसका अर्थ है कि उनके संबंध की केवल प्रतीति हो रही है। इस प्रकार यह व्यावहारिक जगत् केवल प्रतीति होने के कारण मिथ्या ही होगा (विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेध्यासो मिथ्येति भवितुं)[18]। पुनश्च, आत्मा एवं अनात्मा दोनों परस्पर विरूद्ध होने के कारण एक साथ न तो सत् हो सकते हैं और न ही असत्। दोनों का एक साथ सत् होना दोनों को असत् सिद्ध करता है। इनमें ब्रह्म आत्म–स्वरूप है (सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः[19])। आत्म स्वरूप होने के कारण ब्रह्म का निराकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो निराकर्ता है वही तो उसका स्वरूप है (य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्)[20]। अतः यह सिद्ध होता है कि एकमात्र आत्म स्वरूप ब्रह्म ही सत् है और आत्म का विरोधी अनात्म रूप जगत् मिथ्या है। इसी प्रकार आचार्य कहते हैं कि आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ भी अनात्म स्वरूप है वह भी आत्मपूर्वक ही है अर्थात् अनात्म भी आत्मपूर्वक ही होता है। अस्तु आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है (आत्मव्यतिरेकेण अग्रहणात् आत्मैव सर्वम्[21] या न हि आत्मव्यतिरेकेण अन्यत् किंचिदस्ति। यदि अस्ति, न तद् विदितं स्यात्। न तु अन्यदस्ति आत्मैव तु सर्वम्। तस्मात् सर्वम् आत्मनि विदिते विदितं स्यात्।[22])। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है और यदि है भी तो वह मिथ्या है। पुनश्च, आचार्य शंकर लिखते हैं कि सम्पूर्ण जगत् अतःकरण का ही विकार है, क्योंकि सुषुप्ति में मन में उसका विलय हो जाता है और जाग्रत अवस्था में अग्नि से स्फुल्लिग के समान उसी से निकलकर स्थित हो जाता है (सर्वं हि अतःकरणविकारमेव जगन्मनमेव सुषुप्ते प्रलयदर्शनात्। जागरितेऽपि तत् एवाग्नि विस्फुलिंगवद्विप्रतिष्ठानात्)[23]। इससे भी यही सिद्ध होता है कि अनात्म जगत् का आत्मा से असंपृक्त कोई अस्तित्व नहीं होने के कारण जगत् मिथ्या है।

अपरंच, आचार्य का कहना हैं कि ब्रह्म और जगत् दोनों समान स्तरीय सत् नहीं हैं। यदि दोनों को समान स्तरीय सत् माना जाए तो एक और भी कठिनाई उत्पन्न हो जायेगी, क्योंकि यदि

दोनों सत् हैं तो इन दोनों का सम्बन्ध मिथ्या कैसे हो सकता है। दो सत् वस्तुओं का सम्बन्ध कभी भी मिथ्या नहीं हो सकता। परन्तु यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है कि दोनों का सम्बन्ध मिथ्या है। अस्तु, इन दोनों में से किसी एक को मिथ्या होना ही पड़ेगा। आत्म–स्वरूप ब्रह्म तो स्वतः सिद्ध है, अतः उसका अपलाप नहीं हो सकता। इससे भी यह सिद्ध होता है कि अनात्म जगत् मिथ्या है।

आचार्य शंकर मानते हैं कि यदि ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध पर विचार किया जाए तो भी जगत् मिथ्यात्व ही सिद्ध होता है। ब्रह्म एवं जगत् के बीच चार प्रकार का सम्बन्ध हो सकता हैः अभेद, भेद, भेदाभेद और भेदाभेदभिन्न। अभेद का तात्पर्य तादात्म्य से है। जगत् और ब्रह्म में तादात्म्य संबंध संभव है यदि जगत् के बिना ब्रह्म की सत्ता तथा ब्रह्म के बिना जगत् की सत्ता असंभव है, किन्तु यह संबंध एकांतिक है। जगत् के बिना ब्रह्म की सत्ता तो हो सकती है किन्तु ब्रह्म के बिना जगत् की सत्ता असंभव है। अतः ब्रह्म एवं जगत् में तादात्म्य संबंध नहीं हो सकता है। दोनों के बीच भेद संबंध भी संभव नहीं है, क्योंकि भेद का अर्थ है दोनों को ज्ञेय बना देना, किन्तु यहाँ आत्मा या ब्रह्म तो ज्ञाता है वह ज्ञेय कैसे हो सकता है? भेदाभेद संबंध आत्म–व्याघाती है, क्योंकि ये दोनों ही प्रकाश एवं अंधकार की भांति परस्पर विरूद्ध हैं। जिस प्रकार यह कहना वद्तोव्याघात है कि आधे कमरे में प्रकाश और आधे कमरे में अंधकार है उसी प्रकार भेदाभेद संबंध भी वद्तोव्याघात ही है। अंततः भेदाभेदभिन्न सम्बन्ध तो असंभव ही है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म और जगत् समान स्तरीय नहीं हैं। इसमें ब्रह्म तो स्वतः सिद्ध है। अतः ब्रह्म भिन्न होने के कारण प्रपंचात्मक जगत् मिथ्या है।

आचार्य शंकर का कहना है कि यदि कारण–कार्य संबंध के ऊपर विचार किया जाए तो इससे भी जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। कारणता के संदर्भ में मूलतः दो प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित हैंः असत्कार्यवाद एवं सत्कार्यवाद। असत्कार्यवाद में यह माना जाता है कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में असत् या अविद्यमान है। इस प्रकार कार्य एक नवीन रचना या नूतन सृष्टि है। इसी कारण असत्कार्यवाद को आरम्भवाद भी कहते हैं। दूसरी ओर सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में सत् या विद्यमान रहता है। अतः कार्य कोई नूतन रचना या नवीन सृष्टि नहीं बल्कि केवल अव्यक्त का व्यक्त होना है। लेकिन कार्य, कारण का वास्तविक रूपान्तरण है या अवास्तविक? इसको लेकर सत्कार्यवाद दो भागों में विभक्त हो गया– परिणामवाद एवं विवर्तवाद। परिणामवादी एवं विवर्तवादी दोनों ही मानते हैं कि कारण सत् है, परन्तु दोनों में वैषम्य केवल कार्य को लेकर है अर्थात् कार्य वास्तविक है या आभासिक। परिणामवाद एवं विवर्तवाद का विभेद करते हुए कहा गया कि जब कारण से तात्त्विक विकार उत्पन्न होते हैं तब इसे परिणामवाद कहते हैं, परन्तु जब कारण से अतात्त्विक विकार या मात्र संस्थानरूप विकार निकलते हैं तब इसे विवर्तवाद कहते हैं। इस प्रकार परिणामवाद में कार्य, कारण का अन्यथा–भाव है जबकि विवर्तवाद में कारण का अन्यथाभाव नहीं होता है बल्कि कारण का तथाभाव बना रहता है (तत्त्वतोऽन्यथाभावः परिणामः, अतत्त्वतोऽन्यथाभावो विवर्त्तः)[24]। जबकि सदानंद स्वामी, "वेदांतसार" में लिखते हैं कि –

सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथाविवर्त इत्युदाहृतः।।[25]

इसी प्रकार आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र ''वेदान्तपरिभाषा'' में परिणामवाद एवं विवर्तवाद का विभेद करते हुए लिखते हैं कि परिणामवाद में कारण, कार्य में समानता होती है जबकि विवर्तवाद में कारण, कार्य में विषमता होती है यथा, दूध का दही बनना परिणामवाद है जबकि पानी में बुलबुले का उठना विवर्तवाद है।

परिणामो नामोपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः।
विवर्तो नामोपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः।।[26]

आचार्य शंकर परिणामवाद के स्थान पर विवर्तवाद को स्वीकार करते हैं। वे परिणामवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि उत्पत्ति को वास्तविक मान लिया जाए और कार्य, कारण का वास्तविक आकार परिवर्तन है तो इसका अर्थ है कि कार्य के आकार को उत्पत्ति के पूर्व कारण में असत् मानना पड़ेगा। इस प्रकार अन्ततः परिणामवाद का रूपांतरण असत्कार्यवाद में हो जायेगा। इसीलिए आचार्य शंकर कार्य को कारण का वास्तविक रूपान्तरण नहीं कहते हैं। उनके अनुसार माया के कारण ब्रह्म जगत् के रूप में प्रतीत होता है। वस्तुतः यह प्रतीति वास्तविक नहीं है बल्कि केवल आभासिक है। आचार्य इसी अर्थ में जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहते हैं। उनके अनुसार यदि कार्य एवं कारण का सूक्ष्म अवलोकन किया जाए तो यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि कार्य कारण से भिन्न नहीं है (कारणस्यैव संस्थानमात्रम् कार्यम्)[27]। पुनश्च, यदि ब्रह्म नित्य, निरवयव एवं एकरस है तो उसमें विकार कैसे हो सकता है? अस्तु, आचार्य शंकर के अनुसार विकार संस्थान मात्र है और ब्रह्म उसका प्रतिष्ठान या अधिष्ठान है, यथा, रस्सी में परिकल्पित करके सर्प का संस्थान हो जाता है वैसे ही ब्रह्म में परिकल्पित अवयवों से विकारों का संस्थान हो जाता है।[28] गौड़पाद के अनुसार भी सत् की वास्तविक उत्पत्ति असम्भव है, क्योंकि उसका अन्यथाभाव नहीं हो सकता। अतः माया से इसकी उत्पत्ति मानी जा सकती है जो भ्रांति होने के कारण वस्तुतः अनुपपत्ति है (सतो हि मायया अन्य युज्यते न तु तत्त्वतः।)[29]। आचार्य के अनुसार जगत् की समस्त वस्तुएं ईश्वर में मात्र आकार–रूप से हैं। सभी वस्तुएं अविभक्त ब्रह्म में ही विभक्त हैं। अतः तत्त्वतः वस्तुएं हैं ही नहीं (यदात्मस्थे अनभिव्यक्ते नामरूपे व्याक्रियेते, तदा नामरूपे आत्मस्वरूपापरित्यागेनैव ब्रह्मणाघ्रविभक्तंदेशकाले सर्वावस्थासु व्याक्रियेते तदा तन्नामरूपव्याकरणं ब्रह्मणो बहुभवनम्।)।[30]

आचार्य शंकर कहते हैं कि जगत् ब्रह्म का विवर्त है परिणाम नहीं जैसा कि रामानुज मानते हैं, क्योंकि यदि जगत् ब्रह्म का परिणाम है तो इससे अविकारी ब्रह्म विकारी हो जायेगा। पुनश्च, यदि जगत् ब्रह्म का परिणाम है तो प्रश्न उठता है कि जगत् ब्रह्म का पूर्ण रूपान्तरण है या आंशिक? यदि जगत् को ब्रह्म का पूर्ण रूपान्तरण माना जाए तो उसकी निरपेक्ष सत्ता बाधित होगी। इस प्रकार सृष्टि के उपरान्त ब्रह्म का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। परन्तु यदि जगत् को ब्रह्म का आंशिक रूपान्तरण माना जाए तो ब्रह्म की अखण्डता ही बाधित हो जायेगी, क्योंकि ऐसी स्थिति में ब्रह्म में विकारी एवं अविकारी दोनों अंश मानना पड़ेगा। पुनश्च, ब्रह्म चेतन, अमिश्रित एवं अयौगिक तत्त्व है, अतः उसमें परिणाम कभी हो ही नही सकता है। परिणाम तो उन्हीं वस्तुओं का होता हैं जो यौगिक हों तथा जिसका संस्थान होता है। अमिश्रित एवं अयौगिक तत्त्व होने के कारण ब्रह्म का केवल विवर्त हो सकता है, परिणाम नहीं। अतः जगत्, ब्रह्म का विवर्त होने के कारण

मिथ्या है। यही नहीं, जगत् को ब्रह्म की इच्छा का परिणाम भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ब्रह्म तो आप्तकाम है और जो आप्तकाम है उसमें कामना कैसे हो सकती है (देवस्येव स्वभावोध्यमात्मकामस्य का स्पृहा)[31]। अतः जगत् का कारण तो ब्रह्म है, किन्तु जगत् ब्रह्म का परिणाम न होकर उसका विवर्त है। आचार्य के अनुसार सृष्टि ईश्वर की लीला है। उसके सभी कार्य स्वभावतः लीलावत होते रहते हैं (ईश्वरस्यापि अनपेक्ष्य किंचित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिः भविष्यति....परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयम् अपरिमितशक्तित्वात् ।)[32] यहाँ प्रो. टी.एम.पी. महादेवन, "द फिलॉसफी ऑफ अद्वैत" में लिखते हैं कि ब्रह्म एवं माया दोनों में से कोई भी स्वतंत्र रूप से जगत् का कारण नहीं हो सकता है। अतः ब्रह्म एवं माया के बीच सम्भावित तीन प्रकार का सम्बंध हो सकता है। प्रथम, ब्रह्म एवं माया दोनों समान रूप से जगत् का कारण है। इसमें ब्रह्म चेतना या सत् का कारण है जबकि माया जड़ता एवं परिवर्तन के कारण हैं। दूसरा, माया स्वयं अपनी शक्ति से सृष्टि को उत्पन्न करती है। लेकिन ऐसी स्थिति में ब्रह्म भी सृष्टि का परोक्षतः कारण हो जायेगा, क्योंकि शक्ति के लिए शक्तिमान चाहिए। तीसरा, यद्यपि सृष्टि का उपादान कारण तो अपरोक्षतः माया ही है, परन्तु क्योंकि ब्रह्म माया का अधिष्ठान है, अतः परोक्षतः ब्रह्म भी सृष्टि कारण हो जाता है। लेकिन प्रो0 महादेवन लिखते हैं कि इन तीनों में ही ब्रह्म सृष्टि का कारण केवल आलंकारिक अर्थ में ही है।[33]

आचार्य शंकर के अनुसार यदि 'अनन्यत्व सम्बन्ध' पर विचार किया जाय जिसके अनुसार कार्य अपने कारण से अनन्य है अर्थात् जगत्, ब्रह्म से अनन्य है (अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्म कार्यत्वात् तदनन्यत्वात्)[34]। लेकिन परिणामवाद कारण एवं कार्य की अनन्यता या एकता की सुसंगत व्याख्या नहीं कर पाता, क्योंकि वह कारण के साथ–साथ कार्य को भी सत् मान लेता है। ऐसी परिस्थिति में ब्रह्म की अनन्यता खण्डित हो जायेगी। अतः अनन्यत्व सम्बन्ध की समुचित व्याख्या केवल और केवल विवर्तवाद ही करता है। विवर्तवाद के अनुसार केवल कारण ही सत् है और कार्य, कारण का विवर्त या आभास है। अनन्यत्व सम्बन्ध की समुचित व्याख्या करने के कारण ही विवर्तवाद को परिणामवाद का तार्किक विकास माना जाता है। सर्वज्ञात्ममुनि अपने ग्रन्थ "संक्षेपशारीरक" में लिखते हैं कि विवर्तवाद, परिणामवाद की उत्तर–भूमिका है और परिणामवाद, विवर्तवाद की पूर्वभूमिका है।

विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमि वेदान्तवादे परिणामवादः।
व्यवस्थितेऽस्मिन् परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः।।[35]

आचार्य जगत् मिथ्यात्व सिद्धांत का प्रतिपादन त्रिविध सत्ता के आधार पर करते हैं। आचार्य के अनुसार तीन स्तर की सत्ताएं हैः प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक। ये तीनों ही अपने–अपने स्तर पर सत् हैं। यही नहीं, आचार्य ने तो शशश्रृंग, बंध्यापुत्र, आकाशकुसुम आदि को भी शब्दतः सत् माना है। उनके अनुसार किसी भी ज्ञान का खण्डन उसी स्तर के ज्ञान से नहीं हो सकता। स्वप्न या व्यक्तिगत भ्रम प्रातिभासिक सत् के अंतर्गत आते हैं। लेकिन जब तक हम स्वप्न की अवस्था में है हमारे लिए स्वप्न, स्वप्न नहीं बल्कि यथार्थ है। स्वप्न, स्वप्न तब प्रतीत होता है जब हम जाग्रत अवस्था में आ जाते हैं। इस प्रकार स्वप्न का खण्डन स्वप्न के स्तर पर न होकर केवल व्यावहारिक स्तर पर होता है। आचार्य के अनुसार व्यवहार भी एक प्रकार का स्वप्न

ही है। लेकिन स्वप्न एवं व्यवहार में अंतर यह है कि स्वप्न व्यक्तिगत भ्रम की अवस्था है जबकि व्यवहार समष्टिगत भ्रम या सामूहिक स्वप्न की अवस्था है। अतः इसका सभी व्यक्ति समान रूप से अनुभव करते हैं। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह जगत् यथार्थ है। लेकिन यह अयथार्थ तब प्रतीत होता है जब हम व्यवहार से ऊपर उठकर परमार्थ के स्तर पर चले जाते हैं। आचार्य के अनुसार जिस प्रकार व्यावहारिक स्तर से प्रातिभासिक ज्ञान का खण्डन हो जाता है उसी प्रकार पारमार्थिक स्तर से व्यावहारिक जगत् का भी खण्डन हो जाता है। अतः इससे भी यह सिद्ध होता है कि एकमात्र ब्रह्म ही सत् है और जगत् मिथ्या है।

इसी प्रकार आचार्य कहते हैं कि यदि यह मान भी लें कि जगत् व्यवहारतः सत् है और उसकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लय होता है परन्तु इससे भी तो यही सिद्ध होता है कि जगत् मिथ्या है, क्योंकि जो नित्य है उसकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का प्रश्न ही नहीं उठता है क्योंकि जो उत्पन्न होता है उसका विनाश भी होता है और जिसका विनाश होता है वह सत् नहीं हो सकता (नहि नित्यं केनचित् आरभ्यते। लोकं यत् आरब्धं तत् अनित्यम्)। इस प्रकार यदि ब्रह्म को सृष्टि का कारण मान भी लिया जाए तो इससे भी जगत् का मिथ्यात्व ही सिद्ध होता है। पुनश्च, यदि अनुभव का विश्लेषण करें तो इससे भी जगत् का मिथ्यात्व ही सिद्ध होता है। यह जगत् नामरूपात्मक है। लेकिन नामरूपों में परिवर्तन होते हुए भी उसमें जो अनामित सत्ता है वह परिवर्तनशील है। उसे ही आचार्य महासामान्य कहते हैं जो न तो किसी तत्त्व से सीमित होता है और न ही किसी ज्ञान से बाधित। आचार्य शंकर के अनुसार वह असीमित, अखंडित एवं अबाधित सत्ता ब्रह्म ही तो है और नामरूपात्मक जगत् उसी का कल्पित संस्थान मात्र या विकार मात्र होने के कारण मिथ्या है (वाचारम्भणमात्रत्वात् अविद्या कल्पितस्य नामरूपाभेदस्य न निरवयत्वं ब्रह्मणः कुप्यति।)[36]

पुनश्च, आचार्य का कहना है कि 'सामान्यतोदृष्ट अनुमान' के आधार पर भी जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। यहाँ पर आचार्य स्वप्न एवं भ्रम की तुलना जगत् से करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र सत् है और ब्रह्म भिन्न होने के कारण यह जगत् शुक्ति–रजत के समान मिथ्या है (ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात्, शुक्तिरजतवत्)। उनके अनुसार शुक्ति–रजत् एवं जगत् में सादृश्यता यह है कि : पहला, दोनों ही विषय रूप है एवं दूसरा, दोनों का ही ज्ञान परवर्ती ज्ञान से खण्डित हो जाता है। परन्तु आचार्य के अनुसार यदि कोई भी ज्ञान परवर्ती ज्ञान से खण्डित हो जाए तो वह सत् नहीं हो सकता है, क्योंकि सत् तो अखण्डित एवं अबाधित है। अस्तु, ब्रह्म से भिन्न होने के कारण जगत् मिथ्या है।

आचार्य शंकर के अनुसार यदि 'अध्यास सिद्धांत' के ऊपर विचार किया जाए तो इससे भी जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। अतत् में तत् का आरोपण अध्यास है (अतस्मिन् तद्बुद्धिः)[37] अर्थात् जो वस्तु जहाँ नहीं है वहाँ उसका होना अध्यास है, जैसे रस्सी में सर्प की सत्ता नहीं है परन्तु जब रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है तो इसे अध्यास कहते हैं। इसी प्रकार आचार्य के अनुसार ब्रह्म में जगत् का अध्यास होता है, अतः जगत् मिथ्या है। इसे स्पष्ट करने के लिए वे अधिष्ठान, अध्यस्त एवं अध्यास का विभेद करते हैं। अधिष्ठान आधार है और सत् है जैसे रस्सी। अध्यस्त वह है जिसका अधिष्ठान पर आरोपण किया जाता है, जैसे सर्प। सर्प सत् नहीं है क्योंकि

सर्प की वहाँ सत्ता नहीं है भले ही अन्यत्र उसकी सत्ता हो। लेकिन भ्रम की स्थिति में सर्प की सत्ता नहीं होने से वह असत् है। परन्तु जब अधिष्ठान पर अध्यस्त का आरोपण किया जाता है तो इसे अध्यास कहते हैं। अध्यास सत् नहीं, क्योंकि सत् केवल ब्रह्म है। यह असत् भी नहीं, क्योंकि इसमें प्रवृति सामर्थ्य है। अतः सद्सत्विलक्षण होने के कारण जगत् मिथ्या है। आचार्य लिखते हैं कि ब्रह्म अधिष्ठान है, माया अध्यस्त है जबकि माया का ब्रह्म पर आरोपण अध्यास है। अस्तु, यह जगत् अध्यास होने के कारण मिथ्या है।

लेकिन आचार्य शंकर के जगत् मिथ्यात्व सिद्धान्त के ऊपर दो दृष्टियों से आक्षेप किया गया है। आचार्य रामानुज एवं उनके अनुयायी वेदान्तदेशिक का कहना है कि जगत् को सदसत्विलक्षण कहना असंगत है, क्योंकि कोई भी चीज या तो सत् होती है या असत्। अतः जगत् को सदसत्विलक्षण कहना तर्कशास्त्र के मध्यम परिहार नियम का उल्लंघन हैं। सत् एवं असत् परस्पर विरूद्ध तो है ही साथ ही अत्यन्त व्यापक भी है, अतः इसके अतिरिक्त किसी तीसरे विकल्प के लिए कोई स्थान नहीं है। लेकिन आचार्य शंकर के ऊपर यह आक्षेप निराधार है। यह सत्य है कि सत् एवं असत् परस्पर विरूद्ध होने के साथ–साथ व्यापक भी हैं। परन्तु इनके मध्य एक तीसरी अवस्था भी संभव है। आचार्य के दर्शन में सत् एवं असत् का प्रयोग अपने आत्यन्तिक अर्थ में किया गया है। सत् वह है जो तीनों ही कालों में अखण्डित रहे जबकि असत् वह है जिसका तीनों ही कालों में अनस्तित्व हो। जगत् इन दोनों में से किसी भी कोटि में नहीं आता है। यह सत् नहीं है, क्योंकि सत् तो केवल ब्रह्म है परन्तु यह असत् भी नहीं है, क्योंकि इसका अस्तित्त्व कम से कम वर्तमान में तो है ही भले ही अतीत एवं अनागत में यह अनस्तित्त्ववान हो। इस प्रकार सत् एवं असत् के मध्य स्थित होने के कारण आचार्य शंकर जगत् को सदसत्विलक्षण या मिथ्या कहते हैं। रामानुज एवं उनके अनुयायी वेदान्तदेशिक का दोष यह है कि उन्होंने मिथ्या का तात्पर्यार्थ असत् समझ लिया, अतः उनके मतों में 'अर्थान्तर कल्पना का दोष' है।

अपरंच, आचार्य शंकर के अनुसार सदसत्विलक्षण को तर्क विरूद्ध कहना असंगत भी है, क्योंकि तर्क स्वतः अप्रतिष्ठित है (न प्रतिष्ठितत्वं तर्कणां शक्यमाश्रयितुं पुरुषमति–वैरूप्यात्)[38]। पुनश्च, तर्क जो श्रुति पर आधृत नहीं है, वह निरपेक्ष तत्त्व की प्राप्ति नहीं करा सकता, वह केवल भ्रांति उत्पन्न करता है (केवलस्य तर्कस्य विप्रलम्भकत्वम् दर्शयिष्यति)[39]। इसी प्रकार आचार्य के अनुसार तर्कबुद्धि, श्रुति वाक्यों को बोधगम्य बनाने के लिए केवल साधन है, स्वतःसाध्य नहीं है (दृष्टान्तेन हि प्रत्यक्षीभवति विविक्षितोऽर्थः)[40]। सुरेश्वराचार्य भी ''नैष्कर्म्य–सिद्धि'' में इसका समर्थन करते हैं।[41] आचार्य बलदेव उपाध्याय का कहना है कि ''तर्क की सहायता से माया का ज्ञान प्राप्त करना अंधकार की सहायता से अंधकार का ज्ञान प्राप्त करना है।''[42]

पुनश्च, रामानुज का यह कहना कि क्योंकि सदसत्विलक्षण परस्पर विरूद्ध है, अतः इसके अनुरूप किसी सत्ता का होना सम्भव नहीं है। इसके प्रत्युत्तर में शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि विचारों का परस्पर विरोधी होना माया का कोई दोष नहीं है बल्कि यही तो उसका अलंकार है, क्योंकि यदि माया किसी भी प्रकार विरोधों से मुक्त हो जाय तो वह एक सत् या वास्तविक वस्तु बन जायेगी और तब उसे माया नहीं कहा जा सकता है। इसीलिए आचार्य मण्डन मिश्र ने अपनी पुस्तक ''ब्रह्मसिद्धि'' में परस्पर विरुद्धार्थता को ही माया कहा है, क्योंकि अविरुद्ध

होने पर वह यथार्थ हो जायेगी और फिर माया नहीं रह जायेगी (अनुपपद्यामानार्थैव हि माया। उपपद्यमानार्थत्वे यथार्थभावान् न माया स्यात्।।)[43]। पुनश्च, विमुक्तात्ममुनि, "इष्टसिद्धि" में लिखते हैं कि अविद्या का दुर्घटत्व होना उसका कोई दोष नहीं बल्कि उसका आभूषण है, क्योंकि यदि अविद्या किसी प्रकार विरोधों से मुक्त हो जाए तो उसका अविद्यात्व ही दुर्घट हो जायेगा (दुर्घटत्वमविद्याया भूषणं न तु दूषणम्। कथंचिद् घटमानत्वेघविद्यात्वं दुर्घटं भवेत्।।)[44]। इसी प्रकार आचार्य विद्यारण्य स्वामी "विवरणप्रमेयसंग्रह" में विचारों के परस्पर विरोधी होने को अविद्या का अलंकार कहते है (विचारासहत्वं चाविद्याया अलंकार एव)[45]।

आचार्य शंकर के ऊपर दूसरा आक्षेप पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी लगाया है, विशेषकर अलबर्ट स्वेट्जर[46] अपनी पुस्तक "इण्डियन थॉट एण्ड इट्स डेवलपमेंट" में मूलतः दो प्रकार का आक्षेप करते हैं। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन पलायनवाद की शिक्षा देता है, क्योंकि यहाँ जीवन और जगत में रहने की नहीं बल्कि उसको त्यागने की बात की गयी है। पुनश्च, यदि सब कुछ मिथ्या है तो शुभ–अशुभ, उचित–अनुचित का भेद ही समाप्त हो जायेगा। अतः यह एक ऐसा दर्शन है जहां नैतिक मूल्यों की उपेक्षा की गयी है।

लेकिन ये दोनों ही आक्षेप निराधार है। यह कहना कि आचार्य ने जीवन एवं जगत् का निषेध किया है, सर्वथा असंगत है। जगत् की वास्तविकता को सिद्ध करने के लिए ही आचार्य ने त्रिविध सत्ता का प्रतिपादन किया (प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक)। ये तीनों ही अपने–अपने स्तरों पर सत्य हैं। प्रतिभास का खण्डन प्रतिभास के स्तर पर नहीं होकर व्यवहार के स्तर पर होता है। परन्तु जब तक हम व्यवहार के स्तर पर हैं यह व्यावहारिक जगत् पूर्णतः यथार्थ है अर्थात् व्यावहारिक स्तर पर इस जगत् का खण्डन नहीं हो सकता। इसका खण्डन तो केवल परमार्थ के स्तर पर ही हो सकता है। इस प्रकार जैसे व्यावहारिक दृष्टिकोण से प्रातिभासिक सत्ता का खण्डन हो जाता है उसी प्रकार पारमार्थिक दृष्टिकोण से व्यावहारिक जगत् का खण्डन हो जाता है। इस प्रकार जगत् मिथ्यात्व का सिद्धान्त उसके लिए नहीं है जो केवल व्यावहारिक स्तर पर हैं बल्कि उसके लिए है जो परमार्थिक स्तर पर पहुँच चुका है अर्थात् जिसने ब्रह्म–साक्षात्कार या अपरोक्षानुभूति प्राप्त कर लिया है। अतः आचार्य शंकर व्यवहारतः वस्तुवादी जबकि परमार्थतः विज्ञानवादी हैं। यही नहीं, आचार्य शंकर ने तो शशश्रृंग, बन्ध्यापुत्र आदि को भी शब्दतः सत् माना है। प्रश्न उठता है कि जो नितान्त असत् को भी शब्दतः सत् मानता हो वह जगत् की वास्तविकता की उपेक्षा कैसे कर सकता है? संभवतः यही कारण है कि जब आचार्य शंकर की माँ का देहावसान हुआ तब उन्होंने संन्यास आश्रम का परित्याग करके अपनी माँ के निमित्त समस्त कर्मकाण्डों का सम्पादन किया, क्योंकि वे जानते थे कि व्यावहारिक स्तर पर व्यवहार के सारे नियम सत्य हैं। यद्यपि यह भी सत्य है कि पारमार्थिक स्तर पर इन व्यावहारिक नियमों की कोई गति नहीं है। लेकिन जब तक हम व्यावहारिक स्तर पर हैं तब तक यहाँ की मर्यादा का पालन करना आवश्यक है।

इसीलिए आचार्य शंकर पर यह आक्षेप करना भी असंगत हो जाता है कि उनके दर्शन में नैतिक मूल्यों का अतिक्रमण किया गया है। यह सत्य है कि आत्म–पूर्णता के उपरान्त नैतिकता का कोई अर्थ नहीं रह जाता, लेकिन ऐसा व्यक्ति कभी भी नैतिक मूल्यों का अतिक्रमण नहीं करता है बल्कि वास्तविकता तो यह है कि सही अर्थों में केवल वही नैतिक नियमों का पालन करता है,

क्योंकि वह सभी प्रकार के भेदों एवं द्वंद्वों से ऊपर उठ जाता है। इस प्रकार उसकी भेद–दृष्टि समाप्त होकर साम्यता में आ जाती है लेकिन साम्यता का अर्थ योग्य तारतम्य को भूलना नहीं है। इसी दृष्टि से बाल गंगाधर तिलक लिखते हैं कि "कुबेर से टक्कर लेने वाला करोड़पति साहूकर यदि बाजार में तरकारी लेने जाए, तो जिस प्रकार वह हरी धनिया की गड्डी की कीमत एक लाख रुपये नहीं देता, उसी प्रकार पूर्ण साम्यावस्था में पहुँचा हुआ पुरुष किसी भी कार्य का योग्य तारतम्य नहीं भूल जाता। उसकी बुद्धि सम तो रहती है, परन्तु समता का यह अर्थ नहीं है कि वह गाय का चारा मनुष्य को और मनुष्य का भोजन गाय को खिला दे।"[47]

स्पष्टतः आत्म–पूर्णता नैतिकता का नहीं बल्कि नैतिकतापूर्ण व्यक्तित्व का अंत है। यह वह अवस्था है जहाँ नैतिकता विनष्ट नहीं होती बल्कि नैतिकता का अतिक्रमण हो जाता है। नैतिकता के अतिक्रमण का अर्थ केवल इतना है कि अब तक वह अपना कार्य समाज, राज्य आदि के दबाव में कर रहा था लेकिन अब वह उस कार्य को स्वाभाविक ढंग से करता है। इस प्रकार उसके व्यक्तित्व में "चाहिए" और "है" का भेद समाप्त हो जाता है, क्योंकि सद्गुण ही उस व्यक्ति का स्वभाव बन जाता है। ऐसी परिस्थिति में वह नैतिक नियमों के अनुरूप कार्य नहीं करता बल्कि उसके आचरण से स्वतः नैतिक मूल्यों का सृजन होता रहता है। ऐसे महापुरुष अपना दैनिक कार्य करते रहते हैं एवं स्वभाव से ही अपने सद्गुणों का विकास करते रहते हैं। वास्तव में जिस प्रकार हत्या तथा चोरी आदि के समान अपराधों के संदर्भ में बनाये गये नियमों का विधान एक सभ्य एवं सुशिक्षित व्यक्ति के लिए नहीं है उसी प्रकार मुक्त पुरुष नैतिकता के नियमों के बंधा हुआ नहीं होता है। इस प्रकार नैतिकता से ऊपर उठना अनैतिक होना नहीं है बल्कि यह तो अतिनैतिकता की अवस्था है। 'अतिनैतिकता मुक्त पुरुष का अलंकार है, कोई दोष नहीं।'[48]

पुनश्च, जब आचार्य शंकर मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में साधन–चतुष्टय (नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग, शमदमादिसाधनसम्पत् एवं मुमुक्षत्व) की बात करते हैं तब वे नैतिक मूल्यों का अतिक्रमण कैसे कर सकते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आचार्य शंकर नैतिकता विरोधी नहीं थे बल्कि वे नैतिकता को एक नौका या सीढ़ी की भांति स्वीकार करते थे। जिसका प्रयोजन भवसागर रूपी नदी को पार करना था। जिसके पश्चात् नौका का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। अस्तु, आचार्य शंकर के ऊपर नैतिक नियमों का अतिक्रमण करने का आक्षेप अनुचित है।

जिस प्रकार आचार्य शंकर ने जगत् को सदसत्विलक्षण कहा उसी प्रकार कुछ अन्य पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी जगत् को आभास कहा है। प्लेटो के अनुसार दो प्रकार के जगत हैं: पहला, प्रत्ययों का जगत् एवं दूसरा, वस्तुओं का जगत। वस्तुओं का जगत् अपने अस्तित्व के लिए प्रत्ययों के जगत् पर निर्भर हैं। प्रत्ययों का जगत् ही वास्तविक जगत् है, क्योंकि वस्तुएं देश–काल में स्थित होने के कारण उत्पन्न एवं विनष्ट होती हैं, जबकि प्रत्यय देश–काल से परे होने के कारण शाश्वत हैं। यही नहीं, प्रत्यय अपने अस्तित्व और ज्ञान की दृष्टि से भी स्वतंत्र हैं। यदि प्रत्ययों का अस्तित्व नहीं होगा तो वस्तुओं के अस्तित्व की हम परिकल्पना भी नहीं कर सकते हैं। परन्तु यदि वस्तुओं का अस्तित्व समाप्त हो जाय, तो भी प्रत्ययों के अस्तित्व पर कोई अन्तर नहीं पड़ता

है। पुनश्च, प्लेटो कहता है कि वस्तुओं का जगत् प्रत्ययों के जगत् का प्रतिबिम्ब है। अस्तु, यह जगत् पूर्ण सत् एवं पूर्ण असत् के मध्य की अवस्था है, जिसे वे अर्द्ध सत्य कहते हैं। इसे प्लेटो अपनी पुस्तक "रिपब्लिक" में गुफा सिद्धान्त के माध्यम से स्पष्ट करते हैं। इसी प्रकार अरस्तू भी इस जगत् को विशुद्ध जड़ एवं विशुद्ध आकार का मध्यवर्ती कहता है। प्लाटिनस भी जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहते हैं तो ब्रूनो इसे ईश्वर का आभास। ब्रेडले का भी कहना है कि यह जगत् सत् नहीं है, क्योंकि यह सम्बन्धों पर आधृत है और जो भी सम्बन्धों पर आधृत है वह सापेक्ष होता है जबकि सत् वह है जो सभी प्रकार के सम्बन्धों से परे हो अर्थात् जो पूर्णतः निरपेक्ष हो। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जगत् को आभासिक मानना दर्शन जगत् के लिए कोई नई बात नहीं है।



संदर्भ –

1. *उदधृत स्वामी सत्यानंद सरस्वती (2011): ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृष्ठ 15।*
2. *धर्मराजाध्वरीन्द्र (1930): वेदांतपरिभाषा, अनंतकृष्णशास्त्री (सं0), कलकत्ता विश्वविद्यालय, अध्याय 2।*
3. *ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1/1/2।*
4. *तैत्तिरीय उपनिषद् 3/1।*
5. *बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य 4/4/19।*
6. *छांदोग्योपनिषद् 6/2/2।*
7. *ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 2/1/4।*
8. *ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 2/1/11।*
9. *आचार्य शंकर का गीताभाष्य 1/16।*
10. *आचार्य शंकर का तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य 2/1।*
11. *मधुसूदन सरस्वती (1917): अद्वैतसिद्धि, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई, पृष्ठ 50 एवं 51।*
12. *उपर्युक्त, पृष्ठ 33।*
13. *उपर्युक्त, पृष्ठ 195।*
14. *उपर्युक्त, पृष्ठ 160।*
15. *उपर्युक्त, पृष्ठ 94।*
16. *उपर्युक्त, पृष्ठ 182।*
17. *माण्डूक्यकारिका 4/31।*
18. *ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, उपोद्घात।*
19. *ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1/1/1।*
20. *ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 2/3/7।*
21. *आचार्य शंकर का बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य 2/4/6।*
22. *आचार्य शंकर का बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य 2/4/5।*
23. *आचार्य शंकर का मुण्डकोपनिषद् भाष्य 2/1/4।*
24. *ब्रह्मसूत्र, वेदांतकल्पतरु, 1/2/21।*
25. *स्वामी सदानंद (1917): वेदान्तसार 47।*
26. *धर्मराजाध्वरीन्द्र (1930): वेदांतपरिभाषा, अनंतकृष्णशास्त्री (सं0), कलकत्ता विश्वविद्यालय, प्रत्यक्षपरिच्छेद।*
27. *ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 2/1/16 एवं 2/2/17।*

28. आचार्य शंकर का छांदोग्योपनिषद् भाष्य 6/2/2।
29. माण्डूक्यकारिका, 3/32।
30. आचार्य शंकर का तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य 2/6/1।
31. माण्डूक्यकारिका, 1/7/9।
32. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 2/1/33।
33. टी.एम.पी. महादेवन (1938): द फिलॉसफी ऑफ अद्वैत, लुजैक एण्ड कम्पनी, लंडन, पृष्ठ 213।
34. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 2/1/10।
35. सर्वज्ञात्ममुनि (1936): संक्षेपशारीरक, सरस्वती भवन, वाराणसी 2/61।
36. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 2/1/27।
37. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, उपोद्घात।
38. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 2/1/11।
39. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 2/1/6।
40. बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य 4/3/21।
41. सुरेश्वराचार्य (1925): नैष्कर्म्यसिद्धि, मै० हिरियन्ना (सं०), बम्बई, 3/5।
42. बलदेव उपाध्याय (1991): भारतीय दर्शन, नया संसार प्रेस, वाराणसी, पृष्ठ 356।
43. मंडन मिश्र (1937): ब्रह्मसिद्धि, एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री (सं०), मद्रास, पृष्ठ 10।
44. विमुक्तात्ममुनि (1933): इष्टसिद्धि, गायकवाड ओ० सी०, बडौदा, 1, 140।
45. विद्यारण्य स्वामी (1949): विवरणप्रमेयसंग्रह, अच्युत कार्यालय, वाराणसी, पृ० 175।
46. अलबर्ट स्वेट्जर (1957): इण्डियन थॉट एण्ड इट्स डेवलपमेंट, बिकन प्रेस, मिचिगन, यू० एस० ए०।
47. बाल गंगाधर तिलक, गीतारहस्य पृ० 396। उदधृत अशोक कुमार लाड (1973): भारतीय दर्शन में मोक्ष चिंतन, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृष्ठ 29।
48. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1/1/4।

औपनिषद् विश्वदृष्टि में भौतिकवादिता का निरास

हृदयनारायण मिश्र

भारतीय दर्शन में ही नहीं पाश्चात्य दर्शन में भी विश्व के विषय में दो दृष्टियों का उल्लेख मिलता है– एक भौतिकवादी विश्वदृष्टि और दूसरी अध्यात्मवादी विश्वदृष्टि। भौतिकवादी विश्वदृष्टि की मान्यता के अनुसार यह जगत् जो दिखाई दे रहा है वह वस्तुनिष्ठ है, आत्मनिष्ठ नहीं है। भौतिकवाद के अनुसार ज्ञान का स्रोत इन्द्रिय संवेदन है, भौतिकवाद यह भी मानता है कि यह संसार यान्त्रिक नियमों से चलता है, इसके लिए किसी ईश्वरीय सत्ता की आवश्यकता नहीं है। प्राकृतिक नियम ही विश्व की घटनाओं के लिए जिम्मेदार हैं।

अध्यात्मवादी विश्वदृष्टि के अनुसार विश्व में एक व्यवस्था पायी जाती है, इसका एक प्रयोजन है। इस व्यवस्था के पीछे न तो किसी प्राकृतिक नियम का हाथ है और न ही किसी मनुष्य का ही हाथ है। अध्यात्मवाद के अनुसार मनुष्य का एक आध्यात्मिक उद्‌देश्य है। यही उद्‌देश्य मनुष्य को जीवन–जगत् से परे ले जाता है। यह मनुष्य को आध्यात्मिक जिज्ञासा की ओर ले जाता है। अध्यात्मवाद ईश्वीय सत्ता की ओर संकेत करता है।

प्रस्तुत लेख में मेरा उद्‌देश्य उपनिषदों में प्राप्त भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी विश्वदृष्टि की समीक्षात्मक विवेचना प्रस्तुत करना है। उपनिषदों में कुछ ऐसे प्रश्न किए गए हैं, और उन प्रश्नों के ऐसे उत्तर मिलते हैं, जिनकी अध्यात्मवादी तथा भौतिकवादी दोनों तरह की व्याख्या की जा सकती है। कुछ लोगों ने तो उन प्रश्नों की नितान्त रूप से भौतिकवादी व्याख्या दी और कुछ लोगों ने दोनों की (भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद की) एकत्ववादी व्याख्या की है। अतः पहले उपनिषदों में पाए जाने वाले प्रश्नों को देख लेना अच्छा होगा। उपनिषदों के प्रश्नों का स्वरूप इस प्रकार है– ''हम कहाँ से उत्पन्न हुए, हम किसमें निवास करते हैं? और हम कहाँ जाएगें? हे ब्रहम ज्ञानियों! हम दुःख–सुख में किसके शासन में रहते हैं? क्या काल या प्रकृति या अभावजन्य अनिवार्यता, या संयोग या तत्त्वों को कारण माना जाय, अथवा उसको जिसे पुरूष कहते हैं और जो पारब्रहम है? (श्वेता1.1)

केनोपनिषद् में शिष्य पूछता है, किसकी इच्छा से प्रेरित होकर मन अपने अभिलिषित प्रयोजन की ओर आगे बढ़ता है? किसकी आज्ञा से प्रथम प्राण बाहर आता है और किसकी इच्छा से हम यह वाणी बोलते हैं? कौन सा देव आँख या कान को प्रेरणा देता है (केन 1.1)? इन दार्शनिक प्रश्नों की विवेचना करते हुए डा0 राधाकृष्णन ने कहा है कि ''विचारकों ने इन्द्रियानुभव को ऐसी सामग्री नहीं माना जिसकी व्याख्या न हो सके, जैसा कि सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति समझते हैं, उन्होंने सन्देह प्रकट किया– क्या इन्द्रियों द्वारा गृहीत ज्ञान को अन्तिम और निश्चित माना जा सकता है? क्या मन की वे शक्तियाँ जिनके द्वारा इन्द्रियानुभव होता है, अपने–आप में स्वतन्त्र सत्ता रखती हैं, या वे उनसे भी कहीं अधिक शक्तिशाली एक ऐसी सत्तारूपी कारण के कार्य हैं जो उनके पीछे विद्यमान है? कैसे हम भौतिक पदार्थों को कार्य रूप में उत्पन्न और उसी रूप में जिसमें वे

सेवानिवृत्त आचार्य, दर्शन विभाग, काशी नरेश महाविद्यालय, ज्ञानपुर, भदोही (उ.प्र.)

हैं, उन्हें उनके कारणों के समान ही यथार्थ मान लें? इन सब के पीछे कोई परम सत्ता अवश्य होनी चाहिए, जो स्वयंभू हो (जो अपनी सत्ता के लिए अन्य किसी पर आश्रित न हो)। जिसके अन्दर ही मन को भी आश्रय मिलता हो, ज्ञान, मन, इन्द्रियाँ और उनके विषय सब परिमित और प्रतिबन्धयुक्त हैं। नैतिकता के क्षेत्र में हम देखते हैं कि हमें सीमित पदार्थ से सच्चा आनन्द नहीं मिल सकता। सांसारिक सुख–भोग क्षणभंगुर हैं, जो बुढापे और मृत्यु से विनष्ट हो जाते हैं। केवल नित्य ही हमें स्थायी आनन्द प्रदान कर सकता है। धर्म के क्षेत्र में हम नित्य जीवन की प्राप्ति के लिये आग्रह करते हैं। इन सब कारणों से यहाँ यह बलात् विश्वास करना पड़ता है कि एक सत्ता अवश्य है जिसे काल नहीं व्यापता, वह एक आध्यात्मिक सत्ता है, ऐसी सत्ता है जो दार्शनिकों की खोज का विषय है, हमारी इच्छाओं को पूर्ण करने वाली एवं धर्म का प्राप्तव्य लक्ष्य है। उपनिषदों के ऋषिगण हमें इस प्रधान यथार्थसत्ता की प्राप्ति के लिये मार्ग प्रदर्शन करते हैं, जो नित्यसत्, परमसत्य और विशुद्ध आनन्द है। प्रत्येक मानव–हृदय की प्रार्थना है–"मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो।" (वृहदा. 1.3.28)[1]

उपनिषदों में उठाए गये इन सभी प्रश्नों के उत्तर दार्शनिकों द्वारा अलग–अलग तरीके से दिये गये हैं। इन्हीं उत्तरों को दृष्टिगत रखते हुए उपनिषदों में प्राप्त विश्वदृष्टि (World View) की चर्चा करना प्रासंगिक एवं आवश्यक प्रतीत होता है। कुछ विचारक जीव की उत्पत्ति अजीव तत्त्व से मानते हैं और कुछ इसके विपरीत उत्तर देते हैं। यही नहीं कुछ दार्शनिक अवधाराणाएं द्वैतवादी हैं, तो कुछ और हैं जो अद्वैतवादी हैं। यह विचार कि एक दैवीशक्ति है, जो दृश्य जगत् के बाहर अस्तित्ववान है, कुछ लोगों ने इसका समर्थन किया, जब कि कुछ दूसरे लोग इस विचार को अस्वीकार करते हैं कि किसी बाह्य अतिप्राकृतिक शक्ति का अस्तिव है। कुछ लोगों का तर्क है कि आत्मा का अस्तित्व शरीर से स्वतन्त्र है, जो शरीर की क्रियाओं के समाप्त होने पर अस्तित्ववान नहीं रहता। कुछ अन्य दार्शनिक यह मानते हैं कि भौतिक शक्तियाँ आध्यात्मिक या आत्मिक शक्तियों पर निर्भर करती हैं, किन्तु यह विचार कुछ अन्य लोगों द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया और यह कहा गया कि आध्यात्मिक शक्तियाँ भौतिक शक्तियों पर निर्भर हैं। इस प्रकार दार्शनिक दो खेमों में बँट गया। पहली श्रेणी में अध्यात्मवादी या प्रत्ययवादी आते हैं और दूसरी श्रेणी में भौतिकवादी आते हैं। कुछ विचारकों के अनुसार उपनिषदों में ये दोनों प्रवृत्तियाँ (भौतिकवादी और अध्यात्मवादी) देखी जा सकती हैं किन्तु प्रत्ययवादी या अध्यात्मवादी विचारधारा की प्रधानता देखी जा सकती है।"[2]

इस लेख का प्रतिपाद्य विषय उपनिषदों में प्राप्त भौतिकवाद तथा प्रत्ययवाद का निरूपण करना मात्र नहीं है। मैने ऊपर इस बात का उल्लेख मात्र किया है कि दार्शनिकों में इस बात पर मतभेद है कि उपनिषदों में केवल प्रत्ययवाद है या केवल भौतिकवाद। इस बात से सभी दार्शनिक परिचित हैं कि एक वर्ग ऐसा है जो समूचे भारतीय दर्शन की भौतिकवादी व्याख्या करता है। उदाहरण के लिए मैं केवल एक अध्येता का उल्लेख करना चाहता हूँ जिसने समूचे भारतीय दर्शन, विशेष रूप से उपनिषदों में भौतिकवादी दृष्टि को प्रमुख माना है। उस विचारक के तर्क को देख कर यह अन्दाज लगाया जा सकता है कि वह विचार किस प्रकार भारतीय दर्शन में एक मात्र

भौतिकवाद का प्रतिपादन करता है। जैसे "भारत की दार्शनिक परम्परा, मानववाद या अध्यात्मवाद की एक अबाध धारा है। यह दावा तो आज भी किया जाता है। भारतीय चिन्तन की विशेषता यह है कि इसमें मानव के बाह्य विश्व की अपेक्षा आन्तरिक विश्व की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। किन्तु लेखक अपना मत प्रस्तुत करते हुए अडिग है कि भारतीय चिन्तन परम्परा निश्चित रूप से भौतिकवादी रही है, जिसकी अवहेलना की गयी है। लेखक के शब्दों में "यह तभी सत्य हो सकता है यदि हम भारतीय चिन्तन की उस प्रवृत्ति को अनदेखा कर जाएँ जिसे परम्परा से सामान्य भारतीय जन की प्रवृति माना जाता है। उसका विश्व दृष्टिकोण (World View) स्वाभाविक रूप से ही भौतिकवादी था और लोकायत नाम इसी तथ्य का प्रमाण है।[3]

इतना ही नहीं लेखक ने उपनिषदों में ऐसे कई स्थलों की ऐसी व्याख्याएँ की हैं जिनसे अपने मन के अनुकूल उनको भौतिकवादी सिद्ध किया जा सके। इनमें से एक उदाहरण ही स्थानाभाव के कारण पर्याप्त होगा। उदाहरण के लिए "छांदोग्योपनिषद्" में दी गई इन्द्र और विरोचन की कथा के आधार पर लेखक ने सरलता से यह निष्कर्ष मनमाने ढंग से निकाल लिया कि 'शरीर ही आत्मा है।'[4]

इसी तरह एक दूसरे अध्ययन में उपनिषदों में भौतिकवादी विश्वदृष्टि पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि "उद्दालक आरूणि भारतीय दर्शन में सर्वप्रथम भौतिकवादी है, जिनकी बातें लिखित रूप में पायी जाती हैं। प्राचीन भारतीय दर्शन में याज्ञवल्क्य प्रत्ययवाद (अध्यात्मवाद) का प्रतिनिधित्व करते हैं। उद्दालक, आरूणि का भौतिकवादी विचार आजीवक एवं चार्वाक दर्शन के पहले आता है। उद्दालक, आरूणि को ग्रीक दार्शनिक थेलीज के पूर्व का दार्शनिक माना जाता है। इन्होंने विचार (Thought) से आधिक प्राथमिकता भूत (Matter) को दी है। इन्होंने वैदिक ऋषियों के विचार से अपनी भिन्नता दिखलाई है। उद्दालक और आरूणि विश्व के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण रखते हैं। याज्ञवल्क्य की विश्वदृष्टि (World View) प्रत्ययवादी है। उद्दालक आरूणि की विश्वदृष्टि भौतिकवादी (Materialistic) है। उद्दालक जातक में लिखा है कि कोई वेद को जानने के बाद भी दुःख से अपने को मुक्त नहीं कर सकता। उद्दालक आरूणि ने इसका प्रयोग एक नौजवान व्यक्ति पर किया। वह नौजवान व्यक्ति भोजन त्याग देता है, फलस्वरूप उसकी हालत नाजुक होती जाती है। वैदिक मन्त्रों के उच्चारण से उस व्यक्ति की हालत में कोई सुधार नहीं हो पाता, किन्तु भोजन के मिलते ही उस मूर्ख नौजवान की स्थिति में अप्रत्याशित, परिवर्तन आता है। यह उदाहरण इस बात की ओर संकेत करता है कि भौतिकवाद की महत्ता मानव जीवन में क्या है ? विचार (Thought) उद्दालक आरूणि के अनुसार भूत का सब से सूक्ष्म अंश है। विचार के स्रोत भूत हैं। जो भोजन हम करते हैं, जो अन्न हम खाते हैं उससे हमारा विचार प्रभावित होता है।

"उद्दालक आरूणि का कहना है कि मानव भी भूत से उत्पन्न होता है। शून्य से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। अतः जो भी विचार उत्पन्न होता है, वह भूत पर आश्रित है।"

उपनिषद् काल में उद्दालक आरूणि एक सशक्त भौतिकवादी चिन्तक हुए जिन्होंने बाद के भौतिकवादी दार्शनिकों के लिए मागदर्शन का कार्य किया है। उद्दालक ने ही सर्वप्रथम बतलाया है कि प्राकृतिक वस्तुएं भौतिक घटनाओं से बनी हैं। एक तरह से कहा जा सकता है कि उद्दालक

आरूणि की विश्वदृष्टि वस्तुवादी एवं भौतिकवादी है। ल्यूक्रिटस ने कहा है कि जीवन एवं जगत् के प्रति विश्वास एवं भावात्मक दृष्टि (Positive World View) तभी संभव है, जबतक हम भौतिकवादी एवं प्रकृतिवादी विश्वदृष्टि (Materialistic & Naturalistie World View) को अपना लें ही।[5]

उपर्युक्त अध्ययन में उद्दालक को भौतिकवादी तो सिद्व किया ही गया है, डॉ. राधाकृष्णन ने भी उद्दालक के विषय में कहा है कि वह भौतिकवाद को मानता है।[6] यह विवादग्रस्त प्रश्न है कि क्या उद्दालक एक भौतिकवादी विचारक था ? उद्दालक का नाम दो बड़े उपनिषदों विशेष रूप से छान्दोग्य तथा बृहादरण्यक में आता है। उनमें आरूणि उद्दालक तथा श्वेतकेतु के मध्य पाए जाने वाले संवादों तथा बृहदारण्यक में आरूणि– उद्दालक एवं याज्ञवल्क्य के बीच पाए जाने वाले संवादो को देखकर कोई नहीं कह सकता कि उद्दालक भौतिकवादी था। उदाहरण के लिए कुछ संवाद देखे जा सकते हैं– पहले छान्दोग्योपनिषद् में पाए जाने वाले संवादों को देख सकते हैं– (अध्याय 6)। उद्दालक ने श्वेतकेतु को उपदेश देते हुए कहा– हे प्रिय सोम्य! प्रारम्भ में एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उसके सन्दर्भ में कुछ लोग इस प्रकार कहते हैं कि आरम्भ में मात्र अद्वितीय असत् ही था और उस असत् से ही सत् की उत्पति हुई।

उद्दालक ने कहा– हे सोम्य! परन्तु यह कैसे हो सकता है? असत् से सत की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? हे सोम्य! वास्तव में प्रारम्भिक अवस्था में यह एक मात्र अद्वितीय सत ही था।

उद्दालक ने पुनः कहा "उस (सत्) ने संकल्प किया कि मैं विभिन्न रूपों में उत्पन्न हो जाऊँ" फिर इच्छा करते ही उस (सत्) से तेज की उत्पत्ति हुई। तत्पश्चात उस तेज ने संकल्प किया कि "मै बहुत हो जाऊँ" ऐसा संकल्प लेते ही उस (तेज) ने अप् तत्त्व (जल) की रचना की।

इस प्रकार उद्दालक ने सृष्टि क्रम समझाते हुए श्वेतकेतु से और भी स्पष्ट करते हुए कहा– "इन ख्याति प्राप्त प्राणियों में तीन ही बीज अण्डज, जरायुज और उद्भिज्ज होते हैं।"

उस (सत्रूपी) देवता ने अपनी प्रचण्ड इच्छाशक्ति के माध्यम से संकल्प किया कि मैं इस 'जीवात्मरूप' से इन तीनों (तेज, अप एवं पृथ्वी) देवताओं में अनुप्रवेश कर नाम और उसके रूप को प्रकट करूँ। (6/3/2)

इस प्रकार का संकल्प करते हुए इस देवता ने जीवात्मरूप से उन तीनों देवों में प्रवेश करते हुए उनके नाम एवं रूप को स्पष्ट किया।

पुनः बताया कि "जो कुछ लोहित सा (लाल रंग की भाँति) प्रतीत होता है वह तेज का ही रूप है जो शुक्ल सा प्रतीत होता है, वह जल का रूप है तथा जो काला रंग है वह अन्न (पृथ्वी) का रूप है। ऐसे सभी रूपों की जानकारी उन्होंने प्राप्त की।

आगे पंचम खंड में उद्दालक ने अन्न (पृथ्वी) जल और तेज (अग्नि) के तीन–तीन रूपों का वर्णन किया है। जैसे -- अन्न का स्थूल भाग मल रूप में, मध्य भाग रस से युक्त होकर मांस के रूप में और अति सूक्ष्म भाग है वह मन के रूप में बदल जाता है। इसी तरह जल का स्थूल रूप मूत्र बनता है, मध्य भाग रक्त के रूप में और सूक्ष्म अंश प्राण के रूप में बनता है। तेज का भी स्थूल भाग हड्डी, मध्य भाग मज्जा और सूक्ष्म भाग वाणी के रूप में बदल जाता है। सारांश यह कि मन अन्न के रूप में, प्राण जल के रूप में और वाणी तेजोमय रूप में है।

श्वेतकेतु के पुनः समझाने के लिए निवेदन करने पर उद्दालक ने कहा– हे सोम्य! यह मनुष्य सोलह कलाओं से युक्त है। इसलिए तुम पन्द्रह दिन तक भोजन न ग्रहण करते हुए इच्छानुसार जल का सेवन करो। चूंकि प्राण जल रूप है, अतः मात्र जल के सेवन से उस (प्राण) का नाश नहीं होगा। श्वेतकतु ने वैसा ही किया और उद्दालक के पास जाकर पूछा मैं क्या करूं? पिता ने कहा– तुम ऋक्, यजु और रूप के मन्त्रों का उच्चारण करो। पुत्र ने कहा– मेरे मन में उन सभी की प्रतीति नहीं हो रही है।

इस उक्त प्रश्न के उत्तर में उद्दालक ने कहा 'जैसे आग का एक छोटा सा अंगारा शेष रह जाय तो वह अधिक गर्मी नहीं प्रदान कर सकता वैसे ही तुम्हारी सोलह कलाओं में से मात्र एक ही कला शेष है। इसलिए मात्र एक कला से तुम वेद का अध्ययन–अनुशीलन नहीं कर सकते हो। अतः अब तुम भोजन ग्रहण करो, तभी तुम्हारी समझ में आएगा।'

फिर श्वेतकेतु ने पिता के कहने पर भोजन ग्रहण किया और उसे सब कुछ स्मरण हो गया। इस सम्बन्ध में उद्दालक ने यह बताया कि तुम्हारी कलाओं में से एक ही कला शेष रह गयी थी। तत्पश्चात वह अन्न द्वारा पुनः प्रज्ज्वलित हो गयी। उसी के माध्यम से तुम वेदों को जानने में समर्थ हो सके। इस प्रकार यह सिद्व होता है कि मन अन्न रूप है, प्राण जल रूप है और वाणी तेज स्वरूप है। पुनः श्वेतकेतु द्वारा यह पूछने पर कि अन्न के अतिरिक्त इस शरीर का मूल और क्या है ? हे सोम्य! तुम तेज को अन्नरूप कार्य का मूल समझो। तेज रूपी कार्य का मूलसत् तत्त्व को जानो। इस प्रकार से ये समस्त प्राणी सत रूप मूल वाले ही है। अर्थात सत् ही एक मात्र आश्रय तथा प्रतिष्ठा है।

सत् को ही मूल बताते हुए पुनः उद्दालक का कथन है कि "हे प्रिय सोम्य! जल द्वारा प्रकट हुए शरीर का मूल स्थान कहाँ हो सकता है ? जल का मूल तेज में और तेज का मूल सत् में होता है। ये सभी प्राणी सत् रूपी मूल वाले, सत् रूपी उद्गम स्थल वाले और सत् रूपी अन्न वाले हैं। हे सोम्य! तीनों (अन्न, जल और तेजरूपी) देवता पुरूष के शरीर में प्रविष्ट होकर विभिन्न भागों में बँट जाते हैं। .... इसी कारण से मृत्यु के समीप पहुँचने वाले पुरूष की वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में विलीन हो जाता है। प्राण तेज में और तेज देवता में मिल जाता है।

उद्दालक के अनुसार "यह समस्त प्रजा सत् को प्राप्त करने के उपरान्त यह नहीं कहती कि हमने सत् तत्त्व प्राप्त कर लिया है। इसे मधुमक्खियों और नदियों के उदाहरण से समझाया है कि जिस प्रकार मधु के रूप में मधुमक्खियाँ जब पुष्पों मे रस लाकर मधु तैयार करती हैं तो रस को यह पता नहीं चलता कि मै किस वृक्ष का रस हूँ, इसी तरह समस्त प्रजा सत् को प्राप्त करने के उपरान्त यह नहीं कहती कि हमने सत् तत्त्व प्राप्त कर लिया है। उद्दालक के अनुसार 'वह जो यह अणिमा (सूक्षम प्रकिया) आदि है यह सब तदनुरूप ही है। वह ही सत्य है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतो वही तुम भी हो (तत्त्वमासि श्वेतकतो)।

फिर उद्दालक प्रवाहित होते हुए नदियों के उदाहरण से इसी बात को समझाया है कि सभी सत् तत्त्व से प्रकट होकर भी यह नहीं समझ पाते कि उनका सत् तत्त्व से ही आगमन हुआ है। उद्दालक ने इसी को निम्न शब्दों में समझाया है – "हे सोम्य! ये पूरब एवं पश्चिम दिशा की

ओर प्रवाहित होने वाली नदियाँ अपने अनुकूल मार्गों से प्रवाहित होती हैं। उनका समुद्र से ही आगमन होता है और अन्त में उसी समुद्र में ही समाहित हो जाती हैं। जिस तरह वे नदियाँ, सागर में विलीन होकर यह नहीं जानतीं कि मैं अमुक–अमुक नदी हूँ।

अनेक उदाहरणों द्वारा उद्दालक यही समझाने का प्रयास करता है कि 'यही अणिमा (अणुरूप) आदि से युक्त आत्मा वाला जगत् है तथा तुम भी वही हो' और पुनः 'यह वृक्ष रूपी शरीर जीवन तत्त्व से रहित होते ही नष्ट हो जाता है, किन्तु जीव का नाश नहीं होता, ऐसे सूक्ष्म भाव से सम्पन्न आत्म–तत्त्व से परिपूर्ण यह जगत् है। इसी तरह तुम भी सत्य तत्त्व से पूर्ण हो 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'। (6/11/3)

जगत् में व्याप्त अति सूक्ष्म चेतन तत्त्व को उद्दालक अन्य दो उदाहरणों द्वारा पुनः श्वेतकेतु को समझाते हुए कहता है – जैसे विशाल वट वृक्ष के फल के भीतर जिस अति सूक्ष्म अणुरूप को तुम नहीं देख सकते हो, उसमें इतना विशाल वृक्ष स्थिर है। अतः मेरे इस कथन पर श्रद्धापूर्वक विश्वास करो– "इस वट वृक्ष का जो अणु रूप है, तदनुरूप ही यह अब सूक्ष्म जगत् है। वही सत्य है और वही तत्त्व तुम स्वयं हो। (6/12/3)

पुनः नमक का उदाहरण देते हुए उद्दालक, श्वेतकेतु को समझाता है कि जिस प्रकार नमक की डली को जल–पात्र में रखे जल में डालने पर जिस प्रकार नमक की डली का पता नहीं चलता, क्योंकि नमक घुलकर जल में एकमएक हो जाता है। उद्दालक कहता है "जल में मिले हुए नमक के अंश को नही देख सकते हो, फिर भी यदि जिज्ञासा हो, तो इस जल को ऊपर से लेकर आचमन के रूप में ग्रहण करो। आचमन के पश्चात् उद्दालक ने पूछा जल कैसा है ? पुत्र ने कहा नमकीन या खारा है। फिर पिता ने कहा जल के मध्य भाग से जल को ग्रहण करो और बताओ कि कैसा है? उत्तर मिला नमकीन। पुनः जल–पात्र के नीचे से जल ग्रहण करके पुत्र ने बताया कि जल नमकीन है। आरूणि ने कहा जिस प्रकार सम्पूर्ण जल में नमक पूर्ण रूप से मिला हुआ था किन्तु उस नमक को देख न सके। साःरांश में उद्दालक ने कहा नमक की तरह तुम सत् तत्त्व को देखने में असमर्थ हो फिर भी वह यहाँ पर पूर्ण रूप से विद्यमान है। (6/13/2) पुनः आरूणि ने समझाते हुए कहा "यह सम्पूर्ण जगत् अति सूक्ष्म रूप से सत् तत्त्व आत्मा में विद्यमान है, यही सत्य है। हे श्वेतकेतु! ठीक वैसे ही तुम स्वंय भी सत्य स्वरूप हो।(6/13/3) इस प्रकार बहुविध रूप से उद्दालक द्वारा समम्झाए जाने पर श्वेतकेतु जोर से कहता है– 'विजज्ञाविति विजरगविति' अर्थात् मैं उस सत् तत्त्व को जान गया हूँ। (7/16/3)

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि भौतिकवादी एकांगी रूप से भौतिक तत्त्वों से जगत् की रचना के विषय में विचार करते हैं, तभी उन्हें एक को छोड़ कर दूसरे का ज्ञान नहीं हो पाता। जगत् भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों तत्त्व देखे जाते हैं। क्या इन दोनो में से किसी एक की उपेक्षा की जा सकती है? ऐसा संभव नहीं है। ऐसा आरूणि उद्दालक और श्वेतकेतु के संवाद से प्रतीत होता है। भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद में जगत् का बटवारा करके दार्शनिक स्वयं ही उलझ गया है। दोनों में एकता स्थापित करते हुए उद्दालक ने कहा है कि मन अन्न रूप है, प्राण जल रूप है और वाणी तेज स्वरूप है। सत् तत्त्व की प्रतिष्ठापना करने लिए उद्दालक तत्पर है। श्वेतकेतु के पूछने पर कि अन्न के अतिरिक्त इस शरीर का मूल और क्या है ? उत्तर है – हे सोम्य!

तुम तेज को अन्न का मूल समझो। तेज रूपी कार्य का मूल सत् तत्त्व को जानो। इस प्रकार से ये सभी प्राणी सत् रूप मूलवाले ही हैं। इससे सिद्व होता है कि सत् ही एकमात्र आश्रय तथा प्रतिष्ठा है। यही अणिमा (अणुरूप) आदि से युक्त आत्मा वाला जगत् है तथा श्वेतकेतु तुम भी वही हो। यह वृक्ष रूपी शरीर जीवन तत्त्व से रहित होते ही नष्ट हो जाता है, किन्तु जीव का नाश नही होता। ऐसे सूक्ष्म भाव से सम्पन्न आत्म–तत्त्व से परिपूर्ण यह जगत् है। श्वेतकेतु तुम भी सत्य तत्त्व से पूर्ण हो। तत्त्वमसि श्वेतकेतो। (छा. 6/11/3)

मुण्डकोपनिषद् में भी जगत् की भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी सिद्वान्त से युक्त व्याख्या की गयी है। मकड़ी जैसे अपने पेट से जाले को उत्पन्न करती है और अपने भीतर ही निगल लेती है, पृथ्वी जैसे विभिन्न प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न करती हैं, मनुष्य शरीर से जैसे केश और लोम (रोयें) उत्पन्न होते हैं, वैसे ही उस अनश्वर ब्रह्म से ही यह विश्व उत्पन्न होता है। (1/7) पुनः कहा गया है कि "तप के द्वारा ब्रह्म बढ़ता है (बीज रूप को प्राप्त होता है)। उससे अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से प्राण, उससे मन, उससे सत्य (पंचमहाभूत), उससे लोक और मनुष्यादि, उनसे कर्म और कर्म से अमृतरूप फल प्राप्त होता है। (1/8) इसका भी तात्पर्य यही कि यह भौतिक जगत चेतन सत्ता का ही बाह्य रूप है। उसमें और परमतत्त्व में भेद नहीं है।

"ब्रह्म या सत्ता सभी वस्तुओं का विधि–विधान के अनुसार नियन्त्रण कर रहा है। ब्रह्म केवल जगत् में लीन नहीं है, वह जगत् के बाहर और भीतर स्थित है, क्योंकि उसकी अनन्तशक्ति संसार में ही समाप्त नहीं हुई है, उसकी अनन्तशक्ति का विकास संसार में अनन्त काल तक चलता रहेगा। –'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपंरूपं प्रतिरूपं बहिश्च।'"[7] इससे सिद्व होता है कि भौतिकवादियों का तर्क यही है कि जगत् का भी विनाश हो जाता है। इसी तथ्य को लेखक पुनः कहता है –

"उपनिषद् के अनुसार जगत् की सनातन सत्ता है, जगत् मिथ्या नहीं है। विकास के पूर्व जगत् ब्रह्म में ही लीन था।" तन्तु जैसे पहले तन्तुनाभ में अव्यक्तरूप में रहता है एवं बाद में व्यक्त होता है, वैसे ही जगत् पहले ब्रह्म में अव्यक्त अवस्था में रहता है और बाद में व्यक्त होता है। जगत् ब्रह्म का अवयव है। जिस प्रकार देह के भीतर देही का प्रकाश होता है। उसी प्रकार जगत् में ब्रह्म का प्रकाश है – जगत् की सनातन सत्ता रहने पर भी ब्रह्माश्रित और उसके नियन्त्रणाधीन है।"[8]

उपर्युक्त लेखक के मन्तव्यानुसार इतना तो स्पष्ट होता है कि जगत् और ब्रह्म में एकत्व है। एक की दूसरे के अभाव में कल्पना नही की जा सकती। यहीं से उपनिषद् के इस विषय की एकत्ववादी व्याख्या प्रारम्भ होती है। एकत्ववाद के अन्य दो प्रसिद्व विचारक प्रो. एम. हिरियन्ना[9] एवं एस. एन. दासगुप्त है। प्रो. हिरियन्ना के अनुसार "एकत्व सिद्धान्त उपनिषदों की मुख्य शिक्षा है। .... उनके अनुसार एकत्ववाद सम्पूर्ण विश्व–प्रकृति, मनुष्य और देवता की बाहर या विषय रूप से व्याख्या करने के प्रयत्न का नतीजा है।"[10] ब्रह्म शब्द के अर्थ का निरूपण करते हुए लेखक का कहना है कि "आधुनिक काल के कतिपय विद्वानों के मतानुसार इस शब्द का दार्शनिक अर्थ यह है कि यह सम्पूर्ण विश्व एक शक्ति अथवा आदि तत्त्व के स्वाभाविक स्फुरण से अनायास ही अभिव्यक्त हो गया है।" (पृ. 17) लेखक वेदों के (अथर्ववेद के) एक विषय का अर्थात् विश्व और आत्मा का उललेख करते हुए बताया है कि इसमें एकत्ववाद को स्थान दिया गया है और यही

उपनिषदों में प्रस्फुटित हुआ है। उदाहरण के लिए अथर्ववेद में विश्व आत्मा के विषय में कहा गया है कि ' पृथ्वी उसके पैर हैं, अन्तरिक्ष उसका उदर है, आकाश उसका सिर है, सूर्य और चन्द्र उसके नेत्र हैं और वायु प्राण है। ब्रह्म और आत्मा की अलग–अलग की गयी भावनाओं में कभी–कभी एकत्व भी स्थापित किया गया है। इन दोनों के एकत्व का प्रतिपादन ही उपनिषदों की शिक्षाओं का सार है। "तत्त्वमासि"– वह ब्रह्म तुम ही हो, अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ), इन सुविख्यात महावाक्यों द्वारा इस शिक्षा का निरूपण किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि इस विश्व की समष्टि का जो मूल तत्त्व है वही व्यष्टि रूप से व्यक्ति का भी मूलतत्त्व है और इस प्रकार अन्ततोगत्वा वे एक ही हैं। समस्त भूत में भौतिक समुदाय के सर्वव्याप्त मूलकारण के दीर्घकालीन अनुसंधान का अन्त इसी में हुआ है– वह अनुसंधान उपनिषदों के अनुसार "जिसको जानने से सब शान्त हो जाता है।" उपनिषदों में केवल ब्रह्म अथवा केवल आत्मा का वर्णन करने वाले वाक्य हमें प्रायः मिलते हैं किन्तु यह उपनिषदों की ही विशेषता नहीं है, क्योंकि वे पूर्वकालीन साहित्य में भी पाए जाते हैं। उनका स्पष्ट एकत्व विशेष रूप से उपनिषदों में ही प्रतिपादित किया गया है।[11]

उपनिषदों में प्राप्त एकत्व का सिद्वान्त जहाँ एक ओर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त परमतत्त्व ब्रह्म के रूप में मिलता है, वही दूसरी ओर अध्यात्मवादी तथा भौतिक विचारधारा का भी एकत्व रूप देखने को मिलता है। इसलिए न तो अकेले भौतिकवादी और न ही अध्यात्मवादी (प्रत्ययवादी) विश्व की व्याख्या कराने में सफल कहे जा सकते हैं। अर्थात् एकत्व के सिद्वान्त के अनुसार प्रताप जगत् तथा भौतिक जगत् नितान्त रूप से बिल्कुल अलग अपना स्थान नही रखते। उपनिषदों में प्रतिपादित एकत्व अर्थ स्पष्ट करते हुए प्रो. हिरियन्ना ने तर्क दिया है कि "इस एकत्व स्थापना का तात्पर्य यही है कि वह परमतत्त्व (सत्य) – जिसको निरपेक्ष रूप से ब्रह्म अथवा आत्मा कुछ भी कह सकते है– है आध्यात्मिक ही। और यह सत्य सम्पूर्ण प्राणियों के आत्म तत्त्व के ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भौतिक जगत् के कारण के रूप में लिया जाता है। उपनिषदों में प्रतिपाद्य एकत्ववाद का यही अर्थ है।[12] लेखक इस एकत्व को दूसरे ढंग से भी समझाने का प्रयास करता है। उनके शब्दों में "इस परम सत्य का आध्यात्मिक और एकत्वमय स्वरूप सच्चिदानन्द वाक्य से स्पष्टतया व्यक्त हो जाता है। इसके स्वरूप का निरूपण करने के लिए इसका प्रयोग एक सामाजिक पद के रूप के रूप में केवल उत्तर काल के उपनिषदों में मिलता है। हाँ, सत्, चित और आनन्द समास के तीनों विभिन्न पद सबसे प्राचीन उपनिषदों में भी ब्रह्म के लिए पृथक और एक साथ दोनों ही प्रकार से प्रयुक्त हुए हैं। सत् का अर्थ अस्तित्व मात्र से है। इससे ब्रह्म की सत्ता होने का संकेत मिलता है और साथ ही असत् से ब्रह्म का पृथक्करण भी हो जाता है किन्तु हमारा अनुभव तो यही बताता है कि सत्तात्मक पदार्थ आध्यात्मिक भी हो सकते हैं और भौतिक भी।

दूसरी उपाधि चित् से सूचित होता है कि वह आध्यात्मिक है क्योंकि चित् का अर्थ है चेतन। अन्तिम उपाधि आनन्द का अर्थ है– शान्ति। इससे यह मालूम पड़ता है कि वह केवल एक है और सर्वव्यापी है क्योंकि भिन्नता ही सारी अशान्ति और उत्पातों की जड़ है। इस प्रकार ब्रह्म के विषय में निम्न बातें स्पष्ट होती हैं कि वह एकमात्र आध्यात्मिक अथवा पूर्ण सत्य है और केवल पूर्ण सत्तात्मक भूत भौतिक जगत का (सत्) ही व्याप्य नहीं है, अपितु ज्ञान का भी है। अतएव जहाँ

कहीं भी इनमें से किसी के भी स्वाभाव का अंश दृष्टिगोचर होता हो हमें उसको ही इन दोनों का कारण ठहराना चाहिए। दूसरे शब्दों में वह समस्त विश्व का मूल है और साथ ही स्वयं–भू तथा स्वयं–प्रकाश है, क्योंकि ऐसे कोई अन्य पदार्थ तो है नहीं जिससे उसकी उत्पत्ति हो सके अथवा जिससे वह जाना जा सके।[13]

सारांश में 'ब्रह्म' को जड़–चेतन सत्ता का मूल कहा जाता है। इसका प्रतिपादन कई रूपों में किया गया है। जो केवल जड़ या केवल चेतन की सत्ता स्वीकार करते हैं, उनको ब्रह्म का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। लेखक कहता है– वह 'ब्रह्म' विश्व को उसके सम्पूर्ण जड़ और चेतन स्वरूप के सहित आविर्भूत करने वाला उद्‌गम है।[14]

प्रो. हिरियन्ना के तर्कों और विचारों का समर्थन प्रो. एस. एन. दास गुप्त ने भी किया है। उनके तर्क जो इस सम्बन्ध में दिए गए हैं – उद्धरणीय हैं "प्रकृति रूप समस्त विश्व ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म ही उसमें चेतन तत्त्व है। यह विश्व ब्रह्म से ही उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। हम यह मानते हुए भी कि प्रकृति और ब्रह्म एक ही तत्त्व हैं उस संसार को नहीं नकार सकते जिसका हमें इन्द्रियों द्वारा अनुभव एवं साक्षात् होता है। शंकर के मतानुसार बाह्य प्रकृति को उपनिषदों में जानबूझकर इसलिए मान्यता दो गयी है कि ब्रह्म की वास्तविकता और सत्य को जान लेने के पश्चात सृष्टि स्वमेव असत्य दिखाई देने लगेगी और इस प्रकार प्रकृति को यथार्थ आपेक्षिक सत्य कहा जा सकेगा। परन्तु शंकराचार्य के इस मत को हम इस यत्किंचित् रूपान्तरण के साथ स्वीकार कर सकते हैं कि उपनिषद्‌कार ऋषि मुनियों ने किसी उद्देश्य विशेष से दृढ़तापूर्वक इस बात की धारणा प्रतिपादित नहीं की है कि दृश्य जगत् एक आपेक्षिक सत्य है। वे यद्यपि ब्रह्म को परम तत्त्व के रूप में मानते हैं तथा ब्रह्म के भीतर सभी वस्तुओं को असत्य मानते हैं तब भी वे इस पार्थिव प्रकृति की सत्ता को अस्वीकार नहीं कर सकते थे। इसलिए उनके दर्शन में इसकी सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक हो गया था। अतः इस पार्थिव प्रकृति की भौतिक सत्ता के साथ ब्रह्म की अन्तिम एवं वास्तविक सत्य होने की स्थिति के विरोधाभास को मिटाने के लिए उन्होंने यह स्वीकार किया कि प्रकृति ब्रह्म से भिन्न नहीं है। प्रकृति ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई है। यह उसी की सत्ता से संचालित है एवं उसी में विलीन हो जाएगी। द्वैत में अद्वैत को देखते हुए प्रो. दास गुप्त अपने एकत्ववादी सिद्वान्त का पोषण करते हैं और उसके समर्थन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं– "इस प्रकृति के दो स्वरूप विशेष रूप से वार्णित किये गए हैं– (1) चेतन प्रकृति (2) अचेतन (जड़) प्रकृति। जो भी चेतन वस्तुएँ है अथवा जीवधारी पदार्थ हैं, वनस्पति, पशु अथवा मनुष्य सभी प्राणियों में आत्मा है। (छा062)। ब्रह्म ने अनेक रूपो में प्रकट होने की इच्छा की और अग्नि (तेजस्व), जल (अप) और पृथ्वी (क्षिति) को उत्पन्न किया। तब स्वयंभू ब्रह्म ने इन तीनों में प्रवेश किया और इनके विनियोग से संसार के अन्य सब पदार्थ उत्पन्न हुए। (छा0 6/2,3,4,)। इस प्रकार विश्व में सब पदार्थ इन तीनों तत्त्वों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुए। इन आदिम तत्त्वों के त्रिगुणात्मक विभाजन में सांख्य दर्शन की उस विचार धारा का सूत्रपात होता है, जिसमें शुद्ध सूक्ष्म तत्त्व (तन्मात्रा) और भौतिक तत्त्वों का विभेद किया गया है। इस दर्शन के अनुसार प्रत्येक भौतिक अथवा मिश्रित तत्त्व आदि तत्त्वों के कणों से बना हुआ माना गया है। प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के 8वें श्लोक में कहा गया है कि मिश्रित तत्त्व उनके सूक्ष्म तत्त्व

उनके सूक्ष्म तत्त्व से भिन्न है जैसे पृथ्वी का सूक्ष्म तत्त्व और पृथ्वी मात्रा भिन्न है। इसी प्रकार आकाश तत्त्व को ब्रह्म से उत्पन्न माना है और अन्य तत्त्व वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी के बारे में कहा गया है कि इनमें से प्रत्येक की उत्पत्ति उस सूक्ष्म तत्त्व से हुई है, जो इनसे पूर्व इनके सूक्ष्म तत्त्वों के रूप में विद्यामान थे। (पृ. 52)। इन उपर्युक्त विवरणों से तो यही ज्ञात होता है कि औपनिषदिक विश्वदृष्टि न केवल भौतिकवादी है, जैसा कि कुछ भौतिकवादी अपना तर्कप्रस्तुत करते आए हैं। भारतीय आधुनिक दार्शनिक श्री अरविन्द अपने दर्शन में इसी मत का पोषण करते हैं, जब वह कहते हैं कि "इस पृथ्वी पर दिव्य जीवन के आविर्भाव के लिए तथा मर्त्यलोक में अमृतत्व की भावना के लिए तबतक कोई आधार नहीं हो सकता जब तक कि हम केवल इतना ही मानते रहें कि इस देह प्रसाद में वास करने वाला, इस नश्वर वस्त्र को धारण करने वाला अविनाशी परमात्मा है, हमें यह भी मानना होगा कि जिस भौतिक तत्त्व से यह निर्मित है वह एक ऐसा श्रेष्ठ और उपयुक्त पदार्थ है जिसमें से वह निरन्तर अपने वसन बुनता रहता है, पुनः–पुनः अपने महल बनाता रहता है। अस्तु हमें अपने प्राचीन पूर्वजों के साथ यह कहना चाहिए कि "जड़तत्त्व भी ब्रह्म है।" (अन्न ब्रह्मेति व्यजानात)।[15]



सन्दर्भ –

1. *डॉ. राधाकृष्णन – भारतीय दर्शन, भाग–1, पृ. 121–122।*
2. *के. दामोदरन – इण्डियन थाट ए क्रिटिकल सर्वे पृ. 47।*
3. *लोकायत–देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय पृ. 5, अनुवाद बृजशर्मा, राज कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005।*
4. *वही– पृ. 35–38।*
5. *डॉ. डी.डी. बंदिष्टे– डॉ. रमा शंकर शर्मा– भारतीय दार्शनिक निबन्ध, पृ. 81 डॉ. रमेशचन्द्र सिन्हा का लेख– भारतीय दर्शन में भौतिकवादी चिन्तनधारा।*
6. *डॉ. राधाकृष्णन ने भारतीय दर्शन, भाग–1, पृ. 153 पर टिप्पणी में कहा है कि 'जो व्यावहारिक तथा इन्द्रीयगम्य है उसका अर्थ यह नहीं कि यह मिथ्या है।साथ में यहाँ इस विषय पर भी ध्यान देना चाहिए कि यह कथन उद्दालक का है जो भौतिकवाद को मानता है और जो केवल आकृतिमात्र के परिवर्तन को स्वीकार करता है। उसके मत में प्राकृतिक जगत् एक निरन्तरवर्ती पूर्ण है, जिसमें गुणभेद से भिन्न कण एक दूसरे में मिश्रित हैं।*
7. *हरिदास बन्द्योपध्याय – भारतीय दर्शन की मर्म कथा, पृ. 19।*
8. *वही– पृ. 19।*
9. *भारतीय दर्शन के मूलतत्त्व –सेण्ट्रल बुक डिपो, 1954 पृ. 16–17।*
10. *भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग–1, पृ0 51, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पृ. 50।*
11. *वही– पृ. 18–19।*
12. *वही– पृ. 20।*
13. *वही– पृ. 20–21।*
14. *वही– पृ. 23।*
15. *एस.के. मैत्रा – अरविन्द दर्शन की भूमिका, पृ. 1 (हिन्दी अनुवाद, भ. सिह. पृ. 1)।*

आचार्य शंकर कृत प्रधानकारणवाद का प्रत्याख्यान

राममूर्ति पाठक

आचार्य शंकर अद्वैतवाद के महान दार्शनिक हैं। उन्होंने प्रस्थानत्रयी की व्याख्या करते हुए अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा किया। वे इसी प्रयास में भारतीय दर्शन के अद्वैतेतर सम्प्रदायों को तर्कतः अप्रतिष्ठित सिद्ध करते हैं। इस प्रयास में उनके द्वारा सांख्य द्वैतवाद का खण्डन विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। उनके द्वारा सांख्य द्वैतवाद का निराकरण अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा के लिए अपरिहार्य भी था। उन्होंने स्वयं सांख्य द्वैतवाद को अपना मुख्य प्रतिपक्षी (प्रधान मल्ल) स्वीकार किया है। यह भी ध्यातव्य है कि विशेषतः उनका शास्त्रार्थ बौद्धों के साथ हुआ था, किन्तु उन्होंने उन्हें अपना मुख्य प्रतिपक्षी कभी नहीं स्वीकार किया। वास्तव में विचारधारा के स्तर पर सांख्य द्वैतवाद ही उनका प्रतिपक्षी हो सकता था। वे कदाचित् राजनीतिक कारणों से बौद्धों का प्रत्याख्यान करके उन्हें भारत की मुख्यधारा में शामिल करना चाहते थे। यद्यपि अद्वैतेतर वेदान्ती उनके बौद्ध–विरोध को संशय की दृष्टि से देखते हैं। मध्व तो उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध के रूप में देखते हैं क्योंकि उनके लिए शून्यवादियों के शून्य और मायावादी शंकर के ब्रह्म में कोई भेद नहीं है।[1] उनकी दृष्टि में शंकर का अद्वैतवाद माध्यमिक शून्यवाद का विकृत औपनिषदिक् संस्करण है। वे मानते हैं कि अद्वैतवाद में स्वीकृत जगद्विषयक सिद्धान्त – मायावाद, अध्यासवाद, विवर्तवाद, मिथ्यात्व की अवधारणा, सत्तात्रय सिद्धान्त आदि बौद्ध सिद्धान्त हैं और परोक्षतः (पिछले दरवाजे से) अद्वैत तत्त्वदर्शन में प्रवेश कर गये हैं।

उल्लेखनीय है कि सांख्य द्वैतवाद में दो मान्य तत्त्व हैं – पुरुष और प्रकृति। ये दोनों तत्त्व स्वरूपतः विरुद्धधर्मी हैं। जैसे, पुरुष चेतन है। प्रकृति जड़ (अचेतन) है। पुरुष निष्क्रिय है। प्रकृति सक्रिय है। पुरुष ज्ञाता एवं भोक्ता है। प्रकृति ज्ञेय एवं भोग्य है। पुरुष त्रिगुणातीत है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। पुरुष अनेक हैं। प्रकृति एक है। पुरुष विविक्त है। प्रकृति अविविक्त है। पुरुष कारण–कार्य–श्रृंखला के परे है। प्रकृति कारण–कार्य श्रृंखला के अन्तर्गत है।[2]

सांख्य दर्शन में प्रकृति उसके प्रधान कारणवाद का आधार है। वह प्रसवधर्मी है, अजा (अनुत्पन्न), एका, लोहित शुक्ल कृष्ण (लाल, सफेद और काला) वर्ण वाली है[3]। वह अव्यक्त, प्रधान, अनुमान, त्रिगुणात्मिका (सत्व, रजस् एवं तमस् गुणों वाली) है। प्रकृति इन्हीं तीनों गुणों की साम्यावस्था है। इनमें सत्व गुण लघु, प्रकाशक और सुखोत्पादक है, रजस् गतिशील एवं दुःखोत्पादक है तथा तमस् गुरु (भारी) और अवरोधक है। प्रकृति के ये तीनों गुण सहयोग करते हुए इस जगत् को उत्पन्न करते हैं।[4]

सांख्य के प्रधानकारणवाद में इस जगत् की सृष्टि प्रकृति से होती है। उल्लेखनीय है कि सांख्य दर्शन भी, अन्यान्य अनेक भारतीय दर्शनों की तरह सृष्टि एवं प्रलय के क्रम को स्वीकार करता है। अर्थात् सृष्टि प्रलय के अनन्तर होती है। प्रलय में गुण साम्यावस्था की स्थिति में होते हैं। सृष्टि के आविर्भाव के लिए गुणों की साम्यावस्था का भंग होना आवश्यक है। चूँकि प्रकृति

दर्शन विभाग, इलाहाबाद कॉलेज, इलाहाबाद (उ.प्र.)

जड़ है, अतः उसकी साम्यावस्था कैसे भंग होगी? सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष के संयोग से प्रकृति की साम्यावस्था भंग होती है, तदुपरान्त सृष्टि का प्रारम्भ होता है। यहाँ एक अन्य प्रश्न उठता है। चेतन, निष्क्रिय, विविक्त, त्रिगुणातीत और अनेक पुरुष के विपरीत प्रकृति जड़, सक्रिय, अविविक्त और त्रिगुणात्मिका है। अतः उनमें संयोग कैसे होगा? सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष के कैवल्यार्थ एवं प्रकृति के दर्शनार्थ अन्धे और लँगड़े के समान उनमें संयोग होता है, तदुपरांत यह सृष्टि उत्पन्न होती है[5]। सांख्य कारिका के अनुरूप प्रकृति से सृष्टि का आविर्भाव महत् से पंच महाभूत पर्यन्त 24 तत्त्वों की उत्तरोत्तर सत्कार्यात्मक परिणामवादी प्रक्रिया से होता है। पुरुष 25वाँ तत्त्व है।

सांख्यकारिका की दृष्टि से कुल 25 तत्त्वों में मूल प्रकृति, प्रकृति, विकृति और अविकृति हैं। प्रकृति, प्रकृति है, न विकृति। महत्, अहंकार और पंचतन्मात्र प्रकृति और विकृति दोनों हैं। एकादश इन्द्रियाँ और महाभूत विकृति हैं, प्रकृति नहीं। पुनः, पुरुष न प्रकृति है और न विकृति।[6] उल्लेखनीय है कि यहॉ प्रकृति और विकृति क्रमशः कारण और कार्य के अर्थ में आये हैं।

प्रकृति जड़ है। उससे इस जगत् की उत्पत्ति कैसे होती है? सांख्य दर्शन के अनुसार निस्सन्देह प्रकृति जड़ है, तथापि उससे जगत् का आविर्भाव वैसे ही होता है जैसे, जल लोककल्याण के लिए प्रवाहित होता है (अम्बुवत्), गाय के थन से दूध बछड़े के पोषण–हेतु निकलता है (पयोवत्), घास दूध में परिवर्तित होती है (तृणवत्) और अस्यकान्तमणि लोहे को खींचता है। सांख्य दर्शन का प्रधान कारणवादी सृष्टि–सिद्धान्त प्रयोजनवादी है। वह प्रयोजन पुरुष का कैवल्य है। अर्थात् प्रकृति पुरुष के कैवल्यार्थ इस जगत् में परिणमित होती है।

आचार्य शंकर ने प्रस्थानत्रयी का भाष्य करके, विशेषतः ब्रह्मसूत्रभाष्य के द्वारा अद्वैतेतर सिद्धांतों का प्रत्याख्यान किया है। इस सन्दर्भ में उनके द्वारा सांख्य प्रधानकारणवाद का खण्डन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। परमत का प्रत्याख्यान उनके अद्वैत तत्त्वज्ञान के लिए आवश्यक था। शंकर सांख्य प्रधानकारणवाद के विरुद्ध अनेक तर्क देते हैं। जैसे,

1. सांख्य दर्शन में प्रकृति त्रिगुणात्मिका (सत्वरजसतमसात्मक) है। उसकी दृष्टि में सत्व से सुख, रजस् से दुःख और तमस् से मोह उत्पन्न होता है। इसके आधार पर सांख्य दर्शन की मान्यता है कि जैसे घट मृत्तिका से उत्पन्न होकर मृत्तिका से अन्वित है वैसे सुख–दुःख मोहात्मक वस्तु से उत्पन्न यह जगत् सुख–दुःख मोह (सत्वरजस्–तमस्) से अन्वित है। शंकर कहते हैं कि सांख्यकृत इस अनुमान से प्रकृति इस जगत् का कारण नहीं हो सकती क्योंकि इससे विचित्र जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[7]

शंकर सांख्य दर्शन के तर्क का उल्लेख करके उसका निराकरण करते हैं। सांख्य दर्शन का तर्क है कि लोक में प्रत्यक्ष है कि जिस प्रकार घट और शराब आदि कार्य मिट्टी से अन्वित् होने के कारण मृत्तिका रूप असाधारण कारण से युक्त हैं उसी प्रकार सभी बाह्य एवं आध्यात्मिक कार्य सुख–दुःख –मोहात्मकता से अन्वित् हैं, अतः उसका असाधारण कारण सुख–दुःख–मोहात्मकता से अन्वित् होना चाहिए। जो सुख–दुःख–मोहात्मक सामान्य है वह त्रिगुणात्मिका प्रधान है। अचेतन प्रधान मृत्तिका के समान चेतन पुरुष के भोगार्थ एवं मोक्षार्थ स्वभावतः विचित्र विकार रूप से प्रवृत्त होता है[8]।

सांख्य के उपरोक्त तर्क के विरोध में शंकर कहते हैं कि लोक में स्वतंत्र चेतन से अनधिष्ठित वस्तु से पुरुषार्थ के साधन में समर्थ विकारों की रचना करते हुए नहीं देखा जाता। गृह, महल, शयन, आसन, विहारभूमि आदि समय के अनुसार सुखोत्पादक एवं दुःखावरोधक पदार्थ जैसे बुद्धिमान शिल्पियों द्वारा रचित देखे जाते हैं उसी प्रकार भिन्न–भिन्न कर्म फल के उपभोग–योग्य पृथ्वी आदि बाह्य जगत् एवं भिन्न–भिन्न अवयवों से युक्त, विभिन्न कर्मफलों के अनुभव का अधिष्ठान रूप शरीर आदि, जिसकी रचना बड़े–बड़े बुद्धिमान शिल्पी मन से भी नहीं कर सकते, उसकी रचना अचेतन प्रधान कैसे कर सकती है? मिट्टी, पत्थर, आदि अचेतन पदार्थों में ऐसी शक्ति नहीं देखी जाती। हाँ, मृत्तिका आदि में कुम्भकार आदि से अधिष्ठित होने पर विशिष्ट आकार वाली रचना देखी जाती है। इसी प्रकार प्रकृति को भी किसी चेतन तत्त्व से अधिष्ठित मानना पड़ेगा। अतः रचनानुपपत्ति रूप हेतु से प्रकृति जगत् का कारण है, ऐसा अनुमान करना उचित नहीं है[9]।

पुनः, शंकर कहते हैं कि मूलांकुर आदि परिमित विकार संसर्गपूर्वक हैं,ऐसा देखकर बाह्य एवं आध्यात्मिक विकार परिमित होने से संसर्गपूर्वक हैं,ऐसा अनुमान करने वालों को सत्व, रजस्, एवं तमस् भी संसर्गपूर्वक हैं, यह स्वीकार करना होगा, क्योंकि उनमें भी परिमितत्व है। बुद्धिपूर्वक निर्माण किये गये शयन, आसन आदि का कार्यकारणभाव देखा जाता है। अतः कार्यकारण भाव होने से बाह्य एवं आध्यात्मिक विकार अचेतन प्रकृति से उत्पन्न हैं, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती।[10]

2. शंकर का कथन है कि अचेतन प्रकृति की साम्यावस्था से प्रच्युति रूप प्रवृत्ति बिना चेतन के उत्पन्न नहीं हो सकती। इस कारण प्रधान या प्रकृति जगत् का कारण नहीं हो सकता।[11] शंकर इसकी विस्तार से व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार प्रलय के अनन्तर सृष्टि होती है और प्रलय में प्रकृति के सत्व, रजस् एवं तमस् गुण साम्यावस्था में रहते हैं। जगत् के आविर्भाव के लिए साम्यावस्था का भंग होना आवश्यक है। अचेतन होने के कारण प्रकृति की साम्यावस्था स्वतः नहीं भंग हो सकती। इसके लिए उसे चेतन तत्त्व से अधिष्ठित होना होगा। मृत्तिका आदि अथवा रथ आदि स्वयं अचेतन हैं। वे चेतन कुम्भकार या अश्वादि से अधिष्ठित हुए बिना विशिष्ट कार्य की ओर प्रवृत्त नहीं देखे जाते। इससे दृष्ट से अदृष्ट की सिद्धि होती है। अतः प्रवृत्ति की अनुपपत्ति रूप हेतु से भी अचेतन प्रकृति जगत् का कारण है, ऐसा अनुमान करना उचित नहीं है[12]। शंकर का यह भी कथन है कि निस्सन्देह, चेतन में भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती तथापि चेतन संयुक्त अचेतन रथ आदि की प्रवृत्ति देखी जाती है। अचेतन संयुक्त चेतन की भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती।

प्रश्न है कि जिसमें प्रवृत्ति देखी जाती है वह उसी की है अथवा जिसके संसर्ग से अचेतन में प्रवृत्ति देखी जाती है, उसकी है? सांख्य दर्शन कहता है कि जिसमें प्रवृत्ति देखी जाती है वह उसी की है, यह स्वीकार करना उचित है क्योंकि प्रवृत्ति और उसका आश्रय दोनों प्रत्यक्ष हैं। शंकर सांख्य के इस दृष्टिकोण का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार हम यह नहीं कहते कि अचेतन में जो प्रवृत्ति देखी जाती है उसकी नहीं हैं। हम तो यह कहते है कि चेतन से संयुक्त होने पर ही अचेतन में प्रवृत्ति होती है क्योंकि चेतन के होने पर उसका अस्तित्व है और चेतन के अभाव में अभाव है। जिस प्रकार काष्ठ आदि के आश्रित दाह और प्रकाश रूप विक्रिया केवल अग्नि में

उपलभ्यमान न होने पर भी अग्नि से होती है क्योंकि काष्ठ आदि से अग्नि का संयोग होने पर वह दिखाई देती है और वियोग होने पर नहीं दिखाई देती। उसी प्रकार चेतन के साथ संयोग होने पर शरीर आदि में प्रवृत्ति देखी जाती है और ऐसा न होने पर नहीं देखी जाती[13]।

शंकर का कथन है कि किसी सर्वज्ञ तत्त्व को स्वीकार करके ही प्रकृति में प्रवृत्ति की व्याख्या की जा सकती है। जिस प्रकार अस्यकान्त मणि स्वयं प्रवृत्ति रहित होकर भी लौह का प्रवर्तक है या रूपादि विषय स्वयं प्रवृत्ति रहित होकर भी चक्षु आदि के प्रवर्तक हैं उसी प्रकार प्रवृत्ति रहित होकर भी ईश्वर सर्वगत, सर्वात्मा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान होकर भी सबको प्रवृत्त करता है, ऐसा स्वीकार करना उचित है। अतः सर्वज्ञ को कारण मानने पर ही प्रवृत्ति सम्भव है, किन्तु अचेतन को कारण मानने पर नहीं।[14]

3. शंकर अचेतन प्रधान की प्रवृत्ति को सिद्ध करने के लिए 'पयोम्बुवत्' उपमा का प्रत्याख्यान करते हैं। सांख्य दर्शन स्वीकार करता है कि जिस प्रकार अचेतन दूध स्वभाव से ही बछड़े के लिए प्रवृत्त होता है वैसे प्रधान भी स्वभावतः पुरूषार्थसिद्धि के लिए प्रवृत्त होता है। शंकर का कथन है कि ऐसा अनुमान अनुचित है क्योंकि उनमें भी चेतन से ही अधिष्ठित प्रवृत्ति है क्योंकि इस विषय में 'योऽप्सु तिष्ठन्' आदि श्रुतियाँ हैं। अतः प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता[15]।

शंकर कहते हैं कि उपमान और उपमेय में वैषम्य के कारण 'पयोम्बुवत्' से प्रधान की प्रवृत्ति की व्याख्या नहीं होती। वास्तव में चेतन गाय की बछड़े के प्रति स्नेहेच्छा एवं बछड़े के चूसने से गाय के थन से दूध बछड़े के पोषण के लिए प्रवाहित होता है। पुनः, जल भी निम्न भूमि की ओर प्रवाहित होता है, उच्च भूमि की ओर नहीं। क्या जल ऊँचाई पर रहने वाले लोगों का उपकार नहीं चाहता। शंकर कहते हैं कि प्रकृति की प्रवृत्ति के लिए सर्वत्र चेतन की अपेक्षा दिखाई देती है[16]। अतः चेतन से अनधिष्ठित होकर अचेतन प्रकृति में प्रवृत्ति नहीं सिद्ध होती।

4. शंकर कहते हैं कि प्रधान से भिन्न कर्म आदि सहकारी के न होने से और पुरुष के असंग आदि होने के कारण प्रवृत्ति और निवृत्ति में अपेक्षा की स्वीकृत्ति न होने से अचेतन प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता।[17]

सांख्य तत्त्वदर्शन में तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रधान है और उससे भिन्न प्रधान का प्रवर्तक या निवर्तक कुछ बाह्य अपेक्षणीय नहीं है। पुनः, पुरुष उदासीन है। वह उसका प्रवर्तक या निवर्तक नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रधान अपेक्षारहित सिद्ध होता है। अपेक्षारहित होने से प्रधान कभी महत् आदि आकारों में परिणत होगा और कभी न होगा। इस प्रकार प्रधान तर्कतः जगत् के कारण के रूप में स्वीकार्य नहीं है। ईश्वर तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और महामाया से युक्त है। अतः उसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति में कोई विरोध नहीं है।[18]

5. शंकर सांख्य– प्रदत्त तृणादिवत् की उपमा को, जिसे वह प्रकृति की स्वाभाविक प्रवृत्ति को सिद्धि करने के लिए देता है, भी अस्वीकार करते हैं[19]। सांख्य दर्शन के अनुसार जिस प्रकार तृण, पल्लव आदि बिना अन्य निमित्त की अपेक्षा से ही दूध के रूप में परिणत होते हैं उसी प्रकार प्रधान भी बिना अन्य किसी निमित्त के महदादिरूप जगत् के रूप में परिणत होता है। शंकर का तर्क है कि 'तृणादिवत्' से भी प्रधान की स्वाभाविक प्रवृत्ति की व्याख्या नहीं होती। उनका कथन है कि यदि तृणादि का स्वाभाविक परिणाम दूध है तो इसका कोई भी अपवाद नहीं होना

चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। देखने में आता है कि गाय से उपभुक्त होने पर ही तृणादि का परिणाम दूध होता है, किन्तु नष्ट हुआ या बैल आदि से उपभुक्त तृणादि का परिणाम दूध नहीं होता। अतः सिद्ध है कि प्रधान का भी स्वाभाविक परिणाम यह जगत् नहीं स्वीकार किया जा सकता।[20] इसके पीछे चेतन की अपेक्षा बनी रहती है।

6. शंकर का तर्क है कि प्रधान की स्वतः प्रवृत्ति स्वीकार करने पर भी प्रवृत्ति का कोई प्रयोजन न होने से कठिनाई पूर्ववत् बनी रहती है।[21] शंकर का कथन है कि यदि सांख्य की आस्था को ध्यान में रखते हुए प्रधान की स्वाभाविक प्रवृत्ति को स्वीकार कर लें तो इस प्रवृत्ति का क्या प्रयोजन है? ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है। शंकर कहते हैं कि यहाँ कोई भी प्रयोजन स्वीकार करने पर कठिनाई उत्पन्न होती है। शंकर कहते हैं कि प्रधान की प्रवृत्ति का क्या प्रयोजन है? उनका उत्तर है कि इसका प्रयोजन या तो पुरुष का भोग है या मोक्ष या दोनों । शंकर कहते हैं कि प्रत्येक विकल्प के साथ कठिनाई है। यदि भोग को प्रयोजन मानें तो प्रश्न है कि सुख आदि आधार अतिशय से रहित पुरुष का भोग कैसे होगा? पुनः, इससे मोक्षाभाव का भी प्रसंग उपस्थित होगा। यदि यहाँ मोक्ष को प्रयोजन मानें तो प्रवृत्ति के पूर्व भी मोक्ष के सिद्ध होने से प्रवृत्ति निष्फल होगी और शब्द आदि की अनुपलब्धि का प्रसंग होगा। यदि प्रवृत्ति का प्रयोजन भोग और मोक्ष दोनों है तो भोग के योग्य प्रधान तन्मात्राओं के अनन्त होने से मोक्ष के अभाव का प्रसंग होगा। यह स्वीकार करना भी कठिन है कि प्रधान की प्रवृत्ति औत्सुक्य– निवृत्ति के लिए है क्योंकि अचेतन प्रधान में औत्सुक्य सम्भव नहीं है। इसी प्रकार निर्मल, निष्कल पुरुष में भी औत्सुक्य सम्भव नहीं है। पुनः, यदि पुरुष में दृक्शक्ति एवं प्रधान में सर्ग–शक्ति की सार्थकता के लिए प्रवृत्ति को स्वीकार करें तो पुरुष की दृक–शक्ति एवं प्रधान की सर्ग–शक्ति के नित्य होने से जगत् शाश्वत होगा और मोक्ष का अभाव स्वीकार करना होगा। अतः प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के प्रयोजन के लिए है, यह कहना समीचीन नहीं होगा।[22]

7. शंकर का तर्क है कि अन्ध और पंगु पुरुष के समान अथवा लौह चुम्बक के समान पुरुष को प्रधान का प्रवर्तक स्वीकार करने में भी तार्किक कठिनाई है।[23] सांख्य दर्शन अन्धे और लंगड़े की उपमा से दिखाता है कि पुरुष के कैवल्यार्थ एवं प्रधान के दर्शनार्थ पुरुष एवं प्रकृति में संयोग से प्रधान की प्रवृत्ति होती है। पुनः, सांख्य की यह भी मान्यता है कि जिस प्रकार स्वयं अप्रवृत्त होकर भी अस्यकान्त मणि लोहे को प्रवृत्त करता है उसी प्रकार निष्क्रिय पुरुष भी प्रकृति को प्रवृत्त करता है।

शंकर सांख्य के इन तर्कों को भी अस्वीकार करते हैं। शंकर के अनुसार पंग्वन्धवद् उपमा से भी प्रधान की प्रवृत्ति की व्याख्या नहीं होती क्योंकि अन्धे और लंगड़े दोनों चेतन हैं, जबकि पुरुष चेतन एवं प्रकृति अचेतन है। द्वितीय, अन्धे और लंगड़े दोनों सक्रिय हैं, जबकि पुरुष निष्क्रिय एवं प्रकृति सक्रिय है। उपमान एवं उपमेय में यह वैषम्य सांख्य की स्थिति को कमजोर करता है।[24] पुनः, शंकर कहते हैं कि पुरुष अस्यकान्त मणि के समान सन्निधिमात्र से भी प्रकृति को प्रवृत्त नहीं कर सकता क्योंकि सन्निधि के नित्य होने से प्रवृत्ति में भी नित्यता प्राप्त होगी। अस्यकान्त मणि और लौह की सन्निधि अनित्य है। अनित्य सन्निधि वाले अस्यकान्त मणि और लौह का व्यापार तो अनित्य सन्निधि ही है। उसको परिमार्जन (सीधा रखना) आदि की अपेक्षा है। इससे

'पुरुषाश्मवत्' का दृष्टान्त समीचीन नहीं है। उसी प्रकार प्रधान अचेतन है और पुरुष उदासीन है। उन दोनों का सम्बन्ध कराने वाला कोई तीसरा तत्व नहीं है। इस कारण उनमें सम्बन्ध की उपपत्ति नहीं होगी। उनमें योग्यतानिमित्तक सम्बन्ध स्वीकार करने पर योग्यता के अनुच्छेद से अनिर्मोक्ष का प्रसंग उपस्थित होगा। पूर्व के समान यहाँ भी प्रयोजन के अभाव का विकल्प करना चाहिए। परमात्मा तो स्वरूपाश्रय से उदासीन और माया के आश्रय से प्रवर्तक है, यह विशेष है।[25]

8. शंकर कहते हैं कि गुणों के अंगांगिभाव की अनुपपत्ति होने से भी प्रधान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।[26] सत्व, रजस् एवं तमस् इन तीनों के परस्पर गुण–प्रधान भाव को छोड़ कर साम्य से, केवल स्वरूपमात्र से जो स्थित है वह प्रधानावस्था है। उस अवस्था में परस्पर अपेक्षा–रहित सत्व आदि गुणों के स्वरूपनाश होने के भय से परस्पर अंगांगिभाव नहीं हो सकता और उनमें क्षोभ उत्पन्न करने वाले किसी बाह्य पदार्थ का अभाव होने से गुणों की विषमता से उत्पन्न होने वाले महद् आदि की उत्पत्ति नहीं होगी। उपरोक्त कारण से भी प्रधान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।[27]

9. अन्यथा अनुमित होने पर भी गुणों में ज्ञानशक्ति के अभाव के कारण साम्यावस्था के भंग न होने पर इन गुणों में परस्पर अंगांगिभाव नहीं हो सकता। इससे महद् आदि की अनुपपत्ति का दोष तद्वत् बना रहता है।[28] शंकर कहते हैं कि यदि उपरोक्त दोष के निवारणार्थ सांख्य दार्शनिक कहें कि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि गुणों को निरपेक्ष स्वभाव एवं कूटस्थ स्वीकार करें। कार्य के अनुसार गुणों का स्वरूप स्वीकार किया जाता है। जैसे–जैसे कार्य की उत्पत्ति होती है वैसे–वैसे इनका स्वभाव माना जाता है। हम स्वीकार करते हैं कि गुणों का स्वभाव चंचल हैं, अतः साम्यावस्था में भी गुण वैषम्य–प्राप्ति के योग्य रहते हैं।

पुनः ऐसा स्वीकार करने पर भी प्रधान में ज्ञानशक्ति का अभाव होने से रचनानुपपत्ति आदि दोष पूर्ववत् बने रहते हैं। यदि सांख्य दर्शन उपरोक्त दोष के निवारणार्थ प्रधान में ज्ञानशक्ति का अनुमान करें तो प्रतिवादी होने से वंचित रह जायेगा। इससे एक चेतन सत्ता के नानाप्रपंचात्मक जगत् का उपादान कारण होने से ब्रह्मवाद का प्रसंग उपस्थित होगा।[29]

10. शंकर कहते हैं कि सांख्य दार्शनिक कहीं महत् से तन्मात्राओं की उत्पत्ति दिखातें हैं तो कहीं अहंकार से। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध होने से सांख्य मत असंगत है।[30] शंकर कहते हैं कि सांख्य दार्शनिक कहीं सात इन्द्रियों (मन, त्वक् और पंच कर्मेन्द्रिय) की बात करते हैं तो कहीं एकादश इन्द्रियों (पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और मन) की। वे कहीं महत् से तन्मात्राओं की उत्पत्ति की बात करते हैं तो कही अहंकार से। वे कहीं अन्तःकरण में तीन (बुद्धि, अहंकार और मन) का समावेश करते हैं तो कहीं केवल एक (बुद्धि) का। ईश्वर को जगत् का कारण मानने वाली श्रुति और स्मृति से विरोध लोकविश्रुत ही है।[31] अतः सांख्य दर्शन असंगत है।

शंकर उपरोक्त तर्कों से सांख्य के प्रधान कारणवाद का प्रत्याख्यान करके उसके जगत्–सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं। प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जगद्विषयक सिद्धान्त की सुसंगत व्याख्या कैसे की जाय। इस सन्दर्भ में शंकर स्वयं ब्रह्मकारणवाद एवं विवर्तवाद का प्रतिपादन करते हैं। वास्तव में यदि उनके समग्र दर्शन का विश्लेषण करें तो ज्ञात होता है कि उन्होंने कतिपय परिवर्तनों से सांख्य–द्वैतवाद को अद्वैतवाद में परिवर्तित किया। जैसे, प्रथम, उन्होंने सांख्य दर्शन के पुरुष को आत्मा या ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया। द्वितीय, उन्होंने प्रकृति की

निरपेक्षता और स्वतन्त्र सत्ता का अपहरण करके उसे माया कहा और अपने अस्तित्व के लिए ब्रह्म पर निर्भर कर दिया। तृतीय, उन्होंने सांख्य के प्रकृति परिणामवाद को ब्रह्म विवर्तवाद मे परिवर्तित कर दिया। इससे सांख्य का द्वैतवाद शांकर वेदान्त में अद्वैतवाद हो जाता है। ऐसा करके उन्होंने सांख्य के जगद्विषयक दृष्टिकोण को सुसंगत बनाने का प्रयास किया।

उल्लेखनीय है कि सांख्य प्रधान कारणवाद का आधार उसका कारणता सम्बन्धी सत्कार्यवाद का सिद्धान्त है जो कार्य के प्राग्भाव को कारण में स्वीकार करता है। अर्थात् उसकी मान्यता है कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान होता है। आचार्य शंकर ने भी सत्कार्यवाद में विश्वास किया, किन्तु इसकी सांख्य से भिन्न व्याख्या किया। ध्यातव्य है कि भारतीय दर्शन में सत्कार्यवाद के दो रूप उभरकर आये–परिणामवाद और विवर्तवाद। सांख्य दर्शन ने परिणामवाद में विश्वास करके कार्य को कारण का वास्तविक आकार–परिवर्तन (रूपान्तरण) माना। जैसे, दही दूध का वास्तविक रूपान्तरण है। सांख्य दर्शन ने इसी आधार पर प्रधान कारणवाद को प्रतिष्ठित करके इस जगत् को प्रकृति का वास्तविक परिवर्तन घोषित किया।

आचार्य शंकर सत्कार्यवाद की विवर्तवादी व्याख्या करके, प्रधानकारणवाद का परिमार्जन करके अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा करते हैं। विवर्तवाद की मान्यता है कि कार्य कारण का वास्तविक आकार–परिवर्तन न होकर विवर्तमात्र है, आभासमात्र है। उल्लेखनीय है कि शंकर ने प्रधान कारणवाद का प्रत्याख्यान करके अचेतन प्रकृति से जगत् के आविर्भाव को तर्कतः असम्भव बताया और सर्वत्र चेतन तत्त्व की भूमिका को स्वीकार किया। चूँकि उन्होंने सांख्य के पुरूष तत्त्व को आत्मा या ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया और प्रकृति को माया कहकर उसे ब्रह्म पर आश्रित किया। अतः उन्होंने प्रतिपादित किया कि ब्रह्म ही माया के कारण जगत् के रूप में प्रतीत होता है, आभासित होता है, जैसे अंधेरे में पड़ी हुई रज्जु सर्प के रूप में दिखाई देती है (रज्जुसर्पवत्)। स्मरणीय है कि शंकर की दृष्टि में कारण और कार्य में 'अनन्यता का सम्बन्ध' है। कार्य अपने कारण से अनन्य है। कार्य कारण का ही संस्थानमात्र है।[32] वे इसके आधार पर जगत् को ब्रह्म का विवर्त घोषित करते हैं।

शंकरोत्तर वेदान्त में विवर्तवाद और परिणामवाद में भेद का स्पष्टीकरण करके शंकर के जगद्विषयक विवर्तवादी दृष्टिकोण की व्याख्या की गयी। वेदान्तसार और वेदान्तपरिभाषा में यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। वेदान्तसार में तात्विक परिवर्तन को परिणाम या विकार घोषित किया गया एवं अतात्विक परिवर्तन को विवर्त।[33] किन्तु परिणामवाद और विवर्तवाद में कोई व्यक्ति आत्यन्तिक भेद न समझ ले, अतः सर्वज्ञात्ममुनि ने घोषित किया कि विवर्तवाद परिणामवाद की उत्तर भूमिका है और परिणामवाद विवर्तवाद की पूर्वभूमिका। परिणामवाद की भलीभाँति स्थापना हो जाने पर विवर्तवाद उससे अपने आप ही सिद्ध हो जाता है।[34] इसमें यह दिखाया गया कि परिणामवाद कारण और कार्य की जिस अनन्यता पर बल देता है उसी का तार्किक विकास विवर्त का सम्प्रत्यय है जो किसी चेतन तत्त्व की स्वीकृति के अभाव में सम्भव नहीं है। इस प्रकार शंकर दो बातों पर बल देते हैं। प्रथम, अचेतन प्रधान इस जगत् का कारण नहीं हो सकता। कोई चेतन तत्त्व (ब्रह्म) ही इसका आधार है जो माया के कारण जगत् के रूप में प्रतीत होता है। द्वितीय जगत् की तार्किक व्याख्या अद्वैतवाद में होगी, सांख्य–द्वैतवाद में नहीं।

❀❀❀

संदर्भ –

1. यच्छून्यवादिन : शून्यं तदेव ब्रह्म मायिनः।
2. सांख्य तत्वकौमुदी 11।
3. सांख्य तत्वकौमुदी, मंगलाचरण, 1।
4. सांख्य तत्वकौमुदी, 13।
5. सांख्य तत्वकौमुदी, 21।
6. सांख्य तत्वकौमुदी, 3।
7. रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्, ब्रह्मसूत्र, 2/2/1
8. यथा घटशरावादयो भेदा मृदात्मनाऽन्वीयमाना मृदात्मकसामान्यपूर्वका लोके दृष्टाः तथा सर्व एव बाह्याध्यात्मिका भेदाः सुखदुःख मोहात्मतयाऽन्वीयमानाः सुखदुःखमोहात्मकसामान्यपूर्वका भवितुमर्हन्ति । यत्सुखदुःखमोहात्मकं सामान्यं तत्त्रिगुणं प्रधानं मृद्वदचेतनं चेतनस्य पुरुषस्यार्थं साधायितुं स्वभावेनैव विचित्रेण विकारात्मना प्रवर्तत इति। स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, ब्रह्मसूत्र भाष्य, पृष्ठ 400–401।
9. नाचेतनं लोके चेतनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं किंचिद्विशिष्टपुरुषार्थनिर्वर्तनसमर्थान्विकारान्विरचयद्दष्टम्। गेहप्रासादशयनासनविहारभूम्यादयो हि लोके प्रज्ञावत्रिद्भः शिल्पिभिर्यथाकालं सुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोग्या रचिता दृश्यन्ते। तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नानाकर्मफलोपभोगयोग्यं बाह्यम्, आध्यात्मिकं च शरीरादि नानाजात्यन्वितं प्रतिनियतावयवविन्यासमनेककर्मफलानुभवाधिष्ठानं दृश्यमानं प्रज्ञावद्भिः संभावितमैः शिल्पिभिर्मनसाप्यालोचयितुमशक्यं सत् कथमचेतनं प्रधानं रचयेत्? लोष्टपाषाणादिष्वदृष्टत्वात्। मृदादिष्वपि कुम्भकाराद्यधिष्ठितेषु विशिष्टाकारा रचना दृश्यते, तद्वत्प्रधानस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितत्वप्रसंगः। वही,पृ. 401।
10. परिमितानां भेदानां मूलांकरानां संसर्गपूर्वकत्वं दृष्टवा बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां परिमितत्वात्संसर्गपूर्वकत्वमनुमिमानस्य सत्त्वरजस्तमसामपि संसर्गपूर्वकत्वप्रसंगः, परिमितत्वाविशेषात्। कार्यकारणभावस्तु प्रेक्षापूर्वकनिर्मितानां शयनासनादीनां दृष्ट्वा इति न कार्यकारणभावाद्बाह्याध्यात्मिकानां भेदानामचेतनपूर्वकत्वं शक्यं कल्पयितुम्। वही, पृष्ठ 402
11. प्रवृत्तेश्च, ब्रह्मसूत्र, 2/2/2 ।
12. न हि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वानधिष्ठिता विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते, दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिः। अतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेरपि हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति। वही, पृष्ठ 403।
13. न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृत्तिर्दृश्यते च तस्य सेति। भवतु तस्यैव सा। सा तु चेतनाद्भवतीति ब्रूमः, तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात्, यथा काष्ठादिव्यपाश्रयापि दाहप्रकाशलक्षणा विक्रियाऽनुपलभ्यमानापि च केवले ज्वलने ज्वलनादेव भवति, तत्संयोगे दर्शनात्तद्वियोगे चादर्शनात्, तद्वत्। वही, पृष्ठ 404।
14. यथाऽयस्कान्तो मणिः स्वयं प्रवृत्तिरहितोऽप्ययसः प्रवर्तको भवति, यथा वा रूपादयो विषयाः स्वयं प्रवृत्तिरहिता अपि चक्षुरादीनां प्रवर्तका भवन्ति। एवं प्रवृत्तिरहितोऽपीश्वरः सर्वगतः सर्वात्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सन् सर्व प्रवर्तयेदित्युपपन्नम्। एकत्वात्प्रवर्त्याभावे प्रवर्तकत्वानुपपत्तिरिति चेत् न, अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशवशेनासकृत्प्रत्युक्तत्वात्। तस्मात्संभवति प्रवृत्तिः सर्वज्ञकारणत्वे, न त्वचेतनकारणत्वे। वही, पृष्ठ 405।
15. पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि, ब्रह्मसूत्र, 2/2/3।
16. तस्मात्साध्यपक्षनिक्षिप्तत्वात्पयोम्बुवदित्यनुपन्यासः, चेतनायाश्च धेन्वाः स्नेहेच्छया पयसः प्रवर्तकत्वोपपत्तेः, वत्सचोषणेन च पयस आकृष्यमाणत्वात्। न चाम्बुनोऽप्यत्यन्तमनपेक्षा, निम्नभूम्याद्यपेक्षत्वात्स्यन्दनस्य। चेतनापेक्षत्वं तु सर्वत्रोपदर्शितम्। वही, पृष्ठ 406।
17. व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्, ब्रह्मसूत्र, 2/2/4।
18. सांख्याजां त्रयोगुणाः साम्येनावतिष्ठमानाः प्रधानम्, न तु तद्व्यतिरेकेण प्रधानस्य प्रवर्तकं निवर्तकं वा किंचिद्बाह्यमपेक्ष्यमवस्थितमस्ति। पुरुषस्तुदासीनो न प्रवर्तको न निवर्तक इत्यतोऽनपेक्षं प्रधानम्, अनपेक्षत्वाच्च कदाचित्प्रधानं महदाद्याकारेण परिणमते कदाचिन्न परिमणत इत्येतदयुक्तम्। ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तित्वान्महामायत्वाच्च प्रवृत्त्यप्रवृत्ती न विरुध्येते। वही, पृष्ठ 406–407।

19. अन्यत्राभावाच्च तृणादिवत्, ब्रह्मसूत्र, 2/2/5।
20. भवेत्तृणादिवत्स्वाभाविकः प्रधानस्यापि परिणामः, यदि तृणादेरपि स्वाभाविकः परिणामोऽभ्युपगम्येत्, न त्वभ्युपगम्यते, निमित्तान्तरोपलब्धेः। कथं निमित्तान्तरोपलब्धिः? अन्यत्राभावात्। धेन्वैवह्युपभुक्तं तृणादि क्षीरीभवति न प्रहीणमनडुहाद्युपभुक्तं वा। वही, पृष्ठ 407।
21. अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्, ब्रह्मसूत्र, 2/2/6।
22. तथापि प्रधानप्रवृत्तेः प्रयोजनं विवेक्तव्यं भोगो वा स्यादपवर्गो वोभयं वेति। भोगश्चेत्कीदृशोऽनाधेयातिशयस्य पुरुषस्य भोगो भवेत्, अनिर्मोक्षप्रसंगश्च। अपवर्गश्चेत्प्रागपि प्रवृत्तेरपवर्गस्य सिद्धत्वात्प्रवृत्तिरनर्थिका स्यात्, शब्दाद्यनुपलब्धिप्रसंगश्च। उभयार्थताभ्युपगमेऽपि भोक्तव्यानां प्रधानमात्राणामानन्तादनिर्मोक्षप्रसंग एव। न चौत्सुक्यनिवृत्त्यर्था प्रवृत्तिः नहि प्रधानस्याचेतनस्यौत्सुक्यं संभवति। न च पुरुषस्य निर्मलस्यनिष्कलस्यौत्सुक्यम्। दृक्शक्तिसर्गशक्तिवैयर्थ्यभयाच्चेत्प्रवृत्तिस्तर्हि दृक्शक्त्यनुच्छेदवत्सर्गशक्त्यनुच्छेदात्संसारानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसंग एव। तस्मात्प्रधानस्य पुरुषार्था प्रवृत्तिरित्येतदयुक्तम्। वही, पृष्ठ 409।
23. पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि, ब्रह्मसूत्र, 2/2/7।
24. पुनः प्रत्यवस्थानम्। अत्रोच्यते–तथापि नैव दोषान्निर्मोक्षोऽस्ति। अभ्युपेतहानं तावद्दोष आपतति, प्रधानस्य स्वतन्त्रस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमात्, पुरुषस्य च प्रवर्तकत्वानभ्युपगमात्। कथं चोदासीनः पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयेत्? पंगुरपि ह्यन्धं वागादिभिः पुरुषं प्रवर्तयति। नैवं पुरुषस्य कश्चिदपि प्रवर्तनव्यापारोऽस्ति, निष्क्रियत्वान्निर्गुणत्वाच्च।। वही, पृष्ठ 409।
25. नाप्ययस्यकान्तवत्संनिधिमात्रेण प्रवर्तयेत्। संनिधिनित्यत्वेन प्रवृत्तिनित्यत्वप्रसंगात्। अयस्स्कान्तस्य त्वनित्य–संनिधेरस्ति स्वव्यापारः संनिधिः, परिमार्जनाद्यपेक्षा चास्यास्तीत्यनुपन्यासः पुःरुषाश्मवदिति। तथा प्रधानस्याचैतन्यात्पुरुषस्य चौदासीन्यात्तृतीयस्य च तयोः संबन्धयितुरभावातसंवन्धानुपपतिः। योग्यतानिमित्ते च संबन्धे योग्यात्वानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसंगः पूर्ववच्चेहाप्यर्थाभावो विकल्पयितव्यः। परमात्मनस्तु स्वरूपव्यपाश्रयमौदासीन्यम्, मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वमित्यस्त्यतिशयः। वही, पृष्ठ 409–10
26. अंगित्वानुपपत्तेश्च, ब्रह्मसूत्र, 2/2/8।
27. इतश्च न प्रधानस्य प्रवृत्तिरवकल्पते। यद्धि सत्त्वरजस्तमसामन्योन्यगुणप्रधानभावमुत्सृज्य साम्येन स्वरूपमात्रेणावस्थानं सा प्रधानावस्था। तस्यामवस्थायामनपेक्षस्वरूपाणां स्वरूपप्रणाशभयात्परस्परं प्रत्यंगागिंभावानुपपत्तेः। बाह्यस्य च कस्यचित्क्षो भयितुरभावाद्गुणवैषम्यनिमित्तो महदाद्युत्पादो न स्यात्। वही, पृष्ठ 410।
28. अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्, ब्रह्मसूत्र, 2/2/9।
29. एवमपि प्रधानस्य ज्ञशक्तिवियोगाद्रचनानुपपत्त्यादयः पूर्वोक्ता दोषास्तदवस्था एव। ज्ञशक्तिमपि त्वनुमिमानः प्रतिवादित्वान्निवर्तेत। चेतनमेकमनेकप्रपंचस्य जगत् उपादानमिति ब्रह्मवादप्रसंगात्। वही, पृष्ठ 411।
30. विप्रतिषेधाच्चसमंजसम्, ब्रह्मसूत्र, 2/2/10।
31. परस्परविरुद्धश्चायं सांख्यानामभ्युपगमः– क्वचित्सप्तेन्द्रियाण्यनुक्रामन्ति, क्वचिदेकादश, तथा क्वचिन्महतस्तन्मात्रसर्गमुपदिशन्ति, क्वचिदहंकारात् तथा क्वचित्त्रीण्यन्तःकरणानि वर्णयन्ति, क्वचिदेकमिति। प्रसिद्ध एव तु श्रुत्येश्वरकारणवादिन्या विरोधस्तदनुवर्तिन्य च स्मृत्या। तस्मादप्यसमजसं सांख्यानां दर्शनमिति। वही, पृष्ठ 411।
32. कारणस्यैव संस्थानमात्रं कार्यमित्यभ्युपगमात्। शारीरिकभाष्य 2/2/17
33. सतत्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः। अतत्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदाहृतः।।
परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः। वेदान्तसार, 47।
विवर्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्यापत्ति।। वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद।
34. विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमि वेदान्तवादे परिणामवादः। व्यवस्थितेऽस्मिन् परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः।। संक्षेप शारीरक, 2/61।

मनुष्य का स्वरूप और परमसत्ता से उसका सम्बन्ध

रामप्रीत मिश्र

भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही परम्पराओं में चिन्तनकाल के प्रारम्भ से ही जिज्ञासा का एक मूल विषय यह रहा है कि मनुष्य का वास्तविक स्वरूप क्या है ? जिस विश्व में वह स्थापित है, उसका स्वरूप क्या है ? उसके साथ मनुष्य का सम्बन्ध क्या है ? परमसत्ता क्या है, और उससे मनुष्य का क्या सम्बन्ध है ? इन प्रश्नों के उत्तर में दोनों ही परम्पराओं में अनेक विचारधाराएं प्रतिपादित की गयी हैं। यहाँ हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि आचार्य पाण्डेय इन प्रश्नों के सम्बन्ध में हिन्दू दृष्टि का किस प्रकार मूल्यांकन करते हैं। किन्तु हिन्दू दृष्टि के वैशिष्ट्य को रेखांकित करने की दृष्टि से यह समीचीन होगा कि हम प्रारम्भ में कतिपय पाश्चात्य दृष्टियों की चर्चा कर लें, जिससे आचार्य पाण्डेय द्वारा प्रतिपादित मत को और स्पष्टता के साथ समझने में सहायता मिल सके।

स्वयं आचार्य पाण्डेय हिन्दू दृष्टि के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के जनक दार्शनिक देकार्ट के मत की चर्चा करते हैं।[1] उन्होंने जहाँ एक ओर आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के विकास में देकार्ट के महत्त्व को स्वीकार किया है वहीं दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि देकार्त ने मन और शरीर (मनुष्य एवं जगत्) के बीच विभाजन करके न केवल पश्चिम के दार्शनिक चिन्तन अपितु वैज्ञानिक एवं सामाजिक दर्शन के लिए भी संकट की स्थिति उत्पन्न कर दी। संक्षेप में, देकार्ट का मत यह है कि मनुष्य एवं जगत् दोनों भिन्न प्रकार की सत्ताएं हैं और दोनों भिन्न–भिन्न नियमों से संचालित होते हैं। मनुष्य एवं जगत् का यह द्वैत मान लेने के बाद देकार्त के लिए और आने वाले दार्शनिकों के लिए भी यह समझना कठिन हो गया कि स्वरूपतः दो भिन्न सत्ताओं में किस प्रकार कोई सम्पर्क हो सकता है ? मनुष्य एवं जगत् में केवल द्वैत ही नहीं है, देकार्त इससे आगे जाकर यह भी कहता है कि जगत् अथवा प्रकृति मनुष्य के उपयोग के लिए है। देकार्त की इस मान्यता का एक अनुकूल एवं सुखद परिणाम यह हुआ कि प्राकृतिक जगत् के वैज्ञानिक अनुसंधान के दरवाजे मनुष्य के लिए खुल गये। पाश्चात्य जगत् में इसके बाद जो वैज्ञानिक अनुसंधान और तकनीकी विकास हुए, अपनी कहानी का वर्णन स्वयं करते हैं। किन्तु यह अनुकूलता सर्वथा निरापद नहीं रही, क्योंकि प्रकृति–जगत् को मात्र उपयोग तथा उपभोग की वस्तु मान लेने के बाद मनुष्य का जगत् के साथ कोई अंतरंग और भावनात्मक सम्बन्ध नहीं रह गया। वर्तमान में पर्यावरण असंतुलन तथा इससे जुड़े प्रश्न मनुष्य के समक्ष खड़े हैं; उनके मूल में देकार्ट का उपर्युक्त चिंतन प्रमुख रूप से उत्तरदायी है। कारण और भी हैं, लेकिन उनका उल्लेख यहाँ प्रासंगिक नहीं प्रतीत होता।

देकार्ट के विचारों के उपर्युक्त संक्षिप्त उल्लेख के पश्चात् हम एक अन्य पाश्चात्य दृष्टि की चर्चा करने के बाद अपने मूल विषय पर आयेंगे। यद्यपि यह दृष्टि अब दार्शनिकों के बीच विशेष लोकप्रिय नहीं रह गयी है, तथापि इसकी चर्चा इसलिए आवश्यक है क्योंकि इसके अनुसार केवल

दर्शन विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ.प्र.)

भौतिक तत्त्व ही अंतिम रूप से सत्य है। भौतिक तत्त्वों में निहित द्वन्द्वन्याय के परिणामस्वरूप चेतना अथवा मनुष्य की सत्ता का आविर्भाव होता है। मार्क्सवाद में इसी दृष्टि का प्रयोग करके मनुष्य तथा विश्व के स्वरूप एवं सम्बन्ध, दर्शन, कला, साहित्य, संस्कृति, धर्म इत्यादि विषयों की व्याख्या की। यह सही है कि मार्क्स का उद्‌देश्य अंततः मानव मुक्ति थी। किन्तु उसकी मानव मुक्ति की परिकल्पना भौतिकता के भीतर ही थी। उसकी यह मान्यता थी कि मनुष्य का कल्याण और उसकी मुक्ति उसकी भौतिक परिस्थितियों में निहित होती है। और यदि भौतिक परिस्थितियां बदल दी जायें तो मनुष्य बंधन मुक्त हो सकता है। स्पष्ट है कि मार्क्स की मनुष्य की अवधारणा एक आर्थिक मनुष्य की अवधारणा है। आर्थिक परिस्थितियां ही मनुष्य को दास बनाती हैं, और वही उसको मुक्त भी करती हैं। आर्थिक परिस्थिति अंततः भौतिक परिस्थिति ही होती है और इसलिए मार्क्सवादी भौतिक दर्शन में मनुष्य के लिए अपने भौतिक स्वरूप से ऊपर उठने का न तो कोई अवकाश है और न ही उसका कोई अर्थ। यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि अस्तित्ववादी दार्शनिक भी यह मानते हैं कि मनुष्य–जगत्–में–स्थित–सत्ता है। किन्तु अस्तित्ववादियों का अभिप्राय मार्क्सवादी अभिप्राय से सर्वथा भिन्न है क्योंकि जहाँ मार्क्सवाद मनुष्य जगत् के साथ अनिवार्य एवं अंतिम रूप से बँधा हुआ है, वहीं पर अस्तित्ववादी मनुष्य के भीतर एक निरंतर बेचैनी है कि किस प्रकार वह अपनी जगत्–में–स्थित–सत्ता का अतिक्रमण करके अपनी स्वतंत्रता का प्रतिपादन कर सके।

हिन्दू परम्परा के अन्तर्गत वैदिक साहित्य के अतिरिक्त षड्‌दर्शन को समाहित किया गया है। इन सभी में मनुष्य के स्वरूप एवं उसकी नियति, सृष्टि की रचना तथा मनुष्य से उसके सम्बन्ध, ईश्वर अथवा परमसत्ता के स्वरूप तथा मनुष्य, जगत् तथा परमसत्ता के पारस्परिक सम्बन्धों पर गहराई से विचार किया गया है। सर्वप्रथम हम न्याय–वैशेषिक दर्शन के अनुसार इन विषयों की चर्चा करेंगे। न्याय–वैशेषिक के अनुसार आत्मा (मनुष्य) एक द्रव्य है। द्रव्य के रूप में कणाद ने आत्मा का जो लक्षण बताया है वह इस प्रकार है– प्राणऽपाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रि–यान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्‌गानि।[2] इसी से मिलता–जुलता लक्षण गौतम ने भी बताया है। आत्मा के उपर्युक्त लक्षण से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान अथवा चेतना मनुष्य का एक गुण तो है किन्तु वह उसका आकस्मिक गुण है, सारतत्त्व नहीं। जब आत्मा का मन, इन्द्रियों तथा बाह्य पदार्थों से सम्पर्क होता है तो उसमें चेतना का प्रादुर्भाव होता है। इसका अभिप्राय ये है कि न्याय वैशेषिक के अनुसार आत्मा तथा जड़तत्त्व में केवल इतना भेद है कि जहाँ आत्मा में चेतना की संभावना होती है, जड़ तत्त्व में चेतना की सम्भावना नहीं होती। जगत् के सम्बन्ध में न्याय–वैशेषिक दृष्टि सर्वथा वस्तुवादी है, और उसके अनुसार जगत् की सत्ता परमाणुओं के संयोग से स्वाभाविक रूप से आविर्भूत होती है। मनुष्य इसी जगत् के भीतर भौतिक शरीर, मन एवं इन्द्रियों की इकाई के रूप में विद्यमान सत्ता है। गुणात्मक रूप से मनुष्य अथवा आत्मा न तो जगत् से भिन्न सत्ता है और न ही उसका अतिक्रमण करने वाली सत्ता।[3] मनुष्य की इस तरह की अवधारणा मनुष्य को जगत् के साथ बाँधे रहती है। मनुष्य जगत् के एक अंग के रूप में रहते हुए ही, उसके सुखों एवं दुःखों को सहते हुए अपने मुक्ति की तलाश करता है। इस प्रकार की मुक्ति की अवधारणा वस्तुतः मनुष्य के भीतर किसी प्रकार की आशा अथवा प्रेरणा का संचार नहीं करती।

न्याय–वैशेषिक की मुक्ति की अवधारणा ऐसी प्रतीत होती है मानों कि कोई व्यक्ति जीवन की कठिनाईयों का सामना करने में असफल हो जाने पर आत्महत्या के मार्ग का चयन कर ले।[4] ईश्वर के साथ भी मनुष्य के सम्बन्ध की कोई स्पष्ट एवं संतोषजनक व्याख्या न्याय–वैशेषिक दर्शन में नहीं उपलब्ध होती। वस्तुतः मनुष्य तथा ईश्वर के बीच किसी आंतरिक सम्बन्ध की अवधारणा इस सम्प्रदाय में है ही नहीं। यदि ईश्वर मनुष्य की आराधना का विषय है भी तो केवल इस नाते कि वह जगत् का स्रष्टा है, अथवा जगत् का नैतिक नियंता या कर्मफलदाता है।

मीमांसा दर्शन में भी मनुष्य अथवा आत्मा की व्याख्या न्याय–वैशेषिक व्याख्या से बहुत भिन्न नहीं है। मीमांसा दर्शन के अनुसार मनुष्य एक ऐसी सत्ता है जो कि भौतिक, ऐन्द्रिक, मनोवैज्ञानिक तथा आत्मा की इकाई है। आत्मा भौतिक, ऐन्द्रिक एवं मनोवैज्ञानिक से ऊपर है। कुमारिल के अनुसार आत्मा जड़ बोधात्मक सत्ता है। जहाँ तक वस्तुजगत् की सत्ता का प्रश्न है मीमांसा दर्शन भी वस्तुवादी है, और वह इस बिन्दु पर बौद्ध विज्ञानवादियों के उन तर्कों का प्रबलता से खण्डन करता है जो ये स्थापित करने की चेष्टा करता है कि जगत् विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मीमांसा दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य धर्म है। धर्म का सम्बन्ध मनुष्य से है, क्योंकि मनुष्य ही वेद प्रतिपादित विधि–निषेधों का पालन कर सकता है। ईश्वर की सत्ता के लिए इस दर्शन में कोई अवकाश नहीं है। इस दृष्टि से देखा जाय तो मीमांसा दर्शन में मनुष्य को एक बहुत ही उदात्त स्थिति में स्थापित किया गया है। मनुष्य ही वैदिक क्रियाओं के महत्त्व को समझ सकता है और उनका सम्पादन कर सकता है। मीमांसा दर्शन के अनुसार एक ओर तो गतिशील जगत् अपने सारे घटकों में क्रियाशील होता है, उन्हें संगठित और विघटित करता रहता है। दूसरी ओर जगत् में एक नैतिक सिद्धान्त भी क्रियाशील होता है। मनुष्य ही इस सिद्धान्त को पहचानता है और वही उसका अनुपालन करता है। इस प्रकार इस सम्प्रदाय के अनुसार जगत् में दो मूलभूत सिद्धान्त–प्राकृतिक और नैतिक – एक साथ क्रियाशील दिखायी देते हैं। इनको नियंत्रित करने वाला कोई लोकोत्तर सत्ता नहीं है। इसलिए मनुष्य ही अपने जीवन की योजनाओं को बनाने एवं उन्हें सार्थक करने के लिए उत्तरदायी है। मनुष्य का यह उत्तरदायित्व है कि वह धर्म के रहस्य को समझे और प्राकृतिक शक्तियों से ऊपर उठकर अपवर्ग को प्राप्त कर सके। इस सबके बावजूद मीमांसा दर्शन के संदर्भ में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि प्राकृतिक जगत् एवं नैतिक जगत् में सम्बन्ध क्या है ? क्या दोनों स्वतंत्र हैं ? क्या दोनों परस्पर आश्रित हैं ? क्या उनमें से कोई दूसरे का अधिपति है ? इन प्रश्नों का कोई संतोषजनक उत्तर मीमांसा दर्शन में नहीं मिलता। वास्तव में मीमांसा दार्शनिक मनुष्य के वैशिष्ट्य को समझते हुए भी उसके वास्तविक स्वरूप की ठीक–ठाक से व्याख्या नहीं कर सके, और इसीलिए मीमांसा दर्शन अंततः इसी जगत् की समस्याओं में ही उलझकर रह गय़ा और मनुष्य के अतिक्रामी स्वरूप को, जिसका प्रतिपादन उपनिषदों में पहले ही किया जा चुका था, समझने में असमर्थ रह गया।[5]

सांख्य दर्शन अपनी द्वैतवादी अवधारणा के अनुरूप प्रकृति तथा पुरूष के रूप में दो नित्य सत्ताएं स्वीकार करता है। प्रकृति से जगत् का विकास होता है इसलिए जगत् वास्तविक सत्ता है। पुरूष अथवा मनुष्य प्रकृति से भिन्न एवं स्वतंत्र है और अपने मूल स्वरूप में प्रकृति का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु किन्हीं कारणों से, जिसका विवरण यहाँ अपेक्षित नहीं है, प्रकृति से

उसका सम्बन्ध हो जाता है अथवा वह समझता है कि प्रकृति से उसका सम्बन्ध है। इसी के परिणामस्वरूप मनुष्य अपने को जगत् के भीतर स्थापित एवं त्रिविध दुःखों का भोक्ता समझने लगता है। इन दुःखों से वह संघर्ष करता है और उनसे आत्यंतिक मुक्ति चाहता है। किन्तु मनुष्य का यह संघर्ष न तो यह सूचित करता है कि वह जगत् की सत्ता को यथावत स्वीकार करता है अथवा उसकी सत्ता का निराकरण करने की चेष्टा करता है। यह सांख्य दर्शन की विशेष रूप से, और भारतीय दार्शनिक–सांस्कृतिक परम्परा की सामान्य रूप से, एक अतुलनीय विशेषता है। प्रकृति से पुरूष का संघर्ष प्रकृति पर विजय पाने के लिए नहीं है बल्कि उद्देश्यपूर्वक उसको समझने के लिए है। इस बिन्दु पर सांख्य दर्शन मनुष्य एवं प्रकृति के बीच एक संवेदनशील सम्बन्ध की कलपना करता हुआ प्रतीत होता है। प्रकृति पर विजय पाने का उद्देश्य यह नहीं है कि हम उसे अपनी सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में प्रयोग कर सकें। प्रकृति के साथ मनुष्य का संघर्ष एक आध्यात्मिक संघर्ष है, प्रकृति की सीमाओं से ऊपर उठकर अपने वास्तविक, असीम स्वरूप से साक्षात्कार करने का उपाय है। इसलिए सांख्य दर्शन में पुरूष एवं प्रकृति का सम्बन्ध न तो जीवन–स्थापक सम्बन्ध है और न ही जीवन–निषेध का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध उस सत्य से साक्षात्कार करने का प्रयत्न है जो इस महान गतिशील सत्ता को संभव और सार्थक बनाता है।[6]

सांख्य दर्शन के अनुसार अज्ञानवश मनुष्य अपने को जगत् की अनेक वस्तुओं में से एक वस्तु मान लेता है और उन्हीं वस्तुओं के सम्बन्धों के माध्यम से अपने जीवन की सार्थकता तलाश करने लगता है। यह मनुष्य के अविवेक की अवस्था है, जिसे वेदांत में माया कहा गया है। किन्तु समस्या यह नहीं है। यदि मनुष्य जगत् में रहकर जगत् की वस्तुओं के माध्यम से सुख एवं शांति पा लेता तो कोई बात नहीं थी, परन्तु ऐसा होता नहीं। मनुष्य को और सुख चाहिए, और आनंद चाहिए। प्रकृति की अंधी शक्तियां उसे निरन्तर उसी अधिक की तलाश में भटकाती रहती है।[7] इससे मनुष्य में स्वभावतः असंतोष पैदा होता है। इसलिए अपनी जागतिक स्थिति को वह अपनी नियति नहीं मान सकता। जगत् से अपने आप को हमेशा के लिए, और अंतिम रूप से बँधा हुआ नहीं मान सकता। वह जगत् के प्रत्येक पदार्थ का अनुभव करता है। यह अनुभव एक निरन्तर प्रगतिशील प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में मनुष्य को बोध होता जाता है कि इनमें से कोई भी पदार्थ उसके नहीं हैं। यह कुछ भी उसका नहीं है। विवेक की अंतिम स्थिति में मनुष्य को यह बोध हो जाता है कि जिस प्रकृति से वह अपने को जुड़ा हुआ समझ रहा था उससे वस्तुतः उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह इन सबसे अतीत, शुद्ध चैतन्य सत्ता है। यही मनुष्य की वास्तविक नियति है।

अद्वैत वेदान्त में जगत् की तात्त्विक स्थिति के विस्तृत विवरण में जाने की आवश्यकता नहीं है। इस सम्बन्ध में केवल दो बातें उल्लेखनीय प्रतीत होती हैं। सर्वप्रथम, यह कि ईश्वर अथवा ब्रह्म जगत् का कारण है। इसका तात्पर्य यह है कि जगत् कोई आत्मपर्याप्त स्वतंत्र सत्ता नहीं है। ब्रह्म ही इसका उपादान एवं निमित्त दोनों कारण है। ब्रह्म से अन्य के रूप में जगत् की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। दूसरे, तात्त्विक दृष्टि से जगत् मिथ्या है। मिथ्या का तात्पर्य यह है

कि जगत् एक विलक्षण सत्ता है। हम अपनी सामान्य तार्किक पदावली में इसका वर्णन नहीं कर सकते। अन्य शब्दों में इसे न तो सत् कह सकते हैं, न असत्, न सत् असत् दोनों और न सत् एवं असत् में से कोई नहीं। इसी को समझने के लिए कहा गया है कि जगत् व्यावहारिक रूप से सत् है एवं पारमार्थिक रूप से असत् है। जहाँ तक मनुष्य (आत्मा) के स्वरूप का सम्बन्ध है, उसे परम सत्ता या ब्रह्म से अभिन्न माना गया है। मनुष्य एवं ब्रह्म का भेद अज्ञानजन्य है, और अज्ञान के निवारण के साथ ही मनुष्य को यह बोध हो जाता है कि वह तद्रूप है। 'तत्त्वमसि' तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' जैसे औपनिषद् महावाक्यों का यही अभिप्राय है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जगत् के भीतर मनुष्य की क्या स्थिति है ? अथवा उससे उसका सम्बन्ध क्या है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए आचार्य पाण्डेय लिखते हैं – "शांकर अद्वैत वेदांत के अनुसार जगत् के भीतर मनुष्य की स्थिति अत्यंत विशिष्ट है। उसे भीतर तथा बाहर दोनों ओर से जगत् का सामना करना पड़ता है। उसे दो संसारों में सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है– एक वह जो कि बाहरी है, जिसमें वस्तुएं और परिस्थितियां होती हैं, और दूसरा वह जो आंतरिक है जिसमें विचार, आशाएं और अपेक्षाएं होती हैं। बाह्य जगत् की अपेक्षा आंतरिक जगत् अधिक जटिल होता है। यही जगत् मनुष्य को विमर्शात्मक बनाता है और उसे दार्शनिक चिंतन के लिए विवश करता है।"[8]

इसी विमर्शात्मक चिंतन में मनुष्य यह प्रश्न उठाता है कि जगत् में मनुष्य के रूप में उत्पन्न हुई सत्ता के रूप में उसका कोई अर्थ और प्रयोजन है ? क्या वह जगत् का एक अंश मात्र है ? अद्वैतवेदांत में इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए एक मात्र ब्रह्म की सत्ता की स्थापना की गयी है और कहा गया है कि जगत् ब्रह्म से अनन्य है और मनुष्य ब्रह्म से अभिन्न। अद्वैतवेदांत की यह स्थापना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह इस बात का संकेत देती है कि "मनुष्य चित् एवं अचित् (ब्रह्म एवं जगत्) का संधि स्थल है। जगत् की सत्ता मनुष्य की सत्ता के माध्यम से क्रियाशील होती है और यदि "मनुष्य प्रकृति की क्रियाप्रणाली तथा उसके नियमों के परिणामों को समझता है तो वह उससे अप्रभावित रहने की विधा भी समझ जाता है। इस प्रकार प्रकृति के माध्यम से ही मनुष्य चित् या ब्रह्म की ओर अग्रसर होता है। यह एक प्रकार से प्रकृति के ऊपर मनुष्य की विजय है क्योंकि तब वह समझ लेता है कि प्रकृति भी चित् या ब्रह्म के नियमों से संचालित है।"[9]

उपर्युक्त का निहतार्थ यह है कि प्रकृति या वस्तु जगत् को सम्यक् रूप से जानने के लिए प्राकृतिक दृष्टि पर्याप्त नहीं है। चित् या लोकोत्तर दृष्टि से ही उसे समझा जा सकता है। अचित् स्वयं अपनी व्याख्या नहीं कर सकता। चित् ही अचित् को व्याख्यायित कर सकता है। यदि मनुष्य लोकोत्तर सत्ता के स्वरूप को समझ लेता है तो वह यह भी समझ लेता है कि स्थूल सत्ताओं में भी वही सूक्ष्म सत्ता प्रकट हो रही है। इसी विचार को वृहदारण्यक उपनिषद् में अत्यन्त सुन्दर रूप में इस प्रकार समझाया गया है– "इस पुरूष के दो ही स्थान हैं– इह लोक और परलोक सम्बन्धी स्थान; तीसरा स्वप्न स्थान, संध्य स्थान है। उस संध्य स्थान में स्थित रहकर यह इस लोक रूप स्थान और परलोक स्थान – इन दोनों को देखता है।"[10] उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि मनुष्य के लिए यह संभव है कि उसे लोक और लोकोत्तर, अशुभ एवं शुभ तथा दुःख एवं

आनंद दोनों का बोध हो। कभी–कभी मनुष्य स्वयं को उस संध्य स्थान पर पाता है जहाँ उसे वस्तुओं की अनित्यता का दर्शन होता है तो उसी के साथ नित्य सत्य का भी आभास होता है। मनुष्य ऐसी स्थिति में जहाँ कि लोक की शून्यता और लोकोत्तर की सम्पूर्णता दोनों उसे दिखायी देती है। इस प्रकार मनुष्य विषय जगत् एवं विषयी जगत्, तथ्यों के जगत् और आदर्शों के जगत् के मध्य स्थापित होता है। प्रो. के. सच्चिदानन्द मूर्ति ने अपने शब्दों में इसी को ''मध्य का क्षेत्र' कहा है जिसमें कि पृथ्वी एवं स्वर्ग, मानवीय एवं दैवी संभवतः एक दूसरे से जुड़ सकते हैं।[11] इस मध्य क्षेत्र में स्थापित मनुष्य एक ओर तो वस्तुओं के जगत् से घिरा हुआ है, दूसरी ओर लोकोत्तर सत्ता भी उसका आह्वान करती है। मनुष्य को ऐसा प्रतीत होता है कि वह उस सत्ता को जानता है, जो इस जगत् से अतिवर्ती है तथा जो दुःख एवं मृत्यु के सभी रूपों से परे है। अद्वैत वेदांती उस सत्ता के होने के प्रति सर्वथा आश्वस्त हैं क्योंकि वही सत्ता मनुष्य की जागतिक सत्ता के समस्त व्यापारों एवं रूपों का आधार है। उपनिषदों में जब ब्रह्म को आनन्द की 'पुच्छप्रतिष्ठा' कहा गया है तो यही संकेत किया गया है कि मनुष्य की सत्ता के जितने भी रूप हो सकते हैं, ब्रह्म की सत्ता उन सभी में व्याप्त है और सभी का आधार है।

किन्तु यदि किसी के मन में अद्वैत वेदान्त जैसी निष्ठा न भी हो और वह जगत् के मिथ्यात्व को स्वीकार करने में संकोच करें तो भी उसकी विमर्शात्मक चेतना उसे निश्चय ही इस विश्वास की ओर प्रेरित करेगी कि मनुष्य मात्र भौतिक नियमों से संचालित सत्ता नहीं है। उसकी सत्ता में एक विशिष्टता है, और नीत्शे जैसा ईश्वरघाती दार्शनिक भी इस बात को स्वीकार करता है कि मनुष्य ''पशु एवं अतिमानव के बीच बँधी हुई डोर'' के समान है। इसी अवस्था को हाइडेगर ने ''तथ्य एवं पवित्र' के मध्य की अवस्था कहा है।''[12] मनुष्य अपनी सत्ता के लोकोत्तर छोर को पहचानता है और उसका जीवन उसी छोर तक पहुँचने का एक आध्यात्मिक अभियान है। क्या वह छोर है ? क्या वहाँ तक पहुँचा जा सकता है ? भले ही हम किसी निश्चयात्मक उत्तर में विश्वास न कर सकें, किन्तु यह विश्वास ही गौरवशाली है और यह यात्रा शानदार है।

इसी बिन्दु पर अद्वैतवादी दृष्टि की विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है। भारतीय हिन्दू सम्प्रदायों के संदर्भ में हम देख चुके हैं कि वे लोकोत्तर सत्ता की कोई स्पष्ट अवधारणा नहीं प्रस्तुत करते और न ही मनुष्य के अतिक्रामी स्वरूप का कोई स्पष्ट चित्र अंकित कर पाते हैं। वैष्णव सम्प्रदायों की चर्चा हमने साभिप्राय नहीं की है क्योंकि उनकी दृष्टि धर्मप्रधान अधिक है, दर्शन–प्रधान कम। मानवीय सत्ता का उदात्ततम स्वरूप अद्वैत दर्शन में ही उपलब्ध है। जैसा कि हम इंगित कर चुके हैं, पाश्चात्य चिन्तन में भी मनुष्य के अतिक्रामी स्वरूप को पर्याप्त रूप से रेखांकित किया गया है किन्तु उस अतिक्रामी सत्ता से और मनुष्य के संबंध में उतनी स्पष्टता नहीं है जितनी कि अद्वैत वेदांत में है। इसीलिए अद्वैत वेदांत 'सर्व सर्वात्मकम्' का दर्शन है। यह एक नैतिक–सामाजिक आदर्श भी है और तत्त्वमीमांसीय आदर्श भी। बौद्ध दर्शन में महाकरूणा तथा बहुजन हिताय का आदर्श प्रस्तुत किया गया है किन्तु आचार्य पाण्डेय अपने व्याख्यानों में प्रायः कहा करते थे कि बौद्ध आदर्श उदात्त एवं मंगलकारी तो है किन्तु वह आश्वस्तकारी नहीं है क्योंकि अनात्मवाद एवं क्षणभंगवाद की अवधारणायें उसे तत्त्वमीमांसीय आधार से रहित बना देती हैं। सर्वं सर्वात्मकम् में

सर्वं का अर्थ बहुजन नहीं है। सर्वम् कोई गणितीय गणना नहीं है। कोई भी गणना यह सुनिश्चित नहीं कर सकती कि हम 'बहुजन' की अवधारणा तक पहुँच गये हैं। इसलिए सर्व का अर्थ ब्रह्म या आत्मा है। सभी सत्तायें आत्मवान् हैं इसलिए सर्वं सर्वात्मकम् एक यथार्थपरक आदर्श है। यही अद्वैत वेदांत का आदर्श है। यही आदर्श समरसतापूर्ण समाज की स्थापना का आधार है और इस आदर्श को समझने की कुँजी सर्वं सर्वात्मकम् के यथार्थ को समझना है जिसमें मनुष्य, जगत् तथा परमसत्ता एक ही सूत्र में गुंथे हुए होते हैं। यह सूत्र इन तीनों से पृथक् कोई अन्य सूत्र नहीं है; ब्रह्म या आत्मा ही वह सूत्र है जिसे जान लेने से मनुष्य तथा जगत् का रहस्य स्वतः उद्घाटित हो जाता है। सच तो यह है कि ब्रह्म या आत्मा को जान लेने के पश्चात् कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता।



सन्दर्भ –

1. *पाण्डेय, आर.आर., मैन एण्ड दि युनिवर्स, पिलग्रिम्स पब्लिशिंग, वाराणसी, 2002, पृ. 224.*
2. *वैशेषिक सूत्र : 3.2.4.*
3. *मैन एण्ड दि युनिवर्स, पृ. 72.*
4. *वही, पृ. 74.*
5. *वही, पृ. 133–34.*
6. *वही, पृ. 103.*
7. *वही, पृ. 104.*
8. *वही, पृ. 176.*
9. *वही, पृ. 221–22.*
10. *वृहदारण्यकोपनिषद्, 4/3/9.*
11. *मूर्ति, के. सच्चिदानन्द, द रेल्म आफ विटवीन, शिमला, आई.आई.ए.एस., 1973, पृ. भूमिका IX-X.*
12. *वही, पृ. XII.*

वेदांत एवं इतिहासांत

रमेशचन्द्र सिन्हा

इतिहासांत एक उत्तर आधुनिक अवधरणा है। यहाँ मैंने वेदान्त दर्शन जैसे प्राचीन भारतीय दर्शन को उत्तर–आधुनिक परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। वेदांत तथा इतिहासांत का संबंध कुछ अजीबोगरीब लग सकता है। मैं सोचने लगा ऐसी भी क्या बात है जिसके कारण इस तरह का शीर्षक मैंने इस आलेख को दिया है। इसके कई कारण हो सकते हैं। पहला कारण यह कि यह लेख प्रो॰ रेवती रमण पांडेय स्मृति ग्रंथ के लिए लिख रहा हूँ। उनकी स्मृति को शब्दांजलि अर्पित करना एक पुनित कार्य है। सर्वविदित है कि पांडेय जी को वेद एवं वेदांत में रूची थी। वेदांत में भी हमने शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त को केन्द्र में रखा है। फिर जब लिखने बैठा तो वही माया, ब्रह्म, ईश्वर, जगत्–विचार जैसी समस्यायें मानस पटल पर उभरने लगती हैं। इन समस्याओं पर बहुत कुछ लिखा गया है। इसलिए मैंने सोचा कि नये ढंग से कुछ लिखा जाय। शंकराचार्य का इतिहास–बोध आदर्शवादी है। एक तत्त्वमीमांसक की दृष्टि में इतिहास की क्या अवधारणा हो सकती है? फिर ऐसा प्रतीत हुआ कि शंकराचार्य का वेदांत दर्शन तो जीवन एवं जगत् की ऐतिहासिक प्रक्रिया से ऊपर उठने की बात करता है। यह इतिहास के अन्त का भाव है। इसलिए इस आलेख का शीर्षक 'वेदांत एवं इतिहासांत' रखा है।

'जन्माद्यस्य यतः'[1] इस सूत्र में जगत् के बारे में चर्चा की गयी है। मैंने भी इसी सूत्र को केन्द्र में रखकर 'वेदांत एवं इतिहासांत' की चर्चा की है। जड़–चेतनात्मक जगत् जिसे हम देखते, सुनते और अनुभव करते हैं, उसकी प्रक्रिया को ऐतिहासिक प्रक्रिया कहते हैं। इस विचित्र विश्व के जन्म आदि जिससे होते हैं अर्थात् जो सर्वशक्तिमान परात्पर परमेश्वर अपनी अलौकिक शक्तियों से इस सम्पूर्ण जगत् की रचना करता है, इसका धरण, पोषण तथा नियमित रूप से संचालन करता है, फिर प्रलय काल आने पर जो इस समस्त विश्व को अपने में विलीन कर लेता है, वह परमात्मा ही ब्रह्म है। समस्त विश्व विलय को हम 'इतिहासांत' की संज्ञा देते हैं।[2] इस 'ऐतिहासिकता' को मैंने श्री अरविन्द के समग्रतावादी अद्वैतवाद के आलोक में समझने का प्रयास किया है।

इतिहासांत का अर्थ है व्यावहारिक जीवन एवं जगत् से उपर उठना। ऐतिहासिकता की प्रक्रिया विश्व की प्रक्रिया है। सद्–चिद्–आनन्द या चरमसत्ता ऐतिहासिक प्रक्रिया से परे है। मोक्ष जीवन की भवितव्यता है। ऐतिहासिक प्रक्रिया से परे उदात्त स्तर पर पहुँचना ही मोक्ष है। उत्तर–आधुनिक दार्शनिक प्रत्यय 'इतिहासांत' का वेदान्त दर्शन के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया गया है तथा वेदांत को उत्तर–आधुनिक शब्दावली में व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है। वस्तुतः वेदान्त दर्शन में आत्मा, ब्रह्म, माया, ईश्वर की समस्यायें मेरे मन को भाती नहीं हैं। अवधारणायें पुरानी हैं और विश्लेषण भी एक ही तरह का मिलता है। लिखने के पूर्व महर्षि वेदव्यास रचित 'ब्रह्मसूत्र', 'वेदान्त परिभाषा' एवं पंचदशी को देखने लगा। ब्रह्मसूत्र में चन्द शब्दों में परब्रह्म के स्वरूप का निरूपण किया गया है। इसलिए इसका नाम 'ब्रह्मसूत्र' है। ब्रह्मसूत्र वेद

सेवानिवृत्त आचार्य, दर्शन विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना (बिहार)

के चरम सिद्धान्त का निदर्शन करता है। अतः इसे वेदान्त दर्शन भी कहते हैं। यह समझ में आया कि ब्रह्म कालातीत चरम सत्ता है। कालातीत का तात्पर्य हुआ कि ऐतिहासिक प्रक्रिया जो काल में चलती है उसका अंत। फिर 'वेदान्त परिभाषा' जिसका अनुवाद स्वामी माध्वानन्द ने किया है उसे पढ़ने लगा। इसमें एस॰एन॰ दास गुप्ता के द्वारा लिखा प्राक्कथन काफी रोचक लगा। पूरी पुस्तक 'ज्ञानमीमांसा' को प्रकाशित करती है। 'पंचदशी' को भी जिज्ञासावश देखा। इन पुस्तकों ने मेरे विचार को निर्मित किया है। इस आलेख को शंकराचार्य पर केन्द्रित करने के दो कारण समझ में आते हैं। प्रथमतः, उपनिषद् के विचारों को शंकराचार्य का अद्वैतवाद व्यवस्थित रूप में अभिव्यक्त करता है। मानव एवं जगत् के प्रति उपनिषद् के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति पायी जाती है। वेदांत दर्शन में शांकर वेदान्त एक अनुपम प्रसून है। द्वितीयः, शंकराचार्य वेदान्त दार्शनिकों में सबसे प्रभावी प्रतीत होते हैं। इस तरह से हम कह सकते हैं कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद भारतीय संस्कृति की आत्मा है। मैं यहाँ वेदान्त को इतिहास बोध को भारतीय परम्परा के परिप्रेक्ष्य में समझने की चेष्टा कर रहा हूँ। अद्वैत वेदान्त की परिकल्पना है कि जगत् क्षणभंगुर तथा अनेकता पूर्ण होने से मिथ्या है। जगत् में विखंडन, विभाजन, विरोध, संघर्ष, अन्तर–विरोध तनाव, दुःख व्याप्त है। मानव जीवन दिक्–काल आबद्ध है। मानव सदैव ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत ही अपने को निर्मित करता है। मानव जीवन दुःखमय है। शंकराचार्य एवं महात्मा बुद्ध दोनों ने दुःख को जीवन का आवश्यक तत्त्व माना है। मानव का अ–शास्वत एवं परिवर्तनशील स्वरूप इस वस्तुजगत् में ज्ञापित होता है। हम यह देखते हैं कि मृत्यु अवश्यम्भावी एवं अपरिहार्य है। मृत्यु सदैव मनुष्य के दुःख पूर्ण अस्तित्व की याद दिलाता है। मृत्यु के समक्ष मनुष्य शक्तिहीन हो जाता है। गरीब और अमीर, काले और गोरे, सामंत एवं सीमांत और उच्च एवं निम्न सभी कब्र में बराबर में ही लेटे पाये जाते हैं। मृत्यु दुनियाँ को बराबर कर देती है। भेद–भाव, असमानता सबकुछ मानव जीवन में ही है। सभी को मृत्यु के आगोश में जाना है। शक्ति, शासन, नाम, प्रसिद्धि, धन और ज्ञान सम्पन्न सभी व्यक्तियों को मृत्यु का भय बराबर रहता है। मानव जीवन के चारों तरफ मृत्यु मंडराता है। निःसार मानव अस्तित्व के इस क्षणभंगुर एवं कालिक अस्तित्व की परिधि में मनुष्य रहता है।

अद्वैत वेदान्त की मान्यता है कि मृत्यु तथा दुःख पर विजय प्राप्त करने की हर चेष्टा जो वस्तुगत जगत् का अंग है, असफल हो जाता है। शंकर के अनुसार जगत् की सत्ता सर्वग्राही काल के गिरफ्त में है। सबकुछ जो काल में स्थित है वह परिवर्तनशील है, नाशवान है, मृत्यु मानव अस्तित्व की भवितव्यता है। अतः शंकराचार्य के अनुसार वे सभी विधि–विधान जो इतिहास आबद्ध है, काल की प्रक्रिया के अन्तर्गत है और उनके द्वारा मृत्यु से मुक्ति नहीं पायी जा सकती। दुःख से छुटकारा नहीं हो सकता है। मात्र 'ज्ञान' ही एक दृष्टि देता है जो काल–आबद्ध मानव अस्तित्व से मुक्ति का साधन है। दुःख, भय, मृत्यु के बोध का कारण अविद्या है। मोक्ष पाने के लिए मानव को अज्ञानता के घने बादल को दूर करना पड़ेगा। इस जागतिक एवं कालिक अस्तित्व के मूल आलम्बन, क्षणभंगुर जगत् के शाश्वत आधार ब्रह्म का ज्ञान ही मानव को इतिहास बंधन से मुक्त कर सकता है। दिक्–काल आबद्ध दुःख एवं कष्ट से परित्राण शाश्वत ज्ञान, कालातीत ब्रह्म ज्ञान से ही संभव है। ब्रह्म ज्ञान ही मानव को ऐतिहासिक प्रक्रिया एवं मृत्यु के भय से परे ले जा सकता है। परन्तु विकट प्रश्न है कि हम ब्रह्म को कैसे जानते हैं? शंकराचार्य का कहना है कि ब्रह्म और

आत्मा एक ही है। ब्रह्म एवं आत्मा में तादात्म्य है। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' यह मूलमंत्र है। इस ऐतिहासिक प्रक्रिया से परे जाने के लिए आत्म–ज्ञान आवश्यक है। आत्मा मानव जीवन का मूलाधर है। वस्तुजगत् के अस्तित्व से परे जाना, ऐतिहासिक प्रक्रिया से उपर उठना ही मोक्ष कहलाता है।

यहाँ यह कहना प्रासंगिक प्रतीत होता है कि अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म और बौद्ध दर्शन की शून्यता की अवधरणा एक दूसरे से भिन्न हैं। परन्तु उनमें समानता भी है। शंकराचार्य एवं नागार्जुन दोनों ने तर्क एवं भाषा से उपर उठने की बात की है। ब्रह्म तथा शून्यता दोनों को हम भाषा के माध्यम से नहीं समझ सकते हैं। नाम और रूप से दोनों परे हैं। उनकी परिभाषा नहीं दी जा सकती। उन्हें मात्र वर्णन किया जा सकता है। वेदान्त ने ब्रह्म को जानने की प्रक्रिया के अन्तर्गत नेति–नेति कहा है। ब्रह्म ज्ञान संकल्पनात्मक ज्ञान (Conceptual Knowledge) से परे है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म सभी कालबद्ध अस्तित्व का आधार है। शंकर के अनुसार ब्रह्म तथा जगत् दो सत्तायें नहीं है। दोनों सत्तायें तात्विक दृष्टि से एक हैं। पारमार्थिक सत्ता और व्यावहारिक सत्ता में भेद करते हुए शंकराचार्य ने बतलाया है कि चरमसत्ता को हम दो दृष्टियों से देख सकते हैं। एक पारमार्थिक तथा दूसरा व्यावहारिक दृष्टि। बौद्ध दर्शन में भी संसार और निर्वाण एक ही सत्ता है। एक ही सत्य को दो दृष्टियों से देख सकते हैं। बौद्ध दर्शन में भी पारमार्थिक एवं संवृत्ति सत्य में भेद किया गया है। परन्तु वहाँ भी संसार और निर्वाण को एक ही सिक्के के दो पहलू के रूप में देखे गये हैं। यदि वेदान्त एवं बौद्ध दर्शन की इतिहास अवधारणा या इतिहास बोध की बात करते हैं तो समान प्रतीत होता है। इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में वेदान्त तथा बौद्ध दर्शन के द्वारा जगत्–प्रक्रिया यथार्थ एवं सत्य है। 'ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या' इस उक्ति में शंकराचार्य ने विरोधभास से अपने दर्शन को मुक्त रखने के लिए जगत् मिथ्यात्व की बात कही है। परन्तु मेरा कहना है कि ब्रह्म के अस्तित्व की परिकल्पना हमें ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत करनी होगी। ब्रह्म की सत्ता को 'लॉजिकल इन्फाइनाइट रिगरेस' के दोष से बचने के लिए हम तत्त्वतः सत्य मान लेते हैं। प्रपंच युक्त विश्व या संवृत्ति सत्य इतिहास प्रक्रिया का मूल तत्त्व है। यदि ऐतिहासिकता को वेदान्त से नकार दे तो 'एब्सोल्यूट' प्रत्यय मात्र रह जाता है। अमूर्त ब्रह्म एक है। प्रत्यय जिसका कोई 'लोकस स्टैन्डी' नहीं, जिसकी सत्ता मात्र काल्पनिक या चंद सिद्ध पुरूषों के आत्म–ज्ञान पर सिद्ध हो वह अनुभूति हमें वस्तुनिष्ठ सत्ता नहीं दे पाती है। अभी तक दार्शनिकों का मानना है कि 'फेनोमेनल वर्ल्ड' की अपनी सत्ता नहीं। वह माया है। हमारे अज्ञान की उपज है। इतिहास की भी अपनी कोई सत्ता नहीं। इतिहास और जगत् प्रक्रिया माया की उपज है। ऐतिहासिक प्रक्रिया से उत्पन्न तर्कों की हम इन्द्रियजनित अनुभूति, अवधारणा तथा कल्पना द्वारा निर्मित मानते हैं। ब्रह्म को चरम सत्ता के रूप में मानना भी एक गल्प परिकल्पना, आस्था के द्वारा स्वीकारने के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यदि हम ऐतिहासिक प्रक्रिया से उपर उठते हैं और इतिहासांत के बाद ब्रह्म का तात्त्विक अस्तित्व स्वयं आलम्बन के रूप में तात्त्विक सत्ता के रूप में उभर कर आता है। ब्रह्म एक अमूर्त तत्त्व है और भाषा उस ब्रह्म तक पहुँच नहीं सकती। सद्–चिद्–आनन्द अनिर्वचनीय है। हमारी समझ के परे है। ज्ञान प्रक्रिया से उपर है। समझ के

परे है। बुद्धि उसे जान नहीं सकती क्योंकि वह सत्ता पूर्ण है और बुद्धि अंशों में कार्य करती है। ब्रह्म को भाषा में अभिव्यक्त नहीं कर सकते हैं। अन्तः अनुभूति (Intution) ही मात्र उसके तात्त्विक गहराई को समझ सकती है, उसको जान सकती है। इतिहास तो विरोधभास एवं विभिन्नताओं के बीच ही चलता है। इतिहास की प्रक्रिया शून्य की प्रक्रिया नहीं है। जगत् की सृष्टि, विकास एवं विनाश यह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। परन्तु इस ऐतिहासिक प्रक्रिया का नियंता ब्रह्म है जो प्रक्रिया से अलग है। ब्रह्म निरपेक्ष सत्ता है। भाषा या प्रत्ययों के परे ऐसी सत्ता जिसे सभी नहीं समझ सकते। यह कहना कि सत्ता ससीम– असीम है, सगुण–निर्गुण है, इतिहास के परे भी है और इतिहास के अन्तर्गत भी है। क्या यह एक विरोधपूर्ण परिकल्पनात्मक सत्ता नहीं है? पुनः हम कहते हैं कि उपाधिरहित निरपेक्ष सत्ता को हम जिसे 'एब्सोल्यूट' की संज्ञा देते हैं उसे 'अपरोक्षानुभूति' से जान सकते हैं। अपरोक्षानुभूति एक समग्रता का अनुभव है। इसके अन्तर्गत, इन्द्रियजनित तथा विवेकपूर्ण अनुभूति सभी समाहित हैं। अपरोक्षानुभूति इन्द्रिय प्रदत्त अनुभव तथा बुद्धि जन्य ज्ञान के सार को समाहित कर लेती है। यह अपरोक्षानुभूति 'प्रज्ञा' से परे चला जाता है। बुद्धि से ऊपर की चीज है। अपरोक्षानुभूति विवेक विरोधी नहीं है। विवेक एक भूमि तैयार करता है। रूडल्फ ओटो ने इसे 'न्यूमिनस एक्सपिरियन्स' की संज्ञा दी है जो एक रहस्यमय अनुभूति है। इस अनुभूति को 'एन्टि रेशनल' न कह कर 'सुपरा रैशनल' कहा है या 'नान रैशनल' कहते हैं। बौद्धिक ज्ञान तो ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत ही होता है। बौद्धिक ज्ञान सापेक्ष है। सापेक्ष ज्ञान नाम–रूप युक्त है। ऐतिहासिक ज्ञान को सापेक्ष मानने में कोई परेशानी नहीं है परन्तु 'अपरोक्षानुभूति' कुछ लोगों को हो सकती या नहीं भी हो सकती है। उदात्त ज्ञान को नकारा नहीं जा सकता है। लेकिन 'अपरोक्षानुभूति' के आधार पर जगत् के नियन्ता, ब्रह्म एवं परमार्थ सत्ता, अनिर्वचनीय सत्ता, स्वतःसिद्ध सत्ता को हम कैसे स्वीकार कर लें।

यह एक सत्य है कि 'इतिहास की व्याख्या' की भारतीय प्रविधि (Methodology of Interpretation of Indian History) विकसित नहीं है। प्रविधि वैज्ञानिक होना चाहिए। हमारे पास इतिहास व्याख्या की प्रविधि वैज्ञानिक नहीं है। भारतीय ऐतिहासिक प्रविधि क्या हो सकती है? यह हमारा कठोर आग्रह ही कहा जा सकता है कि चरमसत्ता ब्रह्म ऐतिहासिक प्रक्रिया से परे है। वह तटस्थ है। परन्तु मेरा मानना है कि वह ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत ही बनता–बिगड़ता है। ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत ही ईश्वर भी कहा जाता है और ब्रह्म भी मान लिया जाता है।

मैंने इस आलेख में उत्तर–आधुनिक पद्धति को वेदान्त दर्शन को समझने के लिए प्रयुक्त किया है। यह एक बिल्कुल नया विषय है कि वेदान्त का इतिहास बोध क्या है। क्या इतिहास से परे वेदान्त की चर्चा की जाय। क्या ऐतिहासिक प्रक्रिया से परे कोई अमूर्त, निःश्चल, प्रस्तर की मूर्ति स्थिर है। आकाश–पाताल में ब्रह्म की सत्ता है या उसे वैज्ञानिक 'गौड पार्टिक्लस' की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार लेते हैं। 'हिस्टोरियोग्राफी' भारतीय दर्शन की दृष्टि से विकसित प्रतीत नहीं होता है। समसामयिक संदर्भ में 'माया' की अवधारणा पर लम्बी बहस एक तरह से उबाऊ प्रतीत होता है। मैं यह मानता हूँ कि वेदान्त दर्शन भारतीय दर्शन की परम्परा में एक सशक्त चिंतन की परम्परा है। उपनिषद् के दर्शन का व्यवस्थित एवं सारयुक्त विवेचन वेदान्त दर्शन

में ही पाया जाता है। शंकर का अद्वैत दर्शन वेदान्त का सार है। मेरी मान्यता है कि ब्रह्म इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत ही उभरता है। जब इतिहासांत होता है तब ब्रह्म की सत्ता की आवश्यकता होती है।

मेरी समझ बन रही है कि उच्चत्तर स्तर पर इतिहास का कोई अस्तित्व या प्रासंगिकता वेदान्त दर्शन में नहीं है। इतिहास का अपने आप में पारमार्थिक स्तर पर कोई महत्त्व नहीं है। 'अन्टोलोजी' इतिहास को नकार देता है। यह सत्य है कि इतिहास तो जगत् के अन्दर ही कार्य करता है। जगत् की तात्त्विक दृष्टि से कोई सत्यता नहीं है। इसलिए इतिहास बोध की बात करना उचित नहीं है। इसलिए काल का अस्तित्व समाप्त हो जाने पर इतिहास का अस्तित्व भी समाप्त हो जायेगा, क्योंकि इतिहास तो काल के अन्तर्गत चलता है। अब प्रश्न उठता है कि क्या काल समाप्त होता है? फिर यदि काल समाप्त हो जाता है तो सृष्टि, विकास एवं विनाश तथा पुनः सृष्टि, विकास एवं विनाश चक्रक की विश्व प्रक्रिया कैसे चलती है। चक्रक इतिहास की अवधारणा भारतीय अवधारणा है। क्या शांकर वेदान्त इस चक्रक ऐतिहासिक प्रक्रिया को नकार देता है? क्या अपरोक्षानुभूति ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत होती है या उस प्रक्रिया के बाहर। शंकर के अनुसार काल गौण है जिसका आश्रय कोई 'ऑनटोलिजक रियलिटी' नहीं है। इतिहास जीवन एवं जगत् की प्रक्रिया है। जीवन जगत् काल सापेक्ष है, काल आबद्ध है। काल ही एक ऐसी धुरी है जिसके अन्तर्गत इतिहास की प्रक्रिया चलती है। अब प्रश्न उठता है कि इतिहास प्रक्रिया यदि किसी भी 'ऑनटोलिजकल सत्ता (Ontological Reality) से वंचित है तो उसका कोई तात्त्विक समर्थन नहीं है तो वह जीवन के अन्य तत्त्वों की तरह वह भी एक तत्त्व है। उसकी भी सापेक्ष सत्ता है। शंकराचार्य का मानना है कि व्यक्ति को ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत मोक्ष की प्राप्ति की परिकल्पन्ना से् बचना चाहिए क्योंकि मोक्ष ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत संभव नहीं है। वेदान्त की मान्यता है कि इतिहास का यदि कोई तात्त्विक आधार (Ontological basis) नहीं है तो वह कुछ कालखंड में अपना अस्तित्व खो बैठेगा। इतिहास का अन्त असंभावी है, यदि तात्त्विक आधार नहीं है। यद्यपि कि उत्तर–आधुनिक दार्शनिक फूकूयामा ने 'इतिहास के अन्त' की बात की है। उनका संदर्भ शंकर की तरह तत्त्वचिंतन या तात्त्विक आधारहीनता के कारण इतिहासांत की बात फूकूयामा नहीं सोचते हैं। इतिहासांत का अर्थ फूकूयामा के अनुसार 'आदर्शों' का अन्त है। आदर्श ऐतिहासिक प्रक्रिया में निर्मित होते हैं। आदर्श का अन्त (The end of Ideology) से अर्थ फूकूयामा ने इतिहास अंत को समझा है। उत्तर–आधुनिक दार्शनिकों ने इतिहासांत की बात 20वीं शताब्दी में कही है। मैंने यहाँ इतिहासांत का अर्थ व्यावहारिक सत्ता के अवसान तथा पारमार्थिक सत्ता के अभ्युदय से समझा है।

शंकराचार्य के इतिहास बोध के अनुसार मानव अज्ञानता के एक छोर पर खड़ा है। जबतक मानव इतिहास की यथार्थता को मानकर, जबतक ऐतिहासिक प्रक्रिया को यथार्थ मानकर मुक्ति के लिए प्रयास करता है, ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत मुक्ति नहीं मिल सकती है। यही कारण है कि शंकर ने इतिहास को दोयम दर्जे पर रखा है। इतिहास तथा उसकी आन्तरिक गत्यात्मकता को द्वितीय स्थान दिया गया है।

हम शंकराचार्य के इतिहास बोध पर जो आक्षेप लगाते हैं उनकी समीक्षा प्रस्तुत करेंगे। अल्बर्ट श्वायजनर ने अपनी पुस्तक 'इंडियन थॉट एण्ड इट्स डेवलपमेंट' में बतलाया है कि वेदान्त में इतिहास की अवधारणा संबंधी विचार स्पष्ट है क्योंकि उन्होंने इतिहास को गल्प माना है। इतिहास भ्रम है। इस तरह से श्वाटजर का आक्षेप है कि शंकराचार्य के इतिहास विचार जीवन और जगत् को नकारनेवाला दर्शन है। शंकराचार्य का विश्व–विचार या इतिहास विचार जीवन एवं जगत् के प्रति निषेधात्मक है क्योंकि ऐतिहासिक प्रक्रिया गल्प है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि श्वाट्जर का ऐसा अभिमत भारतीय दर्शन परम्परा एवं धर्मिक स्थापनाओं के प्रति न्यायपूर्ण दृष्टिकोण नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः शंकराचार्य ने ऐतिहासिक प्रक्रिया एवं जीवन–जगत् की सत्ता को व्यावहारिक दृष्टि से सत्य माना है। परन्तु पारमार्थिक दृष्टिकोण से इतिहास सत्य नहीं है। अब हम कहना चाहेंगे कि पारमार्थिक दृष्टि से ऐतिहासिक प्रक्रिया असत्य है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ऐतिहासिक प्रक्रिया सत्य है। जगत् ब्रह्म पर आश्रित नहीं है। जगत् की सत्ता ब्रह्म में अवस्थित नहीं है। जिन्हें चरमतत्त्व का ज्ञान नहीं है उनको ऐतिहासिक प्रक्रिया को अयथार्थ कहने का कोई नैतिक दायित्व नहीं बनता है। ब्रह्म का ज्ञान नहीं है, इतिहास के परे हम नहीं गये हैं तबतक ऐतिहासिक प्रक्रिया को झूठला देना सही नहीं है। मेरी अपनी समझ है कि ब्रह्म ऐतिहासिक प्रक्रिया का अन्तिम बिन्दु है। प्रक्रिया के अंत पर ब्रह्म का अभ्युदय होता है। इतिहास परा इतिहास बन जाता है। अतः श्वाट्जर की आलोचना की जगत् माया है, विश्व असत्य है और संसार भ्रम है, ऐतिहासिक प्रक्रिया अयथार्थ है, कहना कहाँ तक उचित है। माध्यमिक दर्शन वेदान्त की तरह सत्ता को दो स्तर पर समझता है। जगत् की सत्ता सापेक्ष है और वह ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत है। व्यावहारिक जीवन एवं ऐतिहासिक प्रक्रिया एक दृष्टि से यथार्थ है। श्वाट्जर का यह कहना कि वेदान्त का इतिहास बोध निषेधात्मक है, यह पूर्ण सत्य नहीं है। राधकृष्णन ने अपनी पुस्तक 'इर्स्टन रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट' में श्वाट्जर के मत का खंडन किया है। वेदान्त का जीवन एवं जगत् के प्रति दृष्टिकोण निषेधात्मक नहीं कहा जा सकता है। इसलिए इतिहास को भी गल्प नहीं कहा जा सकता है। ऐतिहासिक प्रक्रिया अन्तहीन है। अन्तहीन प्रक्रिया अर्थहीन हो, यह जरूरी नहीं। अन्तहीन प्रक्रिया तभी अर्थवान होती है जब वह तात्विक सत्ता को आधार के रूप में मान लेती है।

चर्चा को आगे बढ़ाते हुए हम कह सकते हैं कि शांकर वेदान्त जीवन एवं जगत् तथा ऐतिहासिक प्रक्रिया को नकार देते हैं। तात्त्विक दृष्टि से ऐतिहासिक प्रक्रिया गल्प हो जाती है। जीवन एवं जगत् परिवर्तनशील है, सापेक्ष है, संघर्ष एवं विरोधाभास से युक्त है। तनाव से परिपूर्ण है। संवृत्ति सत्य नाम–रूप युक्त है। परमार्थ सत्य संवृत्ति सत्य का विरोधी नहीं है। मोक्ष ज्ञान तो इतिहास प्रक्रिया से उपर जाने पर ही संभव है। दिक्–काल की सत्ता से परे जाने पर ही मुक्ति संभव है। बंधन से मुक्ति ऐतिहासिक प्रक्रिया में संभव नहीं। ऐसा विचार शंकराचार्य का है। इतिहास का एक व्यावहारिक महत्त्व है। प्रोफेसर जिमर (Prof. Zimmer) ने अपनी पुस्तक 'फिलासफीज ऑफ इण्डिया' में शाश्वत एवं चिरन्तन सत्ता की बात करते हैं। वेदान्त जीवन, सुख, सफलता, राजनीति, अर्थशास्त्र और ऐतिहासिक एवं कालिक यथार्थों के बारे में बहुत कुछ कहता

है। परन्तु तात्त्विक सत्ता से संगति रखते हुए चिरन्तन दर्शन प्रतिपादन करना जिसका लक्ष्य है वह ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत ही मुक्ति की प्राप्ति की कल्पना करता है। इसलिए शंकराचार्य ने उत्तर–ऐतिहासिक तात्त्विक सत्ता का दर्शन प्रतिपादित किया। उत्तर–ऐतिहासिकता वस्तुतः इतिहास को नकारना नहीं है। इसलिए हमें शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त को ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत ही समझना है तथा मोक्ष के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उत्तर–ऐतिहासिक अवस्था तक पहुँचना है। श्वाट्ज़र का यह मत कि जीवन एवं जगत् को नकारने वाला शंकराचार्य का दर्शन मायावादी है, उचित आक्षेप प्रतीत नहीं होता है। यह तथ्य है कि मानव चाहे वह भारतीय हो या पश्चिमी इतिहास प्रक्रिया से परे वह जीवन–यापन नहीं कर सकता है। जीवन से मृत्यु पर्यन्त उसे ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत ही रहना है। दार्शनिक यह नहीं कह सकता कि इतिहास की प्रक्रिया या इतिहास झूठा है। हम चाहे या न चाहें ऐतिहासिक प्रक्रिया से हमें गुजरना है। प्रो॰ मर्शिया इलियाडे के शब्दों में हमें एक बिन्दु की तरफ संकेत करना है जो गलतफहमी से भरी पश्चिमी अवधारणा है और भारत के बारे में गलत बनी अवधारणा है। वैश्विक भ्रम (Cosmic Illusion) तथा तात्त्विक सत्ता (Ontological Being) की खोज जीवन एवं जगत् के मूल्यों को नकारता या अवमूल्यित कर नहीं देखता है। भारतीय दर्शन में जीवन और जगत् के यथार्थ को शून्य की गर्त में नहीं डाल दिया जाता है। इलियाडे का कहना है कि हमें इस बात को समझना चाहिए कि किसी भी संस्कृति एवं सभ्यता से अधिक जीवन और जगत् के प्रति आदर भारतीय जीवन दृष्टि में पाया जाता है। माया कोई 'एबसर्ड' अवधरणा नहीं है। इस 'माया' शब्द को लेकर पश्चिमी दार्शनिक बिना समझे भारतीय दर्शन को जीवन और जगत् से विमुखता की बात करने लगते हैं। भारतीय दर्शन में माया एक दैविक शक्ति है। इस दैविक शक्ति को समझने का अर्थ जगत् की तिलांजलि देना नहीं है। सिर्फ इसका अर्थ है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया का कोई तात्त्विक आधार होना चाहिए। ऐतिहासिक प्रक्रिया का कोई तात्त्विक यथार्थ है। परन्तु जब एक हिन्दू इस तथ्य को समझ जाता है तो जीवन और जगत् का परित्याग नहीं कर देता है। यदि ऐसा होता तो भारत का अंत बहुत पहले हो गया होता। इतिहास के पन्नों से भारत मिट गया होता। आज 'माया' को भारतीय स्वीकारते हैं किंतु जगत् जीवन से विमुख नहीं है।[3]

वेदांतीय इतिहास के विरोधाभास की व्याख्या करते समय मैं यह मान लेता हूँ कि इतिहास चक्रक है और चिरंतन है। इतिहासांत का तात्पर्य है व्यवहारिक सत्ता की घटनाओं एवं जगत् की प्रक्रियाओं का अंत। पश्चिमी संस्कृति के पुरोधा एवं इतिहासकार मान कर चलते हैं कि उनकी अवधारणा सबसे अच्छी है। उनके अनुसार इतिहास ईवर की इच्छा और उद्देश्य को जगत् में उतारता है। जैसे ईसामसीह का शूली पर चढने की घटना ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत होती है। ईश्वर ऐतिहासिक प्रक्रिया में हस्तक्षेप करता है और मानवीय क्रिया–कलापों में अपने को संलिप्त करता है और संघर्ष का साक्षी बनता है। इस तरह इतिहास एक पवित्र प्रक्रिया बन जाती है और वह शाश्वत प्रक्रिया है। इतिहास यदि चिरंतन है तो फिर अन्य चीजें कुछ भी नहीं हैं, जिसकी ओर मानव की दृष्टि जा सके। अतः चरम का ज्ञान ऐतिहासिक प्रक्रिया से ही संभव है। परन्तु मानव अभी तक चरम तत्त्व को प्राप्त नहीं कर सका है। उसे इतिहास की प्रक्रिया से ही

अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचना है। ऐतिहासिक प्रक्रिया के अतिरिक्त कोई अन्य प्रक्रिया हो नहीं सकती जिसके माध्यम से मानव उस अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच सके। इतिहास प्रक्रिया के अन्तर्गत ही विकास उभरता है। इतिहास प्रक्रिया के अन्तर्गत ही आदर्श बनते हैं। इतिहास प्रक्रिया के अन्तर्गत ही 'यूटोपिया' का निर्माण होता है। वेदान्त की ऐतिहासिकता का विरोधभास (Paradox of historicism) से हम क्या समझते हैं? ऐसी सभ्यता का इतिहास जो मुख्यतः इतिहास प्रक्रिया में ही बनते–बिगड़ते रहे हैं जिसके अन्दर ऐतिहासिकता रची–बसी है, उन्होंने पूर्णता ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्तर्गत ही प्राप्त की है। वेदांत की ऐतिहासिक प्रक्रिया ऐसी बिन्दू पर पहुँचती है जब इतिहास का ही अंत हो जाता है। हम कहना चाहेंगे कि ऐतिहासिकता का विरोधाभास कोई आकस्मिक घटना नहीं है। विरोधाभास का ज्ञान ऐतिहासिक दृष्टिकोण के विश्लेषण का प्रतिफल है। जैसे ही हम जान लेते हैं कि इतिहास सत्य है, ऐतिहासिक प्रक्रिया यथार्थ है, वैसे ही इतिहास को तथ्य के रूप में मान लिया जाता है तथा ईश्वर के हस्तक्षेप के द्वारा इतिहास प्रक्रिया एक पवित्र प्रक्रिया बन जाती है, तब हमारे पास इतिहास एवं कालिक सत्यता को समझने के लिए कोई 'कैटेगोरी' बचती नहीं है सिवाय ऐतिहासिकता की कैटेगोरी के अतिरिक्त। यदि इतिहास उच्च सत्तात्मक यथार्थ है, इतिहास मूल है तब हम किस सत्ता या कैटेगोरी के सहारे इतिहास को समझेंगे। वैज्ञानिकों की आगमनात्मक विधि की सीमाओं पर हम ध्यान दें। अनुभववादी वैज्ञानिकों के अनुसार, कोई भी सत्ता जिसका अर्थ हम परीक्षण के माध्यम से नहीं प्राप्त करते उनकी सत्ता पर प्रश्नचिन्ह लगता है। बिना सिद्धान्त के विज्ञान नहीं बन सकता। इतिहास को यदि हम चरम सत्ता की तरह मान लें तो ऐतिहासिक प्रक्रिया समझ में नहीं आ सकती। यदि हमारे पास उच्च दृष्टिकोण इतिहास को समझने के लिए नहीं है तो मानव भ्रम का शिकार हो जाता है। ऐतिहासिक प्रक्रिया में हम सदैव अपूर्णता से पूर्णता की यात्रा करते हैं। हेगल के अनुसार इतिहास 'एब्सोल्यूट आइडिया' का ही प्रस्फुटन एवं फैलाव है। हेगल का दार्शनिक विचार कि 'सत्य बौद्धिक और बौद्धिक सत्य है' एक बेतुका सा प्रतीत होता है। हेगल के 'एब्सोल्यूट' को देखने से लगता है कि उन्होंने जगत् में व्याप्त लोभ, दुःख, दुष्टता और क्रूरता जो इतिहास के अन्तर्गत रचा–बसा है, उसे नजरअंदाज कर दिया है। हेगल के चरम सत्ता को मार्च ऑफ ब्लडलेस कैटेगोरिज आलोचकों ने कहा है। 'एब्सोल्यूट' पर नैतिक दृष्टि से कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है। वेदान्त के अनुसार चरम तत्त्व इतिहास का आलम्बन है। चरमसत्ता जीवन एवं इतिहास का आधार है। मनुष्य को शून्यवादी (Nihilist) बनने से रोकता है। दिक्–काल रहित पारमार्थिक सत्ता को अपरोक्षानुभूति से जाना जाता है। वह तात्त्विक सत्ता ऐतिहासिक तथ्यों को जानने का आधार प्रदान करता है।



संदर्भ –

1. *महर्षि वेदव्यास प्रणीत, ब्रह्मसूत्र; गीता प्रेस, गोरखपुर, 2009द्ध प्रथम अध्याय, 1/1/2*
2. *We ought, however, to point out one misnuderstaning which distorts the western picture of India and of Indian spirituality. It is not at all the case that the discovery of the cosmic illusion and the metaphysical quest of Being express themselves, in India, by a total devaluation of like or belief in a universal vacuity. We are now*

beginning to realise that, perhaps more than any other civilizations, that of India loves and reverence life, and enjoys it at every level for Maya is not an absured and gratitutious cosmic illusion, it knows nothing of the absurdity that certain European philosophers accribe to human existence as they conceive it, issuing out of Nothingness and proceeding to Nothingness. For Indian thought, Maya is a divine cre ation, a cosmic play, of which the end and aim is a human experience, as well as deliverance from the experience. It follows that to become conscious of the cosmic illusion does not mean in India, the discovery that all is Nothingness, but simply that no experience in the world or of history has any ontological validity and, thefefore, that our human conditions ought not to be regarded as an end in itself. But when he has come to consciousness of this, the Hindu does not withdraw from the world; if he did India would long ago have disappeared from History, for the conception of Maya is accepted by the greater majority of Indians."

3. *Mircea Eliade; Myths, Dreams and Mysteries, New York, Harper & Brothers, 1960, p. 241.*

4

अद्वैत वेदान्तीय प्रमाणमीमांसीय विमर्श

अद्वैत वेदान्त की तर्कना-पद्धति

सुचेता शुक्ला

अद्वैत वेदान्त में विश्व की मौलिक एकता दृष्टिगोचर होती है, अतएव ब्रह्म की कल्पना जगत् के मूल उपादान के रूप में हुई है। ऐन्द्रिक प्रतिभासों से सूचित एवं मानसिक विकल्पों से परिभाषित दृश्यमान जगत् का अन्ततः विलय ब्रह्मानुभूति में होता है। ब्रह्म के विषय में श्रुति प्रबल प्रमाण है क्योंकि श्रुतिवाक्य ऋषियों के ब्रह्मविषयक स्वानुभव की शाब्दिक अनुभूति है। अद्वैतिक विचार की स्थापना में श्रुति, तर्क एवं अनुभव परस्पर विरोधी न होकर अपितु सहयोगी हैं। तर्क को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है– श्रुत्यनुकूल अथवा सुतर्क एवं श्रुतिप्रतिकूल तर्क अथवा कुतर्क जो केवल वितण्डा के लिए प्रयुक्त होता है। सुतर्क ग्राह्य है जबकि कुतर्क अप्रतिष्ठित है। श्रुति की अपेक्षा युक्ति अनुभव के अधिक निकट होती है (युक्तिरनुभवस्य सन्निकृष्यते)। यदि सैकड़ों श्रुतियाँ भी अग्नि को शीतल और अप्रकाश बताये तो भी अनुभव विरुद्ध होने के कारण उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता (न हि श्रुतिशतमपि शीतोऽग्निरप्रकाशो वेति ब्रुवत् प्रामाण्यमुपैति)। व्यवहार में सुतर्क प्रतिष्ठित और प्रामाणिक है। यह नहीं कहा जा सकता कि तर्कमात्र अप्रतिष्ठित है, क्योंकि तर्क का अप्रतिष्ठित्व भी तर्क द्वारा ही प्रतिष्ठित किया जाता है।[1] तर्क या बुद्धि का साम्राज्य व्यवहार तक ही सीमित है, परमार्थ में उसकी गति नहीं है। अतः बुद्धि अपनी सीमा का ज्ञान करके अपरोक्षानुभूति की ओर संकेत करती है जो ज्ञातृ–ज्ञेय–भेदरहित विशुद्ध चैतन्य है। ब्रह्मज्ञान का अवसान इसी स्वानुभव में होता है। तार्किक ज्ञान ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञात विषय के परस्पर भेद को प्रकट करता है (अविद्याकल्पितं वेद्यवेदितृवेदनाभेदम्) किन्तु यथार्थसत्ता इन सब भेदों से मुक्त है। यदि यथार्थ सत्ता में सम्बन्धों का प्रवेश नहीं है तो ऐसा विचार अथवा ज्ञान जो सम्बन्धों पर अवलम्बित होता है अपूर्ण है। तार्किक ज्ञान अविद्या है क्योंकि यह वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को प्रकट नहीं करता है। यथार्थ स्वरूप आत्मा जो विशुद्ध चैतन्य है ज्ञान का विषय नहीं है। यह आत्मा कभी भी विषयी अर्थात् ज्ञान की प्रक्रिया का विषय नहीं हो सकती है। अतः तर्कपूर्ण विचार चाहे कितना भी विस्तृत क्यों न हो हमें यथार्थ सत्ता के बोधग्रहण की ओर नहीं ले जा सकता है।

शंकराचार्य एक आन्तरिक दृष्टि रूप चेतनता की यथार्थता को मानते हैं जिसे वे अनुभव (अनुभूति) कहते हैं और यहाँ विषयी एवं विषय का भेद तिरोहित हो जाता है तथा सर्वोपरि आत्मा के सत्य का साक्षात्कार होता है। श्रुति का उद्देश्य यह है कि ऐसे ज्ञान जो साधारण साधनों के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता हमें प्रदान करें।[2] वेदान्त का आशय आत्मा के एकत्व की शिक्षा देना है। हमारा समस्त ज्ञान जिसमें विषयी तथा विषय का द्वैतभाव होता है, वह ब्रह्म के साक्षात्कार में बाधास्वरूप है। श्रुति को मानने का तात्पर्य है ऋषियों के साक्षित्व को स्वीकार करना है। शंकराचार्य श्रुति के विचारों की तर्क द्वारा परीक्षा की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं और उन्हें जहाँ कहीं अवसर मिलता है इन विचारों को तार्किक युक्तियों के द्वारा समर्थित एवं प्रमाणित करने

दर्शन विभाग, दयानन्द गर्ल्स स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कानपुर (उ.प्र.)

का भी प्रयास करते हैं। उनके लिए तर्क एक समीक्षात्मक शास्त्र है जिसका प्रयोग अपरीक्षित धारणाओं के विरुद्ध किया जाता है और तर्क एक रचनात्मक तत्त्व भी है जो सत्य सम्बन्धी तथ्यों का चुनाव करता है और उनके ऊपर बल देता है। अनुभव एक ऐसी महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक अनुभूति है और एकमात्र श्रुति ही इसका लिखित संहिताग्रन्थ है। अनुभव की पृष्ठभूमि के बिना श्रुति का कथन अर्थविहीन केवल शब्दमात्र है। श्रुतिमात्र प्रत्यक्ष की साक्षी की अपेक्षा श्रेष्ठतर नहीं है किन्तु वही श्रुति जिसका निश्चित तात्पर्य है श्रेष्ठ (तात्पर्यवती श्रुतिः प्रत्यक्षाद् बलवती न श्रुतिमात्रम्)। निःसंदेह श्रुति को अनुभव के अनुकूल होना चाहिए और वह अनुभव का अतिक्रमण नहीं कर सकती है। श्रुति का प्रामाण्य भी इसी तथ्य पर आधारित है कि यह केवल अनुभव का ही आख्यान है और चूंकि अनुभव आत्म परिचय रूप होता है इसलिए वेदों को स्वतः प्रमाण कहा गया है, जिन्हें बाहर से किसी के समर्थन की आवश्यकता नहीं है (प्रामाण्यं निरपेक्षम्)।

अद्वैत साहित्य में तर्क अथवा युक्ति को यदाकदा अप्रतिष्ठित और व्यर्थ बताया जाता है (तर्काप्रतिष्ठानात्)। इस आधार पर कुछ आलोचकों का कहना है अद्वैत की दार्शनिक प्रणाली युक्तिहीन और रहस्यवादी है जो कि भ्रान्तिमूलक है क्योंकि शंकराचार्य का कहना कि तर्क अप्रतिष्ठित है, इस वाक्य में तर्क के एक विशेष अर्थ की ही अव्यवस्था है। सब तर्कों की अप्रतिष्ठा से तो लोक व्यवहार का ही उच्छेद हो जाएगा– सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च लोकव्यवहारोच्छेद प्रसंगः। यदि कोई कहे कि अद्वैत वेदान्त तर्क से श्रुति को अधिक महत्त्व देता है तो फिर शंकराचार्य का कथन होगा कि तर्क श्रुति का ज्ञापक होने के कारण बलवत्तर है क्योंकि जब श्रुतियों का संघर्ष होता है तो उसका निराकरण तर्क ही करता है। पुनश्च श्रुत्यर्थ का निरूपण भी तर्क द्वारा ही होता है। अतः यद्यपि तर्क श्रुति का अनुग्रहित है तो भी वह श्रुति से बलवान स्वतंत्र प्रमाण है और इतना ही नहीं कुछ विषयों में तो तर्कमात्र ही प्रमाण होता है। श्रुति, प्रत्यक्ष आदि का वहाँ अवकाश भी नहीं रहता है (क्वचिद् विषये तर्कस्य प्रतिष्ठित्वम् उपलक्ष्यते)। युक्ति अनुभव और अपने उत्थापित ज्ञान के आधार पर तत्त्व चिंतन करती है जिसके खण्डन एवं मण्डन–प्रतिषेध और विधायक दो पहलू हैं। हम पहले अद्वैत प्रणाली के प्रतिषेधक तर्क को विवेचित करेंगे जिसके अन्तर्गत तीन विभिन्न युक्तियों या न्याय का प्रयोग होता है– (1) चतुष्कोटिक न्याय, (2) द्विकोटिक न्याय, (3) एककोटिक न्याय। इन तीनों न्यायों द्वारा प्रधानतः पर मत का खण्डन किया जाता है तो गौणतः स्वमत का मण्डन भी अपेक्षित रहता है। चतुष्कोटिक न्याय प्रणाली का पूर्ण विकास सर्वप्रथम नागार्जुन के दर्शन में हुआ और इस कारण से कुछ लोग उसको बौद्ध प्रणाली समझते हैं किन्तु माण्डूक्योपनिषद् में भी इस प्रणाली का प्रयोग है। आत्मा न आभ्यान्तर ज्ञान है, न वाह्य, न दोनों और न ज्ञान विशेष का पुंज (नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्)। अतः इस प्रकार आभ्यान्तर, बहिः, उभय तथा अनुभय–कोटियाँ उपनिषद् में प्राप्त हैं। गौड़पाद ने भी चतुष्कोटिक न्याय का प्रयोग आत्मा के सन्दर्भ में किया है। अस्तिवाद, नास्तिवाद, अस्ति–नास्ति–उभयवाद और अस्ति–नास्ति–नास्तिवाद के रूप में चारों मत आत्मा के विषय में प्रचलित हैं। अस्ति, नास्ति, उभय और नोभय ही चार कोटियाँ हैं। अस्तिभाव का आशय है आत्मा चल है, नास्तिभाव का निहितार्थ है आत्मा स्थिर है। उभयभाव का तात्पर्य है आत्मा चल एवं स्थिर, सत् और असत् दोनों है। आत्मा का अत्यन्त अभाव है– यह चतुर्थवाद है, किन्तु आत्मा इन चारों

कोटियों से अस्पृष्ट है और जो इस तथ्य को जानता है उसी को सत्य का ज्ञान है (अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः। चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः।। कोट्यश्चतस एतास्तु ग्रहैर्यासां सहावृतः। भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्।।)। द्विकोटिक न्याय चतुष्कोटि न्याय का ही सूक्ष्म संस्करण है। इसमें प्रायः किसी पदार्थ के सत् एवं असत् इन्हीं दोनों पहलुओं पर या किन्हीं दो परस्पर विरोधी भावों पर विचार किया जाता है तथा माया सत् है न असत्, न ज्ञान है न अज्ञान, न भाव न अभाव, अपितु वह इन दोनों से परे अनिर्वचनीयता की कोटि है। शंकराचार्य ने इस प्रणाली का प्रयोग परमत के खण्डन में उभयतोपाश के रूप में किया और यहाँ वे उभयतोपाश की दोनों कोटियों या विकल्प का निषेध करते हैं। एककोटिक न्याय को प्रायः नेति की प्रणाली कहा जाता है और इसे ही अध्यारोप एवं अपवाद की पद्धति भी कहा जाता है। अध्यारोप एवं अपवाद द्वारा ही निष्प्रपञ्च का निरूपण किया जाता है (अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते)। इस विधि में हम पहले किसी वस्तु को सत् मान लेते हैं और बाद में युक्ति द्वारा इसको असत् सिद्ध करके किसी दूसरी वस्तु को सत् मानते हैं। अतः इस प्रकार समस्त वस्तुएँ जिन्हें क्रमशः सत् मानते रहते हैं असत् सिद्ध की जाती है। आत्मा का निरूपण प्रायः इस विधि से किया जाता है। प्रारम्भ में शरीर को ही आत्मा माना जाता है किन्तु सूक्ष्म चिन्तन एवं विश्लेषण के उपरान्त यह बोधित होता है कि परिवर्तनशील एवं नश्वर शरीर आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा सदैव विद्यमान एवं एकरूप है। इसी प्रकार हम क्रमशः इन्द्रिय, मन, अन्तःकरण, बुद्धि, विज्ञान, आनन्द आदि को आत्मा मानकर खण्डन करते हैं कि आत्मा इनमें से कोई भी संभव नहीं हो सकती है। अतः हम नेति–नेति विधि से आत्मा सिद्ध करते हैं। यहाँ साध्य एवं साधन की, विधेय और विधि की, सिद्धान्त तथा प्रणाली की एकरूपता ज्ञात होती है। वस्तुतः जो तर्क या उपाय सबका खण्डन करता है वह परमार्थ सत् एवं उपेय है।[3]

श्रुति तर्क–शत्रु नहीं अपितु तर्क–मित्र है। वह लौकिक दृष्टान्तों से उस ज्ञान को बतलाती है जो केवल तर्क से संभव नहीं। वस्तुतः श्रुति यौक्तिक एवं प्रातिभ ज्ञानों का वाङ्मय में सुरक्षित पुंज है। युक्ति की भांति श्रुति या प्रातिभ की भी सीमा है। वह तर्क विरुद्ध कथन का प्रतिपादन नहीं कर सकती है। अतः श्रुति केवल तर्कोर्ध्व तथा तर्क–सम्मत वस्तु का ही ज्ञान है। श्रुतियों का तात्पर्य निर्धारण एक महत्त्वपूर्ण समस्या है क्योंकि वे कभी–कभी परस्पर विरोधी कथन प्रतिपादित करती है यथा परमार्थ सत् आत्मा या ब्रह्म है तो इसके विपरीत परमार्थ सत् में नानात्व एवं वैविध्य है। अद्वैत के आचार्यों का कहना है कि सभी श्रुति कथनों का पहले विश्लेषण करना चाहिए अर्थात् यह देखना चाहिए कि उनका अर्थ अभिधेय है या लाक्षणिक। हम सर्वप्रथम किसी भी कथन के प्रधान (अभिधा) या गौण (लक्षणा) अर्थ जानने का प्रयास करते हैं तत्पश्चात् सभी अर्थों पर मनन द्वारा उसके साम्य एवं वैषम्य पर विचार करके हमें उनमें सामंजस्य स्थापित करना चाहिए। उपनिषद् में पारमार्थिक सत् के रूप में अभेद ब्रह्म की स्थापना अनेक स्थलों में की गई है किन्तु अनेक ऐसे कथन भी है जो भेद अथवा वैपुल्य को स्वीकृति प्रदान करते हैं। अद्वैत वेदान्त इनमें सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है जिसे 'इववाद' से अभिहित किया जाता है। आत्मा एक परमार्थ सत् अथवा अद्वितीय तत्त्व है जो कि कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता, दृष्टा कुछ नहीं है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह कर्त्ता भोक्तादि है। आत्मा को इसी प्रकार जब अन्नमय, विज्ञानमय

आदि कहा जाता है तो आत्मा के ही किसी उपलक्षण का वर्णन होता है। उपाधियों के कारण तत्त्व एक होते हुए भी अनेक प्रतीत होता है, अतएव उपाधियों से ग्रहित तत्त्व पारमार्थिक नहीं है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि आत्मा के उपलक्षण हैं जो कि वास्तविक न होकर अपितु आलंकारिक वर्णनमात्र है जिसे इववाद कहते हैं।[4] उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अद्वैत दर्शन की प्रणाली में अनुभव यौक्तिक है और युक्ति आनुभविक है। अनुभव एवं युक्ति को श्रुतिसम्मत होना चाहिए और श्रुति को आनुभविक एवं यौक्तिक। यदि अनुभव एवं युक्ति श्रुतिसम्मत नहीं है तो कोई विशेष क्षति नहीं पर श्रुति को अवश्य अनुभव एवं युक्ति के अनुकूल होना चाहिए, अन्यथा अनर्थ की आशंका होती है। अद्वैत प्रणाली का मेरुदण्ड युक्ति तथा अनुभव है। अतः यह कहने में कोई संकोच नहीं कि अनुभवहीन युक्ति सावद्य है और युक्तिहीन अनुभव अंधविश्वास है।

अद्वैत वेदान्त में अत्यन्त ही सुव्यवस्थित तर्कना–पद्धति गौडपादाचार्य, शंकराचार्य, मण्डन मिश्र, श्रीहर्ष, चित्सुख एवं मधुसूदन सरस्वती आदि के दर्शन में परिलक्षित होती है। गौडपाद के जीवन–काल तक भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों का पर्याप्त विकास हो चुका था, अतः खण्डन–मण्डन की प्रक्रिया में तर्क का आश्रय लेना स्वाभाविक था। द्वन्द्वन्याय तर्क की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा परमतत्त्व का ज्ञान होता है। वे इसके द्वारा एक ओर अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन करते हैं तो वहीं दूसरी ओर इसके द्वारा जगत् के अजातिवाद की सिद्धि होती है। नागार्जुन ने समस्त पदार्थों का निषेध कर द्वन्द्वन्याय का एकपक्षीय प्रयोग किया, किन्तु वे किसी समन्वयकारी परमतत्त्व को नहीं खोज पाते हैं। गौडपाद का अद्वैत इसके विपरीत वह परम सत् (ब्रह्म) है जिसमें समस्त नानात्व समाहित हो जाते हैं और उसका किसी से विरोध नहीं होता (परस्परं विरुद्धन्ते तैरयं न विरुद्धते–गौडपाद कारिका 3–17)। कोई भी वस्तु न तो परमतत्त्व से पृथक् है और न अपृथक् है (न पृथक् नापृथक् किंचित)। यह सब आभास मात्र है। जगत् के नानात्व को आभास सिद्ध करने के लिए गौडपाद उसकी तुलना स्वप्न से करते हैं। स्वप्न मनःकल्पित है, इसलिए मिथ्या है, वैसे ही जगत् भी मनःकल्पित और मिथ्या है। ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म जगत् का कारण है, किन्तु गौडपाद का द्वन्द्वन्याय न जगत् की सत्ता मानता है और न ही ब्रह्म उसका कारण हो सकता है। अजन्मा ब्रह्म से कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि अजन्मा से किसी वस्तु के जन्म का कोई दृष्टान्त हमें प्राप्य नहीं है।

शंकराचार्य ने द्वन्द्वन्याय का प्रयोग स्वमत के प्रतिपादन में नहीं किया, अपितु वे उसको मात्र परमत के खण्डन में प्रयुक्त करते हैं। वे उपनिषद् को स्वतः प्रमाण स्वीकार करते हैं और यदि कहीं उपनिषदों के मुख्य प्रतिपाद्य विषय से भिन्न कोई मत भ्रम उत्पन्न करता है तो वे तर्क का आश्रय लेकर उनके मध्य एकरूपता स्थापित करते हैं, अर्थात् यदि उपनिषदों के वचनों में विरोध परिलक्षित हो तो वे तर्कों के द्वारा अद्वैतपरक अर्थ निर्धारित करते हैं। ब्रह्मसूत्र में 'तर्काप्रतिष्ठानात्' पर भाष्य लिखते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि श्रुति का आश्रय लिए बिना केवल पुरुष कल्पनामूलक तर्क प्रतिष्ठित नहीं होता (निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठा भवन्ति)। लोक व्यवहार में भले ही तर्क उपयोगी हो अथवा प्रतिष्ठित हो किन्तु पारमार्थिक सत् में तर्क का निर्णय अन्तिम नहीं हो सकता है। वे जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए कभी उस प्रकार तर्कों का प्रयोग नहीं करते जैसा गौडपाद या माध्यमिक करते हैं। उनकी दृष्टि में इतना

ही तर्क पर्याप्त है कि यदि ब्रह्म की एक मात्र पारमार्थिक सत्ता है तो समस्त शेष नानात्व मिथ्या ही होना चाहिए। वे अपने तर्कों के माध्यम से जगत्–मिथ्यात्व को सिद्ध करने के अपेक्षा उनका प्रयोग उन सिद्धान्तों (मतों) के खण्डन में करते हैं जो जगत् को यथार्थ मानते हैं। वे उनके मत में स्वतः व्याघात प्रदर्शित करके अप्रतिष्ठित घोषित कर देते हैं। तर्क की सर्वोत्तम एवं प्रभावशाली पद्धति यही हो सकती है कि प्रतिवादी तर्क के जिस अस्त्र का प्रयोग करें उसी के द्वारा उन्हीं के मतों का खण्डन किया जाए। अतः शंकराचार्य के द्वन्द्वन्याय का यही प्रयोजन है।

शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त के आचार्यों की एक विशाल परम्परा है जो तार्किक विधि का प्रयोग अद्वैत सिद्धि में करते हैं। हम विस्तारभयात् अपनी विवेचना को श्रीहर्ष एवं मधुसूदन सरस्वती तक ही सीमित रखेंगे। श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य में मुख्यरूपेण न्यायसूत्रों का खण्डन किया है। नैयायिकों के अनुसार सोलह पदार्थ माने गये हैं जिसे वे परमार्थ सत् कहते हैं जो प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदि को समाहित करता है। श्रीहर्ष ने इनकी सत्ता का निषेध किया है। उनका मुख्य पूर्वपक्षी यद्यपि न्याय दर्शन है, किन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त द्वन्द्वन्याय समस्त विरोधी मतों के खण्डन में सक्षम है। मण्डन मिश्र के भांति श्रीहर्ष भी प्रत्यक्षादि में भासित होने वाले द्वैत का खण्डन करते हैं। प्रत्यक्ष में घट–पटादि का जो बोध होता है, उसे अद्वैत श्रुतियों का बाधक कहा जाता है। प्रत्यक्ष आधारित वस्तुगत भेद के विनिश्चय का आधार– (1) वस्तु का स्वरूप (2) अन्योन्याभात्ररूप (3) विरोधी धर्म एवं (4) पृथकत्व हो सकता है। श्रीहर्ष इन चारों विकल्पों पर विचार करते हुए उनका खण्डन करते हैं। प्रथम विकल्प के अनुसार यदि भेद वस्तुरूप ही हो (भेदस्वरूप) तो घट में ही पट भी प्रविष्ट हुआ दिखाई देना चाहिए। यदि कदाचित् ऐसा सम्भव हो, तो भेद की अपेक्षा घट–पट का अभेद ही हुआ।[5] यदि यह कहा जाए कि घट से पट भिन्न है, दोनों एक ही नहीं है, तो यह विचार करना होगा कि यह "भिन्नता" क्या है? क्या "पट से भिन्नता" यह घट का धर्म है? यदि ऐसा ही है तो धर्म–धर्मी में अभेद से अद्वैत ही सिद्ध होगा। पुनः घट में "पट से भिन्नता" का धर्म या लक्षण अपेक्षित भी नहीं है, क्योंकि घट के प्रत्यक्षमात्र से घट का बोध हो जाता है, पट आदि की अपेक्षा नहीं होती है। अतः इससे यह भी सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष गोचर वस्तु से भेद का कोई सम्बन्ध नहीं है, यह सर्वथा भिन्न है (घटादिकमित्येवं भूत प्रतीतेस्तावद् भेद प्रतीतिविलक्षणा)। यदि पदार्थ में स्वरूपगत भेद नहीं है तो अन्योन्याभाव स्वरूप भेद का भी प्रत्याख्यान हो जाता है। अस्तु जिसमें भेद मन्तव्य है, उस प्रतियोगी को विशेषरूप से अपने स्वरूप में अन्योन्याभाव का भी अन्तर्भाव करना होगा तो फिर भेद नहीं रहेगा।[6] वैधर्म्य अर्थात् भेद में विरोधी धर्म तीसरा विकल्प है जिसका श्रीहर्ष खण्डन करते हैं। वैधर्म्य में भेद की सिद्धि के लिए घटत्व–पटत्वादि रूप वैधर्म्य में अन्य वैधर्म्य कल्पित करना होगा जो की अनवस्था दोष से ग्रसित होगा (वैधर्म्ये वैधर्म्य विषान्त्यनवस्थयोः)।

प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद सिद्ध नहीं होता, अतएव भेद मिथ्या है। भेद मिथ्या होने के कारण वे अद्वैत श्रुति का बाध नहीं कर सकते हैं। अनुमानादि प्रमाण प्रत्यक्ष के ही उपजीव्य है, अतः वे अपेक्षाकृत अधिक दुर्बल हैं और अद्वैत का बाध नहीं कर सकते हैं।[7] श्रीहर्ष किसी भी रूप में द्वैत अथवा भेद को नहीं स्वीकार करते हैं ऐसा नहीं है अपितु उसे पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या मानते हैं। वे अपनी तर्कना पद्धति का प्रयोग लक्षण, प्रमाण, करण, व्यवहार आदि में सर्वत्र करते हैं।

सामान्य रूप से लक्षण के द्वारा लक्ष्य की व्यवस्था की जाती है और लक्षण से लक्ष्य रूप अधिकरण के ज्ञात होने पर अन्य भेद निरूपित किये जाते हैं। पृथिवीत्व पृथिवी का लक्षण है और इस प्रकार से जहाँ पृथिवीत्व का प्रत्यक्ष हो उसे पृथिवी मानेंगे। पृथिवी में जलत्व न होने के कारण पृथिवी जल से भिन्न है। श्रीहर्ष ने इसका खण्डन इस रूप में किया है कि लक्षण के ज्ञान से लक्ष्य का ज्ञात होता है। भिन्न–भिन्न लक्ष्यों के पृथक् लक्षण हैं जिससे उनका भेद ज्ञान होता है। यह भी किन्तु सत्य है कि लक्षणों का भी भेद लक्ष्यों की पृथकता से ही होता है। अतः लक्षण से लक्ष्य का और लक्ष्य से लक्षण का ज्ञान आत्माश्रय दोष है। (लक्षणव्यावृत्तिर्लक्ष्याधीना, तदान्योन्याश्रय, लक्ष्यपरतन्त्रलक्षणान्तराधीनत्वे चक्रकं....)। यदि अन्योन्याश्रय दोष से मुक्ति के लिए तृतीय लक्षण मानें तो चक्रक दोष और यदि उसकी निवृत्ति के लिए चतुर्थ लक्षण स्वीकार करें तो अविश्रान्ति दोष उत्पन्न होगा। अतः लक्ष्य–लक्षण की व्यवस्था त्रुटिपूर्ण एवं असंभव है। प्रमा की अनेक प्रचलित परिभाषा भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में प्राप्य हैं यथा 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा', 'यथार्थानुभवः प्रमा', 'सम्यक परिच्छिति', 'अव्यभिचारी अनुभव' आदि जिसका खण्डन श्रीहर्ष करते हैं। 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' के द्वारा प्रमाण को प्रमा के करण (व्यापारवद् असाधारण कारणं करणं) के रूप में परिभाषित किया जाता है। यहाँ पर द्रष्टव्य है कि यदि प्रमा की ही सिद्धि नहीं होती है तो प्रमाण की सिद्धि संभव नहीं है, यद्यपि वे समस्त प्रसिद्ध प्रमाणों का खण्डन पृथक्‌रूपेण करते हैं। वे न्याय–वैशेषिक के यथार्थवादी समस्त सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए जगत् को माया या अनिर्वचनीय मानते हुए ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता को प्रतिपादित करते हैं, और इस कारण से उनका ग्रन्थ–खण्डनखण्डखाद्य अनिर्वचनीयतासर्वस्व भी कहलाता है।

मधुसूदन सरस्वती के दार्शनिक ग्रन्थों में श्रीहर्ष एवं चित्सुख की तार्किक शैली स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। वे अद्वैतसिद्धि में व्यासतीर्थ रचित न्यायामृत का खण्डन करते हैं। व्यासतीर्थ के समक्ष मिथ्यात्व के पंच लक्षण–पद्मपादाचार्य– सत्वासत्वनिधिकरणत्व, प्रकाशात्म मुनि–त्रैकालिकनिषेध प्रतियोगित्व और ज्ञाननिवर्त्यत्व, चित्सुखाचार्य–स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्व और आनन्दबोध–सद्विविक्तत्त्व विचारणीय थे जिसका वे खण्डन करते हैं। मधुसूदन सरस्वती ने व्यासतीर्थ के मिथ्यात्व के खण्डन का खण्डन करके अद्वैत की सिद्धि की है। पद्मपाद के अनुसार 'मिथ्याशब्दोनिर्वचनीयतावचनः'– मिथ्या शब्द अनिर्वचनीयता का वाचक है। व्यासतीर्थ इसे सत्त्व–असत्त्व का अनधिकरणत्व मानकर आलोचना करते हैं। उनके अनुसार इसके तीन संभावित अर्थ होंगे– 1. सत्त्वविशिष्ट असत्व का अभाव 2. सत्त्व का अत्यन्ताभाव और असत्त्व का अत्यन्ताभावरूप धर्म द्वय 3. सत्वात्यन्ताभावविशिष्ट असत्त्वात्यन्ताभावरूप एक धर्म की आधारिता।[8] प्रथम संभावित अर्थ (सत्त्व–विशिष्ट असत्त्व का अभाव) मानने से सिद्ध–साधनता दोष उपस्थित होता है, क्योंकि प्रपंच को केवल सद्‌रूप माना गया है। असत्त्व का अभाव होने से और सत्त्व की विशिष्टता होने से जगत् की सिद्धि होती है। व्यासतीर्थ की यह आलोचना उचित ही है जिसके कारण मधुसूदन इसका विरोध नहीं करते हैं किन्तु वे स्पष्टीकरण देते हुए कहते हैं कि अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व की यह परिभाषा अभिप्रेत नहीं है। द्वितीय अर्थ सत्त्व के अत्यन्ताभाव और असत्त्व के अत्यन्ताभावरूप दो धर्मों की आधारता से मिथ्यात्त्व में यह दोष सम्भव है कि दोनों का एकत्र रहना विरुद्ध है। अतः कहने का आशय यह है कि सत्त्व एवं असत्त्व दो विरोधी भाव

हैं जिनका सहअस्तित्त्व संभव नहीं है। मधुसूदन इसका प्रतिउत्तर इस रूप में देते हैं कि सत्त्व एवं असत्त्व दोनों धर्म एक दूसरे के अभाव नहीं हैं अपितु वे दोनों ही स्वतंत्र भावरूप धर्म हैं। सत्त्व का स्वरूप है त्रिकालाबाध्यत्व अर्थात् जिसका तीनों काल में बाध संभव न हो (त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व)। असत्त्व वह है, जो किसी भी उपाधि से सद्रूप में प्रतीत न हो यथा ब्रह्म सत्त्व एवं आकाश–कुसुम असत्त्व के उदाहरण हैं। प्रपंच में सत्त्व एवं असत्त्व दोनों का अभाव है। तीसरे संभावित अर्थ को भी व्यासतीर्थ दूसरे के भांति व्याघात दोष से ग्रसित स्वीकार करते हैं। जब सत्त्वभाव और असत्त्वभाव एकत्र नहीं रह सकते तो सत्त्वाभावविशिष्ट असत्त्वाभाव कैसे संभव होगा? इसके उत्तर में मधुसूदन कहते हैं कि आपके (व्यासतीर्थ) मत में त्रिकालाबाध्यत्व रूप सत्त्व प्रपंच में सिद्ध नहीं हो सकता है, अतः वहाँ सत्त्वाभाव के रहने में क्या आपत्ति है? शुक्ति–रजत में असत्त्वभाव के रहने पर भी सत्त्व नहीं माना जाता है। ब्रह्म की सद्रूपता प्रपंच में प्रतिभासित होती है, इतने से ही ''घटः सन् पटः सन्'' आदि व्यवहार संभव हो जाता है।[9]

मिथ्यात्व की दूसरी परिभाषा ''त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व'' है। इस परिभाषा में त्रैकालिक निषेध के तीन विकल्प हो सकते हैं– 1. ब्रह्म में प्रपंच का त्रैकालिक अभाव यदि ब्रह्म के समान तात्त्विक है, तब अद्वैत की हानि होगी। 2. प्रपंच का वास्तविक अभाव न मानकर प्रातिभासिक अभाव मानने से सिद्धसाधन दोष उपस्थित होगा। 3. प्रपंच का व्यावहारिक अभाव भी वस्तुतः बाधित ही होता है। अतः बाधित अभाव की प्रतियोगिता प्रपंच में मान लेने से वास्तविक सत्ता का अपहार नहीं होता है, इसलिए सिद्ध साधनता एवं अर्थान्तर दोष घटित होगा। मधुसूदन इसका प्रतिकार करते हुए कहते हैं कि द्वैतवाद का यह आक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि प्रपंच निषेध अधिकरणीभूत ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण निषेध तात्त्विक होने पर भी अद्वैत–घाती नहीं है। तात्त्विक निषेध के प्रतियोगी प्रपंच में तात्त्विकत्व प्रसक्त न होकर कल्पित ही होता है, यथा रजतादि।[10] द्वैतवादी का यह कथन उचित नहीं है कि व्यावहारिक निषेध बाधित होने के कारण प्रपंच की पारमार्थिक सत्ता का विरोधी नहीं, अतः अर्थान्तर दोष है। हम इसके समर्थन में यह तर्क दे सकते हैं कि स्वप्नारोपित गजादि पदार्थों का स्वप्न निषेध के द्वारा बाध देखा जाता है। प्रपंचगत पारमार्थिकता का भ्रम दूर करने के लिए ही मिथ्यात्व–साधक अनुमान प्रयोगों की सर्जना हुई है। मिथ्यात्व की तीसरी विचारणीय परिभाषा ''ज्ञाननिवर्त्यत्व'' है। अपने वर्तमान या प्रविलीन कार्य के सहित अज्ञान की ज्ञान से निवृत्ति बाध है (अज्ञानस्य स्वकार्येण वर्तमानेन प्रविलीनेन वा सह ज्ञानेन निवृत्तिबधिः)। अतः ज्ञान–निवर्त्यत्व ही मिथ्यात्व का लक्षण है। व्यासतीर्थ के अनुसार मिथ्यात्व का यह लक्षण उस ज्ञान में अतिव्याप्ति है जिसकी निवृत्ति अपने उत्तरवर्ती ज्ञान के द्वारा होती है। इसके अतिरिक्त ज्ञानगत निवर्तकता से ज्ञानहीन विवक्षित है अथवा ज्ञानत्व–व्याप्त धर्मेण? एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय बिन्दु है। यदि प्रथम पक्ष के अनुसार ज्ञानत्वेन मानें तो शुक्ति–रजतादि में उसकी अव्याप्ति है, क्योंकि उसके शुक्ति ज्ञान में निवर्तकता अधिष्ठान–साक्षात्कार के द्वारा होती है, ज्ञान के द्वारा नहीं। द्वितीय पक्ष के अनुसार संस्कारों में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि उसकी निवर्तकता स्मृतिरूप ज्ञान में ज्ञानात्व–व्याप्य स्मृतिरूप से होती है। इन आक्षेपों का निवारण करते हुए मधुसूदन कहते हैं कि ज्ञान–निवर्त्यत्व का अर्थ है ज्ञान–प्रयुक्त अवस्थित

सामान्य के अभाव की प्रतियोगिता (ज्ञान प्रयुक्तावस्थिति सामान्यविरह प्रतियोगित्वं ही ज्ञाननिवर्त्यत्वम्)। निवृत्ति का अर्थ अत्यन्ताभाव होता है एवं उसके प्रतियोगी को निवर्त्य कहते हैं। ज्ञान एवं अत्यन्ताभाव का व्याप्य–व्यापक भाव विवक्षित है, अतः ज्ञान का निवर्त्यत्त्व मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व की चौथी परिभाषा स्व आश्रय में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व है। तात्पर्य यह है कि मिथ्या वस्तु का अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमानत्व है। व्यासतीर्थ इसे पूर्वोक्त द्वितीय लक्षण के समान ही मानकर इसे भी निरस्त मान लेते हैं। मधुसूदन का इस स्थल पर प्रतिवाद होगा कि द्वितीय एवं चतुर्थ परिभाषायें एक समान नहीं है, फ़िर भी यदि विपक्ष कोई नये आक्षेप नहीं प्रस्तुत करता तो हम भी उन्हीं उत्तरों को पुनः देने के लिए बाध्य हैं। यदि व्यासतीर्थ यह कहें कि अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमान शश–विषाण आदि भी है, उन्हें भी मिथ्या कहना चाहिए किन्तु वेदान्त उन्हें असत् मानते हैं, मिथ्या या अनिर्वचनीय नहीं; तो ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में केवल प्रतीयमानता नहीं है अपितु सत्त्वेन प्रतीयमानता विवक्षित है। मिथ्यात्व की पांचवीं परिभाषा सद्विविक्तत्त्व है। प्रमाण सिद्ध वस्तु को सत् कहते हैं। अतः प्रमाण सिद्ध वस्तु से भिन्न होने के कारण प्रपंच मिथ्या सिद्ध हो जाता है। व्यासतीर्थ सत्ता के तीन विकल्प को स्वीकार करते हुए उन्हें दोषपूर्ण प्रदर्शित करते हैं। सत्व का अर्थ सत्ता–जाति की अधिकरणता हो सकता है, अबाध्यत्व हो सकता है एवं ब्रह्मरूपत्व भी संभव है। सत्ता–जाति के आधार को सत् मानने से प्रपंच में उसकी अव्याप्ति होगी, क्योंकि जिससे सत्ता–जाति मानी जाएगी वह सत् होगा, सद्विविक्त नहीं होगा। सत्ता–जाति न होने पर सद्विवक्त होगा एवं व्यासतीर्थ के अनुसार अद्वैतवादी भी घटादि में आविद्यक (अवद्यिा–प्रयुक्त) जाति मानते हैं। मधुसूदन की मान्यता है कि घटादि में सत्ता–जाति का भाव अविद्या के कारण अवश्य है, किन्तु वस्तुतः सत्ता में घट है, घट में सत्ता नहीं। द्वितीय विकल्प के अनुसार अबाध्यरूप सत् से भिन्न बाध्य को मिथ्या कहना होगा। वह प्रपंच में संभव नहीं है और तीसरे विकल्प में ब्रह्मरूप सत् वस्तु का भेद प्रपंच में सम्मत होने के कारण तीसरे विकल्प में भी सिद्धसाधनता है। मधुसूदन सत्व के इन तीनों वैकल्पिक अर्थों को न मानकर सत्व की परिभाषा प्रमाण–सिद्धत्व मानते हैं और समस्त दोषों का निरादर कर देते हैं (सत्वं च प्रमाणसिद्धत्वम्, प्रमाणत्वं च दोषासहकृतज्ञानकरणत्वम्, तेन स्वप्नादिवत्प्रमाणसिद्धभिन्नत्वेन मिथ्यात्वं सिद्धयति)।

अतः निष्कर्षरूपेण हम यह कह सकते हैं कि मधुसूदन सरस्वती की तर्कना–शक्ति परमत खण्डन के अपेक्षा स्वमत रक्षण में अधिक प्रयुक्त होती है। शंकराचार्य के पूर्व गौडपाद की तर्कना पद्धति का मुख्य प्रयोजन अजातिवाद (जगत्–मिथ्यात्व) एवं पारमार्थिक सत्ता के रूप में ब्रह्म की स्थापना है। श्रीहर्ष के पूर्व वेदान्त प्रमेय–प्रधान है, तो वहीं श्रीहर्ष एवं उसके बाद का अद्वैत वेदान्त (नव्य–वेदान्त) प्रमाण–प्रधान है। नव्य–वेदान्ती विपक्षी के दर्शनों से, विशेषरूपेण न्याय दर्शन में प्रयुक्त पदों (शब्दों) के विभिन्न संभावित अर्थों की कल्पना करते हुए उसमें तार्किक दोष प्रस्तुत करते हैं। अद्वैत वेदान्त के तर्कना पद्धति का लक्ष्य परमत में प्रयुक्त लक्षण, परिभाषा आदि का खण्डन है जो अन्ततः स्वमत को तार्किक धरातल पर प्रतिष्ठित करता है।

सन्दर्भ –

1. शंकराचार्य, न ही प्रतिष्ठितस्तर्के एवं नास्तीति शक्यते वक्तुम्।
एतदपि तर्काणामप्रतिष्ठितत्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्येत।। – ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 2–1–11.
2. शंकराचार्य, प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपलब्धे हि विषये श्रुतेः प्रामाण्यं न प्रत्यक्षादिविषये–भगवद्गीता पर शांकरभाष्य अज्ञातज्ञापनं हि शास्त्रम्।
3. शर्मा, अम्बिकादत्त, समेकित अद्वैत विमर्श, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर 2005, पृ.–11–13.
4. वही, पृ.–16.
5. श्रीहर्ष, यदि तावत् स्वरूपं भेदः स नाम धटपटयोर्हि स्वरूपं यत्परस्परस्माद्भेदः तत्परस्परमनन्तर्भाव्य न संभवति–खण्डनखण्डखाद्य, पृ.–103.
6. वही, अन्योन्याभावोपि यस्माद्भेव एष्टव्यस्तामात्मन्येवान्तर्भाव–येदुक्तयुक्तिभिः, पृ.–109.
7. वही, तदद्वैत श्रुतिस्तावद्बाधः प्रत्यक्षतः क्षतः। नानुमानादि तं कुर्ते तवापि क्षमते मते।। पृ.–118.
8. व्यासतीर्थ, मिथ्यात्वं हि त्वयैव पक्षान्तरनिषेधेन पंचम निरुक्तम्–न्यायामृत, पृ.–14.
9. मधुसूदन सरस्वती, एकेनैव सर्वानुगतेन सर्वत्र सत्प्रतीति–अद्वैत–सिद्धि, पृ.–17.
10. वही, न च तात्त्विका भावप्रतियोगिना प्रपंचस्य तात्त्विकत्वापत्ति तात्त्विकाभावप्रतियोगिनि शुक्तिरजतादौ कल्पिते, पृ.–22.

अद्वैत वेदान्त में अध्यास की अवधारणा

शिवभानु सिंह

प्रो. एस. राधाकृष्णन् के शब्दों में शंकर का अद्वैतवाद, एक महान कल्पनात्मक साहस और तार्किक सूक्ष्मता का दर्शन है। इसका उग्र बुद्धिवाद, इसका कठोर तर्क जो मनुष्य की आशाओं तथा विश्वासों के प्रति उपरामता का भाव लिए अपने मार्ग पर आगे ही आगे चलता जाता है, इसका धार्मिक तत्त्व–सम्बन्धी उद्वेगों से अपेक्षाकृत स्वातन्त्र्य, यह सब एक साथ मिलकर इसे विशुद्ध दार्शनिक योजना के महान उदाहरण के रूप में उपस्थित करता है। प्रो० थिबो भी मानते हैं कि जहाँ तक साहस, गाम्भीर्य तथा कल्पना की सूक्ष्मता का सम्बन्ध है, वेदान्त–विपरीत दर्शनों में से कोई भी शास्त्रीय वेदान्त की तुलना में कहीं नहीं ठहरते। आचार्य शंकर का मस्तिष्क अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ गहराई में जाने वाला तथा अगाध आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण है। शंकराचार्य अद्वैत वेदान्त के एक मौलिक विचारक थे। ब्रह्म सूत्र पर लिखा गया उनका शारीरक भाष्य अद्वैत दर्शन की एक अमूल्य निधि है। इसके गम्भीर एवं निगूढ़ विचारों को स्पष्ट करने के लिए वाचस्पति मिश्र ने "भामती" नामक टीका लिखी। इन दोनों पाण्डित्यपूर्ण रचनाओं के अतिरिक्त चित्सुखाचार्य की चित्सुखी या तत्त्वप्रदीपिका अद्वैत वेदान्त की एक प्रौढ़ रचना है जिसमें अद्वैत वेदान्त के दार्शनिक विचारों को न्याय–शैली में प्रस्तुत किया गया है। चित्सुखाचार्य की चित्सुखी अद्वैत वेदान्त के दुरुहतम ग्रन्थों में से एक है।

शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य के प्रारंभ में अनुभव का विवेचन करते हुए दर्शन की मूलभूत समस्या भ्रम की समस्या का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि समस्त लोक व्यवहार दो तत्त्वों के मिलन पर निर्भर है–एक तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मतत्त्व जो विषयी, ज्ञाता, चेतन और नित्य है एवं 'अहं', प्रत्यय गोचर है; और दूसरा विषय या ज्ञेय पदार्थ जो जड़ एवं अनित्य है एवं ' इदं ' (युष्मत्) प्रत्ययगोचर है। विषयी प्रत्यक् और विषय पराक् है। विषयी अपरोक्ष है, विषय परोक्ष है। विषयी सत् है और विषय मिथ्या है। विषय और विषयी में भेद है। इस भेद का ज्ञान विवेक है तथा विषयी और विषय का मिथुनीकरण अविवेक के कारण है जो अध्यास का स्वरूप है। प्रकाशात्म यति अध्यास का उपादान मिथ्या अज्ञान को मानते हैं। पद्मपाद ने – 'मिथ्या च तदज्ञानं च मिथ्याज्ञानम्' कहा है अर्थात् अज्ञान मिथ्या है। यहाँ मिथ्या ज्ञान अध्यास का कारण है। अज्ञान, अविवेक या अविद्या को शंकराचार्य ने अध्यास कहा है। अध्यास की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं कि 'स्मृति रूप पूर्व दृष्ट का दूसरे में जो अवभास है वह अध्यास है। अध्यास एक वस्तु को अन्यथा देखना है। रजत (चांदी) जहाँ नहीं है अर्थात् शुक्ति में, वहाँ उसका अध्यारोप करना ही अध्यास है। अतत् में तत् को देखना अध्यास है। एक अन्य प्रकार से अध्यास की परिभाषा करते हुए शंकर कहते हैं कि अध्यास अतस्मिन् तद्बुद्धि है। न्याय वैशेषिक के अनुसार अन्य में अन्य धर्म का आरोप अध्यास है। मीमांसक जिसमें जिसका अध्यास है, उसमें विरुद्ध धर्म वाले के भाव

दर्शन विभाग, यूइँग क्रिश्चियन कॉलेज, इलाहाबाद (उ.प्र.)

की कल्पना को 'अध्यास' कहते हैं। आचार्य शंकर इन मतों का समन्वय करते हुए कहते हैं कि अन्य में अन्य का अवभास अध्यास है। इसमें शुक्ति रजत की भांति अवभासित होती है। शुक्ति और रजत दोनों पदार्थ सत्य हैं। केवल दोनों का सम्बन्ध ही असत्य है।

वादरायण के ब्रह्मसूत्र पर शंकराचार्य ने जो भाष्य लिखा है उसका नाम शारीरक भाष्य है। उस भाष्य की भूमिका को उपोद्घात कहा जाता है। उपोद्घात में शंकराचार्य ने अध्यास–सिद्धान्त का विवेचन किया है। इस कारण कभी–कभी इसको अध्यास–भाष्य भी कहा जाता है। अध्यास–भाष्य के दो भाग हैं; प्रथम अध्यास की अनुपपत्ति एवं द्वितीय अध्यास की उपपत्ति। शंकराचार्य एवं वाचस्पति मिश्र दोनों ने सर्वप्रथम अध्यास की अनुपपत्ति को प्रदर्शित किया है। अध्यास वहीं संभव होता है जहाँ आरोप्य और आरोप्यमाण वस्तु के भीतर कोई समानता हो। यदि दोनों के बीच आत्यन्तिक विरोध हो तो अध्यास की संभावना नहीं उत्पन्न होती है। यही बात आत्म एवं अनात्म वस्तुओं पर लागू होती है। इनके आत्यन्तिक विरोध को प्रकट करने के लिए आत्मा के लिए ''अस्मत्'' (अहम्) तथा अनात्म वस्तुओं के लिए ''युष्मत्'' (त्वम्) शब्द का प्रयोग किया जाता है। चिदात्मा विषयी है तथा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं शब्दादि सब विषय कहे जाते हैं। विषय की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है : ''बिसिन्वन्ति निबध्नन्ति विषयिणमिति विषयः'' अर्थात् विषय ज्ञान–रूपी विषयी पदार्थ को अपने साथ ऐसा बांध देते हैं कि 'घटज्ञानम्'', ''पट ज्ञानम्' आदि रूप में विषय का सहयोग पाये बिना ज्ञान का निरूपण नहीं हो सकता। आत्मा एवं अनात्म जगत के परस्पर अध्यास की अनुपपत्ति का मुख्य कारण है : आत्म एवं अनात्म पदार्थों का आत्यन्तिक विरोध।

शुक्ति और रजत के समान रूपवान पदार्थों का ही परस्पर विनिमयात्मक अध्यास लोक प्रसिद्ध है। प्रखर प्रकाश और गहन अंधकार का कभी शुक्ति–रजत के समान अध्यास नहीं देखा जाता। आचार्य शंकर ने इस तथ्य को निम्न प्रकार से अभिव्यक्ति किया हैः ''त्वम्–प्रतीति से ग्राह्य 'विषय' तथा अहम्–प्रतीत से ग्राह्य 'विषयी' के अंधकार और प्रकाश के समान परस्पर विरुद्ध स्वभाव होने के कारण अन्योन्यरूपता युक्तिसंगत न होने से उन दोनों के धर्मों की भी अन्योन्यरूपता नहीं बनती है। इसलिए अंह–प्रतीति से ग्राह्य चैतन्यस्वरूप आत्मा में त्वम् प्रतीति से ग्राह्य विषय का और उसके धर्मों के परस्पर–अध्यास तथा इसके विपरीत, विषयी और उसके धर्मों का तथा विषय और उसके धर्मों का परस्पर अध्यास मिथ्या ही समझना चाहिए। फिर भी एक दूसरे में अन्योन्यरूपता तथा उन दोनों के धर्मों का एक–दूसरे के भेद को न जानने के कारण सत्य तथा अनृत दोनों को मिलाकर 'अहमिदम्' और ''ममेदम्'' इस प्रकार का मिथ्या ज्ञान निमित्तक लोक व्यवहार अनादि परम्परा से चला आ रहा है।'' ''इतरेतर भाव'' का तात्पर्य हैः अन्य पदार्थों में अन्यरूपता, जैसे शुक्ति में रजरूपता। यहाँ तादात्म्य जो अपेक्षित है, उसकी उपपत्ति न होने के कारण आत्मा और अनात्मा का अध्यास नहीं हो सकता।

यह आशंका अभिव्यक्त की जा सकती है कि जैसे जपाकुसुम और स्फटिक रूप दो धर्मी पदार्थों का तादात्म्याध्यास न होने पर भी स्फटिक में जपाकुसुम के आरूण्य धर्म का अध्यास देखा जाता है, उसी प्रकार आत्म और अनात्म पदार्थों का परस्पर तादात्म्याध्यास न होने पर भी अनात्मभूत बुद्धयादि के कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मों का अध्यास क्यों नहीं उत्पन्न हो सकता? इस

प्रकार की आशंका का निवारण करने के लिए "तद्धर्माणां सुतरामितेरतर भावानुपपत्तिः" का प्रयोग किया जाता है। यहाँ "इतरेतर" शब्द का अर्थ है : अन्यान्य धर्मों में अन्यान्य धर्मों का भाव, अर्थात् धर्माध्यास की भी उपपत्ति नहीं हो सकती। धर्माध्यास दो प्रकार का हो सकता है :–

(1) रूपवान पदार्थ में रूपवान पदार्थ का धर्माध्यास जैसे स्फटिकादि पदार्थों में जपाकुसुम के आरूण्य का अध्यास।

(2) रूपवान पदार्थ में अरूपवान पदार्थ का धर्माध्यास–जैसे लौह पिण्ड और अग्नि का तादात्म्य हो जाने पर अग्नि के दाहकत्वादि धर्मों का लौह पिण्ड में अध्यास हो जाता है।

उल्लेखनीय है कि रूपहीन होने के कारण आत्मा में धर्म–प्रतिबिम्बात्मक धर्माध्यास सम्भव नहीं है। इस अवस्था में आत्मा में अनात्म पदार्थों के अनित्यत्व कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मों का प्रतिबिम्ब कैसे उत्पन्न होगा? इसी प्रकार आत्मा में द्वितीय प्रकार का भी धर्माध्यास संभव नहीं है क्योंकि आत्मा रूपवान नहीं है। लौह–पिण्ड में अग्नि के धर्मों का अध्यास इसलिए संभव हुआ कि अग्नि भले ही अरूपवान हो, पर लौह–पिण्ड तो रूपवान ही होता है। आत्मा में अनात्म वस्तुओं के धर्मों का अध्यास इसलिए संभव नहीं है क्योंकि वह अरूपवान है? ऐसी स्थिति में दोनों का एक–दूसरे पर अध्यास मिथ्या ही हो सकता है।

अध्यास की उपपत्ति पर विचार करते समय यह ज्ञात होता है कि आत्म और अनात्म अंधकार और प्रकाश की भांति अत्यन्त विरूद्ध हैं परन्तु लोक व्यवहार में "अहमिदम्" और "ममेदम्" इस प्रकार का मिथ्या ज्ञान अनादि काल से प्रचलित है। इस प्रकार के अध्यास का कारण अविवेक या अज्ञान को माना जा रहा है। विषयी और विषय में भेदाग्रह के कारण ही अध्यास की उपपत्ति मानी जाती है। इस भेदाग्रह को व्याप्ति रूप में अभिव्यक्त किया जाता है : "यत्र यत्र अध्यासः तत्र तत्र भेदाग्रह : "अर्थात् जहाँ–जहाँ अध्यास होता है, वहाँ–वहाँ भेदाग्रह अवश्य होता है। अध्यास को व्याप्त तथा भेदाग्रह को व्यापक माना जाता है। यह सर्वमान्य नियम है कि व्यापक का निषेध करने से व्याप्य का स्वतः निषेध हो जाता है। भेदाग्रह का विपरीत है भेद–ग्रह। जहाँ–जहाँ भेद–ग्रह या विवेक रहेगा वहाँ अध्यास की उत्पत्ति नहीं हो सकती। पूर्व में अध्यास की अनुपपत्ति का जो विवेचन किया गया है वह तब संभव होता जबकि "अहम् अहम्" इस व्यावहारिक अनुभव में विशुद्ध आत्मतत्त्व परिलक्षित होता। परन्तु यह ज्ञात है कि अहं–प्रत्यय का विषय विशुद्धात्मा न होकर जीवात्मा ही होती है। कर्त्तृत्वादि समस्त उपाधियों से रहित विशुद्ध चैतन्य, आनन्दस्वरूप, एकरस, अद्वितीय जिस आत्मतत्त्व का प्रतिपादन श्रुतियों, स्मृतियों और पुराणों में हुआ है, वह आत्मतत्त्व "अहम्" का विषय नहीं है। इस अवस्था में आत्मतत्त्व का अनुभव या भेदाग्रह सुलभ हो जाता है और फलस्वरूप अध्यास की उत्पत्ति हो जाती है।

कुछ लोग अज्ञानवश अहम् प्रतीत के विषय जीवात्मा को ही वास्तविक आत्मा मान लेते हैं तथा "अहमिहैवस्मि सदने जाना नः; "इस प्रतीति के द्वारा आत्मा को एक घर के कोने में ही परिच्छिन्न बताते हैं जबकि यह सुविदित है कि आत्मा व्यापक है। वाचस्पति मिश्र यह स्पष्ट करते हैं कि शरीर की भांति आत्मा को प्रादेशिक और परिच्छिन्न नहीं माना जा सकता अन्यथा अनेक प्रश्न उठने लगेगें कि आत्मा को 'अणु' परिमाण वाला माना जाय या मध्यम परिमाण वाला माना

जाये? पुनः प्रश्न उठेगा कि अवयवी आत्मा के प्रत्येक अवयव में पृथक–पृथक चेतना मानी जाय अथवा अवयव समुदाय में चेतना मानी जाय? इस प्रकार के प्रश्न उठने पर आत्मा की नित्यता भी प्रश्न चिन्ह के घेरे में पड़ जाएगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि भेदाग्रह के कारण ही अध्यास की उपपत्ति होती है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि विषयी और विषय का तादात्म्य, गौण नहीं है अपितु मिथ्या निमित्तक है जिसके कारण एक वस्तु और उसके धर्मों का दूसरी वस्तु और उसके धर्मों पर अध्यास होता है।

यह अध्यास एक–दूसरे के भेद को न जानने के कारण अर्थात् इतरेतराविवेकेन होता है जिसके परिणामस्वरूप एक वस्तु की दूसरी वस्तु के रूप में अन्योन्यरूपता अर्थात् अन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकताम्, एक वस्तु के धर्मों का दूसरी वस्तु के ऊपर अध्यास अर्थात् अन्योन्य धर्माश्चाध्यासः तथा सत्य और अनृत दोनों को मिलाकर अर्थात् सत्यानृते मिथुनीकृत्य "अहमिदम्" और "ममेदम्" इस प्रकार का मिथ्या ज्ञाननिमित्तक लोक व्यवहार अनादि परम्परा से चला आ रहा है, अर्थात् नैसर्गिकोऽयंलोक व्यवहारः।

उल्लेखनीय है कि शंकराचार्य ने व्यवहार को मिथ्याज्ञान निमित्तक स्वीकार किया है। मिथ्या ज्ञान का अर्थ है : अध्यास। यही अध्यास उक्त व्यवहार का निमित्त है। "अध्यास सत्त्वे व्यवहार सत्वम्, अध्यासाभावे व्यवहाराभाव :" अर्थात् जहाँ अध्यास होता है वहीं व्यवहार की निष्पत्ति होती है तथा जहां अध्यास नहीं होता है, 'वहाँ व्यवहार की निष्पत्ति नहीं की जा सकती। आचार्य शंकर ने अविवेक (भेद का अग्रहण) को ही अध्यास का कारण माना है। दो अत्यन्त विविक्त धर्मियों में विवेक या भेद का ग्रहण न होने के कारण ही अध्यास की उत्पत्ति होती है। कुछ विचारकों ने शंका प्रकट करते हुए कहा है कि जहां दो धर्म वस्तुतः विविक्त हों, किन्तु उनके भेद का ग्रहण न हो रहा हो, तब उनमें तादात्म्याध्यास घटित हो जाता है। इसका उदाहरण देते हुए कहा गया है कि "शुक्ति और रजत वस्तुतः दो भिन्न पदार्थ हैं किन्तु उनका भेद–ग्रह न होने के कारण "इदं रजतम्" इस प्रकार का तादात्म्य–भ्रम हो जाता है। इनके विपरीत, यह सुविदित है कि परमार्थ सत् आत्म से भिन्न संसार में किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है तो आत्मा का किसके साथ भेदाग्रह है और तादात्म्याध्यास स्थापित किया जाएगा? भाष्यकार ने इस प्रकार की शंका का समाधान करते हुए स्पष्ट किया है "सत्यानृते मिथुनीकृत्य"। यहाँ चिदात्मा सत्य पदार्थ है तथा शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि इत्यादि अनृत पदार्थ हैं। इन दोनों धर्मियों को एक युगल के रूप में बुद्धिस्थ करना ही मिथुनीकरण है। इसे संसर्गाध्यास भी कहा जाता है। वस्तुतः सत्य और अनृत का मिथुनीकरण संभव नहीं है, यह मिथुनीकरण अवास्तविक या मिथ्या ज्ञान निमित्तक ही हो सकता है।

अद्वैत वेदान्त में शंकराचार्य ने अध्यास की परिभाषा 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्व दृष्टावभासः' के रूप में जो की है, उसके विश्लेषण की अपेक्षा है। इस परिभाषा में प्रयुक्त 'अवभास' शब्द की भामती में वाचस्पति मिश्र ने विशिष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। अवभास की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा है, "अवसन्न (अवसादयुक्त) या अवमत (तिरस्कृत) आभास अवभास कहा जाता है।"

साधारणतया कोई वस्तु कुछ और है परन्तु अन्य रूप में भासित हो रही है तब हम अवभास शब्द का प्रयोग करते हैं। यही कारण है कि अध्यास को मिथ्याज्ञान के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। अध्यास का मिथ्यात्व इस बात से प्रकट होता है कि उत्तर काल में प्रत्यान्तर से बाध हो जाता है।

अध्यास की संभावना के लिए कम से कम दो वस्तुओं की आवश्यकता होती है, प्रथम आरोप्यमाण वस्तु अर्थात् आरोप का विषय तथा द्वितीय आरोपणीय वस्तु। सूत्र में "परत्र" शब्द आरोप्यमाण है तथा पूर्वदृष्ट आरोपणीय है। अध्यास के लक्षण में "पृर्वदृष्ट" पद आरोपणीय वस्तु की असत्यता का उपस्थापक है। अध्यास के लिए पूर्व कालीन वस्तु का दृष्टत्व मात्र उपयोगी है, वस्तु सत्य नहीं। इसीलिए "पूर्वदृष्ट" पद में "दृष्ट" शब्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि आरोपणीय वस्तु का दर्शन आरोप के लिए आवश्यक है तथापि उसका वर्तमान दर्शन आरोप में उपयोगी नहीं है। इसीलिए यहाँ लक्षण में "पूर्व" शब्द संयुक्त किया गया है। आरोपणीय वस्तु का वर्तमान दर्शन न होने के कारण ही वह अनिर्वाच्य है और इसी कारण वह अनृत है। यद्यपि अध्यास में आरोपणीय वस्तु अनृत है, पर अध्यास की निष्पत्ति के लिए आरोप्यमाण वस्तु का सत्यत्व अनिवार्य है। आरोप के विषय के सत्यत्व का प्रतिपादन "परत्र" शब्द द्वारा किया गया है। आरोप विषय के सत्य होने के कारण निरधिष्ठान अध्यास संभव नहीं है।

लक्षण वाक्य में "स्मृतिरूपः" यह पद आरोपणीय विषय के "असंनिहितत्व" का सूचक है। अध्यास के लिए आरोपणीय विषय का असंनिहित होना आवश्यक है। असंनिधान का तात्पर्य यह है कि आरोप्य वस्तु अपने अधिकरण में परमार्थतः असत्य है, देशान्तरसत्य नहीं। अतः, इससे अद्वैत सिद्धान्त की हानि की कोई आशंका नहीं है। वह स्मृतिरूपः" शब्द के प्रयोग से सभी ख्यातियों, जैसे अख्याति, अन्यथा ख्याति, विपरीत ख्याति, सत्ख्याति इत्यादि का निराकरण कर देता है। इन सभी ख्यातियों में आरोपणीय वस्तु को सत् तथा संनिहित माना जाता है। इसी प्रकार लक्षण वाक्य में प्रयुक्त "परम" से असत्ख्यातिवाद का निवारण हो जाता है। इस प्रकार शंकराचार्य द्वारा प्रदत्त अध्यास के लक्षण से सत् और असत् इन दोनों से भिन्न अनिवर्चनीय ख्याति का समर्थन होता है।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आरोपणीय विषय के सन्निहित होने पर प्रत्यभिज्ञा होती है तथा असंनिहित रहने पर स्मृति होती है। अतः, लक्षण प्रत्यभिज्ञा में अति व्याप्त न हो जाय, इस कारण परत्र पूर्व दृष्टावभासः के साथ "स्मृतिरूप" संयुक्त किया गया है। यदि अध्यास के लक्षण में "स्मृति रूपः" यह पद न होता तो प्रत्यभिज्ञा में भी अध्यास के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती। इसके निवारण के लिए ही अध्यास के लक्षण में "स्मृति रूपः" शब्द जोड़ दिया जाता है। ध्यातव्य है कि अध्यास यद्यपि "स्मृति रूप" है पर स्मृति नहीं है। अध्यास और स्मृति दोनों में "असंनिहितत्व" पाया जाता है, पर दोनों के बीच एक मौलिक भेद है। स्मृति में आरोप के अधिष्ठान का अभाव पाया जाता है, पर अध्यास में अधिष्ठान का भाव पाया जाता है।

अध्यास के उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सैद्धान्तिक रूप में आत्मा के ऊपर अनात्म वस्तुओं का अध्यास होना सर्वथा असंभव है, पर फिर भी व्यवहार में आत्मा के ऊपर अनात्म वस्तुओं का अध्यास देखने को मिलता है। कभी–कभी बाह्य पदार्थों के धर्मों का आत्मा पर आरोपण किया जाता है। इसी प्रकार इन्द्रियों के धर्मों का भी आत्मा पर आरोपण किया

जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि अध्यास सदा प्रत्यक्ष स्थित विषय में ही होता है, विषयी में नहीं, पर केवल विशुद्धात्मा को ही पूर्ण रूप से अविषय कहा जा सकता है, जीवात्मा को नहीं। शंकराचार्य ने जीवात्मा को ''प्रत्यगात्मा'' नाम दिया है जो विशुद्धात्मा से भिन्न है। जो प्रतीप प्रतिकूल वेदनीय अपने स्वरूप से भिन्न सुख–दुःखादि का अनुभव करता है, वह आत्मा प्रत्यगात्मा कहलाता है। विशुद्धात्मा भले ही प्रत्यक्ष का विषय न हो पर प्रत्यगात्मा प्रत्यक्ष का विषय अवश्य होता है। इसे शंकराचार्य ने इस प्रकार व्यक्त किया है न तावदयमकान्तेनाविषयः'' अर्थात आत्मा को नितान्त अविषय नहीं माना जा सकता। यद्यपि आत्मा अपरिच्छिन्न और स्वयं प्रकाश है, तथापि बुद्ध्यादि परिच्छिन्न पदार्थों से भेदाग्रह होने के कारण बुद्ध्यादि का तादात्म्याध्यास हो जाता है। बुद्धि आदि से तादात्म्यापन्न आत्मा जीवरूप होकर ''अहम् प्रत्यय'' का विषय बन जाता है। इसी तथ्य को व्यक्त करने करने के लिए शंकराचार्य ने ''अस्मित्प्रत्यय विषयत्वात्'' पद समूह का प्रयोग किया है। वस्तुतः जीव के दो रूप है : (1) स्वाभाविक एवं (2) औपाधिक। स्वाभाविक रूप स्वयं प्रकाश या अविषय होने पर भी औपाधिक रूप से विषय हो जाता है। इस प्रकार शंकराचार्य ने स्थापित किया है कि विशुद्धात्मा तो नहीं, पर जीवात्मा अध्यास का आधार बन सकता है। जीवात्मा में अध्यास के आधार पर सम्पूर्ण लौकिक और वैदिक व्यवहार तथा विधि, निषेध और मोक्षपरक सारे शास्त्र प्रवृत्त होते हैं।

अद्वैत वेदान्त में अध्यास के दो व्यापार हैं – (क) आवरण (ख) विक्षेप। आवरण के कारण आत्मस्वरूप और विषय रूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता तथा विक्षेप के कारण दोनों का अयथार्थ ज्ञान होता है। यही आवरण और विक्षेप हमें लोक व्यवहार का ज्ञान प्रदान करते हैं किन्तु लोक व्यवहार अपनी जगह है। जब हम उसकी सत्यता की परीक्षा करते हैं तब वह हमें अनिश्चित और अपुष्ट प्रतीत होता है। इसीलिए जगत की व्याख्या के लिए अद्वैत वेदान्त में अनिर्वचनीय का प्रतिपादन किया गया है। जो दृश्य है वह मिथ्या है, जो मिथ्या है वह सत् और असत् से विलक्षण है और इस कारण वह अनिर्वचनीय है। मिथ्या को मिथ्या समझना, सत् को सत् समझना अध्यास का अन्त करना है। यह कार्य वेदान्त के श्रवण और मनन से सिद्ध होता है। अध्यास के कारण ही ब्रह्म के स्थान पर नाना प्रपंचात्मक जगत का आभास हो रहा है और आत्मा की जगह संसारी जीवों की बहुलता दृष्टिगोचर हो रही है। अध्यास के सिद्धान्त को हृदयंगम कर लेने पर मानव शुद्धप्रतिपादित ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

प्रो. कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार अद्वैत वेदान्त में अध्यास या भ्रम विषयक तीन अवस्थाएँ होती हैं। भ्रम–पदार्थ को पहले तो सत् मान लिया जाता है, फिर उसका बाध होता है और तत्पश्चात् उसके स्वरूप का विश्लेषण करने पर उसके मिथ्यात्व का बोध होता है। प्रथम अवस्था भ्रम या अज्ञान की अवस्था है जैसे रज्जु का सर्प के रूप में प्रतीति। द्वितीय अवस्था ज्ञान की अवस्था है जिसमें अधिष्ठान के ज्ञान से अध्यस्त का सर्वथा बाध या निरास या निषेध कर दिया जाता है। तृतीय अवस्था भ्रम के दार्शनिक विश्लेषण द्वारा उसके मिथ्यात्व के बोध की अवस्था है। इस अवस्था में भ्रम पदार्थ की सदसदनिर्वचनीयता का एवं उसके मिथ्यात्व का बोध होता है।

संदर्भ –

1. स्मृति रूपः परत्र पूर्व दृष्टावभासः।
2. अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिरितिः।
3. संगम लाल पाण्डेय, मूल शंकर वेदान्त, पृ. 3
4. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, उपोद्घात
   पंचपादिकाविवरण, पृ. 62 अभिज्ञा, आभिवादनम्, उपादानम्, अर्थक्रिया इति चतुर्विध।।
6. भामती, पृ. 18 अवसन्नोऽवमतो वा भासोऽवभासः।
7. वही, मिथ्याज्ञानमध्यासः।
8. वही, प्रत्ययान्तर बाधश्च अवसादोऽवमानो वा।।
9. भामती, पृ. 19, तस्य च दृष्टत्व मात्रमुपयुज्यते न वस्तु सत्तोति दृष्ट ग्रहणम।
10. भामती, पृ. 19,, तथापित वर्तमान दृष्ट दर्शनं नारोपोपयोगीति पूर्वेत्युक्तम्।
11. भामती, पृ. 19, तत्र पूर्वदृष्टम् स्वरूपेण सदप्यारोपणीय तथाऽनिर्वच्चमित्यनृतम्।
12. भामती, 10, आरोप विषय सत्यमाह–परत्रेति।
13. पंचपादिका, पृ. 68 तदेवं न क्वचिन्नरधाष्ठानोऽध्यास।
14. वेदान्त कल्पतरु, पृ. 19, असंनिधानं चारोप्यस्याधिष्ठाने परमोर्थतो ऽसत्वं, न देशान्तर सत्वमिति नापराद्वान्तः।।
15. प्रतीपं विरुद्धं सुखःदुःखादिकं अञ्चति विजांनातीति प्रत्यक स चासौ आत्मा इति प्रत्यगात्मा।
16. अप्रत्यक्षेऽपि ध्याकाशे बाला तलमनितादि अध्यसन्ति।

अद्वैतवेदान्तीय प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया

श्रीप्रकाश पाण्डेय

नहि लक्षणप्रमाणाभ्यां बिना वस्तुसिद्धिः"[1] अर्थात् 'लक्षण और प्रमाण के बिना किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती', एतदर्थ प्रायः समस्त भारतीय दार्शनिकों ने लक्षण एवं प्रमाण के सम्बन्ध में विविध प्रणालियाँ उपस्थित की हैं; किन्तु इनमें अद्वैत वेदान्त की प्रमाणविचार–प्रणाली विशेष महत्त्व रखती है। यद्यपि इसका प्रतिपादन आचार्य शंकर ने अपने ग्रन्थ में नहीं किया है, तथापि उनके परवर्ती 'आचार्य' धर्मराजाध्वरीन्द्र ने प्रमाणों की चर्चा करते हुए अपने ग्रन्थ 'वेदान्तपरिभाषा' में सभी प्रमाणों का सविस्तार वर्णन किया है। चूँकि प्रत्यक्ष सभी प्रमाणों में ज्येष्ठ एवं आर्यवरणीय प्रमाण है एतदर्थ इसकी प्रासंगिकता देखते हुए हमने इसकी व्याख्या का विनीत प्रयास किया है। इस सन्दर्भ में यहाँ इस तथ्य का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है कि अद्वैत वेदान्त की प्रत्यक्ष सम्बन्धी अवधारणा की व्याख्या से हम यह नहीं सूचित करना चाहते हैं कि अन्य भारतीय दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्ष विषयक अवधारणा तर्कसंगत नहीं है। हमारे विचार में उनका प्रतिपाद्य भी सम्यक्रूपेण तर्केण प्रतिस्थाप्य है; तथापि अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से उनमें कुछ न्यूनताएं हैं और अद्वैत उन्हीं का पुरस्कार करता है। यहाँ अद्वैत वेदान्त की प्रत्यक्ष विषयक अवधारणा की व्याख्या से पूर्व एक स्वाभाविक प्रश्न उत्थापित होता है कि 'अद्वैत वेदान्त तो जगन्मिथ्यात्ववादी दर्शन है और प्रत्यक्ष की प्रक्रिया जगत् से सम्बन्धित है, अतः इसके सम्बन्ध में स्पष्टीकरण किये बिना अद्वैत वेदान्त प्रत्यक्ष विषयक कैसे कोई सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत कर सकता है? यदि प्रत्यक्षगम्य विश्व असत् है तो उसका प्रत्यक्ष भी असत् ही होगा? इस सन्दर्भ में अद्वैत वेदान्त की मान्यता है कि एक अर्थ में वह जैसे विश्व मिथ्यात्ववादी है, वैसे ही एक–दूसरे अर्थ में वह विश्व सत्यत्ववादी भी है। यद्यपि परमार्थतः तो वह अन्तिम रूप में विश्व के अंश मात्र का भी प्ररिग्रहण नहीं करता, किन्तु व्यवहारतः जब वह सत्य की बात करता है तो इसके सभी पक्षों को समान महत्त्व देता है। अतः अद्वैत वेदान्त के सन्दर्भ में यह प्रश्न स्वाभाविक तो है किन्तु वरणीय नहीं।

प्रमाणों की व्याख्या के पूर्व वेदान्त परिभाषाकार की स्थापना है कि 'तत्र प्रमाकरणं प्रमाणम्'' अर्थात् 'प्रमा का जो करण है वह प्रमाण है'। यहाँ 'प्रमाकरणं प्रमाणं' में 'प्रमाणं' लक्ष्य है तथा 'प्रमाकरणं' यह उसका लक्षण है। प्रमा का अर्थ होता है 'यथार्थ ज्ञान'। यह यथार्थ ज्ञान स्मृति और अनुभव भेद से दो प्रकार का होता है, परन्तु कुछ लोग प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न होने वाला जो अनुभव रूप ज्ञान है उसी को प्रमाण मानते हैं। चूँकि स्मृति साक्षात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न नहीं होती अपितु प्रत्यक्षादि अनुभव से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, उसी से उत्पन्न होती है, अतः संस्कारों के प्रमाण न होने से स्मृति भी प्रमाण नहीं है। इसलिए इस मत में स्मृति को छोड़कर केवल अनुभवात्मक प्रमा का 'तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वं, अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्व'[3] यह लक्षण किया गया। इसमें प्रमात्वं यह लक्ष्य है तथा 'अनधिगत्– अबाधित–विषयज्ञानत्वं' यह लक्षण है। यहाँ

दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

अनधिगत का तात्पर्य है – पूर्वज्ञात न हुआ तथा अबाधित का तात्पर्य है – दूसरे प्रमाण से मिथ्यासिद्ध न होने वाला, अर्थात् पूर्वज्ञात न हुआ तथा उत्तर ज्ञान से बाधित या मिथ्या सिद्ध न होने वाला जो विषय ज्ञान है वह प्रमा है। चूँकि स्मृति का विषय पूर्व ज्ञात हुआ करता है एतावतः लक्षण में विषय का 'अनधिगत' विशेषण लगाने से स्मृति–विषय की व्यावृत्ति हो जाती है। अस्तु यह अनुभवात्मक प्रमा का निर्दोष लक्षण है। किन्तु कुछ लोग मानते हैं कि जिस स्मृति का विषय यथार्थ होता है अर्थात् उत्तर ज्ञान से बाधित नहीं होता है ऐसी स्मृति भी प्रमा है। उनकी दृष्टि से यह लक्षण स्मृति को साधारण प्रमा की श्रेणी में तो ला ही देता है। चूँकि स्मृति यथार्थ और अयथार्थ भेदे से दो प्रकार की होती है। एतदर्थ स्मृति और अनुभव दोनों ज्ञान यथार्थ तथा अयथार्थ भेद से दो प्रकार के होते हैं। अतः अवान्तरेण यथार्थ स्मृति एवं यथार्थानुभव दोनों प्रमाण हैं। इस प्रकार वेदान्त परिभाषाकार के मत में प्रमाण छः हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि।[4] चूँकि प्रत्यक्ष समस्त प्रमाणों का उपजीव्य है एतदर्थ हम उसकी प्रासंगिक व्याख्या पर आग्रही होंगे।

अपनी प्रमाणमीमांसा के लिए ख्यातिलब्ध 'गौतम' के अनुसार 'प्रत्यक्ष, इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न' ऐसा ज्ञान है जो अव्यपदेश्य (नामजात्यादिकल्पनारहित), अव्यभिचारी (अभ्रान्त) तथा व्यवसायात्मक (नामजात्यादिविशिष्ट, निश्चायक) है।[5] चूँकि इस लक्षण में 'योगज्' प्रत्यक्ष नहीं आता, अतः विश्वनाथ ने प्रत्यक्ष का लक्षण किया– 'प्रत्यक्ष वह अपरोक्ष ज्ञान है जो ज्ञानान्तरजन्य नहीं है।[6] चूँकि इस लक्षण में साधारण, असाधारण दोनों प्रत्यक्ष आ जाते हैं अतः 'अन्नंभट्ट' ने लक्षण किया– 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है।'[7] अद्वैत वेदान्त का मत है कि नैयायिकों की उपर्युक्त परिभाषा में मात्र 'व्यवसात्यात्मकं' ही ऐसा लक्षण है, जिससे प्रत्यक्ष के स्वरूप को समझने में थोड़ी बहुत मदद मिल सकती है, किन्तु व्यवसायात्मकता तो अन्य ज्ञानों में भी मिलती है, अतः मात्र इतने से प्रत्यक्ष की परिभाषा पूरी नहीं हो जाती। अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में वस्तुतः न्याय की उक्त परिभाषा दो अर्थों में प्रयुक्त है– प्रत्यक्षज्ञान एवं प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन। अतः प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने में न्याय का दूसरा अर्थ विवक्षित है।

अस्तु, वेदान्त परिभाषाकार प्रत्यक्ष की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि 'प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। यह प्रत्यक्ष प्रमा चैतन्य ही है, क्योंकि यह श्रुत्युक्त है (यत् साक्षादऽपरोक्षाद् ब्रह्म)।'[8] इसमें 'प्रत्यक्ष–प्रमाणं' यह लक्ष्य है तथा 'प्रत्यक्ष प्रमायाः करणं' यह लक्षण है। साक्षात्, अपरोक्ष ये दोनों विशेष्य ब्रह्म के विशेषण हैं। 'घट' से चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर 'यह घट' इस आकार (स्वरूप) का प्रमात्मक ज्ञान होता है। इस ज्ञान (प्रमा) को प्रत्यक्ष कहते हैं और इस ज्ञान (प्रमा) का करण चक्षुरिन्द्रिय है, उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष शब्द का उपयोग प्रत्यक्ष प्रमा और उसका करण इन दोनों अर्थों में एक सा किया जाता है। यहाँ अवधेय है कि न्याय दर्शन जहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान में छः सन्निकर्ष (पंच ज्ञानेन्द्रियाँ+मन) मानता है, वहाँ अद्वैत वेदान्त मन का इन्द्रियत्व स्वीकार नहीं करता। एतदर्थ यहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान में मात्र पाँच सन्निकर्ष ही मान्य हैं इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् की समस्त वस्तुएं चाहे वे मानसिक हों या बाह्य– उनका वास्तविक स्वरूप चैतन्य ही है। अवधेय है कि वेदान्त शास्त्र ने ज्ञान, चैतन्य, ब्रह्म, आत्म, चिति, संवित् इत्यादि शब्द समानार्थक प्रयुक्त हैं। अतः द्रष्टा, दृश्यादि भेद जो किसी ज्ञान में घटित होने के लिए आवश्यक हैं, परमार्थतः सत्य नहीं हो सकते।

यहाँ स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि ज्ञान के घटकों का सत्यत्व जाने बिना क्या ज्ञान की उपपत्ति हो सकती है? इस कठिनाई पर वेदान्ती कहता है कि 'कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु से मूलतः भिन्न न होते हुए भी अज्ञान निर्मित उपाधियों के कारण द्रष्टा, दृश्यादि रूपों में प्रतीत होती है। चैतन्य के रूप में सब कुछ एक होते हुए भी वस्तुएं भिन्न–भिन्न परिच्छेदक उपाधियों के कारण विविध रूपों में दिखायी देती हैं। चूँकि परिच्छेदक उपाधियाँ स्वयं सिद्ध न होकर केवल अज्ञान निर्मित होती हैं, अतः उनका अस्तित्व जहाँ डाँवाडोल होता है, वहाँ उन पर टिके हुए समस्त भेद भी डाँवाडोल हो जाते हैं। एतदर्थ जिस प्रकार मिट्टी के घड़े को हम घड़ा कहते हैं और घड़े की तरह उसका भी उपयोग करते है, लेकिन मिट्टी के रूप में या स्वतंत्र रूप में भी हम उसका उपयोग कर सकते हैं, ठीक उसी प्रकार एक ही घड़े में हम अनन्त रूप देख सकते हैं। इनमें से किस रूप को घट का स्वाभाविक रूप ठहराया जाय, यह हमारी इच्छा निर्भर है, लेकिन एक तथ्य जो सभी रूपों में अनुस्यूत है, वह यह है कि मिट्टी की हर रूप में अपने को अभिव्यक्त करने की क्षमता है और इस क्षमता के पीछे है चैतन्य जो उतनी ही मात्रा में घड़े में विद्यमान है, जितना द्रष्टा में या उसके ज्ञान में। इस चैतन्य की बाहर–भीतर अनुस्यूतता और व्यापक सत्ता का अनुभव क्वचित् ही हो पाता है, किन्तु प्रत्यक्षानुभव में आंशिक रूप में इस सत्ता की प्रतीति होती है। इस प्रत्यक्षानुभव में द्रष्टा और दृश्य क्षण मात्र के लिए एक रूप हो जाते हैं। यदि द्रष्टा अपने स्थान और दृश्य अपने स्थान में पड़े रहें तो प्रत्यक्ष ज्ञान कदापि नहीं घटित होगा। वस्तुतः दृश्य वस्तु का चैतन्यांश द्रष्टा को अपनी ओर आकृष्ट करता है और द्रष्टा का चैतन्यांश उसकी ओर उन्मुख होता है। इसके फलस्वरूप द्रष्टा है एवं दृश्य एक–दूसरे के समीप पहुँचते हैं तथा अपने–अपने औपाधिक भेदों को भुला देते हैं। इस प्रकार क्षणमात्र के लिए इन दोनों के बीच चैतन्य की एकता स्थापित हो जाती है और यही एकता प्रत्यक्ष ज्ञान है। इस चैतन्य के एक होने पर भी उपाधि के कारण उसका विविध रूप वक्ष्यमाण है। इसीलिए वेदान्त परिभाषाकार कहते हैं कि 'यह चैतन्य त्रिविध है– घटादिविषय से अवछिन्न चैतन्य (प्रमेय चैतन्य), अन्तःकरण की वृत्ति से अवछिन्न चैतन्य (प्रमाण चैतन्य) तथा अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य (प्रमातृ चैतन्य)'[9] इस प्रकार प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में सर्वप्रथम घटादि वस्तु के साथ ज्ञानेन्द्रिय का सम्पर्क होता है, तब घटादि के साथ चक्षु आदि इन्द्रिय सन्निकर्ष द्वारा अन्तःकरण उस घटादि पदार्थ तक जाता है और तद्वस्तु आकार में परिणत हो जाता है। अर्थात् जैसे– 'तालाब का जल मार्गानुकूल विविध रूपों– तिकोना, चौकोना अदि बन जाता है, उसी प्रकार तीन उपाधियों में से तैजस अन्तःकरण विविध इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर घटादि विषयों तक जाकर तदाकार हो जाता है। अन्तःकरण के इस परिणाम को 'वृत्ति' कहते हैं।'[10] यह अन्तःकरण वृत्ति चिदाभास से आभासित होती है। अतः वस्तु के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर अन्तःकरण वृत्ति पहले चिद्वृत्ति द्वारा वस्तु विषयक अज्ञान को नष्ट करती है, तदुपरान्त अपने में प्रतिबिम्बित चित् द्वारा वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करती है।[11] यह जड़ पदार्थ की प्रक्रिया में होता है। ब्रह्म साक्षात्कार की प्रक्रिया में थोड़ा अन्तर चेतनात्मक है। वस्तुतः घटादि विषयों के अचेतन होने से उन्हें भाषित करने का कार्य भी चिद्वृति को ही करना पड़ता है[12] किन्तु ब्रह्म साक्षात्कार की प्रक्रिया में चित्तवृत्ति शुद्ध ब्रह्म को अपना विषय नहीं बनाती

है वरन् वह अज्ञानविशिष्ठ प्रत्यग्भिन्न विषयिणी होती है। जब उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब वह प्रत्यग्चैतन्यगत अज्ञानावरण को दूर करती है। इस प्रत्यग्ब्रह्म विषयक अज्ञानावरण के दूर होते ही स्वयंप्रकाश ब्रह्म स्वयमेव प्रकाशित हो जाता है तथा इसके साथ ही चित्तवृत्ति भी शान्त हो जाती है। परिणामतः उक्त वृत्ति सम्पन्न तत्त्ववेत्ता को किसी सत्ता की भ्रान्ति नहीं होती। साथ ही अखण्ड चैतन्य वृत्ति के कारण प्रत्यक् चैतन्यगत अज्ञान के नष्ट होने पर अज्ञान के कार्य प्रपंच का भी उसी प्रकार बाध हो जाता है जिस प्रकार तन्तु रूप कारण के जल जाने पर पटरूप कार्य का विनाश हो जाता है। इस प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' भी अन्तःकरण की वह अखण्डाकाराकारित वृत्ति है जिसका उदय जिज्ञासु के अन्तःकरण में 'तत्त्वमसि' के द्वारा अखण्डाकार का बोध होने पर होता है। परिणामतः तत्त्व जिज्ञासु को अब यह बोध होता है कि मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध स्वरूप ब्रह्म हूँ। अतः ब्रह्म प्रत्यक्ष की इस प्रक्रिया के निरूपण से यह निश्चय हो जाता है कि ब्रह्मज्ञान के लिए वृत्तिव्याप्ति आवश्यक है। वास्तव में 'एक होता हुआ भी अन्तःकरण विषयाकार से परिणत हुयी वृत्तियों के भेद के संशयाकार, निश्चयाकार, गर्वाकार और स्मरणकार रूप चार प्रकार का है, जिसमें संशयाकार वृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को मन, निश्चयाकार वृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को बुद्धि, गर्वाकार वृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को अहंकार तथा स्मरणाकार वृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को चित्त संज्ञाएं प्राप्त होती हैं,[13] किन्तु यहाँ दो प्रश्न उत्थापित होते हैं– प्रथम यह कि चूँकि चैतन्य अनादि हैं, अतः उसे किसी कारण की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए; द्वितीय यह कि तब वृत्ति को ही प्रत्यक्ष प्रमा क्यों न कहा जाय?

प्रथम जिज्ञासा के सन्दर्भ में वेदान्त परिभाषाकार का मत है कि 'चैतन्य के अनादि होने पर भी उसे अभिव्यक्त करने वाली अन्तःकरण वृत्ति इन्द्रिय सन्निकर्षादिक निमित्त से ही पैदा होती है। इसी से वृत्ति विशिष्ट चैतन्य ऐसा कहा जाता है। चूँकि वृत्ति ज्ञान को मर्यादित करती है, इसलिए उसमें ज्ञानत्व का उपचार होता है। 'विवरणकार' ने भी इस सम्बन्ध में अन्तःकरण की वृत्ति में ज्ञानत्व का उपचार होने से ऐसा कहा है।[14] इसलिए अन्तःकरण की वृत्ति को ज्ञान कहते हैं। द्वितीय जिज्ञासा के सन्दर्भ में वेदान्तपरिभाषाकार कहता है कि 'सत्यंज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' इत्यादि श्रुति से चैतन्य में ही मुख्य ज्ञानत्व सिद्ध होता है। चूँकि वृत्ति जड़ अन्तःकरण का धर्म होने से जड़ है, इसलिए उसे प्रत्यक्ष प्रमात्व नहीं है, परन्तु उसमें चैतन्य रूप ज्ञान का अवच्छेदकत्व होने से ज्ञानत्व का उपचार किया जाता है। इसी आशय से ग्रन्थकार ने 'ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च' लिखा है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमा की घटक वृत्ति के निरूपण के साथ प्रत्यक्ष के दो भेद वेदान्त को अभिप्रेत हैं– सविकल्पक एवं निर्विकल्पक।[15] जो ज्ञान विकल्प से विशिष्ट रहता है, सविकल्पक है, यथा– घटं अहं जानामि। जिससे विकल्प (वैशिष्ट्य) निवृत्त हुआ हो, वह निर्विकल्पक ज्ञान है, यथा– सोऽयं देवदत्तः या तत्त्वमसि। परन्तु संसर्ग के विषयत्व, अविषयत्व रूप दो निमित्तों के बावजूद दोनों प्रकार का ज्ञान चैतन्य रूप होने से एक ही है। इसीलिए चैतन्य रूप उस एक ही ज्ञान के पुनः जीवसाक्षि तथा ईश्वरसाक्षि ये दो भेद विवक्षित हैं।[16] शिखामणि टीकाकार की दृष्टि में इसे जीवसाक्षिजन्यचैतन्य और ईश्वरसाक्षिजन्यचैतन्य कहना अधिक अच्छा है (एवं साक्षिद्वैविध्येन प्रत्यक्षज्ञान द्वैविध्यम्)। वस्तुतः अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है और अन्तःकरणोपहित चैतन्य

उसका (जीव का) साक्षी है। अतः शिखामणि टीकाकार की दृष्टि में अन्तःकरण के विशेषणत्व एवं उपाधित्व के कारण जीव और जीवसाक्षि ऐसा भेद अभिप्रेत है। 'मायोपहित चैतन्य ईश्वरसाक्षिचैतन्य है और वह एक है, क्योंकि उसकी उपाधिभूत माया भी एक है।[17] अस्तु वेदान्तपरिभाषाकार की दृष्टि में 'प्रत्यक्ष प्रमा चैतन्य ही है' यह 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ. 3–4) आदि श्रुति वाक्यों से सिद्ध है; यह सिद्धि सुतरां तर्केण स्थाप्य है।



सन्दर्भ –

1. *वेदान्तपरिभाषा, पृ. 8*
2. *वही, पृ. 8*
3. *वही, पृ. 8*
4. *'तानि च प्रमाणानिषट्, प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्यनुपलब्धि भेदात्।' वही, पृ. 18*
5. *इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं अव्यपदेश्यम् अव्यभिचारी व्यवसायात्मकम् ज्ञानं प्रत्यक्षम्। – न्यायसूत्र, 1.1.4*
6. *ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।*
7. *इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। – तर्कसंग्रह, पृ. 70*
8. *'तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम्', 'प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृहदारण्यक 3.4.1) इति श्रुतेः। – वेदान्त परिभाषा, पृ. 19*
9. *त्रिविधं चैतन्यं, प्रमातृचैतन्यं प्रमाणचैतन्यं, विषयचैतन्यं चेति। तत्र घटाद्यवच्छिन्नं चैतन्यं विषयचैतन्यम्, अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यम्, अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यं प्रमातृचैतन्यम्। – वही, 3510. वही, 37, 38*
11. *वेदान्तसार, व्याख्याकार, बदरीनाथ शुक्ल, पृ. 233*
    बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।
    तत्राज्ञानं धिया यस्येदाभासेन घटः स्फुरेत्।। – पंचदशी
12. *जड़पदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तिविशेषोऽस्ति। तथापि अयं घट इति घटाकाराकारित चित्तवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञाननिरसनपुरस्सरं स्वगतचिदाभासेन जड़घटमपिभासयति। – वेदान्तसार, पृ. 233*
13. *मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्।*
    संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे।। – वेदान्तपरिभाषा, पृ. 70
14. *चैतन्यस्य अनादित्वेऽपितदभिव्य०जकान्तःकरणवृत्तिरिन्द्रियसन्निकर्षादिना जायते इति वृत्ति विशिष्टं चैतन्यमादित्युच्यते।। ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारः। तदुक्तं विवरणे अन्तःकरण वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात् इति। – वेदान्तसार, पृ. 233*
15. *तच्च प्रत्यक्षं द्विविधम्। सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्। – वेदान्तपरिभाषा, पृ. 71*
16. *तच्च प्रत्यक्षं पुनर्द्विविधं जीवसाक्षि ईश्वरसाक्षि चेति। तत्र जीवो नामान्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यम्। तत्साक्षि तु अन्तःकरणोपहितं चैतन्यम्। वेदान्तपरिभाषा, पृ. 79*
17. *ईश्वरसाक्षि तु मायोपहितं चैतन्यम्। तच्चैकम्। तदुपाधिभूतमायाया एकत्वात्। – वेदान्तपरिभाषा, पृ. 83*

अनुमान प्रमाण के अद्वैतवादी आयाम

अमित कुमार मिश्र

भारतीय दर्शन में स्वीकृति प्रमाणों में 'अनुमान' का स्थान मुख्य है। चार्वाक के अतिरिक्त प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक अनुमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकारते हैं। अनुमान की शाब्दिक व्युत्पत्ति दो शब्दों 'अनु' और 'मान' के योग से हुई है। 'अनु' का अर्थ है 'परवर्ती' और 'मान' का अर्थ 'ज्ञान' इस प्रकार अनुमान का अर्थ हुआ 'परवर्ती ज्ञान'। अत्यन्त सरल शब्दों में यदि अनुमान को परिभाषित करें तो हम कह सकते हैं कि ज्ञात तथ्यों के आधार पर अज्ञात निष्कर्षों की स्थापना को अनुमान कहते हैं।

अनुमान को प्रमाण मानने वाले सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने अनुमान को भिन्न–भिन्न तरीके से परिभाषित किया है। सांख्याचार्य कपिल के अनुसार– प्रतिबंध दर्शन से प्रतिबद्ध का ज्ञान होना ही अनुमान है।[1] वहीं वैशेषिकों के अनुसार लिंग के आधार पर लिंगी का ज्ञान अनुमान कहा गया है।[2] बौद्ध आचार्य दिङ्नाग के अनुसार अविनाभाव के द्वारा नानन्तरीयक दर्शन ही अनुमान है।[3] एक वस्तु का दूसरी वस्तु के अभाव में कभी भी न रहना नानन्तरीयक है। जैन आचार्य अकलंक के विचार में साधन द्वारा साध्य का ज्ञान ही अनुमान है।[4] न्याय दर्शन में महर्षि वास्त्यायन ने बताया कि– ज्ञात लिंग से अज्ञात लिंगी का ज्ञान ही अनुमान है।[5] नव्य नैयायिक गंगेश के अनुसार व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमिति और उसके करण को अनुमान कहते हैं।[6]

जहां तक वेदांत परिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुमान संबंधी मत का प्रश्न है तो वे अनुमान को उपर्युक्त वर्णित मतों से भिन्न अर्थों में परिभाषित करते हुए कहते हैं कि अनुमिति प्रमा के करण को अनुमान कहते हैं और अनुमिति प्रमा व्याप्तिज्ञानत्वेन (व्याप्ति ज्ञान रूप से) व्याप्ति ज्ञान जन्य (व्याप्ति ज्ञान जिसका जनक हुआ हो) है।[7]

यहां यह उल्लेखनीय है कि वेदांत परिभाषकार ने अनुमिति को परिभाषित करते हुए व्याप्तिज्ञानत्वेन अवच्छेदक का प्रयोग किया है क्योंकि यदि अनुमिति को मात्र व्याप्ति ज्ञान जन्य माने तो उसके इस लक्षण की अनुव्ययसाय, स्मृति आदि में अतिव्याप्ति हो जायेगी। किंतु व्याप्तिज्ञानत्वेन अवच्छेदक लगा देने से अनुव्यवसाय स्मृति आदि की व्यावृत्ति हो जाती है क्योंकि अनुव्यवसाय, स्मृति आदि व्याप्तिज्ञानजन्य तो है किन्तु इनका जो व्याप्ति ज्ञान जन्यत्व है उस जन्यत्व से निरूपित जो व्याप्तिज्ञान में कारणत्व है वह व्याप्ति ज्ञान के विषयत्व रूप से होता है। व्याप्ति ज्ञानत्व रूप से नहीं होता। यहीं बात स्मृति पर भी लागू होती है उदाहरण के लिए (धूम बह्निव्याप्य है) यह व्याप्ति प्रकारक ज्ञान 'पर्वत बह्निमान है' इस अनुमिति के प्रति जैसे कारण है वैसे ही व्याप्ति का अनुव्यवसाय, स्मृति आदि के प्रति भी कारण होता है। वे भी व्याप्तिजन्य हैं। किन्तु अंतर मात्र इतना है कि 'पर्वत बह्निमान है' इस अनुमिति के कारक व्याप्ति में जो कारणत्व है वह व्याप्ति ज्ञानत्व रूप है किन्तु– अनुव्यवसाय, स्मृति आदि में जो व्याप्ति ज्ञान कारणत्व है

दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ.प्र.)

वह ज्ञानत्वरूप होकर विषयत्व रूप है। जैसे कि 'यह घट' इस ज्ञान में 'घट' उस ज्ञान का विषय होता है और विषयत्व रूप से उस ज्ञान का जनक होता है। इस प्रकार व्याप्तिज्ञानत्वेन अवच्छेदक लगा देने से अनुमिति लक्षण से अनुव्यवसाय, स्मृति आदि की व्यावृत्ति हो जाती है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि उपरोक्त वर्णित अनुमान की सभी परिभाषाएं चाहे वह वेदांती हों या वेदांतेतर सभी का दृश्यावलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इन परिभाषाओं में कतिपय पहलुओं पर वैषम्य होने पर भी इस बात पर सहमति है कि अनुमान के लिए व्याप्ति और पक्षधर्मता आवश्यक अंग हैं। परन्तु व्याप्ति और पक्षधर्मता के ज्ञान के लिए अनुमान के मौलिक घटक पक्ष पद, साध्यपद तथा हेतुपद का ज्ञान अत्यावश्यक है। इन तीनों के अभाव में अनुमान संभव नहीं है। अतः सभी पर चर्चा आपेक्षित है। इसके लिए एक उदाहरण लेते हैं– पर्वत पर अग्नि है। क्योंकि वहां धूम है। जहाँ–जहाँ धूम है वहाँ–वहाँ अग्नि है।

अनुमान के उपरोक्त उदाहरण में पहाड़ पक्ष है। पक्ष उस आश्रय विशेष का नाम है जिसमें साध्य संदिग्ध अवस्था में पाया जाता है और साध्य वह है जिसे हेतु द्वारा पक्ष में सिद्ध किया जाता है। उपरोक्त उदाहरण में आग साध्य है जिसे पक्ष पहाड़ में सिद्ध किया जाना है। साथ ही जिसके द्वारा पक्ष में साध्य का होना बताया जाता है उसे हेतु कहते हैं, उपरोक्त उदाहरण में धुंआ हेतु है। हेतु की यथार्थता पर ही अनुमान की प्रामाणिकता निर्भर है। इसलिए सभी दार्शनिकों ने हेतु पर सर्वाधिक ध्यान दिया इस संदर्भ में यथार्थ हेतु के लक्षणों की चर्चा की गई जिसके अन्तगत एक से लेकर सप्त लक्षण परंपरा का उल्लेख मिलता है। परन्तु वेदांती सद्हेतु के लक्षणों का उल्लेख नहीं करते हैं। उसका कारण संभवतः ये है कि–वेदांत परिभाषाकार ने केवल उन्हीं मान्यताओं का उल्लेख किया जो नैयायिकों से भिन्न थीं और उनके द्वारा अन्य मान्यताओं का उल्लेख न करना उस संदर्भ में नैयायिकों द्वारा मान्य मतों की मौन स्वीकृति सूचित करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि संभवतः वेदांती नैयायिकों द्वारा स्वीकृति पक्ष, साध्य, हेतु तथा हेतु के पंचलक्षण (पक्षसत्व, विपक्षासत्व, सपक्षसत्व, असत्प्रतिपक्षत्व, अबाधित्व) को स्वीकृत प्रदान करते हैं।

हेतु पद और साध्य पद में जो अनिवार्य और सार्वभौम संबंध पाया जाता है उसे व्याप्ति कहते हैं। व्याप्ति शब्द दो शब्दों 'वि' और 'आप्ति' के योग से बना है जिसका सामान्य अर्थ है– विशेष संबंध–यहां विशेष से तात्पर्य नियत से है। संपूर्ण भारतीय दार्शनिक वाङ्गमय में व्याप्ति के अनुमान को आधार के रूप में स्वीकार किया गया है यद्यपि उनके द्वारा समर्थित व्याप्ति की परिभाषाएं भिन्न–भिन्न हैं। वेदांत परिभाषाकार भी व्याप्ति को विशिष्ट अर्थों में परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार– अशेष (समस्त–या–बिना किसी जगह छोड़े) जहां साधन का आश्रय हो वहां साध्य का भी आश्रय हो अर्थात् दोनों का अधिकरण (अधिष्ठान) समान हो, एक हो तो उनके बीच व्याप्ति होगा।[8] अर्थात् पर्वत आदि पक्ष पर धूम और अग्नि का होना। 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र बह्नि' इस आकार का जो समानाधिकरण है वही व्याप्ति का स्वरूप है।

इस संदर्भ में एक मुख्य प्रश्न यह है कि व्याप्ति का निर्धारण किस प्रकार होता है? जहां तक नैयायिकों का मत है उनके यहां व्याप्ति निश्चय के छः सोपान हैं। अन्वय, व्यतिरेक, व्यभिचाराग्रह, उपाधिनिरास, तर्क और लक्षणा। उनके अनुसार सर्वप्रथम हम हेतु और साध्य के बीच अन्वय संबंध को देखते हैं फिर व्यतिरेक संबंध को देखते हैं अर्थात्–जहां–जहां धूम है

वहाँ–वहाँ अग्नि है, (अन्वय संबंध) जहाँ–जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ–वहाँ धूम नहीं है (व्यतिरेक संबंध)। साथ ही हमने कई स्थानों पर इन संबंधों को देखा किन्तु एक भी जगह ऐसा नहीं देखा तो संबंध गलत हो जायेगा अर्थात् व्यभिचाराग्रह होना चाहिए। कोई उपाधि नहीं होनी चाहिए अर्थात् उपाधिनिरास की आवश्यकता है। व्याप्ति को सोपाधिक कथन के रूप में स्थापित होना चाहिए। (यदि वहां अग्नि नहीं है तो वहां धूम नहीं होगा) साथ ही इनके सामान्य लक्षण की भी आवश्यकता होती है। धूम का सामान्य धूमत्व है जिसका हमें धूम को देखने पर ज्ञान हुआ। इसी प्रकार अग्नि का ज्ञान हुआ और संबंध स्थापित हुआ जिसका आधार सामान्य लक्षण प्रत्सासत्ति है जो अलौकिक प्रत्यक्ष है।

किंतु वेदांत का मत इससे भिन्न है। वे अन्वय को मानते हैं (जहां–जहां धूम है वहां–वहां अग्नि है) किंतु व्यतिरेक को मानना आवश्यक नहीं है। उनके अनुसार अनुमान में हेतु से साध्य की ओर जाते हैं। साध्याभाव से हेत्वाभाव को सिद्ध कर हेतु से साध्य को सिद्ध करना अनुमान नहीं अपितु अर्थापत्ति है। वेदांती व्यभिचाराग्रह और उपाधिनिरास को भी स्वीकारते हैं किन्तु तर्क को नहीं स्वीकारते हैं क्योंकि एक तर्क को सिद्ध करने के लिए दूसरा और दूसरे को सिद्ध करने के लिए तीसरा तर्क देना होगा और ऐसी स्थिति में अनवस्था दोष होगा। जहां तक सामान्य लक्षण का प्रश्न है वेदांती सामान्य लक्षण को स्वीकार करते हैं किन्तु उनका मत नैयायिकों से भिन्न है।

किन्तु इस संदर्भ में वेदांतियों का क्या मत है यह जानने से पूर्व इनके सामान्य लक्षण को मानने की आवश्यकता के मूल में जो प्रश्न है उस पर विचार करना आवश्यक है। प्रश्न यह है कि – हम किसी अनिवार्य सार्वभौम संबंध का निर्धारण बिना समस्त उदाहरणों को देखे हुए किस प्रकार कर सकते हैं? नैयायिक इसका संतोषप्रद उत्तर देते हुए कहते हैं कि हमें सामान्य संबंध का ज्ञान अलौकिक प्रत्यक्ष के माध्यम से होता है। (सामान्य लक्षण प्रत्यासक्ति) नैयायिकों के यहां धूम सामान्य से तात्पर्य है–धूमत्व के सभी उदाहरण। सर्वप्रथम हम धूम के एक उदाहरण को देखते हैं तो हमें धूमत्व का बोध होता है। इस धूमत्व का दुबारा बोध अपने अन्दर सभी धूम के प्रत्यक्ष समाहित किये है और धूमत्व का यह लक्षण सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति कहलाता है।

किन्तु वेदान्त के अनुसार एक धूम (धूमत्व) से सभी उदाहरण को सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि ऐसे तो कुछ भी सिद्ध करने को शेष नहीं रहेगा अतः धूमत्व का अर्थ है धूमत्व सामान्य (सार)। हम धूम और अग्नि के प्रत्यक्ष द्वारा, दो सामान्यों (धूमत्व और अग्नित्व) में संबंध विकसित करते हैं जो अकेले ही धुओं और अग्नियों के सामान्य संबंध को प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार वेदांती नैयायिकों के समान ही denotative (वस्तत्वर्थक) परिभाषा से भिन्न Connotative (गुणार्थक) परिभाषा को स्वीकारते हैं। ध्यातव्य हो कि वेदांती व्याप्ति ज्ञान के लिए अन्वयभूयोदर्शन (बार–बार दर्शन) को नहीं स्वीकारते। उनके अनुसार भूयोदर्शन या केवल एक बार देखने से ही व्याप्ति संबंध का ज्ञान हो जाता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि वेदांतीय संदर्भ में व्याप्ति को अनुमान का करण स्वीकार किया गया है।[9] परन्तु उनके इस मत के संदर्भ में कई शंकाएं उपस्थित होती हैं। प्रथम तो यह कि अनुमिति को परिभाषित करते हुए पहले तो उन्होंने अनुमिति को व्याप्ति ज्ञान जन्य कहा जिससे व्याप्ति अनुमिति का कारण हुआ और पुनः यहां पर व्याप्ति को करण रूप में स्वीकार करते हैं। प्रश्न उठता है कि एक ही का कारण और करणत्व किस प्रकार हो सकता है।

इसका उत्तर देते हुए वेदांती कहते हैं कि कारण और करणत्व यदि परस्पर विरोधी होते तो एक ही व्याप्ति ज्ञान को कारण और करण नहीं कहा जा सकता, परन्तु ये दो धर्म परस्पर विरोधी नहीं अपितु करणत्व कारणत्व का ही विशेष है। क्योंकि असाधारण कारण को ही करण कहते हैं। वेदांती, नैयायिकों के मत का निराकरण करते हुए अपने मत की सिद्धि करते हैं।

प्राचीन नैयायिक अनुमिति के प्रति लिंग को ही कारण मानते हैं परन्तु यह उचित नहीं क्योंकि जहां लिंग प्रत्यक्ष योग्य नहीं है वहां परामर्श का व्यापारत्व संभव नहीं होता और व्यापारत्व न होने से लिंग का करणत्व भी नहीं मान सकते क्योंकि व्यापारत्व जो असाधारण कारण है उसकी ही करण संज्ञा है। उदाहरण के लिए धूलि में धूम का भ्रम होने से 'पर्वत बह्निमान है ऐसी यथार्थ अनुमिति होती है। यहां पर लिंग के न होते हुए भी अनुमिति हुई। इसलिए लिंग अनुमिति में करण है नहीं कहा जा सकता। केवल धूम का ज्ञान हुआ है और व्याप्ति ज्ञान (व्याप्ति स्मृति) नहीं हुआ अर्थात् केवल 'पर्वत धूमवान है' मात्र इतना ज्ञान होने से 'वह बह्नि है' ऐसी अनुमिति नहीं होती और प्रत्यक्ष के अयोग्य हेतुक स्थल में किसी व्यापार की भी संभावना नहीं है, इसलिए लिंग ज्ञान को भी कारण नहीं माना जा सकता। साथ ही नैयायिक समर्थित तृतीयलिंग परामर्श को भी अनुमिति के प्रति करण नहीं कहा जा सकता। नैयायिकों के अनुसार महानस में जब धूम और अग्नि की व्याप्ति ज्ञात होती है तब धूम का जो ज्ञान होता है वह प्रथम लिंग ज्ञान (हेतुज्ञान–धूमज्ञान) है। उसके बाद वह व्यक्ति वन में जाता है वहां उसे पर्वत पर धूम दिखता है यह द्वितीय लिंग ज्ञान है और उसके बाद 'यह पर्वत बह्निव्याप्य धूमवान् है' ज्ञान होता है, इसमें भी 'धूम' विषय है इसलिए यह तृतीय लिंग ज्ञान है और यही परामर्श कहलाता है। इसके अनन्तर अग्नि क्षण में ही 'पर्वत बह्मिान' है' अनुमिति होती है। इसलिए नैयायिकों के अनुसार यही तृतीय लिंग परामर्श ही अनुमिति का करण है। किंतु वेदान्त के अनुसार नैयायिकों का यह सिद्धान्त ठीक नहीं है क्योंकि पक्षधर्मता ज्ञान 'पर्वत धूमवान् है' इस प्रकार पक्ष पर हेतु के ज्ञान से महानस में ग्रहीत व्याप्ति ज्ञान का संस्कार उद्‌बुद्ध (जागृत) होता है, तदन्तर व्याप्ति का स्मरण होते ही बह्नि की अनुमिति होती है। परन्तु लिंग ज्ञान या पक्षधर्मताज्ञान होकर भी यदि व्याप्ति का स्मरण न हुआ हो तो अनुमिति नहीं होती। इस अन्वय व्यतिरेक से – अन्वयसंस्कार उद्‌बुद्ध होने पर यदि व्याप्ति स्मरण हुआ हो तो अनुमिति होती है। व्यतिरेक संस्कारोद्‌बोध के अभाव में अनुमिति नहीं होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि अनुमिति में व्याप्ति ज्ञान ही कारण है परामर्श नहीं। परामर्श के संदर्भ में– "परामर्शसत्वे अनुमितिः, परामर्शाभावे अनुमित्याभावः"– ऐसा अन्वय व्यतिरेक नहीं दिखाया जा सकता क्योंकि जब पक्षधर्मता ज्ञान और व्याप्ति ज्ञान के कारण ही अनुमिति होती है तब बिना परामर्श के भी परामर्श को अनुमिति का करण नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में उसे करण कहना कैसे संभव है (असाधारण कारण स्वरूप)? कारण शब्द सामान्य कारण का वाचक है उसमें जो असाधारण हो उसे करण संज्ञा है। इस प्रकार वेदांत परिभाषाकार के अनुसार अनुमिति का करण लिंग परामर्श नहीं अपितु व्याप्ति ज्ञान है।

यहां इस संदर्भ में यह प्रश्न उठता है कि आपने व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति के प्रति करण बताया परंतु यहां व्यापार कौन सा है? क्योंकि जो असाधारण व्यापार से युक्त रहता है उसे ही करण कहते हैं। व्याप्ति ज्ञान में व्यापार कौन सा है, समझ में नहीं आता।

इसका समाधान करते हुए वेदांती कहते हैं कि अंतःकरण पर रहने वाला व्याप्ति ज्ञान का संस्कार ही मध्यवर्ती व्यापार है। इसलिए व्याप्ति संस्कार से युक्त होने के कारण व्याप्तिज्ञान करण है अर्थात् व्याप्ति ज्ञान, संस्कार द्वारा अनुमिति में करण होता है।

यहां पुनः यह शंका उठती है कि यदि आपके कथनानुसार व्याप्ति ज्ञान ही संस्कार द्वारा अनुमिति का कारण मान लिया जाय तो अनुमिति को संस्कारजन्य मानना होगा और संस्कार जन्य ज्ञान स्मृति रूप होने से, अनुमिति को भी स्मृति कहना होगा।

इसका उत्तर देते हुए वेदांती कहते हैं कि 'संस्कार मात्रजन्यं ज्ञान स्मृतिः'[10]– यह स्मृति का लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि वह स्मृति और संस्कारध्वंस दोनों के लिए साधारण है अर्थात् यह लक्षण केवल स्मृति में घटित न होकर संस्कार ध्वंस में भी घटित होता है। क्योंकि संस्कार नाश भी संस्कार जन्य ही होता है। संस्कार ही नहीं होगा तो नाश किसका होगा। इस प्रकार यह शंका उपयुक्त नहीं है। अतः संस्कार जन्यत्व स्मृति का निर्दुष्ट लक्षण नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि तब स्मृति का प्रयोजक कौन है? वेदांत के अनुसार स्मृति प्रागभावजन्यत्व या संस्कार मात्रजन्यत्व को स्मृति का प्रयोजक कह सकते हैं।

ज्ञात हो कि वेदांती द्वारा इस प्रकार अपनी मान्यता स्पष्ट करने से उनके द्वारा समर्थित अनुमिति की प्रक्रिया के स्वरूप में नैयायिकों की तुलना में विभेद देखा जा सकता है जो निम्नांकित है –

नैयायिक	वेदांती
1. धुएं के साथ अग्नि का बार–बार देखा जाना	1. भूयोदर्शनः या सकृत दर्शन
2. उसमें व्याप्ति का निश्चय होना-MP (यत्र–यत्र धूमस्तत्र–तत्र बह्नि)	2. व्याप्ति निश्चय-MP
3. व्याप्ति का संस्कार बनना	3. व्याप्ति संस्कार
4. कहीं धुआ देखना (धूमवान पर्वत)-SM	4. धूमदर्शन-SM
5. व्याप्ति संस्कार का जागना (धूमो बह्नि निरूपित व्याप्त्याश्रयः)	5. व्याप्ति संस्कारोद्बोध
6. व्याप्ति स्मृति – MP	6. अनुमति– SP
7. तृतीय लिंग परामर्श– S-M-P (बह्निव्याप्त धूमवान् पर्वतः)	
8. अनुमिति (पर्वतोबह्निमान)–SP	

इस तालिका से स्पष्ट होता है कि वेदांती नैयायिकों की तुलना में व्याप्ति के लिए भूयोदर्शन को आवश्यक नहीं मानते। उनके अनुसार सकृत दर्शन (केवल एक बार ठीक–ठीक दर्शन) से भी व्याप्ति ज्ञान हो सकता है।

साथ ही व्याप्ति–स्मृति और तृतीय लिंग परामर्श की भी आवश्यकता नहीं है। वेदान्त के अनुसार व्याप्ति की स्मृति के बिना अनुमिति हो जाती है। प्रत्येक अनुमान में इन चरणों का प्रयोग नहीं होता क्योंकि अपने लिए अनुमान करते समय हम न्याय का प्रयोग नहीं करते किन्तु फिर भी यदि व्याप्ति स्मृति कह दिया जाय तो बुरा नहीं है।

किन्तु S-M-P तृतीय लिंग परामर्श की क्या जरूरत है? वेदान्त के अनुसार यदि हम तृतीय लिंग परामर्श को स्वीकारते हैं तो भूत–भविष्य का अनुमान नहीं कर सकेंगे। उदाहरण के लिए यह पिण्ड मनुष्य है इसलिए मरणशील है। S-M-P इस S-M-P वाक्य के आधार पर भविष्य में यह कहना कि मनुष्य मरणशील होगा–न्याय के अनुसार न हो पायेगा। इस प्रकार उल्लेखनीय है कि उनका यह न्यायवाक्य पाश्चात्य दर्शन के न्यायवाक्य के अधिक समीप लगता है।[12]

अनुमान के प्रकार

जहाँ तक अनुमान के वर्गीकरण का प्रश्न है वेदांती इस संदर्भ में किसी प्रकार का कोई स्वतंत्र चिंतन नहीं प्रस्तुत करते। चूँकि अनुमान सम्बन्धी समस्त चिंतन नैयायिकों के सापेक्ष है इसलिए अनुमान के वर्गीकरण में भी वे इसी रीति को अपनाते हुए विचार करते हैं। अतएव वेदांती मत को बुद्धिग्राह्य बनाने हेतु नैयायिकों के मत को समझना अत्यावश्यक है। अनुमान के वर्गीकरण के संदर्भ में नैयायिकों के अनुमान के तीन प्रकारों का समर्थन किया है –

(1) केवलान्वयी
(2) केवलव्यतिरेकी
(3) अन्वयव्यतिरेकी।

वह अनुमान जिसमें केवल अन्वय से व्याप्ति हो व्यतिरेक से नहीं अर्थात् जहाँ हेतु और साध्य पद के बीच मात्र सामान्य सहमति या भावात्मक संबंधों के आधार पर निष्कर्ष निगमित किया जाता है उसे केवलान्वयी अनुमान कहते हैं।

जैसे – सभी ज्ञेय अभिधेय हैं। (जैसे–पट)
शब्द ज्ञेय है।
शब्द अभिधेय है।

उपरोक्त उदाहरण में शब्द का अभिधेयत्व साध्य है और प्रमेयत्व हेतु है। इस प्रमेयत्व हेतु का कहीं व्यतिरेक दृष्टांत नहीं मिल सकता है। इसलिए केवलान्वयी में हेतु का अभाव नहीं होता।

वह अनुमान जिसमें मात्र व्यतिरेक से व्याप्ति है, अन्वय से नहीं अर्थात् जहां हेतु और साध्य के बीच मात्र पारस्परिक असहमति या अभावात्मक संबंधों के आधार पर निष्कर्ष निगमित किया जाता है उसे केवल व्यतिरेकी अनुमान कहते हैं जैसे –

जो अन्य द्रव्यों से भिन्न नहीं है उसमें गंध नहीं हैं।
पृथ्वी में गंध है।
पृथ्वी अन्य द्रव्यों से भिन्न है।

न्यायदर्शन में नौ द्रव्यों की सत्ता को स्वीकार किया गया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु, आत्मा, मन, देश, काला यहां अन्य द्रव्य से तात्पर्य पृथ्वी को छोड़कर अन्य आठों से है। वहीं वो अनुमान जहां व्याप्तिसंबंध की स्थापना अन्वय–व्यतिरेक दोनों से संभव हो अर्थात् जहां हेतु एवं साध्य पद के बीच भावात्मक एंव अभावात्मक दोनों संबंधों के आधार पर निष्कर्ष निगमित किया जाता है उसे अन्वय व्यतिरेकी अनुमान कहते हैं।

अन्वय	व्यतिरेक
सभी धूमवान् वस्तुएं अग्नियुक्त हैं।	सभी अग्निरहित पदार्थ धूमरहित है।
पहाड़ धूमवान् है।	पहाड़ धूमयुक्त है।
पहाड़ पर अग्नि है।	पहाड़ अग्नियुक्त है।

किंतु वेदांत के अंतर्गत न्याय समर्थित अनुमान के प्रकारों का खंडन किया गया है। केवलान्वयी का खंडन करते हुए वेदान्त परिभाषाकार कहते हैं कि – नैयायिकों के द्वारा दिये गये केवलान्वयी के उदाहरण में शब्द का अभिधेयत्व साध्य है और प्रमेयत्व हेतु है। इस प्रमेयत्व हेतु का कहीं व्यतिरेक दृष्टांत नहीं मिल सकता है। इसलिए केवलान्वयी में हेतु का अभाव नहीं होता। किन्तु इस संदर्भ में वेदांत परिभाषाकार का कहना है कि ब्रह्म के अतिरिक्त इस जगत् में हर वस्तु का कहीं न कहीं अभाव अवश्य रहता है। ब्रह्म में हर वस्तु का अभाव है इसलिए हेतु संबंधी नैयायिक मान्यता अनुपयुक्त है। अतः उस पर आधारित केवलान्वयी अनुमान भी उचित नहीं।[13] श्रुति भी 'नेह नानास्ति किञ्चन' कहकर जगत् की अनेक विधता का खंडन करती हैं।

अनुमान का दूसरा प्रकार केवल व्यतिरेकी है उसकी भी मानना उचित नहीं है। वेदांती, मीमांसकों की ही भांति स्वीकार करते हैं कि व्यतिरेक व्याप्ति अनुमान का आधार नहीं हो सकती है। उनके अनुसार भावात्मक अनियत साहचर्य (अन्वयव्याप्ति) के बिना व्यतिरेक व्याप्ति का ज्ञान संभव नहीं। साथ ही व्यतिरेक व्याप्ति से निगमित होने वाला निष्कर्ष एक भिन्न प्रमाण द्वारा व्यवहृत होता है जिसे अर्थापत्ति कहते हैं। वेदान्तानुसार अनुमान में हेतु और साध्य के बीच संबंध बनाते हैं और हेतु हो तो साध्य का निगमन करते हैं किन्तु केवल व्यतिरेकी में साध्य के अभाव से साधन के अभाव का निश्चय किया जाता है। जो उचित प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः यह अर्थापत्ति से जाना जाता है।

यहां अग्निरूप साध्य के द्वारा धूम रूप साधन के अभाव का निश्चय किया गया है। किन्तु साध्य के अभाव से हेतु के अभाव की कल्पना का अनुमान में कोई आवश्यक उपयोग नहीं हैं। अनुमान में तो हेतु से साध्य सिद्धि का उपयोग है। अतः केवल व्यतिरेकी हेतु मानना भी संगत नहीं है। जिसको अन्वय व्याप्ति का ज्ञान नहीं है, वह अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा अग्नि आदि का ज्ञान कर सकता है। इस प्रकार केवल व्यतिरेकी उचित नहीं है।[14] साथ ही, व्यतिरेक व्याप्ति का खंडन होने से अन्वय व्यतिरेकी की संभव नहीं।

इस प्रकार नैयायिकों के तीनों प्रकारों का खंडन करते हुए वेदांती मात्र अन्वयी अनुमान को स्वीकार करता है। परन्तु यह केवलान्वयी नहीं है क्योंकि वेदान्त के अनुसार ब्रह्म के अतिरक्ति इस जगत् में जो कुछ भी है उसका कहीं न कहीं अभाव अवश्य रहता है। ब्रह्म में हर वस्तु का अभाव है। अतः केवलान्वयी का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस प्रकार नैयायिकों के केवलान्वयी और वेदान्त सम्मत अन्वयी अनुमान में तत्त्वमीमांसीय वैभिन्य के कारण भेद है। इसके अतिरिक्त वेदांत में न्याय के समान स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान रूपी अन्य दो अनुमान भेद भी स्वीकार किये गये हैं। वेदांत मत में इन दोनों का स्वरूप लगभग न्यायदर्शन जैसा ही है। केवल परार्थनुमान की प्रक्रिया में कुछ भेद है। जहां न्यायदर्शन परार्थानुमान में पंचावयव वाक्यों का (प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टांत, उपनय निगमन) प्रयोग करता है वहीं वेदांत इन पंचावयव वाक्यों मे से प्रथम तीन या अंतिम तीन

वाक्यों को ही स्वीकार करता उनके मतानुसार प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन इनमें से कोई–तीन हो सकते हैं। इन्हीं तीनों से काम चल जायेगा। पाँच का मानना व्यर्थ है। अर्थात्–प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टांत या फिर दृष्टांत, उपनय, निगमन।

इस प्रकार अद्वैत वेदांती नैयायिकों के सापेक्ष कुछ भिन्न दृष्टिकोण रखते हुए अपने अनुमान संबंधी मत का प्रतिपादन करते हैं। वेदांतीय संदर्भ में अनुमान में आयी भिन्नता का कारण उनकी तत्त्वमीमांसीय मान्यता है और अनुमान के इसी स्वरूप के कारण वे अपने विभिन्न सिद्धान्तों की सिद्धि भी करते हैं –

वेदांती तत्त्व की अवधारणा के विषय में अनुमान को साक्षात् रूप से सहायक नहीं मानते हैं जैसा कि न्याय, मीमांसा, सांख्य आदि मानते हैं। उनके अनुसार परोक्ष रूप से उसकी सहायता महत्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए–अनुमान के द्वारा स्वतंत्र विधि से ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि अनुमान बिना व्याप्ति के संभव नहीं और ब्रह्म में व्याप्ति की कोई संभावना नहीं किन्तु फिर भी अनुमान ब्रह्म ज्ञान का सहायक अवश्य है। श्रुति समर्थक अनुमान से ब्रह्म ज्ञान की पुष्टि होती है। अनुमान स्वतंत्र रूप से ब्रह्म ज्ञान का कारण नहीं बन सकता।

जगत् प्रपंच का कारण सांख्य की त्रिगुणामिका प्रकृति नहीं, तथा न्याय का परमाणु भी जगत् प्रपंच का कारण नहीं इत्यादि विकल्पों का खण्डन, श्रुतिमूलक अनुमान के आधार पर करने के अनन्तर ही वेदान्त ने बह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण माना है। इसके अतिरिक्त श्रुतियों का समन्वय अद्वैत वेदांत में किस प्रकार होता है और किस प्रकार परस्पर विरोधी श्रुतियों का अवधारण किया जायेगा? इत्यादि प्रसंगों में भी श्रुतिमूलक अनुमान सहायक सिद्ध होता है।

इस प्रकार वेदान्त दर्शन अनुमान को परमतत्त्व के संदर्भ में समर्थ न मानते हुए भी, इसका सर्वथा तिरस्कार नहीं करता है अपितु उसकी सीमा निर्धारित कर देता है, अन्य दार्शनिक ऐसा नहीं करते। जगत् का मिथ्यात्व, अज्ञान का अस्तित्व, एवं जीव ब्रह्म का ऐक्य भी श्रुति समर्थित अनुमान के माध्यम से ही सिद्ध होता है।



संदर्भ –

1. *प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्, सांख्य सूत्र 1–100*
2. *अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायिचेति लैगिकम्, वैशेषिक सूत्र 9–2–1, लिंगदर्शनात् संजयमानक लैंगिकम्, प्रशस्तपाद भाष्य, 162*
3. *नानन्तरीयकार्थदर्शनं तद्विदोऽनुमानम्।*
   या च सम्बन्धिनो धर्माद् भूतिधर्मिणि ज्ञायते।
   सानुमानं परोक्षणामेकान्तेनैव साधनम्–प्रमाण वार्तिक 2–62
4. *साधनात् साधयविज्ञानम् अनुमानं तदत्यते, न्यायविनिश्चयभाष्य–2*
5. *तत्पूर्वकमित्यनन लिंगलिंगिनोंः सम्बन्धदर्शनं लिंगदर्शनंचाभिसम्बध्यते।*
   लिंगलिंगिनो सम्बद्धयोः दर्शनेन लिंगस्मृतिरभि सम्बध्यते।
   स्मृत्या लिंगदर्शनेन चाप्रत्यज्ञोऽथोऽनुमीयते–न्यायभाष्य 1.1.5
6. *व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञानजन्यं ज्ञाननुमितिः तत्कारणनुमानं तच्च लिंगपरामर्शो न तु परामृश्यमानं लिंगम्, तत्वचिंतामणि (गंगेश)*

7. अनुमितिकरणमनुमानम्। अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या। वेदान्त परिभाषा (धर्मराजाध्वरीन्द्र) टीका, गजाननशास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्भा प्रकाशन, पृ.–148
8. व्याप्तिश्च अशेष–साधनाश्रित–साध्य समानाधिकरण्यरूपा, वही पृ.–161
9. अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञांन, तत्संस्कारोऽवान्तर, व्यापारः न तु तृतीय लिंग परामर्शो अनुमितौकरणम्, वही पृ. 151
10. तर्कसंग्रह, अन्नंभट्ट, सं. अथाल्ये तथा बौदास, बाम्बे संस्कृत सीरीज, 1988, पृ. 23
11. तच्च सहचार दर्शनं भूयोदर्शनं संस्कृत दर्शनंवेति विशेषो नादरणीयः। सहचार दर्शनस्यैव प्रयोजकत्वात्। वेदांत परिभाषा (धर्मराजाध्वरीन्द्र) टीका, गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, चौखाम्बा प्रथम, पृ. 161
12. दृष्टव्य, Introduction to logic, I.M. Copi
13. तच्चानुमानमन्वयिरूपमेकमेव, न तु केवलान्वयि। सर्वस्यापि धर्मस्यास्मन्मते ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभाव–प्रतियोगित्वेन अत्यन्ताभावाप्रतियोगी–साध्यकत्व रूप केवलान्वयित्वस्याऽसिद्धः। वेदांतपरिभाषा टीका, गजाननशास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्बा प्रकाशन, पृ. 163
14. नाप्यनुमानस्य व्यतिरेक–रूपत्वम्। साध्याभावे साधनाऽभावनिरूपित–व्याप्तिज्ञानस्य साधनेनसाध यानुमितावनुपयोगात्। वही पृ. 164

अद्वैत वेदान्त में शब्द प्रमाण

नागेन्द्र तिवारी

अद्वैत वेदान्त का परम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार या ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति है। इस साध्य की प्राप्ति में ज्ञान मार्ग अथवा ज्ञान ही साधन है। ज्ञान द्वारा ही आत्मोपलब्धि की जा सकती है क्योंकि आत्मा का वास्तविक स्वरूप अज्ञान के आवरण से ढँका रहता है। अज्ञान–निवृत्ति के द्वारा ही ब्रह्म प्राप्ति की जा सकती है। इसलिए अद्वैत वेदान्त में ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान की प्रामाणिकता आदि पर विषेश आग्रह किया गया है। ज्ञान की प्रामाणिकता के सन्दर्भ में ही श्रुति–प्रमाण अथवा शब्द प्रमाण की चर्चा आती है।

अद्वैत वेदान्त में शब्द प्रमाण की परिभाषा– जिस वाक्य के तात्पर्य का विषय होने वाला संसर्ग, अन्य प्रमाणें से बाधित नहीं होता, वह वाक्य, शब्द प्रमाण होता है।[1] वाक्यजन्य ज्ञान में चार कारण हैं[2] – 1. आकांक्षा 2. योग्यता 3. आसत्ति (सन्निधि) और 4. तात्पर्य ज्ञान।

1. आकांक्षा – पदार्थों को परस्पर जिज्ञासा की विषयता के योग्य होने का नाम आकांक्षा है।[3] वाक्य में वस्तुतः एक पद को दूसरे पद की अपेक्षा रहती है, अन्यथा वाक्य पूर्ण नहीं होता है। क्रिया को कर्त्ता की आवश्यकता है। उद्देश्य को विधेय की अपेक्षा रहती है, यथा केवल 'गाय' कहने से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता है। गाय को विधेय 'चरती' है या अन्य कुछ विधेय की आवश्यकता है। अतः स्पष्ट अर्थ के लिये पद में आकांक्षा वांछनीय है।

2. योग्यता – विषयीभूत पदार्थों के संसर्ग के बाध न होने को योग्यता कहते हैं, या पदों के समूहों में परस्पर सामंजस्य होना चाहिये यही योग्यता है अन्यथा शब्द बोध नहीं हो सकता। यथा 'अग्नि से सींचता है' इस वाक्य में करण एवं क्रिया में किसी भी प्रकार का सामंजस्य नहीं है, कारण की सिंचन क्रिया का वस्तुतः करण फल होता है न कि अग्नि। अतः उपरोक्त वाक्य में योग्यता का अभाव है क्योंकि उपरोक्त वाक्य का अर्थ बाधित होता है। यही कारण है कि शाब्द बोध के लिए पदों में परस्पर योग्यता हो, न कि अयोग्यता (विरोधाभास), इसी को योग्यता कहा जाता है।

3. आसत्ति (सन्निधि) – व्यवधानरहित पद जन्य पदार्थों की उपस्थिति का नाम आसत्ति है। या यह कहा जा सकता है कि साकांक्षा–पदों का सामीप्य रहना भी नितांत आवश्यक है अन्यथा शाब्द बोध नहीं हो सकता है। यथा यदि गाय को लाओ इन पदों के उच्चारण काल में एक–एक घंटे का व्यवधान हो तो इन उच्चरित पदों से किसी भी प्रकार के अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होगी। अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये यह आवश्यक है कि कि अन्वित पदों को अव्यवहित रखा जाय। अन्यथा किसी भी प्रकार का शाब्द बोध नहीं होगा।

4. तात्पर्य ज्ञान– वाक्य ज्ञान में तात्पर्य भी, कारण है। तात्पर्य का लक्षण न्याय एवं वेदान्त दोनों में भिन्न है। न्याय–दर्शन वक्ता की इच्छा को ही तात्पर्य मानता है। इस परिभाषा के अनुसार जो व्यक्ति जिस भाषा को नहीं जानता, उसको उस भाषा के शब्द सुनने पर भी अर्थ का बोध होना

दर्शन विभाग, मोरारका कॉलेज, सुल्तानगंज (बिहार)

चाहिये। ऐसा नहीं होता है, इसलिए यह परिभाषा दोषयुक्त है। वेदान्त ने अपनी नवीन परिभाषा की है, उसकी परिभाषा का यह आशय है कि जो वाक्य विवक्षित अर्थ की प्रतीति करता है, किन्तु विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति नहीं करता है, उस शब्द का उसी अर्थ में तात्पर्य समझना चाहिये। भोजन के समय "सैन्धव लाओ" इस वाक्य का उच्चारण किया गया। सैन्धव शब्द के कई अर्थ हैं। वक्ता उसको अपने विवक्षित अर्थ में ही प्रयोग करना चाहता है। उससे भिन्न अर्थ में नहीं। इसलिए सैन्धव शब्द का उसी अर्थ में तात्पर्य मानना चाहिए। प्रकरण के अनुसार भोजन के प्रसंग में सैन्धव का अर्थ नमक होगा।

इस तात्पर्य की अवधारणा वेद में मीमांसा के द्वारा होती है, और लौकिक व्यवहार में प्रकरण आदि के द्वारा होता है। इन्हीं चारों के माध्यम से शब्द की या वाक्य की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति (सन्निधि) एवं ताप्पर्यज्ञान से युक्त पद या वाक्य ही प्रामाणिक अर्थ प्रदान करता है। यह पद का अर्थ दो प्रकार का होता है, एक शक्य, दूसरा लक्ष्य। जिन शक्तियों के द्वारा, इस अर्थ का ज्ञान होता है, उनको शक्ति तथा लक्षणा कहते हैं। शक्ति का लक्षण निम्नांकित है – पद, या वाक्य, के मुख्य अर्थ का ज्ञान, जिसके माध्यम से होता है उसको शक्ति कहते हैं। इसको कुछ विचारक अभिधा भी कहते हैं। जैसे "घट" शब्द का उच्चारण करने के बाद कम्बुग्रीवादि से युक्त अर्थ का ज्ञान होता है। यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि यह शक्ति अतिरिक्त पदार्थ है या सात पदार्थों में ही इसका अन्तर्भाव हो जायेगा। न्यायदर्शन शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानता। वह इसका अन्तर्भाव सात पदार्थों में ही कर लेता है। मीमांसक एवं अद्वैत– वेदान्ती, न्याय के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं है। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक कारण में कार्य उत्पन्न करने की शक्ति रहती है। जैसे अग्नि में दाह उत्पन्न करने की। किन्तु अग्नि के सामने चन्द्रकान्त मणि रखने पर दाह उत्पन्न नहीं होता। चन्द्रकान्त मणि को हटा देने पर दाह उत्पन्न हो जाता है। इस क्रिया से यह सिद्ध होता है कि अग्नि में दाह उत्पन्न करने की शक्ति है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कारण में कार्य उत्पन्न करने की शक्ति है। जिस प्रकार कारण में कार्य उत्पन्न करने की शक्ति है, उसी प्रकार पद में पद का अर्थ देने की शक्ति है तथा वाक्य में वाक्य का अर्थ देने कि शक्ति है। यह शक्ति अतिरिक्त पदार्थ है। यह न तो द्रव्य है, न गुण है, अर्थात् सात पदार्थों के अतिरिक्त है। अद्वैत वेदान्त की माया ही शक्ति है।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि शक्ति जाति में है या व्यक्ति में अथवा जाति विशिष्ट व्यक्ति में। वेदान्ती शब्दार्थ को जाति रूप मानते हैं। उनके अनुसार शब्द की शक्ति जाति में रहती है। शक्ति को यदि व्यक्ति में माना जायेगा, तो अनंत शक्तियाँ माननी पड़ेगी क्योंकि व्यक्ति अथवा वस्तु अनंत है, उदाहरण के लिए वस्तुयें अनंत हैं, गौ, गज, मानव आदि अनन्त होने के कारण इनमें असंख्य शक्तियों को स्वीकार करना पड़ेगा।

इसलिए व्यक्ति में शक्ति की मान्यता तर्क संगत नहीं है। यह प्रश्न होने पर कि यदि व्यक्ति में शक्यत्व नहीं है तो 'गो' आदि पदों के श्रवण करते ही सास्नादिमान् गो व्यक्ति का ज्ञान कैसे होता है ? वेदान्ती कहते हैं कि जाति, व्यक्ति ज्ञानरूप एक ही ज्ञान से सवेद्य होने से, जाति ज्ञान के होते ही व्यक्ति ज्ञान और व्यक्ति ज्ञान के होते ही उसमें ही जाति ज्ञान होता है।[4]

वेदान्ती कहते हैं कि जिस प्रकार व्यक्ति में शक्ति नहीं मानी जा सकती, उसी प्रकार जाति विशिष्ट व्यक्ति में भी शक्ति नहीं मानी जा सकती। व्यक्ति में शक्ति मानने पर गो आदि व्यक्तियों के अनंत होने से उसमें रहने वाली शक्तियाँ भी अनंत माननी होगी। इस प्रकार अनंत शक्तियों की कल्पना में गौरव होगा। यदि एक 'गो' पद से एक व्यक्ति में शक्तिग्रहण होना माना जाय तो अन्य गो व्यक्ति का उस पद से ज्ञान नहीं होगा। फलतः प्रत्येक गो व्यक्ति के लिए पृथक् गो पद की कल्पना करनी होगी। इस रीति से असंख्य गौओं की शक्ति का ज्ञान सहस्त्र युगो में भी नहीं हो पायेगा। इसी प्रकार जातिविशिष्ट व्यक्ति में शक्ति मनाने पर भी अनन्त व्यक्तियों का ज्ञान न होने के कारण अमुक शब्द की अमुक अर्थ में ही शक्ति, है ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकेगा। इसलिये जाति में ही शक्ति माननी पड़ेगी।

इस सन्दर्भ में एक प्रश्न उठता है कि वेदान्त तो जाति एवं समवाय का खण्डन करता है फिर जाति किस प्रकार स्वीकार की जा सकती है। इसके उत्तर में वेदान्ती कहते हैं कि जाति शब्द से घटत्व आदि जातियों का ज्ञान नहीं होता है अपितु उसके द्वारा आकृतियों का ज्ञान होता है। शंकराचार्य ने भी जाति शब्द के स्थान पर आकृति शब्द का प्रयोग किया है। वेदान्त मत में जाति का अभिप्राय अनुगत धर्म है और जाति में शक्ति मानने का तात्पर्य अनुगत धर्म में ही शक्ति मानना है।

जाति में शक्ति मानने पर व्यक्तिशक्तिवाद की ओर से यह आक्षेप किया जाता है कि 'गोत्व' जाति में शक्ति मानने पर 'गो' व्यक्ति का ज्ञान कैसे होगा तथा 'गामानय' आदि आदेश का पालन कैसे होगा क्योंकि 'गो' से गोत्व जाति का बोध होगा तथा गोत्व अमूर्त पदार्थ है, उसका आनयन कार्य कैसे हो सकता है? गोत्व जाति तो लाई नहीं जा सकती है, केवल गो व्यक्ति ही लाया जा सकता है।

इसके उत्तर में वेदान्ती कहते हैं कि व्यक्ति ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण से होता है। जब कोई व्यक्ति 'गामानय' सुन कर गाय ले आता है तो उसके क्रियाकलाप को देखकर ज्ञान होता है कि इस व्यक्ति ने गो शब्द सुना और सुनकर गाय ले आया। इससे यह सिद्ध होता है कि इसने गो शब्द से गो व्यक्ति ही अर्थ समझा है। इसी कारण उसमें गो व्यक्ति को लाने की प्रवृत्ति हुई। इस मत पर भी आक्षेप किया जाता है कि 'गमाानय' में तो अर्थापत्ति प्रमाण के माध्यम से व्यक्ति का ज्ञान हो सकता है, किन्तु 'गो अस्ति' इस वाक्य के प्रयोग करने पर 'गो' व्यक्ति का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण से नहीं हो सकेगा, क्योंकि यहॉ पर किसी प्रकार का क्रिया–कलाप देखने को नहीं मिलता।

इसके प्रतिवाद में वेदान्ती कहते हैं कि जाति एवं व्यक्ति को अलग–अलग मानने पर ये समस्यायें उत्पन्न होती हैं। न्याय दर्शन इन्हें अलग–अलग मानता है। इसलिए समस्यायें उत्पन्न होती हैं। यदि धर्म एवं धर्मी को, गोत्व एवं गौ को या घटत्व एवं घट को एक ही मान लिया जाए तथा दोनों का तादात्मय का अभेद मान लिया जाय तो इस प्रकार की समस्या उत्पन्न नहीं होगी। जाति और व्यक्ति, धर्म एवं धर्मी का अभेद होने के कारण, जाति का ज्ञान होने से व्यक्ति का भी ज्ञान हो जायेगा तथा व्यक्ति का ज्ञान होने से जाति का भी ज्ञान हो जायेगा।[5]

प्रभाकर मीमांसकों का कथन है कि जाति एवं व्यक्ति दोनों में ही शक्ति माननी चाहिए। उनके अनुसार व्यक्ति का ज्ञान शक्ति की स्वरूप सता से हो जाता है तथा जाति का ज्ञान शक्ति के ज्ञान से हो जाता है। उदाहरण के लिए 'गाय' शब्द का उच्चारण करने पर गाय शब्द में गाय का ज्ञान कराने की क्षमता है। यह क्षमता इस शब्द में स्वरूपतः विद्यमान है। इसके ज्ञान की आवश्यक्ता इसके बोध के लिए नहीं पड़ती। इसके विपरीत 'गाय' शब्द सुनकर गोत्व जाति का ज्ञान करने के लिए, शक्ति का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए यह मानना चाहए कि जाति का ज्ञान, ज्ञान शक्ति से तथा व्यक्ति का ज्ञान स्वरूप शक्ति से होता है।

अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए प्रभाकर तर्क देते हैं कि कार्य की उत्पति के लिए कारण का रहना आवश्यक है। कुछ कारण ऐसे होते हैं जिनके रहने पर ही कार्य उत्पन्न हो सकता है। बिना उनके कार्योत्पति नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए घट रूप कार्य की उत्पति हेतु, दण्ड रूप कारण का स्वरूप से विद्यमान रहना अनिवार्य है। इसके विपरीत कुछ कारण ऐसे होते हैं जिनके ज्ञानमात्र से कार्य की उत्पति हो सकती है। उनका स्वरूप से उपस्थित रहना आवश्यक नहीं होता। उदाहरण के लिए धूम को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। यह अग्नि विषयक अनुमान धूम के बिना भी केवल धूलि रेखा को धूम समझ कर भी किया जा सकता है। इस प्रकार अग्नि के अनुमान के लिए धूम का स्वरूपतः होना आवश्यक नहीं होता। उसके ज्ञानमात्र से भी अनुमान किया जा सकता है। अतः कार्योत्पति के लिए कुछ कारणों की स्वरूपतः सता आवश्यक है तथा कुछ कारणों की ज्ञात सता से भी कार्य उत्पन्न हो सकता है। इसके आधार पर जाति का ज्ञान, ज्ञात शक्ति से तथा व्यक्ति का ज्ञान स्वरूप शक्ति से हो सकता है।

वेदान्ती इस मत का खण्डन भाट्टमीमांसको के अनुसार करते है। उनके अनुसार प्रभाकर मत दोषयुक्त है क्योंकि इसमें ज्ञायमान शक्ति एवं स्वरूपशक्ति, दो शक्तियों की कल्पना करनी पड़ती है। इसकी अपेक्षा यह मानना अधिक तर्कसंगत है कि जाति का बोध शक्ति के माध्यम से एवं व्यक्ति का बोध लक्षणा के माध्यम से होता है। उदाहरण के लिए नील घट कहने से 'नीलगुणविशिष्टधट' अर्थ निकलता है। इस शब्द में नील दो प्रकार से कार्य करता है। एक ओर नीलशब्द नील गुण अर्थ को बताता है तथा दूसरी ओर वह नील शब्द 'नील गुण से विशिष्ट' अर्थ को भी बताता है। नील शब्द की शक्ति इन दोनों ही अर्थों में है। किन्तु इन दोनों में नील शब्द की शक्ति है ऐसा सिद्धान्त रूप में नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा होने पर दो शक्तियाँ माननी पड़ेगी। इसलिए यह माना जाता है कि लक्षणा शक्ति के माध्यम से, नील शब्द नीलगुणविशिष्ट अर्थ का ज्ञान करता है। इस दृष्टि से यही मानना श्रेयस्कर तथा तर्कसंगत होगा कि जाति वाचक शब्दों की जाति विशिष्ट अर्थ में तथा गुणवाचक शब्दों की गुण विशिष्ट अर्थ में लक्षणा माननी चाहिए। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि 'गो' शब्द से गोत्व जाति का ज्ञान शक्ति के माध्यम से तथा गो रूप व्यक्ति का ज्ञान लक्षणा के माध्यम से होता है।[6]

लक्षणा विचार

वेदान्त दर्शन में दो प्रकार की वृतियाँ अभिधा तथा लक्षणा मानी गई है। इन्हें ही दूसरे शब्दों में शक्य तथा लक्ष्य कहा गया है। शक्ति के माध्यम से जिसका ज्ञान हो वह शक्य है तथा लक्षणा के माध्यम से जिसका ज्ञान हो, वह लक्ष्य है।

लक्षणा की परिभाषा

जिस शब्द शक्ति के माध्यम से, मुख्यार्थ से भिन्न, अर्थ लक्षित होता है, उसे लक्षणा कहते हैं। अभिधा द्वारा पदार्थ का सीधे ज्ञान होता है। किन्तु लक्षणा में लक्ष्य पदार्थ के साथ पद का पहले जैसा साक्षात् संबंध नहीं रहता अर्थात् पद श्रवण होने के अनन्तर प्रथमतः ही लक्ष्य पदार्थ का ज्ञान नहीं होता अपितु शक्य पदार्थ के द्वारा, परम्परा से होता है। अर्थात् पद का श्रवण होते ही मुख्यत्वेन प्रथमतः जिसका ज्ञान नहीं होता, वरन् उसके लक्ष्य अर्थ का शक्यार्थ के साथ सम्बन्ध ज्ञान होने के अनन्तर ज्ञान हो, यही लक्षणा वृत्ति है। लक्षणा का लक्षण करते हुए कहा गया है–शक्य सम्बन्धो लक्षणा। पद के वास्तविक अर्थ का मुख्य वृत्ति से ही सर्वत्र बोध मानना उचित है, किन्तु जहाँ इस मुख्य वृत्ति का बोध संभव ही नहीं रहता वहाँ इस अमुख्य वृत्ति को स्वीकार करना पड़ता है। इसके स्वीकार के तीन कारण दार्शनिक बताते हैं– मुख्य अर्थ या वाच्य अर्थ में बाधा उपस्थित होना। यह बाधा या तो अन्वय की अथवा तात्पर्य की अनुपपति में होगी। दूसरा कारण यह हो सकता है कि मुख्यार्थ के साथ अर्थ का सम्बन्ध हो तथा तीसरा कारण रूढ़ि या प्रयोजन भी हो सकता है।

कुछ दार्शनिक अन्वय की अनुपपति को ही लक्षणा का कारण मानते हैं। उनके मतानुसार 'गंगायाम् घोषः' इस वाक्य को सुनने के बाद गंगा में घोष अर्थात् आमीर पल्ली है, ऐसा अर्थ घोषित होता है। किन्तु गंगा में घोष का होना संभव नहीं है। इसलिये यहाँ अन्वय में बाधा आती है। इसके कारण लक्षणा द्वारा गंगा शब्द से गंगा तीर रूप अर्थ का ज्ञान होता है। इसी प्रकार कुछ दार्शनिक तात्पर्य की अनुपपति को लक्षणा का कारण मानते हैं। वे अन्वय की अनुपपति को लक्षणा का कारण नहीं मानते। उनके अनुसार 'कौवे से दही की रक्षा करो' इस वाक्य में अन्वय की अनुपपति नहीं है। कौवा भी दही को खाता है। उससे दही की रक्षा करना आवश्यक है। इस वाक्य को सुनने के बाद श्रोता केवल कौवे से ही दही की रक्षा नहीं करता, अपितु दही को खाने वाले कुत्ता, बिल्ली आदि सभी से दही की रक्षा करता है। यदि अन्वय की बाधा को ही लक्षणा का कारण माना जाता तो, इस स्थल पर लक्षणा नहीं होती। इसलिये तात्पर्य में बाधा आने पर ही लक्षणा माननी चाहिए। 'कौवे से दही की रक्षा करो' इस शब्द का तात्पर्यार्थ दही को हानि पहुंचाने वाला है। अतः जितने भी दही को हानि पहुँचाने वाले हैं उन सबका ज्ञान 'कौवे' शब्द से होगा। इसलिये तात्पर्य की ही अनुपपति को लक्षणा का कारण मानना चाहिए।

लक्षणा के दो भेद–केवल लक्षणा तथा लक्षित लक्षणा बताये गये हैं। शक्य का साक्षात् सम्बन्ध जहाँ हो वह केवल लक्षणा है। उदाहरण के लिए 'गंगा पर घोष है' इस वाक्य में गंगा पद वाच्य गंगाप्रवाहरूप पदार्थ के साथ साक्षात् संयोग से सम्बद्ध रहने वाले तीर रूप अर्थ में केवल लक्षणा है।[7] जहाँ पर शक्यार्थ के परम्परासम्बन्ध के द्वारा अर्थान्तर अर्थात् वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती हो वहाँ लक्षित लक्षणा होती है। उदाहरण के लिए द्विरेफ (अर्थात् दो रेफ) रूप अर्थ में शक्त पद की भ्रमरपद से घटित परम्परासंबंध से मधुकररूप अर्थ में वृत्ति है।[8] कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ शक्यार्थ रूप दो रेफों के परम्परासम्बन्ध के द्वारा द्विरेफ पद से मधुकररूप अर्थ की प्रतीति होने से यहाँ लक्षित लक्षणा है। द्विरेफ शब्द के सुनते ही मधुकर अर्थ की प्रतीति होती है। किन्तु यह स्पष्ट है कि मधुकर द्विरेफ शब्द का वाक्यर्थ नहीं है। 'द्वि' शब्द का अर्थ दो

और 'रेफ' शब्द का अर्थ रकार, यही द्विरेफ शब्द का वाच्यार्थ है। इसलिए द्विरेफ पद की जिस शब्द में दो रेफ हो वह शब्द इस अर्थ में लक्षणा स्वीकार करनी चाहिए। किन्तु इस रीति से तो 'शर्करा' आदि दो रेफों से युक्त पदों की ही उपस्थिति होती है। उसके निवारणार्थ 'भ्रमर' रूप में ही वह निरूढ़ लक्षणा कहना चाहिए। उस भ्रमर पद का भ्रमररूप अर्थ शक्ति सम्बन्ध है, इस कारण मधुकर अर्थ की प्रतीति होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'द्विरेफ' पद का दो रेफरूप अर्थ में शक्तिरूप सम्बन्ध और उन दो रेफों का लक्षणा के द्वारा भ्रमरपद से सम्बन्ध और उस भ्रमरपद का मधुकररूप अर्थ से शक्ति सम्बन्ध इस प्रकार परम्परा सम्बन्ध के द्वारा 'द्विरेफ' पद से मधुकर अर्थ की प्रतीति होती है।

कुछ दार्शनिकों ने शब्द की शक्ति, लक्षणा और गौणी रूप तीन वृत्तियों को मान कर शक्य, लक्ष्य और गौण रूप से पदार्थ को भी त्रिविध माना है। किन्तु वेदान्त में गौणी वृत्ति का लक्षित लक्षणा वृत्ति में ही अन्तर्भाव होने से उस वृत्ति से युक्त गौण पदार्थ को पृथक् रूप से स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं मानी गयी है। गौणी वृत्तिवादी कहते हैं कि 'सिंहो माणवकः' अर्थात् यह वटु (बालक) सिंह है। यहाँ पर सिंह शब्द का 'सिंह पशु' वच्यार्थ है। किन्तु उसके साथ 'बटु' का किसी प्रकार से सम्बन्ध नहीं है। इस कारण यहाँ शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा का होना संभव नहीं है। अतः शब्द को गौणी नामक पृथक् वृत्ति माननी चाहिए।

इसका प्रतिवाद करते हुए वेदान्ती कहते हैं कि यहाँ शक्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध संभव न होने पर भी द्विरेफ पद के समान परम्परा सम्बन्ध का होना संभव हो सकता है। इस कारण 'लक्षित लक्षणा' नामक लक्षणा के द्वितीय प्रकार में गौणी वृत्ति का अन्तर्भाव होता है। इसलिए गौण वृत्ति को पृथक् रूप से मानने की आवश्यकता नहीं है।[9]

एक अन्य प्रकार से लक्षणा के तीन भेद–जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा बताये गये हैं।[10] लक्षणा के ये तीन भेद लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ के त्याग के आधार पर किये गये हैं। धातु से सर्वथा त्याग, अंशतः त्याग तथा विरूद्धांश के त्याग अर्थात् अविरूद्ध का त्याग न करने के आधार पर किये गये हैं। इसके अनुसार पहला भेद है लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ का यत्किंचित् भी अन्तर्भाव न होना अर्थात् वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग कर केवल लक्ष्यार्थ को स्वीकार करना। दूसरे भेद के अनुसार लक्ष्यार्थ के साथ वाच्यार्थ की भी प्रतीति होना अर्थात् वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग न कर उसे भी लक्ष्यार्थ में स्वीकार करना। तीसरे भेद के अनुसार शक्यार्थ का कुछ विरूद्ध भाग त्याग कर केवल अविरूद्व भाग को स्वीकार करना। इन्हीं भेदों के आधार पर लक्षणा के तीन नाम जहद्लक्षणा, अजहद्लक्षणा तथा जहदजहद्लक्षणा प्रसिद्ध हुए हैं।

जहद्लक्षणाः– जब शब्द अपने वाच्य अर्थ को बिल्कुल छोड़ देता है और केवल लक्ष्य अर्थ का ही ज्ञान कराता है तो उसे जहद् लक्षणा कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ में न होकर अन्यार्थ की प्रतीति होती है अर्थात् शक्यार्थ भासित न हो कर केवल लक्ष्यार्थ भासित होता है। उदाहरण के लिए 'विष खा' इस वाक्यागत पदों से विष भक्षण रूप वाच्यार्थ का ज्ञान न हो कर 'शत्रु के घर मत खाओ, इस लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है।[11]

सामान्यतः जहद्लक्षणा के लिए 'गंगायां घोषः' का उदाहरण दिया जाता है। इसमें 'गंगा' पद के प्रवाह रूप वाक्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर अर्थात् लक्षणा के द्वारा बोध्य अर्थ से वाच्यार्थ

को पृथक कर केवल तत्सम्बन्धी तीररूप लक्ष्यार्थ का ही ग्रहण किया जाता है। किन्तु वेदान्त परिभाषा में जहद्लक्षणा के लिए 'गंगायां घोषः' की जगह 'विष भुङ्क्ष्य' का उदाहरण दिया जाता है। इसे स्पष्ट करते हुए वेदान्ती कहते हैं कि 'गंगायां घोषः' में केवल 'तीरत्व' धर्म से तीर रूप लक्ष्यार्थ का बोध नहीं होता। ऐसा न मानने पर अन्य नदी के तीर में भी तीरत्व होने से उस तीर का भी 'गंगा' पद से बोध होने लगेगा। इसलिए 'गंगातीरत्व' धर्म से ही तीर का बोध मानना आवश्यक है। यदि ऐसा मानते हैं तो गंगा पद के वाच्यार्थ का तीर भी रूप लक्ष्यार्थ में अन्तर्भाव हो जाने से 'नीलो घटः वाक्य के 'नील' पद के समान इसे भी अजहद् लक्षणा कहा जा सकता है। इसलिए जहद्लक्षणा के लक्षण को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए 'विषं भङ्क्ष्व' का उदाहरण दिया गया। इसे वेदान्ती एक प्रकरण के द्वारा समझाते हैं। इसके अनुसार कोई व्यक्ति शत्रु के घर भोजन करने को तैयार है। उसका मित्र उससे कहता है कि शत्रु के घर भोजन करने जाने से तो अच्छा यही है कि विष खा लो। मित्र के इस वाक्य को सुनकर वह व्यक्ति शत्रु के घर भोजन करने को नहीं जाता। इसका तात्पर्य वह यह समझता है कि शत्रु के घर भोजन करना विष खाने के समान है। इस प्रकार इस वाक्य का लक्ष्यार्थ शत्रु के घर पर भोजन करने का निषेध है। यहाँ पर 'विष खाओ' यह वाक्य वाच्य अर्थ छोड़ देता है तथा इसके स्थान पर शत्रु के घर पर भोजन मत करो, इस अर्थ का ज्ञान करता है, इसलिए इस अर्थ को जहद्लक्षणा कहते हैं।

अजहद्लक्षणा :– लक्षणा से प्रतीत होने वाले लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ भी जब अन्तर्भूत होता है तब उस लक्षणा को अजहद्लक्ष कहते हैं।[12] अर्थात् जब वाक्य अपने वाच्य अर्थ के साथ ही साथ लक्ष्य अर्थ का ज्ञान करता है तो वहाँ अजहद्लक्षणा होती है। इसके लक्षण को और स्पष्ट करते हुए वेदान्ती कहते हैं, कि शक्यार्थ से विशिष्ट विषय को विषय करने वाली वृत्ति को अजहद्ल्लक्षणा कहते हैं। उदाहरण के लिए 'शुक्लो घटः' इस वाक्य में शुक्ल शब्द शुक्ल गुण का वाचक होते हुए भी शुक्ल गुण–विशिष्ट घट का ज्ञान कराता है। यहाँ पर शुक्ल शब्द अपने वाच्यार्थ को नहीं छोड़ता है तथा साथ ही शुक्ल गुण–विशिष्ट घट के अर्थ कभी बोध करता है।[13] जहद्लक्षणा में जहाँ वाक्य अपने वाच्यार्थ को छोड़ देता है वहाँ अजहद्लक्षणा में वाक्य अपने वाक्यार्थ का सर्वथा त्याग नहीं करता अपितु वाच्यार्थ ज्ञान के साथ ही साथ उसके अतिरिक्त लक्ष्यार्थ का भी बोध करता है।

जहदजहद्लक्षणा :– जिस वाक्य में विशिष्टता वाचक शब्द अपने विशेषण रूप एकदेश को (एक अंश को) छोड़कर विशेष्यरूप एक अंश का बोधक होता है वहाँ जहदजहद्ल्लक्षणा होती है।[14] इसके लिए 'सोऽयं देवदत्तः' तथा 'तत्त्वमासि' का उदाहरण दिया जाता है। 'सोऽयं देवदत' इस वाक्य में 'पद का तत्काल विशिष्ट (भूतकाल विशिष्ट) तथा यह पद का एतत्कालविशिष्ट' अर्थ है। किन्तु देवदत्त न तो परोक्ष रूप से और न अपरोक्ष रूप से ही विरूद्ध उभय कालों से विशिष्ट होकर एक ही समय में अवस्थित रह सकता है। अतः यहाँ 'वह' और 'यह' पद केवल देवदत्त रूप विशेष्य अर्थ के ही बोधक है, यही मानना पड़ेगा। अर्थात् यह मानना पड़ेगा कि दोनों पद केवल विशेष्यपरक है स्वार्थपरक नहीं। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' में 'तत्' पद का वाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य के साथ ऐक्य होना संभव नहीं हो सकता है। इसलिए चैतन्यों की एकता के लिये स्वरूप में अर्थात् शुद्ध चैतन्य में उनकी लक्षणा करनी पड़ती है। जहदजहद्लक्षणा की अवश्यकता बताते

हुये वेदान्ती कहते हैं कि 'तत्त्वमसि' जैसे वाक्यों में जहद् लक्षणा अथवा अजहद्लक्षणा के लक्षण घटित न हो सकने के कारण यहाँ उनका ग्रहण नहीं किया जा सकता। क्योंकि जहद्लक्षणा के अनुसार उन शब्दों के वाच्यार्थ का त्याग कर चैतन्य रूप विशेष्यांश का भी त्याग करना पड़ता है। ऐसा करने पर उस वाक्य का श्रुति को विवक्षित अभेदार्थ नहीं बन पाता और अजहद्लक्षणा के न्याय से वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग न करने पर भी विवक्षित ऐक्य का होना अंसभव ही रहता है। इसलिए जहद्लक्षणा तथा अजहद्लक्षणा से अलग एक अन्य लक्षणा को स्वीकार करना पड़ता है।

वेदान्त के कुछ आचार्य जिन्हें वेदान्त परिभाषा में साम्प्रदायिक कहा गया है, तत्त्वमसि आदि महावाक्यों में जहद् अजहद् लक्षणा मानते हैं। कुछ नवीन आचार्य तत्त्वमसि में लक्षणा नहीं मानते। उनके मत में शक्ति से ही काम चल सकता है इसलियें लक्षणा यहाँ आवश्यक नहीं है। उनके अनुसार घट शब्द का अर्थ है– घट व्यक्ति एवं घटत्व जाति। शब्द की शक्ति विशिष्ट अर्थ में होती है। घटत्व विशिष्ट घट ही, शब्द का अर्थ इस प्रकार हुआ। इसे स्पष्ट करते हुए कहा जाता है कि जिस प्रकार घट शब्द से घटत्व जाति का ज्ञान होता है, उसी प्रकार घट शब्द से घट रूप व्यक्ति का भी ज्ञान होता है। जब किसी विशिष्ट पद का अन्वय घटित होता है, तो जितना अंश बाधित नहीं होता, उतने अंश के ही अर्थ को उस शब्द का अर्थ मान लेना चाहिए। 'घट अनित्य है' इस वाक्य में घट शब्द का अर्थ है, घटत्व से विशिष्ट घट। किन्तु घटत्व जाति नित्य है। इस नित्य घटत्व को अनित्य नहीं माना जा सकता। इसलिये विशेषण अंश घटत्व के साथ अनित्य का सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः उसके विशेष्य अंश घट के साथ ही अनित्य का सम्बन्ध स्वीकार करना होगा।[15] इसके लिये लक्षणा की अवश्यकता नहीं। जब पदार्थ के विशेषण अंश तथा विशेष्य अंश दोनों का ही ज्ञान हो रहा हो तथा केवल विशेषण के रूप में पदार्थ की उपस्थिति अभिष्ट हो, तो लक्षणा की आवश्यकता होती है। यदि कहा जाय कि 'घट नित्य है' तो यही घट शब्द से घटत्व जति का ज्ञान नहीं होगा। उसके लिए लक्षणा माननी पड़ेगी। शब्द की मुख्यवृत्ति अर्थात् शक्ति से उसके विशेष्य अंश का ज्ञान होता है। यदि विशेष्य अंश ही मुख्य है तो उसका ज्ञान शक्ति से हो जायेगा। शब्द का विशेषण अंश अप्रधान तथा अमुख्य है। उसका ज्ञान लक्षणा से होता है। यहाँ पर घट का घटत्व विशेषण रूप अर्थ अमुख्य है अतः इसका ज्ञान लक्षणा के द्वारा होगा। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' में भी लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं है। इसमें उस प्रधानभूत विशेष्य अंश के ज्ञान के लिए लक्षणा की आवश्यकता नहीं है। उसका ज्ञान शक्ति द्वारा हो जायेगा। तत्त्वमसि में मुख्य अंश का अर्थ चैतन्य है जो चैतन्य विशेष्य है। इसका ज्ञान शब्द की शक्ति से ही हो जायेगा। इसके अनंतर अखण्डार्थ बोध सम्पन्न हो जायेगा। इसके बोध के लिए लक्षणा की अवश्यकता नहीं है। यदि यह कहा जाय कि जैसे लक्षणा द्वारा विशेषण अंश का ज्ञान होता है, उसी प्रकार उसके द्वारा विशेष्य अंश का भी ज्ञान होना मानना चाहिए तो ऐसी स्थिति में 'घर में घट रखा है, घट में रूप है, घट को लाइए' इत्यादि वाक्यों में भी लक्षणा माननी पड़ेगी। स्पष्ट है कि घर में घटत्व जाति नहीं रह सकती, घर में घट ही रह सकता है। इस प्रकार से घट का भी अर्थ लक्षणा से भी मानना होगा। किन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि तत्त्वमसि में लक्षणा की आवश्यकता नहीं है।

वेद–पौरूषेय विचार

वेद पौरूषेय है अथवा अपौरूषेय–इस सन्दर्भ– में न्याय, मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त तीनों के अलग पृथक्–पृथक् मत हैं। न्याय दर्शन के अनुसार वेद पौरूषेय है। पौरूषेय का अर्थ है पुरूष द्वारा प्रणीत। वेद की रचना किसी–साधारण पुरूष ने नहीं की है, अपितु इसकी–रचना सर्वज्ञ ईश्वर ने की है। यदि वेद साधारण पुरूष के द्वारा निर्मित होते तो उसमें अल्पज्ञत्व आदि होते जो वेद में नहीं है। महाभारत आदि जितने भी ग्रन्थ हैं, उनका भी कोई प्रणेता है, इसी प्रकार वेद का भी एक प्रणेता होना चाहिए। वह प्रणेता–ईश्वर है। अतः वेद ईश्वर द्वारा निर्मित है। इसलिए वेद पौरूषय है। मीमांसक वेद को नित्य तथा आपौरूषेय मानते हैं। अपौरूषेय होने के कारण वे उन सभी दोषों और त्रुटियों से रहित है जो पुरूष की रचना में होते हैं। इसलिए वेद पुरूष प्रणीत नहीं है, वह अपौरूषेय है। ईश्वर भी अपने भक्तों पर कृपा करना है। भक्तों के प्रति उसका स्वाभाविक पक्षपात होता है। यदि ईश्वर भी वेद की रचना करना है, तो उसमें भक्त पक्षपात हो सकता है। अतः वेद समस्त भ्रम–प्रमदादि दोषों से रहित एवं अपौरूषेय है। वेद की पौरूषेयता या अपौरूषेयता के संबंध में अद्वैत वेदान्त न तो न्याय के समान वेद को ईश्वर प्रणीत मानते हैं और न ही मीमांसा के समान वेद को नित्य ही मानते हैं। किन्तु सृष्टि काल में उसका प्रादुर्भाव होता है एवं प्रलय काल में नष्ट हो जाता है। ब्रह्म के श्वास–प्रश्वास से ही वेदों की रचना हुई है।[16] इसलिए वेद को नित्य नहीं माना जा सकता।

परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि वेद अनित्य हैं। वे आकाश के समान हैं। परमेश्वर ने सृष्टि के प्रारम्म में वेद की रचना की थी। वह रचना स्वतंत्र रचना नही थी किन्तु पूर्व सर्ग में जिस प्रकार का वेद था, उसी प्रकार का वेद बनाया। अक्षरों एवं मंत्रों का जिस प्रकार का क्रम इस सृष्टि से पहले की सृष्टि के समय था उसी प्रकार का क्रम दुसरी बार वेद के बनाने पर भी था। वेद की रचना में परमेश्वर भी स्वतंत्र नहीं है वह भी 'यथापूर्वम्' के नियम से वेद को उत्पन्न करता है, इसलिए सृष्टि काल में वेद उत्पन्न होता है एवं प्रलय काल में वह नष्ट हो जाता है। अतः वेद अपौरूषय है। ऐसा होने से ही आगम प्रमाण (शब्द प्रमाण) पौरूषेय एवं अपौरूषेय भेद से दो प्रकार का होता है।

तत्त्व विवेचन में शब्द प्रमाण का महत्त्व

तत्त्व विवेचन में शब्द प्रमाण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्रह्म का निर्वचन शब्द प्रमाण के द्वारा ही किया जा सकता है। उसी को श्रुति प्रमाण भी कहते हैं। श्रुति एवं अनुभव दोनों ही ऐसे प्रमाण हैं, जिनके द्वारा ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ब्रह्म, जगत् को उत्पन्न करता है, जगत् का पालन करता है तथा उसका नाश भी करता है। उपनिषद् वाक्यों एवं ब्रह्मसूत्र के आधार पर भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। प्रायः सभी उपनिषद् वाक्यों के द्वारा ब्रह्म की ही सिद्धि होती है। अभेद का प्रतिपादन करने वाले उपनिषद् वाक्यों के रहते हुए, इन वाक्यों का दूसरा अर्थ नहीं किया जा सकता है। कुछ दार्शनिक उपनिषद् वाक्यों का 'कर्ता एवं देवता रूप' अर्थ करते हैं।

इस संदर्भ में यह प्रश्न उठता है कि श्रुति वाक्यों के द्वारा जिस ब्रह्म का प्रतिपादन होता है, वह ब्रह्म पहले से सिद्ध है या असिद्ध। यदि ब्रह्म पहले से सिद्ध है, तो उसका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण के माध्यम से भी होना चाहिए। जैसे घट, पट आदि पदार्थ पहले से सिद्ध हैं, उनका ज्ञान

प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। यदि ब्रह्म भी पहले से सिद्ध है और उसी का प्रतिपादन उपनिषद् वाक्यों से होता है तो उपनिषद् वाक्य पूर्व–सिद्ध ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं। पूर्व सिद्ध वस्तु का प्रतिपादनकर्ता, उसका मूल प्रतिपादक नहीं होता, अपितु सिद्ध का प्रतिपादन करने से वह अनुवादक होता है। अनुवाद को प्रमाणिक नहीं माना जाता, इसलिए श्रुति वाक्यों के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन मानना उपयुक्त नहीं है।

इस आक्षेप के समाधान के रूप में यह कहा जाता है कि ब्रह्म, सिद्ध वस्तु तो अवश्य है, किन्तु उसका प्रतिपादन श्रुति के अतिरिक्त अन्य से नहीं हो सकता। "तत्त्वमसि; इस प्रकार के अभेद का प्रतिपादन श्रुति के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रमाण से सम्भव नहीं है। इसलिए श्रुति को ही मूलरूप से ब्रह्म का प्रतिपादक माना जाता है।

यहाँ पर पुनः यह प्रश्न उठता है कि किसी भी वस्तु के विषय में दो प्रकार के विकल्प होते हैं – या तो कोई वस्तु किसी गुण के कारण ग्रहण करने योग्य होती है, इसी को उपादेय भी कहते हैं या किसी विशेष दोष के कारण ग्रहण करने योग्य नहीं होती है; इसी को अनुपादेय या हेय कहते हैं। अर्थात् कोई भी वस्तु या तो हेय होगी या उपादेय होगी। जो वस्तु हेय या उपादेय होगी, उसका सम्बन्ध किसी न किसी क्रिया के साथ होगा। ब्रह्म का संबंध किसी भी क्रिया के साथ नहीं माना जाता। इसलिए ब्रह्म न तो हेय है, न उपादेय। वह हेय एवं उपादेय दोनों ही प्रकार की विशेषताओं से रहित है। इस स्थिति में ब्रह्म का प्रतिपादन करना सार्थक नहीं है। श्री शंकराचार्य जी का कथन है कि ब्रह्म हेय एवं उपादेय से रहित है, किन्तु उसी के प्रतिपादन से सभी प्रकार के क्लेशों का नाश होता है। उसी के माध्यम से एवं उसी के ज्ञान से दुःखों की निवृत्ति होती है, अतः उसका प्रतिपादन करना सार्थक है और चूँकि उसका प्रतिपादन शब्द के माध्यम से ही हो सकता है, इसलिए शब्द प्रमाण अतीव उपयोगी है।

यहाँ पर पुनः तीसरी शंका उत्पन्न होती है कि ब्राह्मणग्रन्थों में जो सिद्ध वाक्य उपलब्ध होते हैं, उन सिद्ध वाक्यों का संबंध किसी न किसी क्रिया के साथ होता है। इसलिए उपनिषदों में भी ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले सिद्ध वाक्यों का संबंध, क्रिया के साथ होना चाहिए। किन्तु यह शंका उचित नहीं है। कर्मकाण्ड के प्रकरण में सिद्ध वस्तु का संबंध किसी भी क्रिया के साथ हो सकता है, किन्तु ब्रह्म तो कर्मकाण्ड का विषय नहीं है, वह तो ज्ञानकाण्ड का विषय है। ज्ञानकाण्ड की सिद्ध वस्तु का संबंध क्रिया के साथ नहीं हो सकता। कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड के फल में भेद होता है। कर्मकाण्ड का फल स्वर्ग है, वह अनित्य है। ज्ञानकाण्ड का विषय मोक्ष है, वह नित्य है। नित्यफल देने वाले ब्रह्म का प्रतिपादन शब्द प्रमाण से ही हो सकता है।



सन्दर्भ –

1. *यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूंतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद्वाक्यं प्रमाणम्। –वेदान्त परिभाषा, आगम परिच्छेद, पृ. 96*
2. *वाक्यजन्यज्ञाने च आकाङ्क्षयोग्यताऽऽसतयस्तात्पर्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणानि। वही पृ. 189*
3. *पदार्थानाम् परस्पर–विषयत्वयोग्यत्वमकाङ्क्षा। वही पृ.191*
4. *तच्च जतेरेव न व्यक्तेः, व्यक्तीनामानन्त्येन। कथं तर्हि गवादि–पदाद व्यक्तिभानमिति चेत् जातेर्व्यक्तिसमान संवित्स वेद्य त्वादिति ब्रूमः। वही पृ. 210–11*

5. यथा संविदव्यक्तया (ज्ञानव्यक्तया) घटवृति घटत्वं गृह्यते तथैव घटस्यापि ग्रहणं भवती। जातिव्यक्तयो अमेदाम्युपगभात न सामग्रयन्तरस्यावषयकता भवति। वही 211
6. अथवा व्यक्तेर्लक्षणयाऽवगमः। यथा नीलो घट इत्यत्र नीलशब्दस्य नीलगुणविशिष्टे लक्षणा, तथा जातिवाचकस्य तद्विशिष्टे लक्षणा। वही पृ0 219
7. लक्षणा चद्विविधा केवललक्षणा लक्षित–लक्षणा चेति। तत्र शक्यसाक्षात्सम्बन्धः केवल–लक्षणा यथा 'गंगायां घोषः' इति अत्र प्रवाहसाक्षात्सम्बन्धिनि तीरे गंगापदस्य केवललक्षणा। वही पृ–223
8. यज्ञ शक्यपरम्परा–सम्वन्धे नार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षित–लक्षणा। यथा द्विरेफ पदस्य रेफद्वये शक्तस्य भ्रमरपद घटितपरम्परा संबंधेन मधुकरे वृतिः। वही पृ.–223
9. गौण्यपि लक्षित–लक्षणैव यथा। सिहों माणवक इति अत्र सिह–शब्द–वाच्य सम्बन्धि क्रौर्य्यादि–सम्बधेन माणवकस्य प्रतीतिः।
10. प्रकारान्तेण लक्षणा त्रिविधा जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति। वही पृ0–226
11. तत्र शक्यमनन्तर्मात्यं यात्रार्थान्तर प्रतीतिस्तत्र जहल्लक्षणा यथा विषं भुङ्क्ष्वेति। अत्र स्वार्थ विहाय शत्रु गृहे भोजननिवृतिलक्ष्यते। वही पृ.–226
12. यत्र शक्यार्थमन्तर्भाव्यैवार्थान्तर प्रतीतिस्तत्राजाहल्लक्षणा। वही पृ0–228
13. यथा शुक्लो घट इति। आत्र हि शुक्ल शब्दः स्वार्थ शुक्लगुणमन्तभाव्यैव तद्वति द्रव्ये लक्षणया वर्तते। वही पृ.–228
14. यत्र हि विशिष्ट–वाचकः शब्द एकदेशं विहाय एकदेशे वर्तत तत्र जहदजहल्लक्षणा, यथा सोऽयं देवदत्तः इति। वही पृ0–228–229
15. सोऽयं देवदत्तः तत्त्वमसीत्यादौ विशिष्ट वाचकपदानामेकदेशपरत्वेऽपि न लक्षणा, शक्त्युपस्थितयोविशिष्टयोर–मेदान्वयानुपपतौ विशेष्ययो शक्तयुपस्थितयोरेवाभेदान्वयाऽविरोधात यथा धटोऽनित्य इत्यत्र घटपदवाच्यैकदेशघटत्वस्थायोग्थत्वेऽपि योग्यघटव्यक्त्यान्वयः। वही पृ.–231
16. अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृगवेदः, वृहदारण्यक 2/4/10।

ज्ञान की स्वयंप्रकाशता

गौरी चट्टोपाध्याय

ज्ञानोत्पत्ति और उसकी राप्ति का प्रश्न भारतीय दार्शनिकों के लिए समान महत्त्व का रहा है। इस सन्दर्भ में ज्ञान की स्वप्रकाशता का सिद्धान्त अपने आप में और भी विशिष्ट महत्त्व रखता है। मैं यहाँ मुख्य रूप से नैयायिकों तथा अद्वैत वेदान्तियों के पक्ष को प्रस्तुत करूँगी क्योंकि नैयायिक ज्ञान के स्वप्रकाशत्व के प्रबल विरोधी हैं। इस चर्चा के द्वारा दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों को स्पष्ट करते हुए उन्हें एक दूसरे के निकट लाने का प्रयास किया जायेगा जिससे स्वप्रकाशत्ववाद को बल मिल सके।

न्यायमत में आत्मा का मन से संयोग, मन का इन्द्रिय से संयोग एवं इस परिस्थिति में इन्द्रिय का विषय के साथ संयोग होने पर विषय का ज्ञान आत्मा में उत्पन्न होता है। नैयायिक लोग ज्ञान, इच्छा आदि आत्मा के विशेष गुणों के सम्बन्ध से ही आत्मा का प्रत्यक्ष मानते हैं।[1] तात्पर्य यह है कि इच्छा, ज्ञान, धर्म आदि के आश्रय के रूप में आत्मा की प्रतीति होती है यथा 'अहं जानामि' (मैं जानती हूँ), 'अहमिच्छामि' (मैं चाहती हूँ) आदि। इनमें अहं शब्द वाच्य आत्म तत्त्व ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् (न्याय सू. 1/1/4) अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न होने वाला, अर्थ से व्यभिचार (विसम्वाद) न करने वाला निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। इस सूत्र में महामुनि गौतम ने इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध मात्र को ज्ञान की उत्पत्ति में कारण कहा है तथा मन और आत्मा की प्रत्यक्षात्मक ज्ञान की इस परिभाषा में चर्चा भी नहीं की है। तथापि आत्मा की ज्ञानाश्रयता का प्रतिपादन तथा अन्यमनस्कता की स्थिति में विषय तथा इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर भी सम्बद्ध वस्तु का ज्ञान न होने से आत्ममनः संयोग तथा मनः इन्द्रिय संयोग की कारणता माननी ही पड़ती है। यह भी दृष्ट है कि चेतन को ही ज्ञान होता है। मनुष्य, पशु, पक्षी जितने भी ज्ञानवान् हैं सभी चेतन हैं अतः मन तथा आत्मा में से एक को भी चेतन मान लेने तथा किसी को भी ज्ञानाश्रय मान लेने पर चेतन को ही ज्ञान होता है यह नियम उपपन्न हो जाता है। नैयायिकों ने आत्मा को ज्ञान का आश्रय मान लिया तथा मन को उसका सहकारी मान लिया। यह देखा जाता है कि जाग्रत एवं स्वप्न दोनों अवस्थाओं में ज्ञान होता है किन्तु सुषुप्ति में जीव को ज्ञान नहीं होता।[2] पुरीतति नाड़ी में मन का चला जाना ही सुषुप्ति है। उसके पहले जाग्रत एवं स्वप्न अवस्थाओं से क्रमशः संक्रमित होकर जीव सुषुप्ति में पहुँचता है। पुरीतति नाड़ी के बाहर मन जब तक रहता है कोई न कोई ज्ञान होता रहता है। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि पुरीतति के बाहर मन रहकर आत्मा से संयोग करता है तो उसी से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यदि मन को ज्ञान की प्रक्रिया में शामिल न किया जाए तथा यही स्वीकार किया जाए कि व्यापक आत्मा का इन्द्रियों से सम्बन्ध होकर इन्द्रियों का विषय से सम्बन्ध होने की स्थिति में ज्ञान होगा तो यह समस्या उठ खड़ी होगी कि सुषुप्ति में भी ज्ञान उत्पन्न

दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ.प्र.)

होना चाहिए तथा जाग्रत अवस्था में सामने पड़े घड़े आदि के साथ चक्षु: सन्निकर्ष तथा घ्राणेन्द्रिय सन्निकर्ष दोनों के रहने पर चाक्षुष तथा घ्राणज दोनों प्रत्यक्ष साथ होना चाहिए। मन की इन्द्रिय सम्बद्धता की अवस्था में ही ज्ञान होता है, यह स्वीकार करने पर तो यह समस्या नहीं रह जाती क्योंकि मन के अणु होने के कारण उसका एक समय में एक ही इन्द्रिय से सम्बन्ध होता है अन्य से नहीं।[3] फलतः दो ज्ञान साथ नहीं होते।

अस्तु इतने विचार से यह सिद्धान्त न्यायमत में स्थिर होता है कि आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से तथा इन्द्रिय का विषय से सम्बन्ध होने पर आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति होती है। किन्तु आत्मा के मन के साथ सदा संयुक्त रहने के कारण (न्यायमत में आत्मा प्रति शरीर भिन्न तथा व्यापक स्वीकार किया जाता है।[4] अतः व्यापक आत्मा का अणु मन के साथ सदा संयोग रहेगा तो) उपरिवर्णित दो ज्ञानों की साथ–साथ उत्पत्ति को कैसे रोका जा सकता है ? इस पक्ष में सुषुप्ति में ज्ञान की आपत्ति तो नहीं दी जा सकती क्योंकि यह कहा जा चुका है कि पुरीतति के बाहर रहने की दशा में ही आत्ममनः संयोग ज्ञान का कारण होता है। दो ज्ञानों की साथ–साथ उत्पत्ति को रोकने के लिए यह तर्क दिया जा सकता है कि व्यापक आत्मा के साथ मन का संयोग भले ही हमेशा रहे, मन के अणु होने के कारण एक काल में एक ही इन्द्रिय से उसका सम्बन्ध होगा, अतः दो ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति नहीं हो सकती।

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि ज्ञान, आत्मा में उत्पन्न होता है तथा वहीं उत्पत्ति के बाद एकक्षण रहकर उत्तर ज्ञान से नष्ट हो जाता है। इस तरह दो क्षण तक ज्ञान रहता है। प्रथम क्षण को उत्पत्ति क्षण तथा द्वितीय क्षण को स्थिति क्षण कहते हैं। चूँकि स्थिति क्षण में ही ज्ञानान्तर की उत्पत्ति होती है अतः उत्तर क्षण में उसका नाश हो जाता है क्योंकि यह नियम स्वीकार किया जाता है कि योग्यविभुविशेष गुणों का स्वोत्तरवर्ती गुण से नाश होता है।[5] यह ध्यान देने योग्य बात है कि न्यायमत में विभु पदार्थों के गुण कारण गुणपूर्वक नहीं होते प्रत्युत यह अकारण गुणपूर्वक स्वीकार किये जाते हैं।[6] कारण गुणपूर्वक वे गुण कहलाते हैं जो अपने आश्रय द्रव्य के कारण के गुणों से उत्पन्न होते हैं जैसे घट रूप के प्रति घट के कारण कपालद्वय का रूप कारण होता है अतः घट रूप कारण गुणपूर्वक कहलाता है। आत्मा का कोई कारण नहीं है अतः आत्मा का गुण 'ज्ञान' अकारण गुणपूर्वक ही होगा। न्यायमत में गुण–गुणी का भेद स्वीकार किया जाता है, अतः ज्ञान के उत्पन्न एवं नष्ट होने से आत्मा में कोई विकार नहीं होता है तथा आत्मवृत्ति चैतन्य ज्ञान में नहीं आ सकता है।

उपर्युक्त विचार से यह निष्कर्ष निकलता है कि विषयइन्द्रियसंयोग की स्थिति में पुरीतति बहिर्देशावच्छिन्न मन का इन्द्रिय एवं आत्मा से संयोग रहने पर आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति होती है। न्यायमत में मन अणु एवं नित्य है, अतः ज्ञानोत्पत्ति की इस प्रक्रिया में मन में कोई विकार नहीं होता। अब मैं अद्वैत वेदान्ती की ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया पर विचार करूंगी जिससे यह स्पष्ट होगा कि यही ज्ञान उनके यहाँ 'वृत्ति' शब्द से व्यवहृत क्यों होता है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि अन्तःकरण का परिणाम वृत्ति कहलाती है और यहाँ मन (अन्तःकरण) का परिणाम होता ही नहीं है फिर नैयायिकों के ज्ञान को 'वृत्ति' स्थानापन्न कैसे मान लिया जाय? अस्तु अद्वैत वेदान्त

की ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया को स्पष्टकर इस प्रश्न पर सुगमता से विचार किया जा सकता है।[7] घट आदि विषयों के साथ चक्षु आदि इन्द्रियों का सम्पर्क (संयोग) होने की स्थिति में तैजस अन्तःकरण, इन्द्रिय प्रणालिका से घटादि विषय देश में जाकर घट आदि के आकार में परिणत हो जाता है। अन्तःकरण के इसी परिणाम को वृत्ति कहते हैं। वृत्ति में प्रतिफलित चैतन्य (आत्मतत्त्व) को ही ज्ञान कहते हैं। चूँकि आत्मतत्त्व व्यापक है अतः वह सर्वत्र रहेगा। वृत्ति में प्रतिफलित होकर (वृत्यवच्छिन्न होकर) वही घटादि विषय को प्रकाशित करता है। यह अवधेय है कि आत्मतत्त्व प्रकाशक अवश्य है परन्तु वृत्ति में प्रतिफलित हुए बिना विषय का प्रकाशन नहीं कर सकता। वृत्ति का कार्य अज्ञानावरण को नाश करना है तथा चैतन्य का कार्य घट को प्रकाशित करना है। अतएव पञ्चदशी में लिखा है –

वृत्तितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानंधिया नश्चेदाभासेन घटः स्फुरेत् ।।

वृत्ति तथा वृत्ति में स्थित चिदाभास दोनों ही घट आदि विषय को व्याप्त करते हैं। वृत्ति से अज्ञान नष्ट होता तथा आभास से घट प्रकाशित होता है। वृत्ति से अज्ञान नष्ट होता है इसका तात्पर्य क्या है? इसके विषय में अद्वैती यह कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु जो इन्द्रिय सन्निकृष्ट नहीं है तथा जिसका ज्ञान हमें नहीं है – जैसे अंधेरे में रखा हुआ घट जिसका हमें ज्ञान नहीं है कि यहाँ घट है या नहीं, दो प्रकार से अज्ञान उसका आवरण किये रहता है – (1) नास्ति घटः – घट नहीं है (2) न भाति घटः – घट का भान नहीं हो रहा है। इन दोनों आवरणों के कारण घट का प्रकाशन नहीं होता। इन्द्रियसंयोग के अनन्तर घटाकार वृत्ति होने पर अज्ञान, असत्वापादक एवं अभानापादक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। अज्ञान की असत्वापादक शक्ति जिससे नास्ति घटः यह वृत्ति होती है तथा अभानापादक शक्ति जिससे न भाति घटः यह वृत्ति होती है, दोनों के ही नष्ट होने के बाद वृत्ति प्रतिफलित चैतन्य घट को प्रकाशित करता है।

परोक्ष स्थल में धूमादि लिंग से वह्नि की अनुमिति होने पर आवरक अज्ञान की असत्वापादक शक्ति तो नष्ट हो जाती है किन्तु अभानापादक शक्ति तब तक नष्ट नहीं होती जब तक वह्नि के साथ चक्षुः का सन्निकर्ष नहीं हो जाता। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अज्ञान के शक्तिद्वय से आवृत्त है, वस्तु के प्रकाशन के लिए अज्ञान का नाश तथा प्रकाशन का योग, दोनों आवश्यक हैं। वृत्यारूढ़ चेतन ही प्रकाशक होता है अतः उसे ही ज्ञान शब्द से कहा जाता है। वृत्ति में ज्ञान शब्द का प्रयोग औपचारिक है। ब्रह्म भी अज्ञान से आवृत्त है अतः अज्ञाननाश के लिए वहाँ भी वृत्ति व्याप्ति अपेक्षित है किन्तु उसे प्रकाशक की अपेक्षा नहीं होती वह तो सबका प्रकाशक स्वयं है। वृत्ति से आवरक अज्ञान नष्ट हो जाने पर ब्रह्म का भान होने लगता है।

अब अद्वैत वेदान्तियों की इस प्रक्रिया पर विचार करें। अन्तःकरण इन्द्रिय प्रणालिका से बाहर जाता है इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शरीर देश को छोड़कर अन्तःकरण बाहर ही आ जाता है। प्रत्युत वह शरीर देश से विषय तक प्रसृत होकर विषयाकार में परिणत होता है। अतएव अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को प्रमातृ चैतन्य, वृत्यवच्छिन्न चैतन्य को प्रमाण चैतन्य तथा विषयावच्छिन्न चैतन्य को प्रमेय चैतन्य कहते हुए अद्वैती चैतन्य के विभिन्न विभाग करते हैं। इस प्रकार अन्तःकरण

का विषय से सम्बन्ध हो जाता है। व्यापक आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध तो बना ही है। वृत्यारूढ़ होकर आत्मतत्त्व ने विषय का प्रकाशन किया। विषय प्रकाशन में वृत्ति की अत्यन्त आवश्यकता होने के कारण ज्ञान को अन्तःकरण का धर्म स्वीकार किया गया। निधर्मक आत्मा को स्वीकार करने वाले अद्वैती, आत्मा में किसी प्रकार का धर्म (ज्ञान, इच्छा आदि) स्वीकार नहीं कर सकते। वृत्ति रूप ज्ञान मन में रहता है, इस तथ्य को 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्हीभीरित्येतत्सर्वम्मन एव'[8] – काम संकल्प विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति हीं, भी (भय) यह सभी धर्म मन में ही होते हैं – ऐसा स्वीकार करते हुए श्रुति में भी प्रतिपादित किया गया है। ज्ञान, मन में होता है किन्तु अन्तःकरण (मन) आत्मा में तादात्म्य अध्यस्त है। अतः अहं सुखी––मैं सुखी हूँ, अहं दुःखी – मैं दुखी हूँ इत्यादि ज्ञान, आत्मधर्मतया प्रतीत होते हैं। नैयायिक सर्वदा आत्मा में ही ज्ञान स्वीकार करते हैं, मन में नहीं। वे अहं सुखी इत्यादि प्रत्ययों के आधार पर ही आत्मा का प्रत्यक्ष भी मानते हैं निधर्मक आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं मानते। इस प्रकार दोनों दर्शनों की ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि –

नैयायिक मन को इन्द्रिय प्रणालिका से बाहर जाकर विषय का प्रकाशक नहीं मानते, परन्तु अद्वैती अन्तःकरण को बाहर जाकर विषय का प्रकाशन स्वीकार करते हैं। यह अवश्य अवधेय है कि अज्ञानावरण के नाश के लिए अन्तःकरण बाहर जाता है परन्तु ज्ञान, शरीरावच्छेदेन ही अन्तःकरण में होता है।

दोनों ही मतों में आत्मतत्त्व की आवश्यकता विषय प्रकाशन में है। नैयायिक के यहाँ ज्ञान का आधार होकर वह विषय का प्रकाशन करता है जबकि वेदान्त के यहाँ वृत्यारूढ़ होकर वेदान्ती लोग ज्ञान शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से आत्मा के लिए ही करते हैं। किन्तु वृत्तिरूप ज्ञान में भी गौण प्रयोग मान लेते हैं। प्रकाशक आत्मा ही है अतः वहाँ ज्ञान शब्द का मुख्य प्रयोग तथा सहचरित वृत्ति में गौण प्रयोग माना जाता है। नैयायिक के यहाँ वृत्यात्मक ज्ञान में ही ज्ञान शब्द का मुख्य प्रयोग है। तदतिरिक्त कोई ज्ञान पद का वाच्य नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि न्यायमत में आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होने पर भी उसमें विकार नहीं आती क्योंकि आत्मा नित्य है।

न्यायमत में निर्विषय ज्ञान स्वीकार नहीं किया जाता जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है। बिना विषय–सम्बन्ध के आत्मा में ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता। अतः ज्ञान को निर्विषय नहीं माना जा सकता। वेदान्ती के यहाँ यह बाध्यता नहीं है। वे आत्मरूप ज्ञान को निर्विषयक ही मानते हैं। आत्मा ही मुख्य 'ज्ञान' है और इसमें प्रमाण – 'यत्साक्षादपरोक्षं ब्रह्म' यह श्रुति प्रमाण है, किन्तु वृत्ति रूप ज्ञान, सविषयक ही होता है क्योंकि विषय की सत्ताकाल में ही वृत्ति का निर्गमन होता है। वृत्ति भी वृत्ति में प्रतिफलित चैतन्य से प्रकाशित होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि आत्मरूप ज्ञान तो विषय की नियमतः अपेक्षा नहीं करता परन्तु वृत्यात्मक ज्ञान में विषय की सत्ता अवश्य ही अपेक्षित है।

यह देखा जाता है कि ज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् उसकी सत्ता के विषय में यह सन्देह नहीं होता कि ज्ञान है या नहीं। अतः अद्वैत वेदान्ती ज्ञान को स्वप्रकाश मानते हैं। यद्यपि अद्वैत

वेदान्ती व्यवहार में भट्टनय (व्यवहारे भाट्टनयः – व्यवहार में भाट्टमीमांसकों की प्रक्रिया मान्य है, अतएव उन्होंने भाट्टों की तरह छह प्रमाण आदि की कल्पना की है) को स्वीकार करते हैं। तथापि भाट्ट की तरह ज्ञान को ज्ञाततालिंगक अनुमान से अनुमेय नहीं मानते।[9] भाट्टों के अतिरिक्त मीमांसकों के दो सम्प्रदाय मुरारि मिश्र तथा प्रभाकर के हैं जो परस्पर सैद्धान्तिक मतभेद लेकर चलते हैं। मुरारि मिश्र तो ज्ञान को नैयायिकों की तरह अनुव्यवसाय से ग्राह्य मानते हैं जबकि प्रभाकर ज्ञान को स्वप्रकाश मानते हैं।[10] प्राभाकर मत में प्रत्येक ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी का भान माना जाता है। यहाँ ज्ञानों का आकार 'अयंघटः', 'घटमहं जानामि' यह घड़ा है, घड़े को मैं जानता हूँ' जैसा होता है। ये लोग ज्ञान को अपना विषय अपने ही स्वीकार करते हैं।

अद्वैत वेदान्ती ज्ञान को स्वप्रकाश तो कहते हैं परन्तु उसकी स्वप्रकाशता प्राभाकर से भिन्न है। वे अपने में ही विषय–विषयी भाव स्वीकार नहीं करते हैं। प्रश्न उठता है कि ज्ञान को स्वप्रकाश मानने में क्या आपत्तियाँ हैं जिनके कारण नैयायिक उसे ज्ञानान्तर ग्राह्य मान लेते हैं? नैयायिक तर्क देते हैं कि ज्ञान सविषयक होता है अतः ज्ञान को स्वप्रकाश मान लेने पर वह अपने विषय के साथ ही प्रकाशित होगा। विषय के साथ ज्ञान के प्रकाशन का तात्पर्य होगा – विषय का उसके रूप में गृहीत होना – ऐसी स्थिति में ज्ञान होने के पश्चात् किसी वस्तु के विषय में संशय नहीं होना चाहिए, जबकि स्थिति यह है कि ज्ञान के पश्चात् भी यह स्थाणु है या पुरुष, इस प्रकार का संशय होता है। अतः यह मानना चाहिए कि ज्ञानगत प्रामाण्य अनुमेय है। ज्ञानगत प्रामाण्य का अनुमान सम्वादी प्रवृत्ति से होता है। अनुमानाकार निम्न है – इदं ज्ञानं प्रमा सम्वादिप्रवृत्तिजनकत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथाऽप्रमा अर्थात् यह ज्ञान प्रमा है क्योंकि सम्वादी प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। जो प्रमा नहीं है वह सम्वादी प्रवृत्ति का जनक नहीं है जैसे, अप्रमा। द्वितीय अनुव्यवसाय से भी प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य गृहीत होता है।[11]

अद्वैत वेदान्ती ज्ञान को स्वप्रकाश मानते हुए उसके प्रामाण्य को स्वतः गृहीत मानते हैं। प्रामाण्य के स्वतः गृहीत होने का तात्पर्य है ज्ञान–ग्राहक सामग्री से ही ग्राह्य होना। ज्ञान–ग्राहक सामग्री से प्रामाण्य गृहीत होने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान प्रमाणरूप में उत्पन्न ही होता है तथा उसके ग्रहण के लिए अन्य किसी भी साधन की अपेक्षा नहीं होती, अतएव चित्सुखाचार्य ने प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका या चित्सुखी में प्रामाण्यवाद के निरूपण के प्रसंग में कहा है –

प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति नान्यतः।
जायते व्यतिरिक्तत्वादप्रमातः पटादिवत्।।

अर्थात् ज्ञान जनक सामग्री से ही ज्ञान प्रमारूप में उत्पन्न होता है। अतएव ज्ञान होने के अनन्तर ज्ञाता की विषयोन्मुख प्रवृत्ति देखी जाती है। प्रवृत्ति के अनन्तर शुक्ति आदि में रजत की प्राप्ति न होने पर, तथा पीतः शंखः इत्यादि स्थलों में करणगत (नेत्रगत) पित्तादि दोषों का ज्ञान होने पर ज्ञान का प्रामाण्य समाप्त हो जाता है। अतः ज्ञानगत प्रामाण्य को स्वतः गृहीत अर्थात् ज्ञान–ग्राहक सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही गृहीत मानना चाहिए।

संदर्भ –

1. धर्माधर्मप्रयोऽध्यक्षो विशेषगुणयोगतः, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका 49
2. द्रष्टव्य न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका, 57 की दिनकरी एवं रामरुद्री व्याख्या
3. अयौगपद्याज्ज्ञानानां वस्याणुत्वमिहेष्यते।
4. जीवस्तु प्रति शरीरं भिन्नोविभुर्नित्यश्च।
5. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका 2 की दिनकरी व्याख्या
6. विभूनां तु ये स्युर्वैशेषिका गुणाः।
   अकारणगुणोत्पन्ना एते तु परिकीर्तिताः।।
   न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, 94
7. द्रष्टव्य वेदान्त परिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद।
8. धर्माऽधर्माश्रयोऽध्यक्षो विशेष गुणयोगतः।
9. भाट्टानामते ज्ञानमनीन्द्रियं, ज्ञानजन्य शातताप्रत्यक्षा तथा च ज्ञानमनुमीयते – न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका 136 में वर्णित
10. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, दिनकरी टीका कारिका 136 के व्याख्यान में
11. एवं न्यायमतेऽनुमितेरिव द्वितीयानुव्यवसायस्यापि प्रामाण्यग्राहकत्वमित्यन्यत्र विस्तरः। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली का 136 के व्याख्यान में दिनकरी।

अद्वैतवादी भ्रम-सिद्धान्तों का तुलनात्मक-समीक्षण

अम्बिकादत्त शर्मा

तुलनात्मक दर्शन का कार्य विभिन्न दार्शनिक प्रयत्नों और स्थापनाओं में तुलना के माध्यम से उस आधार तत्त्व का संधान करना होता है जो इन प्रयत्नों और स्थापनाओं की भिन्नता को धारण करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो सार्थक तुलनात्मक व्यापार के लिए तुलनीय प्रस्थापनाओं में प्रकट भेद और समानता दोनों का होना आवश्यक हैं, क्योंकि भेद और समानता दोनों के आत्यंतिक हो जाने पर भी तुलना अर्थहीन हो जाती है। यहाँ यह भी अवधेय है कि किसी स्तर पर भेद और समानता क्यों उपलक्षित हो रही है, इस बात को उद्घाटित करना भी तुलनात्मक प्रयत्नों का एक उच्चस्तरीय आयाम हो सकता है। इसलिए पद्धतिमूलक दृष्टि से तुलनात्मक दर्शन का कार्य दो दर्शनों के स्वीकृत सिद्धांतों में आंशिक एकता अथवा आपातिक भेद प्रदर्शित करना ही नहीं, बल्कि उस आधारभूत वैचारिक ढाँचे को खोज निकालना है जो एकता एवं भेद दोनों को धारण करता हो। इसका औचित्य इस बात में निहित है कि वह क्या है जो एक ही मूल के दर्शनों में भिन्नता को प्रकट करता है अथवा दो भिन्न मूल के दर्शनों में एकता को परिलक्षित करता है।[1] यहाँ हम तुलनात्मक दर्शन के इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए अद्वैतवादी परम्परा के भारतीय दर्शनों के ख्याति सिद्धांतों का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास करेंगे, जिसमें इस बात को उद्घाटित करना हमारा उद्देश्य होगा कि वे सभी दर्शन जो अपनी तत्त्वमीमांसा में किसी न किसी प्रकार के अद्वैतवाद के पुरस्कारक हैं फिर भी उनके ख्याति सिद्धांतों में जो भेद दिखाई पड़ता है उसकी तुलनात्मक व्याख्या किस प्रकार की जाय।

I

तुलनात्मक दर्शन की उपर्युक्त उद्दिष्ट संकल्पना को ध्यान में रखते हुए भारतीय परम्परा के अद्वैतवादी दर्शनों के ख्याति सिद्धांतों का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए प्रथमतया इस बात को संज्ञान में लेना आवश्यक है कि भारतीय दर्शनों में ख्यातिवाद का इतिहास क्या रहा है और किन समस्याओं को लेकर भारतीय दार्शनिकों ने भ्रम को गहराई से समझने में रुचि दिखाई। इसमें कोई दो राय नहीं कि भारतीय तत्त्व और प्रमाण चिन्तन के सम्प्रदायनिष्ठ विकास क्रम में न्यूनाधिक रूप से भ्रम की समस्या पर विचार भी किया गया है, परन्तु स्पष्ट तौर पर ख्यातिवादी चिन्तन का विकासक्रम सुविदित नहीं है। जिस किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय में इसकी चर्चा मिलती है। उसे उस सम्प्रदाय का प्रगत स्तर ही कहा जा सकता है। इसका अपवाद केवल अद्वैतवेदांत ही है जिसका आरम्भ ही भ्रम विषयक विचार–विमर्श के उपोद्घात से होता है। यद्यपि प्रमा और अप्रमा का विभाजन तथा अप्रमा के अन्तर्गत तर्क, स्मृति, संशय और विपर्यय की गणना करते हुए न्याय दर्शन में विपर्यय पद के द्वारा भ्रांति को संकेतित किया गया है लेकिन वहाँ भी ख्याति विषयक किसी स्पष्ट सिद्धांत को प्रतिपादित किया गया हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। न्याय परम्परा में भी अन्यथा ख्याति का प्रतिपादन उत्तरकालीन ग्रन्थों में ही स्पष्ट रूप से प्राप्त होता

दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

है। बौद्ध परम्परा और उसमें भी महायान परम्परा के सूत्र ग्रन्थों में स्वप्न, मृगमरीचिका तथा तिमिरादि ज्ञान के रूप में भ्रान्ति ज्ञान के बहुविध सन्दर्भ प्राप्त होते हैं लेकिन वहाँ भी ख्याति विषयक कोई स्पष्ट सिद्धांत पारिभाषिक रूप में प्रतिपादित नहीं किया गया है। पुनः ख्यातिवाद को लेकर भारतीय परम्परा में जो प्रकरण ग्रन्थ लिखे गये हैं (मण्डन मिश्र कृत 'विभ्रम विवेक' बालकृष्ण भट्टकृत 'ख्याति विवेक', और शंकरचैतन्य भारती कृत 'ख्यातिवाद') उनमें भी ख्यातिवादी विचार के इतिहास का अथवा उसके ऐतिहासिक विकास का कुछ भी संकेत नहीं मिलता। ये तीनों प्रकरण ग्रन्थ परमत खण्डन और स्वमत मण्डन के लिए वादशैली में ही प्रणीत हुये हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि भ्रम हमारे मनोवैज्ञानिक जीवन और व्यवहार की एक अत्यंत साधारण घटना है अथवा दूसरे शब्दों में भ्रम एक पुरुषोचित दोष है और यदा–कदा प्रत्येक व्यक्ति उस दोष का शिकार हो जाता है, इसलिए भ्रम दार्शनिक विचार का विषय ही नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो भारतीय दार्शनिकों ने अपने–अपने ढंग से भ्रम को व्याख्यायित करने में जितनी रुचि और तत्परता एक समय के बाद दिखाई है और इस सम्बन्ध में उनके आपसी विवाद जितने गहरे हैं, उससे ऐसा लगता है कि भारतीय दार्शनिकों ने भ्रम की समस्या को एक दार्शनिक प्रश्न के रूप में ही लिया है।

अब यदि भारतीय दर्शन–परम्परा में हम भ्रम से सम्बन्धित ख्यातिवाद के उत्स और उसके ऐतिहासिक विकास को समझने का प्रयास करें तो हमें भारतीयदर्शन सम्प्रदायों के पूर्वापर को ध्यान में न रखकर इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि वह कौन सा दर्शन है जो अपनी शुरूआत ही भ्रम की संकल्पना से करता है। इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए सहसा हमारा ध्यान शंकराचार्य की ओर जाना स्वाभाविक है, क्योंकि शंकराचार्य ने ही ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने से पहले उपोद्घात के रूप में अध्यास की अवधारणा को प्रस्तावित करते हुये इदंप्रथमतया भ्रम के स्वरूप पर गंभीरता से विचार किया है। शंकराचार्य से पूर्व वसुबन्धु[2] भी विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि नामक ग्रन्थ के प्रथम श्लोक में ही तैमिरिक ज्ञान का उल्लेख करते हैं लेकिन शंकराचार्य की तरह वसुबन्धु का यह वक्तव्य भ्रम की अवधारणा पर केन्द्रित नहीं है। यद्यपि दोनों दार्शनिकों के लिए इदंप्रथमतया अविद्या अथवा अज्ञान को समझना उनकी दार्शनिक योजना का अंगभूत कहा जा सकता है। शंकराचार्य निश्चय ही इस सन्दर्भ में अग्रणी कहे जा सकते हैं कि उन्होंने "सर्वं खल्विदं ब्रह्म' तथा 'नेहनानास्ति किंचन" की दार्शनिक योजना के अंगभूत रूप में अपने केवलाद्वैत सम्बन्धी विचार की शुरूआत अध्यास की अवधारणा से की है और इसके माध्यम से उन्होंने भ्रम विचार को तत्त्व दार्शनिक महत्त्व के साथ खड़ा किया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन में दार्शनिक दृष्टि से ख्याति विषयक विचार का प्रारम्भ अविद्या अथवा अज्ञान के स्वरूप को समझने के प्रयास में हुआ है और शंकराचार्य ने इस पहल हेतु एक उपष्टम्भक भूमिका को प्रस्तावित किया है। शंकराचार्य अध्यास को नैसर्गिक मानते हैं और उस नैसर्गिक अध्यास की आनुभविक पहचान वे भ्रम के प्रारूप में करते हैं। इस तरह शंकराचार्य के लिए भ्रमात्मक अनुभव और भ्रमभात पदार्थ जगत् के मिथ्यात्व की व्याख्या करने का पूर्व–प्रारूप बनकर सामने आता है। अपने अध्यास भाष्य में शंकर भ्रम के त्रिविध विकल्पों का अध्याहार करते हुए 'अन्यथात्व' को भ्रम के सामान्य लक्षण के रूप में प्रतिपादित करते हैं।[2-क]

तदन्तर अन्यथात्व की व्याख्या अनिर्वचनीय रूप से करते हुये उसका पर्यवसान अपनी केवलाद्वैती दृष्टि में दिखाते हैं। इस तरह शंकराचार्य भ्रम की व्याख्या विषयक एक सर्वग्रासी पूर्व पक्ष प्रस्तुत करने में सफल हो जाते हैं। देखा जाय तो भ्रम के स्वरूप विषयक अनिर्वचनीयतावादी सर्वग्रासी पूर्व पक्ष के विरोध में ही भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायों में ख्याति विषयक वैकल्पिक व्याख्याओं और सिद्धांतों को विकसित करने की प्रेरणा प्राप्त हुई है। ख्यातिवाद के ऐतिहासिक उत्स को इस तरह समझने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय दार्शनिकों ने ख्यातिवाद सम्बन्धी अपने विचार को केवल आनुभविक भ्रम की व्याख्या करने तक सीमित नहीं रखा है बल्कि सभी दर्शनों ने अपनी–अपनी तत्त्वदृष्टि के अनुरूप भ्रम को व्याख्यायित करने का प्रयास किया है।

तत्त्वदृष्टिमूलक ख्यातिवाद का विकास भारतीय परम्परा में जिस तरह हुआ है उसमें ख्यातिवाद के तीन आयाम प्रमुख रूप से सामने आते हैं। इसमें पहला यह कि भ्रान्ति ज्ञान के विषय का वास्तविक स्वरूप क्या है? क्या भ्रान्त अनुभव किसी वास्तविक वस्तु द्वारा उत्पादित ज्ञान है अथवा अवास्तविक वस्तु के द्वारा उत्पादित। दूसरा यह कि स्वयं भ्रान्त अनुभव का स्वरूप क्या है? क्या यह अनुभूति रूप अथवा स्मृति रूप ज्ञान में किसी तरह की न्यूनता अथवा व्यत्यास मात्र है। तीसरा यह कि भ्रान्ति एक राश्यात्मक ज्ञान है अथवा राशिद्वयात्मक है। वस्तुतः ये तीन आयाम और उससे सम्बन्धित समस्यायें इतनी व्यापक हैं कि भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद के सम्पूर्ण विकास को अपने में समाहित करती हैं। यदि इन तीनों आयामों के सन्दर्भ में ख्यातिवाद के निहितार्थ को समझने का प्रयास किया जाय तो उपर्युक्त प्रथम आयाम के अन्तर्गत यह प्रश्न उपस्थापित होता है कि भ्रान्ति ज्ञान का विषय सत्, असत्, सदसत्, सदसत् विलक्षण अथवा चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य में से क्या होता है? भ्रान्ति ज्ञान के विषय संबंधी इन पंचविध विकल्पों में प्रथम विकल्प के अन्तर्गत रामानुज को अभिप्रेत सत्ख्यातिवाद को रखा जा सकता है। दूसरे विकल्प के अन्तर्गत बौद्धों तथा माध्वों को अभिप्रेत असत् ख्यातिवाद को रखा जा सकता है। तीसरे विकल्प के अन्तर्गत सांख्य सम्मत सद्सत्ख्यातिवाद और पूर्वमीमांसकों के विपरीतख्यातिवाद को रखा जा सकता है। चौथे विकल्प के अन्तर्गत केवलाद्वैतियों का अनिर्वचनीय ख्यातिवाद आता है। पाँचवें विकल्प के अन्तर्गत माध्यमिकों के असत् ख्याति से भिन्न चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्यख्यातिवाद को रखा जा सकता है।[3]

इसी तरह ख्यातिवाद का दूसरा आयाम जो भ्रान्ति ज्ञान के स्वरूप से सम्बन्धित है, उसके अन्तर्गत भी विविध विकल्पों की उद्‌भावना करते हुए प्रथम विकल्प के अन्तर्गत योगाचार बौद्धों एवं काश्मीर प्रत्यभिज्ञा दर्शन के ख्याति सम्बन्धी विचार को रखा जा सकता है। दूसरे विकल्प के अन्तर्गत अख्यातिवाद और उसी से मिलते जुलते अन्य दर्शनों के ख्याति–सिद्धांतों को रखा जा सकता है। अन्त में तीसरे विकल्प के अन्तर्गत अन्यथाख्यातिवाद और विपरीतख्यातिवाद तथा उसी गोत्र के अन्य ख्याति सिद्धांत संग्रहीत किये जा सकते हैं। उपर्युक्त दर्शित ख्यातिवाद का तीसरा आयाम जो मूलतः इस बात से सम्बन्धित है कि भ्रान्त अनुभव एक राश्यात्मक ज्ञान है अथवा द्वयराश्यात्मक, तो वास्तव में यह भी भ्रान्ति ज्ञान के स्वरूप से ही सम्बन्धित है और इस कारण इसका अर्न्तभाव भी दूसरे आयाम के ही अन्तर्गत हो जाता है।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद का विचार विभिन्न दर्शनों के माध्यम से जिस प्रकार विकसित हुआ है उसमें मुख्य रूप से दो आधारभूत प्रश्नों पर विचार किया गया है। इसमें पहला यह कि भ्रान्ति ज्ञान का जो विषय है उसके स्वरूप और उसकी सत्तात्मक स्थिति को किस प्रकार समझा जाय? दूसरा यह कि स्वयं भ्रान्ति ज्ञान का स्वरूप क्या है? इसमें पहला प्रश्न दूसरे प्रश्न की अपेक्षा अधिक आधारभूत है और इस प्रश्न को यदि रज्जु–सर्प भ्रम पर लागू करें तो प्रश्न उठता है कि इस भ्रमात्मक प्रतीति में सर्प दिखाई पड़ता है अथवा नहीं? दूसरा प्रश्न यह कि क्या सर्प अन्य स्थल या काल में कहीं प्राप्त हो सकता है? तीसरा प्रश्न यह कि भ्रम निवारण के बाद उस सर्प की क्या स्थिति होती है? भारतीय परम्परा के अद्वैतवादी दर्शनों में ख्याति विचार के अन्तर्गत भ्रमभात पदार्थ के स्वरूप और उसकी सत्तात्मक स्थिति पर उपर्युक्त प्रश्नों के सन्दर्भ में ही मुख्य रूप से विचार किया गया है। ऐसा भी नहीं कि अद्वैतवादी दर्शनों में ख्याति विषयक ज्ञानमीमांसीय और मनोवैज्ञानिक प्रकार के प्रश्न वाद–विवाद के क्रम में न उठें हों, लेकिन यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि इन दर्शनों ने ख्याति विषयक सत्तामीमांसीय चर्चा में अधिक रुचि दिखाई है। अद्वैतवादी परम्परा के दर्शनों के लिए यह आवश्यक भी प्रतीत होता है, क्योंकि भ्रम सम्बन्धी उनकी व्याख्या का उद्देश्य भ्रम की मनोवैज्ञानिक घटना के विश्लेषण तक ही सीमित नहीं है बल्कि भ्रम या उसी से मिलते–जुलते अन्य प्रकार के अनुभवों के सन्दर्भ और प्रारूप में दृश्यमान जगत् की व्याख्या तक विस्तृत है।

ऊपर हमने भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद के ऐतिहासिक विकास को जिस तरह समझने का प्रयास किया है, उससे स्पष्ट होता है कि भारतीय दशनों को ख्याति विषयक अपने–अपने सिद्धान्त पक्ष को उपस्थापित करने की प्रेरणा अथवा बाध्यता अद्वैत वेदांत के अनिर्वचनीय ख्याति के द्वारा ही मिली है। अतएव अद्वैतवादी परम्परा के दर्शनों एवं उनके ख्याति सिद्धांतों पर तुलनात्मक–समीक्षात्मक रूप से विचार करने के लिए सम्प्रति हम अनिर्वचनीय ख्यातिवाद के ही पक्ष को प्रथमतया उपस्थापित कर अपने विचार को अग्रसारित करने का प्रयास करेंगे।

II

अद्वैत वेदान्त सम्मत अनिर्वचनीय ख्यातिवाद का पक्ष यह है कि भ्रम में एक वस्तु के गुणों को अथवा एक वस्तु को दूसरे पर आरोपित किया जाता है और ऐसा आरोपण ही उनके लिए अध्यास है। भ्रम में जो आरोपित वस्तु है उसे न तो स्मृति कह सकते हैं और न उसे अन्यत्र सत्य कर सकते हैं। न उसे वहीं उसी स्थल पर सत्य कह सकते हैं और न तो उसे सर्वथा असत् कह सकते हैं। भ्रमभात सर्प यहाँ इस समय दिखाई पड़ता है और उसका बाध भी यहीं होता है। यह सर्प सत् नहीं क्योंकि उसका बाध होता है, और न तो आकाशपुष्प के समान असत् है क्योंकि वह दिखाई पड़ता है और न तो सत् और असत् दोनों कह सकते हैं क्योंकि उसका कोई अंश स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसका देश, काल, स्वरूप, सम्बन्ध सब रज्जु के होते हैं। इस सर्प में सत् अंश कुछ भी नहीं होता है और दिखाई पड़ने के कारण वह असत् भी नहीं है। अतः उसे सत् असत् विलक्षण या अनिर्वचनीय कहना ही ठीक है। ब्रह्म को भी शब्द से परे कहा जाता है, किन्तु उसे अनिर्वचनीय कहना ठीक नहीं होगा क्योंकि वह सत् है और यद्यपि आकाश–पुष्प का भी वर्णन नहीं किया जा सकता फिर भी वह आकाश–पुष्प अनिर्वचनीय नहीं बल्कि असत् या अलीक है।

अनिर्वचनीय ख्यातिवाद के विरोध में यह कहा जा सकता है कि मध्यम परिहार नियम (ला ऑफ एक्सक्लूडेड मिडिल) के अनुसार कोई वस्तु या तो सत् या असत् होती है। उसके अतिरिक्त अनिर्वचनीय नाम की कोई चीज नहीं हो सकती। इसका उत्तर यह है कि मध्यम परिहार नियम को मानना अनिवार्य नहीं है। विचार करने के बाद ही हम कह सकते हैं कि उसको स्वीकार किया जाय या नहीं। सारी वस्तुओं को सत् या असत् दो ही वर्गों में बांट देना तो इस बात का द्योतक है कि मानों हम विचार कर चुके हैं और सब कुछ जान गये हैं। जहाँ अभी अन्वेषण का कार्य चल रहा है वहाँ पहले से ही इस तरह का विभाजन नहीं हो सकता। एक दूसरी आपत्ति यह भी हो सकती है कि हम जो कुछ देखते हैं वह सत् है और सत् को ही हम देखते हैं, अतः भ्रमभात सर्प सत् है। यह आपत्ति सत्ख्यातिवादियों की है जो भ्रम, विपर्यय की सम्भावना को ही निरस्त कर देता है। यह भी कहा जाता है कि व्यवहार में तो केवल सत् और असत् का ही प्रयोग होता है किन्तु अनिर्वचनीयता तो साधारण व्यवहार का शब्द ही नहीं है। यह दार्शनिक विवेचन की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु विचार करने पर हम पाते हैं कि सर्प को हम न सत् कह सकते हैं और न असत् और न दोनों। अतः इसे अनिर्वचनीय कहा जा सकता है। भ्रम–स्थान में अद्वैत वेदांत की भाषा में कहा जाता है कि अनिर्वचनीय को हम अर्थापत्ति द्वारा प्राप्त करते हैं।

द्रष्टव्य है क भ्रमभात सर्प और जगत् दोनों मिथ्या हैं, परन्तु दोनों में भी भेद है। अतः भ्रमस्थलीय सर्प को प्रातिभासिक एवं जगत् को व्यावहारिक कहा गया है। इन दोनों का भेद यह है कि प्रातिभसिक व्यक्तिगत भ्रम है किन्तु व्यावहारिक (जगत्) सर्व सामान्य का भ्रम है। व्यावहारिक जगत् दिखने के पहले और दिखने के बाद भी रहता है परन्तु प्रातिभासिक जब तक दिखता है तभी तक रहता है। व्यावहारिक का बाध किसी वस्तु विशेष के ज्ञान से नहीं होता किन्तु ब्रह्म के ज्ञान से होता है। परन्तु प्रातिभासिक के बाध के लिए वस्तु विशेष का ज्ञान ही पर्याप्त है। व्यावहारिक का ज्ञान प्रत्यक्ष आदि से होता है किन्तु प्रातिभासिक केवल साक्षी दृष्ट है। अद्वैत वेदान्त की ज्ञानमीमांसा में इदंरजतम् में इदं का ज्ञान प्रत्यक्ष से और रजतम् का ज्ञान साक्षी से होता है।

अद्वैतवेदांत में साक्षी की अवधारणा का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि साक्षी के द्वारा ज्ञात–अज्ञात, यथार्थ–मिथ्या आदि सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। तर्कतः एक ऐसे चैतन्य को मानना आवश्यक है जिसे अज्ञात भी ज्ञात हो अर्थात् प्रमाता को जो अज्ञात है वह भी उसे (साक्षी को) ज्ञात हो। जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं तो हमको ऐसा लगता है कि वस्तु यहाँ थी किन्तु हमे उसका ज्ञान नहीं था अर्थात् वस्तु की उत्पत्ति ज्ञान के साथ ही नहीं होती है, अन्यथा ज्ञान और कल्पना में भेद नहीं रह जायेगा। ज्ञान भूतवस्तुविषयक (सिद्धवस्तुविषयक) होता है और कल्पना से वस्तु की सृष्टि होती है। अतः अद्वैत वेदान्त का मानना है कि प्रमाता के लिए जो अज्ञात वस्तु है वह भी साक्षी को ज्ञात रहती है। इसी तरह से प्रमाता द्वारा मिथ्या रूप से तिरस्कृत वस्तु भी साक्षी को अवभासित होती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि साक्षी सर्व विभासक अर्थात् सब कुछ को प्रकाशित करने वाला है। तब भी साक्षी निर्णायक या प्रमाता नहीं है बल्कि निष्पक्ष है और निष्पक्षत्व के कारण ही साक्षी को सद् और मिथ्या, ज्ञात और अज्ञात दोनों भासित होते हैं। प्रमाता को ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि प्रमाता की एक विशेष दृष्टि होती है।

साक्षी–चैतन्य सर्वसामान्य, निष्पक्ष एवं सर्वज्ञ है। प्रमाता जो एक मापदण्ड रखने वाला है वह साक्षी–चैतन्य पर अध्यस्त होकर साक्षी–चैतन्य द्वारा प्रकाशित वृत्तियों का उपयोग करता है। साक्षी तो प्रमाता की प्रमाण वृत्तियों के अतिरिक्त अन्य वृत्तियों को भी प्रकाशित करता है। प्रमाता सोता है, स्वप्न देखता है, जागता है किन्तु साक्षी सदैव जागरूक है। उसके चैतन्य में ये सब भेद नहीं होते हैं। साक्षी का ज्ञान अपरिच्छिन्न और प्रमाता का ज्ञान परिच्छिन्न है।

अध्यास मूलक अनिर्वचनीय ख्याति के विरोध में यह आशंका भी की जा सकती है कि अध्यास दो बाह्य वस्तुओं में हुआ करता है परन्तु आत्मा संबंधी अध्यास में तो प्रत्येक आत्मा कोई बाह्य वस्तु नहीं है फिर भी शरीर के साथ उसका अध्यास कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि यह कोई नियम नहीं है कि अध्यास में वस्तुएँ हमारे सामने रहने वाले पदार्थ हों। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक आत्मा भी एक अर्थ में अहं प्रत्यय का विषय है। विषय कहने से यह शंका नहीं होनी चाहिए कि आत्मा विषयी न होकर विषय हो गया, क्योंकि प्रत्यगात्मा का ज्ञान अपरोक्ष है। यहाँ पर शंकराचार्य प्रत्यक्ष न कहकर अपरोक्ष शब्द का प्रयोग करते हैं। इसका निहितार्थ यह है कि आत्मा का अपरोक्षत्व विषय के प्रत्यक्षत्व से भिन्न है। विषयों का प्रत्यक्षत्व सोपाधिक है अर्थात् इन्द्रियादि साधनों पर निर्भर करता है किन्तु आत्मा का अपरोक्षत्व ऐसा नहीं है। यहाँ पर यह भी शंका नहीं होनी चाहिए कि आत्मा विषयी न होकर विषय हो गया क्योंकि प्रत्यगात्मा का ज्ञान अपरोक्ष है। पुनः यहाँ पर यह भी शंका नहीं होनी चाहिए कि यदि आत्मा अपरोक्ष है तो उसके विषय में अध्यास कैसे होता है? अध्यास वहीं होता है जहाँ हमारा ज्ञान अपूर्ण रहता है, जैसे रज्जु के अयं होने का ज्ञान तो रहता है किन्तु अयं के रज्जु होने का ज्ञान नहीं रहता। आत्मा है, इसका अपरोक्ष ज्ञान है किन्तु आत्मा अनन्त है इसका अपरोक्ष ज्ञान नहीं है। इसी से तद्‌विषयक (आत्मा विषयक) जिज्ञासा को अवसर मिलता है। उन लोगों को, जो प्रत्यक्ष वस्तुओं में ही अध्यास मानते हैं, ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने यह भी कहा है कि आकाश के अप्रत्यक्ष होने पर भी लोग उस पर मालिन्य आदि का अध्यास करते हैं अर्थात् केवल प्रत्यक्ष वस्तु पर ही अध्यास नहीं होता।

अध्यास के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्यास किसी वस्तु में वास्तविक परिवर्तन नहीं है किन्तु केवल अविद्याजन्य है। अतः उसका नाश विद्या या विवेक से हो जाता है अर्थात् वस्तु में परिवर्तन न तो विद्या से होता है न ही अविद्या से। अध्यास के कारण वस्तु में किसी प्रकार का गुण–दोष उत्पन्न नहीं होता अर्थात् अध्यस्त वस्तु के गुण–दोष अधिष्ठान पर कोई प्रभाव नहीं डालते क्योंकि आरोपण ही नहीं बल्कि जिसका आरोपण होता है वह भी मिथ्या है (मिथ्यायाः मिथ्यात्वम्)। अतः भ्रमभात पदार्थ प्रतिभास मात्र शरीर होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केवँलाद्वैतियों के अनिर्वचनीय ख्याति का उत्स शांकर प्रतिपादित अध्यास की अवधारणा में है। अध्यास के नैसर्गिक होने से वस्तुतः वह प्रागनुभविक है और प्रागनुभविक अध्यास के चलते ही दृश्यमान जगत् हमें इस रूप में दिखाई पड़ता है। यहाँ द्रष्टव्य है कि आनुभविक भ्रम को केवलाद्वैतियों ने नैसर्गिक अध्यास के आनुभविक प्रारूप के रूप में पहचाना है और इसके माध्यम से वह सफलतापूर्वक यह बता सकते हैं कि जगत् का मिथ्यात्व किस प्रकार से है। भ्रमात्मक प्रतीति एक अवभास है और ऐसा अवभास जिसमें ज्ञान से बाधित

होने की योग्यता है (अवसन्नो भासःअवभासः। अवसन्नो नाम ज्ञानेन यो हि बाध्यते।)[5] अतएव इसे सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय ही कहना होगा। यही अनिर्वचनीयता मिथ्यात्व है जो न तो त्रिकालाबाधित रूप से सत् है और न ही त्रिकाल बाधित रूप से असत्। केवलाद्वैतवादियों के अनुसार भ्रमभात पदार्थ का ऐसा ही स्वरूप है। भ्रमभात पदार्थ का यह स्वरूप जिस तरह से रज्जु–सर्प के भ्रम पर लागू होता है उसी प्रकार दृश्यमान जगत् पर भी लागू किया जा सकता है। दोनों की भ्रमात्मकता का अन्तर केवल वैयक्तिक और समष्टिगत भ्रम को लेकर ही है। दोनों के प्रारूप में कोई अन्तर नहीं, क्योंकि प्रकाश के द्वारा जिस तरह रज्जु–सर्प के भ्रम में सर्प का बाध हो जाता है उसी तरह ब्रह्म ज्ञान के प्रकाश से इस दृश्यमान जगत् का भी बाध हो जाता है। परन्तु ब्रह्म ज्ञान से पूर्व दार्शनिक विमर्श के धरातल पर दृश्यमान जगत् का बाध्यत्व प्रमाणों से सिद्ध होता है।

III

अब ख्याति विषयक अद्वैतवेदान्तियों के उपर्युक्त प्रस्ताव और एतद् विषयक उनके प्रतिपादनों के सन्दर्भ में अन्य अद्वैतवादी दर्शनों के ख्याति सिद्धांतों पर तुलनात्मक–समीक्षात्मक रूप से विचार करें तो इस प्रसंग में प्रथमतया असत्ख्याति पर विचार करना प्रासंगिक होगा। असत् ख्याति का सिद्धांत माध्यमिक शून्यवादियों का है। यद्यपि शून्यवादियों ने स्वयं ही अपने ख्याति सिद्धांत का नामकरण इस रूप में नहीं किया है तथापि असत्ख्याति का पक्ष उनके लिए समीचीन ही प्रतीत होता है। भारतीय परम्परा में सम्भवतः अद्वैत वेदांतियों ने ही शून्यावादियों के भ्रम विषयक अभिमत को असत्ख्याति के रूप में निर्दिष्ट किया है। अद्वैतवेदांतियों के लिए ऐसा किया जाना कुछ दृष्टियों से आवश्यक भी था क्योंकि केवलाद्वैतवाद और शून्यद्वयवाद आपस में कुछ मिलते–जुलते दर्शन हैं। इसलिए केवलाद्वैतियों ने शून्यवादियों को असत्ख्यातिवादी कहकर वास्तव में अपने अभिमत की पृथकता को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। माध्यमिक दृष्टि से इस जगत् की प्रतीति अविद्यामूलक ही है और अविद्या की भूमिका दोनों ही दर्शनों में लगभग एक ही प्रकार की है। अभूतं ख्याप्यत्यर्थं भूतमावृत्य वर्तते[6] – के सन्दर्भ में माध्यमिक सम्मत अविद्या की भूमिका केवलाद्वैतियों के आवरण और विक्षेपमूलक अविद्या की भूमिका से मिलती–जुलती प्रतीत होती है। परन्तु दोनों में निर्णायक अन्तर केवल अधिष्ठान विषयक है जो अविद्या के द्वारा आवरित और तदुपरांत विक्षेपित होता है। इसीलिए केवलाद्वैती अविद्यामूलक अध्यास की आनुभविक पहचान जब भ्रम के रूप में करते है तो उसके लिए रज्जु अधिष्ठानक सर्प के भ्रम को उदाहरण बनाते हैं लेकिन माध्यमिक इस उदाहरण को प्रस्तुत न कर पाण्डु रोग से ग्रसित भ्रमात्मक पीत दृष्टि को उदाहरण बनाते हैं। इन दोनों उदाहरणों से इन दोनों दर्शनों के ख्याति विषयक सिद्धांत के अन्तर को समझा जा सकता है। वह इस प्रकार कि केवलाद्वैतियों के अनुसार भ्रम–स्थल में जब सर्प का बाध होता है तो रस्सी के वास्तविक ज्ञान में वह गतार्थ हो जाता है लेकिन शून्यवादियों के अनुसार सर्प का बाध सर्वथा असत् प्रतीति में गतार्थ होता है। अतएव कहा जा सकता है कि केवलाद्वैती और माध्यमिक शून्यवादी दोनों ही नैसर्गिक अज्ञान की आनुभविक पहचान भ्रम के प्रारूप में करते हैं लेकिन एक भ्रम के निरूपण से जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करता है तो दूसरा जगत् के अलीक और असत् होने का। इस बात की तत्त्वमीमांसीय परिणति

दोनों ही दर्शनों में इस रूप में देखी जा सकती है कि किस प्रकार केवलाद्वैतियों का ब्रह्म चतुष्टकोटिविनिर्मुक्त पंचम् कोटि का त्रिकालाबधित सत् है लेकिन माध्यमिकों का शून्य कोई त्रिकालाबाधित सत् नहीं बल्कि चतुष्कोटिविनिर्मुक्त प्रज्ञा मात्र है।

अब यदि योगाचार विज्ञानवाद की आत्मख्याति पर तुलनात्मक–समीक्षात्मक रूप से विचार करें तो यह भी एक विज्ञानाद्वैतवादी दार्शनिक तंत्र है जो वास्तव में शून्याद्वयवाद के विरोध में प्रतिष्ठित हुआ है। इनके मत में सब कुछ शून्य हो सकता है लेकिन 'सब कुछ शून्य है' यह कहने वाला शून्य नहीं हो सकता। इस प्रकार विज्ञानमात्र की परमार्थतः सत्ता स्थापित होती है। यदि एक मात्र चेतना अथवा विज्ञान की ही वास्तविक सत्ता है तो विज्ञानाद्वैतवादियों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि एक ओर वे विज्ञान से बाह्य पदार्थों की बाह्यता का निराकरण करे और प्रतीत होने वाली बाह्यता की व्याख्या विज्ञानाकार के रूप में करें। विज्ञानवादी ऐसा करते भी हैं और बाह्यार्थ को विज्ञप्तिमात्र सिद्ध करते हैं। योगाचारी विज्ञानाद्वैत के अनुसार ग्राह्य–ग्राहक विनिर्मुक्त अद्वयविज्ञान की ही पारमार्थिक सत्ता है।[7] घट–पट आदि बाह्य पदार्थ विज्ञान के ही आकार मात्र हैं, जो अनादिवासना के बल से बहिर्वत् प्रतीत होते हैं। यदि बाह्यार्थों का कुछ भी सार है तो उसे विज्ञानाकार के रूप में ही समझा जा सकता है। अतएव आत्मख्याति में बाह्यार्थों की बाह्यता का अत्यान्तिक निषेध किया गया है जबकि विज्ञानाकार के रूप में उन्हें मान्य किया गया है। अवधेय है कि योगाचार सम्मत त्रिस्वभाव व्यवस्था[8] के अनुसार विशुद्ध विज्ञान 'परिनिष्पन्न स्वभाव', आकार युक्त विज्ञान 'परतंत्र स्वभाव' और विज्ञानकारों की बाह्यार्थ रूप में ख्याति 'परिकल्पित स्वभाव' है। इस व्यवस्था में भ्रमभात पदार्थ भी विज्ञान के आकार मात्र ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ लौकिक पदार्थ आलय विज्ञान के आकार होते हैं वहीं वैयक्तिक भ्रम में भासित होने वाले पदार्थ क्लिष्ट मनोविज्ञान के आकार होते हैं। इस प्रकार, आत्मख्यातिवादी दृष्टि से भ्रम का सामान्य लक्षण 'ज्ञानाकारस्यैव बहिरवभासी विभ्रमः' ही बनता है। यह लक्षण सन्दर्भ–भेद से घट–पट लौकिक पदार्थों एवं भ्रमभात सर्पादि पदार्थों पर समान रूप से लागू होता है।

द्रष्टव्य है कि विज्ञानाद्वैतवादी भी अनादिवासना रूप अविद्या की आनुभविक पहचान भ्रम के रूप में ही करते हैं और इसके लिए वे तैमिरिक और द्विचन्द्रदर्शन इत्यादि प्रकार के आनुभविक भ्रमों तथा स्वप्न इत्यादि को उदाहरण बनाते हैं।[9] इन उदाहरणों से वैज्ञानाद्वैतवादी वास्तव में यह दिखाना चाहते हैं कि चेतना अपने विषयों को अपने ही अन्तर्वस्तु के रूप में सृजित करती है और उसे ही बाह्यता प्रक्षेपित भी करती है। इस बिन्दु पर केवलाद्वैतवादियों से इनका अन्तर इस रूप में स्पष्ट होता है कि पहले में भ्रम अधिष्ठान के आवरण और फिर उसके विक्षेप में फलित होता है तो दूसरे में भ्रम चेतना के सृजनात्मक व्यापार और प्रक्षेप में चारितार्थ होता है। यही प्रक्रिया जब आलयविज्ञान के स्तर पर सम्पन्न होती है तो बाह्य जगत् का वस्तुनिष्ठ अवभास सम्भव होता है और जब प्रवृत्ति विज्ञानों के स्तर पर सम्पन्न होती है तो आनुभविक भ्रमात्मक प्रतीति सम्भव होती है।

इसके अनन्तर अब यदि विशिष्टाद्वैतवादियों के सत्ख्यातिवाद पर तुलनात्मक–समीक्षात्मक रूप से विचार करें तो उनका यह सिद्धांत अनिर्वचनीय और असत्ख्याति के विरोध में विकसित हुआ प्रतीत होता है। इनकी ज्ञानमीमांसा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य यह है कि 'सभी

विज्ञान यथार्थ हैं।'[10] भ्रम अ–ज्ञान या अ–ग्रहण है, मिथ्या ज्ञान या अन्यथा ग्रहण नहीं। अतएव रामानुज सभी प्रकार के ज्ञान को यथार्थ कोटि में ही रखते हैं और वह स्वतः प्रामाण्य होता है।[11] ज्ञान का स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक ज्ञान का कोई न कोई विषय होता है, जिसकी सत्ता को यह प्रकाशित करता है।[12] इसलिए उसे असत्य या मिथ्या नहीं कहा जा सकता। रामानुज किसी ज्ञान या अनुभूति के बाधित होने को भी स्वीकार नहीं करते। एक ज्ञान दूसरे ज्ञान का बाधक नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान कम से कम कालक्रम की दृष्टि से दूसरे से भिन्न ही होता है। एक ही समय में होने वाले ज्ञान ही परस्पर बाध्य–बाधक हो सकते हैं, दो भिन्न क्षणों में होने वाले ज्ञान नहीं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि रामानुज सभी अनुभूतियों को समान रूप से सत्य मानते हैं। उनके मत में भी स्वप्न–जगत् की अनुभूतियाँ जाग्रत संसार की अनुभूतियों की तरह सत्य नहीं हैं। स्वप्नानुभूति जागृतानुभूति से निम्नस्तरीय है, क्योंकि इसकी व्यावहारिक उपादेयता संदिग्ध एवं व्यक्ति–सापेक्ष है। परन्तु स्वप्न–ज्ञान मिथ्या नहीं है क्योंकि उसकी अनुभूति होती है। स्वप्नानुभूति के आधार पर जाग्रत जगत् में व्यवहार करना संभव नहीं क्योंकि उस अनुभूति के विषय ईश्वर द्वारा एक सीमित उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त स्वप्न–काल तक के लिए ही रचे जाते हैं।[13] स्वप्नोपरान्त उसकी सत्ता नहीं रह जाती। इस प्रकार जिसे साधारण तौर पर भ्रम–ज्ञान या असत्य–ज्ञान कहते हैं (यथा, रस्सी–सर्प–भ्रम) वह भी इस अर्थ में सत्य होता है कि उसका विषय असत्य नहीं होता। रस्सी में सर्प की प्रतीति कपोल–कल्पना नहीं है, क्योंकि रस्सी और सर्प दोनों की सत्ता अनुभव–सिद्ध है। रस्सी में सर्प की प्रतीति, रस्सी में सर्पत्व के लक्षण (या आकार) विद्यमान होने के कारण होती है।

भ्रम की ऐसी व्याख्या के पीछे विशिष्टाद्वैतियों का त्रिवृत्करण या पंचीकरण की प्रक्रिया में अटूट विश्वास होना है। सृष्टि रचना के लिए आवश्यक सभी तत्त्व एक दूसरे से मिश्रित होकर ही पदार्थों का निर्माण करते हैं। प्रत्येक पदार्थ में सभी तत्त्वों के अंश विद्यमान होते हैं, जिसमें किसी एक तत्त्व की प्रधानता होती है। जब हम प्रधान तत्त्व की अनुभूति न कर अप्रधान तत्त्वों में से किसी एक का प्रत्यक्ष करते हैं तो हमारा प्रत्यक्ष भ्रम कहलाता है। भ्रम भी सत्य होता है क्योंकि प्रत्यक्षीकृत तत्त्व भी विद्यमान रहता है, भले ही वह प्रधान न हो। रस्सी में भी सर्पत्व के कुछ तत्त्व उपस्थित हैं, जिनका प्रत्यक्ष प्रधान रूप से होने से रस्सी में सर्प का भ्रम होता है। यह प्रत्यक्ष अनुपयोगी सिद्ध होता है क्योंकि यह अपूर्ण प्रत्यक्ष होता है अथवा इसमें हमें पदार्थ की समग्रता का ज्ञान नहीं होता। रस्सी में प्रत्यक्षीकृत सर्प परिमित काल के लिए हमारे भय अथवा पलायन का कारण बन सकता है, परन्तु ऐसे सर्प व्यवहार में सर्प सिद्ध नहीं हो सकता। लेकिन इस आधार पर हम भ्रम को सर्वथा मिथ्या ज्ञान भी नहीं कह सकते। अतएव रामानुज ने यथार्थ ज्ञान को प्रकाशक केवल मात्र इस अर्थ में नहीं माना है कि ज्ञान द्वारा विरोधी अज्ञान का निरास होता है, अपितु विषय का बोध (परिच्छेद) होता है, अर्थात् वह व्यावहारिक उपयोगिता या योग्यता लाता है।[14]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विशिष्टाद्वैतवादियों का सत्ख्याति सिद्धांत भ्रम की व्याख्या में चेतना या बुद्धि की आत्मनिष्ठ भूमिका को सर्वथा नकारते हुए अपनी ब्रह्म परिणामवादी एवं त्रिवृत्करण–वादी सृष्टि प्रक्रिया के अनुसार भ्रम को व्याख्यायित करने का प्रयास

करते हैं। अतः इनकी व्याख्या वैसे अद्वैतवादी दर्शनों से सर्वथा भिन्न प्रकार की कही जा सकती है जो सृष्टि की अविद्यामूलक व्याख्या करते हैं। वास्तव में देखा जाय तो विशिष्टाद्वैतियों का ख्याति सिद्धांत शिवाद्वयवादी एवं शुद्धाद्वैतियों के ख्याति सिद्धांत से काफी निकट प्रतीत होता है। परन्तु विशिष्टाद्वैतवादियों की तत्त्वमीमांसा एवं उनके ख्याति सिद्धांत में एक असंगति भी दिखाई पड़ती है। वह यह कि यदि उनके इस सिद्धांत को स्वीकार किया जाय कि यावत् जगत् ब्रह्म का परिणाम है तो भ्रम को भी क्यों न एक परिणाम मानकर उसे आन्तरालिक सृष्टि के रूप में मान्य किया जाए। परन्तु वे ऐसा नहीं मानते और त्रिवृत्करण के सिद्धांत को आधार बनाकर भ्रम की व्याख्या एक अपूर्ण ज्ञान के रूप में करते हैं। इसलिए इनके मत में भ्रम और प्रमा का तात्त्विक भेद नहीं बनता बल्कि दोनों में केवल मात्रात्मक भेद ही मान्य करना पड़ता है।

अब यहाँ प्रसंगतः शुद्धाद्वैतवादियों के अन्यख्यातिवाद पर तुलनात्मक–समीक्षात्मक रूप से विचार करना प्रासंगिक होगा। ख्याति–विषयक इस सिद्धांत का विकास शांकर, रामानुज और माध्व वेदांत के विरोध में और विशेष रूप से आत्मख्यातिवाद के विकल्प में विकसित हुआ प्रतीत होता है। वाल्लभ वेदांत के आकार ग्रन्थों में जिस रूप से इसकी स्थापना की गई है उससे प्रतीत होता है कि यह शुद्धाद्वैती तत्त्वमीमांसा के सर्वथा अनुरूप ख्याति सिद्धांत है। यदि समस्त नाम सृष्टि एवं रूप सृष्टि सर्वसम्भवन–समर्थ ब्रह्म का ही अविकृत परिणाम है तो प्रमा और अप्रमा तथा उसके समस्त उपभेदों को किसी न किसी रूप से ब्रह्मात्मक ही मानना होगा। वस्तुतः शुद्धाद्वैतियों ने अपनी तत्त्वमीमांसा के इसी मूलभूत सूत्र को ध्यान में रखते हुए भ्रमभात पदार्थ की व्याख्या अन्यख्याति के रूप में की है। इस दृष्टि से देखा जाय तो शुद्धाद्वैत में किसी प्रकार की भी ख्याति की संभावना बनती ही नहीं, क्योंकि जैसे रज्जु की सत्ता ब्रह्मात्मक है वैसे ही सर्प की सत्ता भी ब्रह्मात्मक ही है। इसलिए शुद्धाद्वैतियों ने पूर्णज्ञानियों एवं पूर्ण योगियों के सन्दर्भ में अख्याति को ही स्वीकार किया है। परन्तु किसी देश–काल विशेष में उस ब्रह्म के तिरोहित नाम–रूप–कर्म का वहाँ अतिरोहिततया जब भान होता है तो उसकी व्याख्या अन्य ख्याति के रूप में मान्य की गई है। अवधेय है कि इस रूप से भ्रमभात पदार्थ की अन्यता उसकी ब्रह्मात्मकता के निरसणार्थ नहीं अपितु निर्वाहार्थ सोची गई एक सुविचारित अवधारणा है। वस्तुतः भ्रम का सामान्य अभिप्राय किसी देश–काल विशेष में विद्यमान का अप्रकाशन और अविद्यमान का प्रकाशन ही है और ये दोनों बातें भगवत्–शक्तिरूप व्यामोहिका माया के कार्य हैं। व्यामोहिका माया के कार्य रूप में ही शुद्धाद्वैती भ्रमभात पदार्थों की व्याख्या आन्तरालिक सृष्टि के रूप में करते हैं। शुक्ति–रजत भ्रम–स्थल में रजत की प्रतीति उस देश–काल –विशेष में आविर्भूत रजत रूपा आन्तरालिक सृष्टि है जो बुद्धिवृत्ति अथवा बौद्ध पदार्थ ही है (अयमेव बुद्धौ भातः पदार्थः आन्तरालिकी सृष्टिः)। इस बुद्धि कल्पित पदार्थ की प्रतीति 'अहं रजतम्' के रूप में न होकर 'इदं रजतम्' के रूप में होती है। एतावता वाल्लभ वेदांत में इसे आत्मख्याति न मानकर अन्यख्याति के रूप में स्वीकार किया गया है।[15] इसी प्रकार केवलाद्वैती इस आन्तरालिक सृष्टि को प्रतीति और बाध का विषय होने से अनिर्वचनीय मानते हैं लेकिन शुद्धाद्वैतवाद में समस्त नाम–रूपों के ब्रह्मात्मक होने के कारण उसकी व्याख्या अन्यख्याति के रूप में हुई है। इस आन्तरालिक सृष्टि रूप भ्रमभात पदार्थ की संगति शुद्धाद्वैतवाद से इस रूप में बैठती है कि व्यामोहिका माया से संवलित बुद्धि पदार्थों को अन्यथा

रूप में देखती है किन्तु वास्तव में पदार्थ अन्यथा होते नहीं। अतएव भ्रम विषयतागत होता है, विषयगत नहीं। दूसरे शब्दों में कहें तो विषयता माया जनित होती है और विषय तो ब्रह्म का अविकृत परिणाम ही है। तात्पर्य यह है कि भेद–गत विषयता मायिक है और उसमें अनुस्यूत ब्रह्म ही द्रव्य रूप में विषय है।

IV

अब प्रसंगतः शब्दाद्वैतवादियों के बुद्धिसत्ख्याति अथवा सद्सतख्याति पर तुलनात्मक–समीक्षात्मक रूप से विचार करें तो इस ख्याति सिद्धांत का विकास भी अनिर्वचनीय ख्याति के विरोध में हुआ प्रतीत होता है। बुद्धिसत्ख्याति की सगोत्रीयता सांख्य सम्मत सद्सत्ख्याति एवं योगाचार विज्ञानवाद की आत्मख्याति से भी दिखाई पड़ती है। वस्तुतः नागेश भट्ट ने अनेक ख्यातियों का खण्डन करते हुए अनिर्वचनीय का नया अर्थ किया है, जो सदसत्ख्याति के अर्थ से मिलता है और इस अर्थ वाले अनिर्वचनीय के साथ सदसत् ख्याति की समानता दिखाकर सांख्यसम्मत सदसत् ख्याति के लिए अपनी सम्मति दी है। नव्य वैयाकरण नागेश भट्ट 'शशश्रृंगम्' तथा 'खपुष्पम्' आदि में पदत्व सिद्धि के लिए 'सुप्' आदि प्रत्यय तथा सुबादि के लिए प्रातिपदिक संज्ञा की आवश्यकता मानते हैं। प्रातिपदिक संज्ञा के लिए अर्थवान् शब्द का स्वरूप होना आवश्यक है। शशश्रृंग तथा खपुष्प आदि के अर्थ तो होते हैं लेकिन वस्त्वर्थ नहीं होते। अतः प्रातिपदिक संज्ञा के लिए बौद्धार्थ (बुद्धिपरिकल्पित) मानना पड़ता है। इसके और भी फल हैं जैसे 'अंकुरो जायते' में बुद्धि अंकुर में पूर्वभावित्वेन कर्तृत्व सम्पन्न होता है। रामो बभूव, कृष्णो बभूव आदि प्रयोगों में राम और कृष्ण शब्दों में बौद्ध अर्थ मानकर शक्तिग्रह होता है। इस प्रकार बौद्धार्थ स्वीकार होने के बाद 'नेदं रजतम्' इत्यादि भ्रमस्थल में बाध होने से पूर्व रजत सत्वेन प्रतीत होता है और बाध हो जाने पर असत्वेन प्रतीत होता है। इस प्रकार आरोपित (बौद्धिक) सत्व (रजत में) है तथा बहिः अनारोपित रजत असत् है। इस प्रकार आरोपित एवं अनारोपित सत्व तथा असत्व का एकत्र समावेश सम्भव हो जाता है। यदि बुद्धि में स्थित अर्थ नहीं मानेंगे तो अनारोपित सत्व एवं असत्व का परस्पर विरोध होने से एकत्र सत्वासत्व का समावेश कैसे हो सकता है। वैयाकरणों की यही सदसत्ख्याति है।[16] पुनः नागेश ने इस सदसत्ख्याति को अनिर्वचनीय कहा है और अद्वैतवेदान्त सम्मत अनिर्वचनीयत्व का खण्डन किया।[17] नागेश ने कहा है कि महर्षि गौतम ने भी 'अंकुरो जायते' वाक्य की उत्पत्ति से पूर्व असत् कार्य के लिए उत्पत्ति कर्तृत्व कैसे होगा ? यह शंका करके 'बुद्धि सिद्धं तु सदसत्' यह सूत्र बनाया है। अतः भ्रमभात सर्प बौद्धार्थ के रूप में सत् है लेकिन उसकी भ्रमात्मकता वस्त्वर्थ रूप से प्रतीत होने में है।

अब यदि वैयाकरणों के बुद्धिसत्ख्याति पर समीक्षात्मक रूप से विचार करें तो प्रथमतया जिन वैयाकरणिक प्रयोगों को आधार मानकर वे बौद्धार्थ को स्वीकार करते हैं, वही आपत्तिजनक प्रतीत होता है, क्योंकि बौद्ध अर्थ न मानने पर भी अनर्थक शशश्रृंग में 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा हो जायगी। ''अर्थवद्धातु'' सूत्र में 'अर्थवद्विषयक' प्रतीत्यविषयत्वम् अर्थवत्वम्' ऐसा अर्थवत्त्व मानकर 'शशश्रृंगम्' आदि में अर्थवत्वात् प्रातिपदिक संज्ञा हो सकती है क्योंकि शशपद् भी अर्थवान् है और शशश्रृंग भी अर्थवान् है। कुछ विद्वान् ऐसा भी मानते हैं कि 'कृत्तद्धित' सूत्र अनर्थक की भी प्रातिपदिक संज्ञा करता है। अतः इसी से प्रातिपदिक संज्ञा हो जायगी।

बौद्धार्थ न मानने पर शशश्रृंगम् में 'समर्थः पद्विधिः' पाणिनि सूत्र से समास प्रयोजक सामर्थ्य न होने पर समास कैसे होगा ? यह शंका नहीं करनी चाहिए। एकार्थीभाव सामर्थ्य न होने पर भी एकवाक्यतारूप या व्यपेक्षारूप सामर्थ्य को समास का प्रयोजक मानकर समास किया जा सकता है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं। 'अंकुरो जायते' यहाँ पर बौद्धार्थ मानकर भी जनिपूर्ववर्तिकर्तृत्व हो सकता है। जैसे अद्वैतवेदांती के मत में सभी वस्तु स्वरूपतः सत् हैं तथा चैतन्य में अध्यस्तरूपेण असत् हैं। इस दृष्टि से अद्वैतवादी भी सद्सत् वादी हुए। इसलिए अनागत एवं वर्तमान तीनों कालों में अंकुर स्वरूपतः अनुस्यूत है, उसी प्रकार सांख्ययोग एवं व्याकरण में भी मान लेगें। इससे पूर्ववर्तिजनिककर्तृत्व बन जायगा। इस प्रकार बौद्धार्थ मानकर सदसत्ख्याति का समर्थन करना ठीक नहीं।

वस्तुतः उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी बुद्धिसत्ख्यातिवाद का शब्दाद्वैतवादी तत्त्वमीमांसीय आधार किसी भी अन्य प्रकार के अद्वैतवादी दर्शनों से कमजोर नहीं है। इसके वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए बुद्धिसत्ख्याति का सांख्यों के सदसत्ख्याति से अन्तर करना अनिवार्य प्रतीत होता है। 'सद्सत्ख्यातिर्बाधाभ्याम्' नामक सांख्य सूत्र[18] की व्याख्या से सांख्यों के ख्याति सिद्धांत और नागेश भट्ट के ख्याति सिद्धांत में अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है। उपर्युक्त सूत्र का तात्पर्य यह है कि –स्वरूपेण सब सत् है परन्तु संसर्ग से, अवस्था–विशेष से अथवा अध्यस्तरूपेण असत् वस्तु की प्रतीति होती और और नागेश भट्ट कहते हैं कि भ्रमस्थल में अनारोपित बौद्ध अर्थ (रजत) सत् है और आरोपित (भासित रजत) असत् है। बाध होने पर रजत में असत्व की प्रतीति होती है। इस प्रकार दोनों में भेद होने से सांख्योक्त सदसत्ख्याति नागेशाभिमत बुद्धिसत्ख्याति अथवा सदसत्ख्याति से भिन्न है। इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि वैयाकरणों का बुद्धिसत्ख्यातिवाद अनिर्वनीयख्याति की ही एक वैकल्पिक व्याख्या है, क्योंकि नागेश भट्ट ने शब्द, अर्थ और ज्ञान के बुद्धिगत होने से इन तीनों के मध्य इतरेतराध्यास को स्वीकार किया है। फलतः गो शब्द, गो रूप अर्थ और गो ज्ञान की गवाकारता घटित होती है। वास्तव में यह अनादिवासना का परिणाम होने से अनादि और बुद्धिसत् है।[19]

अन्त में, काश्मीर प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अपूर्णख्यातिवाद का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक रूप से विचार करें तो कहा जा सकता है कि अपूर्णख्याति का सिद्धांत प्राभाकर मीमांसकों के अख्यातिवाद का ही एक परिष्कृत रूप है जिसकी संगति शिवाद्वयवाद से बैठायी गई है। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने उचित ही कहा है कि –''इत्यपूर्णख्यातिरूप अख्यातिरेव भ्रान्ति तत्त्वम्।''[20] स्पष्ट है कि इस दर्शन में अख्याति पदगत् नञ का अर्थ ईषद् है अर्थात् कुछ–कुछ अख्याति है। सर्वथा ख्याति का अभाव नहीं है। इसलिए इस दर्शन में एकान्तिक रूप से अख्याति नहीं मानी गई है। काश्मीर शिवाद्वयवाद में पर तथा परापर अवस्थाओं में ही पूर्णख्याति मानी जाती है। संसारावस्था में प्रमाता को मायावश घटादि में अनात्माभिमान होने से अहंता और इदन्ता के तात्त्विक अभेद की ख्याति नहीं होने पाती। इसलिए सत्य रजत स्थल में भी मायावश अहंता तथा रजततया के साथ अभेद की ख्याति भी अपूर्णख्यातिरूपा अख्याति ही है। सत्य रजत विमर्श भी पर तथा परापर अवस्थाओं में शुक्तिरजतवत् अपूर्णख्यातिरूपा अख्याति है। माया का सम्पूर्ण राज्य ही भ्रान्ति है – ''मायापदं हि सर्वभ्रांन्तिरेव''[21]।

अब यदि इस पर समीक्षात्मक रूप से विचार करें तो जैसा कि उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (2–3–13) में अपूर्णख्याति को अख्यातिरूप से स्वीकार किया गया है और दूसरी बात यह है कि अख्यातिशब्द में नञर्थ को ईषद् मानकर कुछ–कुछ भ्रान्ति यह अर्थ भी किया गया है। यह भी कहा गया है कि संसारावस्था में सदा भ्रम ही रहता है, किन्तु ऐसा मानना पारमार्थिक सत्य को समझने के लिए परमार्थ को सत्य मानना और व्यवहार जगत् को अख्याति कहना ठीक हो सकता है, पर दैनिक, लौकिक व्यवहार में 'इद रजतम्' इस भ्रमस्थल में उक्त अपूर्णख्याति का सामंजस्य नहीं बन सकता। अतः आपणस्थ सत्य रजत को भी अपूर्णख्याति के अन्तर्गत मान लेने पर लोक व्यवहार नहीं बन पायेगा। साथ ही साथ प्रत्यक्षात्मक तथा स्मरणात्मक दो ज्ञान एक साथ मानने पर जो दोष प्रभाकर सम्मत अख्यातिवाद में है वे यहाँ भी होगें। एक बात और है, अपूर्णख्याति पक्ष में व्यवहार जगत् में 'इदं रजतम्' 'नेदं रजतम्' ये दोनों अपूर्ण ख्यातिरूप से सत्य हैं। तब 'नेदं रजतम्' से 'इदं रजतम्' इस ज्ञान का बाध नहीं होगा।

परन्तु उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद अपूर्णख्याति के सिद्धांत पर शिवाद्वैतवादी तत्त्वदृष्टि के अनुसार विचार करें तो इस दर्शन में मूलतः भ्रम भी ज्ञान रूप है, अतः व्यावहारिक रूप से सभी ख्यातियाँ सत्ख्यातियाँ हैं, अख्यातिरूप अविवेक केवल पारमार्थिक तत्त्वानुसन्धान की वस्तु है और अज्ञान भी वस्तुतः संकुचित ज्ञानरूप है। अभिनवगुप्त के अनुसार अज्ञान दो प्रकार का होता है–बुद्धिगत और पुरूषगत। अनिश्चय तथा विपरीत निश्चय के स्वभाव वाला अज्ञान बुद्धिगत होता है और संकुचित ज्ञानरूप अज्ञान पुरूषगत कहा जाता है जो संसार का मूलकारण है। बुद्धिगत अज्ञान को अद्वैत वेदान्तीय शब्दों में प्रातिभासिक ज्ञान कहा जाता है और पौरूष अज्ञान व्यावहारिक ज्ञान है। शैवदर्शन में सर्वात्मना ज्ञान का संकुचित रूप ही अज्ञान है क्योंकि पौरूष अज्ञान अपने संकुचित ज्ञानवृत्त में बुद्धिगत अज्ञान को समाहित रखता है। भ्रम आदि को इस दर्शन में सर्वथा अज्ञान नहीं माना जाता प्रत्युत ज्ञान की ही संकुचितरूपता मान्य की जाती है।[22] क्षेमराज के अनुसार व्यवहार में जिसे अख्याति या भ्रम कहा जाता है वह यदि ज्ञान रूप प्रख्या देता है तो ख्याति ही है और ख्याति रूप प्रख्या देता है तो ख्याति है ही।[23] तात्पर्य यह है कि अख्याति भी ख्यातिरूप ही होती है।

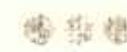
V

इस प्रकार सप्तविध अद्वैती दर्शनों के भ्रम विषयक विचारों के तुलनात्मक विमर्श का उपसंहार करते हुए हम कह सकते हैं कि यह तत्त्वमीमांसीय लंगर से बंधा हुआ भारतीय दर्शनों से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण ज्ञानमीमांसीय प्रकरण है। सभी दर्शन चाहें वे वस्तुवादी, बहुतत्त्ववादी अथवा अद्वैतवादी ही क्यों न हों, भ्रम की व्याख्या करते हुए अपनी–अपनी तत्त्वमीमांसा का ही अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं। यदि कोई दर्शन भ्रम की समुचित व्याख्या करने का दावा आत्मनिष्ठता के अभिगम में करता है अथवा कोई भ्रम की व्याख्या में आत्मनिष्ठता के अपवारण का प्रयास करता है तो इन दोनों ही प्रयासों को भ्रम के सन्दर्भ में तत्तद् तत्त्वमीमांसाओं का संरक्षण करना ही कहा जायेगा। शंकराचार्य ने 'अन्यथात्व' को जो भ्रम का सामान्यलक्षण कहा है, वह सर्वथा उचित है लेकिन इस अन्यथात्व के स्वरूप की व्याख्या में ही तत्त्वमीमांसीय हस्तक्षेपों का प्रवेश भ्रम की व्याख्या में हो जाता है। यही कारण है कि तत्त्वमीमांसीय प्रेरणा के साथ भ्रमभात

पदार्थ की व्याख्या विभिन्न भ्रम–सिद्धान्तों का भेदक सूत्र बन जाती है। परन्तु भ्रम के संदर्भ में इस प्रकार की तत्त्वमीमांसीय संरक्षणवादी दृष्टिकोण के अपनाये जाने के बावजूद भी एक बात जो देखने लायक है, वह यह कि भारतीय परम्परा में भ्रम की अवधारणा को विशुद्ध दार्शनिक महत्त्व केवल और केवल, अद्वैतवादी दर्शनों में ही प्राप्त हुआ है। भ्रम के दार्शनिक महत्त्व और औचित्य का तात्पर्य जीवन और जगत् की व्याख्या भ्रम के सन्दर्भ में किये जाने से है। इसीलिए प्रायः सभी के सभी अद्वैतवादी दर्शन भ्रमात्मक अनुभवों और यथार्थ समझी जाने वाली जागतिक अनुभवों की व्याख्या एक ही सिद्धान्त के द्विस्तरीय अनुप्रयोग द्वारा करते हैं। वैसे अद्वैतवादी दर्शन जो जगत् को मिथ्या मानते हैं, वे भ्रमभात पदार्थ के मिथ्यात्व का भी प्रतिपादन करते हैं। पुनः यदि कोई अद्वैतवादी दर्शन जगत् को यथार्थ समझता है तो भ्रमभात् पदार्थ की व्याख्या भी वह सत्ख्याति के रूप में करता है। वस्तुवादी दर्शनों (न्याय, मीमांसा आदि) में भ्रम को दार्शनिक महत्त्व इसलिए भी प्राप्त नहीं हुआ कि वे सभी अनुभव की अनुमत सीमा में भ्रम की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं जबकि इस धरातल पर प्राकृतिक विज्ञान और मनोविज्ञान की शाखायें भ्रम की अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक व्याख्या कर सकती हैं। अनुभव की अनुमत सीमा में भ्रम कोई दार्शनिक प्रश्न बनता ही नहीं है।

अब जहाँ तक स्वयं अद्वैतवादी दर्शनों के बहुविध प्रस्थानों में भ्रम की विभिन्न व्याख्याओं का प्रश्न है तो उनके सामान्यीकरण का प्रश्न अथवा उनमें एकवाक्यता का सूत्र ढुंढ़ना निश्चय ही एक दुरूह कार्य है। इसके लिए आवश्यक है कि अद्वैतवादी दर्शनों के प्रस्थानमूलक वैशिष्ट्य को समझते हुए उनके अनन्तर्भाव्य प्रारूपों को उद्‌घाटित किया जाय। वस्तुतः इसी परिप्रेक्ष्य में उद्वैतवादी भ्रम–सिद्धान्तों के भौलिक भेद को समझा जा सकता है। अद्वैतवादी दर्शनों के मौलिक एवं अनन्तर्भाव्य प्रारूपों को अन्वेषित करने का प्रयास के.सी. भट्‌टाचार्य ने अपने प्रसिद्ध आलेख 'एब्सोल्यूट एण्ड इट्‌स अल्टरनेटिव फार्म्स' में पहली बार किया था और उन्हें सत्य (ट्रूथ), स्वातंत्र्य (फ्रीडम) और मूल्य (वैल्यू) के रूप में समझा था। बाद में टी.आर.वी. मूर्ति और ए.के. चटर्जी ने अपने लेखनों में इस अन्तर्दृष्टि का बहुविध उपयोग किया है। मूर्ति और चटर्जी दोनों ने क्रमशः अपने–अपने आलेख 'नोविंग, फिलिंग एण्ड विलिंग एज फंक्सन्स ऑफ कॉन्शसनेस' में तथा 'टाइप्स ऑफ एब्सोल्यूटिज्म : बुद्धिस्ट एण्ड जॉन बुद्धिस्ट' में विशेष रूप से के.सी. भट्‌टाचार्य की अन्तर्दृष्टि को आगे बढ़ाया और इसे भारतीय परम्परा के अद्वैतवादी दर्शनों पर लागू करते हुए अद्वैतवाद के ज्ञानात्मक, संकल्पात्मक और भावात्मक नामक तीन मौलिक एवं अनन्तर्भाव्य प्रारूपों को पहचाना है।[24] वस्तुतः ज्ञानात्मकता, संकल्पात्मकता और भावात्मकता ये विषयी की तीन विषयोन्मुख मौलिक अभिवृत्तियाँ हैं। ये ही तीन अभिवृत्तियों का तार्किक पर्यवसान तीन प्रकार के मौलिक अद्वैतवाद में होता है। ज्ञानात्मक अभिवृत्ति में विषयी विषय का प्रकाशन मात्र करती है। संकल्पात्मक अभिवृत्ति में विषयी विषय का अपने अन्तर्वस्तु के रूप में सृजन करती है। भावनात्मक अभिवृत्ति में विषय और विषयी दोनों एक दूसरे के सम्मुख तुल्य भाव में होते हैं। कोई एक दूसरे पर हावी नहीं रहता। इन्हीं तीन अभिवृत्तियों में हमारे मानसिक जीवन के सम्पूर्ण व्यापार सम्पादित होते हैं। सामान्य अनुभव में ये तीनों अभिवृत्तियों अथवा विषयी चेतना के व्यापार अलग अलग अमिश्र रूप में प्राप्त नहीं होते बल्कि व्यामिश्र रूप में मिलते हैं। इन अभिवृत्तियों का अमिश्र स्वरूप विमर्शात्मक चेतना के धरातल पर सम्प्रत्ययात्मक विश्लेषण में ही प्राप्त होता है।

अब यदि हमारे अनुभव का सम्पूर्ण क्षेत्र इन्हीं तीन प्रकार के ज्ञानात्मक, संकल्पात्मक और भावात्मक अभिवृत्ति में संग्रहित होते हैं तो भ्रमात्मक अनुभवों को भी इन्हीं तीनों अभिवृत्तियों के सन्दर्भ में समझा जाना चाहिए। वस्तुतः के.सी. भट्टाचार्य, टी.आर.वी. मूर्ति ने यह दिखाया भी है कि वैसे सभी प्रकार के अनुभव जिन्हें मोटे तौर पर भ्रमात्मक अनुभव की कोटि में परिगणित किया जा सकता है, वे कुछ नहीं बल्कि चेतना के ज्ञानात्मक, संकल्पात्मक और भावात्मक अभिवृत्तियों के आपसी घालमेल (कनफ्यूजन) के परिणाम हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो चेतना जहाँ जिस अभिवृत्ति के साथ प्रवृत्त होती है, वहाँ उसकी प्रवृत्ति को दूसरी अभिवृत्ति के रूप में समझना ही भ्रम है। उदाहरण के लिए ज्ञानात्मक अभिवृत्ति के साथ प्रवृत्त हुई चेतना की उपलब्धियों को संकल्पात्मक अभिवृत्ति के प्रारूप में ग्रहण करना अथवा संकल्पात्मक अभिवृत्ति के साथ प्रवृत्त हुई चेतना की उपलब्धि को ज्ञानात्मक प्रारूप में गृहीत करना ही भ्रम है। अतः चेतना की त्रिविध अभिवृत्तियों का तार्किक पर्यवसान जिस तरह तीन प्रकार की अद्वैतवादी तत्त्वमीमांसा में होता है उसी प्रकार इन तीन अभिवृत्तियों का एक दूसरे में कनफ्यूजन भी तीन ही प्रकार से सम्भव है। अतएव कहा जा सकता है कि भ्रमात्मक अनुभव के भी तीन ही मौलिक प्रकार होते हैं। चेतना की त्रिविध अभिवृत्तियों में प्रत्येक अभिवृत्ति पर एक विशेष प्रकार का भ्रम घटित होता है जिसे किसी दूसरी अभिवृत्ति में घटित होने वाले भ्रम में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। सामान्यतौर पर सभी भ्रमात्मक अनुभव एक जैसे ही प्रतीत होते हैं लेकिन उनमें कौन सा किस अभिवृत्ति पर घटित हुआ है, इसका उद्घाटन भी विमर्शात्मक चेतना के धरातल पर ही सम्भव होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय परम्परा के अद्वैतवादी दर्शनों के भ्रम सिद्धान्तों को भी ज्ञानात्मक, संकल्पात्मक और भावात्मक नामक तीन मौलिक प्रकारों के अन्तर्गत समझा जा सकता है। इसमें अद्वैतवेदान्त का भ्रम सिद्धान्त विशुद्ध रूप में ज्ञानात्मक अभिवृत्ति पर घटित होने वाला भ्रम है और संकल्पात्मक अभिवृत्ति पर घटित होने वाला भ्रम हमें विशुद्ध रूप में योगाचार विज्ञानवाद में प्राप्त होता है। शब्दाद्वैती, विशिष्टाद्वैती, शुद्धाद्वैती एवं शिवाद्वैती भ्रम सिद्धान्त येन–केन प्रकार से संकल्पात्मक अभिवृत्ति पर घटित होने वाले भ्रम के ही अवान्तर रूप कहे जा सकते हैं।



संदर्भ –

1. *कार्यकारणभाव (विद्वत्परिचर्चा), प्रका. श्री वल्लभाचार्य, ट्रस्ट, गुजरात, 2004 में द्रष्टव्य डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा का आलेख, पृष्ठ संख्या –116*
2. *विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि 1 विज्ञप्तिमात्रमेवैयतद्.... सत् केशचन्द्रादि दर्शनम्।*

2– *क. आचार्य शंकर के द्वारा उपदर्शित विकल्प इस प्रकार हैं – (1) अन्यत्रान्य धर्माध्यासः (2) यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रह निबन्धनो भ्रमः (3) अध्यासः तस्यैव विपरीत धर्मकल्पना माचक्षेत्।*

3. *अन्यख्यातिवादीया विद्वतसंगोष्ठी– संपा, गोस्वामी श्याम मनोहर, प्रका.श्री वल्लभाचार्य ट्रस्ट गुजरात, पृ. 31–32*
4. *वही, पृ. 32*
5. *वेदान्त बोध, प्रबोधक श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, संपा. विष्णु, प्रका.सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बई, पृ. 126*

6. बोधिचर्यावतारपंजिका में उद्धृत, पृ. 352
7. अविभागोऽपि बुद्धयात्मा विपर्यासितदर्शनैः। ..... (प्रमाणवार्तिक, 3, 354)
8. वसुबन्धु, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (त्रिंशिका) 20,21 एवं त्रिस्वभाव निर्देश–1,2,3
9. इन उदाहरणों को विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि की प्रथम कारिका में 'यथा तैमिरिकस्या सत्केशचंद्रादि दर्शनम्' एवं आगे की कारिकाओं में 'स्वप्नोपघातवत् क्रिया' देखा जा सकता है।
10. अतत्सर्व विज्ञानजातं यथार्थमितिसिद्धम्। (श्री भाष्य–1–1)
11. सर्व ज्ञानं स्वत एवं प्रमाणं स्वप्रकाशं चं (यतीन्द्रमतदीपिका, पृ. 57)
12. न च निर्विषया काचित्संविदस्ति। (श्री भाष्य, 1–1–1)
13. अतः स्वप्ने सृष्टिरीश्वरैणैव कृता। (वही, 3–3–6)
14. न हि विरोधिनिरसनमात्रं प्रकाशकत्वम् अपितु अर्थ पच्छेदः–व्यवहार–योग्यतापादनमिति यावत्। तत्तु ज्ञानस्यैव। (वही, 1–1–1)
15. द्रष्टव्य डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा–बाह्यार्थवादी बौद्ध सम्मत ख्यातिविचार एवं अन्यख्याति, अन्यख्यातिवादीया विद्वत्संगोष्ठी– पृ. 160–161
16. व्याससस्यापीदमेव च मिथ्याज्ञानमभिप्रेतम्। तेनान्यललक्षणानुक्तेः। सांख्यदूषितानिर्वचनीयख्यातेरपि तत्सूत्रानारूढत्वात्। तेन सांख्योक्तसदसतख्यातेरेव तदभिमतत्त्वं लक्ष्यते। (वैयाकरण सिद्धांत लघुमञ्जूषा–बौ. वाच्यत्व नि.)
17. सत्त्वासत्त्वान्यतररूपेणानिर्वचनीयत्वं न तु सदसद्विलक्षक्षत्वमिति (वही)
18. सांख्य सूत्र, 5–4
19. अर्थश्च बौद्ध एवं ज्ञान–विषयः शक्तिग्रहविषयश्च। ज्ञानं च वृत्तिरूपं बुद्धिधर्म एवेत्येकदेशस्थत्वात् तेषामितरेतराध यासः। स चानादिवासनावशादनादिरेव। (लघुमञ्जूषा, पृ. 364)
20. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, 2–3–15
21. वही, पृ. 3–12
22. द्विविधं चाज्ञानं बुद्धिगतं पौरूषं च। तत्र बुद्धिगतमनिश्चयस्वभावं विपरीतनिश्चयात्मकं च। पौरूषं तु विकल्पस्वभावं संकुचितप्रथात्मकम्। तदेव च मूलकारणं संसारस्य। (तन्त्रसार, पृ. 3)
23. अख्यातिर्यादि न ख्याति ख्यातिरेवावशिष्यते।
ख्याति चेत् ख्यातिरूपत्वात् ख्यातिरेवावशिष्यते। (प्रत्यभिज्ञाहृदय, 4)

5

मुक्ति एवं भक्ति की अद्वैती मीमांसा

अद्वैत वेदान्त और मोक्ष

श्यामकिशोर सेठ

अद्वैत वेदान्त की एक परम्परागत प्रचलित व्याख्या में मोक्ष की अवधारणा एक गम्भीर समस्या पैदा करती है। इस व्याख्या के अनुसार केवल ब्रह्म सत्य है और जीव–जगत् मिथ्या है। अब यदि जीव मिथ्या है तो मोक्ष किसको प्राप्त होता है ? उत्तर यह दिया जाता रहा है कि मोक्ष प्राप्त नहीं होता वरन् उसका अस्तित्व तो सदा से है। केवल उसकी अनुभूति अविद्या के कारण छिपी रहती है और सीमाओं के हटते ही आत्मा मुक्त हो जाती है और इस अवस्था में उसका ब्रह्म से पृथकत्व का अनुभव समाप्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में मोक्ष की अवस्था में जीव या आत्मा का समस्त अलगाव दूर हो जाता है और वह ब्रह्म में लीन हो जाता है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि मोक्ष की अनुभूति किसे प्राप्त होती है ? यदि मोक्ष में जीव समाप्त हो गया तो उसे मोक्ष या उससे मिलने वाले लाभ मिले नहीं, क्योंकि जब वह रहा ही नहीं तो उसके कुछ पाने की बात ही कहाँ उठती है ? और ब्रह्म तो सदा से मुक्त और पूर्ण है, अतः उसके मोक्ष की बात करना ही अर्थहीन है।

इस समस्या से निपटने का एक ही रास्ता समझ में आता है और वह यह कि हम जीव या आत्मा की वैयक्तिकता (Individuality) को मोक्ष की अवस्था में भी सुरक्षित मानें। लेकिन तब ब्रह्म का एकत्व खटाई में पड़ जाता है और अद्वैत वेदान्त की मूल धारणा को चोट पहुँचती है।

मेरे विचार से इन कठिनाइयों के मूल में अद्वैत वेदान्त की वह प्रचलित व्याख्या है जिसका जिक्र ऊपर किया गया है। इस व्याख्या के अन्य भयंकर परिणाम भी हैं, जैसे कि उसको स्वीकार करने के बाद नैतिक कर्म और ईश्वर भक्ति की अन्तोगत्वा कोई सार्थकता नहीं रह जाती क्योंकि नैतिकता संसार की वास्तविकता और भक्ति ईश्वर और जीव के द्वैत पर निर्भर करती है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भारतीय दर्शन पर लगाया यह लांछन कि यह संसार और जीवन का निषेध करता है, इसी व्याख्या का परिणाम है।

शंकराचार्य के जीवन मुक्ति का सिद्धान्त तथा इनके स्वयं का सांसारिक जीवन उपर्युक्त परंपरागत व्याख्या का प्रबल रूप से प्रतिकार करते हैं। शंकर की कर्मठता बेजोड़ रही है, उन्होंने भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक यात्रा करके लोगों को नैतिकता और आध्यात्मिकता का संदेश दिया, विरोधी मत वालों से शास्त्रार्थ करके उनके मतों का खंडन किया, अनेक विद्वतापूर्ण ग्रन्थ लिखे और भारत के अनेक क्षेत्रों में धार्मिक मठ स्थापित किये जो आज भी लोगों को श्रेष्ठ जीवन के लिये स्फूर्ति प्रदान करते हैं। उनका जीवन–मुक्ति का सिद्धान्त इस बात का प्रमाण है कि मोक्ष के बाद भी जीव रहता है और यह सिद्धान्त उन्हें लोकसंग्रह के लिये कर्म करने का आह्वान करता है।

शंकर मुख्य रूप से ज्ञान के पक्षधर माने जाते हैं लेकिन लोग यह कम जानते हैं कि उन्होंने भक्ति को बराबर का स्थान दिया है। अपने द्वारा स्थापित मठों में उन्होंने विष्णु, शिव आदि

सेवानिवृत्त आचार्य, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ.प्र.)

देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित की और उनकी अर्चना और पूजा की व्यवस्था की। उन्होंने अनेक भजन लिखे हैं जिसमें विष्णु, शिव–शक्ति और गंगा के प्रति अपनी पूजा अर्पित की है।[1] अद्वैत की ऐसी व्याख्या जिसमें केवल जीव और संसार ही नहीं बल्कि ईश्वर भी माया या अविद्या की उपज होने के कारण मिथ्या है, भक्ति का कोई स्थान नहीं रह जाता। शंकर ने अपने कर्म और कृतियों द्वारा इस व्याख्या का स्वयं खण्डन किया है। प्रो. संगम लाल पाण्डेय, जो अद्वैत दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् रहे हैं, उनके अनुसार शंकर के दर्शन में भक्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, यद्यपि वे यह भी मानते थे कि भक्ति के साथ ज्ञान का संयुक्त होना आवश्यक है क्योंकि उसके अभाव में भक्ति गुमराह हो सकती है। लेकिन भक्ति तभी संभव हो सकती है जब किसी न किसी अर्थ में कुछ द्वैत हो, पर साथ ही भक्ति में भक्त भगवान् से एकात्मकता की अनुभूति भी करता है। भक्ति न तो पूरे तादात्म्य (Identity) की द्योतक है न ही पूरे भेद (Difference) की। इस विचार के अनुसार सत् का एकत्व सुरक्षित रहते हुए भी भक्त का अपना निजी अस्तित्व सम्भव है।

अद्वैत वेदान्त में परम तत्त्व के दो रुप या पक्ष माने गये हैं, पर और अपर। इन दोनों में आप भेद (distinguish) कर सकते हैं, लेकिन उन्हें पृथक् (separate) नहीं कर सकते। वे अनिवार्यतः एक दूसरे के साथ संयुक्त हैं। अपरा रूप निर्गुण, निर्विशेष और निराकार है और उसे ही निरपेक्ष तत्त्व ब्रह्म कहा गया है। परा रूप सगुण और आकार युक्त है और उसे ईश्वर नाम दिया गया है। परन्तु इस अन्तर के बावजूद वे समान सत्, चित् और आनन्द के सहभागी हैं और तत्त्वतः एक हैं। इस तत्त्व–दार्शनिक स्थिति के पश्चात् मोक्ष में ज्ञान और भक्ति की भूमिका और उनके बीच सम्बन्ध स्पष्ट हो जाते हैं। अद्वैत दर्शन की पाण्डेय जी द्वारा प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार ज्ञान और भक्ति दोनों ही मोक्ष के साधन हैं। परन्तु जो व्यक्ति बिना भक्ति के मोक्ष प्राप्त करते हैं उन्हें इसके पश्चात् ईश्वर की भक्ति करनी पड़ती है, पुनः सांसारिक, बन्धनों में पड़ने से बचने के लिये। शंकर के अनुसार, जीवन में भक्ति या तो ब्रह्म सिद्धि का आरम्भ है या फिर अन्त। दूसरे शब्दों में, भक्ति यदि आरम्भ है तो वह हमें ब्रह्म के ज्ञान की ओर ले जाती है। परन्तु यदि ब्रह्म ज्ञान आरम्भ है तो इसका पर्यवसान ईश्वर की भक्ति में होता है। इस दृष्टि से ज्ञान और भक्ति समान महत्त्व रखते हैं और उनमें किसी प्रकार का संघर्ष नहीं है। ज्ञान ब्रह्म का होता है और भक्ति ईश्वर की और दोनों एक ही स्थिति के दो पक्ष हैं। अतः ईश्वर और उसके द्वारा सृजित संसार को कभी भी असत् नहीं माना जा सकता, जैसा कि कुछ व्याख्याओं में माना गया है। स्वयं शंकर ने उसे सद् असद् विलक्षण कहा है। उनके अनुसार ब्रह्म न केवल सत् है बल्कि जगत् का अधिष्ठाता होने के साथ उसके कण–कण में व्याप्त है। मिथ्यात्व केवल ब्रह्म से अलग जगत् की कल्पना करना है। यही बात जीव पर भी लागू होती है। भक्ति की सम्भावना और मोक्ष में उसकी अनिवार्यता देखते हुए जीव या व्यक्तिगत आत्मा को किसी न किसी अर्थ में सत् मानना पड़ेगा।

मुझे लगता है कि सारी कठिनाइयों की जड़ में ब्रह्म को भाषा या विचार की साधारण कोटियों (Categories) के माध्यम से समझने का हमारा प्रयत्न है, जब कि श्रुतियाँ यह घोषित करती हैं कि वह बुद्धि से परे है। उदाहरण के लिये जब हम ब्रह्म को एक कहते हैं तो हम उस पर संख्या की कोटि (Category) आरोपित करते हैं जो अनुचित है। श्रुति ने तो कहा है – 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' जिसका अर्थ है ब्रह्म में एकता, अनेकता, स्थिरता, परिवर्तन आदि सभी कुछ का होना, जब हम कहते हैं कि मात्र ब्रह्म सत् है तो उसका केवल यह अर्थ है कि ब्रह्म के अतिरिक्त

कोई अन्य सत्ता नहीं है। सभी कुछ उसके अन्दर समाहित है, यहाँ तक कि अविद्या या माया भी। वह पारमेनाइडीज के एकरूप निरपेक्ष तत्त्व की तरह नहीं है जिसमें कोई विविधता और परिवर्तन नहीं है। यदि ऐसा होता तो वह मूल्यहीन, नीरस और अनाकर्षक तत्त्व होता। उसका आनन्द भी व्यर्थ होता क्योंकि उसके अतिरिक्त कोई अन्य उसका सहभागी नहीं होता। यह संसार भी ब्रह्म का ही एक रूप या पक्ष है। वेदान्ती उसको मिथ्या या आभास, मेरी समझ से केवल इसलिये कहते हैं कि साधारणतः जिस रूप में वह दिखाई देता है, वह ब्रह्म के दिव्य प्रकाश से रहित है। वह खोटे सिक्के की तरह है जिससे चीजे नहीं खरीदी जा सकती। आप कल्पना कीजिये एक संगीतबधिर (tone deaf) व्यक्ति की जो संगीत का अनुभव नहीं कर सकता। एक गाना उसके लिये मात्र ध्वनियों का अनुक्रम है क्योंकि उसका संगीत उसकी अनुभूति में नहीं आता। ऐसी स्थिति में हम यही कहेंगे कि वह व्यक्ति जो अनुभव कर रहा है, वह मिथ्या है। मैं एक अन्य उदाहरण से भी अपनी बात स्पष्ट करना चाहूंगा। जब कोई पेन्टिंग या प्रकृति का सौंदर्य नहीं महसूस करता तो यही कहा जायेगा कि उसके अनुभव का विषय मात्र आभास है, सत् नहीं, क्योंकि जो कुछ भी वह देख रहा है उसका सार तत्त्व उसमें गायब है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि उसके अनुभव का विषय सत्ता रहित है। फिर भी, यह चिन्ता स्वाभाविक है कि जो हम अनुभव कर रहे हैं उसे सत् कहें या असत्।

इस समस्त चर्चा के बाद, अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म का यही रूप बुद्धि को अपूर्ण रूप से समझ में आता है कि वह एक ऐसी सार्वभौम चेतना है जिसके अन्तर्गत असंख्य व्यक्तिगत चेतनाएँ (infinite centres of conciousness) विभिन्न गुणों के साथ अवस्थित हैं। अपूर्ण समझ इसलिये कहा गया क्योंकि ब्रह्म बुद्धि से परे है जिसका पूर्ण ज्ञान, मोक्ष की अवस्था में, व्यक्ति को एकात्मता की अपरोक्ष अनुभूति होने पर ही प्राप्त हो सकता है। व्यक्तिगत चेतनाएँ अविद्या या माया के कारण अपना तत्त्वतः ब्रह्म स्वरूप पहचानने में असमर्थ हैं। अविद्या या माया को अनिर्वचनीय कहा गया है और वह ब्रह्म की विविधता का ही एक पक्ष है। संसार के समस्त क्रिया–कलाप इसी के द्वारा संभव होते हैं। यहाँ 'क्यों' प्रश्न उठाना बेमानी है क्योंकि बुद्धि इस स्तर पर अक्षम है, किन्तु मोक्ष की हमारी साधना पूर्ण होने पर उत्तर हमें स्वयं मिल जायेगा। संसार जिसका अस्तित्व व्यक्तिगत चेतनाओं से स्वतंत्र है (लेकिन ब्रह्म या ईश्वर से नहीं) हमारे नैतिक कर्म (निष्काम) का क्षेत्र है जो भक्ति की तरह मोक्ष प्राप्ति का साधन होने के साथ–साथ उसका परिणाम भी है। इसकी सत्यता इस बात से भी सिद्ध होती है कि स्वयं ईश्वर समय समय पर व्यक्ति के रूप में अवतार लेकर धर्म की स्थापना और लोक संग्रह के लिये संसार में कार्य करते हैं। वेदान्त के अनुसार मोक्ष में व्यक्ति अविद्या से मुक्त होकर अपने सार तत्त्व ब्रह्म को पहचान जाता है और उसे 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति होती है। इस अनुभूति में कर्म, ज्ञान और भक्ति का समागम होता है और व्यक्ति की चेतना ऐसे आनन्द से भर जाती है जो अवर्णनीय है।



संदर्भ –

1. *प्रो. रेवती रमण पाण्डेय ने अपनी पुस्तक Scientific Temper and Advaita Vedanta में इस तथ्य की ओर विशेष ध्यान दिलाया है।*

आत्म-ज्ञान और मोक्ष

हरिशंकर उपाध्याय

शंकर के अनुसार मोक्ष कोई नवीन अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं है, बल्कि प्राप्त की प्राप्ति है। पारमार्थिक दृष्टि से मुक्ति या मोक्ष का न तो जन्म होता है और न पहले से अप्राप्त है। मोक्ष शाश्वत सत्य एवं एक आध्यात्मिक अनुभव है। मोक्ष का अस्तित्व इस संसार में बहुत पहले से है, केवल अपनी अज्ञानता और अविद्या के कारण हम उसे नहीं जान सकते हैं। शंकराचार्य ने मोक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापक, सब विक्रियाओं से रहित नित्य तृप्त, निरवयव और स्वयं प्रकाश स्वरूप है, जिसमें धर्म और अधर्म, कार्य तथा भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल नहीं है। वह अशरीरी (सत्) मोक्ष कहा जाता है।''[1]

स्पष्ट है कि मोक्ष के संप्रत्यय में वे ही लक्षण घटित होते हैं जो नियम पूर्वक ब्रह्म के लक्षण में घटित होते हैं। सचमुच ब्रह्म और मोक्ष की अवस्था एकार्थक शब्द है।[2] मोक्ष ब्रह्म से अभिन्न होता है या यों कहिये की जीव और ब्रह्म का अभेद सदैव रहता है। भ्रम के कारण यह जीव से छिपा रहता है, इसलिए केवल इस ज्ञान को बोध कराना है कि हमारी आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है। मोक्ष में जो कुछ नहीं है वह होने की बात नहीं है, किन्तु जो नित्य है उसमें ज्ञान की केवल प्राप्ति है। मोक्ष किसी प्रकार के कर्म से नहीं, बल्कि केवल ज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है।

आचार्य शंकर के अुनसार आत्मा का शरीर और मन से अपनत्व का संबंध बन्धन है। विवेक चूड़ामणि में वे कहते हैं कि संसार रूपी वृक्ष का बीज अज्ञान है, देहात्म बुद्धि इसका अंकुर है, राग पत्ते हैं, कर्म जल है, शरीर स्तम्भ है, प्राण शाखाएँ हैं, इन्द्रियाँ उपशाखाएँ हैं, विषय पुरूष है और नाना प्रकार के कर्मों से उत्पन्न हुआ दुःख फल है तथा जीवन रूपी पक्षी इसका भोक्ता है। अनात्म वस्तुओं में अहम् बुद्धि का होना ही जन्म–मरण रूपी क्लेशों की प्राप्ति कराने वाला अज्ञान से प्राप्त हुआ बंधन है। अविद्या के कारण जीव अपने को ब्रह्म न समझ कर शरीर और अंतःकरण समझते हुए ''मैं सुखी हूँ'', ''मैं दुखी हूँ'' आदि व्यवहार करने लगता है। जीव की अविद्या से निवृत्ति ही मोक्ष है।

ब्रह्मविषयक अज्ञान का नाश ब्रह्मविषयक ज्ञान से ही संभव हैं, इसलिए ब्रह्मसूत्रकार ने 'अथातो बह्मजिज्ञासा' सूत्र द्वारा ब्रह्म की जिज्ञासा का प्रतिपादन किया है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार केवल ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।[3] अतः इसे ज्ञानमार्ग की संज्ञा दी जाती है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन ज्ञान मार्ग के तीन सोपान हैं, परन्तु श्रवण के सभी अधिकारी नहीं हो सकते। श्रवण का अधिकारी वही हो सकता है, जो साधक साधनचतुष्टय सम्पन्न हो। वस्तुतः साधन चतुष्टय ब्रह्मजिज्ञासा की चार शर्तें हैं जो अधोलिखित हैं[4] –

दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ.प्र.)

1. नित्यानित्य वस्तुविवेक

प्रत्येक साधक को नित्य और अनित्य वस्तुओं के बीच विवेक करना चाहिए। जो सदा विद्यमान हो या जो एक रूप से सदैव व्यवस्थित हो, वह नित्य है। जो इससे भिन्न है वह अनित्य है।

2. इहामुत्रार्थभोगविराग

साधक के मन में इहलोक तथा पर लोक के भोगों के प्रति वैराग्य होना चाहिए। हमारे मन में सांसारिक एवं पारलौकिक भोगों के प्रति वैराग्य तभी हो सकता है जबकि हम आत्मा को श्रेष्ठ समझें। आत्मा रूपी निःश्रेयस को प्राप्त करने के लिए सभी प्रकार के प्रपंचों से वैराग्य आवश्यक है।

3. शमदमादिसाधनसंपत्

शम, दम, उपरति, समाधान एवं श्रद्धा–इन छः गुणों को साधक को अर्जित करना चाहिए। मानसिक नियंत्रण ही शम है, इन्द्रियों का नियंत्रण दम है, विषयवासना से दूर हटना उपरति है, सांसारिक द्वन्द्वों के प्रति सहिष्णुता तितिक्षा है। शंकाओं का समन्वय एवं मन एकाग्रचित होना समाधान है। आत्मतत्त्व की नित्यता में स्वाभाविक विश्वास जिसका तर्क के द्वारा खण्डन न किया जा सके, श्रद्धा है।

4. मुमुक्षत्व

मोक्ष पाने की उत्कट इच्छा को मुमुक्षत्व कहा जाता है। जब तक साधक के मन मुमुक्षत्व नहीं होगा तब तक उसे वेदांत ज्ञान का लाभ नहीं मिल सकता। मुमुक्षत्व का वास्तविक अर्थ है– समस्त बंधनों का उच्छेद करके स्वराज्य प्राप्त करने की इच्छा। संक्षेप में ब्रह्म या परमात्मा होने की इच्छा मुमुक्षत्व कहा जाता है।

उपर्युक्त चार साधनों से युक्त साधक को उपनिषद् का नित्य स्वाध्याय या श्रवण करना चाहिए। श्रवण के बाद मनन आता है। मनन का अर्थ युक्तियाँ द्वारा ब्रह्मात्मवाद का प्रतिपादन करना है। मनन के लिए अद्वैत वेदान्त में अनेक विधियों का वर्णन किया गया है जिनमें अध्यारोप एवं अपवाद विधि प्रमुख हैं। इस विधि के द्वारा हमें प्रपंचरहित ब्रह्म का ज्ञान होता है।[5] यह विधि अद्वैत वेदांत की एक विशिष्ट प्रणाली है। इसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य आत्मा के अस्तित्व से परिचित तो है, परन्तु वह उसके सामान्य रूप को ही जानता है, अर्थात् वह आत्मा के केवल 'इदमंश' को जानता है, 'किमंश' को नहीं जानता। वह आत्मा विषयक अनेक कल्पनायें करता है और विचार करता है कि आत्मा पुत्र है, मन है, बुद्धि है, अंतः करण है, कर्ता है, भोक्ता है आदि। उसके पश्चात् वह इन पर पुनः से विचार–विमर्श एवं अनुशीलन करके निष्कर्ष निकालता है कि आत्मा का केवल 'इदमंश' ही अनिवार्य और अव्यभिचारी है, उसका 'किमंश' आगन्तुक और व्यभिचारी है। इसके बाद वह आत्मा के आगन्तुक और व्यभिचारी अंश का अपवाद या निराकरण करता है। अध्यारोप और अपवाद की इस प्रक्रिया में जब तक निरन्तरता बनी रहती है तब तक हम अनिराकृत तत्त्व तक नही पहुँच पाते हैं। 'अध्यारोप–अपवाद न्याय' प्रदर्शित करता है कि 'तत्' सभी प्रपंचों से मुक्त है। उसका कोई 'किमंश' है ही नहीं। वह सदैव उद्देश्य है, विधेय नहीं। वह ब्रह्माण्ड का एक मात्र अंतिम उद्देश्य है। शेष सब विधेय हैं।

'मनन' के बाद 'निदिध्यासन' का स्थान है। निदिध्यासन की अवस्था में साधक ब्रह्म के स्वरूप का निरन्तर ध्यान करता है। इसमें अभ्यासपूर्वक दीर्घकाल तक ज्यों–ज्यों ध्यान किया जाता है त्यों–त्यों साधक आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्त होता है। इस तरह से अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञान की प्राप्ति होती है। पं. वाचस्पति मिश्र[6] तत्त्वज्ञान के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन तीनों का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार श्रुति के ज्ञान से जीव परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करता है। उसके बाद वह उस ज्ञान को व्यवस्थित करता है, पुनश्च शंका रहित इस श्रुति ज्ञान का निरंतर ध्यान करता है। इस प्रकार श्रुति से जीव के भीतर केवल परोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है, मनन और निदिध्यासन से इस परोक्ष ज्ञान को अपरोक्ष अनुभूति में रूपान्तरित किया जा सकता है।

विवरण प्रस्थानवादी पद्मपाद के अनुसार श्रुति ज्ञान के आधार पर ही अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। इस संबंध में दस आदमियों के द्वारा एक नदी को पार करने का दृष्टान्त प्रसिद्ध है – "दसमस्त्वमसि" का ज्ञान करा देने पर सबको अपनी अज्ञानता का बोध हो जाता है। इस दृष्टान्त के अनुसार प्रत्येक गिनने वाला व्यक्ति अपने को छोड़कर गिनता था तो संख्या नौ की ही आती थी। वे दसों व्यक्ति यह जान लेने पर कि दसमस्त्वमसि, अर्थात् दसवाँ तू है, सभी संतुष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार यही बात श्रुतिवाक्य "तत्त्वमसि" पर भी लागू होती है। सुनने वाले व्यक्ति को ब्रह्मात्म भाव का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसके लिए मनन तथा निदिध्यासन की आवश्यकता नहीं पड़ती। हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि मनन और निदिध्यासन चाहे श्रवण के पूर्व हो या श्रवणोत्तर, ज्ञान मार्ग के आवश्यक अंग हैं। विवरण प्रस्थान में 'शब्द' (आप्तवचन) या श्रुति को ही मोक्ष का प्रधान हेतु माना गया है तथा मनन और निदिध्यासन को उसमें केवल उपकारक ही समझा गया है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान कर्म के अनुष्ठान से स्वतंत्र हैं और केवल स्वतः मोक्ष के लिए पर्याप्त है।[7] इसके विपरित जैमिनी कहते हैं कि ज्ञान कर्म का परिशिष्ट है[8] और आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के का केवल प्रमाण है, क्योंकि इस प्रमाण के बिना कर्म–फल का सिद्धान्त सत्य नहीं हो सकता है। यह स्मरण रखना है कि वैश्वानर विद्या जिसमें ज्ञान कर्म के साथ घटता है, वह सोपाधिक ब्रह्मविद्या (अपराविद्या) है। ईशोपनिषद में कहा गया है– यदि ब्रह्म को जनता है तो कुछ महत्त्व नहीं है, उसको लौकिक दुःख का कोई स्पर्श नहीं होता है। अर्थात् जब तुम्हें ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब कर्म तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकता है।[9] "उसने अपने को जाना और कहा" 'मैं ब्रह्म हूँ।[10] इस प्रकार वह यह विश्व हो गया–ऐसे ही अन्य श्रुतियाँ बताती हैं कि ब्रह्मविद्या के समकाल में ही उसके अन्तर किसी कार्य के हस्तक्षेप के बिना ही मोक्ष अधिगत होता है। ब्रह्म को देखना' ब्रह्म–साक्षात्कार है। मोक्ष केवल अपनी आत्मा का ज्ञान है जो किसी नये फल को उत्पन्न नहीं करता, बल्कि केवल मोक्ष की बाधा को निवृत्त करता है। प्रकाशानन्द और भगवद्गीता में भी इसकी पुष्टि की गयी है।

प्रकाशानन्द सिद्धान्तमुक्तावली में कहते हैं कि कर्म ज्ञान के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है।[11] इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में यह कहा गया है– "हे अर्जुन, जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को राख कर देती है उसी तरह ज्ञान रूपी अग्नि कर्मों को राख कर देता है।"[12] इस प्रकार स्मृति प्रमाण भी है कि ज्ञान से कर्मजनित बन्धन नष्ट हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त ज्ञान को महत्त्व देता है तो मीमांसा कर्म को। मीमांसा के अनुसार कर्म द्वारा लोक में अभ्युदय की प्राप्ति होती है तथा मरने के बाद स्वर्ग की प्राप्ति होती है परन्तु अद्वैत वेदान्त के अनुसार मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य न तो मौलिक अभ्युदय है और न स्वर्ग, वरन् निःश्रेयस् की प्राप्ति है जो कर्म के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। धर्म और ज्ञान में इतना आत्यन्तिक विरोध है कि कर्म द्वारा ज्ञान का फल कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। कर्म का फल अभ्युदय तथा ज्ञान का फल निःश्रेयस है। कर्म पुरूष व्यापार तंत्र है तथा ज्ञान भूतवस्तु विषयक है।[13] कर्म विकल्पज है पर ज्ञान स्वप्रकाश है। कर्म का फल उत्पाद्य, संस्कार्य, आप्य तथा विकार्य है और ज्ञान का फल नित्य है– उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं व क्रियादल्म्। नैव मुक्तिर्यत्रस्यात् कर्म, तस्या न साधनम्।।[14]

उपर्युक्त विवेचन का अर्थ यह नहीं कि जीवन में कर्म का कोई महत्त्व ही नहीं है। जब तक हम अविद्या द्वारा ग्रस्त हैं और ज्ञान के अधिकारी नहीं हो जाते तब तक हम कर्म का सर्वथा परित्याग नहीं कर सकते। कर्मयोगी को चित्त की शुद्धि के लिए, भक्ति योगी को ईश्वर के लिए तथा ज्ञान योगी को लोकसंग्रह के लिए कर्म करना पड़ता है। कर्म मोक्ष का आसन्न कारण तो नहीं, पर ज्ञान की उत्पति के लिए द्वार कारण अवश्य है। अन्य आस्तिक सम्प्रदायों के समान वेदान्त में भी यह मान्यता है कि कर्म तीन प्रकार के होते हैं– नित्य, नैमित्तिक और काम्य। नित्य कर्म वे हैं जो प्रत्येक व्यक्ति का नित्य कर्तव्य है। इन्हें न करने से विघ्न उत्पन्न होते हैं। शंकराचार्य कहते हैं कि जो नित्य कर्म करता है उसका अन्तःकरण शुद्ध होता है। उसके पाश्चात् वह ज्ञान का अधिकारी बन जाता है। नित्य कर्म करने से ज्ञान के सभी प्रतिबन्धक दूर जाते हैं। गीता में भी कहा गया है कि यज्ञ, दान और तप ज्ञानियों को भी पवित्र करने वाले हैं। मनुष्य को इनका कभी परित्याग नहीं करना चाहिए। नैमित्तिक कर्म वे हैं, जो विशेष अवसरों पर ही किए जाते हैं।[15]

पद्मपादाचार्य ने विज्ञानदीपिका में लिखा है कि योग, ध्यान, सत्संग, जप तथा ज्ञान से कर्म का नाश होता है, उसका नाश स्वयं कर्म से भी होता है।[16] इस दृष्टि से तीन प्रकार के कर्म होते हैं– संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। संचित कर्म वे हैं, जो पूर्वजन्म में किए गये हैं, और जिनका फल मिलना अभी प्रारंभ नहीं हुआ है। प्रारब्ध कर्म वे कर्म हैं, जिनका फल वर्तमान जीवन है। क्रियामाण कर्म वे हैं जो जीवन में किए जाते हैं। ज्ञान संचित कर्म और क्रियामाण कर्म को तो नष्ट कर देता है, परन्तु वह प्रारब्ध कर्म को नष्ट नहीं कर पाता है। प्रारब्ध कर्म भोग कर ही नष्ट होता है।

यदि ज्ञान द्वारा मनुष्य के संचित एवं क्रियमाण कर्म नष्ट हो जाते हैं परन्तु प्रारब्ध कर्म शेष रहते हैं, तो वह जीवन मुक्त कहलाता है। फलभोग के बाद जब उसके प्रारब्ध कर्म भी नष्ट हो जाते हैं, मनुष्य विदेह मुक्त कहा जाता है। जीवन मुक्त यद्यपि कर्म करता है, पर कामना विहीन होने पर उसे कर्म की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ज्ञान और कर्म का समुच्चय असंभव है। चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान के संबंधित होने के कारण कर्म का ज्ञान से क्रम–समुच्चय संगत है। प्रथम कर्म, तत्पश्चात् भक्ति और अन्त में ज्ञान आता है। यही अद्वैतवेदान्त का कर्म–भक्ति–ज्ञान का रूप समुच्चय है।

अद्वैतवेदान्त में केवल ज्ञान ही मोक्ष का आसन्न साधन है, परन्तु कुछ वेदान्ती भक्ति को भी मोक्ष में हेतु मानते हैं। वेदान्त परिभाषा में कहा गया है– "सगुणोपासना चित्तेकाग्रता के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म के साक्षात्कार में हेतु है।"[17] इस प्रकार सगुणोपसाना ब्रह्मसाक्षात्कार में द्वार–हेतु है। ध्यान देने के बात यह है कि भक्ति ज्ञान का हेतु भले ही हो, परन्तु वह मोक्ष का हेतु नहीं है क्योंकि तर्क शास्त्र के अनुसार आसन्न हेतु को ही वास्तविक हेतु मानना चाहिए। यह सभी का मत है कि भक्ति मोक्ष का आसन्न हेतु नहीं है।

दूसरी बात यह है कि सगुणोपसाना से केवल क्रम–मुक्ति की प्राप्ति होती है, तपो–मुक्ति नहीं। तपोमुक्ति ज्ञान से ही मिलेगी। ज्ञान द्वारा ब्रह्मैक्य प्राप्ति के बाद भक्ति असंभव है, परन्तु यदि कोई स्वीकार करे की ज्ञान ब्रह्मभाव है और ब्रह्मभाव ब्रह्म की सत्ता का भंजन है तो भक्ति और ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। ऐसी स्थिति में हम भक्ति को मोक्ष का साक्षात् हेतु मानें या ज्ञान को, कोई अन्तर नहीं आता। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति और ज्ञान का अच्छा समन्वय प्रस्तुत किया है। भक्ति का लक्ष्य ज्ञान है।[18] भक्ति वहीं संभव है जहाँ भक्त और भगवान् का द्वैत होता है। ज्ञान प्राप्ति के बाद जीव और ब्रह्म के बीच ऐक्य स्थापित हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि तत्त्वज्ञान की पराकाष्ठा में समस्त अन्य साधनों का लय ज्ञान में हो जाता है। अतः ज्ञान ही सच्चा मोक्ष मार्ग है।



संदर्भ –

1. *"इदं तु पारमार्थिक, कूटस्थनित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि सर्वक्रियारहितम् नित्यतृप्तम् निरवयवम, स्वयं ज्योति स्वभावम् यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयत्र्च नोपावर्तेते। तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्"। शारीरक भाष्य, I.I. 4, (सत्यानन्दी दीपिका, गोविन्दमठ, टेढीनीम, वाराणसी, संवत् 2028 पृ. 58–59)*
2. *ब्रह्म एव हि मुक्त्यावस्था।*
3. *ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।*
4. *शारीरक भाष्य पर सत्यानन्दी दीपिका ब्रह्मसूत्रभाष्य I/I/11, पृ. 19–26*
5. *सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार संग्रह, 293, "अध्यारोपापवादाभ्यां–निष्प्रपंचम् प्रपंचते।" पंचीकरणम्, शंकराचार्य, गुजरात प्रिंटिग प्रेस, पृ. 1)*
6. *"श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभावं गृहीत्वा युक्तिमयेन य व्यवस्थात्पते। तस्मात् कर्म सहकारिण्यविद्योच्छेद हेतुः (भामती, 1.1.5)*
7. *शारीरक भाष्य, पृ. 973–974*
8. *वही, पृ. 974*
9. *शारीरक भाष्य, पृ. 986.6*
10. *बृहदारण्यक, 1.4.10.*
11. *कर्ममूलमनर्थानां तच्च ज्ञानेन बाध्यते। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तथा व श्रुतिशासनम् (सिद्धान्त मुक्तावली, 58)*
12. *यथैधांसि समिधेऽग्निर्भस्मसात्करूतेऽर्जुन। ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि तथा। (गीता 4/37)*
13. *ब्रह्मसूत्र भाष्य, वही*
14. *नैष्कर्म्य सिद्धि, 1.53.*
15. *यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।। (गीता 18/05)*
16. *विज्ञानदीपिका, 22*
17. *सगुणोपासनामपि चितैकाग्रयद्वारानिर्विशेषब्रह्म–साक्षात्कारे हेतुः (वेदान्त परिभाषा, प्रयोजन परिच्छेद)*
18. *भक्ति ज्ञानाय कल्पते।*

अद्वैत वेदान्त में मोक्ष की लौकिक उपजीव्यता

श्यामकान्त

अद्वैत वेदान्त में मानव जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य के रुप में मोक्ष को मान्यता प्रदान की गयी है। जिसे भारतीय दर्शन में मोक्ष की संज्ञा से अभिहित किया गया है, उसे ही आंग्लभाषा में Freedom, Liberation, Salvation, Redemption और Emancipation के रुप में अभिव्यक्त किया गया है। यद्यपि भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय मोक्ष के स्वरुप को लेकर मतैक्य नहीं हैं, फिर भी प्रायः सभी इस मान्यता का पोषण करते हुए दिखायी पड़ते हैं कि मोक्ष की अवस्था में मानव को आध्यात्मिक आधिभौतिक एवं आधिदैविक दुःखों से पूर्णतया मुक्ति मिल जाती है। इतना ही नहीं मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात् जन्म एवं मृत्यु के चक्र या आवगमन के प्रवाह से भी छुटकारा मिल जाता है। अद्वैत वेदान्ती आचार्य शंकर के मोक्ष सम्बन्धी विचार का मूलाधार उनका अद्वैतवादी दृष्टिकोण हैं। आचार्य शंकर के अनुसार अविद्या ही बन्धन का मूल कारण है।[1] जीवन का मिथ्याज्ञान ही समस्त अनुभव एवं क्रियाशीलता का आधार है। सम्यक् ज्ञान या एकत्व का ज्ञान ही हमें मोक्ष की ओर ले जाता है।[2] आचार्य शंकर का मानना है कि विश्वात्मा एवं जीवात्मा के बीच भेद मिथ्या ज्ञान से है।[3] आचार्य शंकर कहते हैं – 'अविद्या काम कर्मलक्षणं संसार बीजम्'[4] अर्थात् अविद्या समस्त स्वार्थपरक इच्छा एवं क्रियाशीलता का आधार है। 'अविद्याकल्पित लोकप्रसिद्ध जीवभेदम्'[5] अर्थात् अविद्या के कारण जीवात्माओं की विविधताओं को यथार्थ मान लिया जाता है। अतएव कर्म की उत्पत्ति अविद्या से है और कर्म सांसारिक इच्छा का ही परिणाम है। अतएव अविद्या के नाश से ही अपने अन्दर नित्य रुप में विद्यमान रहने वाले आत्मस्वरुप ब्रह्म की अवगति संभव है और यही हमारे लिए यथार्थ सत् है। इसीलिए आचार्य शंकर का यह कहना है कि मोक्ष अज्ञान के निवारण के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सर्वोच्च सत्ता की प्राप्ति के लिए केवल अविद्या को दूर करना है। अविद्या निवृत्ति ही मोक्ष है।[6] ब्रह्म के स्वरुप के विषय में जो अज्ञान है उसके दूर हो जाने पर जीवात्मा अपने निजी स्वरुप में अवस्थित हो जाता है और सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।[7]

आचार्य शंकर का यह स्पष्ट मत है कि जीव के दुःखों का मूलकारण अविद्या ही है, जो जीव को उसके वास्तविक स्वरुप से अनभिज्ञ रखकर उसे बन्धन में डाल देती है। अविद्या के कारण ही आत्मा अपने को ब्रह्म से पृथक् मानने लगती है। अतएव आत्मा ब्रह्मज्ञान के परिणामस्वरुप जब अविद्या को निराकृत कर देती है, तो वह अपने वास्तविक स्वरुप से भिज्ञ हो जाती है और ब्रह्मात्मैक्य भाव को प्राप्त कर लेती है। यह ब्रह्मज्ञान किसी ऐसी नयी वस्तु को प्राप्त करना नहीं है, जो हमारे पास नहीं थी, अपितु अपने यथार्थ आत्मस्वरुप से ही भिज्ञ होना है, जिससे हम अविद्या के कारण अनभिज्ञ थे। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त में ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान ही मोक्ष है। आत्मा अज्ञान के कारण जिन बाह्य वस्तुओं के साथ अपनत्व का भाव स्थापित कर लेती है उस अज्ञान के निराकरण से अपने यथार्थ स्वरुप को जान लेती है। आचार्य शंकर के मोक्ष के निरुपण

दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ.प्र.)

में न केवल ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा का एकीकरण पाया जाता है; अपितु तत्त्वमीमांसा एवं मूल्यमीमांसा का भी एकीकरण पाया जाता है। वस्तुतः आचार्य शंकर का यह मानना है कि मोक्ष की अवस्था में केवल आत्मा के दुःखों का आत्यन्तिक विनाश ही नहीं होता; अपितु अखण्ड आनन्द भी प्राप्त होता है; क्योंकि ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरुप है। आत्मा जब अपने सच्चिदानन्द स्वरुप को प्राप्त कर लेता है तो ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय की त्रिपुटी का भी विलय हो जाता है। यही ब्रह्मज्ञान है। यही मोक्ष है। शंकर इसे अवगति की अवस्था कहते हैं। आचार्य शंकर कहते हैं कि जगत् की सारी प्रक्रियाएँ जीव को अवगति की अवस्था प्राप्त कराने में सचेष्ट हैं। इसीलिए जीव की आत्माभिव्यक्ति के लिए जगत् अनिवार्य साधन हैं। जगत् की अनित्यता ही जीवन को शाश्वत् ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है। अतएव यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त का मोक्ष मनुष्य के अपने स्वनिर्मित बन्धनों से मुक्ति का ऐसा ऐश्वर्य है; जो विचार के क्षेत्र से सर्वथा परे है; एक ऐसी शान्ति है, जो हमारे सब प्रकार के पुरुषार्थ का लक्ष्य है। यह परम ब्रह्म के साथ एकत्व की एक अवस्था है। मोक्ष आत्मा का विलोप नहीं है, अपितु चैतन्य के विस्तार एवं ब्रह्म की निरपेक्षता का साक्षात्कार कर लेने का नाम है। आचार्य शंकर ने मोक्ष के स्वरुप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "इदं तु पारभार्थिकं कूटस्थं नित्यं व्योमत्सर्वव्यापि सर्वाविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिस्वभावं। यत्र धर्मा–धर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तन्ते तद् अशरीरत्वं मोक्षाख्यम्"[8] अर्थात् वह जो अपने पारमार्थिक रुप में यथार्थ है, कूटस्थ है, नित्य है, आकाश के समान अन्तर्यामी है, सभी प्रकार के परिवर्तन से रहित है, आप्तकाम है, निरवयव है, स्वयंज्योति स्वरुप है, जहाँ पाप–पुण्य की पहुँच नहीं है, ऐसे अशरीरी स्वभाव को मोक्ष कहते है। चित्सुखाचार्य का कहना है कि – अनवच्छिन्नानन्दप्राप्तिः[9] अर्थात् आनन्दमय का साक्षात्कार ही मोक्ष है। अद्वैत वेदान्ती कृष्णानन्द; जिन्होंने सिद्धान्तलेशसंग्रह पर टीका लिखी है, का कहना है कि – 'चैतन्यस्याज्ञानसम्बन्धीबन्धस्तद् सम्बन्धो मोक्षो न तु तान्निवृत्तिः' अर्थात् चैतन्य का अज्ञान बन्धन है और अज्ञान से निवृत्ति मोक्ष है। पद्मपाद के अनुसार "मिथ्याज्ञाननिवृत्तिमात्रम् मोक्षः' अर्थात् मिथ्या ज्ञान के अभाव का नाम मोक्ष है। आचार्य शंकर यह कहते हैं 'मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एवं दुःखानुभवः[10] अर्थात् दुःख का कारण केवल मिथ्या अभिमान की भ्रान्ति है और भ्रान्ति से मुक्ति पा जाने पर दुःखों से भी मुक्ति मिल जाती है। इसीलिए आचार्य शंकर यह कहते हैं कि मुक्तात्मा के अन्दर समस्त व्यावहारिक भेदों व गुण तथा विषय–विषयी के भेदों का पूर्ण रुप से विलय हो जाना आ जाता है। अद्वैत वेदान्ती सुरेश्वर कहते हैं– जब अनन्त प्रकाश का साक्षात्कार अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्राप्त कर लिया जाता है; तब समस्त प्राणी ब्रह्म से लेकर नीचे वनस्पति जगत् तक स्वप्नावस्था के समान भ्रान्तियों में परिणत हो जाते हैं।[11]

मोक्ष के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट रुप से जो बात उभरकर आती है, वह यह है – 'ब्रह्मैव हि मुक्त्यावस्था' अर्थात्– मुक्ति का स्वरुप ब्रह्म से एकत्वभाव है। आचार्य शंकर तैत्तिरीय उपनिषद् के अपने भाष्य में यह कहते हैं – 'स सर्वात्मभावः सर्वसंसारधर्मातीतब्रह्मस्वरुपत्वम् एव'[12] अर्थात् मोक्षावस्था विश्वात्मा के साथ सर्वात्मभाव प्राप्त करना है। आचार्य शंकर के कहने का तात्पर्य यह है कि मोक्ष की अवस्था उस ब्रह्म के साथ सर्वात्मभाव प्राप्त करना है, जो कि

व्यावहारिक जगत् के समस्त भेदों से रहित है। मोक्ष की अवस्था अपने आत्मस्वरुप ब्रह्म के ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है और स्वर्ग की भाँति कोई उपार्जित अवस्था भी नहीं है। मुक्तात्मा किसी अन्य को नही देखता, अपितु अपने को सब में देखता है।

आचार्य शंकर के अनुसार अविद्या ही वह मूल कारण है, जिसके कारण जीव सांसारिक भोगों में लिप्त होकर अपने आपको ब्रह्म से पृथक् समझता है और स्वार्थ, घृणा, द्वेष, अहंकार आदि निम्न कोटि की प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर निरन्तर कर्म करते हुए संसार चक्र में भटकता रहता है। अतएव अवद्यिा के समूल नाश के लिए ब्रह्मज्ञान आवश्यक है और ब्रह्मज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। आचार्य शंकर के द्वारा प्रतिपादित इस मार्ग को ही ज्ञानमार्ग की संज्ञा दी गयी है। श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन ज्ञान मार्ग के तीन सोपान हैं; किन्तु श्रवण के सभी अधिकारी नहीं हो सकते। श्रवण का अधिकारी वही हो सकता है; जिसके अन्तःकरण साधन–चतुष्ट्य से निमज्जित हों। ज्ञान प्राप्ति के लिए आचार्य शंकर द्वारा प्रस्तावित साधन–चतुष्ट्य निम्नलिखित हैं–

1. 'नित्यानित्यवस्तुविवेक' अर्थात् मोक्ष के साधक को नित्य आत्मा एवं अनित्य सांसारिक वस्तुओं के भेद को समझना चाहिए।
2. 'इहामुत्रार्थफलभोगविराग' अर्थात् साधक को इहलोक या लौकिक और परलोक या पारलौकिक भोगों की कामना का परित्याग करना चाहिए।
3. 'शमदमादिषट्सम्पत्ति' अर्थात ज्ञान की प्राप्ति के लिए साधक को शम, दम, समाधान, उपरति, तितिक्षा एवं श्रद्धा इन छह गुणों को वर्जित करना चाहिए। शम का तात्पर्य मानसिक संयम से है और दम का तात्पर्य इन्द्रिय निग्रह से है। विषय वासना से दूर रहना 'उपरति' है। सांसारिक द्वन्दों; जैसे सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख, राग–द्वेष इत्यादि के प्रति सहिष्णुता 'तितिक्षा' है। शंकाओं का निराकरण करके चित्त को ज्ञान साधना में लगाना ही समाधान है। श्रुतियों एवं गुरु के श्रद्धा रखना एवं ऐसा स्वाभाविक विश्वास ज़िनका तर्क द्वारा खण्डन न किया जा सके; श्रद्धा है।
4. मुमुक्षत्व' अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने की उत्कृष्ट इच्छा ही मुमुक्षत्व है। परन्तु मुमुक्षत्व का वास्तविक अर्थ है– समस्त बन्धनों का उच्छेद कर स्वराज्य प्राप्त करने की इच्छा। ब्रह्मात्मैक्य भाव प्राप्त करने की इच्छा।

आचार्य शंकर का यह मानना है कि उपर्युक्त साधक चतुष्ट्य से युक्त साधक को श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का अनुसरण करना चाहिए। श्रवण से तात्पर्य श्रुतियों के श्रवण से है। मनन से तात्पर्य श्रुतियों में विवेचित ब्रह्मज्ञान को युक्तियों द्वारा प्रतिपादित करना। निदिध्यासन का तात्पर्य ब्रह्मात्मैक्य स्वरुप का सतत् ध्यान करना है। वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि – श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मन; परमात्मभावं गृहीत्वा युक्तिमयेन च व्यवस्थाप्यते। तस्मात् निर्विचिकित्स शब्दज्ञान संतति–रुपोपासना कर्मसहकारिण्य–विद्योच्छेदहेतुः[13] अर्थात् श्रुति ज्ञान से जीव परमात्मा को जानता है, फिर वह युक्ति से उस ज्ञान को व्यवस्थित करता है और पुनः वह शंकारहित इस श्रुतिज्ञान का सतत् ध्यान करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक सत्य को ग्रहण करने की विधि श्रवण है। श्रुत महावाक्यों एवं धार्मिक सत्यों की निश्चितता एवं प्रामाणिकता के विषय में तार्किक विश्लेषण के पश्चात् दृढ़ निश्चय करना मनन है। ध्यान के माध्यम से अनुभूत एवं प्राप्त ज्ञान

को सुदृढ़ करना ही निदिध्यासन है। इन्हीं तीन विधियों के द्वारा 'अयमात्मा ब्रह्म', 'अहंब्रह्मास्मि' या 'तत्त्वमसि' का आवबोध होता है तथा मोक्ष की अनुभूति होती है। आत्मा एवं ब्रह्म के तादात्मय की इसी अपरोक्षानुभूति को आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान के रुप में भी अभिहित किया जाता है।

आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में मोक्ष का दो रुपों में वर्णन प्राप्त होता है – जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति से तात्पर्य यह है कि जिस क्षण जीव को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति में देह का अस्तित्व बना रहता है। इसलिए यहाँ शंका की जा सकती है कि जब सशरीरत्व मिथ्याज्ञान निमित्तक है; तो मोक्ष प्राप्ति के पश्चात् सशरीरत्व कैसे बना रह सकता है ?

अतः यदि सशरीरत्व है, तो इसका अर्थ यह है कि मुक्ति नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि जीवन्मुक्ति असंभव है। इस समस्या का समाधान अद्वैत–वेदान्ती आविद्या–लेश के सिद्धान्त से करते हैं। अविद्या–लेश का तात्पर्य यह है कि ज्ञान से अविद्या के आवरण नष्ट होने पर भी प्रारब्ध कर्म से जो अज्ञान का विक्षेपांश है वह बना रहता है और उसी के कारण जीवन शेष रहता है। मुक्तजीव अपने क्रियमाण एवं संचित कर्मो का परिष्कार तो कर लेता है; किन्तु जब तक उसके प्रारब्ध कर्म शेष रहते हैं तब तक उसका देह बना रहता है। प्रारब्ध कर्म के फल की समाप्ति के पश्चात् उसके शरीर का अंत हो जाता है। शरीरपात के पश्चात् ही विदेह मुक्ति की प्राप्ति होती है। जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में कुछ वेदान्तियों का यह कहना है कि जीवन–काल में ही अविद्या–निवृत्ति होती है; क्योंकि जीवन के बाद ज्ञानोत्पत्ति के साधन न रहने से ज्ञानोत्पत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार यदि मुक्ति है तो वह जीवन्मुक्ति ही है और यदि जीवन्मुक्ति के पश्चात् जो शरीर प्रतीति होती है, वह सोपाधिक भ्रम है; जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब। सोपाधिक भ्रम के दूर हो जाने पर भी उसका कुछ प्रभाव बना रहता है।, जिससे उसके सत्य की कुछ प्रतीति होती है। यही बात जीवन्मुक्त के शरीर की भी है। वह जानता है कि उसका शरीर मिथ्या है, किन्तु यह मिथ्यात्व सोपाधिक है। अतएव मिथ्याज्ञान निवृत्ति के पश्चात् भी द्विचन्द्र ज्ञान के संस्कारवश जिस प्रकार द्विचन्द्र दिखायी पड़ता है उसी प्रकार कुछ काल तक शरीर की प्रतीति होती है।

आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष की अन्तिम अवस्था विदेह मुक्ति ही है। विदेह मुक्ति की इस अवस्था में मुक्तात्मा के स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का क्षय हो जाता है और वह जन्म–मत्यु के चक्र से मुक्त होकर सच्चिदानन्द अविनाशी बह्म के साथ एकाकार हो जाता है।

शंकर के अद्वैत वेदान्त के मोक्ष के सम्बन्ध में एक विवाद यह भी पाया जाता है कि मोक्ष में जीवात्मा की मुक्ति तात्कालिक होती है या क्रमिक। जो अद्वैत वेदान्ती सद्योमुक्ति के समर्थक हैं, उनका यह मानना है कि ज्ञान प्राप्त होते ही तत्काल मुक्ति प्राप्त हो जाती है। जो अद्वैत वेदान्ती क्रममुक्ति के समर्थक हैं; उनका यह मानना है कि जीवात्मा को क्रमशः मुक्ति प्राप्त होती है। देवयान मार्ग से चलने वाले मनुष्य जिस ब्रह्मलोक को प्राप्त करते है, वही क्रममुक्ति है। यह सापेक्षिक मुक्ति है, क्योंकि यह प्रलयपर्यन्त ही रहती है। प्रलय के पश्चात् जब पुनः सृष्टि होती है; तो ब्रह्मलोक के निवासी पुनः मृत्युलोक में आ जाते है। क्रममुक्ति से सद्योमुक्ति बिल्कुल भिन्न है। सद्योमुक्ति ही शंकराचार्य के अनुसार वास्तविक मुक्ति है, क्योंकि इस प्रकार के मुक्ति में मुक्तात्मा संसार चक्र से मुक्त हो जाता है। मुक्ति के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त में एक प्रश्न यह उठता

है कि एक जीवात्मा की मुक्ति से क्या अन्य जीवात्माओं की भी मुक्ति हो जाती है या एक जीवात्मा की मुक्ति के बाद अन्य जीवात्माओं की मुक्ति शेष रह जाती है? एक जीववादी कहते हैं कि सर्व का ज्ञान अज्ञान है। एक मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है। परन्तु नानाजीववादी वेदान्ती कहते हैं प्रत्येक जीव केवल अपना ही मोक्ष प्राप्त करता है। एक मुक्ति एवं सर्वमुक्ति के सम्बन्ध में मेरी यह स्पष्ट मान्यता है कि अद्वैत वेदान्त की दृष्टि अभेद की दृष्टि है। अद्वैत वेदान्त में जीवात्मा के दो भेद है – एक प्रपंचात्मक जगत् में लिप्त जीवात्मा जो बन्धनग्रस्त है और अविद्या से ग्रसित है; तथा दूसरे प्रकार में वैसी जीवात्मायें हैं; जिन्होंने ब्रह्मज्ञान से अपने अविद्या की निवृत्ति कर ली है। इसलिए अद्वैती दृष्टि से एक मुक्ति एवं सर्वमुक्ति का प्रश्न ही निरर्थक है। अद्वैत वेदान्त का मूल यही है कि 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'।

लौकिक दृष्टि से मोक्ष महान् विश्वात्मा के साथ एकत्व की प्राप्ति भी ऐसी प्रतीत होती है, मानो अंत में मृत्यु सुख में विलीन हो गयी और फिर जीवित नहीं होगी। परन्तु यथार्थ में ऐसा नहीं है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि मोक्ष की अवस्था में वैयक्तिक चेतना (विशेष विज्ञान) का विलोप होता है, समस्त चैतन्य का नहीं। आत्मा का विशुद्ध सारतत्त्व (विज्ञानघनात्मा) विद्यमान रहता है। आचार्य शंकर कहते हैं – विशेष विज्ञानं विनाशाभिप्रायमेव न विज्ञातृ विनाशाभिप्रायम्।[14] वास्तविकता यह है कि शंकर के दर्शन में मोक्ष निर्जन प्रदेश में विलुप्त हो जाना नहीं है। वस्तुतः शंकर मुक्तात्मा के निदर्शन में एक ऐसी आत्मा को अमरत्व का जीवन प्रदान करते हैं, जिसका दृष्टिकोण शरीर इन्द्रियों एवं चित्त से परे सर्वात्मभाव के रुप में अभिव्यक्त होता है। अप्पय दीक्षित का कहना है – "शंकर स्पष्ट रुप में मोक्ष के सम्बन्ध में ईश्वर के साथ एकत्व सम्बन्धी विचार का समर्थन करते हैं।"[15]

मुण्डकोपनिषद् पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर का कहना है कि आत्मा के अन्दर क्रीड़ा करता हुआ, अपने अन्दर तथा दैनिक कर्मो को करता हुआ; जो प्रसन्नता प्राप्त करता है, वह उन पुरुषों में सर्वोत्तम है; जो ब्रह्म को जानते हैं।[16] आचार्य शंकर का यह स्पष्ट कहना है कि स्वतः सिद्ध मोक्ष नित्य मोक्ष कर्म के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता (अकृतो मोक्षः वृत्तेन कर्मणां नास्तीति[17])। शंकर के अनुसार समस्त क्रियाशीलता का अन्त दुःखमय है। इसलिए मुक्तात्मा के लिए कोई क्रियाशीलता संभव नहीं है। कर्तव्य के रुप में मनुष्य को चाहिए कि वह अपने पृथक् आत्मभाव का त्यागकर सम्पूर्ण जगत् के कल्याण में अपने कल्याण को देखे। लौकिक या पारमार्थिक कल्याण के लिए सभी प्रकार के स्वार्थपरक् प्रयत्नों से अनासक्ति रखते हुए शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधि एवं श्रद्धा तथा अंत मे मोक्ष प्राप्ति के लिए उत्कृष्ट अभिलाषा को रखे। इस सबसे सत्य ज्ञान का उदय होता है।[18] आचार्य शंकर का स्पष्ट रुप से यह कहना है कि मुक्तात्मा में स्वार्थपूर्ण आसक्ति जो कर्म की प्रेरक है; विद्यमान नहीं रहती; इसलिए वह सर्वथा कोई कर्म नहीं करता। कर्म की उत्पत्ति अविद्या से होती है, इसलिए आत्मा के सत्य ज्ञान के साथ कर्म नहीं रह सकता। मुक्तात्मा के सम्बन्ध में सब प्रकार के कर्मो का निषेध करते हुए आचार्य शंकर ने यह प्रतिपादित किया है कि मुक्तात्मा के कर्म अनासक्ति भाव से होते हैं। मुक्तात्मा जो कर्म करता है वह लोकसंग्रह के लिए है, शंकर यह स्पष्ट रुप से कहते हैं कि पूर्णता को प्राप्त मनुष्य अपने लिए जीता और मरता नहीं है; वरन् मनुष्य मात्र के लिए जीता और मरता है। इस प्रकार

आचार्य शंकर मोक्ष प्राप्ति के पश्चात् हमें संसार के अन्दर रहने को तो कहते हैं, किन्तु संसार का बनकर रहने को नहीं, वैसे ही जैसे कि जल का एक बिन्दु कमल पत्र के ऊपर रहता है; किन्तु उसके अन्दर लिप्त नहीं हो जाता।

आचार्य शंकर के मोक्ष के सम्बन्ध में यह आरोप लगाया जाता है कि यद्यपि मुक्तावस्था में आचार्य शंकर द्वारा यह कहना कि वह विशुद्ध चैतन्य स्वरुप तथा अखण्ड आनन्द से परिपूर्ण होता है, बहुत आकर्षक लगता है; किन्तु उनके द्वारा यह कहना कि मोक्ष की अवस्था में आत्मा एवं ब्रह्म का तादात्म्य हो जाता है, एक निषेधात्मक वर्णन लगता है। जब आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का ही विलोप हो जाता है; तो उसके विशुद्ध चैतन्य तथा अखण्ड आनन्द से परिपूर्ण हो जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। शंकर ने विदेह मुक्ति को ही मोक्ष की चरम अवस्था मानते हैं। किन्तु यह आत्मा का सदा के लिए अंत है और यह मृत्यु से भिन्न नहीं प्रतीत होती है। अतएव इस प्रकार के मोक्ष को जीवन का उच्चतम एवं अन्तिम लक्ष्य कैसे माना जा सकता है? इतना ही नहीं आचार्य शंकर ने जो जीवन्मुक्ति का वर्णन किया है; उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक मृत्यु के पश्चात् शाश्वत जीवन की कोई अवस्था नहीं है। जब अन्तर्ज्ञान का सूर्योदय इसी लोक में हो जाता है; तो मोक्ष की प्राप्ति हो गयी। ऐसी अवस्था में मृत्युपर्यन्त शरीर की विद्यमानता प्रवंचना का कारण नहीं बन सकती। मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात् भी जीवन बना रहता है और शंकर ने इसे जीवन्मुक्ति की संज्ञा देते है। आचार्य शंकर कहते हैं कि जीवन्मुक्त अपने समस्त कर्मो को ब्रह्मर्पण समझकर करता है। आचार्य शंकर जीवन्मुक्त जीवात्मा को ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाने की अवस्था के रुप में मान्यता नहीं प्रदान करते हैं और न ही इसे मुक्तात्मा की पूर्णता ही मानते हैं। इसीलिए विदेह–मुक्ति को ही सच्चे अर्थो में मोक्ष की चरम अवस्था मानते हुए वे कहते हैं जब वह जो पूर्ण है, प्राप्त हो गया; तब वह जो केवल अंश रुप है, अवश्य ही समाप्त हो जाएगा। पुनश्च आचार्य शंकर यह भी कहते हैं कि 'त्वं वा अहमास्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवे देवते' अर्थात् यथार्थ में तू मैं हूँ, हे पवित्र ईश्वर और जो मै हूँ वह तू है।''[19]

आचार्य शंकर के मोक्ष सम्बन्धी विचार के विषय में एक आरोप यह भी लगाया जाता है कि उन्होंने अपने अद्वैत वेदान्त में प्रतिपादित किया है कि एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्म के अतिरिक्त संसार केवल भ्रान्तियुक्त है; तो फिर मानव को चरम पुरुषार्थ मोक्ष के लिए प्रयत्न की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस प्रकार का आरोप वे ही लोग कर सकते हैं, जो अलौकिक एवं लौकिक जीवन में भेद नहीं करते हैं। वास्तविकता यह है कि ब्रह्म की पूर्णता का आध्यात्मिक सत्य लौकिक व्यवहार के स्तर पर किसी भी प्रकार प्रपंचात्मक जगत् के भेदों पर प्रभाव नहीं डाल सकता। 'मैं' हूँ, (अहं ब्रह्मास्मि) इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि क्रियाशील आत्मा का परमार्थ रुप ब्रह्म के साथ सीधा तादात्म्य है, किन्तु यथार्थ रुप आत्मा में अवशिष्ट उन मिथ्या उपाधियों के दूर हो जाने पर उसका परस्पर तादात्म्य भाव हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त में मोक्ष के स्वरुप को लेकर अनेक प्रकार के सवाल उठाये जाते हैं, जैसे मोक्ष जीवन्मुक्ति है या विदेहमुक्ति? मोक्ष क्रममुक्ति है या सद्योमुक्ति? मोक्ष एक मुक्ति है या सर्वमुक्ति? मोक्ष कर्मसाध्य है या ज्ञानसाध्य? अद्वैत वेदान्तियों का वह वर्ग जो मोक्ष को जीवन्मुक्ति, क्रममुक्ति, सर्वमुक्ति और कर्मसाध्यमुक्ति के रुप में स्वीकार करता है, वे लोग मोक्ष को लोककल्याण

से अनिवार्यतः सम्बद्ध करते हैं। अद्वैत वेदान्तियों का दूसरा वर्ग वह है जो मोक्ष को विदेह मुक्ति, एकमुक्ति, सद्योमुक्ति, ज्ञानसाध्यमुक्ति के रुप में स्वीकार करते हैं, वे लोग मोक्ष को लोक कल्याण से विलग करते हैं। यद्यपि एक वर्ग अद्वैतवेदान्तियों का ऐसा भी है जो दोनों विचारधाराओं का समन्वय करते हुए यह मानता है कि लोककल्याण के माध्यम से मुक्ति मिल सकती है और मुक्ति पाने वाले भी लोककल्याण कर सकते हैं। अद्वैत वेदान्त के मोक्ष के सम्बन्ध जो प्रमुख सवाल उठाया जाता है, वह यह है कि क्या मोक्ष प्राप्त मनुष्य लोककल्याण करता है और यदि करता है, तो क्या मोक्ष से लोककल्याण के कर्म अनिवार्यतः सम्पृक्त हैं अथवा क्या मोक्ष केवल एक सामाजिक आदर्श है? इस प्रश्न से सम्बन्धित विभिन्न विचार प्रकट किये गये हैं जो इस प्रकार है –

अद्धैतवादी दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि ज्ञानोत्तर कर्म और ज्ञानोत्तर भक्ति असंभव है तथा ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् मुक्त आत्मा ब्रह्म ही हो जाता है (ब्रह्मवेद बह्मैव भवति)। ऐसी स्थिति में भक्त आत्मा के लिए लोक का कोई अस्तित्व नहीं है; जो कर्म एवं भावनाएँ लोक का आधार हैं उनका कोई अस्तित्व नहीं है। जीवात्माओं की अनेकता जो प्रपंचात्मक जगत् के लिए अनिवार्य है; वह भी असंभव है। अतः अद्वैतवादी दृष्टिकोण से मोक्ष के साथ लोक का विरोध दिखायी पड़ता है।

कुछ लोगों का यह कहना है कि अद्वैत वेदान्त की मुक्त आत्मा न तो व्यष्टि है न ही समष्टि है। एक दृष्टि से वह व्यष्टि व समष्टि दोनो से परे है, क्योंकि व्यष्टि एवं समष्टि परस्पर सापेक्ष हैं और अध्यस्त रुप हैं, जबकि मुक्त जीवात्मा निरपेक्ष है और निरध्यस्त हैं। पुनश्च यदि दूसरी दृष्टि से देखा जाए, तो ऐसा लगता है जो व्यष्टि के मूल में सत् है वही समष्टि के मूल में सत् है, और वही मुक्तात्मा है। अतएव इस दृष्टिकोण से मुक्ति व्यक्ति एवं लोक दोनों से ही सम्पृक्त है। यदि व्यक्ति के लिए उसकी उपजीव्यता है, तो लोक के लिए भी उसकी उपजीव्यता है। वास्तविकता तो यह है कि अद्वैत वेदान्त के मोक्ष के सम्प्रत्यय की लौकिक उपजीव्यता उसके लौकिक प्रयोजन का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित रुप में सिद्ध होती है –

लौकिक जीवन का नियमन नैतिक नियमों द्वारा होता है। नैतिक नियम को ही वेदों में 'ऋत्' कहा गया है। ऋत् सन्मार्ग है, सदाचार का पथ है। वह श्रुति, स्मृति, परम्परा आदि से समर्थित कर्तव्यमार्ग है। मुण्डकोपनिषद् का सत्यमेवजयते[20] ऋत् को ऐसा सर्वोपरि नियम सिद्ध करता है, जिससे समस्त आदर्श उद्भूत होता है। यह ऋत् आत्मा का स्वभाव है और समस्त लोक को धारण करता है। इसीलिए इसे धर्म भी कहा जाता है। मुक्तात्मा को इस ऋत् का पूर्ण ज्ञान रहता है। ऋत् का पूर्ण ज्ञान होने के कारण मुक्तात्मा साक्षात् ऋत् रुप या धर्म रुप है। यही कारण है कि लोक के समस्त मनुष्य उसको जीवन का आदर्श मानकर उसका अनुसरण करते हैं।

लौकिक जीवन का दूसरा प्रयोजन 'प्रियम्' या आनन्द है। ब्रह्म को सत्, चित् और आनन्द रुप माना गया है। आनन्द उनं सभी मूल्यों का पुंजीभूत रुप हैं, जिसे आजकल सामाजिक मूल्य कहा जाता है। अद्वैत वेदान्त इस प्रियम् को भूमानन्द कहता है और यह बतलाता है कि मुक्ति ब्रह्मभाव, भूमानन्द की प्राप्ति है। इस सिद्धान्त का प्रयोग करके ही सामाजिक आनन्द या लोक कल्याण का विधान किया जाता है। उपनिषदें 'आनन्द' के विषय में अपने उदगार को व्यक्त करती हुई कहती हैं कि – "प्रत्येक मनुष्य को जो थोड़ा–बहुत आनन्द मिलता है, वह निरपेक्ष ब्रह्म के आनन्द का बिन्दुमात्र है। समस्त लोक निरपेक्ष ब्रह्म के इसी आनन्द राशि से आप्लावित है।

लौकिक प्रयोजन का तीसरा तत्त्व स्वाराज्य है। अद्वैत वेदान्त की मुक्ति स्वाराज्य की प्राप्ति है। प्राचीन काल के भाष्यकारों ने स्वाराज्य का अर्थ व्यक्तिपरक किया था और उसका अर्थ यह लगाया था कि मनुष्य को आत्मसंयमी होना चाहिए परन्तु आधुनिक युग में स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, लोक मान्य तिलक, महात्मा गाँधी, श्री अरविन्द आदि ने उपनिषदों में वर्णित स्वाराज्य के आदर्श को लौकिक जीवन में महत्त्वपूर्ण मानते हुए यह सिद्ध किया कि प्रत्येक राष्ट्र को स्वराज्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। यही कारण है कि अनेक समकालीन विचारक स्वराज्य को रामराज्य के रुप में निरुपित करते हुए इसे दैहिक, दैविक और भौतिक दुखों से रहित लोक कल्याण के आदर्श के रुप में ग्रहण किया। अद्वैत वेदान्त में 'आत्मानम् आत्मेव उद्धरेत्' लौकिक स्वाराज्य के इसी आदर्श की प्रतिष्ठा करना चाहता है। यह लौकिक स्वराज्य आत्मनिर्भरता पर आधारित होगा। जब तक इस आदर्श की प्राप्ति नहीं होती है, तब तक कठोपनिषद् के इस मंत्र को 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत'[21] जीवन की प्रेरणा के रुप में स्वीकार करना होगा। स्वामी विवेकानन्द ने कठोपनिषद् के उपर्युक्त मंत्र के द्वारा न केवल भारतीय जनमानस को स्वाराज्य के लिए उद्वेलित किया, अपितु उन्हें लोकसंग्रह के आदर्श की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित भी किया। अतएव यह कहा जा सकता है कि मुक्तात्मा सम्पूर्ण लोक को स्वाराज्य की प्रेरणा देता है।

आधुनिक युग में लौकिक प्रयोजन का एक प्रमुख तत्त्व 'समता' है। 'समता' का यह सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त के इस विचारधारा में सन्निहित है – आत्मा एक और अद्वितीय है (एकमेवाद्वितीयम्[22]) और वह सजातीय विजातीय तथा स्वगत भेदों से रहित है। इस प्रकार मुक्तिमूलक समता अद्वैत वेदान्त की एक मौलिक देन है। इसी सिद्धान्त के आदर्श को अपनाते हुए महात्मा गॉधी ने मार्क्स के साम्यवाद की आलोचना की और कहा कि ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मंत्र में जिस समाजवाद की व्याख्या की गयी है उस प्रकार के समाजवाद को 'दास कैपिटल' ग्रन्थ प्रस्तावित करने में असफल रहा। इस प्रकार यदि अद्वैत वेदान्त के मोक्ष सम्बन्धी इस विचार को स्वीकार कर लिया जाय कि मोक्ष ईश्वर की प्राप्ति है, तो भी उसका किसी भी प्रकार से लोक कल्याण से विरोध नहीं हो सकता। अद्वैत वेदान्त में मुक्ति से तात्पर्य अपने स्वरुप की प्राप्ति है और सभी मनुष्य स्वरुपतः एक ही है। ऐसी स्थिति में मोक्ष का लोक कल्याण से विरोध कैसे हो सकता है? यह अद्वैत वेदान्त का मोक्ष आधुनिक समाजवाद को न केवल प्रतिष्ठापित करता है, अपितु उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा भी देता है और कहता है कि जब तक मनुष्य को शोषण से मुक्ति नहीं मिलती है, तब तक स्वराज्य भी उसके लिये निरर्थक संकल्पनामात्र बना रहेगा। अद्वैत वेदान्त के मोक्ष में समतामूलक भाव के सम्बन्ध में डॉ0 राधाकृष्णन् ने कहा है कि – "सर्वोच्च ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के मार्ग को बिना किसी जाति तथा सम्प्रदाय के भेदभाव के पुरुषमात्र के लिये खुला बताकर शंकर ने अपनी मौलिक मानवीयता का परिचय दिया है।[23]

स्वतंत्रता अद्वैतवेदान्त के मोक्ष के लौकिक प्रयोजन का वह तत्त्व है जिसमें स्वतंत्रता के निवृत्ति रुप (निषेधात्मक भाव) एवं प्राप्ति रुप (भावात्मक भाव) का अद्वितीय समन्वय है। पाश्चात्य मनीषियों के अनुसार मानव स्वतंत्रता दो प्रकार की है – निवृत्ति रुप एवम् प्राप्ति रुप। इन दोनों प्रकार की स्वतंत्रताओं का वर्णन मोक्ष के स्वरुप में तब अभिव्यंजित हो जाता है, जब यह कहा जाता है कि "मोक्ष नित्य प्राप्त की प्राप्ति है और नित्य निवृत्त की निवृत्ति है। मोक्ष प्राप्त मुक्तात्मा

से यह प्रेरणा मिलती है कि हम लोक जीवन की उन सभी दुर्व्यवस्थाओं को दूर करें जो मनुष्य एवं समाज के लिए बन्धन है और उन सभी मूल्यों को प्राप्त करें जो कि सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्, शान्तम् एवं पावनम् है।

अद्वैत वेदान्त के मोक्ष की अवधारणा में सर्वव्यापी दुखों से मुक्ति प्राप्त करने, स्वार्थ पर विजय प्राप्त करने, इन्द्रियों के संयमित करने, अपने कर्तव्य को स्वधर्म समझ कर करने, ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने की जो प्रेरणा प्रदान की गयी है, उसका आज के वैज्ञानिक युग में भी उपादेयता है। अद्वैत वेदान्त के मोक्ष में जिस अद्वैतवादी दृष्टिकोण का अनुसरण किया गया है, वह लोक कल्याण, लोक–सामन्जस्य और विश्वबंधुत्व की भावना का प्रचार–प्रसार करती है। लौकिक जीवन में यह संभव है कि हम जन्म–मृत्यु के चक्र से छुटकारा न प्राप्त कर सकें, ईश्वर साक्षात्कार न कर सकें, समस्त प्रकार के दुखों से निवृत्ति न प्राप्त कर सकें, किन्तु अद्वैत वेदान्त के मोक्ष में लोक संग्रह के लिये मुक्तात्मा के द्वारा निर्लिप्त भाव से कर्म करने की जो बात की गयी है, वह लोक के प्रति उसके मानवतावादी, उदारवादी, सहिष्णुतावादी और सार्वभौमिकतावादी दृष्टि का न केवल परिचायक है, अपितु लोकजीवन में इसे साकार करने की प्रेरणा भी प्रदान करता है।

निष्कर्ष के रुप में यह कहा जा सकता है कि लौकिक जगत् में अनंत ब्रह्म का व्यापार एक गम्भीर सत्य है। मानवीय आत्मा का सम्बन्ध लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों जगत् से है। अनंत ब्रह्म सम्पूर्ण लौकिक जगत् में विद्यमान है। अनंत ब्रह्म में सत्य, शिव एवं सौन्दर्य रुपी आदर्श क्रियात्मक रुप में पाये जाते हैं। मुक्तात्मा सत्य, शिव एवं सौन्दर्यरुपी इसी अनंत ब्रह्म का साक्षात्कार करके अपनी पूर्णता को प्राप्त करना चाहती है। ब्रह्म सत्य, शिव, सौन्दर्य के साथ ही साथ सत्, चित् एवं आनन्द रुप भी है। अतएव मनुष्य के समस्त प्रयत्नों का एकमात्र लक्ष्य ब्रह्मत्मैकत्व या परम यथार्थ सत्ता के तादात्म्य भाव का अवबोध करके सुख एवं शान्ति को प्राप्त करना है एवं यही जीवात्मा के विकास की पूर्णता तथा सम्पूर्ण पुरुषार्थ का परम लक्ष्य है। इसीलिये आचार्य शंकर मोक्ष का सार बतलाते हुए कहते हैं – "मोक्ष का सार असीम सुख एवं दुख का नितान्त अभाव है। चूँकि यह सर्वथा स्पष्ट है कि मनुष्य दोनों को चाहते हैं, इसलिए मोक्ष की कामना सदा बनी रहती हैं।"[24] मोक्ष की अवस्था में मानव आत्मा को परम सत्ता का जो आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त होता है, वह न केवल उसे सुख एवं शान्ति में निमज्जित करता है, अपितु शिवत्व का भी प्रदायक है। इसलिए इसमें कोई संदेह नहीं है कि जो मनुष्य अपने पुरुषार्थ से मोक्ष प्राप्त करते हैं, इस सम्पूर्ण लोक को भी अपने दृष्टान्त से मोक्ष का मार्ग निर्देशित करते हैं। सच्चे अर्थों में मोक्ष की यही लौकिक उपजीव्यता हैं। आचार्य शंकर कहतै हैं कि – "केवल ऐसा ही पुरुष निस्सन्देह आत्मज्ञानी है, जो जाग्रता अवस्था में प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था के समान द्वैत नहीं देखता और जो कर्म करते हुए भी कर्मों के फलों से मुक्त है।"[25] अतएव यदि आचार्य शंकर के मोक्ष के सम्बन्ध में यह कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी कि यह वह अंकुर है, जिससे पूर्णता का फूल विकसित होता है, यह स्वयं तो सुवासित है ही, समस्त लोक में अपने सुवास को प्रसारित कर लोक को भी आह्लादित करता है।

सन्दर्भ –

1. शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र 2:3, 48
2. शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र 1:2, 8; 3:2, 25; 4:2, 8; 1:3, 19
3. शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र 1:3, 19 मिथ्याज्ञानकृत एवं जीवपरमेश्वरयोर्भेदो न वस्तुकृत।
4. केनोपनिषद् पर शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र 4:9
5. शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र 2:1, 14; 1:3, 19
6. अविद्या निवृत्तिरेव मोक्षः, शांकरभाष्य, मुण्कोपनिषद् 1:5
7. अविद्या निवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं पर प्राप्तिः; शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद् प्रस्तावना।
8. शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र 1:1, 14
9. सिद्धान्तलेशसंग्रह
10. शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र 2:3, 46
11. मानसोल्लास 1
12. शांकरभाष्यः तैत्तिरीय उपनिषद् 2:1
13. भामती 1,1,1
14. बृहदारण्यक उपनिषद्; शांकरभाष्य 1:3, 19
15. सिद्धान्तलेशसंग्रह 4
16. मुण्डकोपनिषद्, शांकरभाष्य 3:1, 4
17. तैत्तिरीय उपनिषद्; शांकरभाष्य; प्रस्तावना।
18. शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र 3;4, 27
19. शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र 1;2, 4
20. मुण्डकोपनिषद्–3 1:6
21. शांकरभाष्य, कठोपनिषद् 1:3:14
22. शांकरभाष्य, छान्दोग्य उपनिषद्–6, 2,1
23. डॉ० राधाकृष्णन्; भारतीय दर्शन भाग–2, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली 1986, पेज–540
24. संक्षेपशारीरक 1:6, 71
25. उपदेशसाहस्री पृ.–45

शंकराचार्य : भक्ति एवं तंत्र

रमा पाण्डेय

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः – इस श्लोक का उत्तरार्ध ही आचार्य शंकर के सम्पूर्ण दर्शन का निचोड़ कहा जा सकता है। शंकराचार्य बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे, इसीलिए इनका दर्शन केवल वैदिक–परम्परा की व्याख्या मात्र न होकर स्वतंत्र चिन्तन प्रक्रिया का निदर्शन है। इसमें केवल शुष्क तर्क पर ही मत की स्थापना नहीं की गई है, बल्कि आध्यात्मिक दृष्टि, रहस्य, नैतिक एवं सामाजिक सन्दर्भ का समन्वित रूप भी दिखाई पड़ता है। शंकराचार्य का युग आस्तिक एवं नास्तिक विचारधाराओं के संघर्ष एवं उसके साथ ही साथ उनमें समन्वय का युग माना जाता है। इस युग में स्मार्त्त – पौराणिक धारा ने मन्दिर, प्रतिमा पूजन के साथ ही साथ सामाजिक सुधार के संस्कारों का भी बीज वपन कर दिया था। शंकराचार्य के समय में धर्म का सामान्य अर्थ देव – प्रतिमाओं का पूजन, व्रत, संस्कार, दान, प्रायश्चित आदि था। अलौकिक साधनों के अनुष्ठान से अलौकिक तथा लौकिक साध्यों की प्राप्ति ही धार्मिक क्रिया का लक्ष्य था, इसलिए जादूटोना, चमत्कार और उसके फलस्वरूप अंधविश्वास आदि का बोलबाला था। किन्तु दूसरी ओर दक्षिण में 'आलवार' और 'नायनार' संत भक्तों की विशुद्ध भावमयी भक्ति भी धीर–धीरे अपने शैशवावस्था से आगे बढ़ रही थी, जिसकी आधार–भित्ति सामाजिक एवं धार्मिक सहिष्णुता तथा समन्वय ही था, जिसने कालान्तर में सुधारवादी आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार आचार्य शंकर का युग सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं वैचारिक रूप से उथल–पुथल से भरा हुआ था। वैदिक धर्म में प्रचलित जटिल कर्मकाण्डों से अज्ञ लोग सामान्य जनता को मूर्ख बनाकर भ्रमित कर रहे थे तथा वर्णाश्रम व्यवस्था भी चरमरा रही थी। ऐसी स्थिति में धर्म के ह्रास को रोकने, नास्तिक सम्प्रदायों के निरास और विशुद्ध वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा के लिए उपनिषदादि के भाष्य–प्रणयन के द्वारा वेदोक्त धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करते हुए, शास्त्रार्थ के माध्यम से विपक्षी सम्प्रदायों को परास्त करते हुए विभिन्न प्राचीन, धार्मिक एवं वैचारिक क्षेत्रों का उद्धार एवं नाना उपासना सम्प्रदायों के सुधार का श्लाघनीय कार्य शंकाराचार्य के द्वारा किया।[1]

दर्शनिक परिप्रेक्ष्य में शंकर विशुद्ध निर्गुणवादी थे किन्तु उन्होंने षण्मतों–शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य, बैष्णव एवं कौमार–को पर्याप्त महत्त्व एवं सम्मान दिया। 'प्रपंचसारतंत्र' में इन छह मतों एवं उनकी पूजा–विधि आदि की स्थापना की गई है। शंकराचार्य यह स्वीकार करते थे कि 'निर्गुण ब्रह्मवाद' सभी के लिए अपेक्षित नहीं हो सकता, क्योंकि यह विशुद्ध चित्त, ज्ञानी एवं विरक्त के लिए ही सहज एवं सुलभ हैं। इसीलिए उन्होनें यह प्रतिपादित किया कि एक ही विशुद्ध तत्त्व उपाधि भेद से अपने को इस जगत् के अनन्त रूपों में अभिव्यक्त करता है। अतः ब्रह्म का ईश्वरतत्त्व उपाधि सापेक्ष है, वहीं उपाधिभेद से नाना उपास्य देवताओं का रूप ग्रहण करता है। शंकराचार्य ने उपाधिभेद के आधार पर ही साधन–भेद, अधिकारी भेद और प्रस्थान–भेद के सिद्धान्तों को स्थापित किया[2]। यद्यपि आचार्य शंकर का दर्शन प्रपंचातीत, निर्गुण एवं निराकर ब्रह्म का समर्थक

दर्शन विभाग, बसन्त कन्या महाविद्यालय, राजघाट, वाराणसी (उ.प्र.)

है किन्तु उसमें व्यावहारिक एवं सामाजिक स्तर पर कर्मयोग, भक्ति एवं धर्म–व्यवस्था को भी आवश्यक मानते हुए उस पर भी विचार किया गया है। इस प्रकार शंकर अभ्युदय के आकांक्षी के लिए प्रवृत्ति–धर्म को केवल आवश्यक ही नहीं मानते बल्कि निष्काम–कर्म और ईश्वरार्पित कर्म के माध्यम से उसे ज्ञान की भूमिका के रूप में स्वीकार करते हैं। सामाजिक सम्बन्धों को अपारमार्थिक मानते हुए भी उनकी नैतिकता एवं धार्मिकता का निषेध नहीं करते क्योंकि भेदबुद्धि या द्वैतबुद्धि के रहते हुए उनका ज्ञान–प्राप्ति के लिए निष्काम–कर्म एवं भक्ति के द्वारा चित शुद्धि अर्जित करनी होती है[3]। इस दृष्टि से इन दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गोविन्द चन्द्र पाण्डे का मानना है कि शंकर ज्ञानमार्ग एवं कर्म–योगी रूपी साधनमार्गों का प्रतिपादन करते हैं। कर्म–योग का मार्ग ईश्वरार्पण भाव से आरंभ कर सत्व–शुद्धि के द्वारा मोक्ष का हेतु बनता है। इन दोनों ही मार्गों में विभिन्न रूपों में ध्यान–योग अन्तर्भूत है। भक्ति भी एक में ज्ञान–प्रदान रूप में और दूसरे में कर्म–प्रधान रूप में उपलब्ध होती है[4]।

शंकर अपने भाष्यों में विशेष रूप से 'ब्रह्मसूत्र–भाष्य' में एक प्रखर तार्किक हैं जो निर्ममता से अपने प्रतिपक्षी के मतों का खण्डन करके स्वपक्ष की स्थापना करते हैं। उपनिषदों के भाष्य, गीता–भाष्य, अपरोक्षानुभूति, पञ्चीकरणप्रकरण, आत्मानात्मविवेक, विवेकचूड़ामणि आदि में शंकर का एक तार्किक दर्शनिक के रूप में व्यक्तित्व निरूपण होता है, लेकिन उनके व्यक्तित्व के और भी पक्ष हैं जो दार्शनिक तार्किकता की शुष्कता से दूर उन्हें भक्ति–भावना में डूबे एक शुद्ध भक्त के रूप में प्रदर्शित करता है। इसके अतिरिक्त शंकर एक महान् साधक भी थे। शंकराचार्य दार्शनिक के रूप में शुद्ध अद्वैतवादी हैं जहाँ भक्त एवं भगवान या किसी और तत्त्व के लिए कोई भी स्थान किसी प्रकार से नहीं है लेकिन उसी के साथ ही साथ व्यावहारिक स्तर पर वे देवताओं की उपासना को मानते थे और लोकशिक्षा के लिए वैसा आचरण भी करते थे। संभवतः इसी कारण उन्होंने अनेक स्तोत्रों की रचना भी की होगी। आचार्य शंकर की अनेक रचनाओं में भक्ति की भाव–प्रवणता और गहनता का दर्शन होता है, लेकिन उनके यहाँ भक्ति का स्वरूप[4] सामान्य रूप में प्रचलित भक्ति से भिन्न है। सामान्यतया भक्ति के जो आवश्यक विधान हैं, उनको उन्होंने विशिष्ट स्थान और महत्त्व नहीं दिया है। 'नारदभक्तिसूत्र' में भक्ति के परमप्रेमरूपा स्वीकार करते हुए कहा गया है कि भक्ति को जान लेने वाला 'आत्माराम' अर्थात् अपनी आत्मा में रमण करने वाला हो जाता है।[5] किन्तु यहाँ आगे ज्ञान को भक्ति के विकास का माध्यम मानते हुए कहा गया कि–तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके। किन्तु आचार्य शंकर के यहाँ इसका विपरीत मत भी देखने को मिलता है। वहाँ भक्ति साधन है और ज्ञान साध्य है क्योंकि ज्ञान ही मुक्ति है। ब्रह्मात्मैक्यज्ञान या उसकी भावना के अतिरिक्त और कुछ भी वास्तविक नहीं है। 'विवेकचूड़ामणि' में आचार्य ने यह स्पष्ट रूप घोषणा की है कि मुक्ति अथवा ज्ञान के कारण–रूप सामग्री में भक्ति ही सबसे बढ़कर है। यहाँ भक्ति का तात्पर्य है अपने वास्तविक स्वरूप का अनुसंधान करना अर्थात् स्वात्मतत्त्व का अनुसंधान ही भक्ति है[6]। इस प्रकार भक्ति भी ज्ञान का एक सोपान है। भक्ति में यहाँ अद्वैत नहीं है, इसलिए यहाँ भक्ति का तात्पर्य अन्यों की अपेक्षा पृथक् और भिन्न है। आचार्यप्रवर ज्ञान के समान ही भक्ति–निष्णात भी थे। उनके द्वारा रचित (यद्यपि उसमें कितना आदि शंकाराचार्य द्वारा रचित है और कितना अंश प्रक्षिप्त है यह अभी भी शोध का विषय माना जा रहा है और उसमें

भी मत–वैभिन्न्य पाया जाता है। सम्प्रदायवादी आस्तिक सुधिजन तो लगभग सभी स्तोत्रों को शंकर द्वारा रचित मानकर उसे मान्यता देते हैं, लेकिन अन्य अनेक विद्वान् छन्दों की संरचना, भाषा–विन्यास आदि के आधार पर कुछ स्तोत्रों को शंकर द्वारा विरचित नहीं मानते) कुछ प्रसिद्ध स्तोत्रों के माध्यम से इसको स्पष्ट करने का प्रयास किया जायेगा लेकिन पहले उनके कुछ प्रमुख उपनिषद् भाष्यों में भक्ति का क्या स्थान है इसकी संक्षिप्त चर्चा कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

शंकराचार्य के भाष्यों पर यदि दृष्टि डाली जाये तो ध्यान एवं उपासना के माध्यम से वहाँ भी भक्ति का स्थान किसी न किसी रूप में दृष्टिगत होता ही है। उपनिषदों में ध्यान एवं उपासना को एक दूसरे का पूरक माना गया है। शंकराचार्य के मत में ध्यान एवं उपासना भक्ति के अभाव में सम्भव ही नहीं हो सकते। औपनिषदिक ऋषियों ने यह पाया कि निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म में ध्यान को अवस्थित नहीं किया जा सकता, उसके लिए उन्होंने 'प्रणव' या 'ऊँकार' की स्थापना की। साधक को पूर्णतः 'ऊँकार' अथवा 'प्रणव' में श्रद्धा होती है कि यह निर्गुण अरूप ब्रह्म का ही स्वरूप है, उससे पृथक् नहीं। इस प्रकार श्रद्धा ध्यान तथा उपासना के लिए एक आवश्यक तत्त्व है और शंकराचार्य प्रश्नोपनिषद् के भाष्य में कहते हैं कि – ब्रह्म अवांगमनस अगोचर है। इसकी अनुभूति उसी को हो सकती है जो 'प्रणव' के रूप में उसका ध्यान एवं उपासना करता है। 'ऊँकार या प्रणव विष्णु का ही रूप या वाचक माना गया है'[7]। ''इस प्रकार प्रकारान्तर से उन्होंने भक्ति को स्वीकार किया है। प्रश्नोपनिषद् के भाष्य में ही शंकराचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि – ''ऊँकार में ब्रह्मत्व के अभिधान का ज्ञान तभी संभव है जब उसे पूर्ण श्रद्धा एवं भक्ति के द्वारा जाना जाये[8]। इसी प्रकार केनोपनिषद् भाष्य, छान्दोग्य भाष्य, बृहदारण्यक भाष्य आदि में भी – 'श्रद्धा – भक्तिभ्यां भावविशेषेण ऊँकारे आवेशयति' आदि के द्वारा श्रद्धा और भक्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। स्पष्टतः ध्यान के लिए इन दो तत्त्वों को आवश्यक माना गया। 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' में भी उनका कथन है कि 'अपने वास्तविक स्वरूप को जानकर मुक्ति को प्राप्त किया जा सकता है लेकिन उसके लिए ईश्वर का अनुग्रह आवश्यक है[9]। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि मानसिक शुद्धिकरण या पापों से मुक्त होने की अथवा अज्ञान से निवृत्ति के लिए, साधना पथ पर सुचारू रूप से चलने के लिए एवं वैराग्य को जागृत करके परमसत्ता और गुरू के प्रति विश्वास को समृद्ध करने के लिए ही भक्ति को एक साधन के रूप में स्वीकार किया गया है।

आचार्य प्रवर के कुछ प्रसिद्ध स्तोत्रों के माध्यम से भी उनकी भक्ति–प्रवणता का दिग्दर्शन होता है। साधकों की क्षमता के अनुसार ही भक्ति को कर्म मिश्र, कर्मज्ञानमिश्र और ज्ञानमिश्र या निर्गुण भक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। यही ज्ञानमिश्र या निर्गुण भक्ति 'पराभक्ति' है जो कि उनके भाष्य और वेदान्त–प्रकरण में अनेक स्थानों पर लक्षित होता है। शंकराचार्य इस पराभक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता और शान्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन मानते हैं[10]। जीव और परमात्मा के एकत्वज्ञान अथवा उसकी अनुभूति ही 'पराभक्ति' है। सभी प्राणियों में उस परमात्मा को और परमात्मा में प्राणियों को देखने वाला ही वास्तविक रूप से भक्त है[11]। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भक्ति तभी उत्पन्न हो सकती है जब योग्य गुरू के द्वारा उपनिषदादि का अर्थात् ज्ञान की

प्राप्ति हो जाये। आत्मानुसंधान के लिए 'निदिध्यासन' शब्द का भी प्रयोग हुआ है जिसके लिए शंकराचार्य ने शुद्ध, परा अथवा ज्ञान–भक्ति का प्रयोग किया है। इस भक्ति के माध्यम से साधक इस संसार में ही सभी दुःखों एवं बंधनों से छूटकर जीवन्मुक्ति का अनुभव कर सकता है।

दक्षिणामूर्त्यष्टकम्, दशश्लोकी, परापूजा, कृष्णाष्टकम्, भजगोविन्दम्, हरिमींडे आदि स्तोत्रों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य ने भक्ति का पुट देकर ज्ञान (ब्रह्मात्मैक्य) का ही प्रतिपादन किया है। शिवपंचाक्षरस्तोत्र, वेदसारशिवस्तोत्रम् तथा 'शिवाष्टकम् में शिव के स्वरूप का ऐसा कोई पक्ष नहीं है जिसकी आचार्य ने वन्दना न की हो और उसे ब्रह्म से पृथक् भी नहीं माना है[12]। श्री दक्षिणामूर्त्यष्टकम्' में आठ स्तोत्रों में गुरूमूर्ति दक्षिणामूर्ति का स्तवन करते हुए अद्वैत–वेदान्त का अत्यन्त सारगर्भित विवेचन हुआ है जो अद्‌भुत है। पहली तीन पंक्तियों में सोपान–दर सोपान अद्वैततत्त्व की स्थापना की गई है और अंतिम पंक्ति में गुरू की वन्दना करते हुए उसे ह्रदयंगम करना ज्ञान और भक्ति का अद्‌भुत सम्मिश्रण प्रस्तुत करता है। 'दक्षिणामूर्तिस्तोत्र' में भक्त शिव से अपने अज्ञानान्धकार को दूर करने की प्रार्थना करता है[13]। इसी प्रकार 'दशश्लोकी' में विधि–निषेध के द्वारा आत्मतत्त्व का जो उपदेश किया गया है, वह अद्वितीय है[14]। निर्वाणषटकम्' के छह स्तोत्रों में भी सबका निराकरण करते हुए आत्मतत्त्वबोध कराते हुए कहा गया है कि मैं केवल चिदानन्द स्वरूप शिव हूँ[15]। इसी का ध्यान करना चाहिए। आत्मा भेदशून्य है, निराकार, सर्वव्यापी, निर्विकल्पक है, वही मैं हूँ जो शिवस्वरूप है[16]।

'भजगोविन्दम्' में थोथेज्ञान, सांसारिकता, अहंता–ममता से उत्पन्न भेदभाव की व्यर्थता समझाते हुए आत्मबोध के लिए, सत्यज्ञान प्राप्ति के लिए 'भजोगोविन्दम्, भजगोविन्दम् का उपदेश दिया गया है। उपनिषदों में वर्णित आत्मज्ञान और गीता के ज्ञानयोग को आचार्य ने भजगोविन्दनम् के माध्यम से अत्यन्त सरल और आकर्षक शैली में प्रस्तुत किया है। दूसरे और तीसरे स्तोत्र में वित्तैषणा और लोकैषणा जैसी दुर्बलताओं से मोहभंग करते हुए भजगोविन्दम् के माध्यम से आत्मज्ञान का उपदेश दिया है[17]। इस स्तोत्र में ज्ञान और भक्ति का सामन्जस्य है यद्यपि ज्ञान की प्रधानता है। 'कृष्णाष्टकम्' में भगवान् कृष्ण के सौन्दर्य और शरणागतवत्सलता को नमन करते हुए उनसे प्रगट होकर दर्शन देने की जो प्रार्थना की गई है वह किसी भक्त के भावातिरेक में की गई विनती से कम नहीं है– श्रीयुक्त , सर्वव्यापक, चराचरवपु, वेद–विषय, बुद्धि–स्वरूप, साक्षी, शुद्ध, असुरहन्ता, श्रीहरि, कमलनयन, गदा–शंख चक्रधारी, वनमालाधारी, अप्रतिम आभा एवं सौन्दर्य से युक्त, शरणगतवत्सल, तीनों लोकों के स्वामी श्रीकृष्ण मेरे नेत्रों के समक्ष प्रगट होकर दर्शन दें[18]। ऐसी मान्यता है कि इन स्तुतियों से प्रसन्न होकर यतिश्रेष्ठ शंकर के समक्ष स्वयं भगवान् प्रगट हुए थे।

'हरिमीडे' या 'हरिस्तुति' के प्रथम स्तोत्र में संसार का आदिकारण होते हुए भी जो स्वयं अनादि है, त्रिविध परिच्छेदशून्य हैं, जिनका साक्षात्कार करने पर यह संसारचक्र पूर्णतः नष्ट हो जाता है, ऐसे श्रीहरि विष्णु की स्तुति की गई है[19]। यहाँ विष्णु का तात्पर्य परम सत्ता रूप ब्रह्म ही है। तीसरे स्तोत्र में यह स्पष्ट भी हो जाता है– जो सर्वज्ञ है, समस्त प्रकृति में और उसके परे भी जो कुछ भी है, सबका अधिष्ठाता है, जो आनन्दस्वरूप, अनन्त गुणों से सम्पन्न, माया की उपाधि धारण करने वाला, एक होते हुए भी अनेक रूपों में दिखाई देता है, अचिंत्य, जो है भी और

नहीं भी है, संसाररूपी अंधकार को नष्ट करने वाले ऐसे श्रीहरि की मैं स्तुति करता हूँ[20]। ''छठवें स्तोत्र में वैराग्य, अभ्यास, निरन्तर ध्यान और दृढ़भक्ति के लिए जो साधना–क्रम बताया गया है वह प्रश्नोपनिषद के भाष्य में वर्णित 'प्रणव' के ध्यान के समकक्ष प्रतीती होता है– वाक् आदि इन्द्रियों को निरूद्ध कर तत्पश्चात् ओउम् का निरन्तर जप करते हुए, अन्तःकरण को ह्रदयस्थित ब्रह्म में अवरूद्ध कर, अन्य समस्त रूप, रसों को हृदय से बाहर कर फिर निरन्तर ध्यानावस्थित चित्त को 'अहं ब्रह्मास्मि' के चिन्तन में लीन कर, स्वयं–प्रकाश चिद्रूप सत्ता का ध्यान करते हुए जिन विष्णु का साक्षात्कार होता है मैं उसकी स्तुति करता हूँ[21]। ''तैतीसवें स्तोत्र में आचार्य श्री ने विष्णु के स्वरूप का जो वर्णन किया है, वह दर्शनीय है– इस कार्यकारण संघात रूपी देह के भीतर कौन ज्ञाता है? वह इन्द्रिय, प्राण, मन और शरीर नहीं है। इस प्रश्न पर भली–भांति विचारकर जो अपरोक्ष रूप से शरीर मन, बुद्धि आदि में सर्वव्यापी है, वही जाननेवाला, सुननेवाला और मन न करनेवाला है। इसको भली–भाँति समझकर जिस अन्तरात्मा के विषय में यह ज्ञान होता है कि 'मैं भी वहीं हूँ, उन्हीं संसार का मोहान्धकार नाश करनेवाले श्री हरि की मैं स्तुति करता हूँ[22]। स्पष्ट रूप से यहाँ ब्रह्मज्ञान की ही चर्चा की गई है लेकिन स्तुति के माध्यम से। यह स्तुति पराभक्ति स्वरूपा है।

ज्ञान तथा भक्ति के साथ शंकराचार्य एक साधक भी थे अर्थात् तंत्रविद्या के भी प्रकाण्ड मर्मज्ञ थे। सौन्दर्य–लहरी, प्रपंचसारतंत्र, ललितात्रीशती भाष्य आदि से यह स्पष्ट होता है। शाक्तमत के अंतर्गत 'श्रीविद्या' सम्प्रदाय से सम्बन्धित उनकी रचनायें प्रसिद्ध हैं। 'श्रीविद्या' वैदिक दृष्टि से भी माननीय है जिसमें श्रीविद्या आदि गायत्री का अत्यन्त गुप्त रूप है। श्री शंकरमठों में श्रीविद्या की उपासना तथा 'श्रीचक्र' का पूजन अभी भी प्रचलित है। बोधस्वरूप गुरू वस्तुतः बुद्धिरूपिणी शक्ति ही है। कहा गया है– चिति स्वतंत्रता विश्वसिद्धि हेतौ अर्थात् यही चितिशक्ति विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। बड़वानलतंत्र में कहा गया है कि ''एकैवाद्या जगत्सूतिः सच्चिदान्द विग्रहाः'' अर्थात् जगत् की उत्पत्ति का एक ही कारण है और वह है सच्चिदानन्द स्वरूप आद्याशक्ति। इस प्रकार भारतीय निगामगम में भगवती महादेवी को सच्चिदानन्द, सर्वात्मक, आराध्या एवं उपास्या माना गया है। इसी सन्दर्भ में आचार्य शंकर द्वारा ललितापंचरत्नम् कनकधारास्तोत्रम्, मीनाक्षीपंचरत्नम्, त्रिपुरसौन्दर्यष्टकम् आदि भी द्रष्टव्य हैं। पांच स्तोत्रों में श्री ललिता देवी का अत्यन्त मनोहारी वर्णन करते हुए कहा गया है कि उनके वैभव को वेद से ही जाना जा सकता है, ब्रह्माण्ड की स्थिति, सृष्टि और लय की वही कारण हैं, विद्या की अधिष्ठात्री देवी 'श्रीविद्या' हैं और वेद, वाणी तथा मन की गति से अति दूर भी हैं। ''मीनाक्षीपंचरत्नम्' में उनकी वन्दना करते हुए जो स्तोत्र कहा गया है वह शाक्तमतान्तर्गत स्वीकृत शक्ति का ही स्वरूप प्रदर्शित करता है। – वे श्रीविद्या हैं, भगवान शिव के वामभाग में विराजमान हैं और 'ह्रीं' बीजमंत्र से संयुक्त हैं। वे श्रीचक्र में अंकित केन्द्रबिन्दु के मध्य में निवास करती हैं[23]। ''त्रिपुरसौन्दर्यष्ठकम् में आठ स्तोत्रों के माध्यम से भगवती त्रिपुरसुन्दरी के सौन्दर्य और वैभव का वर्णन किया गया है। भागवत्पाद शंकराचार्य की आराध्या देवी त्रिपुरसुन्दरी हैं। त्रिपुरा के अनेक अर्थ हैं। प्रपंचसारतंत्र के नवम् पटल के द्वितीय पद्य में उनका वर्णन इस प्रकार किया गया है – वेदमयी होने के कारण त्रिपुरा हैं। एक अन्य पद्य में उनकी स्तुति इस प्रकार की गई है – हे त्रिमुखी, वेदत्रयीस्वरूपे, सत्व,

रज और तम इन तीन पुरों में निवास करने वाली, त्रिदेवों द्वारा वन्दित, त्रिमूत्तियों की मूलात्मक मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाइये[24]।" आचार्य शंकर ने इसी ग्रन्थ के आरम्भ में शारदा देवी की जो स्तुति की है वह उनकी तंत्रमर्मज्ञता का पूर्णतः परिचय दे देता है– अ, क, च, ट, त, प तथा य इन सात वर्णात्मक स्वर एवं व्यञ्जन वर्णों के द्वारा अपने मुख, चरण बाहु, कटिप्रदेश तथा हृदय की रचना करती हुई, समस्त प्रकार की स्वामिनी और इस विश्व को उत्पन्न करने वाली, नित्यसिद्धा भगवती आप साधकों के चित्त को पूर्ण शुद्धि प्रदान करें।[25]

सौन्दर्यलहरी का प्रथम स्तोत्र शाक्ताद्वैतवाद के पोषण के साथ ही भक्ति की चरमावस्था का भी द्योतक है, जहाँ आचार्य कहते हैं कि किसी भी शक्तिहीन देवता की आराधना नहीं की जा सकती। भगवान् शिव भी शक्ति समन्वित होकर ही सृष्टि रचना में समर्थ होते हैं। शक्ति ही ईश्वर के स्फुरणत्व का कारण है, इसलिए हे देवि! तुम ब्रह्मा, विष्णु और शिव की भी आराध्या हो। ऐसी देवी की स्तुति की क्षमता किसी पुण्यरहित प्राणी में कैसे हो सकती हैं। "तांत्रिक दृष्टि से इस श्लोक में 'हंस' मंत्र की सिद्धि मानी जाती है जिसके पलट देने से 'सोऽहं बन जाता है। इस 'सोऽहं' शब्द में से 'सः' एवं 'ह' वर्णों को पृथक् कर दिया जाये तो मध्य का 'ॐ' शब्द ही अवशेष रह जाता है। 'सोऽहं ब्रह्मात्मैक्य पद माना जाता है। 'हं' (शिवशब्द) और 'सः' शक्तिवाचक दोनों के सम्मिलित योग से 'हंसौ' बीज मंत्र होता है। इसमें शिव और शक्ति के प्रलयकालीन महासुप्तावस्था का दिग्शर्शन मिलता है जो सभी प्राणियों के श्वास निःश्वास में निरंतर चलता है[26]। तंत्रशास्त्र की गूढ़ता की व्यख्या के लिए यह श्लोक ही पर्याप्त माना जा सकता है। दूसरे से लेकर 21 वें श्लोक तक शक्ति की असीमता एवं देवी के शक्ति स्वरूप कुण्डलिनी आदि की चर्चा करते हुए बाइसवें श्लोक में आचार्य शंकर स्पष्ट रूप से कहते हैं कि हे भवानी, आप मेरे ऊपर अपनी करूण दृष्टि डाल दें, क्योंकि कोई मोक्षार्थी "भावानित्यं' इसका उच्चारण करे तो उसी क्षण उसे तुम्हारे सायुज्य पद की प्राप्ति हो जाती है। परब्रह्म का ऐक्य तो श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के पश्चात् ही प्राप्त होता है, लेकिन इस श्लोक में भगवती के अनुग्रह की श्रेष्ठता दिखलाते हुए कहा गया है कि उसकी कृपा–कटाक्ष के समक्ष और किसी साधन को अपनाने की आवश्यकता ही नहीं है। केवल उसके स्तवन से ही अनुग्रह प्राप्त होकर भक्त सायुज्य पद का अधिकारी हो जाता है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश अपने मुकुट के प्रकाश से इस पद की आरती किया करते हैं।[27]"

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य की दृष्टि में भक्ति हो अथवा साधना दोनों ही परमतत्त्व अथवा अद्वयतत्त्व की साक्षात् अनुभूति के ही माध्यम हैं। केवल आचार्य शंकर ही नहीं उच्चतम साधक सर्वत्र अद्वैत की भावना ही रखता है, द्वैत का नहीं। माहेश्वरतंत्र के ज्ञानखंड में शिव पार्वती से कहते हैं कि साधक को सदैव अद्वैत की ही भावना करनी चाहिए द्वैत की नहीं। द्वैत भावना रखने से संसार कभी निवृत्त नहीं होता[28]। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' यही तात्त्विक दृष्टि है, द्वैत–दृष्टि मात्र भम्र है। इसी सत्य की अनुभूति भक्ति एवं तांत्रिक दोनों ही दृष्टियों से की जा सकती है। इस प्रकार आचार्य शंकर के विचारों में ज्ञान, भावना एवं साधना इन तीनों का ही समन्वय स्पष्टतः परिलक्षित होता है, यद्यपि ज्ञान की प्रधानता सर्वत्र है।

❀ ❀ ❀

सन्दर्भ –

1. गोविन्द चन्द पाण्डेय – शंकराचार्य : विचार और सन्दर्भ – पृ. 23
2. वही –पृ. 31
3. वही– पृ. 84
4. वही– पृ 109
5. नारदभक्ति सूत्र – 6
6. विवेक चूड़ामणि – मोक्षकारणसामग्रयां भक्तिरेव गरीयसी।
   स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते। स्वात्मभिधीयते। स्वात्मतत्त्वानुसंधान भक्तिरित्य परे जगुः।
7. परं ही ब्रह्म शब्दद्यपलक्षणानर्हं सर्वधर्म विशेष वर्जित मतो न शक्यमतीन्द्रिगोचरत्वात् केवलेन मनसाऽगाहितुम्
   ऊँकारे तु विष्णवादिप्रतिमा स्थानीये भक्तयावेशित ब्रह्मभावे .... अवगम्यते–प्रश्नभाष्य –वी–2
8. वही – वी–1
9. तदनुग्रह हेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति–ब्रह्मसूत्रभाष्य – 2.3.41
10. Adya Prasad Mishra - The development and Place of Bhakit in Sankar vedant-p - 147
11. प्रबोध – सुधाकर – 183
12. शिवाष्टकम् – 7
13. उपासते यं मुनयः शुकाद्याः निराशिवो निर्ममताधिवासाः।
    तं दक्षिणामूर्त्तितनुं महेशमुपास्महे मोहमहार्तिशान्त्यै।।
    – दक्षिणामूर्ति स्तोत्र – 12
14. दशश्लोकी – 1 – 10
15. निर्वाणषटकम् – 3
16. वही – 4
17. भजगोविन्दम् – 2–3
18. कृष्णाष्टकम् – 1
19. हरिमीडे – 1
20. वही – 3
21. वही – 6
22. वही – 33
23. मीनाक्षीपंचरत्नम् – 3
24. प्रपंचसार तंत्र – 9–2
25. वही – 1.1 – सं प्रो. सुधाकर मालवीय
26. सौन्दर्यलहरी – 1– व्याख्याकार – पं. हरिहर प्रसाद त्रिपाठी – पृ.1
27. सौन्दर्यलहरी – 22
28. माहेश्वर तंत्र (ज्ञानखंड) – द्वैतभावनया नित्यं संसारो न निवर्तते। अयं
    ब्रह्माहरिरयं रूद्रोयमिति वै भिदा। यः पश्यति महेशानि तस्यकालकृतं यम्।। 48/34–36

अद्वैती भक्ति और आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डे

सच्चिदानन्द मिश्र

आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय का चिन्तन विविध आयामों को लिए हुए विकसित हुआ है, तथा दार्शनिक व ऐतिहासिक समस्याओं की जितनी गहरी समझ आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेयजी को है, वह कम ही व्यक्तियों में मिल पाती है। आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय का जो बहुआयामी चिन्तन है, वह उनके अग्रिम चिन्तन के लिए विविध नवीन द्वारों का उद्घाटन करता है। अनेक बार वे अपनी दृष्टि की सम्पन्नता के द्वारा प्राचीन आचार्यों के निष्कर्षों को नवीन आधार प्रदान करते दिखायी देते हैं तथा अनेक बार वे अपनी कुछ मौलिक उद्भावनाएँ प्रस्तुत करते हुए दिखते हैं।

भक्तिविषयक समस्या जितनी दार्शनिक समस्या है, उससे कहीं ज्यादा सांस्कृतिक व धार्मिक समस्या है। भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में धर्म व दर्शन के बीच का अन्तर उतना सुस्पष्ट नहीं दिखता, जितना कि पाश्चात्य दर्शन के विकास के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। पाश्चात्य दर्शन के लिए भक्ति की अवधारणा बहुत ज्यादा महत्त्व नहीं रखती दिखायी देती, जैसी कि भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में वह दिखती है। परन्तु धर्म के विषय में जब हम अपनी विचारदृष्टि को मोड़ते हैं, तो सेमेटिक धर्मों के परिप्रेक्ष्य में भी भक्ति की अवधारणा अत्यन्त आवश्यक तत्त्व के रूप में दिखायी देती है, क्योंकि सेमेटिक धर्मों का तो मूल ही आस्था में निहित दिखायी देता है तथा आस्था ही भक्ति का अन्तिम आश्रय है। आस्था के विना भक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। यह निश्चय ही अत्यन्त आश्चर्य का विषय होना चाहिए कि जिन धर्मों में आस्था का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिखायी देता है, उन धर्मों का विकास जहाँ पर हुआ है, उन्हीं देशों में विकसित होने वाले दर्शनों ने भक्ति को कोई अधिक महत्त्व नहीं प्रदान किया। इसके विपरीत भारतीय मूल के धर्म जहाँ आस्था से अधिक कर्तव्यों पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं, वहीं भारतीय मूल के दर्शनों में भक्ति का सिद्धान्त अत्यन्त प्रौढ़ रीति से सुचिन्तित तथा विकसित हुआ।

पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन को ही दार्शनिक विचारधारा का आदर्श मानने व उसीका अन्धानुसरण करनेवाले लोगों को यह निश्चय ही आश्चर्यजनक लगेगा, शायद उनको अद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य शंकर आदि के द्वारा सौन्दर्यलहरी, श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्र आदि की रचना का कोई उद्देश्य न दिखायी पड़े, क्योंकि एकमात्र तत्त्व को स्वीकार करने पर, समस्त विभेदों व द्वैतों का तिरस्कार कर देने पर उपासनादिरूप भक्ति का कोई स्थान आपाततः दिखायी तो नहीं देता। शायद वे इसी आधार पर कुछ नवीन सिद्धान्तों का भी निर्माण कर लें, शायद नवीन निष्कर्षों को भी निगमित कर लें। परन्तु भारतीय दार्शनिकपरम्परा से सुपरिचित व्यक्ति भारतीय दर्शनों की धर्मों के साथ निकटता को देखकर न तो भारतीय दार्शनिक चिन्तन को किसी भी रूप में पाश्चात्य चिन्तन से हीन मानता है, न तो हीन मानने का कोई कारण ही पाता है। अपितु भारतीय दार्शनिक चिन्तन की गम्भीरता व भारतीय दर्शनसम्प्रदायों की सुस्पष्ट बुनावट को देखकर भारतीय मनीषा के सामने नतमस्तक हो जाता है। इसी प्रकार धर्मविषयक तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले पाश्चात्य

दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

विद्वानों ने "केवल ईसाई धर्म ही एकमात्र पारमार्थिक धर्म है, बाकी अन्य तो धर्माभास हैं"[1] इस प्रकार के पूर्वाग्रह को लेकर धर्मविषयक तुलनात्मक विवेचन करने का प्रयास किया। इस कारण आस्था से सम्बन्धित विषयों पर भी दुराग्रहों की छाया पड़ी हुई दिखायी देती है। मोनियर विलियम्स अपनी पुस्तक 'हिन्दुइज्म' में हिन्दूधर्म के विषय में अपना जो विचार निष्कर्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं,[2] वह मन की आँखों को उद्घाटित कर देनेवाला है। आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय भारतीय व पाश्चात्य दोनों ही दर्शनपरम्पराओं के पारंगत विद्वान् थे, इस कारण इस विषय पर उनका चिन्तन अत्यन्त प्रौढ़ व दोनों दार्शनिक परम्पराओं की विचारशैली का अनुसरण करता दिखायी देता है। साथ ही साथ वह भक्तिविषयक दार्शनिक चिन्तन को अपने समूचे परिप्रेक्ष्य के साथ प्रस्तुत करता हुआ तर्कनिष्ठ दार्शनिकों को भी उससे परिचित कराने का सफल प्रयास करता है।

कर्त्तव्यमूलक वैदिक धर्मों से लेकर श्रद्धामूलक आधुनिक ईसाई आदि धर्मों तक में भक्ति का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, परन्तु इन समस्त धर्मों में विद्यमान भक्ति की अवधारणा भिन्न–भिन्न किस्म की दिखायी देती है। इस भक्ति के स्वरूप की विभिन्नता का कारण क्या है? यदि भक्ति की अवधारणा समस्त धर्मों में भिन्न–भिन्न किस्म की है, तो क्या उसमें कहीं समानता का कोई वस्तुगत आधार भी है? क्या फिर भक्ति की परिभाषा समस्त धर्मों में अनुगत भक्ति में समन्वित होनेवाली की जा सकती है? आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने समस्त धर्मों में भिन्न–भिन्न रूपों में स्वीकार्य भक्ति की अनुगत परिभाषा देने का प्रयास किया है। वे कहते हैं कि "श्रद्धा व सम्मानपुरस्सर मनुष्योत्तर देवतत्त्व में चित्त की नानाविध निजत्व कल्पना के साथ चित्त की संलग्नता ही भक्ति है"[3]। आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय इस प्रकार समस्त धर्मों में अनुस्यूत भक्ति की एक सार्वभौम अवधारणा या परिभाषा प्रस्तुत करने में सफल होते हैं। यह परिभाषा ईसाई, इस्लाम आदि सेमेटिक मूल के धर्मों पर तो लागू होती ही है, साथ ही साथ बौद्ध, जैन व सनातनधर्म के प्रभेदों पर भी लागू होती है। बौद्ध व जैन धर्म अपने मौलिक रूप में भले ही ईश्वर की सत्ता को न स्वीकार करते हों, परन्तु मनुष्योत्तर देवतत्त्व की सत्ता को वे भी क्रमशः बोधिसत्त्व व अर्हत् के रूप में स्वीकार करते ही हैं।

भक्तिविषयक विवेचन के क्रम में आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय भक्ति के तीन अंशों की चर्चा करते हैं भक्ति का विषय, आश्रय व सम्बन्ध। आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय का आशय है कि वस्तुतः इन तीनों की भिन्न तरह की कल्पना के कारण ही भक्ति का स्वरूप भिन्न–भिन्न धर्मों में भिन्न–भिन्न किस्म का दिखायी देता है । भक्ति के विषय से आशय उस मनुष्योत्तर देवतत्त्व से है, जो उपास्य है। भक्ति के आश्रय से आशय उस व्यक्ति से है, जो उपासक है। इन दोनों के मध्य का जो सम्बन्ध है, उसे ही सम्बन्ध कहा जा रहा है। इन तीनों की ही विभिन्नता भक्ति के स्वरूप में विभिन्नता का प्रतिभास कराती है।

भक्ति के विषय की कल्पना कहीं पर निराकार रूप में दिखायी देती है, तो कहीं पर साकार। ईसाई, इस्लाम तथा सनातन धर्म की अनेक उपासनापद्धतियों में भक्ति के विषय ईश्वर की कल्पना निराकार रूप में ही अधिक दिखायी देती है। इसके विपरीत सनातन धर्म की विभिन्न उपासनापद्धतियाँ ईश्वर की साकार कल्पना को अपना विषय बनाती हैं। भागवत, शैव, शाक्त आदि परम्पराओं के अनुसार ईश्वर की विष्णु, शिव या देवी के रूप में स्तुति व उपासना साकार उपास्य

की ओर ही संकेत करती दिखायी देती है। बौद्ध व जैन धर्मों में भी भक्ति का विषय बनने वाला ईश्वर स्थानापन्न बोधिसत्त्व व अर्हत् साकार ही है। ईश्वरावतार के रूप में राम, कृष्ण, हनुमान आदि की उपासना भी साकारोपासना ही है। इस प्रकार भक्ति के विषय के भेद की कल्पना अन्य–अन्य धर्मों में तथा एक धर्म में भी दिखायी देती है। इसी तरह भक्ति का आश्रय भी भिन्न–भिन्न धर्मों में भिन्न–भिन्न किस्म का दिखता है। ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों में मनुष्य ही भक्ति के आश्रय के रूप में स्वीकारा जाता है, परन्तु सनातन धर्म की अनेक शाखाओं में जीव, तथा कहीं चित्त को भी भक्ति के आश्रय के रूप में स्वीकार किया गया है।[4] भक्ति के विषयभूत लोकोत्तर देवतत्त्व के स्वरूप में विभिन्नता की स्वीकृति तथा भक्ति के आश्रय जीव–मनुष्य आदि के स्वरूप में विभिन्नता की स्वीकृति के समान भक्तिविषय व भक्त्याश्रय के मध्य सम्बन्ध भी भिन्न प्रकार के स्वीकार किये जाते हैं। कहीं भक्तिविषय देवतत्त्व तथा भक्त्याश्रय जीव के मध्य स्वामी व दास का भाव स्वीकारा जाता है, कहीं पर पिता व पुत्र का, कहीं मित्र का और कहीं अन्यत्र किसी अन्य तरह का भाव भी स्वीकार किया जाता है।

आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय भक्ति के साधक अंगों को तीन त्रिकों के रूप में परिगणित व विभाजित करते हैं 1. भक्ति का विषय, भक्ति का आश्रय तथा विषय व आश्रय का सम्बन्ध। 2. कर्मसाधन, ज्ञानसाधन व भावसाधन, तथा 3. प्रवृत्ति, अभ्यास तथा सिद्धावस्था[5]।

यह भक्ति साध्यरूपा भी है तथा साधनरूपा भी। साध्य के रूप में चिन्त्यमान भक्ति पुरुषार्थ के रूप में सामने आती है, तथा साधन के रूप में चिन्त्यमान भक्ति पुरुषार्थसाधन बनती है। उभयथा ही भक्तिविषयक चिन्तन पुरुषार्थमीमांसीय चिन्तन के रूप में सामने आता है। इसी कारण आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय कहते हैं कि "इस प्रकार भक्तिदर्शन मूलतः पुरुषार्थमीमांसा ही हो जाता है"[6]। परन्तु यदि भक्तिमीमांसा पुरुषार्थमीमांसा है तो भक्ति का अन्तर्भाव किसी न किसी पुरुषार्थ में होना चाहिए। कौन सा वह पुरुषार्थ है जिसमें भक्ति का अन्तर्भाव किया जाये? चार पुरुषार्थों में अर्थ व काम रूपी पुरुषार्थ के साधन व साध्य दोनों ही दृष्ट हैं, परन्तु भक्ति के द्वारा साध्य व साधन दोनों ही दृष्ट नहीं हैं, इस कारण इसका अन्तर्भाव या तो धर्म में या तो मोक्ष में ही हो सकता है। आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय का मत है कि भक्ति को आपाततः धर्म में ही गिनना चाहिए[7]। परन्तु भक्ति व धर्म के इस तादात्म्य से वह स्वयं सहमत नहीं हैं। इसी कारण वे कहते हैं कि वस्तुतः धर्म व मोक्ष का भेद भी पारमार्थिक नहीं है[8]। हम धर्म व मोक्ष का भेद पारमार्थिक है, ऐसा मानकर चलते हैं, जो कि सही नहीं है क्योंकि अध्यात्मसाधनों में साध्यसाधनभाव भी व्यंग्यव्यंजकभाव से अधिक नहीं होता है। निष्कर्ष के रूप में देखा जाये तो भक्ति द्विविध है साधनात्मिका भक्ति तथा साध्यात्मिका भक्ति[9]। साधनात्मिका भक्ति का अन्तर्भाव धर्म में तथा साध्यात्मिका भक्ति का अन्तर्भाव मोक्ष में करना ही तर्कसंगत है[10]।

वस्तुतः आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय जी की अपनी दृष्टि अद्वैतदर्शन की परम्परा के अत्यन्त समीप है, मेरा तो यह मानना है कि अद्वैतदर्शन की कुछ नवीन व्याख्या आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय करते हैं। इस कारण अद्वैत के परिप्रेक्ष्य में समस्त द्वैत तो कल्पना द्वारा ही प्रसूत है। अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार तो भगवान् व भक्त का भेद पारमार्थिक कतई नहीं हो सकता है। इस कारण सामान्य तर्कबुद्धि के अनुसार उपर्युक्त आपत्तियाँ कुछ ज़्यादा ही गम्भीर किस्म की दिखायी

देती हैं, तथा ऐसा लगता है कि अद्वैतसिद्धान्त को मान लेने पर भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं बचेगा। अद्वैत तो समस्त द्वैतों को निषिद्ध करता है, इस कारण भक्त व भगवान् का द्वैत भी वह स्वीकार न करेगा। तो भक्ति के लिए स्थान कहाँ? यही कारण है कि अद्वैतवेदान्त को भी पाश्चात्य दर्शनों के समान बौद्धिक बाजीगरी मात्र मानने वाले लोग आश्चर्यचकित हो जाते हैं, जब वे देखते हैं कि आचार्य शंकर जहाँ अपने दार्शनिकसिद्धान्त के रूप में अद्वैत को प्रतिष्ठापित करते हैं, वहीं श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्र, सौन्दर्यलहरी आदि में उपासना व स्तुति की तरफ झुके हुए दिखते हैं। उनके लिए यह सब एक अबूझ पहेली की तरह सामने आता है कि जो किसी भी द्वैत को नहीं मानता है, वह किस प्रकार उपासना कर सकता है?

इसका समाधान स्वयं आचार्य शंकर के ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है, तथा परवर्ती शिष्यपरम्परा में भी। आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय उसको ही कुछ नयी शैली में पुष्ट कर रहे हैं। साध्य व साधन के रूप में भक्ति का भेद कर आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय व्यावहारिक स्तर पर भक्ति को साधन के रूप में उपस्थापित कर रहे हैं, तथा पारमार्थिक स्तर पर उसको साध्य के रूप में। व्यवहार व परमार्थ का भेद अद्वैतदर्शन में आधारभूत प्रतिष्ठापना के रूप में स्वीकार्य है। आचार्य शंकर "विवेकचूड़ामणि" में मोक्ष के साधनों में भक्ति को सर्वप्रथम स्थान पर रखते हैं। तथा वे कहते हैं कि "मोक्ष की साधनसामग्री में भक्ति ही सबसे ज़्यादा श्रेष्ठ है, परन्तु वह भक्ति क्या है अपने स्वरूप का अनुसन्धान ही भक्ति है"[11]। इस प्रकार भक्ति की साध्यरूपता तथा साधनरूपता दोनों ही आचार्य शंकर को स्वीकार्य है।

अग्रिम प्रश्न यह है कि एक ही भक्ति साध्य व साधन के रूप में किस प्रकार व्यवस्थापित की जा सकती है? इसमें तीन विकल्प हो सकते हैं 1. भक्ति ईश्वर की प्रसन्नता का कारण है, तथा वह ईश्वरप्रसाद ज्ञान का कारण होता है। 2. भक्ति ही चित्त को प्रसन्न व शान्त करती हुई ज्ञानप्राप्ति का आसन्न कारण है। 3. भक्ति ही दर्शनाकारता को प्राप्त करती है।

इसमें प्रथम भक्ति भगवद्भजन कर्मरूपा है। इस पक्ष में भक्ति कर्मरूपा होती है। द्वितीय पक्ष मानने पर ईश्वराभिमुख करती हुई भक्ति विषयनिवृत्तिरूपा हो जाती है, इस कारण न तो वह क्रियारूप होती है और न ही ज्ञानरूपा। ज्ञान व क्रिया दोनों से ही भिन्नस्वभावा भक्ति इस पक्ष में होती है। तृतीय विकल्प के अनुसार तो भक्ति स्वयं दर्शनाकारता को प्राप्त करती है, इस कारण भक्ति व ज्ञान में कोई अन्तर नहीं शेष बचता है। इस प्रकार आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय भक्ति की साध्य व साधनरूपता दोनों को व्यवस्थापित करने में सक्षम होते हैं। इन तीनों ही विकल्पों की संगति सम्भव है। अद्वैत के अनुसार ईश्वर की सत्ता पारमार्थिक न होने पर भी ईश्वर असत् नहीं है, व्यावहारिक सत्ता ईश्वर की स्वीकार्य है। जीव व ईश्वर दोनों की ही सत्ता व्यावहारिक रूप से स्वीकार की जाती है। इस कारण व्यवहार काल में ईश्वर की संतुष्टि व प्रसन्नता भक्ति के द्वारा सम्पादित की जा सकती है। परमार्थतः तो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव आत्मतत्त्व से अतिरिक्त किसी अन्य के न होने के कारण भक्ति भी उस ज्ञान से अतिरिक्त नहीं ही है। इसी कारण आचार्य शंकर से भी पूर्व अष्टमूर्त्युपासना की बात जो कि आगमों से प्रचलित है, उसका उसी रूप में वन्दन महाकवि कालिदास अपने "अभिज्ञानशाकुन्तल" के प्रारम्भ में मंगलाचरण के माध्यम से करते हैं। भूमि, जल, वायु, तेज, आकाश, सूर्य, चन्द्र और स्वयं ज्ञाता ये आठ मूर्तियाँ उस उपास्य ईश्वर की

हैं। स्वयं शंकराचार्य श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्र में इन्हीं अष्टमूर्तियों की वन्दना करते दिखते हैं "भूमि, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्र व ज्ञाता पुरुष यह चराचरात्मक जगत् जिसकी आठ मूर्तियों के रूप में प्रतिभासित होता है, विचार करने पर जिस विभु से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, उस गुरुमूर्ति श्रीदक्षिणामूर्ति को प्रणाम है"[13]। अद्वैतपरम्परा के लिए वस्तुतः यह अष्टमूर्त्युपासना भक्ति की ही एक विधा के रूप में सामने आती है। यह ज्ञानप्राप्ति के उपरान्त जीवन की जो शैली होती है, उसका सङ्केत देती है।

भक्ति के विषय लोकोत्तर देवतत्त्व के विषय में अनेक विप्रतिपत्तियाँ सम्भाव्य हैं। क्या लोकोत्तर देवतत्त्व वास्तविक है या अवास्तविक? क्या लोकोत्तर देवतत्त्व उपासक मनुष्य के समान है या असमान? इसी प्रकार अनेक विप्रतिपत्तियाँ उपासक के विषय में भी उपस्थित होती हैं कि क्या वह उपासक जीव मरणधर्मा है या नहीं? क्या वह नित्य, चैतन्यस्वरूप है या क्षणिक विज्ञानसन्तानस्वरूप ? शरीरातिरिक्त है या शरीराभिन्न ?

आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय भक्तिविषयीभूत लोकोत्तर देवतत्त्व के बारे में विप्रतिपत्तियों को संकलित कर पाँच प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ ही सम्भव हैं, ऐसा प्रस्ताव करते हैं। वे पाँच विप्रतिपत्तियाँ हैं –

1. भक्तिविषय लोकोत्तर देवतत्त्व अज्ञान से जायमान विकल्पमात्र है और भक्ति उस विकल्प से जन्य मिथ्याज्ञानमात्र है[14]। इस विप्रतिपत्ति का अभिप्राय है कि वस्तुतः लोकोत्तर देवतत्त्व कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, केवल शब्दमात्र है, जो कि मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करता है। विकल्प वह मानसिक कल्पना से उत्पन्न ज्ञान है, जो किसी बाह्य वस्तु के साथ अपनी संगति की अपेक्षा नहीं करता है। यह विप्रतिपत्ति लोकोत्तर देवतत्त्व को कल्पनाप्रसूत बतलाती हुई उसके वास्तविक अस्तित्व का अपलाप करती है। यह विप्रतिपत्ति शुष्कतर्कपरायण व चार्वाकपरम्परावादी के दृष्टिकोण से उठायी गयी है, जो किसी भी लोकातीत वस्तु की सत्ता को नहीं स्वीकार करती है।
2. भक्तिविषय लोकोत्तर देवतत्त्व लोक व शास्त्रादि की परम्परा के द्वारा पोषित संकेतमात्र है, तथा भक्ति लोकसिद्ध भाव की पोषक साधनविशेष ही है[16]। प्रथम विप्रतिपत्ति की अपेक्षा इस विप्रतिपत्ति में अन्तर इतना है कि प्रथम विप्रतिपत्ति जहाँ ईश्वर या लोकोत्तर देवतत्त्व को समग्रतया कल्पनाप्रसूत घोषित करती हुई उसे कोई आधार नहीं प्रदान करती, वहीं यह द्वितीय विप्रतिपत्ति लोकोत्तर देवतत्त्व को लौकिक व शास्त्रादि की परम्परारूपी आधार प्रदान करती है। परन्तु ईश्वर को वस्तुसत् मानने का पक्ष इस विप्रतिपत्ति में भी नहीं है। यह विप्रतिपत्ति लोकोत्तर देवतत्त्व को कल्पनाप्रसूत न बतलाती हुई भी उसके वास्तविक अस्तित्व का निषेध करती है। यह विप्रतिपत्ति मनोवैज्ञानिक आधार पर समस्त घटनाओं की व्याख्या करने का प्रयास करनेवाले आधुनिक विद्वानों के दृष्टिकोण से उठायी गयी है। ये विद्वान लोकातीत वस्तु की सत्ता का निषेध तो नहीं करते, परन्तु लोकातीत को ज्ञेयता की परिधि से बाहर रखने का आग्रह करते हैं।
3. भक्तिविषय ईश्वर वस्तुसत् है, परन्तु वस्तुसत् होने पर भी वह ईश्वर भजनीय नहीं है। क्योंकि संसार की रचना के कारण प्राणियों के प्रति उसकी वैषम्यभावना व निष्करुणता प्रकट रूप

से सिद्ध है[17]। जो निष्करुण है, उससे की जानेवाली प्रार्थना कभी भी फलवती नहीं हो सकती, इस कारण भक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। यह विप्रतिपत्ति न्यायदर्शनानुसारी ईश्वर, ईसाई व इस्लाम के ईश्वर को दृष्टि में रखते हुए उठायी गयी है। इन परम्पराओं में ईश्वर को इस संसार का कारण माना गया है। परन्तु विषम संसार की सृष्टि करने के कारण इस संसार के निर्माता ईश्वर की निष्करुणता ही प्रमाण से पुष्ट होती है, तो फिर वह क्यों कर भजन का विषय हो सकेगा?

4. भक्ति का विषय ईश्वर जीवात्मा से अन्य नहीं है, इस कारण भले ही वह वस्तुसत् हो, परन्तु भजन का विषय तो नहीं हो सकता है[18]। जिस प्रकार अन्य भाव अप्राप्त को विषय करते हैं, उसी प्रकार भक्ति को भी प्राप्त सें इतरविषयक ही होना चाहिए। इस कारण ईश्वर को जीव से अभिन्न होने की दशा में भी भक्ति की कोई उपयोगिता नहीं दिखायी देती है। यह आपत्ति भारतीय दर्शनपरम्परा में अद्वैतपरम्परा के ईश्वर की अवधारणा पर व पाश्चात्य परम्परा में स्पिनोजा आदि के द्वारा स्वीकृत ईश्वर की अवधारणा पर विशेष रूप से लागू होती है।
5. ईश्वर समस्त गुणों का आश्रय है, तो भी वह ईश्वर तो ज्ञानी है, वीतराग है, वह न तो किसी पर कोई कृपा करेगा, न तो अनुग्रह[19]। फिर भक्ति की इस पक्ष में भी क्या उपयोगिता है? यह आक्षेप भागवत सम्प्रदाय आदि में स्वी.त ईश्वर की अवधारणा पर उपस्थापित किया गया है।

ये जो पक्ष भक्ति की सार्थकता की असम्भाव्यता को उपस्थापित करने के लिए प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें समस्त पक्षों का अन्तर्भाव हो जाता है। वस्तुतः इन समस्त पक्षों को एक साथ क्रमशः उठाकर इन सभी पक्षों में भक्ति की सार्थकता की असम्भाव्यता दिखाने का तात्पर्य इससे ही है कि भक्ति की सार्थकता की असम्भाव्यता जितनी अद्वैतवाद को मानने पर दिखायी देती है, अन्य सिद्धान्तों को स्वीकार करने पर भी भक्ति की सार्थकता की असम्भाव्यता किसी भी तरह कम नहीं होती, बल्कि अन्य सिद्धान्तों को स्वीकार करने पर भक्ति की सार्थकता की असम्भाव्यता पहले से अधिक ही होती है। जो उत्तर भक्ति की सप्रयोजनता को प्रदर्शित करने के लिए वस्तुसत् ईश्वर को स्वीकार करनेवाले इन सम्प्रदायों के आचार्यों के द्वारा दिया जायेगा, अद्वैतवाद के पक्ष से उससे अधिक तर्कसंगत समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है।

इसी प्रकार भक्ति के आश्रय के विषय में भी विप्रतिपत्तियाँ सम्भावित हैं –

1. अगर शरीर ही आत्मा है, शरीर से अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है, तो कोई भी लोकातीत उद्देश्य भक्ति के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता है। फिर भक्ति की क्या आवश्यकता है?[20]
2. शरीर को ही आत्मा मानने पर भी लौकिक जीवन में अभ्युदय की प्राप्ति के लिए भक्ति की जाती है, तो भक्ति का उद्देश्य तो दिखाया जा सकेगा, परन्तु भक्ति का जिस रूप में वर्णन शास्त्रकारों ने किया है कि "भक्ति अनन्यपरक होती है"[21] उसका तो विरोध होगा। ऐसी स्थिति में भक्ति अन्यार्थक हो जायेगी, ऐकान्तिक न रहेगी[22]।
3. अगर शरीर से अतिरिक्त आत्मा है, तो भी मुक्तात्मा की जैसी ज्ञान, इच्छा, सुख आदि से रहित अवस्था स्वीकार की जाती है, उसमें वह किस प्रकार से भक्ति का आश्रय हो सकता है?[23]

4. अगर आत्मा ज्ञानात्मक हो, तो भी उस ज्ञान का कोई विषय मोक्ष की अवस्था में सम्भव नहीं है। इस कारण आत्मा भक्ति का आश्रय नहीं हो सकता है[24]।
5. आत्मा अगर ईश्वर से भिन्न है, तो तटस्थ होगा। अगर ईश्वर से अभिन्न है तो ईश्वरात्मक होने के कारण भक्ति की कोई सम्भावना नहीं बनेगी[25]।

ये पूर्वपक्ष भी इस बात को सम्यक्तया प्रदर्शित करते हैं कि भक्त होने के लिए भी केवल ईश्वर से अतिरिक्त होने से काम नहीं चल सकता है, बल्कि भक्त को ईश्वर से अतिरिक्त मानने पर भी समस्या कुछ ज्यादा उलझी हुई सामने आती है।

इस रीति से पूर्वपक्ष को उपस्थापित करने के उपरान्त आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय प्रथम व द्वितीय समस्या को निराधार सिद्ध करने के लिए अपना पक्ष रखते हैं कि भक्ति क्या है? "प्रधानतया भक्ति ज्ञान से भिन्न मनोवृत्तिरूपा है"[26] ज्ञान होने के लिए उसके विषय का सत्य होना आवश्यक है[27], क्योंकि ज्ञान वस्तुतन्त्र होता है। बिना वस्तु के ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। परन्तु मनोवृत्तियों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उनका विषय सत्य ही हो। विषय के कल्पित होने पर भी जिस प्रकार नाट्य आदि में विविध भावों का प्रवर्तन सम्भव हुआ करता है, उस प्रवर्तन से व्यक्त आनन्दानुभव भी करता ही है। उसी प्रकार भक्ति में भी विषय का सत्य होना आवश्यक नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि विषय के वस्तुसत् होने पर भी विषय क्या स्वरूपतः भाव का आलम्बन बनता है या प्रतीयमान रूप से बनता है? रस्सी स्वरूपतः उपादेय होने पर भी सर्प के रूप में प्रतीत होती हुई भय का कारण बनती है। इस कारण निष्कर्ष यही है कि वस्तु की सत्ता होना उस वस्तु के विषय में मनोवृत्ति का उत्पादन होने के लिए आवश्यक नहीं है। वस्तु के सत् हुए विना भी बहुधा मनोवृत्तियाँ होती हुई देखी जाती हैं। पूर्वानुभूत वस्तुविषयक संस्कार से वस्तु के स्मरण के द्वारा भी मनोवृत्तियाँ अबाध रूप से होती हैं। स्मृति अनेक बार भावना के बल से अपने विषय को प्रत्यक्ष के समान उपस्थापित करने में सक्षम है, जैसा कि वह स्मृति स्वप्नादि की अवस्था में करती है। चित्रगत रूपादि में विषयाकार विषयों के न रहने पर भी उनसे से सम्प्रयुक्त भाव उत्पन्न होते ही हैं। वस्तुतः भक्ति को अगर ज्ञान के रूप में देखा जाये तो ज्ञान के वस्तुतन्त्र होने के कारण विषय के होने पर ही वस्तु का ज्ञान होना सम्भव होने के कारण भक्ति सम्भव नहीं होगी यदि उसका विषय काल्पनिक है। परन्तु भक्ति तो ज्ञान के वर्ग में आती नहीं है। यह तो मनोवृत्तिरूप है।

चित्त की दो अवस्थायें हैं– भाव व ज्ञान। काम आदि तापकों के संयोग से जन्य चित्त का द्रवीभाव भाव कहलाता है। तथा विषयमात्र के संयोग से जन्य जो चित्त का शिथिलीभाव है, वह ज्ञान कहलाता है।[28] ज्ञान अपने विषय के वस्तुसत् होने की अपेक्षा करता है। मनोवृत्तिरूप भक्ति अपने विषय के वस्तुसत् होने की अपेक्षा नहीं करती है। इस प्रकार भक्ति के ज्ञानात्मक न होने के कारण भक्ति के लिए विषय का सत् होना किसी भी तरह से आवश्यक नहीं है। भक्ति को तो ज्ञानपक्ष से उठाकर भावपक्ष में रख दिया गया है, इस कारण भक्ति का विषय भी भाव्याकारमात्रविश्रान्त होता हुआ सत् व असत् विवेचन से नितान्त निरपेक्ष होता है[29]। संशयादि से मुक्त विश्वासमात्र का आश्रय ग्रहण करती हुई भावप्रधान भक्तिरूपा मनोवृत्ति सद्विषय का ही अवधारण करती हो, ऐसा नहीं है। काल्पनिक विषय का ग्रहण करती हुई भक्ति भी फलवती हो सकती है।

तार्किक दृष्टि से ईश्वर के संशयित होने पर भी श्रद्धा के बल से उस संशय को रोककर ईश्वर की आख्यायिका आदि का श्रवण, स्मरणादि के माध्यम से प्रवर्तमान भक्तिरूपी धर्म अपने प्रभावी होने के लिए तात्त्विकता की अपेक्षा नहीं करता। यहाँ तक कि भावानुकीर्तनादिरूप भक्तिसाधनों में भक्तिविषय ईश्वर के वस्तुसत् होने की अपेक्षा कहीं पर भी होती नहीं है। इस कारण भक्तिविषय लोकोत्तर देवतत्त्व का अवस्तुत्व भी किसी प्रकार भक्तिसाधन का बाध नहीं कर सकता। अर्थक्रियासमर्थ विषय का ही उपयोग किया जाता है, वह अर्थक्रियासामर्थ्य अगर अवस्तुसत् में भी अवधारित होता हो, तो क्या असुविधा है?

वस्तुतः तो ईश्वर को अवस्तुसत् स्वीकार करने पर ही भक्ति की व्याख्या ज्यादा संगत तरीके से की जा सकती है। वस्तुसत् ईश्वर को स्वीकार करने पर उस ईश्वर में वैषम्य, नैर्घृण्य आदि की सम्भावना निश्चय ही आयेगी। भक्ति का विषय बननेवाले पारमार्थिक ईश्वर का अन्वेषण करने का प्रयास हमें केवल वस्तुशून्यत्ववाद की ओर ही ले जाता है[30]। उस वस्तुशून्यत्ववाद के आलोक में तो ईश्वर शब्द का अर्थ भी एक विकल्प के अलावा अन्य कुछ भी नहीं हो सकता।

ईश्वर की पारमार्थिक सत्ता को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये जानेवाले नैयायिकों आदि के अनुमानप्रयोग भी केवल एक सम्भावना का प्रत्यय कराने में सक्षम हैं, किसी निश्चय को उत्पन्न करने में नहीं। पाश्चात्य दार्शनिक कांट ने युक्तिसंगत रूप से व्यवस्थापित किया है कि कार्यकारणभाव का नियम वस्तुतः अनादिवासनाविकल्प होने के कारण प्रतिभास के विषय को ही व्याप्त करता है, वह वस्तु के याथात्म्य का व्यवस्थापन नहीं कर सकता है[31]। बौद्ध विद्वान् नागार्जुन ने भी कार्यकारणभाव का निषेध करते हुए जगत् के सादित्व व अनादित्व के प्रश्न को अनुत्तरणीय प्रश्न के रूप में ही व्यवस्थापित किया है। इस कारण भक्ति के विषय की पारमार्थिक सत्ता का विचार करना हो तो उसमें कहीं पर भी अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा ईश्वर की सत्ता को निगमित कर पाना सम्भव नहीं दिखता। इसी कारण वेदान्त परम्परा में आने वाले समस्त आचार्य ईश्वर की सिद्धि अनुमान से नहीं करते, बल्कि आगम से ही ईश्वर की सिद्धि मानते हैं।

व्यवहार व परमार्थ के भेद को दृष्टि में रखते हुए संसार को विवर्तात्मक मानना तथा परमार्थतः ब्रह्म की ही सत्ता को स्वीकार करना उचित है। इस रीति से विविध विचारों के क्रम में भारतीय व पाश्चात्य उभय परम्पराओं के भिन्न–भिन्न दार्शनिकों के मतों को आलोचित, विवेचित व फिर असन्तोषजनक पाते हुए अद्वैतपरम्परा के मान्य सिद्धान्तों को ही सुसंगत पाते हुए आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय व्यवस्थापित करते हैं कि "इस कारण भक्ति का विषय जगत्कर्ता जगत्समसत्ताक ईश्वर नहीं है, अपितु जगत् में आभासमान निरतिशय सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम श्रद्धाविश्वासपूर्वक आगम के द्वारा तथा महान् लोगों के संग के द्वारा लक्षणीय है, तथा उपासना करने पर स्वयं के द्वारा भी अपरोक्षतया वेद्य है।"[32] इस प्रकार से भक्ति का विषय क्या है? इस सन्देह का निवारण भी हो जाता है।

भक्ति का आश्रय भी वस्तुतः परमात्मा से अभिन्न जीव ही है। अद्वैत की परम्परा जिस प्रकार से आत्मा व परमात्मा का अभेद स्वीकार करती है, ब्रह्म की एकमात्र सत्ता को स्वीकार करती है। उसी धरातल पर निष्कर्ष के रूप में आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय भी पहुँचते हैं। जीव व ईश्वर के सम्बन्ध को लेकर जो प्रश्न उठते हैं, उसका समाधान आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय देते हैं कि

भक्ति तीन प्रकार की होती है कर्मलक्षणा भक्ति, ज्ञानलक्षणा भक्ति तथा भावलक्षणा भक्ति। कर्मलक्षणा भक्ति प्रस्थान के भेद से पारमार्थिक या आहार्य द्वैत को आश्रित करके प्रवृत्त होती है। विना द्वैत के पूजन, पादसेवन इत्यादिरूपा भक्ति सम्भव नहीं। ज्ञानलक्षणा भक्ति अनायास ही अभेद का ही आलम्बन ग्रहण करती है। भावात्मिका भक्ति तो भेदाभेद को लेकर चलती है क्योंकि सर्वथा अभेद के होने पर भाव के लिए कोई अवकाश नहीं है और सर्वथा भेद के रहने पर भी भाव के लिए कोई अवकाश नहीं है[33]। इसमें ज्ञानलक्षणा भक्ति वस्तुतः साध्यरूपा है, इस कारण उसी की प्रधानता है। साधन व साध्य में निश्चय ही साध्य की प्रधानता स्वीकार करनी चाहिए।

आचार्य शंकर के मत में भक्ति का समावेश ज्ञान व कर्म में होता है। इस प्रकार भक्ति दो प्रकार की ही हो सकती है– कर्मलक्षणा भक्ति जो कि साधन बनती है तथा ज्ञानलक्षणा भक्ति जो कि साध्यात्मिका है। रामानुजाचार्य तो परमपुरुषार्थरूप मोक्ष के साधन के रूप में वेदान्तों के द्वारा प्रतिपादित ज्ञानकर्म से अनुगृहीत भक्तियोग को ही स्वीकार करते हैं[34]। मध्वाचार्य भक्ति को ज्ञानात्मक मानने का पक्ष रखते हैं।[35] आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय आचार्य शंकर, रामानुज व मध्वाचार्य के सिद्धान्तों में पर्याप्त भिन्नता देखते हुए भी अन्ततः इन तीनों के मतों में एक साम्य पाते हैं। वह साम्य यह है कि इन तीनों के मतों में भक्ति को ज्ञानप्राप्ति का साधन माना गया है।

भक्ति में प्रमाण क्या है? अगर यह प्रश्न किया जाये तो आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय का कहना है कि भक्ति के विषयों में प्रमाण वस्तुतः भक्ति ही है[36]। इसमें कोई तार्किक प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। इसका कारण यह है–शुष्क तार्किक प्रमाणों का अन्वेषण करने के प्रयास में हम हमेशा अपने तार्किक प्रयास की शुरुआत किसी न किसी अभ्युपगम से करते हैं, किसी न किसी मूल प्रतिपत्ति से करते हैं। परन्तु वह मूल अभ्युपगम, वह मूलप्रतिपत्ति कभी भी प्रमाण या युक्ति से साध्य नहीं होती, बल्कि अन्य युक्तियों की नियामिका ही होती है। वस्तुतः इसी कारण समस्त दार्शनिकों के सिद्धान्त भेद होते हैं। इसीलिए परस्पर दार्शनिकसम्प्रदायों के द्वारा निरन्तर एक दूसरे के सिद्धान्तों का खण्डन–मण्डन करने पर भी समानान्तर रेखाओं के समान विविध दिशाओं में अलग–अलग विकसित विभिन्न दर्शनसम्प्रदाय अपराजित व अविजित ही प्रवृत्त हैं, उनका खण्डन वस्तुगत रूप में नहीं हो पाता। इस कारण भक्ति के विषय में क्या प्रमाण है? इस कारण शुष्क प्रमाण के विषय में प्रश्न करना उचित नहीं होगा। भक्ति स्वयं ही भक्ति के विषय में प्रमाण है। वही भक्ति भक्त व भगवान् के स्वरूप का प्रकाशन करती है। इसी कारण वस्तुतः भक्ति का साध्य व साधन के रूप में विभाग करना सङ्गत दिखता है। साधनात्मिका भक्ति प्रमाण तथा साध्यात्मिका भक्ति प्रमेय के रूप में सामने आती है। नितान्त निर्गलित भेद अद्वैततत्त्व में परमार्थतः तो प्रमाणप्रमेय विभाग भी सम्भव नहीं है। इसी कारण भक्ति ही ज्ञानाकारता को प्राप्त होती है, यही अद्वैतवाद का परिनिष्ठित सिद्धान्त है।

वह भक्तिविषय ईश्वर तो आत्मा का नितान्त सन्निकृष्ट है, इस कारण उसका साक्षात्कार इन्द्रियादि करणों की अपेक्षा नहीं रखता है। उसमें अगर अपेक्षित है कुछ, तो केवल अज्ञान की निवृत्ति। वह अज्ञाननिवृत्ति होते ही नित्यप्राप्त ईश्वरसाक्षात्कार रूपी फल प्राप्त हो जाता है। भक्ति के प्रमाण होने की स्थिति में बुद्धि ही करण है, भाव ही व्यापार है तथा ईश्वरसाक्षात्कार ही फल है[37]। इस कारण शब्दसंकेतादि के द्वारा जो ईश्वरविषयक परोक्षज्ञान प्राप्त होता है, वह परोक्षज्ञान,

ईश्वरार्चन, जो विधि का विषय है, तदनुसारी जो कर्मयोग है, वह कर्मयोग यह सब कुछ वस्तुतः भक्ति नहीं है। किन्तु इन सबको गौण रूप से ही भक्ति कहा जाता है[38]। भाव के न रहने पर उन ईश्वरार्चन आदि कर्मों के करते रहने पर भी कोई भक्त नहीं होता है।

आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय यद्यपि रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य व गौडीयवेदान्त दर्शनों के भक्तिविषयक सिद्धान्तों का उपस्थापन भी करते हैं, परन्तु इन दर्शनों की जो सिद्धान्तनिष्ठा है वह वस्तुतः उस प्रकार से अपरोक्षानुभूति पर आश्रित नहीं है, जैसी कि अद्वैतवाद की। ये दर्शन अपने सिद्धान्तों की स्वयं समीक्षा नहीं करते हैं, इस कारण .ष्टिमात्र होकर रह जाते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि शायद इसी कारण आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय अद्वैतवाद की जमीन पर खड़े होकर सिद्धान्तपक्षीय विचार प्रस्तुत करते हैं और ऐसा करते हुए वे कहीं भी ईश्वर के वस्तुसत् होने का आग्रह नहीं करते हैं और न ही वे ईश्वर के वस्तुसत् होने के पक्ष में प्रस्तुत किसी प्रमाण के प्रामाण्य का भरोसा ही करते हैं। नागार्जुन से लेकर कांट तक विविध दार्शनिकों के द्वारा ईश्वर व जगत् के विषय में उठायी गयी आपत्तियों व निष्कर्षों को दृष्टिगत रखते हुए ईश्वर को वस्तुसत् मानने की मुश्किलों से आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय सुपरिचित हैं। शायद इसी कारण उनको इसका परिज्ञान है कि शंकराचार्य के अद्वैतवाद व नागार्जुन के शून्यवाद ही ऐसे दुर्ग हैं, जो इन आपत्तियों व आक्रमणों के लिए दुर्भेद्य हैं। इसीलिए आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय नागार्जुन के शून्यवाद से होकर गुजरते हुए आचार्य शंकर के अद्वैतवाद को ही अपना शरणस्थल मान पाते हैं। अद्वैतवाद में ईश्वर का अस्तित्व व्यावहारिक होने के कारण वस्तुसत् ईश्वर में वैषम्य, नैर्घृण्य आदि की जो आपत्ति उठायी जाती है, उस आपत्ति की भी सम्भावना नहीं रहती है। ईश्वर व संसार के वस्तुसत् होने की स्थिति में वैषम्य, नैर्घृण्य आदि आशंकाएं उठायी जा सकती थीं। परन्तु न तो ईश्वर और न ही संसार वस्तुसत् है। दोनों ही मिथ्या हैं, तो वैषम्य, नैर्घृण्य आदि तो केवल लीलामात्र ही हैं।

निष्कर्ष के रूप में जो बात आती है, उसे अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय प्रस्तुत कर चुके हैं, वह यह है कि वेदोक्त धर्म दो प्रकार का है–प्रवृत्तिरूप व निवृत्तिरूप। प्रवृत्तिरूप धर्म का प्रतिपादन वेदों के द्वारा तथा निवृत्तिरूप धर्म का प्रतिपादन वेदान्तों के द्वारा किया गया है। प्रवृत्तिरूप धर्म क्रिया पर आधारित है, अनेक कर्मकाण्डों का विधान वेदों के द्वारा किया गया है। उन कर्मकाण्डों के सम्यग् अनुष्ठान के द्वारा व्यक्ति अभ्युदय को प्राप्त करता है। इन कर्मकाण्डों के सम्पादन में श्रद्धा की बात आती अवश्य है, परन्तु वह श्रद्धा भक्ति के रूप में नहीं प्रस्फुटित होती। निवृत्तिरूप धर्म तो ज्ञान की महत्ता पर बल देता है। उस निवृत्तिरूप धर्म में भी श्रद्धा का उतना योगदान नहीं दिखायी देता। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'विना ज्ञान के मुक्ति नहीं' 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय' 'उसी को जानकर ही व्यक्ति मृत्यु के पार जा पाता है, अन्य कोई मार्ग नहीं है' इत्यादि श्रुतिवाक्यों के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति ज्ञान के द्वारा ही हो सकती है, ऐसा कहा गया है। ज्ञानातिरिक्त साधनों का मोक्षप्राप्ति में उपयोग असम्भावित होना यही बताता है कि ज्ञान के अतिरिक्त कोई साधन मोक्ष के लिए सम्भव नहीं है। इन दोनों मार्गों का कोई आपसी मिलनस्थल दिखता नहीं। वस्तुतः भक्ति इन दोनों प्रवृत्ति व निवृत्तिरूप धर्मों के संयोजनसूत्र की तरह दिखायी देती है[39]। मनुष्य की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति हितप्राप्ति व

अहितपरिहार के लिए होती है। उसमें ही कामना का बीज निहित है। कामनाजन्य प्रवृत्ति बन्धनकारी ही होती है। परन्तु विना कर्म के जीवनयात्रा भी तो सम्भव नहीं। गीता में श्रीकृष्ण कहते ही हैं "बिना कर्म के तो तुम्हारी शरीरयात्रा भी सम्भव नहीं है"। निवृत्तिरूप धर्म में कामनात्याग व कर्मत्याग का उपदेश ही प्राप्त हुआ करता है। तो आखिर किस प्रकार से निवृत्तिरूप धर्म का अनुष्ठान कर पाना सम्भव होगा। वस्तुतः भक्ति ही इसको सम्भव बनाती है। ईश्वरार्पणबुद्धि से किया जानेवाला कर्म बन्धनकारी नहीं होता है। जिससे निष्काम कर्म की ओर जो हमारी प्रवृत्ति होती है, वह स्वयं परिपाक को प्राप्त करती हुई निवृत्तिरूप धर्म के अनुपालन में निमित्त बनती है। इस प्रकार भक्ति की भूमिका अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार ही अधिक संगत दिखायी देती है, तथा अद्वैतसिद्धान्त के साथ भक्ति का कोई विरोध नहीं है।



सन्दर्भ –

1. *स्वयं आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डेय जी इस बात से अपनी सहमति दिखाते हैं। द्र. भक्तिदर्शनविमर्शः पृ.3–4. प्रकाशक– सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी सन् 1991*
2. *द्रष्टव्य– pp-184&186, Hinduism, Monier Williams, Rare Books, Delhi 1971*
3. *एषा च श्रद्धासम्मानपुरस्सरा मनुष्योत्तरे देवतत्त्वे चित्तस्य नानाविधनिजत्वकल्पनासहितचेतःसंलग्नतैव भक्तिरिति शक्यते वक्तुम्। पृ. 7, भक्तिदर्शनविमर्शः*
4. *तत्र लक्ष्यमंशत्रयं भक्तेर्विषयः, आश्रयः सम्बन्धश्च। त्रयाणामेषां कल्पनाभेदाद् भक्तिस्वरूपमपि भिद्यमानमिव दृश्यते। वहीं*
5. *भक्तिसाधकानि त्रीणि त्रिकाणि निरूपयितुं शक्यानि विषयाश्रयसम्बन्धकल्पनारूपं प्रथमम्, कर्मज्ञानभाव–साधनरूपं द्वितीयम्, प्रवृत्त्यभ्याससिद्धावस्थात्मकं तृतीयम्। वहीं पृ.8*
6. *एवञ्च भक्तिदर्शनं मूलतः पुरुषार्थमीमांसैव सम्पद्यते। वहीं, पृ.13*
7. *एवं दृष्टसाध्यसाधनव्यतिरिक्ततया सा भक्तिरापाततो धर्माख्य एव पुरुषार्थेऽन्तर्भवितुमर्हति। वहीं, पृ.14*
8. *धर्ममोक्षयोर्भेदोऽपि न पारमार्थिकः। वहीं, पृ.15*
9. *अध्यात्मसाधने हि साध्यसाधनभावो व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावान्नातिरिच्यते। वहीं*
10. *एवञ्च साधनात्मिका भक्तिर्धर्मे साध्यात्मिका च मोक्षेऽन्तर्भवति। वहीं*
11. *मोक्षसाधनसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी। स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।। विवेकचूडामणि–3*
12. *त्रयोऽत्र विकल्पाः– भक्तिः ईश्वरप्रसादहेतुः, स च ज्ञानस्येति परम्परया भक्तिज्ञानहेतुरिति प्रथमा भक्तिः, भक्तिः चित्तं प्रसाद्य प्रशमय्य च ज्ञानोत्पत्तेरासन्नो हेतुरिति द्वितीयः, भक्तिरेव च दर्शनाकारतामापद्यत इति तृतीयः। प्रथमे भक्तिर्भगवद्भजनकर्मात्मिका, द्वितीये भगवदाभिमुख्येन विषयनिवृत्त्यात्मा द्वयोरपि ज्ञानादिभन्नस्वभावा, तृतीये तु ज्ञानस्वभावैव। भक्तिदर्शनविमर्शः, पृ.98*
13. *भूरम्भांस्यनिलोऽनलोऽम्बरमहर्नाथो हिमांशुः पुमानित्याभाति चराचरात्मकमिदं यस्यैव मूर्त्यष्टकम्।*
    नान्यत्किञ्चन विद्यते विमृशतो यस्मात् परस्माद्विभोस्तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।
14. *भक्तिविषयोऽज्ञानजन्यविकल्पमात्रम्, भक्तिश्च तद्विकल्पजन्यमिथ्याभावमात्रम्। वहीं, पृ.37*
15. *शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। योगसूत्र को यहाँ पर ध्यान में रखना चाहिए।*
16. *भक्तिविषयः लोकशास्त्रादिपरम्परापोषितसङ्केतमात्रम्, भक्तिश्च लोकसिद्धभावस्यैव निगूढाभिप्रायपोषकः सा(ध) नविशेषः। वहीं, पृ.37*
17. *भक्तिविषय ईश्वरो वस्तुसन्नपि जगत्कर्तृत्वसूचितस्ववैषम्यनैर्घृण्यो न वस्तुतो भजनीयतामर्हति। वहीं, पृ.37*
18. *भक्तिविषयश्च परमात्मा स वस्तुसन्नपि जीवानन्यत्वाद् न भजनीयः स्यात्, भक्तेर्भावान्तरवत् प्राप्तेतरविषयत्वात्। वहीं, पृ.38*

19. सर्वकल्याणगुणाकरत्वेऽपि भगवतः पुरुषोत्तमस्य ज्ञानिनो वीतरागत्वात् तत्र भक्तेरनवकाश इति च। वहीं, पृ.38
20. वहीं, पृ.38
21. भक्तेरनन्यपरत्वात्।
22. अभ्युदयार्थं चेत्? न सा भक्तिरैकान्तिकी स्यादन्यार्थपरत्वात्। वहीं, पृ.38
23. द्रष्टव्य– वहीं
24. द्रष्टव्य– वहीं
25. द्रष्टव्य– वहीं
26. प्राधान्येन ज्ञानेतरमनोवृत्तिरूपा भक्तिः। वहीं
27. इसी कारण अद्वैतवेदान्त की परम्परा जो भी वस्तु भासित होती है, उसको सत् मानते हैं। प्रत्यक्ष सन्मात्रग्राही होता है, इस कारण ज्ञानविषय की सत्ता स्वीकार की ही जा रही है।
28. तत्र अवस्थाद्वयं चेतसो विवेचितम् भावज्ञानात्मकम्। भावः चित्तस्य कामादितापकसंयोगजन्यो द्रवीभावः, ज्ञानं विषयमात्रसंयोगजन्यस्तस्य शिथिलीभावः। पृ.39 वही
29. भक्तिरत्र ज्ञानपक्षादुद्धृत्य भावपक्षे निक्षिप्ता, तेन च भक्तिविषयोऽपि भाव्याकारमात्रविश्रान्तः सदसद्विवेचनानिरपेक्षः। वही
30. वयं भक्तिविषयेश्वरसद्भावान्वेषणे वयं वस्तुशून्यत्ववाद इव पतिताः। पृ.54, वही
31. कांट का कहना है कि परमार्थ हमारी बुद्धि का विषय नहीं हो पाता है। वह अज्ञेय है। कार्यकारणभाव को व्यावहारिक जगत का सम्बन्ध है,तथा हमारी बुद्धि का विकल्प है। इस बुद्धिविकल्प को पारमार्थिक पर नहीं लागू किया जा सकता है। परमार्थ की सिद्धि इस बुद्धिविकल्प के द्वारा नहीं हो सकती है।
32. भक्तिविषयश्चातो न जगत्कर्ता जगत्समसत्ताकः, अपितु तत्राभासमानो निरतिशयसच्चिदानन्दलक्षणः पुरुषोत्तमः श्रद्धाविश्वासपूर्वमागमेन महतां सङ्गेन च लक्षणीयः स्वात्मना च कृतोपास्तिना स्वयमपरोक्षतया संवेद्यः। पृ.69, वही
33. कर्मलक्षणा भक्तिः पारमार्थिकमाहार्यं वा द्वैतमाश्रित्य प्रवर्तते। ज्ञानलक्षणा भक्तिः अभेदमेव अनायासेन आलम्बते। भावात्मिका भक्तिः पुनर्भेदाभेदप्रतीतिमेव पुष्णाति। सर्वथा अभेदे भेदे वा भावस्यानवकाशात्। पृ.69, वही
34. रामानुजाचार्यास्तु परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतया वेदान्तोदितो भगवद्विषयो ज्ञानकर्मानुगृहीतो भक्तियोग इति निरूपयन्ति। पृ.91, वही
35. पृ.92–93, वही
36. वस्तुतो भक्तिविषयेषु प्रमाणं भक्तिरेव, सैव विषयाश्रयावगाहिनी भगवतो भक्तस्य च स्वरूपं प्रकाशयति। पृ.98
37. एवं भक्तेः प्रमाणत्वे बुद्धिरेव करणं भाव एव व्यापारः, ईश्वरसाक्षात्कारश्च फलमित्यवगन्तव्यम्। पृ.98, वही
38. यच्च शब्दसङ्केतादिलभ्यम् ईश्वरविषयं परोक्षं ज्ञानं तदर्चनविधिविषयं वा तदनुसारि कर्मयोगो वा तत्सर्वमुपचारेणैव भक्तिशब्दवाच्यम्। पृ.99, वही
39. तत्र प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणधर्मयोरुभयोरपि संयोजनसूत्रमिव भवति भक्तिः। भक्तिदर्शनविमर्शः पृ.18

मधुसूदन सरस्वती सम्मत ज्ञान और भक्ति

प्रदीप कुमार खरे

अद्वैत वेदान्त में ज्ञान अथवा चेतना (चैतन्य) ही एक मात्र ऐसी सत्ता है जो ब्रह्म का स्वरूप है और नित्य प्रकाशित है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप है और उसी को चित् या संवित् कहा गया है। वह स्वयं प्रकाश है स्वयं ज्योति है। वह ज्ञान निर्विशेष और निर्विकल्प है। वह साक्षात, अपरोक्ष तथा सत्य है। इस ज्ञान के अतिरिक्त ज्ञान का एक अन्य प्रकार भी है जो सविशेष तथा सविकल्प और परोक्ष ज्ञान है। यह ज्ञान अविद्या जन्य है। इसमें प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण के त्रिविध भेद होते हैं।

ज्ञान

मधुसूदन सरस्वती ने ज्ञान को ब्रह्म का स्वरूप कहा है। 'गूढ़ार्थदीपिका' में वे कहते हैं कि रज्जु के अज्ञान से कल्पित सर्प, धारा और दण्डादि का जैसे रज्जु के ज्ञान से बाध हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म के अज्ञान से कल्पित इन क्रिया–कारकादि समस्त व्यवहारों का ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान से बाध हो जाने पर भी बाधित अनुवृत्ति से यदि इस क्रिया कारकादि व्यवहाराभास की जले हुए वस्त्र के समान प्रतीति भी होती रहे तो भी यह फल देने वाला नहीं होता। ब्रह्मदृष्टि ही सर्वयज्ञमयी है, इस प्रकार उसकी स्तुति की जाती है।[1] ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को भस्मसात् कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि प्रारब्ध के सिवा पाप और पुण्य समस्त कर्मों को समान रूप से भस्मसात् कर देती है। अर्थात् उनके कारण 'अज्ञान' का नाश करके उन्हें नष्ट कर देती है।[2] ज्ञान के समान पवित्र पावन अर्थात् शुद्धि करने वाली कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि ज्ञान के सिवा और कोई भी वस्तु अज्ञान की निवृत्ति करने वाली न होने से पाप को उसके मूल सहित दूर करने वाली नहीं हो सकती, कारण कि पाप का कारण बना रहने से पुनः पाप का उदय हो सकता है। ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने के कारण पाप की मूल सहित निवृत्ति हो जाती है, अतः उसके समान और कोई नहीं है।[3]

ज्ञान की प्राप्ति के उपायों के संबंध में मधुसूदन सरस्वती 'गूढ़ार्थदीपिका' में कहते हैं कि गुरू के और वेदान्त वाक्यों में 'यह ऐसा ही है' ऐसी ही है' ऐसी प्रमारूपा आस्तिक्य बुद्धि श्रद्धा है, उससे युक्त पुरूष ज्ञान प्राप्त करता है।[4] इस प्रकार के उपाय द्वारा ज्ञान प्राप्त करके वह अचित् ज्ञान होने के अनन्तर ही चरम शान्ति को अर्थात् अविद्या और उसके कार्य की निवृत्ति रूपा मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार दीपक अपनी उपस्थिति मात्र से ही अन्धकार को दूर कर देता है, किसी सहकारी की अपेक्षा नहीं रखता, उसी प्रकार ज्ञान भी अपनी उत्पत्ति मात्र से ही अज्ञान की निवृत्ति कर देता है, इसके लिए प्रसंख्यान (पुरूष प्रकृति–विवेक) आदि किसी दूसरे साधन की अपेक्षा नहीं होती।[5]

ज्ञान के प्रमुख दो भेद किये गये हैं– एक परमतत्त्व का चित्पक्ष और दूसरा दैनिक जीवन के अनुभव में आने वाला उत्पत्ति नाश से युक्त ज्ञान।[6] इन्हें नित्य या अनित्य ज्ञान अथवा

दर्शन विभाग, हमीदिया कॉलेज, भोपाल (म.प्र.)

स्वरूपभूत (अजन्य) तथा जन्य ज्ञान भी कहा जा सकता है। वास्तव में ज्ञान का अर्थ चैतन्य ही है जो परमतत्त्व का स्वरूप है किन्तु ज्ञान का व्यावहारिक रूप भी है जिसमें एक एक वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होना व समाप्त होना चलता रहता है। ज्ञान में जन्यता व अनित्यता लाने वाली उपाधि भी अविद्या व उसके कार्य का ही एक रूप विशेष है, जिसे वृत्ति कहा गया है। इस प्रकार ज्ञान को उसके तात्त्विक स्वरूप से भिन्न अन्य रूप में आकार देने का कार्य वृत्ति ही करती है और सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय भी वृत्ति के रूप व कार्य हैं। अतः यहाँ पर वृत्ति की धारणा को स्पष्ट करना आवश्यक है।

'वृतु वर्तने + क्तिन्' इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न वृत्ति शब्द का शाब्दिक अर्थ है – अस्तित्व, कोई विशेष स्थिति या अवस्था। दार्शनिक साहित्य में वृत्ति शब्द अनेक दृष्टियों से प्रयुक्त किया गया है किन्तु यहाँ पर हमारा प्रतिपाद्य ज्ञान के संदर्भ में वृत्ति को समझना हैं।

आचार्य शंकर की युक्ति है कि अन्तःकरण का परिच्छेद वृत्ति है।[7] अंन्तःकरण की विशेष प्रकार से स्थिति या अवस्था विशेष वृत्ति है।[8] विद्यारण्य के मत में अन्तःस्थायी (बुद्धि) जो इन्द्रियों द्वारा बार बार बाहर रहती है वही वृत्ति है।[9] आत्मा को विषयज्ञान का रूप देने वाला अन्तःकरण का विषयज्ञानानुकूल परिणाम वृत्ति है।[10] नृसिंहाश्रम के अनुसार विषयज्ञान के अनुकूल मनोदशा ही वृत्ति है। विषय के आकार में परिणतिरूपा वृत्ति अन्तःकरण का धर्म है, यही काम संकल्प 'श्रुति में 'धी' शब्द से कही गई है।[11]

आचार्य मधुसूदन सरस्वती के अनुसार किसी भी प्रकार के विषयज्ञान के लिए अन्तःकरण का अपने ही स्थान पर अथवा इन्द्रियादि द्वारों से बाहर निकलकर विषय देश तक पहुँचकर (उसे व्याप्त करने तक) जो परिणाम होता है वही वृत्ति है।[12] आचार्य नृसिंहाश्रम ने 'अद्वैतदीपिका' में वृत्ति के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए न्याय–वैशेषिक व मीमांसक मतों की ओर से पूर्वपक्ष उठाया है कि यह वृत्ति क्या वस्तु, द्रव्य, गुण या कर्म है? इनमें से प्रथम अंश को लेकर ही न्याय–वैशेषिक सिद्धान्त में ज्ञान को आत्मा में रहने वाला आगन्तुक गुण माना गया है।[13] जो ईश्वर में सदा रहता है तथा अन्यत्र आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा विषय का संयोग होने पर आत्मा में उत्पन्न होता है। द्वितीय अंश को लेकर मीमांसक ज्ञान को 'मानसीक्रिया मानते हैं। सांख्य–योग में वृत्तिरूप ही ज्ञान है, और वह द्रव्य माना गया है। विज्ञानभिक्षु ने 'योगवार्तिक' में कहा है – व्युत्थान दशा में चित्त की वृत्तियाँ दीप शिखा की भांति द्रव्यरूप, क्षणभंगुर, चित्त की अवस्था परिणित रूप, मूषा (धातु गलाने का पात्र) में रखे हुए पिघले ताँबे के समान अपने से संयुक्त होने वाले विषय का ही आकार ले लेने वाली होती हैं। वे त्रिगुणात्मक अन्तःकरण से उत्पाद्य होने के कारण उसी के अनुरूप शान्त, घोर व मूढ़ स्वभाव वाली होती हैं।[14] सांख्य सूत्र में भी इसी प्रकार कहा है कि ये वृत्तियां अन्तःकरण का गुण नहीं स्वयं द्रव्य रूपा हैं। जिस प्रकार अग्नि का भाग होते हुए भी विस्फुलिंग पृथक् वस्तु ही होता है, अग्नि का गुण नहीं।[15] विज्ञानभिक्षु ने अन्य स्थल में कहा है कि ''जो दीप के समान हृदय में स्थित है, उसकी ये अनन्त रश्मियाँ हैं'' इस स्मृत्ति से वृत्ति को रश्मि की समानता प्राप्त है, अतः वह प्रभा के समान द्रव्य ही है।[16]

इस प्रकार वेदान्त में ज्ञान (जन्य) न गुण है, न क्रिया न परिभाषिक अर्थ में द्रव्य ही, अपितु वृत्ति पर आरूढ़ चैतन्य आत्मा का स्वरूप ही है। मात्र व्यवहार दशा में दृश्यमान जगत् की आगन्तुकता तथा विविधता की उपपत्ति के लिए वृत्ति की कल्पना की गई है।

वृत्तिभेद

मधुसूदन सरस्वती ने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'[17] नामक सूत्र के आधार पर वृत्ति के पांच भेदों की चर्चा किया है।

1. प्रमाण वृत्ति – यह छः प्रकार की है–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अभाव।
2. विपर्ययवृत्ति – इसका अर्थ मिथ्या ज्ञान से है। इस वृत्ति को पाँच उप विभागों में बाँटा गया है–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इन्हें सांख्य सम्प्रदाय में 'क्लेश' कहा गया है।
3. विकल्प वृत्ति – इसमें वे वस्तुएँ आती हैं जिनकी सत्ताएँ नहीं है किन्तु शब्द के रूप में उनका प्रयोग किया जाता है। जैसे–आकाश कुसुम और बन्ध्यापुत्र। यह ज्ञान प्रमाज्ञान नहीं है अपितु एक मानसिक व्यायाम है जिसे तर्क या अर्हज्ञान कहा जाता है।
4. निद्रा वृत्ति – यह वृत्ति तमोगुण के कारण उत्पन्न होती है और यह उसी का स्थान है।
5. स्मृति वृत्ति – पूर्व में अनुभव किये गये विषय को उसकी अनुपस्थिति के समय मानस रूप से पुनः प्रस्तुत करके उस विषय का पुनः ज्ञान कराना स्मृति वृत्ति है। इस वृत्ति का कारण संस्कार होता है। यहाँ धातव्य है कि विकल्प वृत्ति और प्रमाण वृति के अतिरिक्त अन्य सभी वृत्तियाँ अविद्या वृत्तियाँ ही हैं। इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने एक अन्य स्थल में कहा है कि ये साक्षी ज्ञान में रहती हैं।[18] दूसरी ओर विकल्प वृत्ति ज्ञान नहीं है अपितु यह एक मात्र मानसिक क्रिया है। मन अपनी स्वतंत्र इच्छा से कुछ असत्तावान वस्तुओं को शब्द के रूप में व्यक्त करता है। जैसे शशश्रृंग, आकाश कुसुम और बन्ध्यापुत्र। प्रमाण वृत्ति को चित्त वृत्ति कहा जाता है।

अद्वैत वेदान्त में भिन्न भिन्न दृष्टियों से वृत्ति के मुख्य रूप से तीन भेद मान्य हैं – 1. अज्ञान के विविध रूपों की दृष्टि से, 2. जीवनदशाओं की दृष्टि से, और 3. खण्डज्ञान के प्रकारों की दृष्टि से।

अज्ञान के विविध रूपों की दृष्टि से – ज्ञान के द्वारा निवर्त्य होना अज्ञान का लक्षण है। यह ज्ञान का विरोधी शब्द है अर्थात् अज्ञान ज्ञान से ही दूर होता है। कुछ लोग अज्ञान को भाव रूप न मानकर अभाव रूप मानते हैं किन्तु उनकी यह व्याख्या अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से असंगत प्रतीत होती है। वेदान्त सिद्धांत के अनुसार आत्मज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है। यह तभी संभव है जब अज्ञान भाव रूप हो किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अज्ञान परमार्थ सत् है। क्योंकि ऐसा होने पर तो इसकी निवृत्ति ही नहीं हो सकेगी। अज्ञान को भावरूप कहने का अभिप्राय है उसको अभाव से विलक्षण बताना। जब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता तभी तक अज्ञान भाव रूप है। आत्म साक्षात्कार होने पर वह नष्ट हो जाता है। आचार्य शंकर अपने पक्ष को सशक्त सिद्ध करने के लिए यह तर्क देते हैं कि अज्ञान के द्वारा ही सारे या समस्त प्रपंच की सृष्टि होती है। यदि यह अभाव रूप होगा तो इसकी विश्व सृजनशक्ति विनष्ट हो जायेगी। अज्ञान को वेदान्त में त्रिगुणात्मक माना गया है। 'छान्दोग्योपनिषद' में कहा गया है – जब कार्य लोहित शुक्ल और कृष्ण इन तीनों गुणों वाला है तो उसका कारणभूत अव्याकृत अज्ञान भी

त्रिगुणात्मक ही होगा।[19] 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' भी इन तीनों गुणों को अज्ञान का स्वरूप बतलाती है। परवर्तीकाल में लोहित को रजस्, शुक्ल को सत्व और कृष्ण को तमस् कहा जाने लगा।[20] यहाँ पर कहने का आशय यह है कि अज्ञान का त्रिगुणात्मक अर्थ चाहे शुक्ल कृष्णात्मक किया जाये अथवा सत्वरजस् तमोगुणात्मक किया जाये, एक ही बात है।

यह अज्ञान एक होने पर भी समष्टि के अभिप्राय से एक और व्यष्टि के अभिप्राय से अनेक कहा जाता है। जैसे वृक्षों की समष्टि के अभिप्राय से (यह वन है) जैसे एकत्व का कथन किया जाता है उसी प्रकार अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद से अनेक प्रतीत होने वाले जीवगत् अज्ञानों की समष्टि के अभिप्राय से उसके एकत्व का कथन किया जाता है। इसी व्यष्टि और समष्टि के आधार पर अज्ञान के दो भेद किये हैं – व्यष्टि के आधार पर अज्ञान को अविद्या माना जाता है और समष्टि के आधार पर अज्ञान को मायात्मक माना जाता है।

अविद्या वृत्ति – अविद्या वृत्ति मन में स्थित संस्कारों की सहायता से उत्पन्न होती है। स्वप्नावस्था में मन ही गज, अश्व आदि विभिन्न प्रकार के आकारों में परिणित होता है। अतः मन का दृश्य कोटि में प्रवेश होने से दृश्यत्व रूप से ही मन का उपयोग है, दृश्यकरणता रूप से नहीं। इस प्रकार स्वाप्न पदार्थों का परिणामी उपादानकारण अविद्या ही है तथा उनका ग्रहण अविद्या वृत्ति है।[21]

माया वृत्ति – समष्टि ज्ञान यानी कि माया में विशुद्ध सत्व गुण का प्राधान्य रहता है अर्थात् उसमें रहने वाला सत्वगुण रजस् और तमस् से अभिभूत नहीं होता अपितु उनको स्वयं अभिभूत किये रहता है। विद्यारण्य ने 'पंचदशी' में इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि – माया में विशुद्ध सत्व की प्रधानता होती है और अविद्या में रहने वाला सत्वगुण, रजस् और तमस से अभिभूत होकर मलिन हो जाता है।[22] सत्वगुण ज्ञान स्वप्रकाश्य है। उसके शुद्ध होने का अभिप्राय आवरण स्वभाव तमोगुण से अभिभूत न होना है। समष्टिज्ञान माया को आनन्दमय कोश भी कहा जाता है। इसके दो कारण हैं – प्रथम कारण आनंद की प्रचुरता उपहित ईश्वर का धर्म है और द्वितीय आच्छादकता अज्ञान का धर्म है। अज्ञानावस्था में इन दोनों का विवेक न होने के कारण अज्ञान को आनन्दमय कोश कहा जाता है। सृष्टि के पूर्वकाल में जीवों के अदृष्टवश सृज्यमान सम्पूर्ण पदार्थों की वृत्ति रूप से माया का परिणाम होता है, इसमें माया में प्रतिबिम्बित होने से मायोपाधिक ब्रह्म में माया की वृत्ति के प्रति कर्त्तव्य की सिद्धि होने से अनागतवस्तु विषयक ज्ञान उपपन्न है।[23]

अन्तःकरण वृत्ति – बाह्य विषयों को ग्रहण करने के कारण श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियाँ कहलाती हैं और आन्तरिक विचार की कारणभूत इन्द्रिय को अन्तःकरण कहते हैं। अद्वैत वेदान्त में अन्तःकरण वृत्ति के दो भेद पाए जाते हैं–बुद्धि वृत्ति एवं मनोवृत्ति। जब 'मैं ब्राह्मण हूँ', मैं गृहस्थ हूँ, इस प्रकार के निश्चय से ओत प्रोत वृत्ति उठती है तो उसे बुद्धि वृत्ति कहते हैं। जब मैं 'चिद्रूप हूँ' या 'देह हूँ' 'नौकरी कर लूँ या अभी और पढ़ूँ' इस प्रकार की संशयात्मिका वृत्ति उठती है, तो उसे मनोवृत्ति कहते हैं। स्वामी विद्यारण्य ने 'पंचदशी' में अन्तःकरण वृत्ति के इन्हीं दो भेदों को स्वीकार किया है – तैरन्तः करणं सवैवृत्तिर्भेदेन तद्द्विघा। मनोविमर्शरूपं स्याद्बुद्धि स्यान्निश्चयात्मिका।।[24]

परंतु कुछ लोग मन और बुद्धि के अतिरिक्त चित्त और अहंकार इन दो अतिरिक्त वृत्तियों को भी मान्यता देते हैं तथा अन्तःकरण की अनुसंधान (स्मरण) रूपा वृत्ति को चित्त वृत्ति कहते हैं तथा अन्तःकरण में 'मैं बड़ा विद्वान् हूँ' इत्यादि प्रकार की जो अभिमान रूपा वृत्ति उठती है, उसको अहंकार वृत्ति कहते हैं। वेदान्त में यद्यपि कहीं – कहीं चित्त और अहंकार वृत्ति का अलग अलग विवेचन प्राप्त होता है तथापि इन दोनों वृत्तियों को क्रमशः बुद्धि और मन में यदि समावेशित मान लिया जाए तो कोई हानि नहीं होगी। रामतीर्थ के अनुसार चित्त का बुद्धि में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि स्मरणात्मिका चित्तवृत्ति निश्चयरूप 'यह वही है' ही होती है तथा अहंकार का मन में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि अहंकार भी संकल्प रूप ही होता है।

जीवनदशाओं की दृष्टि से

विभिन्न जीवनदशाओं की दृष्टि से वृत्ति के जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति – ये तीन भेद किये जाते हैं। इनमें जाग्रत वृत्ति वह है जिसमें इन्द्रियों के द्वारा विषयों की उपलब्धि होती है।[25] सुरेश्वराचार्य ने 'पंचीकरण वार्तिक' टीका में जाग्रत वृत्ति का उल्लेख करते हुए कहा है – "देवताओं के अनुग्रह से युक्त हुई इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि विषयों का ज्ञान जिस स्थिति में होता है, उसे जाग्रत वृत्ति कहते हैं।[26] स्वप्न वृत्ति में जाग्रतकालीन वासनाओं से बना हुआ लिंग शरीर उपाधि होता है। वासनायुक्त प्रज्ञा में जो विषयी रूप से रहता है, उसका नाम तैजस है। तैजस आत्मा स्वप्नावस्था के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। 'माण्डूक्य उपनिषद्' में कहा गया है – 'जिसका अभिव्यक्त स्थान स्वप्न है, जो केवल मन रूपी अन्तःप्रज्ञ वाला है एवं पूर्ववत् सात अंगों वाला, उन्नीस मुख वाला और सूक्ष्म विषयों को भोगने वाला, ऐसा तैजस ही आत्मा का द्वितीय पाद है।"[27] जाग्रत वृत्ति में प्रज्ञा अनेक साधनों वाली मनःस्पन्दन होती हुयी भी बाह्य विषयों से संबंद्ध हुई सी प्रतीत होती है और वह सभी प्रकार के संस्कार को मन पर डालती है। स्वप्न वृत्ति में प्रज्ञा बाह्य साधनों की कुछ भी अपेक्षा न कर अविद्या काम और कर्म से प्रेरित हुआ जाग्रत के समान भासता है। इस अवस्था में स्वयं प्रकाश स्वप्नद्रष्टा अपनी विभूति का अनुभव करता है।[28] जिस प्रकार विश्वात्मा स्थूल विषयों का उपभोग करता है, उसी प्रकार तैजस सूक्ष्म वस्तुओं का उपभोग करता है। तात्पर्य यह है कि भोग्यत्व दोनों अवस्थाओं में समान रहने पर भी एक में स्थूल विषय है तो दूसरे में विषय संस्पर्श से शून्य वासनामात्र प्रज्ञा ही भोग्य है।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने 'सिद्धांत बिन्दु' में स्वप्न का विश्लेषण करते हुए कहा है कि जाग्रत अवस्था में भोग उत्पन्न करने वाले कर्मों का क्षय होता है तथा स्वप्नावस्था में भोग कराने वाले कर्मों का उदय होता है तब 'निद्रा' नाम की तामसी वृत्ति से स्थूल देह का अभिमान दूर होता है और इन्द्रियाँ निश्चेष्ट होकर मन में लीन हो जाती हैं। उस जीव चैतन्य के लिए विश्व भी विलीन सा हो जाता है।[29]

भाष्यकार आचार्य शंकर ने सुषुप्ति वृत्ति की चर्चा करते हुए कहा है कि सुषुप्ति वृत्ति में प्रज्ञान अर्थात् चैतन्य धनीभूत हो उठता है। जिस प्रकार रात में अन्धकार के कारण सारी वस्तुऍं अविभक्त सी हो जाती हैं और सब कुछ घनीभूत सा जान पडता है, उसी प्रकार यह सुषुप्ति वृत्ति भी प्रज्ञान घन अवस्था है।[30] उस समय प्रज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य जाति की वस्तुएँ नहीं रहती हैं। इससे स्पष्ट है कि सुषुप्ति में यद्यपि प्रज्ञान ही प्रज्ञान है तथापि प्रज्ञान के घनीभूत हो जाने

से किसी वस्तु का विषय या विषयीरूप से ज्ञान नहीं होता, अतः अज्ञान भी रहता है। इसलिए आत्मा का 'ज्ञानाज्ञान रूप या अज्ञानोपहित चैतन्य' होना सिद्ध होता है। सुषुप्ति में ज्ञान और अज्ञान दोनों ही रहते हैं, क्योंकि सोकर उठने पर 'सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषम' अर्थात् मैं बड़े सुख से सोया, मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं रहा ऐसा परामर्श होता है। यदि सुषुप्ति में ज्ञान न हो तो सुषुप्ति को असाक्षिक मानना होगा और तब 'सुखमहमस्वाप्सं' यह परामर्श भी न हो सकेगा। क्योंकि जिसने सुखपूर्वक होने का अनुभव किया है वही तो ऐसा कह सकता है। अतः सुषुप्ति में ज्ञान अवश्य मानना होगा। सुषुप्ति में मन और इन्द्रियों का अभाव होने से उसके द्वारा होने वाले ज्ञान से उक्त परामर्श संभव नहीं है। अविद्या भी जड़ होने के कारण उसको प्रकाशित नहीं कर सकती। सुषुप्ति वृत्ति में किसी भी प्रकार का विशेष ज्ञान नहीं रहता है इसलिए सुषुप्ति में अज्ञान भी सिद्ध होता है।

यहाँ पर यह शंका होना स्वाभाविक है कि सुषुप्ति में अन्तःकरण वृत्ति रहित होने से अहंकार तो रहता नहीं है, तब फिर 'मैं' सुख से सोया इस प्रकार की स्मृति कैसे होती है? मधुसूदन सरस्वती इसके समाधान में कहते हैं कि अहंकार का स्मरण नहीं होता, जागने के समय ही अहंकार का अनुभव होता है, और वह साक्षि चैतन्य द्वारा घटित होता है।[31]

खण्डज्ञान के प्रकारों की दृष्टि से वृत्ति के दो भेद किये जाते हैं – प्रमावृत्ति और अप्रमावृत्ति। प्रमावृत्ति जो अपरोक्षरूपा है, उसके अन्तर्गत निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष की चर्चा की जाती है। प्रमावृत्ति जो परोक्षरूपा है, उसके अन्तर्गत अनुमिति, उपमिति और अर्थापत्ति आते हैं। प्रमावृत्ति जो उभयरूपा है, उसमें अनुपलब्धि और शाब्दबोध ज्ञान का वर्णन किया जाता है। अप्रमावृत्ति के अन्तर्गत संशय, विपर्यय और तर्क आते हैं। उपर्यक्त प्रमा एवं अप्रमा वृत्तियों का विस्तृत विवेचन यहाँ प्रासंगिक न होने के कारण नहीं किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वैतवेदान्त में ज्ञान को ब्रह्म का स्वरूप कहा गया है वह स्वयं प्रकाश है एवं स्वयं ज्योति है।

भक्ति

मधुसूदन सरस्वती के दर्शन में भक्ति–विचार एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उसके अनुसार मोक्ष की प्राप्ति ब्रह्म ज्ञान (वृत्ति ज्ञान) के द्वारा ही संभव है, और जीव तथा ब्रह्म में पूर्ण तादात्म्य ही मुक्ति है। इस प्रकार के अद्वैती विचारों के साथ भी मधुसूदन सरस्वती अपने आपको वैष्णवी प्रभाव से मुक्त नहीं कर सके। इसलिए उन्होंने अद्वैती विचारों और वैष्णवी विचारों के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। भक्ति सम्प्रदाय के आचार्य मोक्ष प्राप्ति के लिए वैदिक कर्मों के अनुष्ठान को सहायक के रूप में मानते हैं। उनके अनुसार मोक्ष ज्ञान और कर्म के द्वारा नहीं अपितु भक्ति द्वारा ही संभव है।

भक्तिसूत्रों में भक्तिविचार

सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप में भक्तिविचार भक्तिसूत्रों में ही प्राप्त होते हैं। शांडिल्य और नारद भक्ति सूत्र – ये दो महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध भक्तिसूत्र माने जाते हैं। 'शाडिल्य भक्ति सूत्र' के अनुसार "ईश्वर के प्रति निरतिशय प्रेम (परानुरक्ति) को ही भक्ति कहते हैं।"[32] भाष्यकार भावदेव[33] ने इस भक्ति को सभी प्रकार के प्रेम में महान कहा है। जब प्रेम की विषय वस्तु पूर्ण और असीम ईश्वर तत्त्व होता है, तभी यह प्रेम सभी प्रकार के प्रेमों में महानतम कहा जा सकता है। शांडिल्य

के अनुरक्ति शब्द की व्याख्या करते हुए भाष्यकार स्वप्नेश्वर कहते हैं कि 'अनु' अर्थात् पश्चात् और 'रक्ति यानी आसक्ति', अथवा वह आसक्ति जो भगवान के स्वरूप और उसकी महिमा के ज्ञान के पश्चात् आती है। अतः स्पष्ट है कि आध्यात्मिक अनुभूति के लिए किये जाने वाले मानसिक प्रयत्नों की परम्परा ही भक्ति है, जिसका प्रारंभ साधारण पूजा पाठ से होता है और अन्त ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ एवं अनन्य प्रेम में।

'शांडिल्य सूत्र' में वर्णित भक्ति के इस स्वरूप को नारदभक्ति सूत्र में 'परमप्रेमरूपा' के अर्थ में स्वीकार किया गया है। नारदभक्ति सूत्र में कहा गया है कि–"भगवान के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है। जब व्यक्ति के हृदय में भक्ति का वास हो जाता है तब सभी प्राणियों के प्रति उसमें प्रेम उत्पन्न हो जाता है। वह किसी से घृणा नहीं करता है। उसका अन्तस् और बाह्य सात्विक प्रसन्नता से भर जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति में निष्कपट प्रेम उत्पन्न हो जाता है। यह निष्कपट प्रेम कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठ कहा जाता है। क्योंकि कर्म, ज्ञान और योग का कोई न कोई उद्देश्य है जबकि भक्ति तो अपने में स्वयं ही एक उद्देश्य है। वह स्वयं साध्य भी है और साधनस्वरूपा भी है।[34] शांडिल्य ने भक्ति को एक अन्य अर्थ, श्रवण, कीर्तन और पादसेवन के रूप में ही लिया, जिसे भागवत सम्प्रदाय में 'नवधाभक्ति' के रूप में जाना जाता है। शांडिल्य ने इस भक्ति को परानुरक्ति से भिन्न करने के लिए इसे 'गौण–भक्ति' कहा है। गौण भक्ति कहने का तात्पर्य यही है कि नवधा भक्ति के द्वारा साधक (भक्त) का मन शुद्ध होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति में दो तत्त्व पाये जाते हैं। प्रथम ईश्वर के लिए प्रेम और द्वितीय वह साधन जिसके द्वारा यह प्रेम प्राप्त किया जा सकता है।

भागवत् में भक्ति का स्वरूप

भागवत्[35] में मन का प्रवाह (मनोगति) सर्वशक्तिमान (पुरूषोत्तम) की ओर होना ही निरूपाधिक भक्ति कही गयी है। भागवत् में कहा गया है कि "ईश्वर के प्रति भक्ति निर्हेतुक, निष्काम और निरंतर हो।"[36] जिस प्रकार गंगा का पानी अव्यवहित रूप से समुद्र की ओर बहता है, उसी प्रकार भक्ति में मन भी अविच्छिन्न रूप से पुरूषोत्तम की ओर ध्याननिष्ठ रहता है। वास्तव में अहेतुक और अविच्छिन्न होना–यह परमतत्त्व का स्वरूप है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भी भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि "सम्पूर्ण कर्मों के आश्रय को त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्द वासुदेव परमात्मा की ही अनन्यशरण को प्राप्त हो, मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा, तू शोक मत कर।[37] गीता में भक्तों की चार श्रेणियाँ भी बताई गयी हैं। वे हैं – 1. अर्थार्थी 2. आर्त 3. जिज्ञासु और 4. ज्ञानी।[38] इन भक्तों में ज्ञानी को ही उत्तम बताया गया है। किन्तु भक्ति द्वारा साधक जिस भगवान की प्राप्ति करता है वह सगुण ब्रह्म है क्योंकि निर्गुण ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्'[39] है, इसलिए वह उपासना का विषय हो ही नहीं सकता है।

भागवत् में कहा गया है कि सामान्य रूप से ईश्वर की पूजा करना एक ऐच्छिक क्रिया है क्योंकि एक विशेष प्रकार का परिणाम इसे करने के लिए प्रेरित कर सकता है या इसमें कुछ परिवर्तन कर सकता है। दूसरी ओर कर्त्तव्य की भावना द्वारा भी पूजा की क्रिया को अपनाया जा सकता है। एक ऐच्छिक क्रिया होने के कारण कर्त्तव्य भावना से की गयी पूजा (आराधना) स्वार्थपूर्ण पूजा की अपेक्षा अच्छी कही जायेगी।[40] यदि इस भक्ति की तुलना निर्गुण भक्ति से, की

जाए तो भक्ति की ऐच्छिक प्रक्रिया को हेय मानना पड़ेगा, क्योंकि यह साधक में स्वमेव जाग्रत न होकर, उसकी ऐच्छिक इच्छा पर निर्भर करती हैं। भागवत् में भक्ति को दो रूपों में विभाजित किया गया है।[41] भाष्यकार श्रीधर ने पहले प्रकार की भक्ति को 'साधनभक्ति' कहा है और दूसरे प्रकार की भक्ति को 'प्रेमलक्षणभक्ति' या साध्यभक्ति' कहा है। साधन भक्ति, जिसे गौणी भक्ति कहा जाता है, इसमें हम भक्ति को एक साधन के रूप में लेते हैं। इस भक्ति मार्ग में अग्रसर होने के लिए साधनावस्था में कुछ बाह्म सहायता लिये बिना काम नहीं चल सकता है। 'पराभक्ति' से सम्पन्न व्यक्ति प्रेम–रूप भगवान के इतने समीप पहुँच जाता है कि वह फिर दूसरों के प्रति घृणा भाव फैलाने का साधन नहीं बन सकता है। पराभक्ति चरमावस्था है। 'देवी भागवत्' में कहा गया है कि ''एक बर्तन से दूसरे बर्तन में तेल डालने पर जिस प्रकार एक लगातार धार गिरती है, उसी प्रकार जब मन भगवान के सतत् चिन्तन में लगता है, तो पराभक्ति की अवस्था प्राप्त होती है।[42] अन्य प्रकार की जो भक्ति है वह इस पराभक्ति अर्थात् रागानुगामिनी भक्ति की प्राप्ति के लिए केवल साधन स्वरूप हैं।

गौड़ीय वैष्णव भक्ति

रूप गोस्वामी ने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' नामक ग्रंथ में वैष्णवी बंगाल सम्प्रदाय की स्थापना की है और जीवगोस्वामी ने उस पर भाष्य लिखा है। जीव गोस्वामी के अनुसार भक्ति का सार स्वाभाविक प्रवृत्ति (अनुकूल्यता) है। यह प्रवृत्ति भौतिक चेष्टाओं तथा आंतरिक भावों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। इन दोनों प्रकार के प्रयासों के द्वारा कृष्ण के लिए भक्ति प्रदर्शित होती है क्योंकि भागवत् में उसे उच्चतम सत्ता स्वीकार किया गया है। इस सम्प्रदाय में भक्ति एक शाश्वत सिद्धांत है, जो भक्त में स्थायी रूप से रहता है।[43] रूप गोस्वामी[44] ने भक्ति को तीन स्तरों में विभक्त किया है – 1. साधनभक्ति, 2. भावभक्ति, और 3. प्रेमभक्ति।

पहला स्तर साधनभक्ति का है। यह भक्त के शारीरिक प्रयासों को कहा जाता है।[45] जीव गोस्वामी ने साध्यभक्ति को मन की 'तत्सामुख्य' स्थिति के रूप में वर्णित किया है।[46] उसके अनुसार यह ''सामुख्य' उपासना अथवा कृष्ण की पूजा से तादात्म्य रखता है। इस प्रकार की उपासना की आवश्यकता भगवत् ज्ञान है, जिसके द्वारा प्रेमभक्ति आती है और अन्त में सभी दुःखों की समाप्ति हो जाती है।[47] साधन भक्ति वैधी और रागानुगा दो प्रकार की मानी जाती है। वैधी भक्ति का तात्पर्य उन धार्मिक कृत्यों से हो, जो किसी राग से नहीं, अपितु शास्त्रों द्वारा बताये गये नियमों से किये जाते हैं।[48] वृन्दावन के लोग जो कृष्ण के लिए भक्ति रखते हैं, उसे रागानुगा भक्ति कहते हैं।[49] इस प्रकार की भक्ति प्रेम की वस्तु के लिए स्वाभाविक इच्छा है। जीव गोस्वामी के मत में वेदान्तिक श्रवण, मनन इत्यादि, जो ब्रह्म ज्ञान में सहायक होते हैं, उपासना के अन्तर्गत आते हैं। इसे ही साधनभक्ति कहा जाता है किन्तु भागवत् धर्म, श्रवण, कीर्तन इत्यादि आन्तरिक रूप से साध्यभक्ति से ही संबंधित हैं।[50]

साधनभक्ति का परिणाम भावभक्ति है।[51] रूप गोस्वामी कहते हैं कि भावभक्ति प्रत्येक मनुष्य में जन्मजात रूप से पायी जाती है। यह आन्तरिक शक्ति (स्वरूपशक्ति) का प्रकटीकरण है। यह भावभक्ति भागवत् प्रेम का प्रारंभ है। एक अन्य स्थल में 'भावभक्ति' 'रति' के रूप में वर्णित की गई है और इसे भक्ति का प्रथम सोपान कहा गया है।[52] रति स्वप्रकाशित है, जब कि यह

प्रकाश की विषय वस्तु के रूप में प्रतीयमान होती है। साधनभक्ति का अभ्यास और कृष्ण की कृपा दोनों भक्त में रति को प्रकट करने में सहायता करते हैं।[53] कभी–कभी कृष्ण की विशेष कृपा से यह रति साधक के मन में बिना किसी साधन भक्ति के आरंभ होती है। यही 'रति' प्रेमभक्ति में अपने चरमबिन्दु पर पहुँच जाती है जिसे जीवगोस्वामी 'प्रीति' कहते हैं। रूप गोस्वामी के अनुसार 'प्रेमभक्ति' के दो कारण हैं – प्रथम कारण भाव है जो अन्तरंग साधना (श्रवण, कीर्तन इत्यादि) के अनवरत अभ्यास से आता है। द्वितीय कारण कृष्ण की दिव्य कृपा (अतिप्रसाद) है, जो उसके संसर्ग में रहने से मिलती है। कृष्ण के संसर्ग में रहने से ही ब्रज की गोपियों में प्रेमभक्ति का उदय हुआ था जबकि उन गोपियों ने कभी किसी प्रकार की साधना का अभ्यास नहीं किया था और न ही उन्होंने 'रति' के रूप में प्रेम की प्रथम संवेदना का अनुभव किया था। ब्रज गोपियों की कृष्ण के लिए प्रेमभक्ति की यही प्रारंभिक स्थिति थी।[54] इस प्रकार हम देखते हैं कि साधनभक्ति के द्वारा भक्त भावभक्ति और तदन्तर प्रेमभक्ति को प्राप्त होता हैं।

भक्ति की मधुसूदनी दृष्टि

अद्वैत वेदांत में ज्ञान की दुरूहता का विचार कर भक्ति और उपासनातत्त्व को महत्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है। आचार्य शंकर ने भक्ति के संदर्भ में ''विवेक चूड़ामणि'' में दो बातें स्वीकार की हैं। प्रथम उन्होंने भक्ति को ''मोक्ष की कारण–सामग्री'' में श्रेष्ठतम कहा है। द्वितीय उन्होंने भक्ति को ज्ञान के समकक्ष मानते हुये उसे अपने स्वरूप का अनुसंधान करना कहते हैं।[55] अतः शांकर दृष्टि से आत्मदेव की उपासना ही भक्ति है। स्वामी विद्यारण्य ने ''ध्यानदीप प्रकरण'' में निर्गुण भक्ति का सूक्ष्म वर्णन करते हुये कहा है कि वस्तुतः ज्ञान वस्तुतन्त्र है और उपासना कर्त्तातन्त्र अर्थात् विषयी के अधीन है।[56] स्वामी विद्यारण्य ने भक्ति के संबंध में दो दृष्टांत प्रस्तुत किये हैं। जिस प्रकार परपुरूष में अनुरक्त कोई स्त्री घर के कामकाज में लगी होने पर भी परसंग का ही आनंद लेती है, जिससे गृहकार्य में व्यवधान होने की संभावना रहती है।[57] किन्तु दूसरी ओर आत्मोन्मुखी उपासना ईमानदार गृहणी की तरह है जो अपने मूल से जुड़े गृहकार्य से क्षणभर भी पृथक् नहीं होती है। इस प्रकार केवलाद्वैत के अनुसार भक्ति जब आत्मविज्ञान के समीप आ जाती है तब वह श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर होती जाती है, और यह निर्गुणोपासना शनैः–शनैः ज्ञान में ही परिणत हो जाती है।[58]

मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति के संबंध में भागवत् विचार को ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार भक्ति एक ऐसी मानसिक अवस्था है, जिसका प्रवाह ईश्वर की ओर रहता है। भागवत् उपदेश को सुनने से मन परिवर्तित होता है और यह परिवर्तित मन अविच्छिन्न प्रवाह से ईश्वर की ओर बढ़ता है। भक्ति के लिए मानसिक अवस्था (मन का कोमल होना) एक पूर्वस्थिति है। इस प्रकार की मानसिक अवस्था अखण्डाकार चित्त वृत्ति से भिन्न होती है। मधुसूदन सरस्वती मन के कोमल होने की प्रक्रिया की व्याख्या करते हैं, जो भक्ति–वृत्ति उत्पन्न होने की पूर्वदशा है।[59] उन्होंने मन की तुलना लाह से करते हुये कहा है कि लाह स्वभाव से ठोस होता है किन्तु जब यह अग्नि के संपर्क में आता है तब यह तरल हो जाता है। ठीक इसी प्रकार मन स्वभाव से तटस्थ होता है किन्तु यह किसी आन्तरिक उत्प्रेरक जैसे–प्रेम, क्रोध, भय इत्यादि के द्वारा परिवर्तित होकर कोमल हो जाता है। इन उत्प्रेरकों को अपनाने में मधुसूदन सरस्वती भागवत् का ही आलम्बन लेते हैं।

मधुसूदन सरस्वती ने एकत्ववाद के सिद्धान्त का भक्तिवाद के सिद्धांत के साथ समन्वय करके एक नया मार्ग प्रशस्त किया है। उन्होंने भक्ति को अविद्या मुक्ति का साधन कहा है। मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति को अद्वैत वेदान्त की श्रवण, मनन इत्यादि की तरह प्रभावशाली भी माना है।[60] मधुसूदन सरस्वती के अनुसार ''दिव्य प्रेम'' अपने चरमोत्कर्ष में साधक को शाश्वत आनन्द की अवस्था में पहुँचा देता है। इस अवस्था में साधक भगवत् के अतिशय प्रेम की तन्मयता का आनंद प्राप्त करता है और इस प्रकार की ''तन्मयता'' ''रस'' है और स्वयं भागवत् है। भागवत के अनुयायियों ने अतिशय आनन्द को ही जीव का उच्चतम उद्देश्य स्वीकार किया है। मधुसूदन सरस्वती भागवत् के इस विचार को स्वीकार करते हैं।[61] अद्वैत वेदांतियों का ऐसा प्रयास ब्रह्मकैवल्य में पर्यवसित हो जाता है, जिसे मधुसूदन सरस्वती परा मुक्ति अथवा परममोक्ष कहते हैं।[62]

मधुसूदन सरस्वती ने वैष्णवों के ''सालोक्य'' और ''सायुज्य'' पदों को एकतत्ववादी विचार के साथ समायोजित कर उनकी पुनर्व्याख्या की है। उन्होंने ''सायुज्य'' को जीव और ब्रह्म के मध्य भेद का अभाव (भेदाभाव) माना है और शालोक्य इत्यादि को अपरा मुक्ति के रूप में स्वीकार किया है।[63] भक्ति सिद्धांत के स्पष्टीकरण के लिए मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति और ब्रह्मविद्या में स्पष्ट भेद किया है।[64] ब्रह्मविद्या निर्विकल्प चित्तवृत्ति है जिसके द्वारा अद्वैत तत्त्व (ब्रह्म) का ज्ञान प्राप्त होता है। दूसरी ओर भक्ति सविकल्प मानसिक स्थिति है जिसकी विषय–वस्तु भगवत् है। ''तत्त्वमसि'' ''अहं ब्रह्मास्मि'' इत्यादि महावाक्य ब्रह्मविद्या को उत्पन्न करते हैं, किन्तु श्रवण, कीर्तन इत्यादि ''नवधा उपासना'' भक्ति की ओर ले जाती है। ब्रह्मविद्या सभी प्रकार के दुःखों की मूल अविद्या का सम्पूर्ण विनाश कर देती है किन्तु भक्ति भगवत् के लिए परम प्रेम में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है। ब्रह्मविद्या के अधिकारी वे कुछ व्यक्ति हैं जो ''साधन–चतुष्टय'' को प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु भक्ति सभी के लिए सुलभ है। भक्ति को प्रारंभ करने के लिए मन का कोमल होना ही एकमात्र पूर्वशर्त है।[65]

यद्यपि मधुसूदन सरस्वती ने ब्रह्मविद्या और भक्ति में भेद किया है किन्तु उनका समन्वयवादी दृष्टिकोण भक्ति की रचना में ब्रह्मविद्या को आत्मसात् कर लेता है। गीता भाष्य में मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि जीवन्मुक्त ज्ञान के द्वारा शुद्ध होकर ही भागवत् के लिए प्रेम को विकसित करता है।[66] मधुसूदन सरस्वती गीताभाष्य में कहते हैं कि पत्र, पुष्प, फल जल अथवा बिना किसी प्रकार के परिश्रम के प्राप्त होने वाली कोई दूसरी वस्तु जो कोई भी मनुष्य परमेश्वर को भक्तिपूर्वक प्रीति से समर्पण करता है, ऐसे शुद्धचित्त पुरूष के उन पत्र पुष्पादि तुच्छ पदार्थों को परमेश्वर भोजन के समान प्रीतिपूर्वक स्वीकार कर तृप्त होता है।[67]

आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति रस का वर्णन करते हुये कहा है कि रति में चित्तद्रवता की आवश्यकता होती है। उस द्रवित चित्त में अनेक विषयों का आकार प्रतिष्ठित होता है। जब बाह्य विषय का आकार प्रतिष्ठित होता है, तब मन तदाकार हो जाता है, किन्तु जब उस मन में अनन्त सौन्दर्य सम्पन्न ईश की वृत्ति होती है तो मन तदाकार हो जाता है। यह धारावाहिक बुद्धि, काम, क्रोध आदि उद्दीपन के द्वारा भी मनोवृत्ति तदाकार सम्पन्न होती है, उसे ही भक्ति आदि शब्दों द्वारा अभिहित किया जाता है। उदाहरणार्थ शिशुपाल की तदाकार वृत्ति

द्वेष के कारण और गोपिकाओं को काम के कारण हुयी थी।[68] मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि 'अद्वैतपथ के पथिक हमारी उपासना करते हैं, और हम मोक्ष पद रूप सिंहासन पर भी आरूढ़ हो चुके हैं, तथापि गोपांगनाओं के प्रेमी किसी एक शठ ने हमें बलात्कार से अपना चेरा बना लिया है।[69]

भक्ति की अवस्थाएं

आचार्य मधुसूदन सरस्वती "भगवद्भक्तिरसासन" में भक्ति की अवस्थाओं का वर्णन करते हुये कहते हैं –

प्रथमम्महतां सेवा, तद्दयापात्रता ततः,
श्रद्वाऽथ तेषां धर्मेषु, ततो हरिगुणश्रुतिः।
ततो रत्यंकुरोत्पत्तिः, स्वरूपाधिगतिस्ततः,
प्रेमवृद्विः परानन्दे, तस्याऽथ स्फुरणं ततः।
भगवद् धर्मनिष्ठाऽतस्स्वस्मिंस्तद् गुणशालिता,
प्रेम्णोऽथपरमा काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिकाः।[70]

1. "महत्सेवा" भक्ति की प्रथम अवस्था है। महत्सेवा दो प्रकार की कही गयी है–भगवद् भक्तों की सेवा (महापुरूषों की सेवा) और साक्षात् भगवान की सेवा। मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि महापुरूषों की सेवा को ही विद्वानों ने मुक्ति का द्वार कहा है और स्त्रियों में आसक्ति चित्त वाले व्यक्तियों का संग नरक का द्वार कहा है। महापुरूष वे हैं जो समदर्शी, शान्त क्रोधरहित, दयालु और परोपकारी होते हैं।[71] भागवत् में तो यहाँ तक कहा गया है कि "हे सूत, गंगा तो जल में स्नान करने से पवित्र करती हैं किन्तु भगवान के चरणों में लवलीन और शांति का आश्रयण करने वाले भक्तजन तत्काल समीप में जाने से ही पवित्र कर देते हैं।[72] सक्षात् भगवान की सेवा के विषय में कहा गया है कि "वृषपर्वा, बलि, वाण, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान ऋक्ष, (जाम्बवान्) गज, गृध (जटायु) बनिया (तुलाधार), व्याघ्र (धर्मनामका), कुब्जा, ब्रज की गोपियां, यज्ञपत्नियां तथा और भी बहुत से लोग हैं, जिन्होंने न शास्त्रों का अध्ययन किया था, न महान् पुरूषों की सेवा की थी, न व्रत किये थे, न तपस्या की थी, केवल मेरे संपर्क से प्राप्त हो गये। संक्षेप में, "महत्सेवा" से तात्पर्य यह है कि साक्षात् भगवान की सेवा किये बिना अथवा भगवद्भक्तों की सेवा बिना भक्ति का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

2. "तद्दया पात्रता" अर्थात् महापुरूषों की दया साधक के अपने में स्थित सुशीलता आदि गुणों से होती है। मधुसूदन सरस्वती भागवत् का उदाहरण देते हुये स्पष्ट करते हैं कि "जो सब प्राणियों में दया करने वाला, किसी से द्रोह न करने वाला, तितिक्षु, सत्यनिष्ठ, निर्दोष, समदर्शी, सबका उपकार करने वाला, विषयों से जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं हुयी हो, दान्त (जितेन्द्रिय) कोमल स्वभाव का, पवित्र आचरण वाला, किसी प्रकार का परिग्रह न करने वाला, निरीह, मिताहारी, शान्त, स्थिरबुद्धि, मुझे ही अपना रक्षक समझने वाला, मननशील, अप्रमत्त, गंभीर आत्मावाला (निर्विकार), धैर्यवान, छः गुणों (भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा, मृत्यु) को जिसने जीत लिया है, ऐसा अहंकार रहित, दूसरों का आदर करने वाला, अवचक, दयालु और तत्त्वज्ञ है (वही श्रेष्ठ मेरा भक्त हो सकता है)।[75] मधुसूदन सरस्वती के मत में उपर्युक्त गुण यदि साधक में न हुये तो महापुरूषोंका संग होने पर भी वह उससे कुछ लाभ नहीं उठा सकता।

3. ''श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु'' अर्थात दूसरी अवस्था में कहे गये गुणों से युक्त और महापुरूषों की सेवा करते हुये जब पुरूष उनकी दया का पात्र हो जाता है तब ''ऐसे धर्मों का आचरण करके मैं भी कृतार्थ होऊं'' इस प्रकार की विशेष रूचि भागवत् धर्मों में होती हैं। कहा गया है – ''पुण्य तीर्थों के सेवन से मनुष्य के पाप नष्ट होते हैं और वह महापुरूषों की सेवा करने लगता है। उस सेवा से उसकी धर्म में श्रद्धा होती है और उस श्रद्धा से भगवान की कथा में रूचि होती है।[76] श्रद्धा का मूल्य प्रेम में है। हम जिससे प्रेम नहीं करते, उसके प्रति कभी भी श्रद्धालु नहीं हो सकते। लोग पवित्र स्थानों और मंदिरों के प्रति श्रद्धा इसलिये रखते हैं क्योंकि वहां पर भगवान की पूजा होती है। उन स्थानों में ईश्वर की सत्ता अधिक अनुभूत होती है।

4. ''हरिगुणश्रुतिः'' अर्थात् भगवान के गुणों का श्रवण करना भक्ति की चौथी भूमिका है। भगवत् में कहा गया है कि ''भगवान मुकुन्द की उत्तम कथा के श्रवण, कीर्तन और चिन्तन के निरंतर बढ़ने से मनुष्य भगवान के उस परम पद को प्राप्त होता है जहां यमराज नहीं पहुँच सकता और जिस मोक्ष की प्राप्ति के लिए राजा लोग भी अपना राज्य छोडकर जंगलों में चले जाते हैं।[77] ''हरिगुण श्रुति'' कहने से संपूर्ण भागवत धर्मो का ग्रहण समझना चाहिये। कहा भी गया है कि ''भगवान विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन, यह नौ प्रकार की भक्ति जिस पुरूष से श्रद्धापूर्वक भगवान में की जा सके, वही सर्वोत्तम शिक्षा है।[78]

श्रवण आदि नवधा भक्ति के द्वारा मुक्ति को प्राप्त करने वाले उत्कृष्ठ भगवद्भक्तों की गणना इस प्रकार की गई है – श्री भगवान विष्णु की श्रवण भक्ति में परीक्षित प्रसिद्ध हुये, कीर्तन में शुकदेव जी, स्मरण में प्रहलाद, पादसेवन में लक्ष्मी जी, अर्चन में पृथु, वन्दन में अक्रूर, दास्य में हनुमान, सख्य में अर्जुन, और सर्वस्व देकर आत्मनिवेदन में राजा बलि प्रसिद्ध हुये और इन सबको मोक्ष रूप फल की प्राप्ति हुयी है।

5. ''ततो रत्यंकुरोत्पत्तिः'' अर्थात् भागवत धर्मों का श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करने से भगवान में रति का अंकुर उत्पन्न होने लगता है। यह पांचवी भूमिका भी भक्ति का ही स्वरूप है। बीज में जब अंकुर उत्पन्न होता है तभी वह वृक्ष या लता का रूप धारण करता है, इसी प्रकार यह भक्ति रूप कल्पना भी इस भूमिका में अंकुरित होकर ही आगे अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होती है।

6. ''स्वरूपाधिगतिस्ततः'' अर्थात् परमात्मस्वरूप का स्थूल और सूक्ष्म इन दोनों शरीरों से भिन्न रूप में साक्षात्कार ही छठी भूमिका है, नहीं तो देह इन्द्रियादि के विक्षेप से भगवत्–स्वरूप में उत्पन्न हुयी रति भी व्यर्थ हो जाती है और साधक पूर्ण भगवदाकारता को नहीं प्राप्त हो सकता है। व्यावहारिक रूप में यह अवस्था अद्वैत सम्प्रदाय की ब्रह्म विद्या से सादृश्य रखती है। इसकी तीन प्रधान उप अवस्थायें भी हैं। इसमें प्रथम– सूक्ष्म शरीरों से भिन्न जीव के सत्य स्वरूप का अनुभव करना। द्वितीय– सर्वव्यापी ब्रह्म और जीव के सत्य स्वरूप के तादाम्य का अनुभव करना। तृतीय– इस प्रकार के तादात्म्य अनुभव से वैराग्य और परावैराग्य तक पहुँचना है।

7. ''प्रेमवृद्धि'' अर्थात् इस अवस्था में साधक में परावैराग्य का उदय हो जाने पर वह ईश्वरीय प्रेम से अति अभिभूत हो जाता है। कहा गया है ''बालक अवस्था में विद्यमान हुआ भी वह (प्रहलाद) खिलौने आदि क्रीड़ा साधनों को छोड़कर भगवान में तन्मयचित्त हो कृष्णरूप ग्रह से सताये हुये उन्मत्त की तरह सांसारिक धर्मों को कुछ भी न समझता था। भगवान गोविन्द का

ध्यान करता हुआ वह बैठते, घूमते, सोते, पीते और बोलते हुए किसी प्रकार का इन सांसारिक विषयों को नहीं सोचता था। भगवान की चिन्ता से व्याकुलचित्त हुआ वह कभी रोता था, उन्हीं का चिन्तन करने से आनंदित हो कभी हंसता था, कभी गाता था, कभी उल्लसित होकर चिल्लाने लगता था, कभी लज्जा त्याग कर नाचने लगता था, कभी भावनावश तन्मय होकर उन्हीं की लीलीओं का अनुकरण करता था, कभी भगवत् भावना का स्पर्श होने पर रोमांचित हो उठता था और अखंड स्नेह के आनंद से ऑसू से भरी आँखें भींच लेता था और फिर अत्यानन्द से तृप्त हुआ सा· चुपचाप हो जाता था।[79]

8. "तस्याथ स्फुरणम्" अर्थात् इस अवस्था में साधक को सर्व आनन्दमय भगवान का अपरोक्ष प्रकाश प्राप्त होता है। जिस भगवान से प्रेम किया गया है, उसका साक्षात्कार ही आठवीं भूमिका है। कहा गया है – "उन–उन मेरे दर्शनीय अवयवों से, विलासों से, हास्यों से, कटाक्षों से और भाषणों से जिनका चित्त और प्राण मुझमें आकृष्ट हो गया है, ऐसे भक्तों को मोक्ष की इच्छा न रहने पर भी भक्ति बलात् मोक्ष की ओर प्रवृत्त करती है।[80]

9. "भगवदधर्मनिष्ठा" अर्थात् इस अवस्था में साधक भगवान में पूर्णतः विलीन हो जाता है, यहाँ पर उसकी सभी इन्द्रियां (संवेदनायें) पूर्णरूप से भगवान की सेवा में समर्पित रहती हैं। श्री विष्णुपुराण में कहा गया है – "हे मैत्रेय ! पृथिवी पति (भरत) वह महाभाग शालग्राम रूप भगवान में जिसका मन आसक्त हो गया है, ऐसा होकर चिरकाल तक रहा, इस प्रकार गुणवानों में श्रेष्ठ वह राजा अहिंसादि सम्पूर्ण गुणों में मन को वश में करने में पराकाष्ठा को प्राप्त हो गया। वह राजा केवल हे यज्ञेश! हे अच्युत! हे गोविन्द! हे माधव! हे अनन्त! हे केशव! हे कृष्ण! हे हृषीकेश! यही उच्चारण करता था। हे मैत्रेय! स्वप्न में भी भगवन्नामोच्चारण के सिवा दूसरे किसी का नाम उसके मुख से नहीं निकलता था और न कोई दूसरा विषय ही उसके ध्यान में आता था। वह देव क्रिया के लिए समिधा, कुश, पुष्प आदि लाता था निसंग होकर योग और तप करता था।[81]

भगवद्धर्म निष्ठा दो प्रकार की होती है। प्रथम जिसमें प्रयत्न किया जाता है। वह साधन रूपा जैसे – शुकादि की और, द्वितीय स्वतः सिद्धा जो बिना प्रयत्न के ही प्राप्ति होती है जैसे गोपिकाओं की।

10. "अतस्स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता" अर्थात् अपने को भगवद् गुणों से युक्त समझना। जैसे ("भगवान ने कहा है) "इसके बाद अविद्या निवृत्त हो जाने से मुझे मायावी विभूतियों का अणिमादि अष्टसिद्धियों वाले ऐश्वर्य का, भगवदसंबंधिनी शोभा का और भी मेरे लोक में होने वाली कल्याणकारी सिद्धियों का उपयोग करते हैं।[82]

11. "प्रेम्णोऽथ परमाकाष्ठा" अर्थात् प्रेम की पराकाष्ठा होना। प्राणत्याग पर्यन्त भगवद् विरह को न सहन कर सकना रूप ग्यारहवीं अंतिम भूमिका है।[83] जैसे "गोपियों को भगवान कृष्ण के दर्शन में परम आनन्द होता था और भगवान के बिना उनको एक क्षण भी सैकड़ों युगों सा लगता था।[84] गोपियां कहती हैं – "जब आप प्रातःकाल वन को चले जाते हैं तो आपके दर्शनों के बिना हमें आधा क्षण भी युग के समान प्रतीत होता है और घुंघराले केशों से शोभायमान आपके सुन्दर मुख का दर्शन करती हुयी हमारी आँखों के पलक बनाने वाले ब्रह्मा जी जड़ (हृदय शून्य) ही थे क्योंकि उतने समय तक हमें आपके दर्शनों से वंचित रहना पड़ता है।[85] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भक्ति की इस अवस्था में साधक का भगवान के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है।

उपरोक्त भक्ति की अवस्थाओं से यह बात स्पष्ट होती है कि मधुसूदन सरस्वती के अनुसार साधक को दैवीय कृपा "महताम् सेवा" के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। इस ईश्वरीय कृपा के द्वारा ही साधक में रूचि का भाव जाग्रत होता है। भगवदभक्ति रसायन में ही एक अन्य स्थल में मधुसूदन सरस्वती ने भागवत् का उद्धरण देते हुये कहा है कि कर्मयोग के द्वारा (नित्य और नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से) रूचि अथवा श्रद्धा को उत्पन्न किया जा सकता है। कर्मयोग के द्वारा ज्ञान और भक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। वे व्यक्ति जिनका साधन भक्ति के द्वारा मन कोमल हो जाता है वे भक्ति मार्ग का अनुसरण करते हैं जबकि वैराग्य को विकसित करके अन्य लोग ज्ञान मार्ग का अनुसरण करते हैं। यद्यपि मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति की अवस्थाओं के अन्तर्गत "कर्मयोग" की चर्चा नहीं की है फिर भी उनकी भक्ति की अवस्थाओं के प्रकाश में कहा जा सकता है कि उन्होंने कर्मयोग को भी स्वीकार किया है। मधुसूदन सरस्वती ने भक्तिमार्ग को यथेष्ट बताते हुये गूढ़ार्थदीपिका में लिखा है –

"मुझ भगवान वासुदेव परमेश्वर सगुण ब्रह्म में मन लगाकर – अनन्यशरण रूप और अन्यंत प्रिय होने के कारण उसमें प्रविष्ट कर अर्थात् हिंगुल के रंग में लाख के समान तन्मय कर जो नित्ययुक्त – निरंतर प्रयत्नशील होकर परा – प्रकृष्ट अर्थात् सात्विकी श्रद्धा से युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं – सर्वदा मेरा चिंतन करते हैं उन्हें "मैं" युक्ततम मानता हूँ। सर्वदा मेरे में ही आसक्तचित्त रहने के कारण वे अन्य विषयों से विमुख होकर मेरा ही चिंतन करते हुये अपने दिन रात बिताते हैं। इसलिए उन्हें ही मैं युक्ततम मानता हूँ।"[86]

"शांडिल्य भक्तिसूत्र" में भक्ति की अवस्थाओं का निरूपण श्रद्धा, प्रीति, विरह और तदर्थप्राण संस्थान के द्वारा किया गया है। प्रथम है श्रद्धा, जिन पवित्र स्थानों में भगवान की पूजा होती है, उनके प्रति श्रद्धा प्रकट की जाती है। श्रद्धा का मूल प्रेम में है। द्वितीय "प्रीति" है अर्थात् ईश्वर चिंतन में आनंद। भक्त के लिए यह आवश्यक है कि वह "भगवान के प्रति तीव्र प्रेम रखे। तीसरी है "विरह" अर्थात प्रेमी के अभाव से उत्पन्न होने वाला तीव्र दुःख। जब व्यक्ति भगवान को नहीं पाता है तब वह अपने अंदर तीव्र वेदना का अनुभव करता है – यही विरह की अवस्था है। जब पराभक्ति का हृदय में वास हो जाता है तब सभी अप्रिय वस्तुओं की उपस्थिति अरूचिकर हो जाती है। मुण्डकोपनिषद में कहा गया है – 'उन पर केवल उन पर ध्यान करो और अन्य सब बातें त्याग दो।'[87] भक्ति की इस प्रेम रूपी अवस्था में साधक का प्रेमास्पद भगवान के बिना एक क्षण रहना भी असंभव हो जाता है। शास्त्रों में इसी अवस्था को "तदर्थप्राण संस्थान" कहा गया है। श्रीमद्भागवत् में भी कहा गया है – "हे राजन! हरि के ऐसे मनोहर गुण हैं कि जो लोग उनको प्राप्त कर संसार की सारी वस्तुओं से तृप्त हो गये हैं, जिनके हृदय की सब ग्रंथियाँ खुल गई हैं, वे भी भगवान की निष्काम भक्ति करते हैं।[88] इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर मधुसूदन सरस्वती महान अद्वैत वेदांती हैं और दूसरी ओर वे भगवान कृष्ण के परम उपासक भी हैं। मधुसूदन सरस्वती के अनुसार पूर्णता की खोज में और असीम आनंद की प्राप्ति में एक तत्त्ववादी तत्त्वमीमांसा और भक्तिवाद, दोनों साथ साथ चलते हैं।

❖❖❖

संदर्भ –

1. गूढ़ार्थदीपिका, पृ. 236, चौखंभा सस्कृत संस्थान वाराणसी।
2. वही, पृ. 255
3. वही, पृ. 256
4. वही, पृ. 257
5. वही, पृ. 257
6. दृष्टिर्द्विधापारमार्थिकी अपारमार्थिकी च। तत्र पारमार्थिकी दृष्टिरात्ममः स्वरूपम् अन्या शब्दाद्याकार निर्भासवती जन्मविनाशवती च। नैष्कर्म्यसिद्धि चंन्द्रिका, पृ. 60
7. नित्यस्वरूप चैतन्यत्वे प्राणाद्यनर्थत्वमिति चेन्न, गन्धादि विशेष परिच्छेदार्थत्वाद्। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 2/3/8 पृ.500
8. वहीं, 2/3/32, पृ. 513
9. पंचदशी, 10/17
10. विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ. 581
11. वेदान्ततत्वविवेक, पृ. 236–40
12. शरीरमध्ये स्थितः सर्वशरीरव्यापकः सत्वप्रधान्येन सूक्ष्मभूतारब्धो न्तः करणाख्यो विद्याविवर्ती दर्पणादिवदतिस्वच्छो नेत्रादि द्वारा निर्गत्य योग्यान् घटादि विषयान् व्याप्त तत्तदाकारो भवति द्रुतताम्रादिवत्। देहविषयमध्यवर्ती दण्डायमानस्त्भागो वृत्तिज्ञानाख्यः। सिद्धान्त बिन्दु, 56–57
13. अद्वैतदीपिका, पृ. 12
14. व्युत्थाने याश्चित्तस्य वृत्तयो दीपस्य शिखा इव द्रव्यरूपा भंगुरा अवस्था परिणामामूषानिषिक्तद्रुतताम्रवत् स्वसंयुक्तार्थाकारास्त्रिगुणकार्यत्वात्.... अविलक्षण्या वृत्तयः। योगवर्तिक, 1/4, पृ. 20
15. योगवार्तिक 20
16. वहीं, 1/7, पृ. 28
17. गूढ़ार्थदीपिका, पृ. 462
18. "स्मृति संशय विपर्ययनाम साक्षी चैतन्याश्रयत्वनियमत्।" सिद्धान्तबिन्दु, पृ. 163
19. "यदग्ने रोहितं। रूपं तेजस्मस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य।" छान्दोग्योपनिषद, 6/4/1
20. "अजामेकं लोहित शुक्लकृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपाः।" श्वेता, 4/5
21. सिद्धान्तबिन्दु, पृ. 106
22. सत्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते। मायाविम्बोवशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः। पंचदशी, 1/16
23. सिद्धान्तलेखसंग्रह, पृ. 136
24. पंचदशी, 1/20
25. "इन्द्रियैरथोपलब्धिर्जागरितम्" शंकराचार्यकृत पंचीकरण।
26. इन्द्रियैरर्थविज्ञान देवतानुग्रहान्वितैः।
शब्दादिविषय ज्ञानं तज्जागरितमुच्यते।। पंचीकरण वार्तिक, 13
27. स्वप्नस्थानोन्तः प्रज्ञः सप्तांग एकोनविशंतिमुखः प्रविविक्त भुक्तैजसो द्वितीयः पादः।" माण्डूक्य उपनिषद 4
28. अद्वैत वेदांत की तार्किक भूमिका, जगदीश सहाय श्रीवास्तव, पृ. 23
29. जाग्रत भोग जनक कर्मक्षये स्वाप्नभोग जनककर्मोदये च सति निद्राख्यया तामस्या वृत्या स्थूलदेहाभिमाने दूरीकृते सर्वेन्द्रियेषु निर्व्यापारतया लीनेषु विश्वोऽपि लीन इत्युच्यते तदा स्वप्नावस्था। सिद्धांत बिन्दु पृ 107
30. मण्डूक्योपनिषदि पंचममंत्रस्य शांकरभाष्यात्।
31. अहंकारस्तूत्थानसमय एवानुभूयते, सुषुप्तौ जीवत्वेन तस्यानावृतत्वात् स्मरणानुपपत्तेः। सिद्धान्तबिन्दु पृ. 122
32. "सा (भक्ति) परानुरक्तिरीश्वरे।" शांडिल्यसूत्र, 1/1/2
33. भक्तियोग, स्वामी विवेकानन्द, पृ. 12

34. "सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा"। नारद सूत्र, 1/2
स न कामनया निरीधरूपत्वात्।। 1/7
सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा। 12/25
स्वयं फल रूपमेति ब्रह्मकुमाराः।। 4/30
35. भागवत्, 3/26,11
36. अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे। भागवत 3/26, 12
37. श्रीमदभगवद्गीता, 18/66
38. वहीं 7/16
39. छान्दोग्योपनिषद, 6/2/1
40. भागवत् 3/23, 8–10
41. वही 11/3/31
42. चेतसो वर्तनज्जैव तैलधारासमं सदा। देवीभागवत्।। 7/37/11
43. भक्तिरसामृतसिन्धु 1/1/6 और उसमें जीव गोस्वामी का भाष्य।
44. भगवत्भक्तिरसायन, 1/2/1
45. भगवत्भक्तिरसायन, 1/2/2 पर जीव गोस्वामी का भाष्य।
46. सत्सन्दर्भ, पृ. 450
47. वही, पृ 450
48. भगवत्भक्तिरसायन, 1/2/4–5
49. भगवत्भक्तिरसायन, 1/2/131
50. भगवत् 1/2/6
51. भगवत्भक्तिरसायन, 1/3/1
52. भागवत् 3/25/25
53. भगवत्भक्तिरसायन, 1/3/5
54. वही 1/4, 6–7
55. मोक्ष कारण सामग्यां भक्तिरेव गरीयसी तथा "स्वात्मतत्वानुसंधानं भक्तिरित्य परेजुगुः" विवेकचूड़ामणि, श्लोक 32,33
56. पंचदशी, ध्यानदीप प्रकरण, श्लोक 74
57. पंचदशी, श्लोक 84,85,86
58. 'यावद् विज्ञान सामीप्यं तावच्छ्रेष्ठ्यं विवर्तते।
ब्रह्म ज्ञानायते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः। पंचदशी, श्लोक 122
59. भागवद्भक्ति रसायन, पृ0 25
60. वेदान्तकल्पलतिका, पृ0 65
61. गीतागूढ़ार्थदीपिका, पृ0 1240
62. अद्वैत सिद्धि, पृ0 893
63. अद्वैत सिद्धि, पृ0 893 और 895
64. भगवदभक्ति रसायन, पृ0 19 'ए स्टडीस इन दी फिलासफी ऑफ मधुसूदन सरस्वती में उद्धरित, पृ0 210
65. भगवद्भक्ति रसायन, पृ0 4
66. गीतागूढ़ार्थदीपिका, पृ0 374
67. गीतागूढ़ार्थदीपिका, पृ0 455 – 456
68. भगवद्भक्ति रसायन, अनु0 जनार्दन शास्त्री पांडे, 27/67, दुर्गाघाट वाराणसी पृ 139 भारतीय दर्शन में काम तत्व, लक्ष्मीश्वर प्रसाद सिंह, पृ0 8

69. श्री भगवद्गीता, मधुसूदनी
70. भगवद्भक्ति रसायन, पृ0 87
71. भगवद्भक्ति रसायन पृ0 91, प्रकाशक – गिरिजेश कुमार पांडे, 22/39, पंचगंगा, वाराणसी, द्वितीय सं. 2033
72. यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रशमायनाः।
    सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्या पादाऽनुसेवया।। भागवत 1/1/15 उद्धृत–भगवद्भक्ति रसायन पृ0 92
73. भागवत् 11/12/5–7 पृ0 14
74. भागवत् 11/12/29–31 उद्धृत भगवद्भक्ति रसायन, पृ0 16, पंचगंगा वाराणसी, सं0 2033
75. भागवत् 1/2/16, उद्धृत भक्ति रसायन पृ. 101
76. वहीं, 10/90/50, उद्धृत भक्ति रसायन पृ. 107
77. वही 7/5/23–24 वहीं पृ. 108
78. भगवत् 7/4/37–41, उद्धृत भगवद्भक्ति रसायन पृ. 121
79. वहीं 3/25/36 उद्धृत भगवद्भक्ति रसायन पृ. 123
80. भगवदभक्ति रसायन, पृ0 124
81. भागवत् 3/25,37 उद्धृत भगवद्भक्ति रसायन पृ. 127
82. "प्राण परित्यागावधि विरहासहिष्णुता रूपा" भगवद्भक्ति रसायन पृ. 127
83. भागवत् 10/29/16 उद्धृत भगवद्भक्ति रसायन पृ0 127
84. भागवत् 10/39/15 उद्धृत भगवद्भक्ति रसायन पृ0 127–128
85. गूढ़ार्थ दीपिका पृ0 520–521
86. शांडिल्य सूत्र 2/1/45
87. मुण्डकोपनिषद् 2/2/5
88. आत्मारामाश्च मुनयोनिगृन्था अप्युरुक्रमे
    कुर्वन्त्यहेतुकी भक्तिमित्थं भूतगुणो हरिः।। श्रीमदभागवत, 1/7/10

ईश्वर एवं भक्ति : अद्वैत वेदान्त का यक्ष प्रश्न

राजकुमारी सिन्हा

हम वास्तव में कौन हैं ? कहाँ से आए हैं, हमारे जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य क्या है, और इसकी प्राप्ति कैसे और किन साधनों से हो ? इस प्रकार के प्रश्न सनातन काल–मतलब आज से करीब बारह हजार वर्षों से भी पूर्व, मनुष्य की चेतना के सामने स्वाभाविक चुनौती बनकर, उसे झंकझोरते रहे हैं। इन्हीं के उत्तर खोजने के लगातार मानसिक विश्लेषण ने, दर्शनशास्त्र को जन्म दिया। कालांतर में अलग–अलग परिस्थितियों और व्यक्तियों द्वारा इन प्रश्नों की खोज में अलग–अलग दृष्टिकोण अपनाये गये, जिससे दर्शनशास्त्र के विभिन्न विचारधाराओं का जन्म और उनका विकास हुआ। भारत के विशाल दार्शनिक मानचित्र में इन्हीं बारह हजार वर्षों में कई चितंन परम्पराओं ने जन्म लिया, और बाद में वे बेहद विकसित हुए, जिसके बाद उनके बौद्धिक समर्थकों की बढ़ती संख्या ने उनकी जड़ें गहरी कीं। इन्हीं में अति प्रमुख चिंतन परम्परा अद्वैत वेदान्त की रही है। अद्वैत वेदान्त में कई महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण हैं, पर इनमें ईश्वर की धारणा और उनकी भक्ति, को काफी महत्त्व दिया गया है, और इसे ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य यानि मुक्ति या मोक्ष का साधन माना गया है।

भारत में वेदान्त दर्शन एक ऐसी चिंतन धारा है जिसमें चिंतन की परिपक्वता एवं पराकाष्ठा की दीर्घकालीन परम्परा दिखायी पड़ती है। उपनिषदों पर आधारित वेदान्त दर्शन की वृत्ति ज्ञानमुखी है जिसका मूल उद्देश्य है आत्म ज्ञान या मोक्ष। वेदान्त का शाब्दिक अर्थ वेद का अंत होता है। यहाँ वेद का अंत कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें वेद के मूल प्रतिपाद्य विषय की गवेषणा की जाती है या इस दर्शन मे वेद के चिंतन की पराकाष्ठा (शिखर) है।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त पर आधारित वेदान्त दर्शन अपने दार्शनिक चिंतन को प्रस्थानत्रयी के "ब्रह्म–सूत्र" पर केन्द्रित कर अपने चिंतन को प्रारम्भ करता है। भारतीय दर्शन का हर अध्येता प्रायः इस बात से परिचित है कि नासदीय सूक्त ऋग्वैदिक कालीन ऋषियों के अलौकिक दार्शनिक चिंतन का परिचायक है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने तो यहाँ तक कह डाला कि "नासदीय सूक्त मानव जाति का सर्वोत्कृष्ट स्वाधीन चिंतन है।"[1] अस्तु बादरायण के "ब्रह्म–सूत्र" पर वेदान्त दर्शन के विभिन्न दार्शनिकों ने भाष्य लिखे, यह एक सर्वविदित तथ्य है। इन भाष्यों की विवेचना जिस प्रकार की गयी, उसी अनुरूप एक विशिष्ट दार्शनिक चिंतन परम्परा का विकास हुआ, जिनका अपना–अपना वैशिष्ट्य है। अन्य दार्शनिक विचारधाराओं की भाँति इनमें भी खंडन और मण्डन का तेजस्वी धार है जो इन्हें एक दूसरे से भिन्न करता है और विभिन्न वेदान्त चिंतन परम्परा का उपोद्घात् करता है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि वेदान्त दर्शन में हम भारतीयों के आध्यात्मशास्त्र, दार्शनिक प्रवृतियों एवं विचारों का जो चूडान्त उत्कर्ष दिखायी पड़ता है, वह अन्यत्र नहीं मिलता।

सेवानिवृत्त आचार्य, दर्शन विभाग, रांची विश्वविद्यालय, रांची (झारखण्ड)

हम अपने विचारों को यहाँ अद्वैत वेदान्त पर ही केन्द्रित करना चाहेंगे क्योंकि अद्वैत वेदान्त में जहाँ अत्यधिक दार्शनिक प्रवरता दिखायी पड़ती है वहीं कतिपय महत्त्वपूर्ण आक्षेप भी इस पर लगाये गये हैं। खास कर ईश्वर एवं भक्ति के अस्तित्व एवं स्थिति के संदर्भ में इस पर अनेक आक्षेप लगाये जाते रहे हैं। इसीलिये हमने अपने आलेख का शीर्षक चुना है – ''ईश्वर एवं भक्ति : अद्वैत वेदान्त के यक्ष प्रश्न।''

संहिताओं, उपनिषदों एवं सूत्रों के सामरस्यपूर्ण ज्ञान की जैसी त्रिवेणी शंकराचार्य ने बहायी वह अन्य किसी भाष्यकार के चिंतन में नहीं दिखता। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि शंकराचार्य के भाष्यों द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धांत में जो आध्यात्मिक गांभीर्य, सूक्ष्म तर्क प्रणाली मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। प्रज्ञानंद सरस्वती ने ठीक ही कहा था कि ''शंकर भाष्य प्रसन्न गंभीर है। शंकराचार्य का भाष्य अचल गंभीर, अटल पर्वत के समान अघृष्य, सूर्य के समान प्रोज्ज्वल एवं चन्द्रमा के समान शीतल है। विचारों की तीक्षण्ता में शंकर साक्षात् सरस्वती हैं। शंकर दार्शनिक क्षेत्र में सार्वभौम सम्राट हैं। डा0 थीबो, जिन्होंने रामानुजाचार्य की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है, का निःसंकोच कथन है कि शंकराचार्य के धार्मिक वेदान्त की तुलना, विचारों की निर्भिकता और सूक्ष्मता के क्षेत्र में, न किसी विरोधी सिद्धांत से की जा सकती है और न किसी अवेदान्तिक सिद्धांत से।''[2]

हम सभी जानते हैं कि भारतीय दर्शन में वेदान्त का स्थान अति विशिष्ट है जिसमें दार्शनिक चिंतन की परिपक्वता की दीर्घ परम्परा रही है। वेदान्त चिंतन में मुख्यतः दो धाराएं दिखती हैं। पहला है अद्वैत वेदान्त जिसके चिंतन का मूलाधार है, ''एकमेवाद्वितीयम्'' और ब्रह्म सत्यं जगत्मिथ्या, जीवो ब्रहमैव ना परः''। दूसरा खण्ड है वैष्णव वेदान्त जिसके चिंतन का मूलाधार है 'भक्ति' एवं 'प्रपत्ति'। भक्ति और प्रपत्ति की जितनी गवेषणायें वैष्णव वेदान्त के दार्शनिक चिंतन में की गयी हैं उतनी भक्ति मूलक भावधारा का विपुल भंडार अन्यत्र कहीं दिखायी नहीं देता। अब एक प्रश्न यहाँ यह उठता है कि वैष्णव वेदांत में भक्ति और प्रपत्ति की गहन गवेषणायें हैं तो क्या शुष्क से प्रतीत होने वाले अद्वैत वेदान्त दर्शन में भी ईश्वर एवं भक्ति के लिए कोई स्थान है ?

वेदान्त दर्शन के संदर्भ में ये यक्ष प्रश्न हैं। विश्लेषकों द्वारा सामान्यतया ऐसा माना जाता है कि अद्वैत वेदान्त में ईश्वर एवं भक्ति का महत्त्व नहीं है। यह भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि अद्वैत वेदांत में भी ईश्वर और ईश्वरोपासना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके कई कारण हैं। इन कारणों की व्याख्या के पूर्व हम यह देखेंगे कि अद्वैत वेदान्त में दो प्रकार की भाषा का प्रयोग किया जाता है। एक भाषा है सिद्ध की और दूसरी साधक की। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव ना परः' यह सिद्ध की भाषा है। सिद्ध वह है जो मोक्ष प्राप्त है, जिसने नित्यानित्य वस्तु विवेक, इहमूत्रार्थ–फल–भोग–विराग, शमदमादि साधन सम्पत् और मुमुक्षत्व के चतुष्पादों से गुजरता हुआ श्रवण, मनन और निदिध्यासान द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर चुका होता है, जिसने पूर्ण प्रज्ञा प्राप्त कर ली है या जिसने कैवल्य प्राप्त कर लिया है। किंतु, दूसरी भाषा का जो प्रयोग अद्वैत वेदांत में किया गया है वह है साधक की भाषा।

साधक का तात्पर्य है साधना पथ में अग्रसर मुमुक्षु, जो यह अनुभव करना चाहता है कि सिद्ध की भाषा का तात्पर्य क्या है ? कैसे इस भाषा की सिद्धि हो सकती है ? यानि उसकी समझ कैसे विकसित हो सकती है ? साधक, जिन्हें जीवन और जगत् सत्य प्रतीत होते हैं, के लिये अद्वैत वेदांत में अनिवार्य रूप से भेद दृष्टि की भाषा अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि की भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। यहाँ अद्वैत वेदांत पर जो आक्षेप लगता है कि जब सब कुछ मिथ्या है तो ईश्वर और भक्ति का क्या प्रयोजन ? यह अनुचित है। आक्षेपकर्ता यह भूल जाते हैं कि इस दर्शन में अधिकारी भेद का अत्यधिक महत्त्व है। सिद्ध और साधक के अधिकार अलग–अलग हैं। सिद्ध और साधक की भाषा भी भिन्न–भिन्न होती है। सिद्ध के लिए ईश्वरोपासना व भक्ति की अनिवार्यता नहीं परन्तु साधक के लिए ईश्वर एवं भक्ति इन दोनों का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। सिद्ध की अवस्था साधक की अवस्था से ऊँची अवस्था है। सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हेतु साधक के लिये ईश्वरोपासना व भक्ति आवश्यक है। इस दर्शन में यह स्वीकार किया गया है कि सगुण ब्रह्मोपासना द्वारा ही निर्गुण ब्रह्मोपासना की जा सकती है। यद्यपि यह उपासना सगुण ब्रह्म की दृष्टि से की जा सकती है जिसका आधार अभ्यास ही है परन्तु अद्वैत वेदान्त दर्शन यह स्वीकार करता है कि "अविद्या के द्वारा भी मनुष्य मरणत्व को पार कर अमरत्व को प्राप्त कर सकता है। "अवान्तर भेदेनोपादान विधिरपि मन्दानुकम्पार्थ मपवादत्वेन"[3] या "अविद्यारूप उपासना निर्विशेष ब्रह्म की उपलब्धि कराने वाली विद्या की साधिका है।"[4] यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि उपासना विधि की उपयोगिता सिर्फ सामान्य बुद्धि वाले साधकों के लिये है न कि उच्च स्तरीय साधकों के लिए। उपासना का फल चित्त की एकाग्रता है जिससे सामान्य साधक भी उच्च श्रेणी का साधक हो, निर्गुण निराकार एव कल्पित उपाधियों से परे निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है। उपासना, ब्रह्म साक्षात्कार का परंपरया कारण है न कि साक्षात्कारण। "सगुण ब्रह्म् या ईश्वर की उपासना आदि में द्वैत अर्न्तनिहित है। उपासक एवं उपास्य का भेद रहना उपासना पद्धति के विकास के लिये अनिवार्य है। इसलिये शांकर वेदान्त में सगुण ब्रहम परमार्थ नहीं हो सकता। "अयमात्मा ब्रह्म", 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के द्वारा ब्रह्म एवं आत्मा में अद्वैत का ज्ञान होता है। इन महावाक्यों से जहद्जहल्लक्षणा के जरिये अद्वैत का तत्त्व ज्ञान होता है।"[5]

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जो सिद्ध नहीं है वे आध्यात्मिक दृष्टिकोण से यह कहने के अधिकारी नहीं हैं कि जीव जगत् और ईश्वर मिथ्या हैं। अतः जब भी हम ईश्वर, भक्ति और प्रपत्ति सम्बन्धी अवधारणाओं की विवेचना अद्वैत वेदान्त दर्शन में करते हैं तो हम सदा साधक की भाषा का ही प्रयोग करते हैं।

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा"[6] ब्रह्म सूत्र का प्रथम वाक्य है। बृहदारण्यक उपनिषद् ब्रह्म को "ज्योतिषां ज्योति"[7] मानता है। साथ ही, वह यह भी मानता है कि ब्रह्म अक्षर है। "यह कारण कार्य अवस्था से अतीत है। वह अप्रमेय एवं ध्रुव है"[8] किंतु तैत्तिरीय उपनिषद् में "जन्माद्यस्य यतः"[9] कह कर ब्रह्म को जगत् की उत्पति, स्थिति एवं प्रलय का कारण कहा गया है। शंकर ने ब्रह्म को पूर्णतया ज्ञान रूप माना है। ब्रह्म के विषय में वे कहते हैं – "सर्वंच तञ्चलस्वरूपं चेति सर्वज्ञम्।" अब जब हम 'ब्रह्म' के विषय में चर्चा करते हैं तो वह समस्त जागतिक उपादानों का कारण के रूप में दीखता है। "तू ही आधार सकल त्रिभुवन को, कारण तू सचराचर भूतल को"

का बोध साधक को होता है। जिज्ञासु ''ब्रह्म – जिज्ञासा'' यहीं से शुरू करता है या यूँ कहें कि जिज्ञासु की ब्रह्म जिज्ञासा का यही प्रस्थान बिंदु है। परन्तु जब उसे यह ज्ञात होता है। अविकारी ब्रह्म नानारूपात्मक जगत् का कारण कैसे हो सकता है क्योंकि तब तो कारण–कार्य संबंधों का सिद्धांत ही विखंडित होता सा प्रतीत होता है। ऐसी परिस्थिति में साधक को यह बोध कराया जाना आवश्यक होता है कि संपूर्ण सृष्टि ब्रह्म का परिणाम या विकार नहीं अपितु उसका विवर्त है।

यह विवर्त है क्या ? इसके लिये शंकर ने 'अध्यास' की अवधारणा की सहायता ली है। अध्यास शब्द दो शब्दों के योग से बना है – अधि + अस, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है गलत सोचना। ''अधिशृत्य आस्ते अध्यासः'' अर्थात् जिस वस्तु की प्रतीति हो रही है वह वहाँ पर नहीं है। इसे ही परिभाषित करते हुये शंकर कहते हैं – 'अध्यासो नाम अतस्मिन्नतद् बुद्धि'' अर्थात् वस्तु में अवस्तु एवं अवस्तु में वस्तु की प्रतीति ही अध्यास है। शंकर ने 'अध्यास' को 'माया' का पर्यायवाची माना है। वे कहते हैं ''तमेतमेवं लक्षण मध्यासं पंडिता अविद्योति मन्यते।''[10] साथ ही इसे ''स्मृति रूपः परत्र पूर्व दृष्टवाभासः''[11] (अर्थात् अन्य स्थल पर पहले देखी गयी वस्तु का स्मृति जैसा अभ्यास होना ही अध्यास है) माना गया है। संपूर्ण सृष्टि मायिक है क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त पूर्ण सत्य कुछ नहीं। माया के प्रभाव के कारण ही ब्रह्म कर्ता, धर्त्ता व सहंर्त्ता प्रतीत होता है। ''संसार मूल का कारणभूत अविद्या यद्यपि एक ही है तथापि इसके विभिन्न आकार हैं। उनमें से एक आकार प्रपंच के पदार्थों में परमार्थ सत्व भ्रम का हेतु होता है, दूसरा अर्थ–क्रिया समर्थ (व्यावहारिक) वस्तु का कल्पक है। यही प्रपंच का उपादान है। तीसरा आकार अपरोक्ष प्रतीति के विषयाकार का कल्पक माना जाता है।''[13]

शंकर ने अविद्या को जगत् को उत्पन्न करने वाली बीज शक्ति का नाम दिया ''अविद्यात्मिका हि बीज शक्ति''।[13] यह बीज शक्ति परमात्मा की शक्ति है और इस अविद्यारूप बीज शक्ति का विनाश आत्मविद्या द्वारा ही हो सकता है। शंकर ने माना है कि मायोपाधिक ''ब्रह्म ही ईश्वर है। ईश्वर और ब्रह्म दो नहीं, अपितु दोनों एक ही हैं अर्थात् ईश्वर ब्रह्म का मायोपाधित रूप है। मायोपाधित हुये बिना ब्रह्म स्वयं को ब्रह्म के रूप में नहीं जान सकता। यहाँ यह ध्यातव्य है कि माया द्वारा उत्पन्न उपकरणों के साधन से ब्रह्म जगत् की सृष्टि करता है और अपने को जानने का प्रयास करता है। यहाँ हम माया को जगत् का कारण न कहकर ब्रह्म को ही जगत् का कारण कहते हैं। माया शक्ति से विशिष्ट ब्रह्म (मायोपाधित ब्रह्म) ईश्वर है परन्तु ब्रह्म पर आरोपित माया, जगत् का कारण नहीं हो सकती क्योंकि माया का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है अपितु वह ब्रह्माश्रिता है। माया ब्रह्म पर आश्रित होकर ही सक्रिय हो सकती है क्योंकि स्वतंत्र रूप से न उसमें शक्ति है और न सत्ता या सामर्थ्य। अतः, ब्रह्म ही मूल कारण है परन्तु यह ब्रह्म होता हैं मायोपाधिक या सोपाधिक। ब्रह्म स्वरूपतः जगत् का कारण नहीं है और न ही माया ही स्वतंत्रतः, जगत् का कारण है क्योंकि उसका स्वतंत्र अस्तित्व है ही नहीं। स्वरूपतः न ब्रह्म जगत् का कारण है और न स्वतन्त्रतः माया, अपितु सोपाधिक या मायोपाधिक ब्रहम यानि ईश्वर ही जगत् का कारण है। अद्वैत वेदान्त ब्रह्म के दो लक्षण बतलाता है। एक है, उसका स्वरूप लक्षण और दूसरा है उसका तटस्थ लक्षण। बद्धजीव की दृष्टि से ब्रह्म तक पहुँचने के लिये सोपाधिक ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को जगत् का कारण मानना पड़ता है। ''एक ही परमेश्वर मायानिष्ठ सत्व, रज एवं तम के भेद से ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश संज्ञाओं को प्राप्त होता है।''[15]

ईश्वर के विषय में कहा जाता है "या इष्टे सर्वेश्यमान वर्तते स ईश्वरः"। ईश्वर की धारणा पुरूष परक है जिसे अद्वैत वेदान्त सर्वशक्तिमान तथा जगत् का कर्त्ता, धर्त्ता और संहर्त्ता मानता है। श्रुति वाक्यों में ईश्वर को सर्वकर्मा, सर्व कामः, सर्वगंधः, सर्वरसः माना गया है। किंतु यह ईश्वर जो मायोपाधित ब्रह्म है और शुद्ध ब्रह्म, जो "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति", से व्याख्यायित होता है, के संबंधों के संदर्भ में, उनके बीच द्वैत है और उस द्वैत के मध्य ऐक्य की स्थापना हेतु "अद्वैत वेदान्त, अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद, तुलाभासवाद एवं मुलाभासवाद जैसे सिद्धांतों की सहायता लेता है। ये सभी वाद जीवात्मा एवं परमात्मा के ऐक्य को दृष्टान्तों से बुद्धि–ग्राह्य बनाने की प्रक्रियायें हैं। ये मनन की विभिन्न प्रक्रियायें हैं जो अन्ततः निदिध्यासन में परिवर्तित होकर मोक्ष का द्वार बनती हैं।" ये सभी मनन हेतु सीढ़ियाँ हैं जो अद्वैत तत्त्व को बुद्धि गम्य बनाने की चेष्टा करते हैं क्योंकि अद्वैत तत्त्व (ब्रह्म) का ज्ञान प्राप्त कराना जीवन का अभीष्ठ है।

परन्तु एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अद्वैत दर्शन का यह ईश्वर स्वेच्छाचारी नहीं होता। वह अपने मनमाने ढंग से सृष्टि नहीं करता जैसा कि संगठित सामी धर्मों में माना जाता है। भारतीय सनातन धर्म में ईश्वर जगत् की सृष्टि विशिष्ट प्रयोजन के लिए एक खास नियम के अनुसार करता है। ये नियम 'ऋत्' कहलाते हैं। ईश्वर जगत् की जो सृष्टि करता है उसमें न सिर्फ जीवों के कर्मफल की व्यवस्था होती है अपितु वह सभी जीवों के आध्यात्मिक विकास की भी व्यवस्था करता है। ईश्वर जगत् की सृष्टि खास नियम के तहत जीवों के कल्याणार्थ करता है। यह कल्याण है, जीवों का आध्यात्मिक विकास, जिससे जीव अन्ततः मुक्ति प्राप्त कर सके। "निखिल ब्रह्माण्ड को आध्यात्मिक उर्जा से उर्जान्वित कर उसे कैवल्य प्राप्ति हेतु गतिमान बनाना और उस लक्ष्य तक पहुँचाना (मोक्ष दिलाना) उसी सत्ता की ही शक्ति हो सकती है जो स्वयं में निःसीम है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिशाली है और पूर्ण मंगलमय है और यही तत्त्व ईश्वर है।" यहाँ पर यह उद्धृत करना समीचीन होगा कि बौद्ध, जैन, मीमांसक आदि दार्शनिक कर्मफल सिद्धांत को तो मानते हैं किन्तु कर्मफल नियामक की अवहेलना कर कर देते हैं, जिससे उन्हें इन प्रश्नों के उत्तर देने में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है कि प्राणी द्वारा संपादित कर्मों का फल क्रम विशेष से मिलता है या आकस्मिक रूप से। इसमें यदि इस प्रश्न का उत्तर होता है आकस्मिक तो फिर न तो 'ऋत्' की व्याख्या हो सकती है और न ही कर्मफल की दिशा की, यानि तब सृष्टि ही दिशाहीन हो जायेगी, जिसे कोई चिंतक स्वीकार नहीं कर सकता और यदि कर्मफल किसी नियम या क्रम से मिलते हैं तो इसका कोई न कोई नियामक अवश्य होगा क्योंकि नियम या क्रम स्वयं नहीं बन जाते। यह नियामक अन्य कोई नहीं, अपितु ईश्वर ही होगा। ईश्वर ही कर्मफ़ल का क्रम निर्धारित करता है तथा एक जीव के कर्मफल का समन्वय दूसरे जीवों के कर्मफल के साथ करता है। इस तथ्य को वेदान्त के सभी सम्प्रदायों ने स्वीकारा है जिसकी ओर आलोचकों का ध्यान प्रायः नहीं जाता है। य़द्यपि ईश्वर सिद्धि के लिये यह तर्क सभी कर्मवादियों के लिये बहुत बड़ा प्रमाण है।

मुक्ति को जीवन का परम श्रेयस मानता है वेदान्त दर्शन। मुक्ति किसकी ? किससे ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है उन चिंतकों के लिये जो मुक्ति या कैवल्य की चर्चा करते हैं। मुक्ति होती है जीव की अविद्या से। अद्वैत वेदान्त का भी परम लक्ष्य है कैवल्य की प्राप्ति। इस कैवल्य की प्राप्ति के अनेक चरण हैं जिन्हें अपने प्रयासों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि योगियों

को इसका ज्ञान हो जाता है। वे जानते हैं कि यह ज्ञान श्रुति परम्परा से होती है परन्तु श्रुति परम्परा से प्राप्त ज्ञान की भी खास पृष्ठभूमि होती है जैसे कि बुद्ध और महावीर को था। परन्तु, श्रुति परम्परा का विकास होता कैसे है ? यह विचारणीय प्रश्न है। श्रुति परम्परा, ईश्वरकृत माना गया है। हमारे यहाँ गुरू परम्परा की अजस्त्र धारा प्रवाहित होती रही है और अगर हम श्रुति परम्परा को गुरू आश्रित माने तो हमारे तर्कों में अनवस्था दोष उत्पन्न होने का खतरा उपस्थित हो जाता है। अतः इस दोष से बचने के लिये हमारे यहाँ आदि गुरू के रूप मे ईश्वर को मान लिया जाता है। ईश्वर आदि गुरू हैं जो जीवोंके कल्याणार्थ आध्यात्मिक रहस्यों को श्रुति द्वारा प्रकट करते हैं। 'श्रुति' परम निरपेक्ष सत्ता से संबंधित ज्ञान के उद्घाटन की एक विधि है।''[17] ईश्वर नित्य, मुक्त एवं सनातन है जो सभी सत्यों व सिद्धांतों को जानता है। इसे किसी के अनुग्रह की आवश्यकता नहीं होती है। वह स्वयं अनुग्रहकर्ता है। फलतः, जगत् एवं जीवों के उद्धारकर्ता, अमानव पुरूष ईश्वर की सत्ता को अद्वैत वेदान्त अनिवार्यतः स्वीकार करता है। यह एक निर्विवाद सत्य है।

एक महत्त्वपूर्ण बात और भी सामने आती है और वह यह है कि मनुष्य जिसे सामर्थ्यवान और दयालु मानता है उसके प्रति स्वाभावतः आकृष्ट होता है और उसके अनुग्रह हेतु वह नाना प्रयास करता है। वह उसे प्रसन्न करना चाहता है और उसकी भक्ति करता है ताकि उसकी कृपा दृष्टि वह पाता रहे। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृति इस अनंत शक्ति, सामर्थ्य और मंगल भावनाओं से युक्त ईश्वर तत्त्व की कृपा पाने की रहती है। इस अनंत शक्ति, सामर्थ्य एवं दया भाव से युक्त ईश्वर–सत्ता की महत्ता एवं उपस्थिति को अद्वैत वेदान्त ने माना है। यह ईश्वर सगुण ब्रह्म ही है जो जीवों का चतुर्दिक उत्थान, कल्याण और मोक्ष प्रदायक है। ईश्वर के संदर्भ में अद्वैत दर्शन के तर्क का सार तत्त्व यह है कि किसी चेतन अधिष्ठान के बिना कोई क्रिया संभव नहीं। यह आंशका निर्मूल है कि ईश्वर प्रवृत्ति रहित है – इसलिये वह प्रवर्तक नहीं हो सकता क्योंकि ''श्रुतियों में बार–बार स्पष्ट किया गया है कि अविद्या से चेतन में कल्पित द्वैत से प्रवर्त्य–प्रवर्तक भाव उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वगत, सर्वात्मा तथा सर्वशक्तिमान मानने से उसे सब का प्रवर्तक मानना सर्वथा युक्त है।'' अद्वैत वेदान्त दो प्रकार के द्वैत को मानता है, एक है ईश्वरकृत और दूसरा है जीव कृत। ''ईश्वरकृत द्वैत के संदर्भ में यह मानता है कि ईश्वर से ही जगत् की उत्पत्ति होती है, ईश्वर द्वारा धारित है तथा ईश्वर में ही वह विलीन हो जाता है।'' माया शक्ति से विशिष्ट ब्रह्म जिसे हम ईश्वर कहते हैं। जगत् का मात्र उपादान कारण ही नहीं अपितु इसका निमित्त कारण भी है। यहाँ हम विद्यापति को उद्धृत कर सकते हैं – ''तोहि जनमि पुनी तोहि समाओत, सागर लहर समाना''। वस्तुतः अद्वैत वेदान्त में ''श्रुति वाक्यों में सुसंगति स्थापित कर ब्रह्म को जगत् का कारण माना गया है।''

अद्वैत वेदान्त मानता है कि ''अनंत शक्तिशाली परम मंगलमय ईश्वर से हार्दिक संबंध स्थापित करना एक उच्च कोटि की आध्यात्मिक साधना है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता''। अद्वैत वेदान्त में ईश्वर तत्त्व की स्वीकृति एवं भक्ति की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से स्वीकार की गयी है। इसके लिये सगुण ब्रह्म यानि ईश्वर को स्वीकार करना ही होगा। सामान्यतया, भक्ति निर्गुण एवं निराकार के सम्मुख नहीं हो सकती है। फलतः, भक्ति के लिये सगुण एवं साकार ब्रह्म की आवश्यकता होती है। भक्त जब अपने हृदय कपाट भगवान् के सम्मुख खोलता है तब उसकी यह

चाहत होती है कि भगवान् भी उसे देखे और उसके ह्रदय व मन को आनंद व शांति से भर दें। इस स्थल पर भक्त और भगवान् का द्वैत बना रहता है। यहाँ भक्त और भगवान् की स्थिति – "तू दयालु, दीन हौं, तू दाता, हौं भिखारी" की स्थिति रहती है। किन्तु, भक्त जब भगवान् पर अपने आप को पूर्ण रूप से समर्पित कर देता है तब भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं। पूजा की वेदी, पूजा के फूल, पुज्य और पुजारी एक हो जाते हैं। यह स्थिति भावद्वैत की स्थिति है। भक्ति का जो प्रारंभ द्वैत में होता है उसका अंत भावाद्वैत में होता है। अद्वैतवाद यह मानता है कि पूर्ण ऐक्य, सालोक्य, सायुज्य, सामीप्य या सारूप्य से नहीं हो सकता। पूर्ण ऐक्य तो होता है तादात्म्य से और यह तादात्म्य, ज्ञान से ही हो सकता है। ज्ञान मीमांसा का विकास मोक्ष रूपी पुरूषार्थ की प्राप्ति के साधन के रूप में हुआ। फलतः, यहाँ ज्ञान को मानव जीवन का पर्याय मानते हुये मुक्ति का साधन माना गया है। "सा विद्या या विमुक्तये" इसी का संकेत है।

यह ज्ञान ही है जिसके अभ्युदय से भक्त यह अनुभव करने लगता है कि वह भगवान्, जिसे वह अपने से भिन्न और दूर समझता था, वह तो उसके अंदर ही विद्यमान है। साधक को यह भान हो जाता है कि "तेरा साईं तुझ में ज्यों पुहपन में वास, कस्तुरी का मृग ज्यों, फिरि–फिरि सूंधे घांस"। यहां पर अद्वैत वेदान्त भक्ति की पराकाष्ठा ज्ञान में मानता है किंतु यह भी मानता है कि भक्ति के बिना जीवन के सर्वोच्च शुभ प्राप्ति नहीं हो सकती।

जहाँ तक वेदान्त में भक्ति की स्वीकारोक्ति की बात है, यह निर्विवाद है कि अन्य दार्शनिक सिद्धांतों की भाँति यहाँ भी भक्ति को स्वीकारा गया हैं। हम सभी जानते हैं कि अन्य भावनाओं की भाँति भक्ति की भावना मानव हृदय की स्वाभाविक प्रवृति है जो किसी न किसी रूप में अपना प्राकट्य चाहती है। संकट के समय यह भाव उत्पन्न होता है और प्रारम्भ होता है संकट मोचक के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने का क्रम। आर्त्त भाव से भक्त के करूण पुकार से भक्त वत्सल भगवान् भक्त को त्राण दिलाने लिये लिये दौड़ा–दौड़ा आ जाता है। गीता भी कहती है–

"यदा–यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,
अत्युत्थानामर्धस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्,
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे–युगे"[18]

यहाँ भक्त को कर्मफल के भरोसे भगवान् नहीं छोड़ता अपितु वह आपद्धर्म का पालन कर अपने नियमों में थोड़ी शिथिलता प्रदान कर भक्तों की रक्षा करता है। निःसंदेह, यहाँ आर्त और अर्थार्थी भक्त की आवाज भगवान् सुनते हैं। भक्त जब निराभिमानी हो, भले ही, सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये ही सही, उसे पुकारते हैं तो भगवान् को आना पड़ता है। पूर्ण रूप से ईश्वर की शरण में आने पर ही ईश्वर की अहेतुकी कृपा भक्त पर होती है। यहाँ भक्त प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर बढ़ने लगता है जिससे वह ईश्वरोन्मुख होकर आत्म–साक्षात्कार की ओर कदम बढ़ाता है।

यहाँ यह उल्लेख करना भी समीचीन प्रतीत होता है कि वेदान्त दर्शन में भक्ति का इतना महत्त्व प्रतिपादित किया गया है कि भक्तों की विभिन्न श्रेणियों का उल्लेख भी हम यहाँ पाते हैं। भक्तों की चार श्रेणियों का उल्लेख हमें मिलता है। वे हैं – आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी।

यहाँ प्रथम श्रेणी के भक्त अपने को सर्वथा असमर्थ पाकर ईश्वर की भक्ति करते हैं परन्तु ज्ञानी अपनी ओर से उस परम सत्ता के प्रति कृतज्ञता हेतु भक्ति करते हैं। यह बात भी ध्यातव्य है कि कृतज्ञता अभेदानुभव या समाधि की स्थिति में प्रकट नहीं की जा सकती अपितु भेद के स्तर पर आने पर ही व्यक्त की जा सकती है क्योंकि "जहाँ द्वैत है वहाँ परमार्थ नहीं हो सकता"। (वृ.उ. 4.5.15) श्रुति वाक्य इसके प्रमाण हैं। छान्दोग्य उपनिषद् भी इस तथ्य की पुष्टि करता है। (7.24.–1) ज्ञानी भेद के स्तर पर उतरने पर भक्त हो जाता है। यहाँ एक प्रश्न उठाया जाना स्वाभाविक है कि ज्ञानी को भक्ति की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि ज्ञानी का मन चूँकि सांसारिकता से विरक्त रहता है, अतः उसे ईश्वर चिंतन, स्मरण एवं मनन, नाम संकीर्तन के अतिरिक्त किसी भी चीज में मन नहीं लगता। लोक–संग्रह के निमित्त वे जीवन में सक्रिय रहते हैं। अतः ज्ञानी के जीवन मे भी भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वयं शंकराचार्य का जीवन इस बात का उदाहरण है कि उन्होंने सिर्फ शुष्क तर्कना के बल पर अपने दार्शनिक सिद्धांतों की स्थापना नहीं की है अपितु "सौंदर्य–लहरी" और "गीत गोविन्द" की रचना कर उन्होंने भक्ति की राह प्रशस्त कर दिखाया। शंकराचार्य के दर्शन में भक्ति की अजस्त्र धारा प्रवाहित होती सी दीखती है। इनके अनुसार भक्ति साधक, सिद्ध, सुजान सबों के लिये आवश्यक है। यद्यपि भक्ति के दिशा बोध एवं उद्देश्य भिन्न–भिन्न होते हैं पर संसारी आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु एवं ज्ञानी सबों के लिये अद्वैत वेदान्त में भक्ति और ईश्वरोपासना का मार्ग खुला है, केवल खुला ही नहीं अपितु सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के लिये अनिवार्य कदम भी है।

भक्ति सभी प्रकार के साधकों के लिये आवश्यक व अनिवार्य है। "भक्ति है रस, इसके अर्थ को कह सुनकर नहीं, डूब–मिटकर ही जाना जा सकता है"[19]। गुरू के प्रति श्रद्धा भी भक्ति का ही एक रूप है। ग्रहण शक्ति बढ़ाने के लिए श्रद्धा भक्ति आवश्यक है। भक्ति का मार्ग सर्व सुलभ है। यह सांसारिक प्रवृत्तियों के साथ भी हो सकता है। भक्ति में मानव हृदय के रागात्मक पक्ष का पोषण होता है। प्रायः यह कहा जाता है कि अद्वैत वेदान्त में भक्ति का कोई स्थान नहीं पर यदि गंभीरता से विचार करें तो हम पायेंगे कि अद्वैत वेदान्त में मुक्ति के जिन साधन चतुष्टय की बात की गयी है उसमें तो भक्ति का स्थान है ही। उसके साथ ही, 'तत्त्वमसि" से लेकर "अहं ब्रह्मास्मि" की पूर्ण यात्रा भक्ति से ओत–प्रोत है, जिसकी अलग से विवेचना की जा सकती है और की भी गयी है। यह बात भी उल्लेख्य है कि अद्वैत वेदान्त भक्ति की व्याख्या के क्रम में ममत्व दृष्टि को समत्व दृष्टि में बदलने का आग्रह करता है जिससे सेवक और सेवित दोनों का कल्याण होता है। हमारे मनीषियों ने सदैव इस बात पर जोर दिया है कि स्वयं को प्रयोगशाला बनाओ। इस तथ्य की पुष्टि कठोपनिषद्, बृहदारण्यक उपनिषद्, छन्दोग्य उपनिषद् में क्रमशः यम–नचिकेता संवाद, याज्ञवल्क्य – मैत्रेयी संवाद, उद्दालक–श्वेतकेतु संवाद इसी आत्मवादी अन्तर्दृष्टि का संकेत करते हैं।

अन्ततः, हम कह सकते हैं कि अद्वैत वेदान्त में भक्ति व सेवा का महत्त्वपूर्ण स्थान है या यूँ कहे इनकी परमावश्यकता इस दर्शन में महसूस की गयी। यह कथन सर्वथा अनुचित होगा कि अद्वैत वेदान्त दर्शन में 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' की मान्यता प्रतिपादित कर भक्ति और ईश्वर तत्त्व

की उपेक्षा की गयी है। अद्वैत वेदान्त दर्शन के संदर्भ में यह आक्षेप बिल्कुल निराधार है। आलोचकों ने अद्वैत वेदान्त दर्शन के विरूद्ध जिन दो महत्त्वपूर्ण तथ्यों–ईश्वर और भक्ति को यक्ष प्रश्न के रूप में उभारने का प्रयास किया, वे उनकी अल्प एवं संकुचित दृष्टि के परिचायक हैं। स्वयं शंकराचार्य का जीवन एक उदाहरण है कि शंकर के दर्शन में ईश्वर एवं भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निराकर, निर्विकार ब्रह्म की महत्ता प्रतिपादित करने वाले इस दार्शनिक ने ब्रह्म, ईश्वर एवं भक्ति तत्त्व का जो समन्वय अपने दार्शनिक चिंतन में स्थापित किया वह अद्वितीय है। यदि हम शंकर के अद्वैत वेदान्त दर्शन का सांगोपांग अध्ययन करें तो यह बात स्पष्ट रूप से उभरती है कि शंकर ने अपने ईश्वर और भक्ति तत्त्व की व्याख्या के क्रम में यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि "मानवीय अभीप्सा दिव्य पूर्णता की है।"[20] इसका एक आवश्यक चरण है समग्र पूर्णता। इस "समग्र पूर्णता की दो आवश्यक शर्ते हैं। वे हैं अलौकिक दिव्य के प्रति साधक को उन्मुख करना और दूसरी शर्त है "सार्वभौम दिव्य से साधक की एकाग्रता"[21]। यह समग्र पूर्णता एक योग है जिसमें "ज्ञान योग, कर्मयोग और भक्ति योग की त्रिवेणी का संगम है क्योंकि मानवीय स्वरूप का दिव्य में परिवर्तन अथवा दिव्य ज्ञान, क्रिया एवं आनंद का माध्यम बनना तब तक असंभव है जब तक कि साधक का सच्चिदानंद से एकाकार नहीं होता। इस एकाकार के लिए आध्यात्म में प्रवेश आवश्यक है। "अध्यात्म एक दृष्टिकोण है जिसे जीवन में उतारते ही साधनों के सुनियोजन की शिक्षा मिलने लगती है। यह जीवन को सुदृढ़ बनाने वाली कला का नाम है। व्यक्ति के अंदर छिपी अनन्त क्षमताओं को जगाने वाली विद्या है।"[24] हम यह कह सकते हैं कि "अध्यात्म वह विद्या है जो परोक्ष में छिपी अनंत क्षमताओं को मानवहित में परोसती है।"

मानव की अनन्त क्षमताओं को प्रकट करने के लिए शंकर ने ब्रह्म सूत्र भाष्य (2.1.11) में तर्क–ज्ञान और सम्यक् ज्ञान में अंतर स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार तर्क ज्ञान में एकरूपता का अभाव है, जबकि सम्यक् ज्ञान में एकरूपता होती है। "शंकर के वेदान्त दर्शन में एकरूपता, अखंडता, अबाधितत्व, अव्यभिचारिता आदि विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है।" उनके अनुसार परमार्थ सत् एवं परमार्थ ज्ञान का निर्णय इन्हीं मानदंडो पर शंकर वेदान्त में स्थापित किया गया है। "ब्रह्मात्मैक्य भाव की उपलब्धि परमार्थ है और इस परमार्थ के पूर्व सब लौकिक तथा वैदिक व्यवहार, समुचित एवं संगत हैं।" ये शंकर वेदान्त के बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धांत हैं।[25] इन्हीं के द्वारा शंकर ने ईश्वर एवं भक्ति तत्त्व की व्याख्या पूर्ण स्पष्टता के साथ किया है। निश्चित तौर पर शंकर वेदान्त में अद्वैततत्त्व की प्राप्ति के लिये ईश्वर एवं भक्ति तत्त्व की जो समन्वयात्मक व्याख्या, जिस स्पष्टता एवं प्रखरता से प्रस्तुत की गयी है, वह श्लाध्य है एवं गहन चिंतन, मनन एवं निदिध्यासन के विविध आयामों के द्वार खोलता है।

वस्तुतः शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त इतना विशाल, उदार एवं समन्वयात्मक है कि इस विलक्षण सिद्धांत में वैष्णवों, शैवों, शाक्तों, मीमांसकों, विशिष्ट द्वैतवादियों, द्वैतवादियों, वैदिकों, तांत्रिकों, मांत्रिकों–किसी भी प्रकार की आस्था, धर्म एवं क्रिया से सम्पन्न अन्य आगामी दार्शनिकों के लिये भी स्थान प्राप्य है।

संदर्भ –

1. गौरी नाथ झा – ऋग्वेद संहिता – 19/29 की पाद टिप्पणी – सुल्तानगंज, 1992
2. प्रज्ञानन्द सरस्वती – वेदान्त दर्शनेन इतिहास (हिन्दी अनुवाद) – पृ. 83 – श्री शंकरमठ, वारिशाल प्रकाशन प्रथम संस्करण,, वंगाब्द 1332
3. वेदान्त परिभाषा – परिच्छेद – 8
4. डॉ. राममूर्त्ति शर्मा – अद्वैत वेदान्त (इतिहास एवं सिद्धान्त) – पृ. 350 इस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1988
5. प्रो. जी.सी. नायक – दार्शनिक त्रैमासिक – पृ. 73, वर्ष 2001 चतुर्थ अंक
6. ब्रह्म सूत्र, शांकर भाष्य – 1.1.1
7. वृ. दा. उपनिषद् – 4.4.16
8. वही – 4.4.20
9. तैत्तिरीय उपनिषद् – 11.1.1
10. ब्रह्मसूत्र, शंकरभाष्य – उपादेघात:
11. वही, अध्यासभाष्य – पृ. 4
12. तत्त्व प्रदीपिका–IV परिच्छेद – पृ. 606–607 – उदासीन संस्कृत विद्यालय, काशी 1956
13. ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य – 1/4/3
14. वही – वही
15. सुदर्शनाचार्य – अद्वैत चन्द्रिका, पृ. 40, बनारस संस्करण 1901
16. सिन्हा प्रो० राजकुमारी – उर्दू साहित्य पर भारतीय दर्शन का प्रभाव, राँची विश्वविद्यालय, ऐकेडेमिक स्टॉफ कॉलेज, राँची – 2006
17. दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष 47, अंक 4, 2001
18. कबरीदास
19. श्रीमद्भगवत् गीता – चतुर्थ अध्याय – 7 व 8 वां श्लोक
20. अखण्ड ज्योति – पृ. 3, हरिद्वार जुलाई 2012
21. पाण्डेय, रेवती रमण – समग्र योग पृ. 15 – सुरेशोन्मेष प्रकाशन, बनारस
22. वही – वही, पृ. 158, वही
23. वही – वही, पृ. 09, वही
24. अखण्ड ज्योति, हरिद्वार, 2010
25. दार्शनिक त्रैमासिक, पृ. 77, 2011, अंक 4

6

अवान्तर अद्वैती दृष्टियाँ

माध्यमिक शून्यतादर्शन और निर्गुण ब्रह्मवाद

गौरांगचरण नायक

माध्यमिक शून्यता दर्शन तथा निर्गुण ब्रह्मवाद दोनों अपने–अपने स्तर पर बहुत ही प्रभावशाली हैं, इसमें द्विमत हो नहीं सकता। परन्तु यह अत्यन्त ही क्षोभ की बात है कि आचार्य नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन को आक्षरिक अर्थ में शून्यवाद मानकर हमारी दार्शनिक परम्परा में इसकी अनेक प्रकार से अयथार्थ समालोचना की गयी है और उसके साथ–साथ आचार्य शंकर के निर्गुण ब्रह्मवाद को शून्यवादी ढाँचे में ढालकर उसका भी छक्का छुड़ाया गया है। पहले यह विचारने की बात है कि वेदान्ती तथा अन्यान्य वेदवादी दार्शनिक शून्य का आक्षरिक अर्थ लगाकर माध्यमिक दर्शन को जैसे उपहास का पात्र बना दिये हैं, वह कितना यथार्थ है। ब्रह्मसूत्रभाष्य में आचार्य शंकर ने तो शून्यता दर्शन को खण्डन के योग्य भी नहीं समझा, "शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते[1]"। मध्वाचार्य ने शांकर वेदान्त को मायावाद कहकर निर्गुण ब्रह्म को शून्यवादियों की शून्यता के साथ एकीभूत कर दिया, "यत् शून्यवादिनः शून्यं, तदेव ब्रह्म मायिनः"। पहले तो मैं शंकर के निर्गुण ब्रह्मवाद को मायावाद की आख्या देकर शंकर जैसे ब्रह्मवादियों को 'मायिनः' कहने का विरोध करूँगा। माया का स्थान अद्वैत वेदान्त में जरूर है, इसमें तो द्विमत नहीं हो सकता। परन्तु ब्रह्म ही यहाँ पर मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, जो कि "तत्तु समन्वयात्" (1/1/4) सूत्र से ही ज्ञात हो जाता है। माया का स्थान तो यहाँ पर गौण ही समझा जायेगा। जगत् की अनिर्वचनीयता ही यहाँ पर "माया" शब्द से व्यक्त की जाती है और जब माया ब्रह्म की शक्ति के रूप में हमारे समक्ष आती है, वहाँ पर भी वह सगुण ब्रह्म की अनिर्वाच्या शक्ति के रूप में ही उभरती है। जैसे कि आचार्य ने स्वयं कहा है –"सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो, सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो, महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा।[2]" अस्तु, माया तो सगुणब्रह्म की अनिर्वाच्या शक्ति है और इसलिए वेदान्त दर्शन में इसका स्थान बह्म के समक्ष गौण ही समझा जाएगा। फिर निर्गुण ब्रह्म को आक्षरिक अर्थ में शून्यवादियों की शून्यता मानकर वेदान्त के निर्गुण ब्रह्मवाद तथा नागार्जुन के शून्यता दर्शन दोनों के प्रति एक साथ महान् अन्याय किया गया है, यह मेरा मानना है। आचार्य शंकर स्वयं ही तुरीय आत्मतत्त्व या ब्रह्म को शून्य से पृथक् करते हुए अपने ही द्वारा उत्थापित प्रश्न–"शून्यमेव तर्हि तत्?" (क्या यह शून्य मात्र है?) के उत्तर में कहते हैं – "मिथ्यानिर्विकल्पस्य[3]"। परमार्थ तत्त्व शून्य हो नहीं सकता, क्योंकि मिथ्या विकल्प का भी निराश्रय तथा निरालम्ब होना सम्भव नहीं हो सकता। "कंचित् हि परमार्थमालम्ब्य अपरमार्थः प्रतिषिध्यते[4]"– असत् या अनृत का खण्डन करके परमार्थतत्त्व की स्थापना की जाती है और इसीलिए परमार्थतत्त्व जो कि सच्चिदानन्दस्वरूप है, वह शून्यमात्र नहीं हो सकता।

अब शून्यता दर्शन के बारे में भी यह विचार करना जरूरी हो जाता है कि क्या यह आक्षरिक अर्थ में शून्यवाद है? इस विषय पर स्वयं आचार्य नागार्जुन ही मूल माध्यमिककारिका में प्रकाश डालते हुए कहते हैं –

सेवानिवृत्त आचार्य, दर्शन विभाग, उत्कल विश्वविद्यालय, भुवनेश्वर (उड़ीसा)

शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते।।

नागार्जुन का कहना है कि उनका माध्यमिक दर्शन जिस तत्त्व की ओर संकेत करता है, उसे न शून्य कहना चाहिए, न उसे अशून्य ही कहा जा सकता है, वह उभय या अनुभय भी नहीं है। केवल प्रज्ञप्ति मात्र के लिए ही यह कथन अभिप्रेत है। शून्यता दर्शन आक्षरिक अर्थ से शून्यवाद नहीं है। शून्यता निःस्वभावता का नामान्तर मात्र है। इसीलिए शून्यता दर्शन के साथ निर्गुण ब्रह्मवाद को एकीभूत करने का प्रयास दोनों ही दर्शनों के प्रति महान् अतिचार ही है।

अस्तु, अब देखना है – शून्यता दर्शन वास्तव में है क्या? क्या यह अद्वैत ब्रह्मवाद की तरह कोई पराजागतिक निरपेक्ष परमतत्त्व की ओर संकेत करता है जिसे श्रुति अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ या अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य या 'नेति, नेति' आदि कहकर निषेधात्मक ढंग से ही निर्देश करती है? टी.आर.बी.मूर्त्ति, सी.डी.शर्मा आदि विद्वानों के अनुसार शून्यता एक ऐसा पराजागतिक परमतत्त्व है जिसके बार में कुछ कहा नहीं जा सकता। मूर्त्ति के अनुसार शून्यता दर्शन 'नो रियालिटी, ड्रॉक्ट्रिन' अर्थात् सत्ता–शून्यता का सिद्धान्त नहीं है, यह तो 'नो–व्यु–एवाउट–रियालिटी' अर्थात् सत्ता की अगोचरता अव्यपदेश्यता का सिद्धान्त ही है।[5] उपनिषद् में जिस परम सत्ता के बारे में 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' कहा गया है, शून्यता दर्शन में शून्य केवल वैसे ही एक परमसत्ता के प्रति संकेत करता है जो सब मानस–प्रत्ययों से परे है और जिसके बारे में कोई भी दार्शनिक सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता। "अस्ति, नास्ति, उभय, अनुभय, इति चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यत्वम्"–परमसत्ता तो है, किन्तु उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वह बुद्धि के परे है। शून्यता दर्शन को ऐसा एक परम सत्तावादी सिद्धान्त मानने पर उसमें और निर्गुण ब्रह्मवाद में ज्यादा कुछ अन्तर रह नहीं जाता। इस अर्थ में शून्य और ब्रह्म में कोई अन्तर न होने के कारण शून्यवाद ब्रह्मवाद का ही नामान्तर मात्र बन जाता है। राधाकृष्णन्, शेरबॉत्सकी जैसे अद्वैतवादियों से ही ऐसी भावधारा आधुनिक काल में चलने लगी, परन्तु इसकी पुष्टि तो टी.आर.बी. मूर्त्ति तथा सी.डी. शर्मा जैसे विद्वानों के हाथ हुई। इसलिए यहाँ पर सी.डी. शर्मा के मत की थोड़ा सविस्तर आलोचना करना जरूरी समझता हूँ।

डॉ. शर्मा का कहना है –"शून्यवाद विशुद्ध विज्ञान को ही तत्त्व मानता है। नागार्जुन ने तत्त्व का लक्षण जो अपरोक्ष, निर्विकल्प, प्रपंचातीत आदि शब्दों से किया है, वह विशुद्ध विज्ञान के अतिरिक्त और किसका हो सकता है[6]?" आगे चलकर वे कहते हैं '–"हमारे मत से शून्यवाद और अद्वैत वेदान्त में केवल आग्रह का भेद है, मत का भेद नहीं।" "शून्यवाद दर्शन विकास की पूर्वभूमि है और वेदान्त उत्तरभूमि"। बौद्ध तथा वेदान्त ये दोनों दर्शन भगवती श्रुति से ही प्रेरणा पाते हैं। अतः उनमें वास्तव में भेद ही नहीं है, इस मत की पुष्टि करते हुए डॉ. शर्मा कहते हैं – "प्रत्येक बौद्ध प्रकट वेदान्ती है और प्रत्येक वेदान्ती प्रकट बौद्ध है। बौद्ध और वेदान्त दर्शनों की जननी श्रुति है, दोनों ने इसी माता का स्तन्यपान किया है, दोनों एक ही केन्द्रीय विचार की छत्रछाया में पलकर बड़े हुये हैं, दोनों एक ही मत के पोषक रहे हैं, दोनों एक ही दर्शन के विकास के विभिन्न रूप हैं[7]।" मेरा तो इस बारे में यह वक्तव्य है कि बौद्ध तथा वेदान्त दोनों ही अपने–अपने स्तर पर महान् हैं और उनकी विशेषताओं को नष्ट करके उन्हें एकाकार करने का यह प्रयास दोनों

के प्रति घोर अविचार है। हाँ, यह अवश्य मानना होगा कि उपनिषदों का प्रभाव इन दोनों दर्शनों के ऊपर किसी न किसी प्रकार से होना, चाहे वह प्रत्यक्ष रूप से हो या परोक्षरूप से, स्वाभाविक ही है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इनमें वास्तव में कोई भेद ही नहीं है। ऐसी एकीकरण की प्रक्रिया से हमारी महान् दार्शनिक परम्पराओं को कोई लाभ नहीं पहुँचने वाला है, बल्कि हानि ही होगी, क्योंकि इससे हमारे विभिन्न दर्शनों की अपूर्व विशेषताओं को देख पाना हमारे लिए असम्भव हो जायगा। शून्यता दर्शन के सम्बन्ध में मेरा यह कहना है कि अगर शून्यता को आक्षरिक अर्थ में शून्य समझना गलत है, तो उसे एकमेवाद्वितीय परब्रह्म या आत्मतत्त्व के समान कोई पराजागतिक परमसत्ता या परमतत्त्व समझना भी उससे कम भ्रमात्मक नहीं है। यहाँ तत्त्व के सम्बन्ध में चन्द्रकीर्ति अपने भाष्य में स्पष्ट कहते हैं, "तदेवमनानार्थता तत्त्वस्य लक्षणं वेदितव्यं, शून्यतैकरसत्वात्"[8], वहाँ चन्द्रधर शर्मा जैसे वेदान्ती दार्शनिकों ने कहाँ से और कैसे विशुद्ध विज्ञान को तत्त्व के रूप में लाकर खड़ा कर दिया, यह मेरी समझ के बाहर है। ऐसे दुराग्रह की समालोचना करते हुए चन्द्रकीर्ति ने प्रसन्नपदा में जैसे अत्यन्त ही रोचक ढंग से शून्यता की व्याख्या की है, वह प्रणिधान योग्य है –"यो 'न किंचिदपि ते पण्यं दास्यामी 'त्युक्तः, स चेद् 'देहि भोस्तदेव मह्यं' न किंचिन्नाम पण्यमिति ब्रूयात्, स केनोपायेन शक्यः पण्याभावं ग्राहयितुम्[9]" प्रज्ञाकरमति का कहना है कि सब धर्मों की निःस्वभावता जो कि अकृत्रिम वस्तु रूप है, वही परमार्थ है –"परमः उत्तमोऽर्थः परमार्थः अकृत्रिम्–वस्तुरूपम्, सर्वधर्माणां निःस्वभावता"[10]। धर्मों की निःस्वभावता के अतिरिक्त और कोई पराजागतिक परमसत्ता माध्यमिक या शून्यतादर्शन को मान्य नहीं है।

नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद ही शून्यता है और यह शून्यता ही मध्यमा प्रतिपद् है।

> यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
> सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा[11]।।

नागार्जुन की यह कारिका सुप्रसिद्ध है। सब कुछ प्रतीत्यसमुत्पन्न या परस्परापेक्ष होने से उनका अपना कोई स्वभाव नहीं रह जाता और निःस्वभावता ही वस्तुतत्त्व या वस्तुस्थिति होने से अस्ति, नास्ति आदि कोटियों की कल्पना का अवकाश नहीं रह जाता, जब कोई इन विभिन्न कल्पनाओं से मुक्त हो जाता है, तभी निर्वाण की प्राप्ति होती है। "निरवशेषकल्पनाक्षयरूपमेव निर्वाणम्"[12] – प्रसन्नपदा में निरवशेष कल्पनाक्षय को ही निर्वाण कहा गया है। इस अवस्था में परतत्त्व सम्बन्धी विभिन्न अस्तित्व, नास्तित्व आदि अवधारणाओं से मुक्त होकर प्रज्ञावान् व्यक्ति मध्यम मार्ग का ही अनुसरण करता हैं "परमार्थो ह्यार्याणां तूष्णींभावः"–चन्द्रकीर्ति प्रसन्नपदा में जो 'तूर्ष्णीभाव' को परमार्थ बतलाते हैं, यह कोई अज्ञता या परतत्त्व की अगोचरता के कारण या अज्ञेयवादी अथवा रहस्यवादी तूष्णींभाव नहीं है, यह तो धर्मों की निःस्वभावता का ज्ञान होने पर दृष्टियों के निःसरण के कारण वादों के बीच तटस्थता का ही तूष्णींभाव है। प्रसन्नपदा में आचार्य चन्द्रकीर्ति तथागत के सम्बन्ध में कहते हैं –"तत्र तथागतो न कल्पयति न विकल्पयति, सर्वकल्पविकल्पजालवासनाप्रपंचविगतो हि शान्तमते तथागतः", तथागत सब कल्पना विकल्पजाल तथा वासना प्रपंच से मुक्त हैं। निःस्वभावता का ज्ञान होने पर कल्पनाओं से मुक्ति मिलती है और यही निर्वाण है। निर्वाणप्राप्ति के लिये संसारत्यागी संन्यासी बनकर किसी पराजागतिक तत्त्व के

पीछे नहीं दौड़ना पड़ता है और न कोई अपरिवर्तनीय, चिरन्तन तथा शाश्वत परमसत्ता जिसके बारे में कठोपनिषद् "अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्" आदि शब्दों में कहते हैं। उसी का ब्रह्मात्मैक्य अवबोध के द्वारा यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति यहाँ पर लक्ष्य के रूप में बतायी गयी है। स्थायी तथा अपरिवर्तनीय स्वभाव को न मानने से ही संसार और निःस्वभावता जो कि प्रतीत्यसमुत्पाद तथा शून्यता का ही नामान्तर है, उसी का ज्ञान होने से यहीं पर निर्वाणप्राप्ति हो जाती है। प्रज्ञादृष्टि का ही भेद है। इसीलिए नागार्जुन ने मूलमाध्यमिककारिका में स्पष्ट ही कह दिया है –

न संसारस्य निर्वाणात् किंचिदस्ति विशेषणम्।
न निर्वाणस्य संसारात् किंचिदस्ति विशेषणम्।।
निर्वाणस्य च या कोटिः कोटिः संसरणस्य च।
न तयोरन्तरं किंचित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते।।

सब धर्मों का निःस्वभावता का ज्ञान ही यहाँ पर चतुष्कोटि तर्क का लक्ष्य है। माध्यमिक दर्शन जो कि शून्यता–दर्शन का नामान्तर ही है, लोकसंवृतिसत्य और परमार्थसत्य, व्यवहार और परमार्थ में भेद तो करता है।

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः।।
येऽनयोर्न विजानन्ति विभागं सत्ययोर्द्वयोः।
ते तत्त्वं न विजानन्ति गम्भीरं बुद्धशासने।।
व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते।।

आदि कारिकाओं से स्पष्ट है कि व्यवहार और परमार्थ का विभाग यहाँ पर भी अत्यन्त गुरुत्वपूर्ण माना जाता है। व्यवहार को आश्रय करके ही परमार्थ की देशना हो सकती है और परमार्थ दोनों ही अपने–अपने स्तर पर महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु यहाँ पर परमार्थ–ज्ञान का अर्थ कोई परमसत्ता या परमात्मतत्त्व का ज्ञान नहीं है और इसीलिए ब्रह्मवाद तथा शून्यता–दर्शन में अनेक सादृश्य रहते हुए भी उनमें भेद अत्यन्त ही गहरा है, यह याद रखना होगा। निःस्वभावता के अतिरिक्त यहाँ पर अन्य कोई परमात्मतत्त्व है ही नहीं। शून्यता–दर्शन प्रज्ञापारमिता का दर्शन है। "प्रज्ञा यथाभूतमर्थं प्रजानाति" –प्रज्ञा से यथार्थ ज्ञान होता है और यहाँ यथार्थ या यथाभूत ज्ञान ब्रह्म या आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं, निःस्वभावता का ही ज्ञान है, यह समझ लेना जरूरी है। "तथागतो निःस्वभावो निःस्वभावमिदं जगत्"[13]– सिर्फ जगत् ही नहीं, तथागत भी यहाँ पर निःस्वभाव है।

ब्रह्मवाद में ब्रह्मस्वरूप या ब्रह्मात्मैक्यभाव का ज्ञान होने पर जीवन मुक्ति होती है। शून्यता–दर्शन में निःस्वभावता ही एकमात्र परमार्थ होने के कारण उसी के ज्ञान से ही सर्वकल्पनाशून्य निर्वाण की प्राप्ति होती है। ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है, शून्यता दर्शन में कोई स्थायी स्वरूप या स्वभाव है ही नहीं। अगर 'स्वभाव' शब्द का प्रयोग करके भेद या अन्तर समझना जरूरी होगा, तो यह कहना पड़ेगा कि जहाँ वेदान्त दर्शन में मेरा स्वभाव सच्चिदानन्दरूप है, वहाँ माध्यमिक शून्यता–दर्शन में निःस्वभावता ही मेरा स्वभाव है। प्रज्ञाकरमति कहते हैं –"निःस्वभावतैव सर्वभावानां

निजं पारमार्थिकं रूपमवतिष्ठते। तदेव प्रधानपुरुषार्थतया परमार्थः उत्कृष्टं प्रयोजनमभिधीयते। अत्रापि नाभिनिवेष्टव्यम्। अन्यथा भावाभिनिवेशो वा शून्यताभिनिवेशो वा इति न कश्चिद् विशेषः उभयोरपि कल्पनात्मकतया सांवृतत्त्वात्''[14]। यह समझ लेना बहुत ही जरूरी है कि अस्ति, नास्ति आदि किसी भी कोटि में जब तक कल्पना विचरण करती रहती है, तब तक माध्यमिक शून्यता-दर्शन के अनुसार प्रपंच का उपशम नहीं हो सकता। ''अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता, शुद्धीअशुद्धीति इमेऽपि अन्ता। तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा, मध्येऽपि स्थानं न करोति पण्डितः''[15]। इसीलिये शून्यता को सही ढंग से समझने के सम्बन्ध में बहुत ही सावधानी बरतने का उपदेश दिया गया है। नागार्जुन का कहना है –

विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम्।
सर्पो यथा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता[16]।।

शून्यता को सही ढंग से समझने के लिये नागार्जुन की जो कारिका विशेष ध्यान देने योग्य है, वह इस प्रकार है –

शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यता दृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे[17]।।

शून्यता प्रज्ञा है, जिसमें सब दृष्टियों का और सब वादों का निःसरण, अप्रवृत्ति या निवृत्ति अन्तर्निहित है। इस शून्यता को अगर किसी दृष्टि, वाद या सिद्धान्त के रूप में देखा जाय या बाँध दिया जाय, तो वह फिर प्रज्ञा ही नहीं रह जाती। वह तो फिर एक दृष्टि या वादविशेष बनकर अविद्या या अज्ञान का ही कारण बन जाता है। चन्द्रकीर्ति इसी कारिका का भाष्य करते हुए आर्यरत्नकूटसूत्र से बुद्धवचन का जो उल्लेख करते हैं, वह शून्यता को सही ढंग से समझने के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा, इसीलिए उसे मैं कुछ विस्तार से ही यहाँ रखना ठीक समझता हूँ। बुद्ध भगवान स्वयं आर्यरत्नकूटसूत्र में काश्यप से कहते हैं –''सर्वदृष्टिकृतानां हि, काश्यप, शून्यता निःसरणम्। यस्य खलु पुनः शून्यतैव दृष्टिः, तमहमचिकित्स्यमिति वदामि। तद्यथा, काश्यप, ग्लानः पुरुषः स्यात्। तस्मै वैद्यो भैषज्यं दद्यात्, तस्य तद् भैषज्यं सर्वदोषानुच्चार्य स्वयं कोष्ठगतं न निःसरेत्, तत्किं मन्यसे, काश्यप, अपितु स पुरुषस्ततो ग्लान्यान् मुक्तो भवेत्? 'नो हीदं, भगवन्! गाढतरं तस्य पुरुषस्य ग्लान्यं भवेत् यस्य तद् भैषज्यं सर्वदोषानुच्चार्य कोष्ठगतं न निःसरेत्।' भगवानाह – 'एवमेव, काश्यप, सर्वदृष्टिकृतानां शून्यतानिः सरणम्। यस्य खलु पुनः शून्यतैव दृष्टिः, तमहम–चिकित्स्यमिति वदामि' इति।'

शून्यता सब वादों से, सब दृष्टियों से परे है। शून्यता को अस्ति, नास्ति, उभय, अनुभय आदि दृष्टियों के अन्तर्भुक्त करने से शून्यता-दर्शन का लक्ष्य सब दृष्टियों से, सब कल्पनाओं से मुक्ति –यह लक्ष्य ही व्याहत हो जाता है। शून्यता-दर्शन न अस्तित्ववादी है, न नास्तित्ववादी है। ''अस्तीति नास्तीति कल्पनावतामेवं चरन्तां न दुःखं शाम्यति'' –इस बुद्धवचन पर भाष्य करते हुए चन्द्रकीर्ति ने सभी अस्तित्ववादी तथा नास्तित्ववादियों के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। शून्यता-दर्शन आक्षरिक अर्थ से शून्यवाद तो नहीं है, क्योंकि माध्यमिकदर्शन होने के नाते यह सब वादों में तटस्थता का ही प्रख्यापन करता है। ब्रह्मवाद न तो शून्यवादी है, न ही माध्यमिकदर्शन के रूप में तटस्थता इसे स्वीकार है। यह तो आत्मदर्शन, परमात्मदर्शन, ब्रह्मात्मैक्यदर्शन है।

इसीलिये शांकर वेदान्त निर्गुण ब्रह्म को परमतत्त्व के रूप में स्वीकृति देने के साथ–साथ चित्तशुद्धि तथा आत्मदर्शन में सहायक के रूप में ईश्वर–भक्ति को भी स्थान देता है। ब्रह्मसूत्रभाष्य में आचार्य शंकर का कहना है कि अविद्यावस्था में ही ब्रह्म का उपास्य–उपासकादिलक्षण सब व्यवहार सम्भव होता है। यह तो आचार्य शंकर का परमार्थतत्त्व है फिर भी आचार्य ने वहीं पर यह भी कहा है कि "एक एव तु परमात्मा ईश्वरः तैः तैः गुणविशेषैः विशिष्ट उपास्यो यद्यपि भवति, तथापि तथागुणोपासनेनैव फलानि भिद्यन्ते। 'तं यथायथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः ...... स्मृतेश्च यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः" (गीता)। यद्यप्येक आत्मा सर्वभूतेषु स्थावरजंगमेषु गूढः, तथापि चित्तोपाधिविशेषतारतम्या–दात्मनः कूटस्थनित्यस्यैकरूपस्याप्युत्तरोत्तरमाविष्कृतस्य। तारतम्यमैश्वर्यशक्तिविशेषैः श्रूयते – "तस्य य आत्मानमाविस्तरां वेद" (ऐ.आ.) इत्यत्र। स्मृतौ अपि – "यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा इत्यादि" (गीता) इति "यत्र यत्र विभूत्याद्यतिशयः स स ईश्वर इत्युपास्यतया, चोद्यते।" "एवमेकमपि ब्रह्म अपेक्षितोपाधिसम्बन्धं निरस्तोपधिसम्बन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यते"[18]। आचार्य शंकर के ब्रह्मवाद या आत्मदर्शन में ही भगवदुपासना या भक्ति का स्थान हो सकता है, चाहे वह पारमार्थिक सत् न भी हो। व्यवहार के स्तर पर भी वेद, स्मृति आदि श्रुति–स्मृतियों का स्थान माध्यमिकदर्शन में या बौद्धदर्शन के किसी भी स्तर पर सम्भव नहीं है।

इसी तरह वेदान्तदर्शन में जीवन्मुक्ति का जो आदर्श है उसमें निर्गुण परब्रह्म का तत्त्वज्ञान या ब्रह्मात्मैक्यानुभव अनिवार्य है। बौद्ध महायान दर्शन जिसमें आचार्य नागार्जुन के माध्यमिक शून्यवाद एक मुख्य धारा है–इसमें बोधिसत्त्व का जो आदर्श उपस्थापित किया गया है, वह यथाभूतदर्शी है और यह यथाभूतदर्शन किसी निर्गुण ब्रह्मदर्शन या ब्रह्मात्मैक्यानुभव नहीं है, यह प्रणिधान योग है। यथाभूतदर्शी धर्मों की निःस्वभावता का ही दर्शन करता है। यहाँ पर धर्मों के स्वभाव या प्रकृति को निःस्वभावता या शून्यता बताया गया है। चन्द्रकीर्ति के निम्नोक्त भाष्य से ही यह स्पष्ट हो जाता है–"या सा धर्माणां धर्मता नाम सैव तत् स्वरूपं। अथ केयं धर्माणां धर्मता? धर्माणां स्वभावः प्रकृतिः। का चेयं प्रकृतिः। येयं शून्यता? केयं शून्यता? नैः स्वाभाव्यं। किमिदं नैः स्वाभाव्यं? तथता। केयं तथता? तथाभावोऽविकारित्वं सदैव स्थायिता, सर्वदानुत्पाद एवं परनिरपेक्षत्वात् अकृत्रिमत्वात् स्वभाव इत्युच्यते।"[19] यथाभूतदर्शी बोधिसत्त्व में इस वस्तुस्वरूप –निःस्वभावता का ज्ञान होने से प्राणीमात्र के प्रति महाकरुणा होती है। "समाहितचेतसो यथाभूतदर्शनं भवति। यथाभूतदर्शिनो बोधिसत्त्वस्य सत्त्वेषु महाकरुणा प्रवर्त्तते"[20] –प्रज्ञाकरमति। शान्तिदेव बोधिचर्यावतार में कहते हैं – "शून्यता दुःखशमनी"। यहाँ पर दुःख का विनाश ब्रह्मात्मैक्यानुभवजन्य नहीं है, शून्यता या निःस्वभावताज्ञानजन्य है – शून्यता–दर्शन तथा ब्रह्मवाद को एकाकार करने के प्रबल दुराग्रह के कारण हमें इस भेद को बार–बार दुहराने की जरूरत होती है। "करुणापरतन्त्रतया परदुःखदुःखिनः सर्वदुःखापहरणाय यत्न[21]" प्रज्ञाकरमति के अनुसार बोधिसत्त्व जिसे निःस्वभावता का ज्ञान हो गया हो, वह करुणा परवश होकर दूसरों के दुःख से दुःखी होने के कारण ही सबके दुःख अपहरण करने में लग जाता है। यहाँ पर 'यत्न' शब्द के प्रयोग से यह सूचित होता है कि दूसरों का दुखापहरण अनायास नहीं होता है, इसके लिए करुणा–परवश होकर बोधिसत्त्व को चेष्टा करनी पड़ती है। आचार्य शंकर के द्वारा दी गई वसन्तऋतु की उपमा से (वसन्तवल्लोकहितं

चरन्तः[22]) तथा सुरेश्वराचार्य के 'अयत्नतो' शब्दप्रयोग से वेदान्त के जीवन्मुक्त के द्वारा परार्थसाधन आदि सत्कर्म अनायास ही होता है, ऐसा सूचित होता है। ''उत्पन्नात्मप्रबोधस्य त्वद्वेष्टत्वादयो गुणाः। अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः।।''[23]

बोधिसत्व में और एक विशेषता लक्ष्य करने की बात है, उसे अपने निर्वाण के लिए लालसा भी नहीं होती, क्योंकि करुणा–परवश होकर दूसरों के दुःख मिटाने के लिये यत्नशील होना ही उसका लक्ष्य है। परार्थसाधिका प्रवृत्ति बोधिसत्त्व में कूट–कूट कर भरी हुई है। जीवन्मुक्त में भी परार्थसाधिका प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से रहती है और वह अनायास ही दूसरों की भलाई करता रहता है। फिर भी भेद यह है कि बोधिसत्त्व दूसरों के दुःखमोचन के आगे अपने मोक्ष को तुच्छ समझता है। उसके विचार में प्राणियों के दुःख मिट जाने से उसे इतना पर्याप्त सुख मिलेगा जो सिर्फ अपने मोक्ष से नहीं मिल सकता। शान्तिदेव बोधिचर्यावतार में कहते हैं –

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्[24]।।

इसीलिये जीवन्मुक्त तथा बोधिसत्त्व में सादृश्य रहते हुए भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद अवश्य है। बोधिसत्त्व सुपुष्पचन्द्र द्वारा बहुतों के दुःख मिटाने के लिए राजा से विपदा की संभावना जानते हुए भी अपने दुःखों की उपेक्षा करके प्राणोत्सर्ग करने की बात बोधिचर्यावतार में देखने को आती है।

अतः सुपुष्पचद्रेण जानतापि नृपापदम्।
आत्मदुःखं न निहतं बहूनां दुःखिनां व्ययात्[25]।।

पंजिकाव्याख्या में तो बोधिसत्त्व सुपुष्पचन्द्र का घातक के द्वारा अत्यन्त ही निष्ठुर तरीके से बध किये जाने का वर्णन मिलता है –''तेन तदाज्ञामनुवर्तमानेन करचरणादिच्छेदक्रमेण अक्षीणि च संदंशिकेन उद्धृत्य जीविताद् व्यपरोपितः''। ''परार्थैकान्त–तृष्णया''[26] अर्थात् दूसरों के मंगल के लिये अपनी मुक्ति को तुच्छ कर देना बोधिसत्त्व आदर्श की विशेषता है। फिर भी दूसरों के हित साधन करते हुए बोधिसत्त्व में न कोई घमण्ड होता हैं, न ही विस्मय होता है – बोधिसत्त्व की यह परार्थसाधिका प्रवृत्ति अत्यन्त ही स्वाभाविक होने के कारण –''अतः परार्थं कृत्वापि न मदो न च विस्मयः''[27] बोधिसत्त्व की यह परार्थसाधिका प्रवृत्ति जो अपने मोक्ष को भी तुच्छ समझे– यह बौद्ध धर्मदर्शन की एक विशेषता है –ऐसा मेरा मानना है। वास्तव में यह बुद्ध भगवान् की महाकरुणा में ही अन्तर्निहित है, जिसके कारण आचार्य नागार्जुन अपनी मूलमाध्यमिक–कारिका की समाप्ति पर गौतम को नमस्कार करते हुए 'सर्वदृष्टिप्रहाण तथा अनुकम्पा या महाकरुणा के कारण ही उन्होंने सद्धधर्म का उपदेश दिया था।' इसी का विशेष भाव से उल्लेख करते हैं।''

सर्वदृष्टिप्रहाणाय यः सद्धर्ममदेशयत्।
अनुकम्पामुपादाय तं नमस्यामि गौतमम्।।[28]

आचार्य चन्द्रकीर्ति अपनी प्रसन्नपदा में 'अनुकम्पा' की व्याख्या करते हुए कहते हैं – ''अनुकम्पामुपादाय महाकरुणामेवाश्रित्य प्रियैकपुत्राधिकतरप्रेमपात्र–सकलत्रिभुवन–जनः, न लाभसत्कारप्रत्युपकारादिलिप्सया''। बोधिसत्त्व का आदर्श तो इसी में अन्तर्निहित है, यह स्पष्ट हो जाता है।

अन्त में दर्शन, विशेष करके इस प्रकार के दर्शन की उपयोगिता के विषय में मेरा कुछ वक्तव्य है। चाहे वेदान्त का ब्रह्मात्मैक्यदर्शन हो या बौद्ध माध्यमिकों का निःस्वभावता–दर्शन हो,

उसका कुछ सुप्रभाव समाज में तभी महसूस होता है, जब सामाजिक स्तर पर कुछ हद तक तत्त्वज्ञान के आधार पर लोक–चरित्र प्रतिष्ठित हो। लोकाचार का सम्पूर्ण विलोप किसी भी आदर्श स्थानीय दर्शन का लक्ष्य नहीं हो सकता और ऐसा लक्ष्य कहीं पर भूल से भी दिखाई दे, तो वह निरर्थक ही सिद्ध होगा। तत्त्वज्ञान के आधार पर लोक–चरित्र को कुछ हद तक आधारित करना तथा उसका संशोधन करना ही आदर्श स्थानीय दर्शन का लक्ष्य होता है और यह सम्पूर्ण असाध्य भी नहीं है। अग्नि का उष्ण होना आचार्य शंकर तथा आचार्य चन्द्रकीर्ति किसे मान्य नहीं है? किन्तु जहाँ शंकर के लिए यह त्रिकालाबाधित न होने से परमार्थ तत्त्वज्ञान नहीं है, वहाँ चन्द्रकीर्ति के लिए भी ऐसा ज्ञान स्वभाव का ज्ञान न होने के कारण इसे स्वभाव मानना परमार्थ नहीं है। चन्द्रकीर्ति प्रसन्नपदा में स्पष्ट कहते हैं –"ननु च गोपालांगनाजनप्रसिद्धमेतद् –अग्नेरौष्ण्यं स्वभावमिति किं खलु अस्माभिरुक्तम् न प्रसिद्धमिति? एतत्तु वयं ब्रूमः–नायं स्वभावो भावितुमर्हति, स्वभावलक्षणवियुक्तत्वात्"[29]। स्वभाव का लक्षण है कि वह आगन्तुक नहीं है और अविचलितरूप है, जैसे कि प्रज्ञाकरमति कहते हैं –"स्वभावस्य च सर्वदा अनागन्तुकतया अविचलितरूपत्वात्"[30]। आचार्य शंकर तो यह स्पष्ट कहते हैं कि अग्नि का उष्ण होना लोक में सम्यक्ज्ञान के रूप में मान्य है – "एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः। लोके तद्विषयं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमित्युच्यते–यथाग्निरुष्ण इति।"[31] केवल त्रिकालाबाधित न होने के कारण ही उसे परमार्थ तत्त्वज्ञान मानना उनके लिए सम्भव नहीं है। एक तरफ जहाँ आत्मतत्त्व 'अपेत ब्रह्मक्षत्रादिभेद' होने से जीवन्मुक्त का बीज उसके ज्ञान में अन्तर्निहित है, वहाँ दूसरी ओर स्वभाववाद के बन्धन से ऊपर उठकर बोधिसत्त्व महाकरुणा से प्रेरित होकर कर्म करना भी बौद्ध शून्यता–दर्शन में निहित ही है। तत्त्वज्ञान के आधार पर लोकचरित्र को कुछ हद तक बदलना या उसका पूर्णरूप से बदलना इतना आसान तो नहीं है, किन्तु यह असम्भव भी नहीं है। आसान इसलिए नहीं है, क्योंकि आचार्य शंकर ने जैसे अध्यास भाष्य में कहा है, ब्रह्मक्षत्रादिभेद से ही लोकव्यवहार चलता है, जिसे वे अध्यास नाम देते हैं और इसलिए इसे अज्ञान से ही अपरिवर्तनीय तत्त्व मान लेना स्वाभाविक हो जाता है, दूसरी तरफ स्वभावदृष्टि को लेकर ही लोक–व्यवहार चलता रहता है, जो कि हमारे सरकारों में बद्धमूल है, शान्तिदेव की भाषा में हमारे जैसों के बारे में कहना उचित होगा –

सर्वमाकाशसंकाशं परिगृह्णन्तु मद्विधाः।
प्रकुप्यन्ति प्रहृष्यन्ति कलहोत्सवहेतुभिः।।[32]

लोक–चरित्र तो कुछ हद तक बदला जा सकता है, किन्तु जीवन्मुक्त या बोधिसत्त्व के किसी विशेष समाज में अपनी सामाजिक स्थिति तथा प्रभाव के ऊपर ही यह निर्भरशील है। लोकाचार का सम्पूर्ण प्रत्याख्यान न दर्शन का लक्ष्य है, न हो सकता है। इसीलिए ज्ञानी के बारे में पंचदशीकार ने 'द्विभाषाभिज्ञ' शब्द का प्रयोग किया है –"द्विभाषाभिज्ञवद् विद्यादुभौ लौकिकवैदिकौ"[33]। फिर भी स्वाभाविक ढंग से लोकहित में प्रवृत्त उस ज्ञानी का समाज के उपयोगी होना और न होना अनेक अंशों में उसी समाज व्यवस्था की विशेष आवश्यकता के ऊपर ही निर्भर करेगा। प्रज्ञा के साथ–साथ करुणा से प्रेरित बोधिसत्त्व किसी भी अवस्था में उदासीन रह नहीं सकता, यही विशेषता ध्यान देने योग्य है –"प्रज्ञया न भवे स्थानं, कृपया न शमे स्थितिः"।

सन्दर्भ –

1. ब्रह्मसू.भा., 2.2.31
2. विवेकचूड़ामणि, 109
3. मांडूक्यकारिकाभाष्य, आगम प्रकरण।
4. ब्रह्मसूत्रभाष्य, .3,3,22
5. डॉ. टी.आर.बी. मूर्ति – द सेण्ट्रल फिलोसॉफी ऑफ बुद्धिज्म, लन्दन, 1955
6. डॉ. चन्द्रधर शर्मा, बौद्धदर्शन और वेदान्त–विजन–विभूति प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण : 1981, उपसंहार।
7. डॉ. चन्द्रधर शर्मा, बौद्धदर्शन और वेदान्त, विजन–विभूति प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण : 1981, उपसंहार।
8. प्रसन्नपदा, 18.9
9. वहीं 13.8
10. बोधिचर्यावतारपंजिका, 9.2
11. मूलमाध्यमिककारिका, 24.18
12. प्रसन्नपदा, 25.3
13. मूलमाध्यमिककारिका, 22.16
14. बोधिचर्यावतारपंजिका, 9.2
15. समाधिराजसूत्र, 9.27
16. मूलमध्यमकारिका, 24.11
17. वहीं, 13.8, "शून्यतायामपि नाभिनिवेशः कर्तव्यः" बोधिचर्यावतारपंजिका, 9.34 द्रष्टव्य।
18. ब्रह्मसूत्राभाष्य, आनन्दमयाधिकरणम्।
19. प्रसन्नपदा, 15.2
20. बोधिचर्यावतारपंजिका, 9.1
21. वहीं, 8.103
22. विवेकचूड़ामणि, 37, "शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तः वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः"।
23. नैष्कर्म्यसिद्धि, 4.6.9
24. बोधिचर्यावतार, 8.108
25. वहीं, 8.106
26. वहीं, 8.109
27. वहीं, 8.109
28. मूलमाध्यमिककारिका, 27.30
29. प्रसन्नपदा, 15.2
30. बोधिचर्यावतारपंजिका, 9.2
31. ब्रह्मसूत्रभाष्य, 2.1.11
32. बोधिचर्यावतार, 9.155
33. विद्यारण्य स्वामी, पंचदशी, 11.130

उपनिषद् और बौद्ध विचारधारा

अखिलेश्वर प्रसाद दुबे

उपनिषदीय युग का अवसान काल तथा बौद्ध युग का प्रारम्भ काल लगभग एक ही था और एक धीरे–धीरे दूसरे में विलीन हो रहा था। वेदों की सत्यगर्भित ऋतमयी चिन्तन के आधार पर ही बौद्ध विचारधारा का विकास हुआ। बौद्ध विचारधारा ने चिन्तन के क्षेत्र में जो नये उपादान दिये; वे वैदिक वाङ्मय से प्रभावित थे। वैदिक वाङ्मय में उपनिषदों का युग एक नूतन विचारधारा के विकास का संकेत करता है। उपनिषदों ने जीवन एवं जगत् के प्रति नैराश्य एवं वैराग्य को प्रधानता दी; किन्तु व्यावहारिक रूप में उसे उतारने एवं लोक–प्रचलित करने का कार्य बौद्ध धर्म ने किया। बौद्ध धर्म ने जन–सामान्य की सूझ–समझ के अनुरूप उन्हीं की भाषा में जीवन की विभीषिकाओं के दर्शन कराये और यह बताया कि इस अन्धकार को पार कर, जीवन के यथार्थ सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है। धर्म की एकांगिता एवं वर्ग संकीर्णता को उपनिषदों ने अस्वीकार कर दिया था। बौद्ध धर्म ने भी इसी का अनुसरण किया। व्यक्तिगत अनुभूतियों की सत्यता पर बौद्ध धर्म के विचार भी समान हैं। उपनिषदों में जो ब्रह्मतत्व का निरूपण है, वही बुद्ध का धर्म है। दोनों ही इस अंतिम सत्य की खोज के लिए बौद्धिक प्रयास की निरर्थकता के पक्षपाती हैं। उपनिषद् एवं बौद्ध दोनों की ही दृष्टि में जीव और जगत् परिवर्तन के अधीन होने के कारण नाशवान् हैं। इस प्रकार उपनिषदों की गम्भीर, उदार एवं व्यापक विचारधारा को ही महात्मा बुद्ध ने बौद्धिकता की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टिकोण मानते हुए व्यक्ति की आत्मोन्नति का मार्ग बताया है। उपनिषदों के ऋषियों ने जिस ज्ञान का प्रवर्त्तन किया, वह एक उच्चकोटि का आध्यात्मिक एवं तात्विक उपदेश था अथवा उपनिषदों की भाषा में कहें, तो गुह्य आदेश था।1 उपनिषदों के आध्यात्मिक यज्ञ सम्बन्धी विचार, उनके पराविद्या सम्बन्धी उद्‌गार, उनके द्वारा ज्ञानवाद का प्रचार, उनके 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' सम्बन्धी उपदेश निश्चय ही साधारण जनता के लिए नहीं हो सकते थे। यही कारण है कि उपनिषदों की उपर्युक्त शिक्षा का भगवान बुद्ध ने अपने अनुभव के आधार पर धर्म, शील, समाधि, प्रज्ञा और सबसे अधिक व्यापक मैत्री भाव के रूप में जनसामान्य में प्रचार किया। महात्मा बुद्ध ने जिस सत्य की व्यावहारिक प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया है, वह तात्विक रूप में उपनिषदों में ही अन्तर्निहित विचार हैं। जनसामान्य के लिए वेद का, ज्ञान का पर्यवसान क्या हो सकता है; इसी का निरूपण बुद्ध ने किया है और इसीलिए सम्भवतः वे उसकी तात्विक व्याख्या में नहीं गये हैं। किन्तु जनसामान्य के ज्ञान से आशय यहाँ निम्नकोटि के ज्ञान से नहीं है; अपितु केवल उच्चतम विशुद्ध वास्तविक ज्ञान से है। इसीलिए कुमारिल जैसे कट्‌टर मीमांसक ने भी बौद्ध दर्शन का 'उपनिषत्प्रभवत्व' स्वीकार किया है और इस रूप में उसे प्रमाण माना है।

वास्तविकता यह है कि बौद्ध धर्म केवल उस विचारधारा के आन्दोलन का एक परवर्ती रूप था, जिसका पूर्ववर्ती रूप उपनिषदें थीं। उपनिषदों के बहुत से सिद्धान्त निःसन्देह विशुद्ध बौद्ध

दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

धर्म के ही सिद्धान्त हैं अथवा इसे इस रूप में व्यक्त किया जा सकता है कि अनेक विषयों में बौद्ध धर्म ने ठीक–ठीक रूप में उन्हीं सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप दिया; जो उपनिषदों में प्रतिपादित किये गये थे।[2] उपनिषदें एवं बुद्ध दोनों ही समान रूप से यह प्रतिपादन करते हैं कि न तो यज्ञ आदि से और न ही तपश्चर्या से बार–बार जन्म ग्रहण करने से छुटकारा मिल सकता है। केवल सत्य के साक्षात्कार द्वारा एवं यथार्थ सत्ता के ज्ञान के द्वारा जो समस्त जीवन का आधार है, हमें मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। उपनिषद् एवं बुद्ध समान रूप से यह स्वीकार करते हैं कि जीवन एक महत्वपूर्ण पुण्य यात्रा है, जिसमें हमारा आरोहण और अवरोहण दोनों हो सकते हैं। दोनों ही यह मानते हैं कि निरपेक्ष सत्ता का बोध बुद्धि के द्वारा नहीं हो सकता। बुद्ध द्वारा दिया गया परमसत्ता का विवरण कि वह न तो शून्य है, न अशून्य है, न दोनों ही है एवं दोनों में से अन्यतम भी नहीं है; हमें उपनिषदों के इसी प्रकार के अनेक वाक्यों का स्मरण कराता है। यदि यथार्थ कुछ नहीं और यदि विधि का विधान ऐसा ही है कि हम सदा के लिए अज्ञान में ही रहें, तो हमारे अन्दर उक्त विषय सम्बन्धी कभी शान्त न होने वाली उत्सुकता, जो हमें सदैव बेचैन करती है, उत्पन्न न होती। इतना ही नहीं बौद्ध धर्म में आत्मा, संसार एवं इसी प्रकार की अन्य समस्याओं की व्याख्या में उपनिषदों के ही पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है; यथा नामरूप, कर्मविपाक, अविद्या, उपादान, अर्हत्, श्रमण, बुद्ध, निर्वाण, प्रकृति, आत्मा, निवृत्ति इत्यादि।

महात्मा बुद्ध जिस विचारधारा का प्रतिपादन कर रहें थे, वह उपनिषदों में प्रतिपादित विचारधारा का ही पुनरुद्धार है। इसे प्रमाणित करने के लिए उपनिषदों के कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं। जब छान्दोग्य उपनिषद्कार यह कहता है कि 'तद्ध एक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयं। तस्माद सतः सॅजायत।'[3] अर्थात् सृष्टि के आदि में एकमात्र असत् की सत्ता थी और बाद में उससे सत् की सृष्टि हुई। छान्दोग्य उपनिषद् के उपर्युक्त वाक्य में उस सिद्धान्त की ओर संकेत किया गया है, जो आगे चलकर बौद्ध विचारधारा में असत्वाद और शून्यवाद के रूप में पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होता है। महात्मा बुद्ध के 'असत्' के परतत्ववाद मूलक प्रतिपादन का एक दूसरा मनोवैज्ञानिक पक्ष अनात्मवाद का प्रतिपादन है। कठोपनिषद् के इस कथन में कि – 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।'[4] अर्थात् जब मनुष्य की मृत्यु हो जाती है, तो उस पर भिन्न–भिन्न प्रकार से विचार करते हैं। कुछ कहते हैं कि वह अब भी वर्तमान है; दूसरे कहते हैं कि अब उसकी सत्ता नहीं रही। कठोपनिषद् की इस उक्ति में बौद्धों के अनात्मवाद को गर्भावस्था में पाते हैं, जिसके प्रतिपादन में बौद्ध चार्वाकों के साथ थे; जिनके लिए शरीर के अतिरिक्त किसी आत्मा की सत्ता नहीं थी। पुनः कठोपनिषद् में नचिकेतस् की यह पुकार कि प्रत्येक वस्तु की सत्ता आज है, कल नहीं है; ऐन्द्रिक सुख के उपादान केवल इन्द्रियों की प्राणशक्ति का क्षय करते है; जीवन स्वप्न के समान क्षणभंगुर है; जो सौन्दर्य और रति के सुख की साधना करता है; उसे दीर्घ जीवन की कामना नहीं करनी चाहिए – मर्त्यस्य यदन्तकै तत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव। अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदान्तिदीर्घे जीविते कोमेत्।'[5] यह सब बौद्ध मत की ही पुकार समझी जा सकती है; जो नचिकेतस् के शब्दों की ही भाँति बुद्ध द्वारा भी इस प्रकार व्यक्त की गयी है कि – सर्वं दुखःम् दुःखम् अर्थात् संसार में प्रत्येक वस्तु दुःख का कारण है तथा 'सर्वं क्षणिकम् क्षणिकम्' अर्थात् प्रत्येक वस्तु की सत्ता क्षणिक है।

वृहदारण्यक उपनिषद् में यह कहा गया है कि 'ते हस्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्य चरन्ति'6 अर्थात् उस मनुष्य को जिसे संसार से विरक्ति हो जाय; पुत्र एवं धन की कामना छोड़कर भिक्षु जीवन व्यतीत करना चाहिए। यह संभव है कि वृहदारण्यक उपनिषद् की उपर्युक्त भविष्यवाणी बौद्धों एवं जैनियों के भिक्षुमण्डल की भविष्यवाणी है। पुनः ऐतरेय उपनिषद् के इस कथन में कि – 'इमानि च पञ्चमहाभूतानि --- चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि च उद्भजानि च अश्वा गावः पुरुषः --- यत्किञ्चेदं प्राणि जंगमं च पतात्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्।'[7] अर्थात् इस संसार की समस्त सत्ता, पंच महाभूत, अंऽज, जारुज, स्वेदज, उद्भिज प्राणी, घोड़े, गाय, पुरुष तथा समस्त स्थावर, जंगम, चेतन, अचेतन, नभचर प्राणी प्रज्ञान में ही प्रतिष्ठित हैं तथा प्रज्ञा द्वारा ही ज्ञेय हैं; विज्ञानवादियों के परतत्वशास्त्र तथा ज्ञानशास्त्र के मूल सिद्धान्त की घोषणा पाते हैं। ऐतरेय उपनिषद् के उक्त अवतरण के प्रज्ञान शब्द के स्थान पर विज्ञानवादियों ने सहज ही 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग कर दिया। वृहदारण्यक उपनिषद् में जारतकारव एवं याज्ञवल्क्य संवाद में जब जारतकारव क्रमशः याज्ञवल्क्य को गहनतम प्रश्न पर ले आये; तो याज्ञवल्क्य ने कहा कि – आहर सोम्य हस्तम्। आर्तभागौ आवामेव एतस्य वेदिष्यावः। न नावेतत्सजन इति। तौ ह उत्क्रम्य मन्त्रयांचक्राते। तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुः अथ यत्प्रशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशंसतुः। पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति।[8] अर्थात् उनके लिए एकान्त में जाकर ही इस प्रश्न का विवेचन करना उचित है। इसके उपरान्त जारतकारव और याज्ञवल्क्य में कर्म की प्रकृति के विषय में संवाद हुआ तथा दोनों इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मनुष्य पुण्य कर्मों से पुण्यात्मा तथा पाप कर्मों से पापात्मा हो जाता है। इसी भाव की आवृत्ति कठोपनिषद् में भी हुई – 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्'।[9] अर्थात् आत्मायें अपने ज्ञान और कर्मों के अनुकूल सजीव प्राणी अथवा निर्जीव पदार्थ का रूप ग्रहण करती हैं। कठोपनिषद् का यह ऐसा अवतरण है, जहाँ हम कर्म सिद्धान्त को निश्चित रूप से प्रतिपादित पाते हैं; जिससे बौद्ध तथा अन्य भारतीय दर्शन पद्धतियों को प्रेरणा मिली।

अब उपनिषद् एवं बौद्ध विचारधारा के अन्तःसम्बन्ध का आकलन करते हुए यह देखने का प्रयास किया जाएगा कि उपनिषदों ने बौद्ध विचारधारा को किस प्रकार प्रभावित किया ? बौद्ध विचारधारा में औपनिषदीय विषयों को कितना आत्मसात् किया गया है ? इसमें कोई संशय नहीं है कि बौद्ध धर्म के बीजांकुर उपनिषदों में ही निहित थे। महात्मा बुद्ध ने उसे विकसित होने के लिए समुचित वातावरण प्रदान किया। दुःख जिसकी मौलिक उद्भावना उपनिषदों में पायी जाती है, बौद्ध धर्म में मुख्य स्थान ग्रहण कर लेता है। महात्मा बुद्ध का यह मानना है कि सभी मानवीय वस्तुओं की क्षणभंगुरता ही दुःख का उद्गम है, जिसके अधीन ही संसार के अधिकांश व्यक्ति हैं। यही कारण है कि महात्मा बुद्ध इस प्रश्न पर प्रमुख रूप से विचार करते हैं कि हम किस प्रकार से इस संसार के सब दुःखों से बचकर निकल सकते हैं, जिसमें मृत्यु अवश्यंभावी है ? यही प्रश्न है, जो उपनिषदों ने किया था और अब बुद्ध भी उसी प्रश्न को द्विगुणित बल के साथ पूछते हैं। कठ उपनिषद्[10] में ब्राह्मण नचिकेता ने यम से प्रश्न किया – "तू अपने मकानों को अपने पास रख और नाच और गाने को भी अपने पास रख। जब हम तुझे सामने देखते हैं, तो क्या हम इन पदार्थों

को लेकर सुखी हो सकते हैं ? बौद्ध धर्मावलम्बी प्रश्न करता है कि "चूँकि संसार तो सदा ही जल रहा है, इसलिए हँसी–खुशी व सुख संसार में कैसे रह सकते हैं? तू जो चारों ओर अन्धकार से घिरा हुआ है, क्यों नहीं प्रकाश की खोज करता? यह शरीर जो रोगों से भरा है एवं नश्वर है, नष्ट हो जाता है। यह भ्रष्टाचार का पुंज भी टुकड़े–टुकड़े होकर विनष्ट हो जाएगा। जीवन निःसन्देह अन्त में मृत्यु को प्राप्त होता है।"[11]

उपनिषदों के अनुसार जो स्थायी (नित्य) है, वह आनन्दमय है और जो क्षणभंगुर (अनित्य एवं अस्थायी) है, वह दुःखदायी है – 'यो वै भूमा तदमृतम्; अन्यदार्तम' । नित्य एवं अपरिवर्तनशील ही सत्य या यथार्थ, स्वतंत्र एवं सुखमय है; किन्तु यह संसार जो जन्म, जरा एवं मृत्यु से युक्त है; दुःख के अधीन है। अनात्म में यथार्थ नहीं मिल सकता, क्योंकि अनात्म उत्पत्ति एवं रोग के अधीन है। चूँकि सब वस्तुएँ अस्थायी हैं, इसीलिए दुःख है। इस प्रकार बौद्ध मत की मूलभूत स्थापना अर्थात् जीवन दुःख है, रूढ़ि परम्परा के रूप में उपनिषदों से ग्रहण की गयी है। मज्झिम निकाय में कहा गया है कि सत्य के प्रति अज्ञान समस्त जीवन की प्राम्भूत अवस्था है, क्योंकि एक स्पष्ट, तीक्ष्ण एवं आलोचनात्मक दृष्टि हमें यह अनुभव कराने के लिए पर्याप्त है, कि इस संसार में पत्नी अथवा सन्तान, ख्याति अथवा प्रतिष्ठा, प्रेम अथवा लक्ष्मी कोई भी वस्तु ऐसी नहीं, जो प्राप्त करने के योग्य हो; क्योंकि ये सब, यदि इनमें लिप्त हुआ जाए; तो उद्देश्य तक नहीं पहुँचा सकते।[12] यही कारण है कि महात्मा बुद्ध का कहना है कि 'पातुभावो–उप्पादो' अर्थात् जीवन परिणति की अभिव्यक्तियों एवं तिरोभावों की परम्परा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह असम्भव है कि जो उत्पन्न हुआ है, वह मृत्यु को प्राप्त न हो।[13] जिसका आरम्भ है, उसका विनाश अवश्यंभावी है।[14] जो उत्पन्न हुआ है; उसकी मृत्यु आवश्यक है और इसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। परिवर्तन यथार्थ सत्ता का मूलतत्व या उपादान है। अबाधित परिवर्तन हमारे चेतनामय जीवन का स्वरूप है। प्रत्येक एकाकी घटना श्रृंखला में एक कड़ी है तथा विकास का एक अस्थायी रूप है और विविध श्रृंखलाएँ मिलकर एक सम्पूर्ण का निर्माण करती हैं; जिसे 'धर्मधातु' या 'आत्मिक विश्व' कहते हैं। संयुक्तनिकाय में बुद्ध के कथन को इस प्रकार व्यक्त किया गया है – "हे कच्चान, यह संसार साधारणतया एक द्वैत या द्वय के ऊपर चलता है; जिसका स्वरूप है – 'यह है' तथा 'यह नहीं है' । किन्तु हे कच्चान ! जो कोई सत्य एवं विवेक द्वारा देखता है कि इस संसार में वस्तुएँ किस प्रकार विलीन हो जाती हैं, उसकी दृष्टि में 'यह है' का भाव जगत् में नहीं रहता। —— 'प्रत्येक वस्तु विद्यमान है' यह एक सिरे की उक्ति है। हे कच्चान ! 'प्रत्येक वस्तु नहीं है' यह उसके विपरीत दूसरे सिरे की उक्ति है। सत्य इन दोनों का मध्यम मार्ग है।"[15]

संसार के सम्बन्ध में बुद्ध का यह मानना है कि सांसारिक वस्तुएँ केवल एक शक्ति, एक कारण एवं एक अवस्था का ही नाम है। इसी को धर्म कहते हैं। "मैं तुम्हें धर्म का उपदेश दूँगा" बुद्ध कहते हैं "वह यदि उपस्थित है तो इसका निर्माण होता है। उसी के उदय होने से इसका भी प्रादुर्भाव होता है। किन्तु यदि धर्म अनुपस्थित है तो इसका निर्माण कार्य भी न होगा; उसके अन्त हो जाने से इसका भी अन्त हो जाता है।"[16] इस प्रकार बुद्ध की दृष्टि में भी उपनिषदों के ही समान सम्पूर्ण संसार कारणों द्वारा नियंत्रित है जैसे उपनिषदों का कहना है कि वस्तुओं की अपनी स्थिति जिस रूप में वे दिखायी देती हैं कुछ नहीं है; वरन् वे कारणों की श्रृंखला की उपज हैं, जिनका न आदि है और न अन्त है; वैसे ही बुद्ध का कहना है कि वस्तुएँ अवस्थाओं की उपज हैं।

अस्थिरता के सिद्धान्त को जिसे उपनिषदों एवं प्राचीन बौद्धमत दोनों ने समान रूप से स्वीकार किया था, परवर्ती बौद्धमत ने विकसित करके क्षणिकवाद के रूप में परिणत कर दिया। बुद्ध का मत है कि केवल चेतना क्षणिक है, वस्तुएँ क्षणिक नहीं हैं, क्योंकि वे कहते हैं– "यह प्रत्यक्ष है कि शरीर एक वर्ष तक अथवा सौ वर्षों तक एवं उससे भी अधिक समय तक रहता है। परन्तु वह वस्तु जिसे मन, बुद्धि या प्रज्ञा एवं चेतना कहा जाता है; दिन–रात एक प्रकार के चक्र के रूप में परिवर्तित होती रहती हैं।"[17] बुद्ध का आशय इस सन्दर्भ में यह दिखलाने का था कि शरीर, मन आदि यथार्थ आत्मा के रूप नहीं हैं। वे स्थायी भी नहीं हैं। अर्वाचीन बौद्धों का यह भी मानना है कि सभी कुछ क्षणिक है। उनका तर्क है कि स्थायी सत्ता स्वतः विरोधी है। अस्तित्व का अर्थ है कार्यक्षमता अथवा अर्थक्रियाकारित्व। अस्तित्व संसार के पदार्थों की व्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन करने की क्षमता का नाम है।

बुद्ध के अनुसार आनुभविक सत् एक मध्यस्थ वस्तु है जो विकास एवं असत् से सत् की ओर गति है, जिसे क्रियमाण कहते हैं। महात्मा बुद्ध का निरपेक्ष सत्ता की व्याख्या के सम्बन्ध में मौन धारण करना यह संकेत करता है कि उनके मत में नित्यत्व घटनाओं की व्याख्या के लिए उपलब्ध नहीं है। अनुभव ही सब कुछ है जिसका हमें ज्ञान होता है और निरपेक्ष उस अनुभव से परे का विषय है। मानव ज्ञान की सापेक्षता की सही–सही व्याख्या हमें यह स्वीकार करने को बाध्य करती है कि किसी स्थायी तत्व की विद्यमानता को सिद्ध करना असम्भव है। यद्यपि बौद्ध धर्म और उपनिषदें दोनों ही पदार्थ की निरपेक्ष सत्ता को निरन्तर परिवर्तित होने वाली श्रृंखला के परिणाम के रूप में देखने से निषेध करते हैं, फिर भी दोनों में अधिक से अधिक भेद यह है कि जहाँ एक ओर उपनिषदें परिवर्तन या क्रियमाण से परे एवं उससे पृथक् एक यथार्थ सत्ता की घोषणा करती हैं; वहाँ बौद्ध दर्शन इस प्रश्न पर अपना निर्णय देना स्थगित रखता है।

बुद्ध ने भले ही निरपेक्ष परमसत्ता के प्रश्न पर कुछ उत्तर देने से निषेध किया हो, जो आनुभविक जगत् के विभिन्न वर्गों से पृथक् एवं परे है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें इस विषय में सन्देह बिल्कुल नहीं था। 'उदान' में बुद्ध के एक सम्भाषण को इस प्रकार व्यक्त किया गया है – "हे भिक्षुओं ! एक ऐसी सत्ता है, जो अजन्मा, अनादि, स्वयंभू, केवल एवं विशुद्ध स्वरूप है क्योंकि ऐसी सत्ता न होती; तो जन्म, निर्माण, संयोग–वियोग आदि के अधीन इस जगत् से छुटकारा कैसे सम्भव होता।"[18]

फलतः यह कहा जा सकता है कि बुद्ध एक ऐसी तात्त्विक यथार्थ सत्ता में आस्था रखते थे, जो कि दृश्यमान जगत् के चंचल एवं आभास स्वरूप पदार्थों की पृष्ठभूमि में सदा स्थिर रहती है। बुद्ध ने अनुभव किया कि बाह्य सत्ता की समस्या का समाधान करना उनका काम नहीं है। उनके लिए केवल इतना कह देना पर्याप्त था कि क्रियमाण के प्रवाह के मध्य में मनुष्य अपने को निःसहाय पाता है, जिस प्रवाह को न तो वह रोक सकता है और न ही जिनका नियंत्रण कर सकता है और यह कि जब तक उसके अन्दर तृष्णा बनी रहेगी; वह संसार की अगाध अन्धकारमय गहराइयों के अन्दर इधर से उधर भटकता रहेगा और यह कि इस अशान्त संसार में शान्ति प्राप्त करने की कोई संभावना नहीं। मज्झिमनिकाय में कहा गया है कि "उन व्यक्तियों के लिए जो जलती हुई आग के बीच फँसें हुए हैं, आग के विषय को लेकर विवाद करने का अवसर नहीं प्राप्त होता; अपितु उसमें से छुटकारा पाने का प्रश्न उनके सामने होता है।"[19]

उपनिषदों का प्रमुख लक्ष्य ब्रह्म या परम सत्य का साक्षात्कार करना है। परम सत्य को ही उपनिषदों ने ब्रह्म की संज्ञा से अभिहित किया है। उपनिषदों ने आन्तरिक व्यापारों का सूक्ष्म अन्वेषण और विश्लेषण कर जिस स्थायी सत्य का निर्वचन किया, उसे आत्मा कहकर पुकारा है। औपनिषदीय ऋषियों के लिए आत्मा ही अन्तिम गवेषणीय तत्व है और उसका साक्षात्कार मानवीय साधना का उच्चतम फल है। इस प्रकार उपनिषदों का यह मानना है, कि एकमात्र ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता है। आत्मा और ब्रह्म एक ही सत्य को देखने की दो दृष्टियाँ हैं। उपनिषदों में जिस ब्रह्म एवं आत्मा की एकता का प्रतिपादन किया गया है उसमें गहन तत्व दर्शन विद्यमान है, जिसके कारण ही उपनिषदों को संभवतः 'गुह्य आदेश' भी कहा गया है। वास्तविकता यह है कि औपनिषदीय ऋषि अपनी गवेषणाओं के परिणामस्वरूप जिस ज्ञान के उच्चतम शिखर तक पहुँचे, वह ब्रह्म एवं आत्मा के एकता सम्बन्धी ज्ञान है। ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान स्वरूप यह ज्ञान मानवीय जिज्ञासा का वह चरम अनुसंधानेय विषय है, जिसके पश्चात् कुछ भी जानने के लिए शेष नहीं रह जाता है।

आत्मतत्व के विषय में औपनिषदीय ऋषियों की यह मान्यता है कि 'अत्र ह्येते सर्व एकं भवति'[20] अर्थात् यहाँ सब एक होते हैं। 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति'[21] अर्थात् भूमा रूप ब्रह्म ही सुख है और अल्प (सान्त जगत) जगत् में सुख नहीं है। पुनः यह भी कहा गया है कि 'यो वै भूमा तदमृतम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यं'[22] अर्थात् भूमा ही अमृत है तथा जो अल्प (सान्त जगत्) है वह मर्त्य है। 'अयमात्मा ब्रह्म'[23] अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है। 'तत्त्वमसि'[24] अर्थात् 'वह तुम हो' एवं 'अहं ब्रह्मास्मि'[25] अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ। यह भी कहा गया है कि 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य।'[26] अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् कर्म, तप और पुरुष ही है। वह पर और अमृत रूप ब्रह्म है। उसे जो सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित है, वह हे सौम्य ! इस लोक में अविद्या की ग्रन्थि का छेदन कर देता है।

उपनिषदों में ब्रह्म का निरूपण करते हुए कहा गया है कि 'पश्यत्यचक्षुः स श्रणोत्यकर्णः'[27] अर्थात् बिना चक्षुओं के वह देखता है, बिना कानों के वह सुनता है। उपनिषदों में 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः'[28] अर्थात् इस प्रकार का ब्रह्म स्वयं ज्योति है। इसे 'एकमेवाद्वितीयम्'[29] अर्थात् वह एक और अद्वितीय है। इसलिए उपनिषदों में यह भी कहा गया है कि 'तत्केन कंपश्येत्'[30] अर्थात् फिर किसको किससे देखें। उपनिषद् यह भी कहती हैं कि 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः'[31] अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है और सबको अनुभव करने वाला है। ब्रह्म ही यह अमृत है। इसलिए वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'[32] अर्थात् आत्मा को देखना चाहिए। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि 'सोऽन्वेष्टव्यः स वि जिज्ञासितव्यः'[33] अर्थात् उसको खोजना चाहिए; उसकी जिज्ञासाकरनी चाहिए। मुण्डक उपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'[34] अर्थात् ब्रह्म को जो जानता है; वह ब्रह्म ही होता है।

उपनिषदें बलपूर्वक घोषणा करती हैं कि मनुष्य की यथार्थ आत्मा शरीर अथवा मानसिक जीवन से पृथक् है, तो भी मानसिक एवं भौतिक या प्राकृतिक गुणों के संयोग से ही जीवात्मा का निर्माण होता है। प्रत्येक मनुष्य हरेक वस्तु की भाँति एक संश्लिष्ट अथवा संयुक्त पदार्थ है। बौद्ध इसे संस्कार कहते हैं, जो एक संगठन है। सत् की जीवात्मा एक अस्थायी अवस्था है, जो सदा

बढ़ती रहती है। महावग्ग में कहा गया है कि "यह मेरा नहीं है, यह मैं नहीं हूँ, यह मेरी नित्य आत्मा नहीं है।"[35] संयुक्तनिकाय में कहा गया है कि "मनुष्य के अन्दर ऐसी किसी अपरिवर्तनशील वस्तु एवं नित्य तत्त्व का ज्ञान प्राप्त नहीं है।"[36] बुद्ध के अनुसार केवल कारणों एवं कार्यों की श्रृंखलाएँ ही हमारे समक्ष हैं। मनुष्य पाँच स्कन्धों से मिलकर बना हुआ एक संयुक्त पदार्थ प्रतीत होता है। बौद्ध दर्शन में उपनिषदों में वर्णित नाम रूप के आधार पर ही स्कन्धों की कल्पना विकसित की गयी है। बौद्धों का प्रतिपाद्य विषय यह है कि समुत्पादक तत्वों अर्थात् रूप (प्राकृतिक, भौतिक) और नाम (मानसिक) के अतिरिक्त हमारे पास और कुछ प्रतीत नहीं होता। बुद्ध उपनिषदों के उस सर्वचेतनावाद का निराकरण करते हैं, जो प्रत्येक पदार्थ में जीवात्मा की प्रविष्टि चाहता है। वह एक ऐसे अज्ञात अधिष्ठान का निषेध करते हैं, जिसे कुछ लोग गुणों के आधार के रूप में प्रतिपादित करते हैं, क्योंकि उसका स्वरूप हमसे छिपा हुआ है। उपनिषदों में वर्णित वह सर्वोपरि ब्रह्म है, जो नित्य है और विभेदक लक्षणों से रहित है, जिसे ऐसे ज्ञानी जो यथार्थता का ज्ञान रखते हैं, मोक्ष कहते हैं। बुद्ध ने उपनिषदों के इस सिद्धान्त का इस आधार पर प्रतिवाद किया है कि मुक्तात्मा भी तो एक आत्मा है; चाहें जो भी अवस्था यह प्राप्त कर लें; यह पुनर्जन्म के अधीन रहेगी; जबकि हमारे लक्ष्य की परमगति हर एक वस्तु के त्याग से ही हो सकती है। वास्तविकता यह है कि बुद्ध उपनिषदों के साथ इस विषय में सहमत होते हुए भी कि उत्पत्ति, रोग एवं दुःख से पूर्ण संसार आत्मा का यथार्थ आश्रय स्थान नहीं है। बुद्ध उस आत्मा के विषय में जिसका प्रतिपादन उपनिषदों में किया गया है, सर्वथा मौन हैं। वे इसकी सत्ता को न तो स्वीकार करते हैं, न ही इसका निषेध करते हैं। बुद्ध का मानना है कि अज्ञेय आत्मा जिसे हमारे अहं की पृष्ठभूमि में विद्यमान बताया जाता है, एक अतर्क्य रहस्य है।

यद्यपि बौद्ध दर्शन में सर्वोपरि आत्मा के अस्तित्व को नहीं माना गया है, तो भी उसका स्थान एम0 पूसीं[37] के अनुसार विज्ञान ने ले लिया है। वह सत्ता जो एक जीवन के पश्चात् दूसरे जीवन में जाती है, 'विज्ञान' है।[38] इस प्रकार बौद्ध धर्म का मनोविज्ञान हमारे सम्मुख मानसिक अवस्थाओं के विश्लेषण को प्रस्तुत करता है, किन्तु ध्यान एवं इच्छा आदि की प्रक्रिया में किसी विषयी को मानने की आवश्यकता का प्रश्न ही नहीं उठाता। भावनाओं एवं सम्बन्धों के विषय में तो यह कहता है, किन्तु यह नहीं पूछता कि संयुक्त करने वाली एक चेतन शक्ति से क्या वे पृथक् भी रह सकते हैं ? बौद्धों के मत में क्रियाशीलता का विषयी (प्रमाता) ऐन्द्रिय एवं मानसिक चित्तवृत्तियों एवं कर्मों का कुल योग ही है। श्रीमती रीज डेविड्स के अनुसार "चेतना केवल मानसिक स्पन्दनों की विच्छेद युक्त श्रृंखला है, जिसका सम्बन्ध एक जीवित संगठन के साथ है, जो जीवन की एक अल्पकालिक अवधि के अन्दर ज्ञान प्राप्त करने का पूरा प्रयत्न करती है।"[39]

उपनिषद् एवं बौद्ध समान रूप से यह मानते हैं कि जीवित रहने की आकांक्षा ही हमारे जीवन की आधारभित्ति है। जन्म लेना ही समस्त दुःखों का मूल कारण है। अविद्या या अहं का मिथ्याभाव वह मुख्य आधार है, जो मानवीय कर्म का अनुचर और वाहक भी है एवं उसका जनक भी है। मानव व्यक्तित्व अविद्या और कर्म की उपज है। अविद्या के कारण जीवन का स्वरूप जो कि दुःखमय है, छिपा रहता है। मनुष्य दुःखी इसलिए है, क्योंकि वह जीवन धारण किये हुए है। समस्त दुःख की उत्पत्ति जीवन धारण करना है। उपनिषदों की भी यह मान्यता है कि सब दुःखों

का कारण अविद्या है और इस अज्ञान का रूप उनके अनुसार जीवात्मा के विश्वात्मा के साथ मूलभूत तादात्म्य का अज्ञान है, जिसके कारण अज्ञान उत्पन्न होता है। बौद्ध–धर्म भी उपनिषदों की ही भाँति यह स्वीकारता है कि अहंकार का भाव अविद्या का ही परिणाम है। बुद्ध का मत है कि यह अज्ञान परमसत्ता के रूप में कोई वस्तु नहीं है। अविद्या का क्या कारण है? इस विषय में महात्मा बुद्ध कुछ नहीं कहते हैं। सम्भवतः इसका कारण यह है कि महात्मा बुद्ध परमसत्ता को स्वीकार नहीं करते। जब तक इस प्रकार के एक परम सत् को हम स्वीकार न कर लें, अविद्या का स्वरूप एवं उसका आदि उद्भव दोनों का ही समाधान नहीं हो सकता। उपनिषद् एवं बौद्ध अविद्या की निवृत्ति चाहते हैं। निश्चित ही अविद्या की निवृत्ति ज्ञान द्वारा ही हो सकती है। जहाँ उपनिषदें ब्रह्म ज्ञान के द्वारा अविद्या की निवृत्ति को संभव मानती हैं, वहाँ बौद्ध मध्यम मार्ग का उपदेश देते हैं। यह मार्ग विवेक शक्ति प्रदान करता है जो अन्त में निर्वाण की ओर हमें ले जाता है। यथार्थ में यही आर्य आष्टांगिक मार्ग है। इस अष्टमार्ग में बौद्ध धर्म प्रतिपादित नैतिक जीवन का सार निहित है।

महात्मा बुद्ध के द्वारा अष्टांगिक मार्ग के उपदेश का प्रयोजन दुःख निरोध के मार्ग को बताना था। महात्मा बुद्ध का ध्येय अष्टांगिक मार्ग के द्वारा बौद्ध संघ के सदस्यों को दैनिक जीवन में ध्यान का अभ्यास कराना था। महात्मा बुद्ध द्वारा हृदय एवं मन को प्रशिक्षित करने की विधियाँ उस समय वैदिक वाङ्मय में प्रचलित मतों से उधार के रूप में ली गयी हैं। महात्मा बुद्ध ने हमें अपने अन्दर मैत्री, करुणा, मुदिता एवं अपेक्षा की भावनाओं की साधना करने का आदेश दिया है। परवर्ती बौद्ध दार्शनिकों ने इस चार मनोवृत्तियों को 'ब्रह्मविहार' कहा है। ये मनोवृत्तियाँ समस्त मनुष्य जाति के प्रति ही नहीं, अपितु चेतन प्राणिमात्र के प्रति विस्तृत करने के क्रमबद्ध प्रयास हैं। परन्तु बौद्ध दर्शन में यह प्रश्न निरुत्तरित रह जाता है कि वह कौन सा पदार्थ है जिसके ऊपर आध्यात्मिक चिन्तन अथवा ध्यान को केन्द्रित करना है ? महात्मा बुद्ध द्वारा इस प्रश्न का कोई उत्तर न देना संभवतः उनके द्वारा अपने दर्शन में आत्मविकास को ही प्रमुखता देना है। यौगिक क्रियाओं का यह आदर्श भिन्न–भिन्न आध्यात्मिक शास्त्रों में भिन्न–भिन्न रूप में वर्णित हुआ है। उपनिषदों में इसे ब्रह्म के साथ योग अथवा ब्रह्म के साक्षात्कार के रूप में प्रतिपादित किया गया है। पतंजलि के योग दर्शन में यह सत्य का अन्तरवेक्षण है। बौद्ध धर्म में इसका नाम बोधिसत्व की प्राप्ति अथवा जगत् की निःसारता का ज्ञान है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उपनिषदों में प्रतिपादित कर्त्तव्य कर्मों के विधान एवं प्राचीन बौद्ध धर्म के विधान में मूलतत्व सम्बन्धी कोई भेद नहीं है।

उपनिषदें एवं महात्मा बुद्ध समान रूप से इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि दुःख से छुटकारा पाने के लिए क्या करना चाहिए? बुद्ध भी इस प्रश्न के सम्बन्ध में उपनिषदों की ही शैली में कहते हैं कि स्वार्थपरता पर विजय पाने में ही मुक्ति है, क्योंकि कल्पना की दृष्टि से स्वार्थपरता अहंकार की भ्रान्ति है और क्रियात्मक रूप में यह आत्मा की उत्कट अभिलाषा है। बुद्ध बार–बार यही दोहराते हैं कि सत्य की प्राप्ति श्रद्धा, दृष्टि या दर्शन एवं भावना या अनुशीलन की शर्तों पर आधारित है। वे सत्य के प्रत्यक्ष साक्षात्कार को ही मानव जीवन का मुकुट मानते हैं, जिसके धारण करते ही, फिर कोई भी मिथ्या विकार टिक नहीं सकता। वे 'प्रज्ञा' को उत्कृष्टतम निधि

मानते हैं, किन्तु इस बात की भी सावधानी रखते हैं कि बिना प्रेम एवं परोपकार भाव के प्रज्ञा सम्भव नहीं है। यदि सम्भव भी है, तो फलवती कदापि नहीं हो सकती। क्रियात्मक रूप में सदाचरण धारण किये बिना केवल समाधि में बैठकर ध्यान करने मात्र से ही पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती।

कठोपनिषद् में नचिकेता एवं यम संवाद में नचिकेता उस ब्रह्म को जानने के लिए जो मृत्यु से परे है, सांसारिक सुखों को स्वीकार नहीं करते। कठोपनिषद् की इस मान्यता से साम्य रखते हुए महात्मा बुद्ध गौतमी भिक्षुणी को धर्म के सारतत्व का उपदेश करते हुए कहते हैं कि ऐसी कोई भी शिक्षा जिसके विषय में तू निश्चयपूर्वक कह सकती है, कि यह शांति के मार्ग पर ले जाने की अपेक्षा वासना की ओर ले जाती है, नम्रता की ओर न ले जाकर अभिमान की ओर ले जाती है, न्यूनतम की अपेक्षा अधिकाधिक चाह की ओर ले जाती है, एकान्त की अपेक्षा लौकिक जीवन में रमे रहने की ओर ले जाती है, निष्कपट पुरुषार्थ की अपेक्षा निष्कर्मण्यता की ओर ले जाती है, एक ऐसे मन की अपेक्षा जिसे सन्तुष्ट करना सरल हो, ऐसे मन की ओर ले जाती है, जिसे सन्तुष्ट करना कठिन हो; तो हे गौतमी! ऐसी शिक्षा धर्म शिक्षा नहीं है।[40] एकान्त में ध्यान करना ही आध्यात्मिक शान्ति एवं अनासक्ति प्राप्त करने का एकमात्र साधन है।

महात्मा बुद्ध ने तृतीय आर्य सत्य के रूप में दुःख निरोध का वर्णन किया है। दुःख निरोध को ही बुद्ध ने निर्वाण की संज्ञा से अभिहित किया है। बुद्ध के अनुसार निर्वाण उत्कट् अभिलाषा रूपी तृष्णा का त्याग है, उससे विरहित हो जाना एवं उससे मुक्ति पा जाना है। निर्वाण के द्वारा महात्मा बुद्ध दुःखमय जीवन की समस्या का समाधान करते हैं। उपनिषद् के ऋषियों के समान ही बुद्ध ने भी निर्वाण प्राप्त पुरुषों की दशा के विषय में किसी प्रकार की धारणा विशेष को स्थान देने से निषेध किया है, क्योंकि वह ज्ञान का विषय नहीं है। तथापि उपनिषदों के मार्ग का अवलम्बन करके इसका विध्यात्मक एवं निषेधात्मक दोनों ही प्रकार का वर्णन करते हैं। 'तेविज्जसुत्त' में वे इसे ब्रह्म के साथ युक्त होने का नाम देते हैं। 'मिलिन्द' में निर्वाण की अवस्था के विषय में कहा गया है कि– ''निर्वाण के विषय में हम यह नहीं कह सकते कि यह उत्पन्न हुआ है अथवा यह उत्पन्न हो सकता है और यह भूत, भविष्यत् या वर्तमान है।'' वास्तविकता यह है कि निर्वाण उस समकालिकता का नाम है, जो प्रत्येक तारतम्य का आधार है। इस प्रकार बुद्ध नैतिक विधान की परमार्थता को भी, जिसे बुद्ध स्वयं भी स्वीकार करते हैं, एक केन्द्रीभूत आत्मा की आवश्यकता है, जिसके विषय में वे मौन हैं। बुद्ध विश्व को धार्मिक मानते हैं, केवल यन्त्रवत् नहीं, जिसे वे धर्मकाय की संज्ञा देते हैं और जिसमें जीवन की धड़कन अनुभव की जा सकती है। महात्मा बुद्ध निर्वाण के सम्बन्ध में यह तर्क करते हैं कि शारीरिक मृत्यु से पूर्व भी एक सन्त व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है और इसको वे उच्चतम श्रेणी के सुख के समान बताते हैं, जिसके साथ सब प्रकार के भविष्य जन्मों के नाश का भाव भी लगा हुआ है। वे आत्मा की यथार्थता को अव्यक्त रूप में स्वीकार कर लेते हैं। जब वे यह घोषणा करते हैं कि प्रबुद्ध का स्वरूप प्रकृति से परे है और इस कारण उनके ऊपर इस विषय का दोषारोपण किया जाता है कि वे परम सत् के नाश का उपदेश देते हैं।[41] इसके विरोध में वे स्वीकार करते हैं कि पंच स्कन्धों के समष्टि का विनाश यथार्थ आत्मा को स्पर्श नहीं करता। धम्मपद में आत्मा को जीवात्माओं का प्रभु एवं उनके पुण्य एवं पाप कर्मों का साक्षी बताया गया है।[42] सांख्य और अद्वैत वेदान्त में उस सबको जो अनात्म

के साथ सम्बन्ध रखता है, आत्मा में से निकालकर पृथक् कर दिया गया है और यही भावना उपनिषदों एवं बौद्ध धर्म की भी है। परन्तु, बुद्ध आत्मा की यथार्थता को सांसारिक अनुभव के साक्षी के आधार पर पुष्ट नहीं कर सके। इस प्रकार वे अनुभवातीत आत्मा के विषय में उठाये गये इन प्रश्नों का उत्तर देने से इनकार कर देते हैं कि वह समाष्टियों से युक्त है या उससे भिन्न है। वस्तुतः उन्होंने नित्य आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं किया, अपितु, उसके विषय में जो नाना प्रकार की कल्पनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं; उनका निषेध किया है। आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में छः भिन्न–भिन्न प्रकार की कल्पनाएँ हैं, उनके विषय में बुद्ध कहते हैं कि "हे भिक्षुओं ! यह नाना सम्मतियों के अन्दर केवल भ्रमण मात्र है, केवल सम्मतियों का आश्रय मात्र लेना है, निस्सार सम्मतियों में केवल समय का नष्ट करना है और सम्मतियों का एक तत्वविहीन प्रदर्शन मात्र है।"[43]

महात्मा बुद्ध का कहना है कि हम निर्वाण के स्वरूप का ठीक वर्णन नहीं कर सकते, क्योंकि यह तार्किक ज्ञान का विषय नहीं है, फिर भी इसे वह अनुभव कर सकता है, जो इसको विध्यात्मक रूप में भोगता है। विचार के रूप में यह एक अभावात्मक अवस्था है। निर्वाण कर्म के नियम अथवा संसार के बन्धन से बद्ध सांसारिक प्राणियों का निषेध है। 'उदान' में भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए वे कहते हैं – "हे भिक्षुओं ! कोई ऐसी सत्ता अवश्य है, जो न पृथ्वी है, न जल है, न अग्नि है, न वायु है, न तो देश की असीमता है, न चेतना की ही असीमता है, न शून्यता है, न प्रत्यक्ष ज्ञान है, न यह संसार है, न वह संसार है, न सूर्य है और न चन्द्रमा है। जहाँ न मृत्यु है, न जन्म है, वहाँ न यह जगत् है, न वह जगत् है, न मध्य जगत् है – यह दुःखों का अन्त है।"[44] परन्तु यह असत् नहीं है। कुछ अजन्मा, अनादि, स्वयंभू एवं असंयुक्त अवश्य है, क्योंकि यदि ऐसी कोई सत्ता न होती; तो उससे छुटकारा न हो सकता; जो जन्म ग्रहण करने वाला है, जिसका आदि है; जो निर्मित है तथा संयुक्त है।[45] छान्दोग्य उपनिषद् में भी बौद्ध दर्शन की ही भाँति कहा गया है कि ब्रह्म जगत् जिसमें पूर्णता प्राप्त पुरुष पहुँचता है, वह 'अकृतम्' है। मुण्डक उपनिषद् में मोक्ष की अवस्था को अकृत के रूप में वर्णित किया गया है।[46] इस प्रकार इस विषय में प्रमाण मिलता है कि निर्वाण ऐसा है, जो अकृत है और अनन्त है।[47] अथवा एक असंयुक्त तत्त्व है, जो नश्वर संसार से भिन्न है।[48] 'उदान' ऐसे बुद्ध व्यक्तियों की अवस्था के विषय में संकेत करता है, जिन्होंने निर्वाण प्राप्त कर लिया है। जिस प्रकार बुझी हुई अग्नि के मार्ग का पता लगाना कठिन है, उसी प्रकार जो पूर्णरूपेण मुक्त हो गये हैं उनके मार्ग का पता लगाना कठिन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् ने सर्वोपरि आत्मा की तुलना ऐसी अग्नि से की है, जिसका ईंधन समाप्त हो चुका है।[49] ईंधन के विलोप हो जाने से अग्नि नष्ट नहीं होती, यद्यपि दिखायी नहीं देती।[50] जिस प्रकार विभिन्न उपनिषद मोक्ष का स्वर्ग प्राप्ति से भिन्न वर्णन करती हैं, इसी प्रकार बुद्ध भी निर्वाण को स्वर्ग के जीवन से भिन्न बताते हैं और अपने अनुयायियों को चेतावनी देते हैं कि अरूप लोक में आनन्दमय जीवन बिताने की कामना भी एक बन्धन है; जो निर्वाण की प्राप्ति में बाधा पहुँचाता है।

बुद्ध के निर्वाण की अवस्था के वर्णन के सम्बन्ध में मौन का अधिकांश विद्वानों ने यह अर्थ निकाला कि यह उनका निर्वाण की अवस्था का निषेधात्मक वर्णन है। किन्तु यदि महात्मा बुद्ध द्वारा निर्वाण विषयक रहस्य का उद्‌घाटन करने के लिए सत्य का कोई प्रकाश भी न होता, तो वे किस प्रकार यह कह सकते थे कि अपने स्वरूप को सम्पूर्ण करने से ही मनुष्य अनिर्वचनीय

आनन्द प्राप्त करेगा? बुद्ध संबा, जिसका अर्थ है – ज्ञानसम्पन्न। जिसका उन्होंने अपने लिए प्रयोग किया, हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि परमार्थ सम्बन्धी प्रश्नों पर उनके अपने कुछ निश्चित विचार अवश्य थे, वे उचित हों अथवा अनुचित ही क्यों न हों? कठोपनिषद् में कहा गया है कि ज्ञानी पुरुष इस संसार में अनित्य (अध्रुव) पदार्थों में से नित्य (ध्रुव) की खोज नहीं करते।[51] उपनिषदों में बताये गये सब प्रकार के सांसारिक जीवन की निस्सारता को महात्मा बुद्ध भी संसार की क्षणभंगुरता के रूप में निदर्शित करते हैं। महात्मा बुद्ध के विषय में एक प्रमुख प्रश्न यह उठाया जाता है कि बुद्ध ने जो इस आनुभविक जगत् को ज्ञेय ठहराया है, क्या वह इसका परिणाम है कि वे इस जगत् के परे किसी निरपेक्ष परम सत् को स्वीकार करते हैं, जैसा कि उपनिषदों को मान्य है? वस्तुतः बुद्ध ने उपनिषदों में प्रतिपादित परब्रह्म भाव का कहीं खण्डन नहीं किया है। 'कथावत्तु' में जहाँ भिन्न–भिन्न विवादास्पद विषयों पर विचार किया गया है, एक शाश्वत् सत्ता के प्रश्न का कहीं उल्लेख नहीं है। यह संकेत करता है, कि बुद्ध उपनिषदों की स्थिति को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं। बुद्ध के द्वारा वाराणसी में दिया गया प्रसिद्ध उपदेश एक निरपेक्ष परमसत्ता के शासन की ओर प्रबल संकेत करता है। परमसत्ता का इस प्रकार का वर्णन कि वह न तो सत् है, न असत् है, न दोनों ही है और न उन से अन्यतम है। बुद्ध का इस प्रकार का वर्णन हमें बौद्ध धर्म से इतर दर्शन पद्धतियों में प्रकट किये गये उसी के समान वाक्यों का स्मरण कराते हैं, जिनमें परसत्ता के अस्तित्व का सर्वथा निषेध नहीं है, किन्तु उसके भौतिक अनुभवों के आधार पर दी गयी वर्णन शैली का निषेध है।[52]

बुद्ध के परमसत्ता सम्बन्धी विचार के विषय में प्रायः एक सवाल यह भी उठाया जाता है कि बुद्ध उपनिषदों की ही भाँति परमसत्ता की यथार्थता को स्पष्ट रूप में स्वीकार क्यों नहीं करते? बुद्ध ने बार–बार इस विषय पर बल दिया कि हम परमसत्ता का आनुभविक जगत् की किसी प्रकार की उपाधियों से युक्त वर्णन नहीं कर सकते। जहाँ वे इस विषय का प्रतिपादन करते हैं कि परमसत्ता परिवर्तनशील जगत् से भिन्न है एवं आत्मा शारीरिक आकृति, प्रत्यक्षानुभव, संवेदनाओं, मानसिक वृत्तियों और बुद्धि के द्वारा आनुभविक निर्णयों से भिन्न है तथा निर्वाण भी आनुभविक सत् पदार्थ नहीं है। वे यह भी नहीं बताते कि आखिर ये हैं क्या; क्योंकि इन्हें तर्क के द्वारा नहीं जाना जा सकता। इनकी यथार्थता का ज्ञान अन्तर्दृष्टि के द्वारा मुक्तात्माओं को ही होता है और अन्यों को उन्हीं की प्रामाणिकता के आधार पर इन्हें स्वीकार करना होता है। बुद्ध स्पष्ट कहते हैं कि मैं उन सब सत्यों का प्रकाश नहीं करता, जिन्हें मैं जानता हूँ, केवल इसलिए नहीं कि मोक्ष के अन्वेषक के लिए वे उपयोगी नहीं है किन्तु इसलिए भी कि उनके विषय में लोगों के नाना प्रकार के विचार हैं।[53] चूँकि, तर्क द्वारा यथार्थता के अन्वेषण की सीमाएँ प्रत्यक्ष हैं, इसलिए बुद्ध ने अध्यात्मशास्त्र सम्बन्धी आकांक्षाओं की पूर्ति करने को अपना कर्त्तव्य नहीं माना, यद्यपि अध्यात्म विषयों पर उनके अपने निश्चित विचार अवश्य थे।

महात्मा बुद्ध ने निर्धारित सीमाओं में रहकर विश्व के परमतत्व को 'धर्म' की संज्ञा से अभिहित किया है। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि वर्णों की रचना के पश्चात् सर्वोपरि विधाता ने उनसे अधिक उत्कृष्ट एक आकृति की रचना की और वह धर्म का विधान है। 'धर्मात् परं नास्ति' अर्थात् धर्म के विधान से बढ़कर और कुछ नहीं ––

यथार्थ में जो धर्म का विधान है; वही सत्य है।--- वस्तुतः ये दोनों अर्थात् सत्य एवं धर्म एक ही वस्तु है।[54] वैदिक वाङ्मय में 'ऋत' शब्द सत्य एवं धर्म दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में ऐसा वर्णन मिलता है – पूर्ण रूप को प्राप्त आत्मा, जिसने समस्त विश्व के साथ अपने एकत्व को अनुभव किया है, गा उठती है, मैं ही सबसे आगे उत्पन्न हुआ ऋत (अथवा यथार्थ) हूँ, जो देवताओं से भी पूर्वजन्मा और अमरत्व का केन्द्र हूँ। इसी प्रकार कठोपनिषद् में जहाँ ऋग्वेद से एक वाक्य ठीक उसी रूप में उद्धृत किया गया है – "ऋत का सर्वोपरि आत्मा के साथ तादात्म्य बताया गया है।"[55] तैत्तिरीय आरण्यक में भी यह कहा गया है कि 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म'[56] अर्थात् सर्वोपरि ब्रह्म ऋत और सत्य दोनों ही है। उपनिषदों ने जो स्थान ब्रह्म को दिया है, बुद्ध ने वही स्थान धर्म को दिया है।[57] धर्म वस्तुओं को वश में रखता है। 'अगञ्ञ सुत्तन्त' में संसार का विकास और उसमें प्राणियों का वर्गीकरण धर्म के तत्व द्वारा ही नियंत्रित होता है।[58] ब्रह्म चक्र ही धर्मचक्र बन जाता है। ब्रह्म के मार्ग को ही धर्म का मार्ग कहते हैं।[59] अष्टांगिक मार्ग को बिना किसी भेदभाव के ब्रह्मयान या धर्मयान कहा गया है। कहा गया है कि ब्रह्म अथवा धर्म ही तथागत का शरीर है। वह ब्रह्म अथवा धर्म के साथ तादात्म्य रूप हो जाता है। पाली विधान में अनेक वाक्य ऐसे आते हैं, जिनमें हमें धर्म को पूज्यभाव से देखने के आदेश हैं।[60] 'मिलिन्द' में धर्म को धर्मभावना के देवता का रूप दिया गया है। बौद्ध विचारधारा में धर्म ही उच्च श्रेणी की यथार्थसत्ता है और संसार के पदार्थ धर्म हैं, क्योंकि वे सब एक ही परमार्थ तत्व के व्यक्त रूप हैं।

उपनिषदें परम यथार्थसत्ता के स्वरूप का वर्णन करने में दो प्रकार की भाषा का प्रयोग करती हैं। एक स्थान पर वे उसे निरपेक्ष प्रतिपादित करती हैं, जिसके विशिष्ट लक्षण आनुभविक लक्षणों की कोटि में नहीं आ सकते और दूसरे स्थान पर वे उसे एक सर्वोपरि पुरुष के रूप में रखती हैं, जिसकी हमें पूजा या उपासना करनी चाहिए। इस मत के परिणामस्वरूप हमारे सामने संसार के स्वरूप के विषय में दो मत उपस्थित हो जाते हैं। कुछ वाक्यों में इस संसार को ब्रह्म का आकस्मिक उपलक्षण मात्र कहा गया है और अन्य कुछ वाक्यों में इसे ईश्वर का अंग बताया गया है। उपनिषदों में जो एक अन्य प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, उसमें परब्रह्म को निर्मल सत्ता माना गया है और संसार को उसका आनुषंगिक विवर्त मात्र माना गया है। पुनः जो दूसरी प्रवृत्ति है, उसके अनुसार परमसत्ता एक मूर्त पुरुष है, जिसकी अभिव्यक्ति के रूप में यह संसार है। पहला मत शंकर के मत के अधिक समीप है और दूसरा रामानुज के। परन्तु यदि उपनिषदों में परमसत् के स्वरूप की अन्तर्दृष्टि के द्वारा मनन किया जाय, तो यह स्पष्ट होता है कि उपनिषदों में निरपेक्ष या परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है और संसार का भी अन्तिम रूप वही निरपेक्ष है। दोनों के मध्य सम्बन्ध की भी समस्या उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि परब्रह्म और संसार दो परस्पर विभिन्न सत्व नहीं हैं इसलिए उनके परस्पर सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। निर्मल सत् स्वरूप परब्रह्म और एक मूर्त रूप पुरुष के रूप में ब्रह्म एक ही सर्वोपरि सत्ता के अन्तर्दृष्टिप्राप्य और बुद्धिगम्य प्रदर्शन हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बुद्ध के उपदेशों में उपनिषदों की विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति उदासीनता, शिष्टाचार सम्बन्धी पवित्रता, कर्म सिद्धान्त में आस्था, पुनर्जन्म और मोक्ष अथवा निर्वाण की संभावना तथा संसार और जीवात्मा की अनित्यता

उपनिषदों तथा बुद्ध के उपदेशों में एक समान है। परम यथार्थसत्ता इस भौतिक जगत् के किसी भी प्राणी की सम्पत्ति नहीं है। यह विश्व परिणमन रूप है, जिसका न आदि है और न अन्त। उक्त मतों को स्वीकार करने के विषय में बुद्ध उपनिषदों की स्थिति से सहमत हैं, किन्तु वे निरपेक्ष परमतत्त्व की यथार्थता के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहते। इसी प्रकार आत्मा या मोक्ष की अवस्था के विषय में उनका स्पष्ट कथन कोई नहीं मिलता। मृत्यु के पश्चात् बुद्ध की क्या अवस्था होती है? क्या उसका अस्तित्व रहता है या नहीं रहता है अथवा दोनों अवस्थाएँ हैं या दोनों में से एक भी नहीं है? आत्मा एवं संसार के स्वरूप के विषय में यह प्रश्न विचारणीय रहा है कि क्या वे नित्य हैं या अनित्य हैं या दोनों हैं या दोनों में से एक भी नहीं हैं? इन सब प्रश्नों के विषय में बुद्ध मौन रहे हैं। वस्तुतः इस प्रकार के प्रश्न सुरक्षित वाद–विषय थे, जिनके विषय में बुद्ध किसी प्रकार की कल्पना को स्थान नहीं देते थे।

महात्मा बुद्ध के आध्यात्मिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया जाता है कि यदि बुद्ध उपनिषदों के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं, तो फिर उनकी धार्मिक पद्धतियों और संस्कृति में इतना अन्तर कैसे और क्यों है ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उपनिषदों के दार्शनिक–सिद्धान्तों के अन्दर से अपूर्व सुन्दरता और तर्क के द्वारा निष्कर्ष निकालते हुए बुद्ध ने ऐसे व्यक्तियों के विश्वासों एवं कर्मों में अनेक विसंगतियों को निकालकर जनसाधारण के आगे रख दिया, जो उपनिषदों के प्रति केवल मौखिक भक्ति प्रदर्शित करते थे। जहाँ एक ओर उपनिषदों के साहसिक कल्पना करने वाले रचयिताओं ने परमार्थ सत्ता के निरूपण को शिखरों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया, वहीं जनसाधारण को यह अवसर प्रदान किया कि वे अपने छोटे–छोटे देवी–देवताओं की पूजा कर सकते थे और यज्ञादिक संस्कार भी कर सकते थे, क्योंकि यह उनकी भावनात्मक माँग थी। व्यापक यज्ञात्मक धर्म पर से बुद्ध के समय में विवेकी पुरुषों का विश्वास उठ चला था। बुद्ध ने यह घोषणा की कि मोक्ष का बाह्य जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, अपितु उसका सम्बन्ध केवल आन्तरिक एवं धार्मिक जीवन से ही है। बुद्ध स्पष्ट रूप से यह घोषणा करते हैं कि मैं पूज्य आर्य धर्म के सिद्धान्तों को ही फिर से स्थापित कर रहा हूँ।

बौद्ध धर्म आगे चलकर विभिन्न शाखाओं में विकसित हुआ, जिसमें माध्यमिक शून्यवाद भी एक प्रमुख शाखा थी। माध्यमिक शून्यवाद के प्रधान विचारक नागार्जुन ने शून्यता का जो निरूपण किया वह उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म का ही निरूपण लगता है। उनका कहना है कि शून्य को जानना सब कुछ जान लेना है। यदि हमने उसे नहीं जाना, तो कुछ नहीं जाना।[61] अद्वितीय तथा अनिर्वचनीय सत् स्वरूप ही सब यथार्थ सत्ताओं में वास्तविक अर्थों में यथार्थ है (धर्माणां धर्मता), जो अनिवार्य 'इदमता' (यह है का भाव) है, ऐसा है का भाव (तथता) है। समस्त जीवन की तथता (भूत तथता) तथा भगवान् बुद्ध का गर्भ (तथता गर्भ) है। नागार्जुन का कहना था कि यदि हम परमार्थ सत्ता को ही यथार्थ सत् के रूप में ग्रहण करते हैं, तो संसार को सत् नहीं माना जा सकता है और इसी प्रकार यदि संसार के सत् को यथार्थ सत् मानते हैं; तो परमार्थ सत्ता सत् नहीं है। इसीलिए भिन्न अर्थों में दोनों ही शून्य हैं।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि बुद्ध उपनिषदीय परम्परा से विमुख नहीं हुए, अपितु वही उनके समग्र आचार तत्त्व और तत्त्वज्ञान की प्रतिष्ठा का आधार है और उसके बिना उनकी विचारधारा की कल्पना करना असंभव है। यथार्थ यह है कि बौद्ध मत के प्रमुख मूलतत्त्व

गर्भावस्था में उपनिषदों में ही विद्यमान हैं। असत्वाद, अनात्मवाद, दुःख निरोध की अवस्था तक पहुँचने के लिए ऐन्द्रिक सुखों की उपेक्षा, भिक्षु मण्डल, विज्ञानवाद और अन्त में कर्म सिद्धान्त के मूलबीज उपनिषदों में ही अन्तर्निहित है। यद्यपि यह सत्य है कि उपनिषदीय मूलतत्त्वों के आधार पर बौद्ध धर्म ने इस प्रकार की दार्शनिक पद्धति का विकास किया, जो उपनिषदों से भिन्न है, तथापि उसे उपनिषदों से पर्याप्त प्रेरणा मिली। यदि उपनिषदों में यह उद्घोष है कि 'तरति शोकमात्मवित्' अर्थात् आत्मा में सभी मानसिक प्रवृत्तियों के लय होने पर सभी दुःखों से छुटकारा मिल जाता है, तो उसी प्रकार का उद्घोष महात्मा बुद्ध की विचारधारा में भी मिलता है कि 'संज्ञावेदयित निरोध' अर्थात् संज्ञा, वेदना के निरोध की अवस्था को प्राप्त कर साधक जन्म–मरण के प्रवाह से मुक्त हो जाता है। अतएव उपनिषदों एवं बौद्ध दर्शन में कृतकृत्यता समान है। यद्यपि कतिपय दार्शनिक इस सम्बन्ध में बौद्धों के पक्ष में यह कहते हैं कि बौद्ध दर्शन उपनिषदों की परवर्ती विचारधारा है और यदि कुछ बातों को लेकर उनमें विचार साम्य परिलक्षित होता भी है तब भी यह कहना उचित नहीं है कि बौद्धों के विचार पूर्ववर्ती (उपनिषदों) से उधार लिए गए हैं। वे कहते हैं सदैव परवर्ती विचार पूर्व पर आधारित हों, यह आवश्यक नहीं है। यह अद्भुत साम्य एक संयोग भी हो सकता है।



सन्दर्भ –

1. *शंकर कृत वृहदारण्यक भाष्य 4/3/61*
2. *मैक्समूलर; सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट; खण्ड 15; भूमिका पृ0 37*
3. *छान्दोग्य उपनिषद् 6/2/1*
4. *कठोपनिषद् 1/20*
5. *कठोपनिषद् 1/26 –28*
6. *वृहदारण्यक उपनिषद् 6/4/22*
7. *ऐतरेय उपनिषद् 3/3*
8. *वृहदारण्यक उपनिषद् 3/2/13*
9. *कठोपनिषद् 2/5/7, पृष्ठ 124 इशादि नौ उपनिषद् – टीकाकार श्री हरिकृष्ण गोयन्दका, गीता प्रेस*
10. *कठोपनिषद् 1/1/26*
11. *धम्मपद प : 146, 148*
12. *मज्झिम निकाय 32*
13. *अभिधर्मकोश व्याख्या*
14. *महावग्ग; 1/23*
15. *संयुक्त निकाय। ओल्डेनवर्ग 'बुद्ध' पृ0 249*
16. *मज्झिम निकाय 2/32*
17. *संयुक्त निकाय 2/96*
18. *उदान 8/3*
19. *मज्झिम निकाय खण्ड 1 पृ0 28*
20. *वृहदारण्यक उपनिषद् 2/5/19 उपनिषद् संग्रहः पं. जगदीश शास्त्रीय, मोतीलाल बनारसीदास*
21. *छान्दोग्य उपनिषद् 7/24/1, वही*
22. *छान्दोग्य उपनिषद् 7/24/1, वही*

23. वृहदारण्यक उपनिषद् 2/5/19, वही
24. छान्दोग्य उपनिषद् 6/8/7, वही
25. वृहदारण्यक उपनिषद् 1/4/10, वही
26. मुण्डक उपनिषद् 2/1/10, वही
27. श्वेताश्वतर उपनिषद् 3/19, वही
28. वृहदारण्यक उपनिषद् 4/3/9, वही
29. छान्दोग्य उपनिषद् 6/2/1, वही
30. वृहदारण्यक उपनिषद् 2/4/13
31. वृहदारण्यक उपनिषद् 2/5/19
32. वृहदारण्यक उपनिषद् 2/4/5
33. छान्दोग्य उपनिषद् 8/7/1
34. मुण्डक उपनिषद् 3/2/9
35. महावग्ग 1/21
36. संयुक्त निकाय 4/54
37. जर्नल एशियाटिक; 1902
38. वारेनः 'बुद्धिज्म इन ट्रासलेशन्स; पृ0 207
39. बुद्धिस्ट साइकोलॉजी; पृ0 16
40. दाहलके; बुद्धिस्ट एसेज; पृ0 215
41. मज्झिमनिकाय 1/40
42. धम्मपद 160
43. शीलाचार, 'डायलॉग्स ऑफ बुद्ध', खण्ड 1 पृ0 6
44. उदान 8/3 और 2/10
45. उदान 8/3 और 8/10
46. छान्दोग्य उपनिषद् 8/13/1 और मुण्डक उपनिषद् 1/2, 12
47. मिलिन्द, पृ0 271
48. साइकोलॉजिकल एथिक्स, पृ. 367
49. श्वेताश्वतर उपनिषद्
50. बुद्धिस्ट फिलॉसफी; प्रो. कीथ, पृ. 65–66
51. कठोपनिषद् 4/2
52. वृहदारण्यक उपनिषद् 2/5/19, 3/8/8 कठ उपनिषद् 3/15 मुण्डक उपनिषद् 1/1/6, 2/2/1 श्वेताश्वतर उपनिषद् 6/11 मैत्री उपनिषद् 4/17
53. उदान, पृ0 11, संयुक्त निकाय 5/437, दीघनिकाय 1/179
54. वृहदारण्यक उपनिषद् 4/15/1 एवं ईश उपनिषद् 15
55. कठोपनिषद् 5/2
56. तैत्तिरीय आरण्यक 6/13, 27, 12
57. विश्वभारती त्रैमासिक 1924, पृ. 385–386
58. दीघनिकाय 3/80
59. संयुक्त निकाय 1/141, 5/5 एवं थेरगाथ 689
60. संयुक्त निकाय 2/138; अंगुत्तर निकाय 2/20
61. माध्यमिक कारिका 24

योगवासिष्ठ में ब्रह्म की अवधारणा

मनोज कुमार तिवारी

जगत् का ज्ञान स्थूल इन्द्रियों की सहायता से ही होता है किन्तु इस स्थूल जगत् का कारण सूक्ष्म तत्त्व है जो स्थूल आकार ग्रहण करता है। यह स्थूल पुनः सूक्ष्म में परिवर्तित हो जाता है। इस परिवर्तन में उसका केवल रूप परिवर्तन होता है। इस रूप परिवर्तन की एक प्रक्रिया है और उस प्रक्रिया को जानना विज्ञान है।

आधुनिक विज्ञान ने बहुत महत्वपूर्ण खोजें की है जिससे वह परमाणु के विखण्डन तक सफल हो सका है। विज्ञान ने सिद्ध किया है कि परमाणु के अन्दर ऊर्जा ही ऊर्जा है, पदार्थ कहीं दिखाई नहीं देता। पदार्थ इसी ऊर्जा का घनीभूत रूप है। पदार्थ की इससे भिन्न, अलग स्वतंत्र कोई सत्ता नहीं है। क्वांटम सिद्धान्त के अनुसार विज्ञान कहता है कि ऊर्जा के दो स्वरूप हैं– वह स्थिर भी है तथा गतिशील भी। वह पदार्थ भी है तथा तरंग भी है। अध्यात्म इससे भी ऊपर की स्थिति की बात करता है। यदि विज्ञान उस स्थिति तक पहुँच सका तो यह आध्यात्मिक धारणाओं को पुष्ट करने वाली महानतम उपलब्धि होगी।

अध्यात्म विज्ञान मूलतः चेतना का विज्ञान है जो सम्पूर्ण की ही एक सत्ता को स्वीकार करता है किन्तु वह वैज्ञानिकों की जड़ ऊर्जा से भिन्न एक ऐसी सत्ता है जिससे जड़ एवं चेतन का आविर्भाव होता है। सांख्य तथा योग दो अनादि एवं स्वतंत्र सत्ता को मानते हैं– प्रकृति एवं पुरुष। प्रकृति जड़ है तथा पुरुष चैतन्य है। इन दोनों के संयोग होने से जगत् की उत्पत्ति हुई है तथा इनका पुनः वियोग हो जाने पर केवल चैतन्य पुरुष तथा प्रकृति ही शेष रह जाते हैं। जड़ प्रकृति अकेली सृष्टि रचना नहीं कर सकती। इस पुरुष तत्त्व का ज्ञान होना ही 'कैवल्य' अथवा 'मुक्ति' है अर्थात् पुरुष का स्वरूप ज्ञान ही कैवल्य है।

अद्वैत दर्शन प्रकृति तथा पुरुष को भी किसी एक परम तत्त्व की अभिव्यक्ति मानता है जो इन दोनों का पूर्व रूप है। वह एक तत्त्व, एक सत्ता को मानता है क्योंकि सत् दो नहीं हो सकते। वह तत्त्व ऐसा है जो न शून्य है न पूर्ण, न विद्या है न अविद्या, न प्रकाश है न अन्धकार, न आत्मा है न अनात्मा, न भावरूप है न अभावरूप, न सगुण है न निर्गुण, न दूर है न समीप। वह अद्वितीय है। वह वर्णनातीत है। इसके विषय में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता कि वह कैसा है? उसका कोई नाम भी नहीं दिया जा सकता। इसलिए वेदान्तवादियों ने उसे 'ब्रह्म' नाम से संबोधित किया। यही ब्रह्म समस्त जड़ चेतनात्मक जगत् का आधार है। यह तत्त्व इतना सूक्ष्म है कि बुद्धि एवं इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि यह कैसा है? ज्ञानियों ने अपनी सूक्ष्म बुद्धि द्वारा भी इसे न जानकर इसे वर्णनातीत कह दिया है। इसके कार्य, स्वभाव, गुण आदि कुछ का भी ज्ञान न हो सका किन्तु जो कुछ उन्होंने जाना उसके आधार पर कहा कि यह तत्त्व सम्पूर्ण सृष्टि का एक मात्र आधार है तथा सृष्टि इसी का स्थूल रूप है। ज्यों–ज्यों यह तत्त्व स्थूलता ग्रहण करता जाता है, त्यों–त्यों भिन्न–भिन्न लोकों का निर्माण होता

दर्शन विभाग, सिन्दरी कॉलेज, सिन्दरी, धनबाद (झारखण्ड)

जाता है। विभिन्न लोकों का निर्माण इसी तत्त्व की स्थूलता के अनुसार हुआ है। यह दृष्टिगत जगत् इसका सबसे स्थूल रूप है। अन्य लोक इससे सूक्ष्म हैं जिनकी रचना सूक्ष्म परमाणुओं से हुई है। उस ब्रह्म को न कोई नाम दिया जा सकता है न उसे प्रमाणों द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। उसका ज्ञान समाधि अवस्था में सूक्ष्म बुद्धि द्वारा स्वानुभूति से ही प्राप्त हो सकता है।

'ब्रह्मन्' शब्द 'बृह्' धातु से बना है जिसका अर्थ है बढ़ना फैलना, व्याप्त होना। प्रारम्भ में यह यज्ञ के लिए प्रयुक्त हुआ, किन्तु बाद में यह सर्वव्यापी परम सत्ता का वाचक बना। ब्रह्म परम तत्त्व है। वह जगत् का कारण है। ब्रह्म वह तत्त्व है (तत्) जिससे सारा विश्व उत्पन्न होता है (ज अर्थात् जायते), जिसमें वह अन्त में लीन होता है– (ल अर्थात् लीयते), और जिसमें जीवित रहता है (अन्) – 'तज्जलान्'। तैत्तिरीय में भी ब्रह्म को जगत् का कारण बताया गया है– जिससे यह सारा जड़–चेतनमय विश्व उत्पन्न होता है, जिसमें यह जीवित रहता है और जिसमें पुनः विलीन हो जाता है, वह ब्रह्म है। उपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन दो रूपों में मिलता है– सविशेष और निर्विशेष। ब्रह्म को सविशेष, सगुण भी कहा गया है और निर्विशेष, निर्गुण भी। सगुण ब्रह्म को 'अपर' ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म को 'पर' ब्रह्म कहा गया है। सगुण ब्रह्म की संज्ञा ईश्वर भी है जो समस्त विश्व के कर्ता, धर्ता, हर्ता और नियन्ता है। निर्गुण ब्रह्म अगोचर, निर्विकल्प, अनिर्वचनीय है और केवल अपरोक्षानुभूतिगम्य है।

लक्षण दो प्रकार के होते हैं– तटस्थ और स्वरूप। तटस्थ लक्षण वस्तु के आगन्तुक और परिवर्तनशील गुणों का वर्णन करता। स्वरूप लक्षण वस्तु के तात्त्विक स्वरूप को प्रकाशित करता है। उपनिषद् में सगुण ब्रह्म के दोनों लक्षण उपलब्ध हैं। जगत्कारणता, समस्त कल्याणगुणसम्पन्नता, विश्वव्यापकता और संप्रभुता आदि सगुण ब्रह्म के तटस्थ लक्षण हैं। ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का निमित्त और उपादान कारण है। जड़चेतनमय समस्त जगत् इसी से उत्पन्न होता है, इसी में स्थित और जीवित रहता है तथा इसी में विलीन हो जाता है। ब्रह्मसूत्र में भी ब्रह्म का यही तटस्थलक्षण वर्णित है। सगुण ब्रह्म या ईश्वर समस्त जगत् के कर्ता, धर्ता, हर्ता, नियन्ता हैं। वे सब प्राणियों के भाग्य विधाता हैं। वे ही भुक्ति–मुक्ति प्रदाता हैं। वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वांतर्यामी और सबके स्वामी हैं तथा सबकी उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण हैं। यह सब जड़चेतनमय विश्व ब्रह्म का शरीर है और ब्रह्म इसकी आत्मा है, अतः निश्चय ही सबकुछ ब्रह्म ही है– 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'। सगुण ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है – 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म' और 'विज्ञानमानंदं ब्रह्म'। ब्रह्म परम सत्य है, विशुद्ध ज्ञान है, अनन्त है, अखण्ड आनन्द है। यह ब्रह्म का स्वरूप है। ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द है, शान्त और शिव है।

योगवासिष्ठ में ब्रह्म सभी प्रकार के धर्मों से रहित निर्विशेषतत्त्व है। किसी विशेष धर्म या गुण के द्वारा ही ब्रह्म का परिचय देने से ही कार्य नहीं चल सकता, जो इस रूप में परिचय देना चाहते हैं, वे वस्तुतः ब्रह्मज्ञ नहीं हैं "अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातमविजानताम्" (केन उ. 2/3) इन श्रुतियों से स्पष्ट अवगत होता है। "नेति नेति" (ब्रह्म यह नही है, ब्रह्म वह नहीं है) यही अद्वैतवेदान्त का ब्रह्म के विषय में मनन व तर्क की रीति है। इसी रीति का अनुसरण कर "अस्थूलमनणु अह्रस्वमदीर्घम्" (वृ. उ. 3/8/8) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा स्थूल नहीं है, अणु भी नहीं है, ह्रस्व भी नहीं है, दीर्घ भी नहीं है, इस प्रकार योगवासिष्ठ ने उपशमप्रकरण में सभी प्रकार के विशेष

भाव या धर्म का निषेध करके ही ब्रह्म का स्वरूप अवगत कराया है। ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'', (तैत्तिरीय) ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' (वृहदा. 3/9/28) आदि श्रुति वाक्यों में भी नेति नेति के द्वारा ही ब्रह्म का परिचय देकर अन्य पदार्थों से ब्रह्म का पृथक् स्वरूप दिखाया गया है। श्रुति में कथित सत्यम्, ज्ञानम् एवं अनन्तम् इन तीन पदों से ब्रह्म से अतिरिक्त जड़ घट आदि पदार्थों से ब्रह्म का पार्थक्य स्पष्ट भाषा में कहा गया है। विश्व में सभी वस्तुएं असत्य, जड़ एवं परिछिन्न हैं। ब्रह्म असत्य या मिथ्या वस्तु नहीं है, जड़ नहीं है एवं ससीम या परिछिन्न भी नहीं है। इसी दृष्टि से योगवासिष्ठ में निर्विशेष ब्रह्म का स्वरूप विचार किया गया है। उक्त श्रुति में सत्य पद से ब्रह्म परप्रकाश्य जड़ वर्गों से पृथक् एवं अनन्त पद से देश काल आदि सभी प्रकार के परिच्छेद से परे अवगत होता है। ब्रह्म इस प्रकार है इस रूप में विधिमुख से ब्रह्म को जानना सम्भव नहीं है। योगवासिष्ठ की भाषा में ब्रह्म अवाङ्मनसगोचर है, निषेध मुख से ही ब्रह्म को जाना जा सकता है। विधिमुख से जिस सच्चिदानन्द का वर्णन वेद, उपनिषद् आदि में देखा जाता है निषेध मुख से योगवासिष्ठ में उसी ब्रह्म के स्वरूप को बताया गया है।

यह विचारणीय है कि सत्य, ज्ञान एवं अनन्त पद से ब्रह्म में अन्य पदार्थों का जो भेद जो सूचित होता है, वह भेद भी तो ब्रह्म के धर्म के रूप में ही प्रकाशित होगा। वह ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञान स्वरूप, अनन्त आनन्द स्वरूप इस रूप में न कहकर ब्रह्म जड़ नहीं, जड़ वस्तु से पृथक् मिथ्या नहीं, मिथ्या अवस्तु से विभिन्न इस प्रकार निषेध मुख से कहने पर भी जड़ का भेद, मिथ्या का भेद आदि धर्म का ब्रह्म में प्रतिभास होगा। ऐसी स्थिति में ब्रह्म सविशेष ही होगा, निर्विशेष नहीं रहेगा। साथ ही सत्य आदि शब्दों का सत्यत्वविशिष्ट रूप अर्थ ग्रहण न कर मिथ्या नहीं–इस प्रकार का अर्थ ग्रहण करने पर ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इस श्रुति में कथित तीन पदों में लक्षणा माननी पड़ेगी। इसके समाधान में अद्वैतियों का कहना है कि जड़ नहीं, मिथ्या नहीं, ब्रह्म का स्वरूप ही है। ''नेदं रजतं'' शुक्ति खण्ड है। इन स्थलों में रजत का जो बाध या निषेध अवगत होता है, वह शुक्ति खण्ड को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार जड़ का निषेध, मिथ्या का निषेध आदि भी शुद्ध ब्रह्म स्वरूप ही है। एक ही ब्रह्म को अपृथक् रूप में सत्य, ज्ञान और अनन्त शब्द बोधित करता है। इस प्रकार एकार्थत्व और सामानाधिकरण्य रहता है।

अद्वैत वेदान्ती की दृष्टि में ब्रह्म में कोई धर्म नहीं है, ब्रह्म सभी धर्मों से रहित सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप है। ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' का स्वरूप लक्षण है। ब्रह्म में पारमार्थिक दृष्टि से धर्मधर्मिभाव न रहने पर भी अज्ञान के कारण परब्रह्म में भी धर्मधर्मिभाव कल्पित होता है, इस कतिपय धर्म के कारण सत्यता आदि के ब्रह्म का लक्षण कहा गया है। इसका समर्थन करते हुए कहा गया है कि ''आनन्दविषयानुभव और नित्यत्व'' चैतन्य का अर्थ है, वे चैतन्य से पृथक् न होते हुए भी पृथक् के समान प्रतीत होते हैं। वस्तुतः कल्पित धर्म ब्रह्म के स्वरूप और ब्रह्म से अभिन्न हैं।

आनन्दो विषययानुभवो नित्यत्वश्चेति धर्माः।
अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्ते।।

सत्य, ज्ञान आनन्द आदि के अभेद को लक्ष्य कर संक्षेपशारीरक में कहा गया है कि सत्य में भी ज्ञान है, ज्ञान में भी सत्यता है, आनन्द में भी ज्ञान है, ज्ञान में भी आनन्द है, सत्य, ज्ञान और आनन्द इनमें कोई भेद नहीं है– ये वस्तुतः अभिन्न तत्त्व हैं। अतः परम ब्रह्म सब प्रकार की शक्तियों

से सम्पन्न है और उसमें सब वस्तुयें हैं। वह सदा ही सब प्रकार से सब कुछ है, सब के साथ सबमें और सब जगह है। ब्रह्म वह परम तत्त्व है जिसमें सब कुछ है, जो सब ओर है, जो पूर्णरूप से सब कुछ है, जो कि सदा और सब जगह पूर्णरूप से स्थित है। जिससे सब प्राणी प्रकट होते हैं, जिसमें सब स्थित हैं, और जिसमें सब लीन हो जाते हैं, उस सत्यरूप तत्त्व को नमस्कार हो, ऐसा योगवासिष्ठ में स्पष्ट उल्लेख है। जिससे ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का, द्रष्टा, दर्शन और दृश्य का, कर्ता, हेतु और क्रिया का उदय होता है, जिससे पृथ्वी और स्वर्ग में आनन्द की वर्षा होती है तथा जिससे सबका जीवन है उस ब्रह्मानन्द स्वरूप तत्त्व को नमस्कार हो। इस प्रकार से योगवाशिष्ठ के प्रथम तीन श्लोकों के माध्यम से उस परम ब्रह्म का नमन किया गया है।

व्यवहार के लिए विद्वानों ने इसी परम तत्त्व को 'ऋत्', 'आत्मा', 'परब्रह्म', सत्य आदि अनेक कल्पित नामों से सम्बोधित किया है। वह शून्यवादियों का 'शून्य' है, सूर्य के उपासक उसे 'प्रकाश' कहते हैं। वही 'वक्ता', 'मन्ता', 'ऋत्', 'भोक्ता', 'द्रष्टा', 'कर्ता' है। वह सांख्य का 'पुरुष', योगदर्शन का ईश्वर, शैवों का 'शिव', कालवादियों का 'काल', आत्मज्ञानियों का 'आत्मा', अनात्मवादियों का 'नैरात्म्य', माध्यमिकों का 'मध्य', और जिनका सब ओर समदृष्टि है उनका 'सर्व' है। योगवासिष्ठ के अनुसार ब्रह्म अवाच्य है, अनभिव्यक्त है, इन्द्रियों से परे है और उसको कोई विशेष नाम नहीं दिया जा सकता। उसका कोई चिह्न नहीं है, वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा नहीं जाना जा सकता। ब्रह्म का ज्ञान केवल अपने अनुभव द्वारा होता है। श्रुतियों में भी उल्लेख है कि ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति होती है, वह स्वानुभूतिगम्य है, ब्रह्म बनकर ही ब्रह्म को जाना जाता है। अतः निर्विशेष और अनिर्वचनीय ब्रह्म का वर्णन यदि करना ही है, तो निषेध–मुख से करना चाहिये। इसलिए श्रुति कहती है– यह आत्मा नेति–नेति है। ब्रह्म अमात्र, अक्षर, अद्वैत, निर्विशेष, निर्गुण, निर्विकल्प, निरूपाधिक अनिर्वचनीय है।

योगवासिष्ठ के अनुसार ब्रह्म विद्या और अविद्या दोनों से परे है। जैसे जल और तरंग की द्वित्वभावना से ही भिन्नता है, वैसे ही विद्या और अविद्या की दृष्टि में भेद–भावना से ही भिन्नता है, वस्तुतः भिन्नता नहीं है। जैसे परमार्थ दृष्टि से जल और तरंग एकरूप ही है उसी प्रकार अविद्या और विद्या भी एकरूप ही है। पृथक् कुछ भी नहीं है। दोनों प्रतियोगी एक दूसरे का व्यच्छेद करते हैं। इसलिये परम तत्त्व में न विद्या का अस्तित्व है और न अविद्या का, क्योंकि दोनों विरूद्ध भाव हैं। उस तत्त्व में स्थित होना चाहिए जिसमें न विद्या की सत्ता है न अविद्या की, क्योंकि वास्तव में न विद्या है और न अविद्या। दोनों कल्पनाओं का त्याग करना चाहिये। अविद्या और विद्या दोनों ही सत्ता का प्रकाश है जैसे कि धूप और छाया। जब अज्ञान नष्ट हो जाता है तो अविद्या और विद्या दोनों ही कल्पनायें क्षीण हो जाती हैं। ये दोनों जब लीन हो जाती हैं तब वह तत्त्व शेष रहता है जिसको प्राप्त करना है। अविद्या के क्षीण होने पर विद्या की भावना भी क्षीण हो जाती है। योगवासिष्ठ के अनुसार ब्रह्म को आत्मा भी नहीं कह सकते। जिससे वाणियाँ भी निवृत हो जाती हैं, अर्थात् वह वाणी का विषय नहीं रहता है, जिसे जीनन्मुक्त महात्मा ही जानते हैं और जिसकी आत्मा आदि संज्ञाएँ स्वाभाविक नहीं कल्पित हैं अर्थात् उसकी आत्मा आदि संज्ञाएँ अनारोपितस्वरूप से उत्पन्न नहीं है, अपितु आरोपित धर्म से उत्पन्न हुई है वह ब्रह्म है। यह आत्मा है और यह आत्मा नहीं है, इस प्रकार के आत्मा और अनात्मा का भेद उसने अपनी सर्वत्र रहने वाली माया शक्ति के द्वारा अपने ही भीतर कल्पित कर रख लिया है।

यद्यपि परम 'ब्रह्म' का किसी प्रकार भी वास्तविक वर्णन नहीं हो सकता, तथापि मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार किसी न किसी प्रकार उसका वर्णन करने का प्रयत्न करते ही हैं। सभी दार्शनिक ग्रन्थों में परम तत्त्व का कुछ न कुछ वर्णन किया गया है। योगवासिष्ठ में भी अनेक स्थानों पर ब्रह्म का विस्तारपूर्वक और साहित्यिक रूप से अति सुन्दर वर्णन पाया जाता है। आकाश के परमाणु के हजारवें भाग के भीतर भी जो शुद्ध चिन्मात्र सत्ता वर्तमान है वही परमार्थ संवित् है। न वह दिखाई देती है और न वर्णन की जा सकती है। न वह समीप है और न दूर है। शुद्धात्मा का चित्–रूप केवल अनुभव किया जा सकता है। वह सब कुछ है, सबका आत्मा है और सबसे रहित भी है। वह सब भूतों का आत्मा है, शून्य और सत् तथा असत् दोनो ही है। वह न वायु है न आकाश है, न बुद्धि आदि है, न शून्य है; वह 'कुछ' भी नहीं होते हुए भी सब का आत्मा है, वह आकाश से भी सूक्ष्म पदार्थ है। न वह काल है, न वह मन है, न वह आत्मा है, न सत्ता है, न असत्ता, न देश, न दिशायें, न कोई इन सबके बीच का पदार्थ न अन्त का; न वह ज्ञान है और न अज्ञ पदार्थ है। वह संवेद्य रहित् संवित है, चेत्य रहित चित्ति है। वह संसार की परम पराकाष्ठा है, वह सब दृष्टियों की सर्वोत्तम दृष्टि है। वह सब महिमाओं की महिमा है और सब गुरुओं का गुरु है। वह सब प्राणी रूपी मोतियों का धागा है जो कि उनके हृदय रूपी छेदों में पिरोया हुआ है। वह सब प्राणी रूपी मिर्चो की तीक्ष्णता है। वह पदार्थ का पदार्थत्व है, वह सर्वोत्तम तत्त्व है। वह वर्तमान वस्तुओं की सत्ता है और स्वयं सत्ता और असत्ता दोनों है।

वह सब जगह और सब वस्तुओं से युक्त तथा सर्व भावों से मुक्त है। सब ओर उसके हाथ और पैर हैं, सब ओर उसके सिर और मुख हैं, सब ओर उसके कान है, संसार की सभी वस्तुओं को घेरकर वह स्थित है। वह इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होने वाले सभी गुणों से रहित है, और उनसे युक्त भी है। सबका भरण करने वाला, किन्तु असक्त है, सब गुणों को भोगनेवाला, किन्तु निर्गुण है। सब प्राणियों के भीतर और बाहर है। चर और अचर दोनों है। अतिसूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है। वह दूर भी है और समीप भी। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, स्थूल से भी स्थूल, भारी से भी भारी और अच्छे से भी अच्छा है। वह इतना बड़ा है कि उसके आगे सारा जगत् भी परमाणु के समान दिखाई पड़ता है, बल्कि दिखाई भी नहीं पड़ता। वह इतना सूक्ष्म है कि उसके सामने सूक्ष्म आकाश तत्त्व भी अणु के मुकाबले में महा मेरु जैसा स्थूल मालूम पड़ता है।

वही आत्मा है और वही विज्ञान है, वही शून्य स्वरूप है, वही पर ब्रह्म है, वही कल्याण है, वही शान्तस्वरूप शिव है, वही विद्या है और वही परा स्थिति है। चित्ति के भीतर समस्त अनुभव स्वरूप जो यह आत्मा है, जिसमें सभी अपने पदार्थ सद्रूप से आस्वादित होते हैं। वही जगद्रूप तिलों का तैलस्वरूप है और वही जगद्रूपी घर का दीपक है। जगत् रूपी वृक्ष का रस है, और जगत् रूपी पशु को पालने वाला ग्वाला है। वह जगत् में वर्तमान होते हुए भी नहीं है, वह शरीर में रहते हुए भी अत्यन्त दूर है। वह ऐसा प्रकाश है जिससे सूर्य का प्रकाश उदय होता है। उससे विष्णु आदि देवता ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे कि सूर्य से उसकी किरणें। उससे अनन्त जगत् ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे कि समुद्र के जल से बुलबुले। उसकी ओर तमाम दृश्य पदार्थ इस प्रकार जा रहे है जैसे कि महा समुद्र की ओर नदियाँ, वह सभी पदार्थों और आत्मा को ऐसे प्रकाशित करता है जैसे कि दीपक। वह आकाश में, शरीर में, पत्थरों में, लताओं में, घाटियों में, पहाड़ों में, हवाओं में और

पाताल में विद्यमान है। उसने आकाश को शून्य बनाया, पहाड़ों को कठोर बनाया, और जलों को बहने वाला बनाया। सूर्य उसके वश में एक दीपक है। उस अक्षय और पूर्ण अमृत से नाना प्रकार के असार संसारों के दृश्य वैसे ही उदित होते है जैसे कि बादल से वर्षा की बूँन्दे गिरती है। जैसे मरूस्थल में मृगतृष्णा की नदियाँ दिखाई पड़ती है वैसे ही उसमें भी त्रिभुवन के उदय और अस्त रूपी लहरें उठा करती हैं। वह सब प्राणियों के भीतर रहकर उनका संहार करने वाला काल है। सब भावों में गुप्त रूप से वर्तमान रहता हुआ भी वह सबसे अतिरिक्त है। वह हरेक शरीररूपी पिटारी में चित्तिरूपी मणि के रूप में मौजूद है। उससे नाना प्रकार के जगत् ऐसे उदित होते रहते हैं जैसे कि चन्द्रमा से उसकी किरणें। उस सर्व सत्ताओं से परे की सत्ता वाले के कारण ही नियति, देश, काल, गति, स्पन्दन और क्रिया की सत्ता है।

योगवासिष्ठ के अनुसार जिस रूप में हम सभी संसार को देख रहे हैं उस रूप में उसका अत्यन्त अभाव ही है, अर्थात् इस अज्ञान से कल्पित संसार का स्वरूप रज्जुसर्प के समान सर्वथा अभाव रूप ही है। यह अत्यन्ताभाव जिस आधार स्वरूप ज्ञानस्वरूप में होता है वही परमात्मा का स्वरूप है। जिसमें द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, ये सम्पूर्ण क्रम रहते हुए भी वे नित्य अस्त हो जाते हैं। आकाश स्वरूप न होते हुए भी अपरिछिन्न होने से आकाश से उपमित होता है, वही परमात्मा का रूप है। यह महाचिन्मय होते हुए भी अज्ञानी लोगों की दृष्टि में पाषाण के समान स्थूल है, जो अजड़ होता हुआ भी जड़ की भाँति अन्दर स्थित है, वही परमात्मा का स्वरूप है।

वह चेतना रहित चिन्मात्र है। वह अनन्त, अजर, आदि, मध्य और अन्तरहित निरामय शिव है। सदा और सब जगह वह बिना कान के सुनता है, बिना आँख के देखता है, बिना जिह्वा के स्वाद लेता है, बिना त्वचा के स्पर्श करता है, बिना नाक के सूँघता है। जगत् उसके ऐसे कार्य हैं जैसे कि तरंगे जल का। जैसे मशाल के घुमाने से उसमें चक्र दिखाई पड़ने लगता है और उसको स्थिर कर देने पर चक्र गायब हो जाता है, ऐसे ही ब्रह्म में जब स्पन्दन होता है तो संसार की शोभा उदित हो जाती है और प्रत्यक्त्व को प्राप्त होने से निःस्पन्द अर्थात् विक्षोभरहित होने पर जगत् का दृश्य गायब हो जाता है। उसका यह व्यापक महान् अक्षय और शुद्ध स्वभाव है कि जब उसमें स्पन्दन होता है तो जगत् की सृष्टि हो जाती है और जब स्पन्दन की शान्ति होती है तो जगत् का प्रलय हो जाता है। जैसे हवा की सत्ता सब जगह या तो शान्त रूप में है या चलते हुए रूप में है ठीक उसी प्रकार ब्रह्म अपने शान्त और स्पन्दनयुक्त रूप में सर्वत्र वर्तमान है, उन दोनों सत्ताओं में व्यवहार के कारण ही नाममात्र का भेद है, वास्तविक भेद नहीं है। वह जब स्पन्दन से रहित होता है तो शान्त शिव होता है और जब स्पन्दनयुक्त होता है तब तीनों जगत्, स्पन्दनयुक्त और स्पन्दनरहित दोनों स्थितियों में वह एक ही पूर्ण पदार्थ है। उस प्रकाशमान और विस्तृत साक्षी के रहते हुए चित्त की क्रियात्मक इच्छायें वैसे ही प्रवृत होती रहती हैं जैसे कि दीपक के मौजूद होने पर नाट्य आदि क्रियायें होती रहती है। जैसे समुद्र से तरंगे, भँवर और लहरे उदित होती हैं वैसे ही उससे घट पट आदि के आकारवाले अनेक पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं। जैसे कटक अंगद् केयूर और नूपुर आदि अनेक आभूषणों के रूप में सोना प्रकट होता है वैसे ही वह भी सैकड़ों पदार्थों के झूठे आकार में अन्य सा होकर प्रकट होता रहता है। वह परम चित्ति परम आकाश, नगर, नाट्य मण्डल और भूमि आदि सब स्थानों में, संसार को अपनी शक्ति द्वारा घिरा हुआ देखती हुई साक्षी

के समान स्थित है। वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परे होने के कारण अवर्णनीय है–केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह कोई बहुत उत्तम, सूक्ष्म, सर्वात्मक शुद्ध अनुभव मात्र तत्त्व है जो कि सब कुछ है। वह न सत् है, न असत्, न दोनों का मध्य, वह कुछ भी नहीं है तो भी सबकुछ है। वह मन और वचन में आने वाली कोई वस्तु नहीं है। वह शून्य से शून्य और सुख से भी अधिक सुखरूप अर्थात् परमानन्द है।

परमतत्त्व का विकास – ब्रह्म का अर्थ होता है विस्तार। अस्तित्व की मूल सत्ता ही ब्रह्म' है व उसका विस्तार ही 'ब्रह्माण्ड' है। ब्रह्म का अर्थ है जो फैलता ही चला जाय। ब्रह्माण्ड का अर्थ है उस फैलते हुए का प्रकट रूप। ब्रह्म उसका अप्रकट, अव्यक्त रूप है। आइन्स्टीन के कथनानुसार भी यह विश्व वैसे ही फैलता जा रहा है जैसे छोटा बच्चा गुब्बारे को फैलाता है। भौतिक विज्ञान जो आज कह रहा है उसे भारतीय अध्यात्म ने हजारों वर्ष पूर्व कह दिया था। इसी कारण भारत ने उस परम सत्ता का नाम ईश्वर, परमात्मा, गॉड, खुदा आदि न देकर उसे 'ब्रह्म' कहा जो सार्थक शब्द है। सृष्टि रचना की ऐसी वैज्ञानिक व्याख्या अद्भूत हैं। योगवासिष्ठ के अनुसार – ब्रह्म की बृंहा ही जगत् है और जगत् ब्रह्म का बृंहण है। अनादि और अनन्त ब्रह्म ही समुद्र की तरह बढ़ रहा है। यह आत्मा विश्व के समस्त वस्तुओं के रूप में वैसे ही प्रस्पन्दित होता है जैसे समुद्र जल के तरंग, कण और लहरों के रूप में प्रस्पन्दित होता है। यह जो कुछ दिखाई देता है वह सब परम सत् में स्थित है। पूर्ण और सम परम ब्रह्म अपने आप में ही विस्तृत हो रहा है। ब्रह्म ही ब्रह्म में उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और स्थित होता है, ब्रह्म ही ब्रह्म द्वारा बृद्धि को प्राप्त होता है। शून्य शून्य में फूल रहा है, ब्रह्म–ब्रह्म में फैल रहा है, सत्य सत्य में विस्तृत हो रहा है, पूर्ण पूर्ण में स्थित है। ब्रह्म ब्रह्म में ही अपनी बर्द्धन शक्ति द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है। ब्रह्म ही ब्रह्म में प्रकाशित हो रहा है अतः मैं ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ दूसरा पदार्थ नहीं हूँ। जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब अज्ञान ही है, ज्ञान का आभास मात्र है। जैसे जो जगत् स्वप्न में दिखाई देता है वह ज्ञान का प्रकाश है और कुछ नहीं है। जैसे स्वप्न–संवित् में नगर आदि दिखाई पड़ते हैं वैसे ही जो वस्तु हमको जगत् के आकार में दिखाई देती है वह आत्मा ही आत्मा के अन्दर दिखाई दे रहा है। जैसे चन्द्रकान्तमणि की चमक चारो ओर फैलती है वैसे ही जो कुछ यहाँ पर दिखाई देता है वह सब आत्मा का ही विकार रहित प्रकाश है। कुछ भी न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है, केवल ब्रह्म ही गन्धर्व नगर की तरह जगत् रूप से दिखाई पड़ता है। जगत् चिदात्मा रूपी समुद्र की संवित् का है। जगत् रूपी जल अनन्त है और वह जगत् रूपी जल की लहरों के रूप में प्रकट हो रहा है, चिन्मय ब्रह्म ही सृष्टि रूप से प्रकट हो रहा है, दूसरा और कुछ नहीं है, जैसे बीज ही वृक्ष का आकार धारण कर लेता है। ब्रह्म में कतिपय जो देह, जो इन्द्रिय व्यापार, जो भोग्य, जो संपत्ति और विपत्ति जो हर्ष विषाद आदि रचना और जो पुरुषार्थ भोग सब वैसे ही ब्रह्मस्वरूप है जैसे जल में जो कण है, तरंग है, फेन है और लहरें हैं, वे सब जल स्वरूप ही हैं। पाताल में, पृथ्वी पर, स्वर्ग में, तृण में, प्राणियों में, आकाश में जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब चिद्रूप ब्रह्म ही है, दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

यह जगत् ब्रह्म में वैसे ही स्थित है जैसे वृक्ष के बीज में फल, फूल, लता, पत्ते, शाखा, प्रशाखाएँ और तने से युक्त वृक्ष रहता है। जैसे सूर्यकान्तमणि के अन्दर आग और दूध के अन्दर घी रहता है वैसे ही यह सारा जगत् उसमें स्थित रहता है जिससे देश और काल के क्रम का

उदय होता है। जैसे आग से चिनगारियाँ और सूर्य से रोशनी उत्पन्न होती है वैसे ही संसार की सभी दृश्य वस्तुयें ब्रह्म से उदित होती हैं। जैसे समुद्र तरंगों का कोश है वैसे ही ब्रह्म अनन्त दृश्य वस्तुओं के ज्ञान का कोश है। जैसे फूल और फलवाला बट का पेड़ बट के बीज के भीतर रहता है और जैसे मिरचे में तीक्ष्णता रहती है वैसे ही तीनों जगत् (पाताल,पृथ्वी और स्वर्ग) चित्ति के भीतर रहते हैं।

जिस प्रकार आकाश को उसमें स्थित बादल उसे भिगा नहीं सकते उसी प्रकार परम् चित् को उसमें स्थित नाना प्रकार की सृष्टियाँ स्पृष्ट नहीं कर सकती। जगत्रूपी महास्वप्न में एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में प्रवेश करते हुए भी शान्त ब्रह्म अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता। जैसे जल में लहरों के उत्थान और पतन से जल में जल से अन्य कोई रूप परिवर्तन नहीं होता उसी प्रकार सृष्टि और प्रलयों के होने से ब्रह्म का अपना रूप परिवर्तन नहीं होता अर्थात् ब्रह्म जैसा है वैसा ही रहता है। योगवासिष्ठ के अनुसार जैसे दीपक के उपस्थिति होने पर ही प्रकाश का उदय हो जाता है वैसे ही ब्रह्म के वर्तमान रहने पर ही सारा सृष्टिक्रम प्रचलित होता रहता है। जैसे बादल के होने पर कुटज खिल उठते है वैसे ही परमात्मा की सत्तामात्र से ही तीनों जगत् स्वयं ही उदित होते रहते हैं। जैसे सूर्य को कोई इच्छा न रहते हुए भी आकाश में उसकी मौजूदगी मात्र से सारी क्रिया होती रहती है वैसे ही परमात्मा के मौजूद होने से ही सारा जगत् का व्यवहार होता रहता है। जिस प्रकार रत्न के मौजूद होने पर बिना उसकी इच्छा के प्रकाश होता रहता है उसी प्रकार परमात्मा की सत्ता मात्र से ही संसार की उत्पत्ति होती रहती है। परमात्मा में कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों ही हैं। किसी प्रकार की इच्छा न होने से वह अकर्ता है और उसकी मौजूदगी मात्र से सृष्टि होने के कारण वह कर्ता है। वह सब इन्द्रियों से परे होने के कारण कर्ता और भोक्ता नहीं है लेकिन सब इन्द्रियों में मौजूद रहने के कारण कर्ता और भोक्ता है। परमात्मा, जो सब जगह रहने वाला है, वह इस प्रकार जगत् का कर्ता है जैसे आकाश घटाकाशों का और चुम्बकमणि लोहे का कर्ता है। जैसे चुम्बकमणि के उपस्थिति मात्र से ही जड़ लोहा चलने लगता है, वैसे ही ब्रह्म के उपस्थिति मात्र से सृष्टि प्रक्रिया आरंभ होने लगती है।

ब्रह्म की शक्ति – सृष्टि में जितने प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान है वे सब उस परम तत्त्व ब्रह्म में निहित हैं। ब्रह्म इन सभी शक्तियों का समग्र स्वरूप है। जब ये शक्तियाँ अपनी शान्त अवस्था में रहती हैं तो उसे परम ब्रह्म, शिव, पुरुष, परमात्मा आदि नामों से अभिहित किया जाता है किन्तु उसकी एषणा शक्ति के द्वारा उस शान्त ब्रह्म में स्पन्दन होता है तो उसकी क्रियाशील शक्ति का प्रकटीकरण होता है। यही क्रियाशील शक्ति अहंभाव को धारण कर अपना स्वतंत्र अस्तित्व मानने लगती है। इसी शक्ति से सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया आरंभ होती है। योगवासिष्ठ के अनुसार ब्रह्म की अनेक शक्तियाँ हैं। ईश्वर सब प्रकार की शक्तियों वाला है और सब जगह वर्तमान है। वह जहाँ जिस शक्ति को चाहता है वहीं उसे प्रकट कर देता है। नित्य पूर्ण और अक्षय ब्रह्म में सब शक्तियाँ मौजूद हैं। कोई वस्तु संसार में ऐसी नहीं है जो उस सर्वत्र स्थित ब्रह्म में शक्तिरूप में मौजूद न हो। शान्त आत्मा ब्रह्म में ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, कर्तृताशक्ति, अकर्तृताशक्ति आदि अनन्त शक्तियाँ वर्तमान है।

जरायुज, अण्डज, स्वेदज उद्भिज इन चार प्रकार के प्राणियों में ब्रह्म की चित्–शक्ति दिखाई देती है। स्पन्दशक्ति हवा में, जड़शक्ति पत्थर में, द्रव शक्ति जल में, चमकने की शक्ति आग में, शून्य शक्ति आकाश में, भव शक्ति संसार की स्थिति में, सबको धारण करने की शक्ति दशों दिशाओं में, नाश शक्ति नाशों में, शोकशक्ति शोक करनेवाले में, आनन्द शक्ति प्रसन्न चित्तवालों में, वीर्यशक्ति योद्धाओं में, और सृष्टि करने की शक्ति सृष्टि में। कल्प के अन्त में सब शक्तियाँ स्वयं ब्रह्म में ही रहती हैं। माया की जो स्पन्दशक्ति है, वही ब्रह्मरूप शिव की इच्छा है। वह इच्छा इस दृश्याभास का उस प्रकार विस्तार है, जिस प्रकार शरीरधारी मनुष्य की इच्छा कल्पनात्मक नगर का विस्तार करती है। परमेश्वर शिव की वह स्वाभाविक स्पन्दनशक्ति, प्रकृति कहलाती है और वही जगन्माया के नाम से भी प्रसिद्ध है। जगत् का उपादान होने के कारण वह प्रकृति कहलाती है। दृश्यमान पदार्थों का कारण होने की वजह से उसे क्रिया भी कहते हैं।

जब शुद्ध चित्त में जड़शक्ति उदित होती है तब ही संसार की विचित्रता उत्पन्न होती है। ब्रह्मानन्द रूप आत्मा ही भाव की दृढ़ता से मिथ्या रूप से इस प्रकार प्रकट हो रहा है जैसे कि रेशम का कीड़ा स्वयं ही अपनी लार को दृढ़ करके जाला बना लेता है। जैसे चेतन मकड़ी से जड़ जाले की उत्पत्ति हो जाती है।

प्रकृति के तीन प्रकार होते हैं– सूक्ष्म, मध्यम और स्थूल। इन तीन अवस्थाओं में प्रकृति स्थित रहती है और इसी कारण तीन प्रकार की प्रकृति होती है। प्रकृति के तीन भेद हैं सत्त्व, रजस और तमस्। इस त्रिगुणात्मक प्रकृति को अविद्या भी कहते हैं। इस अविद्या से ही प्राणियों की उत्पत्ति होती है और इससे (प्रकृति) पार पाना ही परम पद मोक्ष कहलाता है। इससे परे परमब्रह्म है। सारे दृश्य पदार्थ इस अविद्या के आश्रय हैं। अर्थात् अविद्या ही सब दृश्य पदार्थों का उपादान कारण है।

शक्ति और शक्तिमान में सम्बन्ध – शक्ति और शक्तिमान में कोई भेद नहीं है। ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति दोनों एक ही हैं। जैसे पवन और स्पन्दन एवं उष्णता और अग्नि दोनों एक ही हैं, वैसे ही चिन्मात्रशिव एवं स्पन्दनशक्तिरूपा माया दोनों एक ही हैं, भिन्नस्वरूप नहीं है। मनोमयी स्पन्दनशक्ति ब्रह्म से अलग नहीं है।

ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति में सम्बन्ध ठीक वैसा ही है जैसा अग्नि और उष्णता का, वर्फ और शीतलता का, मिर्च और तिक्तता का, गन्ने के रस और माधुर्य का अथवा स्वर्ण और उससे निर्मित आकार का। ब्रह्म अपनी स्पन्दन शक्ति से अलग वैसे ही नहीं रह सकता जैसे वायु स्पन्द से, अग्नि उष्णता से, वर्फ शीतलता से, मिर्च तीक्तता से, गन्ने का रस माधुर्य से तथा स्वर्ण आकार से अलग नहीं रह सकता। इस प्रकृति से परे दिखाई न देने वाला जो पुरुष है वह सदा ही शरद् ऋतु के आकाश की तरह स्वच्छ, शान्त और शिवरूप है। भ्रमरूपावली प्रकृति जो कि ब्रह्म की इच्छा रूपी स्पन्दात्मक शक्ति है, तभी तक संसार में भ्रमण करती रहती है जब तक कि वह नित्य तृप्त विकार रहित शिव का दर्शन नहीं करती। संवित्मात्र सत्ता के साथ उसका तादात्म्य होने के कारण प्रकृति जब कभी संयोग से पुरुष को स्पर्श कर लेती है तभी वह अपने प्रकृतित्व को छोड़कर पुरुष के साथ तन्मय हो जाती है। जैसे नदी समुद्र में गिरती है तो अपना रूप छोड़कर वह समुद्र में विलीन होकर वह समुद्र ही बन जाती है वैसे ही प्रकृति पुरुष को प्राप्त करके पुरुषरूप हो जाती है। शिव की इच्छा चितिशक्ति शिव को प्राप्त करके शान्त हो जाती है। जैसे नदी समुद्र में पड़कर समुद्र हो जाती है वैसे ही प्रकृति चित्ति के शान्त हो जाने पर परम पद को पाकर तद्रूप हो जाती है।

ब्रह्मा – योगवासिष्ठ के अनुसार ब्रह्मा निराकार अव्यक्त ब्रह्म का प्रथम व्यक्त स्वरूप है जिससे जगत् की सृष्टि प्रक्रिया प्रारंभ होती है। यह नित्य और अनन्त परम तत्त्व ब्रह्म की सर्जन शक्ति का मूर्तिमान आकार है। ब्रह्म की स्पन्द शक्ति ही ब्रह्मा के आकार में प्रकट होकर जगत् की सृष्टि करती है। ब्रह्मा मनोमय है। मन ही ब्रह्मा का रूप धारण करता है। ब्रह्मा संकल्प करने वाला मन है। मन ही अपने–आपको विस्तृत करके इस संसार की रचना करता है। मन का रूप धारण करके ही ब्रह्म सृष्टि करता है। शान्त महासमुद्र से चंचल लहरे जैसे उत्पन्न होती है वैसे ही परमात्मा से मन का उदय होता है। परमात्मा में यह जीव (ब्रह्मा) वैसे ही उत्पन्न होता है जैसे निर्मल और निश्चल जलराशि में अपने–आप स्पन्दन। ब्रह्म का यह स्पन्दन स्वाभाविक है। जैसे वायु की चंचलता, अग्नि की उष्णता और हिम की शीतलता स्वाभाविक है, वैसे ही आत्मा का जीवत्व भी स्वाभाविक है। योगवासिष्ठ के अनुसार ब्रह्म में स्पन्द होना उसकी अपनी लीला है। देश, काल आदि से अपरिछिन्न आत्मतत्व अनायास ही अपनी शक्ति से देश, काल से परिच्छिन शरीर को धारण करता है। जैसे जल में चंचल जलवाला भँवर अपने आप ही उदित हो जाता है वैसे ही उस परम तत्व में अपने आप ही सृष्टि करने वाली कला का उदय हो जाता है। जब आत्मा (ब्रह्म) अपने आप ही अपनी संकल्प नामक शक्ति का प्रकाश इस प्रकार करता है जैसे कि वायु अपनी स्पन्द शक्ति का, तब आकार की भावना करके वह विश्व का आत्मा (ब्रह्म) संकल्प करने वाला पृथक् आकार वाला मन बन जाता है। ब्रह्म का स्पन्दन ब्रह्म से अन्य रूप धारण कर लेता है। एक ही वस्तु स्वभावतः अपने कार्यों के द्वारा अपने से अलग और भिन्न–भिन्न आकारों और नामों से जाना जाता है। जैसे– हिमकण, ओसकण, जल तरंग आदि ये सभी वास्तव में जल ही हैं लेकिन यही जल अपनी स्वाभाविक कार्यों के आधार पर भिन्न भिन्न रूपों और नामों से जाना जाता है। पुरुष अपनी भावना के द्वारा हिमकण आदि वस्तुओं को जल से अलग करके ही देखता है जबकि वास्तव में है वह जल ही। इसी प्रकार ब्रह्म एक होते हुए भी अपनी स्वाभाविक स्पन्दन के कारण अन्य सा रूप धारण करता है, जिससे भिन्न–भिन्न प्रकार की सृष्टियाँ होती हैं। योगवासिष्ठ के अनुसार परम ब्रह्म अपने स्वभाव द्वारा अपने आप ही यह भावना करके कि मेरी संकल्प–विकल्प करने वाली शक्ति मेरे से अन्य है, अपना एक अन्य सा रूप धारण कर लेता है। यह ऐसे ही होता है जैसे कोई पुरुष अपनी भावना द्वारा सूर्य की किरणों को सूर्य से अलग, सोने के गहने को सोने से अलग, जल की तरंग को जल से अलग, अग्नि की ज्वाला को अग्नि से अलग समझने लगता है। चित् शक्ति चित्ति रूपी समुद्र में कुछ क्षोभयुक्त होकर आत्मा से अतिरिक्त दूसरे आकार को धारण कर लेती है।

योगवासिष्ठ के अनुसार सब शक्तियों से सम्पन्न और अनन्त आत्म–तत्त्व की संकल्प शक्ति द्वारा रचे हुए रूप को मन अर्थात् ब्रह्मा कहते हैं। इसी परम ब्रह्म का प्रथम साकार रूप ब्रह्मा से जगत् रचना की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। यही ब्रह्म अपने संकल्प शक्ति के द्वारा भिन्न–भिन्न प्रकार की सृष्टियाँ करता हैं। ब्रह्म की उत्पत्ति का कोई विशेष हेतु नहीं है। ब्रह्म की शक्ति का ब्रह्म के भीतर बिना हेतु का स्फुरण वैसे ही होता है जिस प्रकार स्फटिक की अनेक प्रतिविम्बों का ग्रहण करने में योग्यतासम्पादक स्वच्छता अनेक तरह के प्रतिविम्ब और उसके गुण, क्रिया आदि वैचित्र्य के रूप से अन्दर प्रस्फुटित होती है। अतः ब्रह्मा का शरीर पृथ्वी आदि कारणों

से रहित भासमान हो रहा है अथवा जीव का चित् ही उसका एक मात्र कारण है। वह अपने कारण चिद्घन परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न, स्वयम्भू और स्वयं आत्मस्वरूप है। सब वस्तुओं का कारण ब्रह्मा ब्रह्म के स्वभाव से ही उदित होता है। उदित होकर सृष्टि में कार्य–कारण के नियम की स्थापना करता है। पूर्व कर्मों के अभाव से आदि प्रजापति अपने आप ही, बिना किसी कारण के उत्पन्न होता है। पिछली कोई स्मृति भी ब्रह्मा की उत्पत्ति का कारण नहीं है। योगवासिष्ठ के अनुसार ब्रह्मा कर्मबन्धन से मुक्त है। ब्रह्म के न तो पूर्व जन्म के कर्म हैं और न अब ऐसे कर्म करता है जिसका उसे फल भोगना पड़े। इसके प्राणव्यापार जिसे हमलोग देखते हैं, वह लोगों की अपनी अज्ञान जनित भ्रान्ति से ही है अर्थात् कर्मज्ञान इसकी उसमें सत्यताबुद्धि नहीं है। जिस मन को ब्रह्मा कहते हैं वह संकल्प मात्र है। वह संकल्प के आकाश में रहने वाला जीव है। उसमें कोई स्थूल तत्त्व, पृथ्वी आदि विद्यमान नहीं है। जैसे चित्रकार के मन के भीतर रहने वाली प्रतिमा स्थूल शरीर से रहित होती है वैसे ही ब्रह्मा भी बिना किसी प्रकार की स्थूलता के शुद्ध चिदाकाश रूप में रहता है। ब्रह्मा का शरीर केवल आतिवाहिक है, आधिभौतिक नहीं है। जिन प्राणियों की उत्पत्ति कारण द्वारा होती है उन सबके दो शरीर – एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल होते हैं, किन्तु ब्रह्मा का जिसकी उत्पत्ति किसी कारण द्वारा नहीं होती, सूक्ष्म शरीर ही एक शरीर होता है। सब प्राणियों का एक परम कारण ब्रह्मा हैं उसका कोई कारण नहीं है, इसलिए ब्रह्मा केवल एकही शरीर वाला है। आदि प्रजापति का भौतिक शरीर नहीं होता, वह तो शून्य स्वरूप सूक्ष्म देह युक्त ही होता है। आदि प्रजापति केवल मानसिक शरीर वाला होता है, भौतिक शरीर वाला नहीं। सूक्ष्म रूपवाला रहकर ही वह सृष्टि करता है। यह जगत् ब्रह्मा का आकार धारण करने वाले मन नामक जीव का मनोराज्य है, किन्तु यह सत्य प्रतीत होता है। अहंयुक्त ब्रह्मारूपी भावना संकल्पों द्वारा सृष्टि की रचना करती है। मन का रूप धारण करके ब्रह्म इस सृष्टि की जो कि आत्मा से अन्य नहीं है, ऐसे रचना करता है जैसे शुद्ध जल से बहते हुए जल की रचना हो जाती है। जैसे वायुमण्डल में हवा चलने लगती है वैसे ही ब्रह्म के सर्वप्रथम स्पन्द ब्रह्मा से उससे अनन्य स्वरूपवाली सृष्टि उदित होती है।

निष्कर्ष यह है कि अनन्त और सर्वशक्तिमय ब्रह्म में अपने ही स्वभाव से, बिना और किसी कारण के लीला रूप से एक सृष्टि कारक जीव का उदय होता है। वह मन के आकार का बिना किसी स्थूल देह के होता है। उसे ब्रह्मा कहते हैं। उसी से कल्पना द्वारा समस्त सृष्टि का उदय होता है और उदय होकर सत्य सा प्रतीत होता है। इस दृष्टि से सारा जगत् ब्रह्ममय है। चूँकि सभी पदार्थ ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई दूसरा तत्त्व है ही नहीं तो स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु का ब्रह्म के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः योगवासिष्ठ के अनुसार प्रत्येक वस्तु ब्रह्म ही है। जीव भी ब्रह्म ही है।जीव और चित्त में वैसे ही भेद नहीं है जैसे चिदात्मा (ब्रह्म) और जीव में भेद नहीं हैं। जैसे जीव और चित्त में भेद नहीं है वैसे ही शरीर और कर्म में भेद नहीं है। वस्तुतः कर्म ही देह है, कर्म से भिन्न सत्ता विशिष्ट देह नहीं है। देह ही चित्त है, चित्त ही यह अहंकारविशिष्ट जीव है, वही ईश्वर चैतन्य है, वह आत्मा मंगल और सर्वात्मक है, वही सब कुछ है। वही एक परम पद शिव है।

योगवासिष्ठ[1] के अनुसार, प्रकृति और आत्मा अभिन्न है। आत्मा से प्रकृति वैसे ही पृथक् नहीं है जैसे घट से मृण्मयता पृथक् नहीं है। जिस प्रकार से घड़ा मिट्टी ही है उसी प्रकार से प्रकृति भी आत्मा ही है। जैसे जल का स्पन्दन भँवर है और वह भंवर जल ही है, वैसे ही आत्मा का स्पन्दन प्रकृति है और यह प्रकृति आत्मा ही है। आत्मा और प्रकृति दो भिन्न वस्तुए नहीं है, केवल नाम मात्र का ही उनमें भेद है। यह नाम भेद वैसे है जैसे हवा और उसका स्पन्दन इन दोनों में केवल नाम मात्र का ही भेद है। ये दोनों दो सत्ताएँ नहीं बल्कि दोनों एक ही हैं। यह जो भेद दिखता है, वह अज्ञान के कारण दिखता है। जब ज्ञान होता है तो यह भेद वैसे ही मिट जाता है जैसे रज्जु–सर्प का भेद ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है। ब्रह्म, तुरीय, आत्मा, अविद्या, प्रकृति तथा जगत् आदि सभी पदार्थ उसी प्रकार अभिन्न सन्मात्र रूप है जिस प्रकार सैकड़ों घड़ों में मिट्टी है। मैं ब्रह्म हूँ, तीनों जगत् ब्रह्म है, आप ब्रह्म हैं और यह सारी दृश्य वस्तुए ब्रह्म हैं, ब्रह्म से अतिरिक्त कोई दूसरी कल्पना ही नहीं है। यह अविद्या है, यह जीव है इस प्रकार की विचारधारा अज्ञानियों को समझाने के लिये बुद्धिमानों ने बना लिया है।

योगवासिष्ठ के अनुसार मन भी ब्रह्म ही है। प्रतियोगी शब्दों द्वारा वर्णन किये जाने योग्य, संख्या और रूपवाले जो मन हैं वे सब ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं, उनकी कल्पना मनः शब्द कल्पित ब्रह्म से होती है। अतः हम उन्हें ब्रह्म ही समझें। मन ब्रह्म की शक्ति है। वह ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है। शक्ति और शक्ति के कार्य में भेद नहीं अभेद है। उसकी मनोयमी स्पन्दशक्ति को उससे अनन्य समझना चाहिए। जगत् और ब्रह्म भिन्न नहीं है। सत्य संकल्प विश्वाधार ब्रह्म ही जगद्रूप है। जैसे सुवर्ण निर्मित कटक, कुण्डल सुवर्ण से पृथक नहीं है और जैसे सुवर्ण कटक कुण्डल से पृथक् कोई वस्तु नहीं है वैसे जगत् शब्द से कोई 'परब्रह्म' से अन्य वस्तु नहीं समझना चाहिए। जैसे सोने से पृथक् कड़े का और जल से पृथक् तरंग का अस्तित्व नहीं हो सकता वैसे ही जगत् ईश्वर से पृथक् नहीं हो सकता। जैसे जल से पृथक उसकी लहरें नहीं स्थित हो सकती वैसे ही सृष्टियाँ भी आत्मा से पृथक् स्थित नहीं हो सकतीं। जैसे हवा से उसकी गति कभी अलग नहीं है, गति सदा वायु ही है, वैसे ही जगत् भी ब्रह्म से अन्य वस्तु नहीं है। ब्रह्माकाश ही काकतालीय योग से जगत्रूप से प्रकट हो जाता है, जैसे स्वप्न और संकल्प का जगत्। इसलिए जगत् ब्रह्म से भिन्न कैसे हो सकता है? चित्स्वभाव ब्रह्म से जगत् वैसे ही भिन्न नहीं है जैसे अग्नि से उष्णत्व भिन्न नहीं है, कमल से उसकी गन्ध भिन्न नहीं है, कज्जल से श्यामरूप भिन्न नहीं है, बर्फ से शुक्ल रूप भिन्न नहीं है, गन्ने से उसका मिठास भिन्न नहीं है, तेज से प्रकाश भिन्न नहीं है, चित्ति से वृतिप्रतिबिम्बित चैतन्य भिन्न नहीं है, जल से तरंग भिन्न नहीं है।

अहंकारादि का अनुभव आत्मा में ऐसा है जैसा कि मिर्चे के लिये उसकी तीक्ष्णता का, नमक के लिये उसकी नमकीनता का, गन्ने के लिये उसके मिठास का, शिला के लिये उसकी कठोरता का, पहाड़ के लिये उसकी जड़ता का, जल के लिये उसकी द्रवता का, आकाश के लिये उसकी शून्यता का, वृक्ष के लिये उसकी शाखा आदि का, दीवार के लिये उसके ठोसपन का, आत्मा को अपनी सत्ता का, अन्तरात्मा को अपने प्रकाश का, गुड़ को अपने स्वाद का, चन्द्रमा को अपने भीतर स्थित अमृत का। वशिष्ठजी राम को इन दृष्टान्तों के द्वारा समझते हुए कहते हैं कि

जगत् और अहंभाव आदि में कोई भेद नहीं है। चिद्रूप से स्वयं चिदात्मा ही प्रकाशित हो रहा है जैसे कि स्पन्दनरूप से स्वयं वायु। जैसे दूध का मिठास, मिर्चे का चिरचिरापन, जल का पतलापन और वायु का स्पन्दन, उनसे अन्य होते हुए अनन्य ही हैं वैसे ही यह सारा जगत् भी परमात्मा का ही रूप है। यह जगत् ब्रह्मरूपी रत्न की अकारण चमक है, इसलिए उससे अलग कोई वस्तु नहीं है।

जगत् चित्रूपी अग्नि की चमक है, शंख की शुक्लता है, पहाड़ की कठोरता है, जल की द्रवता है, गन्ने का मिठास है, सोने का कड़ा है, सरसों का तेल है, नदी का लहर है, बर्फ की शीतलता है, फूल की सुगन्ध है, लता का फल है। चित् की सत्ता जगत् की सत्ता है, और जगत् की सत्ता चित् की सत्ता है। चित् सत्ता ही चैत्य के आकार में विकल्प को प्राप्त होती है और अपने भीतर ही विकार को धारण करती है, वही सारे जगत् का सार है इसलिये जगत् उससे भिन्न नहीं है। जैसे पत्ते, कोंपल और फूल आदि लता से अन्य नहीं हैं वैसे ही चिति से, द्वित्व, एकत्व, जगत्, तुम और मैं आदि अलग नहीं है। करण, कर्म, कर्ता, जन्म, मरण, स्थिति– सब कुछ ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जगत् का जाल ब्रह्माकाश है, दसों दिशायें ब्रह्माकाश हैं। कला, काल; देश, द्रव्य, क्रिया आदि सब ही ब्रह्माकाश है। जैसे स्वप्न के पदार्थ पहाड़ और नगर आदि सब ही चिदाकाश हैं वैसे ही जाग्रत के पदार्थ भी चिदाकाश ही है। पृथ्वी, आकाश, पहाड़ और वृक्ष सब ही परमार्थ तत्त्व हैं। जो कुछ भी इस जगत् में दिखाई पड़ता है वह सब शुद्ध ब्रह्म ही है तो इस प्रकार स्थित दिखाई पड़ता है। पाताल में, पृथ्वी पर, स्वर्ग में, प्राणियों में और आकाश में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है वह सब चित् रूप परम ब्रह्म ही है और कुछ भी नहीं हैं।

अस्तु यह स्पष्ट है कि इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना एक ही मूल तत्त्व ब्रह्म से हुई है जो इस सृष्टि का एक मात्र अनादि तत्त्व है। सृष्टि में दूसरा कोई मौलिक तत्त्व है ही नहीं। इसलिए इस सृष्टि में भिन्न–भिन्न दिखाई देने वाले सभी रूप उसी एक ब्रह्म के विस्तार मात्र हैं। संकल्प से ही इस शान्त परम ब्रह्म तत्त्व में स्पन्दन होता है जिससे उससे निःसृत शक्ति विभिन्न आकार वाले जगत् एवं पदार्थों का निर्माण करती जाती है जो जगत् नाम से पुकारा जाता है। इसी कारण यह जगत् ब्रह्म से किसी प्रकार भिन्न नहीं है बल्कि ब्रह्म ही है। जिसे इस मूल तत्त्व का ज्ञान नहीं है वही इन पदार्थों को भिन्न–भिन्न देखता है, परन्तु इस दृष्टि को सत्य नहीं कहा जा सकता। जीव, जगत्, पदार्थ, सृष्टि, प्रकृति, पुरुष, शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि की धारणा ही भ्रममूलक हैं। सत्य ज्ञान के अभाव में असत्य भी सत्य जैसा प्रतीत होता है। ज्ञान प्राप्ति के बाद ही यह भ्रान्ति मिटती है। जिस प्रकार स्वर्ण और आभूषण, मिट्टी और घड़ा भिन्न नहीं है उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् भिन्न नहीं हैं। सत्य ज्ञान के अभाव में रस्सी भी सर्प ज्ञात होती है उसी प्रकार अज्ञानी को सृष्टि ही सत्य ज्ञात होती है जो भ्रम मात्र है।



सन्दर्भ –

1. योगवासिष्ट 'सर्वं खल्विदम् ब्रह्म' का प्रतिपादक एक अद्भुत आकर ग्रंथ है। इस आलेख में मैंने योगवासिष्ट के मुमुक्षु प्रकरण, उत्पत्ति प्रकरण, उपशम प्रकरण और निर्वाण प्रकरण के मूल सन्दर्भों के आधार पर ब्रह्म के स्वरूप को विवेचित करने का प्रयास किया है।

अष्टावक्र : विश्राम का वेदान्त

मैत्रेय सुशील

अष्टावक्र भारतीय प्रज्ञा के ऐसे ज्वलंत तारे हैं जिनकी चकाचौंध को सहन कर पाना सरल नहीं है। यही कारण है कि दर्शन के इतिहास में सम्भवतः वे अकेले चिंतक हैं, जो उपेक्षित दिखते हैं क्योंकि जो हमें अनुकूल नहीं लगते उनकी हम उपेक्षा ही करते हैं, कारण विरोध करना भी वस्तुतः एक नकारात्मक समर्थन होता है। अष्टावक्र शरीर से तो अवश्य वक्र हैं लेकिन उनकी प्रज्ञा ऋजु है। जनक के दरबार में एक विशाल शास्त्रार्थ हो रहा था जिसमें जनक के निमंत्रण पर देश के सारे पण्डित, विद्वान् एकत्र हुए थे। अष्टावक्र के पिता भी उस शास्त्रार्थ में गये थे। सूचना मिलने पर कि पिता हार रहे हैं, अष्टावक्र भी राजमहल चले गए। अष्टावक्र का शरीर आठ जगहों पर टेढा था, पंडितों की वह सभा उनके हास्यास्पद ढंग से चलने पर हंस पड़ी और स्वयं अष्टावक्र भी खिलखिला कर हंस पड़े। इस पर जनक ने पूछा कि सब हंस रहे हैं, समझ में आता है लेकिन बेटे तुम क्यों हंस रहे हो?

अष्टावक्र ने छूटते ही कहा कि मैं इसलिए हंसने को विवश हूँ कि 'चमारों' की इस सभा में सत्य की विवेचना हो रही है। स्वभावतः उनके उत्तर से ब्राह्मणों की वह सभा निश्चित ही क्रोध से उन्मत हो गयी होगी, जिसके कारण जनक को हस्तक्षेप करते हुए अष्टावक्र से उनके कथन का अर्थ पूछा। अष्टावक्र ने सहजता से उत्तर देते हुए कहा कि चूँकि यहाँ उपस्थित सभी 'ब्राह्मणों' को मेरे शरीर की ही वक्रता दिखाई दी, 'मैं' नहीं दिखा अर्थात् उनकी दृष्टि की सीमा शरीर–चमड़ी थी इसलिए इन्हें 'चमार' ही कहना समीचीन है। अष्टावक्र ने कहा होगा कि कहीं भवन के टेढ़े होने से आकाश टेढा होता है? कहीं घड़े के फूटने से आकाश फूटता है? क्योंकि वह तो विकारों से परे होता है।

अष्टावक्र के उत्तर ने निश्चित ही जनक को झकझोर दिया होगा तभी उन्होंने अष्टावक्र से अपनी जिज्ञासा का समाधान चाहा होगा। अष्टावक्र के उपर्युक्त उत्तर में ही भारतीय प्रज्ञा के स्वरूप को समझने का सूत्र निहित है कि जीवन एवं जगत् के सम्बन्ध में दो ही दृष्टियाँ हो सकती हैं : एक आत्मपरक एवं दूसरी वस्तुपरक–आत्मदृष्टि या चर्मदृष्टि। चिंतन के लिए प्रयुक्त भारतीय शब्द–दर्शन, प्रथम दृष्टि का सूचक है जबकि इसके लिए प्रयुक्त पश्चिमी शब्द– फिलासफी द्वितीय दृष्टि का सूचक है। वास्तव में यह चिंतन के लिए प्रयुक्त होने वाले मात्र दो शब्द न हों, दो मूल प्रवृत्तियों के द्योतक हैं; जिसमें एक 'केन्द्र' पर बल देती जबकि दूसरी 'परिधि' पर। यूं तो केन्द्र एवं परिधि परस्पर सम्बद्ध है लेकिन इनमें से किसी एक को वरीयता देने पर पूरी स्थिति में गुणात्मक भिन्नता आ जाती है। परिधि है तो यह निश्चित है कि उसका केन्द्र होगा लेकिन यदि मात्र केन्द्र है तो कोई आवश्यक नहीं कि उसकी परिधि भी हो।

प्रथम दृष्टि में हम परिधि पर नहीं रूकते बल्कि उसकी विवेचना हेतु केन्द्र तक जाते हैं क्योंकि केन्द्र ही उसे निर्धारित करता है, दूसरे शब्दों में हम बाहर में ही उलझकर नहीं रह जाते

दर्शन विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ.प्र.)

बल्कि बाहर से अन्दर की यात्रा करते हुए उसे समझना चाहते हैं। दूसरी दृष्टि में हम अन्दर से बाहर जाने को विवश होते हैं क्योंकि परिधि के बिना केन्द्र हमारी समझ के बाहर होता है और परिधि–वस्तु शरीर में अटक जाते हैं और ब्राह्मणों की उपर्युक्त सभा के अनुसार व्यवहार करने लगते हैं।

जनक ने अष्टावक्र के उत्तर की गहराई को पकड़ा होगा तभी वे पूछने पर विवश होंगे, "हे प्रभो, ज्ञान कैसे प्राप्त होता है और मुक्ति कैसे होगी और वैराग्य कैसे प्राप्त होगा? यह मुझे कहिए। मुझे समझाएँ।"[1]

जनक के प्रश्न ऊपर से देखने में तीन अलग–अलग प्रश्न भले ही लगते हों लेकिन वे परस्पर सम्बद्ध हैं और सामान्य जन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। प्रश्न ज्ञान, मुक्ति और वैराग्य का है। अपने दैनन्दिन जीवन में भी हम इन शब्दों का प्रयोग करते ही रहते हैं। तो क्या उन्हीं अर्थों में जनक की जिज्ञासा/प्रश्न है? हम सभी को जनक के प्रश्न अटपटे, महत्त्वहीन साधारण लग सकते हैं। क्या वे वस्तुतः वैसे ही हैं?

सामान्यतः जिसे हम 'ज्ञान' की संज्ञा से अभिहित करते हैं वह ज्ञान न होकर मात्र सूचनाएँ या जानकारियाँ ही होती हैं। इतना तो जनक भी जानते रहे होंगे कि शास्त्रों में ज्ञान भरा पड़ा है। उन्हें हम कंठस्थ कर लें, *उनकी कितनी ही विवेचना क्यों न कर लें लेकिन इस सब से और सब कुछ भले ही सम्भव हो जाये लेकिन एक बात जो तमाम कोशिशों के बाद भी सम्भव नहीं होती, वह ज्ञान होता है। क्योंकि यदि वह ज्ञान होगा तो हमें मुक्त करेगा, स्वतन्त्र करेगा* न कि बंधन में बांधेगा, परतंत्र करेगा। अपनी बात को मैं उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना चाहूँगा। हम सभी जानते हैं कि तम्बाकू, गुटखा खाने एवं सिगरेट पीने से कैंसर होता है, लेकिन हमारा यह ज्ञान क्या हमें उनके सेवन करने से बचा पाता है? तम्बाकू, गुटखा खाने वालों को लाख समझाया जाय तो क्या वे खाना छोड़ देते हैं, कदापि नहीं। कारण क्या है?

स्पष्ट है कि उपर्युक्त जानकारी, ज्ञान हमारे अनुभव से निःसृत एवं पुष्ट नहीं है क्योंकि उनके सेवन से हमें तत्काल कोई खतरा अनुभूत नहीं होता है। इसलिए हम यह तर्क करते हैं कि लोगों को होता होगा, मुझे नहीं और यदि भविष्य में होगा तो देखा जायेगा। लेकिन इसी तर्क के आधार पर हम विषपान से बचते हैं, क्योंकि वहाँ असर तत्काल दिखाई देता है। हम प्रयोग के लिए भी विष चखने से बचते हैं। विष नहीं पीना चाहिए, इस हेतु ना तो धर्म ग्रन्थों में कोई उल्लेख मिलता और न ही सरकार इसके लिए वैधानिक प्रयास करती है। हमें स्पष्ट बोध रहता है कि हम इस बिन्दु पर कोई स्वतन्त्रता (लिबर्टी) नहीं ले सकते, यहां पर यह ज्ञान कि विष में मारक क्षमता है हमें विष से दूर रहने (मुक्त होने) में सहायक होता है।

चूँकि शास्त्र के वचन हमें मुक्त नहीं करते इसलिए जनक उन्हें 'ज्ञान' मानने के प्रति शंकालु हैं। शास्त्र में वर्णित ज्ञान हमें मुक्त करने के स्थान पर बाँधते ही दिखाई देते हैं। अनुभव में यही दिखाई देता है कि जो मात्र शास्त्र की बाते करते रहते हैं वे हजारों बंधनों में दिखाई देते हैं। उनकी स्थिति ऐसे व्यक्ति के समान होती है जिसनें तैरने पर भले ही शोध उपाधि प्राप्त कर लिया है; जो तैरने की विधि पर घंटों भाषण दे सकता है लेकिन यदि उसे नदी में ढकेल दिया जाय तो डूबकर मर जायेगा। शास्त्रों के हमारे ज्ञाता कुछ इसी तरह के हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि 'पानी' शब्द से हमारी प्यास नहीं बुझती क्योंकि उस हेतु हमें वास्तविक पानी की आवश्यकता होती है।

निश्चित है कि हमारे तथाकथित ज्ञानियों, पंडितों के पास ज्ञान न होकर, ज्ञानाभास होता है। उसी से वे मुक्त होने के स्थान पर सामान्यजन से भी अधिक बंधन में पड़े दिखाई देते हैं। वे लकीर के फकीर होते हैं, स्वतन्त्रता से न उठ सकते हैं, न बैठ सकते हैं और न जी सकते हैं। वे अपने अनुयायियों के अनुरूप अपने को ढ़ालने को विवश होते हैं। तथाकथित ज्ञानी अपने अनुयायियों के अनुयायी होते हैं, उनके गुलाम होते हैं। यह कैसा ज्ञान है जो हमें बंधन में डाल देता है। स्पष्ट है जिसे हम ज्ञान कहते हैं वह ज्ञान है ही नहीं। इसीलिए जनक का प्रश्न आज भी सामयिक है कि 'कथं ज्ञानम्?, कथं मुक्ति?'।

जनक उस ज्ञान के आकांक्षी जो हमें वास्तविक मुक्ति प्रदान करता है। इस मुक्ति हेतु कोई तर्क या विवेचन या क्रिया की आवश्यकता नहीं होती; रक्त तप्त लौह पिण्ड को हाथ में लेने पर यह समझाने की आवश्यकता नहीं होती कि इसे छोड़ दो नहीं तो हाथ जल जायेंगे। पहली बात तो हम रक्त तप्त लौह पिण्ड को हाथ में लेंगे ही नहीं और अनजाने में यदि ले लिया तो तत्क्षण उसे हाथ से गिरा देते हैं। ज्ञान होने की अवस्था में मुक्ति तत्क्षण घटती है। जनक उस ज्ञान की बात पूछते हैं जो मुक्ति प्रदायी है और जिसकी परिणति वैराग्य में होती है।

यहाँ पर हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि मुक्ति और वैराग्य से हमारा आशय उसके रूढिवादी या प्रत्ययवादी अर्थों से नहीं है। **मुक्ति किसी बंधन से मुक्त नहीं है यह स्वभाव** को उपलब्ध होना है, जिसके लिए हमें किसी तप साधना की आवश्यकता नहीं होती है। इसका यह आशय नहीं है कि हम तप, साधना को निरर्थ   मानते हैं, उनका अपना विशिष्ट महत्त्व है, अपनी अर्थवत्ता एवं आवश्यकता है। मुक्ति को यदि 'किसी से' मुक्त होने के अर्थ में लेंगे तो वह वस्तु होनी चाहिए जिससे मुक्त होना है अर्थात् एक तरफ मुक्त होने वाली सत्ता होगी तो दूसरी तरफ वह सत्ता भी होगी जिससे मुक्त होना है। जनक निश्चित ही ऐसी मुक्ति के आकांक्षी नहीं हो सकते क्योंकि वह जीवन संग्राम से पलायन न करने वाले व्यक्ति हैं। मुक्ति (मोक्ष) और कुछ नहीं है बल्कि स्वभाव को उपलब्ध होना है। कोई कौआ, कौआ होने के लिए तप–साधना नहीं करता क्योंकि वह कौआ है ही। लेकिन यदि उसे कोयल होना है तो निश्चय ही उसे गहन साधना, कड़ा परिश्रम एवं अभ्यास करना पड़ेगा और 'कोयल' होने के बाद उसके समक्ष यह खतरा बना रहेगा कि कहीं वह पुनः च्युत होकर कौआ न बन जाये। ठीक वैसे ही जैसे योग के शीर्ष उपलब्धि पर योगी के समक्ष योग भ्रष्ट होने का संकट रहता है। इस बिन्दु पर हमें उस सिंहश्रावक की कथा का विस्मरण नहीं करना चाहिए जिसका पालन–पोषण भेड़ों के समूह में होने के कारण वह भी 'भेड़' हो गया था। लेकिन जब एक वृद्ध सिंह ने उसे उसका परिचय करा दिया तो वह 'भेड़' तत्क्षण सिंह हो गया क्योंकि वह सिंह था ही। उसे अपने सिंह होने को जानने हेतु किसी तप, साधना क्रिया की आवश्यकता न हुई। यह ठीक है जब तक वह अपने को भेड़ समझ रहा होता है तब भी भेड़ बनने हेतु उसने कोई प्रयास न किया था। भेड़ों के समूह में पलने के कारण वह स्वयं को भेड़ मानने लगा था। *लेकिन जब उसे यह ज्ञान, बोध, अनुभव हुआ कि वह भेड़ न होकर सिंह है तो उसके 'जानने' और 'होने' में कोई अन्तराल न था।* इसीलिए इस हेतु, किसी भी प्रकार के प्रयास की चर्चा बेमानी ही होती है। यह 'जानते' ही कि वह सिंह है न कि भेड़, वह तत्काल 'सिंह' हो जाता है अर्थात् 'भेड़' से मुक्त हो जाता है। ठीक इसी तरह

जनक उस 'जानने' (ज्ञान) को जानना चाहते हैं जो उन्हें 'मुक्ति' स्वतेत्रता प्रदान करें क्योंकि यही 'मुक्ति' स्वतंत्रता ही वैराग्य है। वैराग्य का तात्पर्य जगत् को त्याग कर वन जाना नहीं है बल्कि यह 'वीतरागी' होना है। वीतरागिता – राग के अतिक्रमण से ही वैराग्य अविर्भूत होता है।

यहाँ जिस 'ज्ञान, मुक्ति, वैराग्य' के प्रति जनक की उत्कंठा है वह ज्ञानमीमांसीय न हो अस्तित्वगत है। इसी अस्तित्वगत अर्थ में जनक 'ज्ञानी' कहे जा सकते हैं क्योंकि उनकी जिज्ञासा एक तरह से निःशब्द है क्योंकि जब उन्होंने जान लिया अर्थात् जानने को कुछ शेष न रहा तब उनका चित्त, निर्मल, शांत हुआ, एक तरह से उनकी घर वापसी हुई और 'विश्राम' को उपलब्ध हुए। *वस्तुतः 'घर' में ही 'विश्राम' होता है अन्यंत्र नहीं। घर में आने पर हम पुनः बालवत हो जाते हैं और विश्राम की सामर्थ्य बालकों में ही होती है।*

घर वापसी विश्राम को हम कैसे उपलब्ध हो इसकी झलक हमें जनक–अष्टावक्र संवाद से प्राप्त हो सकती है। यह संवाद कुल 298 सूत्रों में निबद्ध है जिसे अष्टावक्र संहिता या अष्टावक्र महागीता भी कहा जाता है। जनक के प्रश्न– प्रथम सूत्र से अद्‌भुत यह संहिता जनक के ही कथन –

"क्व चास्ति क्व च व नास्ति क्वास्ति चैकं क्व च द्वयम्।
बहुनात्र किमुक्तेन किंचिन्तोत्तिष्ठते मम्।।

सूत्र में आपनी पूर्णता प्राप्त करती है। 'बहुनात्र किमुक्तेन' यह पद कि 'अब कहने को कुछ भी नहीं है' घर वापसी का संकेत, विश्रामावस्था का द्योतक है। जनक कहते हैं कि "न तो कुछ है और न कुछ नहीं है, कहां एक है और कहां दो? इसमें अब कुछ कहने जैसा नहीं है क्योंकि किंचिन्नोत्तिष्ठते मम् – मुझमें कुछ भी उठ नहीं रहा है।" यह वचन परम विश्रांति का द्योतक है क्योंकि जनक कहते हैं कि उनमें अब कुछ भी उठ नहीं रहा है। कोई तरंग नहीं उठ रही है, निस्तरंगता को प्राप्त कर चुका है क्योंकि तरंग तो अधूरेपन की निशानी है, 'अध जल गगरी छलकत जाय', 'थोथा चना बाजे घना'। पूर्णता में आवाज कहाँ गति कहाँ।

इन दोनों जनक–अष्टावक्र के बीच संवाद कुछ इस तरह से दिखाई देता है, प्रारम्भ जनक के प्रश्न से जिनका उत्तर अष्टावक्र ने 2 से 20 सूत्रों में दिया और पुनः जनक की अनुभूति 21 से 45 सूत्रों में व्यक्त है, जनक के अनुभूति की परीक्षा एवं विवेचना अष्टावक्र ने 46–59, 66–69, 79–106 सूत्रों में किया, जनक के 60–65, 70–78, 107–125 सूत्रों में कथनों से संतुष्ट होने के पश्चात् अष्टावक्र ने 126–276 तक के सूत्रों में पहले के ही सूत्रों के कथनों का विस्तार किया है और अंत में जनक की कृतज्ञता एवं अनुभूति 277–298 सूत्रों में व्यक्त हुई है।

आचार्य रेवती रमण पाण्डेय की स्मृति को समर्पित यह आलेख अष्टावक्र संहिता के 1 से 58 सूत्र के मध्य जनक और अष्टावक्र की प्रज्ञा यात्रा तक सीमित है। घर वापसी हेतु अष्टावक्र ने कहा कि विषयों को विष के समान जानकर छोड़ना होगा और क्षमा, आर्जव, दया, संतोष और सत्य को अमृत के समान मानते हुए सेवन करना होग।[2] इस घोषणा में ही अष्टावक्र की देशना के सूत्र विद्यमान है। विषयों को विष समान जानकर, अनुभव करके ही छोड़ा जा सकता है। सत्य तो यही है कि यदि हम उन्हें विष के रूप में जान जाते हैं तो उन्हें छोड़ना नहीं पड़ता बल्कि वे

छूट ही जाते हैं। हमने अपने इसी जीवन में ही कितनी बार विषयों को भोगा लेकिन कभी तृप्ति नहीं मिलती और इसलिए उसकी पुनरावृत्ति इस अपेक्षा से करते हैं कि शायद पिछले भोग में कुछ कमी रह गयी थी जिसे दूसरे अवसर पर दूर करके तृप्ति हो जाएगी। ऐसा कभी होता नहीं है फिर भी हम विषयों से मुक्त नहीं हो पाते। सदियों से शास्त्र, विषयों से दूर रहने की सलाह देते रहे लेकिन शायद ही किसी मनुष्य ने शास्त्र से पढ़कर उनसे अपना बचाव किया हो। विषयों की भर्त्सना शास्त्रों ने हर सम्भव तरीके से किया है लेकिन मनुष्य बार–बार विषयों के चंगुल में फँस ही जाता है।

विषयों से छुटकारे हेतु अष्टावक्र क्षमा, आर्जव, दया, संतोष और सत्य को अमृत के समान सेवन करने को कहते हैं। क्षमा करने से हम शांत, अउद्विग्न होते हैं, मन लहरों से रहित होता है तथ्य प्रतिविम्बित होने लगते हैं; इसी तरह सीधा–सरलपन, ऋजुता हमें बच्चे के समान निर्दोष रखती है; कठोरता के विपरीत दया, करूणा, तरल होते हैं तथा जीवन के कहीं बहुत निकट होने के कारण जीवन प्रदायी होते है; संतोष– जो है, उससे भिन्न की आकांक्षा न करना, है; समष्टि के ऊपर व्यष्टि की इच्छा का आरोपण न करना, है लेकिन संतोष 'हारे को हरिनाम नहीं' है। संतोष थोपा हुआ नहीं हो सकता बल्कि यह व्यष्टि एवं समष्टि के परस्परतंत्रता के बोध से उत्पन्न होता है। इसी बोध में हमारी जड़े जीवन से जुड़ी रहती हैं, हमारा सम्बन्ध जीवन से बना रहता है, हम सत्य के, अस्तित्व के साथ एक रहते हैं क्योंकि परमात्मा से सम्बन्ध प्रामाणिकता एवं सत्य के आधार पर ही बनता है।

क्षमा, आर्जव, दया, संतोष और सत्य को अमृत के समान सेवन करते ही यह भी अनुभव होता है कि हम न तो पृथ्वी है न ही जल, वायु या आकाश है बल्कि हम, सबके 'साक्षी चैतन्य' हैं।[3] अष्टावक्र कितने क्रांतिकारी है कि केवल एक सूत्र के बाद वे तत्काल 'साक्षी चैतन्य' की घोषणा कर देते हैं और कहते है यदि *तुम्हें ज्ञान, वैराग्य और मुक्ति चाहिए तो 'साक्षी' होना होगा।* इस हेतु करना कुछ भी नहीं है मात्र 'देह' से अपने को पृथक् कर चैतन्य में विश्राम करना है। इससे तत्क्षण सुख, शांति की 'प्राप्ति' एवं 'बंधन से मुक्ति' हो जाती है।[4] देह से अलग करने एवं चैतन्य में विश्राम करने जो पहली बात स्पष्ट होती है वह यही है कि मैं, कर्त्ता, भोक्ता नहीं हूँ बल्कि वह हूँ जो सब कुछ देखने वाला है 'भीतर' छिपा है। हम जब किसी के सामने बोलते हैं तो हमारा बोलना मात्र यांत्रिक नहीं होता है क्योंकि हम जो बोल रहे होते हैं उसे न केवल सुनते भी हैं और सुनने वाले के ऊपर क्या प्रभाव पड़ रहा है, इसे भी देखते हैं। यदि यथोचित प्रभाव श्रोता पर नहीं दिखाई देता तो हम बोलने में तद्नुसार परिवर्तन भी कर देते हैं अर्थात् बोलने वाला बोलने वाले की प्रक्रिया को न केवल दैहिक उपकरणों के माध्यम से संचालित करता है बल्कि पूरी प्रक्रिया के ऊपर उसका नियंत्रण भी होता है क्योंकि वह उसका साक्षी भी होता है। ठीक यही स्थिति श्रोता की भी होती है क्योंकि सुनने वाला सुनने की यांत्रिक प्रक्रिया के पीछे कहीं स्थित होता है।

'साक्षी' दृश्य एवं द्रष्टा दोनों से भिन्न है। बचपना, जवानी, बुढापा सभी शरीर के तल पर घटित होने वाली घटनाएँ हैं जबकि ईर्ष्या, क्रोध आदि मन के तल की स्थितियाँ हैं। शरीर एवं मन के तल पर जो अनुभूति हो रही है, जिसे हो रही है, इन दोनों के पीछे साक्षी है जहाँ से ही दृश्य एवं द्रष्टा के समस्त व्यापार संचालित होते हैं। साक्षी की न तो कोई वर्ण, जाति, धर्म है न हि कोई

आश्रम है, वह तो 'असंग एवं निराकार'[5] है, 'साक्षी' हेतु हमें कुछ करना नहीं है केवल 'जानना' है, बोध होना है। क्षण भर के अंतराल की कोई आवश्यकता नहीं है। *'साक्षी होने' और सुखी होने में कोई अंतराल नहीं है,* क्योंकि जो भी ज्ञान को उपलब्ध होते हैं वे तत्क्षण होते हैं, 'अभी' होते हैं कल पर यदि टाला तो सदा के लिए टल जाएगा।

साक्षी होने के लिए कुछ करना नहीं होता बल्कि सत्य को जैसा है वैसा ही जानना होता है। यदि यह कृत्य जन्य होता तो अष्टावक्र कभी भी यह नहीं कहते कि तू अभी और इसी वक्त सुखी हो सकता है क्योंकि *मुक्ति कोई घटना नहीं है।*

धर्माऽधर्मो सुखं दुःखं मानसानि न तो विभो।
न कर्त्ताऽसि न भोक्ताऽसि मुक्त एवसि सर्वदा।।[6]

हम सदैव से मुक्त हैं क्योंकि मुक्ति, स्वतंत्रता हमारा स्वभाव है। अस्तित्व इसी से निर्मित है। इसी तथ्य को रेखांकित करते हुए अष्टावक्र आगे के सूत्रों में कहते है कि "तू सबका एक द्रष्टा है और सदा सचमुच मुक्त है। तेरा बंधन तो यही है कि तू अपने को छोड़ दूसरे को द्रष्टा देखता है।"[7] अष्टावक्र की दृष्टि में हमारे बंधन का कारण यही है कि हम स्वयं को छोड़ दूसरों को द्रष्टा मानते हैं। हम अपने जीवन को दूसरों की आखों से देखते हैं और उसे ही यथार्थ मान बैठते हैं। यही मान बैठना बंधन का कारण है। दूसरे ने हमें ईमानदार कह दिया तो प्रसन्न और यदि किसी ने बेईमान कह दिया तो दुःखी। इसका सीधा तात्पर्य है कि हम स्वयं नहीं जानते कि हम क्या हैं कौन हैं? 'एको द्रष्टाऽसि सर्वस्य' विस्मृत हो जाता है और नाना प्रकार के बंधनों में हम स्वयं को पाते हैं। वस्तुतः दूसरे भी हमें हमारी खबर न दे अपनी ही खबर देते हैं और इस प्रकार सभी अपने–अपने बारे में खबर देते हैं और इन खबरों की आभासी दुनिया के परिप्रेक्ष्य में स्वयं को हम घिरा पाते हैं। 'खबरों' की आभासी दुनिया में विरोधी बाते भी होती है, इन सबके संग्रह को हम मान लेते हैं कि यही 'हम हैं'।

अष्टावक्र की स्पष्ट घोषणा है कि व्यक्ति दृश्य नहीं है द्रष्टा है। यहाँ दृश्य, दर्शक, द्रष्टा के भेद का उल्लेख अप्रासांगिक न होगा। दृश्य का अर्थ है जो हम से बाहर वस्तु रूप में है। दृश्य बनते ही व्यक्ति वस्तु में रूपांतरित हो जाता है। वस्तु होते ही हमारी आत्मा, सार तत्त्व विलुप्त, हो जाती है क्योंकि वह किसी के द्वारा पूर्वनिर्धारित हो जाती है। सार्ब का कथन कि वस्तुओं के परिप्रेक्ष्य "'सार', अस्तित्व का पूर्वगामी होता है।" अर्थात् कोई वस्तु उसी सार को अभिव्यक्त करती है जिसलिए उसका अस्तित्व होता है। वस्तु चाहे भी तो अपने सार को परिवर्तित नहीं कर सकती क्योंकि वह स्वतंत्र नहीं है। किसी मोबाइल में क्या–क्या विशेषताएँ होगी, उसको पहले से तय करके उसका निर्माण होता है और उसमें वे सभी विशेषताएँ निर्माण के बाद वस्तुतः होती भी हैं। लेकिन मनुष्य के संदर्भ में ऐसा नहीं है। दृश्य बनते ही मनुष्य अपने को वस्तु रूप में समझने लगता है और दृश्य की अपेक्षाओं के अनुरूप– विशेषताओं में ढ़ल जाता है। वह ढली–ढलायी सत्ता में बदल जाता है, वस्तु हो जाता है। इसीलिए दृश्य बनते ही हम पाखंडी, झूठे हो जाते हैं। मुखौटे ओढ़ लेते हैं। फिर दूसरी कोटि दर्शकों की है। बहुतायत इन्हीं की है। यह दृश्य हुए मनुष्यों के समान पाखंडी नहीं है लेकिन गुणात्मक रूप से उनसे बहुत भिन्न नहीं होते। पहले प्रकार के व्यक्तियों को दूसरे प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यंकता होती है। राजनेता को अनुयायी चाहिए,

फिल्म अभिनेता को दर्शक चाहिए आदि। आज के संदर्भ में यदि देखा जाय तो अधिकाधिक लोग मात्र दर्शक बनकर रह जा रहे हैं– घंटों टेलीविजन, कम्प्यूटर के सामने बैठे 'आभास' को देख रहे हैं। बहुत कम लोग 'दृश्य' बन रहे हैं क्योंकि वहाँ कुछ न कुछ करना पड़ता है भले ही स्वतंत्रता खो जाय लेकिन दृश्य बनना तो पूर्णतया निष्क्रिय क्रिया है।

स्थिति तो इस सीमा तक विकृत हो चुकी है कि हम स्वयं प्रेम न करके, प्रेम के छायाचित्रों को देखकर आनन्दित हो रहे हैं। यह कुछ ऐसा ही है जैसे हम स्वयं भोजन करने के स्थान पर भोजन के छायाचित्रों से अपना पेट भरने का प्रयास करें। जिस प्रकार द्वितीय प्रयास में हमें शारीरिक क्षति उठानी पड़ेगी, ठीक उसी प्रकार प्रथम प्रयास के कारण हमें मानसिक क्षति उठानी पड़ेगी। यही कारण है कि आज के मनुष्य की संवेदना लगभग मर चुकी है क्योंकि उसका हृदय रीता है, प्रेम से शून्य है। अष्टावक्र की वेदना है कि वास्तविक मनुष्य न तो दृश्य है और न ही दर्शक बल्कि द्रष्टा है जो इन दोनों का आधार है। उल्लेखनीय है कि दर्शक होना, द्रष्टा होना नहीं है यद्यपि भाषा की दृष्टि से दोनों का अर्थ एक हो सकता है *लेकिन अस्तित्वगत अर्थ भिन्न है। दर्शक का अर्थ है कि हमारी दृष्टि दूसरे पर, दृश्य पर है जबकि द्रष्टा में हमारी दृष्टि स्वयं पर होती है।* एक में हमारी चेतना का तीर दूसरे पर केन्द्रित होता है स्वयं अपने को हम भूले होते हैं जबकि दूसरे में हमारी चेतना का तीर स्वयं की तरफ होता है और दूसरा, समस्त दृश्य विदा हो जाते हैं। जब मात्र जागरण, होश रहता है तभी द्रष्टा हुए।

द्रष्टा होते ही बोध होता है कि संसार में द्रष्टा तो एक ही है बहुत नही जबकि दृश्य एवं दर्शक बहुल हैं। उदाहरणार्थ पूर्णिमा का चाँद तो एक है लेकिन पृथ्वी पर जितने भी नदी, तालाब, पोखरे इत्यादि होंगे उन सभी पर उसका प्रतिविम्ब दिखाई देगा। ठीक इसी तरह दृष्टा एक है जबकि दृश्य एवं दर्शक अनेक हैं। इसलिए जैसे ही कोई दृश्य एवं दर्शक से मुक्त होकर द्रष्टा होता है उसे अब न तो कुछ दिखाने की इच्छा होगी कि कोई देखे और न देखने की कोई इच्छा रहती है वह दिखाने एवं देखने के जाल से मुक्त हो जाता है, उसमें उसका रस खो जाता है और रस का यही खोना ही तो वैराग्य है। वैराग्य जीवन एवं जगत् से पलायन नहीं है बल्कि उन्हें बोध पूर्वक होश पूर्वक देखने से तत्क्षण वैराग्य घटित हो जाता है, हमारा उनमें रस खो जाता है। द्रष्टा होते ही न केवल वैराग्य घटता है बल्कि हमें यह भी पहली बार अनुभव होता है कि हम सदा से मुक्त रहे हैं, हम कभी वंधन में थे ही नहीं। आदमी की विडम्बना यही है कि वह संसार को तो सत्य मानता है और सत्य को, अपने वास्तविक स्वरूप–स्वभाव को कल्पना मानता है।

अपने सामान्य अनुभव में हम सब या तो दृश्य की भूमिका में रहते हैं नही तो दर्शक की भूमिका में। दर्शक के रूप में हमारे बोध का तीर अनिवार्यतः बाहर की तरफ प्रक्षेपित रहता है और हम स्वयं को भूले रहते हैं लेकिन होश पूर्वक इस बोध के तीर को कभी–कभी अंदर की तरफ मोड़ा जा सकता है, यद्यपि यह कठिन होगा, फिर इस दिशा में प्रयास किया जा सकता है। उदाहरण के लिए हम किसी प्राकृतिक दृश्य को देखने की क्रिया का विश्लेषण करे तो पाते हैं कि सामान्यतः बोध का तीर बहिर्गामी ही रहता है, जैसे– वृक्ष, झरने आदि की तरफ होता है लेकिन बीच–बीच में यदि हम देखने वाले की तरफ भी बोध का तीर मोडते हैं तो प्रारम्भ में निश्चित कठिनाई होती है लेकिन जैसे–जैसे देखने वाला पकड़ में आने लगता है तो ठीक उन्ही क्षणों में जब हमें 'देखने

वाला' पकड़ में आ जाता है, तो अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। यह आनन्द कुछ नहीं बल्कि मुक्ति के अहसास का आनन्द है। यह मुक्ति जब घटती है जब दो नहीं रह जाते हैं, एक ही बचता है। वह एक द्रष्टा है जिसके बारे में अष्टावक्र कहते हैं कि वह सदा सचमुच मुक्त है।

इसी द्रष्टा को वे अकर्त्ता, विशुद्ध बोध, साक्षी, व्यापक, पूर्ण, चेतनं, क्रिया रहित, असंग, निस्पृह, शांत[6] आदि संज्ञा से व्याख्यायित करते हैं। देह का बंधन – उससे तादात्म्य भी, अष्टावक्र कहते हैं, 'बोध' से दूर हो सकता है। यही वह तादात्म्य है जो अत्यंत कठिनाई से दूर होता है लेकिन जब हमें यह अनुभूति हो जाती है कि मैं 'बोध' हूँ तो यह भी तत्क्षण ठीक उसी तरह निषेधित होता है जैसे जागने पर स्पप्न निषेधित हो जाते हैं। इसके लिए किसी कृत्य की आवश्यकता नहीं होती है।

"देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रकः।
बोधोऽहं ज्ञानखंगेन तन्निष्कृत्य सुखी भव।।[7]

स्पष्टतः अष्टावक्र यह स्थापित करते हैं कि बंधन केवल मान्यता का है, वास्तविक नहीं। यदि यह वास्तविक होता तो उसे हटाने के लिए अवश्य ही कुछ करना पड़ता। अंधकार अवास्तविक है, इसलिए उसे हटाने के लिए कृत्य नहीं, प्रकाश की आवश्यकता है क्योंकि वस्तुतः प्रकाश का अभाव ही अंधकार होता है। ठीक इसी प्रकार हमारे जितने भी बंधन है जो हमें दुःख देते हैं वे भी हमारी मान्यता के ही होते हैं। दुःख हम तब तक ही पाते है जब तक हम अपनी मान्यता को वास्तविक मानते रहते हैं। चूँकि यह मान्यता हमारी बनायी गयी होती है इसलिए इसे किसी अन्य के द्वारा – शास्त्रों, गुरूओं से दूर नहीं किया जा सकता है। शास्त्र एवं गुरू हमें तथ्य से अवगत कराने में सहायक तो हो सकते हैं लेकिन उस तथ्य को अनुभव में परिणत तो हमें ही करना होगा। रामकृष्ण परमहंस ने जीवन भर माँ काली की पूजा अर्चना की लेकिन उन्हें लगा कि यह तो द्वैत ही है क्योंकि अभी तक उन्हें 'एक' की प्रतीति नहीं हो पायी थी। यह सही है कि यह दो की अनुभूति भी अत्यंत सुखद, प्रीतिकर थी लेकिन अभी अद्वैत न घटने की उन्हें पीड़ा थी। गुरू तोतापुरी से जब उन्होंने इस हेतु अनुरोध किया तो उन्होंने कहा कि तुम दो मानते हो, इसलिए दो है। ऐसा मानना छोड़ दो तो एक ही है। रामकृष्ण परमहंस के यह कहने पर कि यह मान्यता छोड़ पाना कठिन है क्योंकि जब भी मैं आँख बंद कर रस विभोर होता हूँ तो माँ की प्रतिमा सामने होती है और मैं एक होना भूल जाता हूँ। इस पर तोतापुरी ने कहा कि जब भी माँ की प्रतिमा बने तो उसे तत्काल तलवार से दो टुकड़े कर डालो। रामकृष्ण परमहंस के यह पूछने पर कि तलवार कहाँ से लाऊँ, तोतापुरी तत्काल कहते हैं कि जहाँ से माँ की प्रतिमा आती है वहीं से तलवार भी ले आओ अर्थात् मान्यता की माँ की प्रतिमा को मान्यता के तलवार से काट डालो। यही तो अष्टावक्र की सम्पूर्ण देशना है कि हमें अपनी मान्यताओं को खंडित करना है। कहते हैं कि रामकृष्ण परमहंस ने बार–बार प्रयास किया लेकिन असफल रहे। इस पर तोतापुरी ने कहा कि अब जब भी तुम रस विभोर होगे तब उसी समय मैं तुम्हारा माथा काटूँगा और तुम तलवार उठाकर माँ के दो टुकड़े कर देना नहीं तो मैं तुमको छोड़ चला जाऊँगा। और हुआ भी यही कि रामकृष्ण जैसे माँ के समक्ष रस विभोर होने लगे तोतापुरी ने काँच के टुकड़े से उनके माथे के बीच चीर लगाया और रामकृष्ण ने साहस करके तलवार उठा लिया और माँ के टुकड़े कर दिया, इधर काली माँ गिरी उधर अद्वैत घटित हुआ। लहर सागर में विलीन हो, सागर हो गई। कहते हैं कि रामकृष्ण जब परमहंस हुए तो छः दिन उस परम शून्य में डूबे रहे।

देह जन्य दुःखों या यों कहें कि सभी दुःख देह से जुड़े होते हैं और उन्हें बोध की तलवार से दूर किया जा सकता है क्योंकि 'मैं' देह हूँ यही मान्यता समस्त दुःखों का मूल है। इसी बात को और भी स्पष्ट करते हुए अष्टावक्र कहते हैं कि "तू असंग है, क्रियाशून्य है, स्वयं–प्रकाश है और निर्दोष है। तेरा बंधन यही है कि तू समाधि का अनुष्ठान करता है।"[10] यह कथन इतना क्रान्तिकारी है कि जिसकी कल्पना भी दार्शनिक चिंतन में अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई पड़ती है। यह बात पातंजलि के ठीक विपरीत है क्योंकि उनके अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है और जब तक यह वृत्तियाँ निरूद्ध नहीं हो जाती तब तक व्यक्ति स्वयं को नहीं जान पाता। समाधि स्वयं को जानने से घटती है। अष्टावक्र इसके विरोध में कहते हैं कि समाधि का आयोजन हो ही नहीं सकता क्योंकि समाधि तो हमारा स्वभाव है। चित्तवृत्तियाँ तो जड़ है। उनके निरोध का प्रयास तो ठीक वही प्रयास होगा कि हम अंधेरे को दूर करने हेतु भौतिक प्रयास करने लगे। यह सही है कि *अंधेरा जब दूर होगा तो प्रकाश होगा, या चित्त वृत्तियाँ शून्य होंगी तो योग घटित होगा लेकिन इस का तात्पर्य यह नहीं है कि हम प्रकाश हेतु अंधेरे को दूर करने लगे, योग हेतु चित्त वृत्तियों से लड़ने लगे।* वस्तुतः अंधेरे को दूर करने के लिए प्रकाश लाना होगा, चित्त वृत्तियों के निरोध हेतु 'स्व' को जानना होगा, बोध लाना होगा।

अंधेरा प्रतीत होता है नहीं, चित्तवृत्तियाँ तभी तक हैं जब तक बोध नहीं। बोध होते ही चित्तवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। अष्टावक्र की दृष्टि में जीवन में छः लहरें, षट उर्मियाँ हैं– भूख–प्यास, शोक–मोह एवं जन्म–मरण। इसमें भूख–प्यास शरीर की तरंगे हैं, शोक–मोह मन की एवं जन्म–मरण प्राण की तरंगे हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य चूँकि इन छहों तरंगों की अनुभूति करता है, इसलिए निश्चित ही वह इनसे परे है, द्रष्टा है। जब हम अपने द्रष्टा स्वरूप को भूल जाते हैं तो मुक्ति, मोक्ष को भी खोजने लगते हैं और बंधन मुक्त होने के स्थान पर नवीन बंधन ही सृजित कर लेते हैं।

इसके आगे के सूत्रों में अष्टावक्र यह स्पष्ट करते हैं कि चूँकि हम शुद्ध चैतन्य स्वरूप हैं इसलिए हमारी निष्ठा क्षुद्र चित्त में न हो चैतन्य मात्र में होनी चाहिए।[11] अष्टावक्र के अनुसार वही ज्ञान, ज्ञान है जहाँ केवल बौद्धिक समझ ही न हो बल्कि अस्तित्वगत समानांतर घटना भी घटे। क्योंकि ऐसा न होने पर मनुष्य विषादग्रस्त रहेगा। जिस व्यक्ति को यह पता हो कि दरवाजा कहाँ है लेकिन जानते हुए भी वह दीवार से निकलने का प्रयास करता रहे और चोट खाता रहे और इसका कारण न जान पाए कि ऐसा क्यों हो रहा है? ऐसे व्यक्ति को सब मालूम है और कुछ भी नहीं मालूम है। सब मालूम है क्योंकि उसने शास्त्रों को पढ लिया है, इसलिए उसके लिए जानने को अब कुछ शेष नहीं है। इसलिए सब कुछ जानते हुए चूँकि उसका जानना अनुभव से जाना हुआ नहीं है इसलिए वस्तुतः वह कुछ भी नहीं जानता और बार–बार निकलने के प्रयास में दीवार से टकराते रहने के कारण एक ग्लानि एवं क्षोभ से भी मर जाता है और अपने बचाव हेतु दंभ, अहंकार का सहारा लेता है क्योंकि यह बुद्धि की थोथी समझ से ही उत्पन्न होता है। अहंकार इस बात का होता है कि मैं जानता हूँ लेकिन उसी के साथ उसे वस्तुतः कुछ न जानने की पीड़ा भी रहती है, कुछ घट नहीं रहा होता है। यदि हम सार्त्र की शब्दावली का प्रयोग करें तो स्पष्टतः ऐसा व्यक्ति दुरास्था[12] का शिकार रहता है। दुरास्था में व्यक्ति तथ्यता और अतिक्रमणता[13] के बीच

सरलता पूर्वक अग्रसारित होता रहता है। अहंकार कि मैं जानता हूँ (अतिक्रमणता) हमें तथ्यता (कि कुछ नहीं जानता हूँ) को स्वीकार नहीं करने देता। दुरास्था स्पष्टतः अहंकार जन्य एवं उसी से पोषित होती है।

अष्टावक्र इस बात के प्रति सचेत हैं कि ज्ञान की घोषणाएँ अहंकार फलतः दुरास्था का आधार नहीं होनी चाहिए। क्योंकि जैसे ही जनक ने उस सबकी घोषणा करनी प्रारम्भ की जो उन्हें घटा[14] था तो अष्टावक्र सचेत हो जाते हैं कि कहीं यह घोषणाएँ छद्म तो नहीं है। अष्टावक्र के उद्घोष से जनक तत्क्षण प्रतिध्वनि करने लगे। जनक कहने लगे कि न केवल मैं जाग गया बल्कि यह भी जान गया कि मैं ही समस्त का केन्द्र अधिष्ठान हूँ। सब मुझसे ही संचालित हैं, अतः मुझ का मुझ ही को नमस्कार है।[15] द्रष्टा होते ही यह अनुभव होता है कि सब कुछ मेरा है क्योंकि मैं ही समस्त अस्तित्व का केन्द्र हूँ। द्रष्टा स्पष्टतः व्यक्तिगत रूप न हो समष्टिगत रूप है। हम सभी भोक्ता, कर्ता के रूप में भले ही अलग–अलग हो लेकिन द्रष्टा के रूप में हम सब एक है। एक का द्रष्टा दूसरे के द्रष्टा से अभिन्न है, एक है। द्रष्टा बनते ही बोध होता है कि हम विश्व के केन्द्र हैं, जैसे ही हम मिटते हैं वैसे ही पूरे होते हैं। बूँद के रूप में खोते हैं लेकिन सागर का अस्तित्व प्राप्त करते हैं। 'मैं' की सीमा विसर्जित होते ही 'तू' अनंत से एकाकार होते हैं। घट के टूटने पर ही घटाकाश, आकाश हो सकता है।

जनक की अनुभूति यहीं तक सीमित नहीं रहती है तभी उन्हें द्रष्टा से आगे साक्षी की भी झलक मिलती है क्योंकि वे कहते हैं कि –

"ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम।
अज्ञानांद्राति यत्रेदं सोऽहमास्मि निरंजन।।

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता, ये तीनों यथार्थ नहीं है। जिससे ये तीनों भासते हैं, मैं वही निरंजन हूँ। जनक कहते हैं कि जैसे ही मैं जागा मुझे देखने वाला , देखी जाने वाली वस्तु तथा दोनों के बीच जो सम्बन्ध है (ज्ञान का, दर्शन का) सभी स्वप्न प्रतीत हुए। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता का जो विभाजन है वह बोध के साथ ही स्वप्नवत् प्रतीत होता है क्योंकि इन तीनों को खंड के रूप में जानने वाली सत्ता अखंड ही होगी। जनक इस बात को रेखांकित करते हैं कि जहाँ–जहाँ खण्ड प्रतीत होता है वह स्वप्न ही है क्योंकि अस्तित्व तो अखण्ड है।[17] यह सही है कि खण्ड की व्यावहारिक सत्ता है लेकिन उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं मानी जा सकती है। हम कोई घर बनाते हैं तो उसका आकाश, पड़ोसी से घर के आकाश से भिन्न नहीं होता। दोनों घरों की दीवारें आकाश में भिन्नता नहीं लाती है। *दीवारों की अपनी उपयोगिता है, बाँटना हमारी जरूरत है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि बाँटने से जो भिन्नता दिखती है वह सत्य है। सत्य तो अनबँटा, अखण्ड होता है। व्यावहारिक रूप से जो सत्य है वह भले ही उपयोगी हो लेकिन वास्तविक नहीं होता जबकि पारमार्थिक रूप से जो सत्य है वह उपयोगी नहीं होता लेकिन वास्तविक अवश्य होता है।* यही वह कसौटी है जो धर्म को विज्ञान से, अनुभव को ज्ञान से भिन्न करती है। धर्म सत्य है लेकिन विज्ञान के समान उपयोगी नहीं, इसी तरह हमारे अनुभव हमारे लिए सत्य होते होते हैं भले ही ज्ञान के समान उनकी उपयोगिता न हो। यही कारण है कि जब तक ज्ञान, अनुभव में नहीं आता तब तक वह मात्र कोरा शब्द, वाग्जाल, सिद्धान्त मात्र रहता है।

इसी से यह सुनिश्चित करने के लिए कि जनक जो कह रहे हैं वह मात्र कोरा शब्द तो नहीं जिसे वे अभिभूत होकर कह रहे हैं। कहीं वे यह तो नहीं मान बैठे हैं कि शब्द ही सत्य है, कही वे शब्दों की पुनरूक्ति ही तो नहीं कर रहे हैं क्योंकि अष्टावक्र जैसे सद्गुरू से निकले शब्द ऊर्जा सम्पन्न, अनुभूति जन्य होते हैं। इसलिए खतरा है कि हम उन शब्दों को उसी रूप में व्यक्त कर दें कि मानो यह हमारे स्वानुभव से उत्पन्न हुए हैं। इसी शंका के निवारण हेतु अष्टावक्र अगले 46 से 59 सूत्रों तक जनक की परीक्षा विभिन्न तरीके से लेते हैं। वे जानना चाहते हैं कि आत्मा को तत्वतः एक और अविनाशी जानने के उपरान्त जनक को क्या अभी भी धन में रूचि है? क्या राग पैदा हो रहा है? क्या वे वासनाओं के पीछे दौड़ रहे हैं? क्योंकि आत्मा को अत्यंत सुंदर एवं शुद्ध चैतन्य के रूप में सुनकर भी लोग विषयों में आसक्त रहते हुए मलिनता को प्राप्त करते हैं, सब कुछ जानते हुए भी मुनि को ममता होती है, मुमुक्षु भी काम के वशीभूत विकल रहता है, इतना ही नहीं मृत्यु के समीप खड़े व्यक्ति को भी काम भोग की इच्छा बनी रहती है। अष्टावक्र कहते हैं कि इहलोक एवं पर लोक के भोग से विरक्त नित्य अनित्य का विवेक रखने वाला मुमुक्षु भी मोक्ष से भयभीत देखा जाता है। धीर पुरूष सुख से सुखी एवं दुःख से दुःखी नहीं होता, जहाँ एक तरफ वह केवल आत्मा को देखता है वहीं दूसरी तरफ अपने शरीर को भी दूसरे के शरीर की भाँति देखता है और इसी से वह स्तुति एवं निंदा से क्षुब्ध नहीं होता। विश्व को माया मात्र देखने वाला ऐसा व्यक्ति मृत्यु से भयभीत नहीं होता है। ऐसा ही व्यक्ति आत्म ज्ञान से तृप्त और मोक्ष में भी स्पृहा नहीं रखने वाला होता है।[18]

उपर्युक्त प्रश्नों के माध्यम से अष्टावक्र सुनिश्चित करना चाहते हैं कि जनक कहाँ खड़े हैं? यदि अभी भी उन्हें मोक्ष की वासना है, मुक्ति की आकांक्षा है और धन्यवाद देने के स्थान माँगना ही चाहते हैं तो उनका आत्मज्ञान, आत्मज्ञान है ही नहीं; उनकी परितृप्ति, तृप्त नहीं है। वे जनक को अवसर देते हैं कि वे अपने को वास्तविकता में देख लें। इसके आगे के सूत्र में वे यह जानना चाहते हैं कि क्या जनक की दृष्टि में अभी भी कुछ वांछनीय और कुछ त्याज्य है।[19] क्योंकि दोनों– भोग एवं त्याग कृत्य है, दोनों में ही अहंकार निर्मित होता है, साक्षी विस्मृत रहता है। साक्षी ही द्वंद्वरहित एवं आशारहित होता है प्राप्य – चाहे दुःख हो, चाहे सुख हो, से अप्रभावित रहता है। अष्टावक्र जनक की उद्घोषणाओं को साक्षी की कसौटी पर कसना चाहते हैं। यदि जनक यह कहते हैं कि सब कुछ मेरे कारण हो रहा है तो 'मैं' की भ्रांति पैदा होती है कि यह मैं कर रहा हूँ चाहे भोग की दिशा में, चाहे त्याग की दिशा में अर्थात् मैं अपने को कर्त्ता मान रहा हूँ उस स्थिति 'मैं' जन्य समस्त उद्घोषणाएँ शब्द मात्र होंगी। जब तक हम यह न अनुभव कर ले कि जो हो रहा है समस्त के कारण हो रहा है जिसका मैं सिर्फ द्रष्टा हूँ, तब तक हमारी समझ, दृष्टि साक्षी से दूर होती है।

अष्टावक्र की सम्पूर्ण देशना का सार यही है कि जिस प्रकार विचार करने से वस्तु हमें तंतुमात्र ही लगता है ठीक उसी प्रकार विचार करने से यह संसार आत्म–मात्र लगता है।[20] यह कथन ज्ञानात्मक न हो कर अस्तित्वपरक है। जब भी वस्तु को हम बोधपूर्वक देखते हैं तो पाते हैं कि वस्त्र तंतुओ के जाल मात्र है। तथ्य है कि हम तंतुओं को पहन नहीं सकते लेकिन उनके विशिष्ट संयोजन – वस्त्र को हम पहन सकते हैं। इसके पूर्व व्यावहारिक सत्य एवं पारमार्थिक सत्य

की विवेचना करते हुए हमने कहा था कि व्यावहारिक सत्य उपयोगी होता है वास्तविक नहीं है जबकि पारमार्थिक सत्य वास्तविक होता है उपयोगी नहीं। इस दृष्टि से वस्त्र व्यावहारिक रूप से सत्य है क्योंकि उपयोगी है जबकि तंतु पारमार्थिक रूप से सत्य है क्योंकि यही वह है जिससे वस्त्र बनता है। आवश्यकता देखने के ढंग को परिवर्तित करने की है। एक दृष्टि से वस्त्र सत्य है तो दूसरी दृष्टि से तंतु सत्य है। ठीक इसी तरह यदि जगत् को आत्मा की दृष्टि से विवेचित करेंगे तो वह आत्मवत् लगेगा लेकिन यदि अनात्म दृष्टि से देखेंगे तो वही जगत, संसार आभास प्रतीत होता है। अष्टावक्र इसी आत्मवत् दृष्टि – साक्षी के आग्रही है और साक्षी के उदय होते संसार लुप्त हो जाता है।

विश्व समुदाय आज जिन–जिन समस्याओं एवं प्रश्नों से अपने को घिरा पाता है उस सबका कारण हमारा चीजों को देखने का नजरिया। हम आज वस्तुपरक दृष्टि से अस्तित्व को समझना चाहते हैं न कि आत्मपरक दृष्टि से। वस्तुओं को ही नहीं हम जीवन, जगत् एवं मनुष्य को भी वस्तु की ढंग से विवेचित कहना चाहते हैं जबकि आवश्यकता इस बात की है कि हम मनुष्य के साथ–साथ जीवन एवं जगत्, वस्तुओं को आत्मपरक दृष्टि से समझे तभी हमें यह ज्ञात होगा कि परस्परतंत्रता इस सृष्टि का आधार है सभी की अपनी–अपनी भूमिका है क्योंकि सभी अस्तित्वगत अर्थों में जीवन्त हैं। यही समझ विनाश के कगार पर खड़ी मानवता की रक्षा कर सकती है अन्यथा होनी को कौन टाल सकता है ?



संदर्भ –

1. *कथं ज्ञानभवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति।*
   वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद् ब्रूहि मम प्रभो।। अष्टावक्र संहिता, 1
2. *मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान विषवत्त्यज।*
   क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद् भज।। वही, 2
3. *न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुद्यौर्न वा भवान्।*
   एषां सक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विहि मुक्तये।। वही, 3
4. *यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि।*
   अधुनैव सुखी शातः बंधमुक्तो भविष्यसि।। वही, 4
5. *वही, 5*
6. *वही, 6*
7. *वही, 7*
8. *वही, 8–12*
9. *वही, 14*
10. *निःसंगो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरंजनः।*
    अयमेव हिते बंधः समाधिमनुतिष्ठसि।। वही, 15
11. *वही, 16, 17*
12. *"On all sides I escape being and yet-I am" Sartre, "Being and Nothing", Mathuen & Co. ltd (UPB) London p 60 "....all aim at establishing that I am not what I am." ogh, i`0 57*
13. *"Bad faith doesnot wish either to co-ordinater them nor to surmount them in a synthesis.... it must affirm factility as being transcendence and transcendence as being factity, in*

such a way that at the instant when a person apprehends the one, he can find himself abruptly faced with the other." वही पृ. 56

14. अहो निरंजनः शांतो बोधोऽहं प्रकृतेः परः।
एतावंतमहं काल मोहेनैव विडंबितः।। अष्टावक्र संहिता, 21
15. अहो अहं नमो मह्यं यस्य में नास्ति किंचन।
अथवा यस्य में सर्व यब्दाङमनस गोचरम्।। वही 34
16. वही 35
17. 'द्वैत मूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम्।
दृश्यमेतन्मृषा सर्वमेकोऽहं चिद्रसोऽमलः।।" वही 36
द्वैत, खण्ड दृष्टि ही समस्त दुःख का मूल है जिसकी कोई औषधि नहीं है, कारण, अस्तित्व अखंडित है, बँटा नही है इसलिए जोड़ने वाली किसी औषधि, उपाय की आवश्यकता नहीं है। अस्तित्व की परस्परतंत्रता (interdependence) को समझने के लिए बस थोड़ा सा बोध ही तो चाहिए। हम जो श्वास इस क्षण लेते हैं वह दूसरे क्षण दूसरे की हो जाती है। क्षण भर पहले जो श्वास मैंने ली थी वह अब दूसरा कोई ले रहा है, श्वास की यह धारा हम सभी को जोड़ती है न केवल मनुष्यों से ही बल्कि जानवरों, पशु, पक्षियों एवं पेड़ पौधों से भी। जो पानी, भोजन, खनिज पदार्थ हम ले रहे हैं वह हमारे पहले न जाने कितने जानवरों, पशुओं, पेड़–पौधों द्वारा लिया जा चुका होगा। परस्परतंत्रता की यह अखंडित दृष्टि आज के संदर्भ कितनी समीचीन है यह इस बात से प्रमाणित है कि आज पर्यावरणीय असंतुलन वायु, जल प्रदूषण जैसी जो विकट समस्याएँ हमारे समक्ष विकराल रूप में दिखाई देती है वह और कुछ नहीं बल्कि हमारी खण्डित दृष्टि का ही परिणाम है। यदि हमारी दृष्टि अखंडित होती तो वायु, जल, जमीन आदि को भी हम अपने ही समान जीवित मानते और उनके साथ जो दुर्व्यवहार हमने किया है और कर रहे हैं वह न करते।
18. वही, 46–57
19. स्वभावादेव जानानो दृश्यमेतन्न किंचन।
इदं ग्राह्यमिदं त्याज्यं स किं पश्यति धीरधीः।। वही, 58
20. तंतुमात्रो भवेदेव पटो यद्वद्विचारतः।
आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद्विश्वं विचारितम्।। वही, 25

पुरुषाद्वैत : माठर की सांख्यीय संकल्पना

राजेश्वर सिंह

परमसत्ता की गवेषणा के आदिक्रम में वैदिक मनीषा का चिंतनात्मक उत्प्रवाह प्राकृतिक पदार्थों एवं उपादानों में देवत्व का आरोप कर बहुदेववादी अवधारणा को जन्म दिया। किन्तु मानव की स्वभावजन्य दार्शनिक एवं धार्मिक चेतना 'बहुदेववादी' संकल्पनाओं से संतुष्ट न हो सकी और उस असंतुष्ट चेतना ने 'कस्मै देवाय हविषाविधेम' को प्रश्न के रूप में उपस्थापित कर दिया और इसी प्रश्न के उत्तर की खोज में परमसत्ता सम्बन्धी विभिन्न भारतीय दार्शनिक चिन्तन विधाओं का मार्ग उद्घाटित हुआ।

प्रस्तुत निबन्ध में तत्त्वमीमांसा के गर्भ में अवस्थित पुरुष विषयक सांख्यीय संकल्पना को माठरवृत्ति के विशेष सन्दर्भ में समझने का संक्षिप्त प्रयास किया जा रहा है। पुरुष विषयक सांख्यीय संकल्पना अनेकात्म प्रतिपादक प्रायः समस्त दर्शनों की आधारशिला एवं एकात्मवाद (अद्वैतवेदान्त) के महाप्रासाद की सुरम्य भूमि है। सांख्यीय अवधारणाओं की आधारशिला पर अनेक भारतीय दर्शनों के उदय के बाद भी इसकी मूल प्रतिज्ञाओं में अद्ययावत कोई परिवर्तन नहीं हुआ। सम्प्रति अज्ञतापूर्ण असांख्यीय अवधारणाओं के व्यामिश्र के कारण सांख्यीय तत्त्वचिन्तन विधा को विभिन्न कोटियों में रखकर समझने का प्रयास किया जाता रहा है। किन्तु सांख्यीय तत्त्वचिंतन विधा को प्रचलित अर्थ में पूर्णतः ईश्वरवाद या निरीश्वरवाद, द्वैतवाद, या अद्वैतवाद, जड़वाद या चेतनवाद, वस्तुवाद या विज्ञानवाद की कोटियों में रखकर नहीं समझा जा सकता। तत्त्वों को समझने के लिए सांख्यीय दृष्टि आवश्यक है। चेतन, जड़ नाना प्रकार सोपाधिक पुरुष (जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य तथा इनके विपरीत चार भावों के कारण असंख्य प्रकार के हैं) इनका परस्पर सम्बन्ध, ब्रह्माण्ड और उसकी सृष्टि, बन्ध–मोक्ष–व्यवस्था आदि विषयों पर सांख्य की निजी दृष्टियाँ हैं। किसी देश–काल में केवल पुरुष या शुद्ध प्रकृति प्राप्तव्य नहीं, अतः सांख्य इन दो असंवेद्य तत्त्वों को परस्पर निरपेक्ष स्वप्रतिष्ठित मानता है। देश–काल में जो प्राप्तव्य है अवश्य ही पुम्प्रकृतिसंयोगजातपदार्थ है। महदादि–सूक्ष्मपर्यन्त लिंग पुम्प्रकृतिसंयोग के परिणाम हैं जिसे 'लिंग शरीर, सूक्ष्मशरीर या व्यावहारिक आत्मा' कहा जा सकता है जो सुख–दुःख–मोहाश्रय रूप है। इस मोहाश्रय देह (सूक्ष्म शरीर) के नष्ट हो जाने पर वह (सूक्ष्म शरीर में प्रकाशित चित्) पुरुष परमात्मा में मिल जाता है। जैसे घटाकाश महाकाश में एक रूपता को प्राप्त कर लेता है।

'देहे मोहाश्रये भग्ने युक्तः स परमात्मनि।
कुम्भाकाशइवाकाशे लभते चैकरुपताम्'।।[1]

वस्तुतः मूलभूत पदार्थों की संख्या के अनुसार दर्शन विधाओं का विभाग करना उचित नहीं, क्योंकि अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति की दृष्टि में इस विभाग का कोई फल नहीं। व्यक्त, अव्यक्त तथा 'ज्ञ' (पुरुष) का साधर्म एवं वैधर्म रीति से विज्ञान[2] (विवेकज्ञान) ही सांख्य का परमनिःश्रेयस है।[3] इस निःश्रेयस की प्राप्ति के क्रम में पुरुष (पुरी शेते इति पुरुषः) व्यक्ताव्यक्त[4] से 'नास्मि, न मे,

दर्शन विभाग, बी.आर. अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय, मुज्जफरपुर (बिहार)

नाहम्' इदृश पृथक् रूप तत्त्वाभ्यास[5] से स्वरूपावस्थान[6] रूप कैवल्य को प्राप्त होता है। आचार्य माठर कहते हैं कि जब इदृश तत्त्वज्ञान होने लगता है तब जीव खेद के साथ कहता है कि – सर्वव्यापक सर्वेश्वर आत्मा को (अपने वास्तविक स्वरूप को) मैं देहादि बुद्धि से परिच्छिन्न देख रहा था –

'योऽसौ सर्वेश्वरो देवः सर्वव्यापी जगद्गुरू।
देहीति पद्वभुच्चार्य हा मयात्मा लघुः कृतः'।।[7]

अस्तु, पुम्प्रकृतिसंयोगक का ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक वियोग एवं स्वरूप लाभ दोनों एक ही है और यही सांख्य का लक्ष्य भी है।

सांख्य दर्शन में पुरुष आत्मतत्त्व है।[8] चैतन्य उसका स्वभाव है। वह परम विशुद्ध, स्वयं ज्योति स्वरूप है।[9] वह साक्षी[10], कूटस्थ नित्य, निष्क्रिय और अपरिणामी है।[11] वही एक देव सब प्राणियों में छिपा हुआ है, सर्वव्यापी एवं सर्वभूतान्तरात्मा है।[12] जो कुछ भी है वह पुरुष ही है–'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।[13] सृष्टि के आदि में न सत् था न असत्, न वायु था न आकाश,. ... न मृत्यु थी न अमरता, न रात थी न दिन, उस समय केवल वही था जो वायु रहित स्थिति में भी अपनी शक्ति से सांस ले रहा था, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं था।[14] आचार्य माठर ने 'तन्त्र' शब्द की व्याख्या के प्रसंग में लिखा है कि –'तन्त्रमिति व्याख्यायते। तम एव खल्विदमग्र आसीत्।[15] तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञोऽभिवर्तते प्रथमम्।[16] तम इति उच्यते प्रकृतिः पुरुषः क्षेत्रज्ञः।[17] अर्थात् ''तमस्' ही यह पहले था, तमस् की विद्यमानता में क्षेत्रज्ञ प्रथम वर्तमान था। 'तमस्' प्रकृति कही जाती है पुरुष क्षेत्रज्ञ।[18] गीता परमेश्वर की दो प्रकृतियों का वर्णन करती है, अपरा और परा। अपरा प्रकृति को क्षेत्र और क्षर पुरुष भी कहा गया है। यह जड़ प्रकृति है जिसके भीतर समस्त भौतिक पदार्थ विद्यमान है। परा प्रकृति में चेतन जीव आते हैं। इसकी अन्य संज्ञा क्षेत्रज्ञ और अक्षर पुरुष भी है।[19] 'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थेऽक्षर उच्यते'। क्षर पुरुष (जड़ प्रकृति) और अक्षर पुरुष (जीव) इन दोनों के ऊपर उत्तम पुरुष या पुरुषोत्तम है। यह पुरुषोत्तम परमतत्त्व है –'उत्तमः पुरुषस्त्वनयः परमात्मेत्युदाहृतः'।[20] शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि (व्यक्तियों) से परे यह परमात्मा पुरुष ही परमसत्ता, परम लक्ष्य है, इससे ऊपर कुछ भी नहीं है।[21] 'पुरुष' शब्द का प्रयोग कूटस्थ, निर्गुण, अपरिणामी पुरुष के लिए, ग्रहीतारूप पदार्थ के लिए एवं शरीरी जीव के लिए प्रयुक्त होता है। निर्गुण बुद्धिसंगहीन पुरुष को परमात्मा भी कहा जाता है, पुरुष स्वरुपतः नित्यमुक्त शुद्ध–बुद्ध स्वभाव के कारण परमात्मा है और बुद्धि आदि संपर्क की दृष्टि से जीवात्मा कहलाता है।[22] सूक्ष्मशरीर के नाश के बाद पुरुष की बन्धातीत अवस्था को लक्ष्यकर पुरुष को परमात्मा कहा जाता है।[23] इस सन्दर्भ में आचार्य माठर एक रोचक प्रसंग प्रस्तुत करते हैं– 'अहंकार बुद्धि से कहता है कि इस सोये हुए पुरुष को मत जगाओ। परमानन्दस्वरूप पुरुष के जग जाने पर न तो तुम रहोगी, न मैं ही और न यह जगत् ही। मेरे अहंकार के रहते–रहते पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष तत्त्व समुदाय (गुणसमुदाय) को छोड़कर मोक्ष कैसे चाहेगा[24] –अहंकारो धियं ब्रूते मनं सुप्तं प्रबोधय। प्रबुद्धे परमानन्दे न त्वं नाहं न तज्जगत्।।

मयि तष्ठत्यहंकारे पुरुषः पच्चविंशकः।
तत्त्ववृन्दं परित्यज्य स कथं मोक्षमिच्छति।।

वस्तुतः पुरुष गुण समुदाय में रहता हुआ भी, उन गुणों से विपरीत होने से केवल क्षेत्रज्ञ (ज्ञाता) साक्षिमात्र है।[25] पुरुष के साक्षित्व का तात्पर्य इतना ही है कि बुद्धिवृत्ति के साथ उसका अव्यवहित सम्बन्ध होना। सांख्य सूत्र में कहा भी है –साक्षात् सम्बन्धात् साक्षित्वम्।''[26] इस पर विज्ञानभिक्षु का भाष्य इस तरह है –''पुरुषस्य यत् साक्षित्वमुक्तं तत् साक्षात् सम्बन्धमात्रात्, नतु परिणामेव, इत्यर्थः। साक्षात् सम्बन्धेन बुद्धिमात्रसाक्षिताऽवगम्यते,... स्वबुद्धि वृत्तेरेव भवति।[27]

वृत्तिकार माठर का कहना है कि केवल के भाव को कैवल्य कहते हैं। अर्थात् तीनों गुणों से अलग रहना ही कैवल्य है।[28] त्रिगुणाभाव के कारण पुरुष मध्यस्थ भी है। इसका किसी से कोई सम्बन्ध नहीं अर्थात् उदासीन है।[29] मध्यस्थ वही होता है, जो न सुख को चाहता है, और न दुःख से द्वेष करता है। इस तरह सुख–दुःख से परे होने के कारण ही पुरुष को मध्यस्थ कहा जाता है। वृत्तिकार का अनुसरण करते हुए कौमुदीकार का कहना है कि अगुणत्व या निर्गुणत्व के कारण पुरुष का मध्यस्थ अर्थात् तटस्थता या उदासीनता सिद्ध है, क्योंकि सुखी, सुख से तृप्त या प्रसन्न होता हुआ और दुःखी, दुःख से द्वेष करता हुआ मध्यस्थ या तटस्थ नहीं होता। इन दोनों (सुख और दुःख) से रहित को मध्यस्थ और उदासीन का जाता है।[30] यह पुरुष का पारमार्थिक स्वरूप है। व्यवहारिक रूप से (पुम्प्रकृतिसंयोग रूप से) वह भी सुख–दुख का भोक्ता कहा जाता है। –'तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः। लिंगस्याविनिवृत्तेः, तस्माद् दुःखं समासेन' अर्थात् लिंग शरीर की निवृत्तिपर्यन्त दुःख–सुख का भोक्ता पुरुष है[31] किन्तु तीनों कालों में देवतिर्यक् आदि योनियों में सम्पूर्ण विषयों के प्रति जो–जो पुरुष उपभोग है, उसका निष्पादन बुद्धि ही करती है।[32] उस बुद्धि से संयुक्त लिंग शरीर होता है जो धर्माधर्मादि भावों से अधिवासित होकर देव–मनुष्य–तिर्यक् योनियों में सुख–दुःख भोगता हुआ संसरण अर्थात् जीवभाव को प्राप्त करता है। कहा भी है कि –''योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्ये तु संयान्ति यथाकर्मयथाश्रुतं।''[33] इस प्रकार समस्त दुःख बौद्धिक ही हैं। यदि पुरुष स्वभावतः दुःख प्राप्तकर्ता है तो मोक्ष के लिए साधनों का उपदेश व्यर्थ मानना होगा क्योंकि स्वभाव का विनाश किसी भी काल में सम्भव नहीं है – 'न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः।'[35] दुःख–बन्ध से आत्मा का मोक्ष कथन करने से स्पष्ट है कि वह स्वभावतः बद्ध नहीं हो सकता। नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त पुरुष का बन्ध–योग भी प्रकृति–योग के बिना नहीं हो सकता।[36] प्रकृति के साथ पुरुष योग भी अविवेक के कारण होता है।[37] विवेकज्ञान हो जाने पर संयोग होने पर भी सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता– 'सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य'।[38] उस स्थिति में पुरुष प्रकृति को तटस्थ प्रेक्षक की भांति देखता है –'प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः।' वस्तुतः सुख–दुःख से उदासीन पुरुष का न तो बन्धन होता है और न ही मोक्ष। अपितु प्रकृति ही नाना योनियों का आश्रय लेकर बद्ध और मुक्त होती है एवं संसरण करती है।[40] जैसे कोई नट पटान्तर से प्रवेश कर देवरूप धारण कर बाहर रंगमंच में उपस्थित होता है और पुनः मनुष्य रूप धारण कर लेता है। उसी प्रकार यह लिंग शरीर भी निमित्त प्रसंग से उदरान्तः प्रवेश कर नाना रूपों को धारण करता है। 'नटवद्व्यवतिष्ठते लिंगम्।[41]

उदासीन पुरुष का कर्तृत्व प्रतिसिद्ध है।[42] वस्तुतः विवेकी तथा अप्रसव धर्मा होने से पुरुष में अकर्तृत्व भी सिद्ध हो जाता है। क्योंकि जो क्रियावान् होता है वही कर्ता भी होता है। पुरुष व्यापक, विवेकी व अपरिणामी होने से क्रियाशील नहीं है। वस्तुतः विवेकित्व और अप्रसवधर्मित्व

या निर्विकारत्व के कारण पुरुष अकर्ता है।[43] इस सन्दर्भ में एक प्रश्न यह उठता है कि यदि पुरुष कर्ता नहीं है तो "चेतनोऽहं करोमि" इस प्रकार का अध्यवसाय (निश्चय) कौन करता है? यदि यह कहा जाय कि गुण ही इस प्रकार का निश्चय करते हैं तो गुणों को सचेतन होना चाहिए, परन्तु गुण तो अचेतन हैं। यदि पुरुष को ही इस प्रकार का अध्यवसाय करने वाला माना जाय तो उसमें कर्तृत्व की प्राप्ति होती है। अतः उभयः दोष आता है।[44] विचारपूर्वक देखा जाय तो "चेतनोऽहं करोमि" इत्यादि स्थल में समानाधिकरण की प्रतीति भ्रांतिजन्य है। उस भ्रान्ति में हेतु है प्रकृतिपुरुष का संयोग अथवा अविवेक। चैतन्य तथा कर्तृत्व का मित्राधिकरण होना युक्तितः सिद्ध है। क्योंकि त्रिगुण और परिणामी होने से कर्तृत्वादि धर्मबुद्धि के ही हैं, यह जो कर्तृत्वादि की प्रकृति पुरुष में हो रही है, वह अविवेक द्वारा ही है। इसी को योगदर्शन में "अस्मिता" कहा गया है। यह अस्मिता विपर्यय (मिथ्याज्ञान) का ही एक भेद है। योग सूत्र में लिखा है कि "दृग्दर्शनशक्योरेकात्मतैवास्मिता"[45] अर्थात् दृक शक्ति (पुरुष) और दर्शन की शक्ति (बुद्धि) इन दोनों (द्रष्टा और दृश्य) की अविवेक द्वारा जो एकात्मता का ज्ञान है, वही अस्मिता है। वाचस्पति मिश्र ने इसे और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वस्तुतः बुद्धि तथा आत्मा की एकात्मता नहीं है –"दृक् च दर्शनञ्च ते एव शक्ती तयोरात्माऽनात्मनोः अनात्मनि आत्मज्ञानलक्षणाऽविद्यापादिता या एकात्मतेव न तु परमार्थत एकात्मता साऽस्मिता एकार्थतेव"[46] यही उचित भी है, इसी बात को द्योतित करने के लिए विज्ञान भिक्षु ने भी "औदासीन्यं चेति"[47] सूत्र के भाष्य में दिखलाया है कि पुरुष तो उदासीन है, बौद्धिक क्रियाओं से न वह विकृत होता है, और न उसमें किसी प्रकार का कर्तृत्व आता है। पुरुष का कर्तृत्व तो उपराग से है, वास्तविक नहीं। वास्तविक कर्तृत्व तो बुद्धि का ही है परन्तु चित् सान्निध्य से ही बुद्धि की अभिव्यक्ति होती है। जैसे अग्नि और अयोगोलक के परस्पर सान्निध्य से अग्नि का व्यवहार अयोगोलक में हो जाता है, जो कि औपाधिक है। इसी प्रकार पुरुष का कर्तृत्व व्यवहार है – "उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्" ।[48]

उपर्युक्त समस्या का निराकरण करते हुए कारिकाकार का कहना है कि पुरुष के चेतन स्वभाव होने से, उसी पुरुष के संयोग से अचेतन लिंग (बुद्ध्यादि) भी चेतन की तरह हो जाता है। इस प्रकार अध्यवसायादि के वास्तविक कर्तृत्वबुद्धि (गुणों) में रहने पर भी, दोनों के सन्निकट होने से उदासीन पुरुष में भी कर्तृत्व का उपचार किया जाता है।[49] वृत्तिकार का कहना है कि वस्तुतः कर्तृत्व तो गुणों में ही रहता है, परन्तु उनके संसर्ग से उदासीन पुरुष भी कर्ता माना जाता है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से पुरुष अकर्ता[50] कूटस्थ नित्य, नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध तथा निरंजन है।[51]

पुरुष के अस्तित्व में प्रमाण

पुरुष या आत्मा स्वतः सिद्ध है, जो स्वतः सिद्ध है उसे प्रमाणों के द्वारा सिद्ध करना दिन के उजाले में सूर्य को दीपक से खोजने के समान व्यर्थ है। अतः प्रश्न उठता है कि कारिकाकार की प्रवृत्ति पुरुष–सिद्धि में क्यों हुई? आचार्य माठर इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि किन्हीं आचार्यों का कहना है कि 'शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, आदि से पृथक् आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है। जो हमारी इन्द्रियों से दिखाई देता है वही (शरीर) पुरुष है। इससे अतिरिक्त कुछ नहीं। इस प्रकार के विचारों का खण्डन करने के लिए ही कारिकाकार की प्रवृत्ति पुरुष–सिद्धि में हुई। क्योंकि मशक और उदुम्बर, इषीका और मुंज मत्स्य और जल के एकाभास होने पर भी जैसे पृथक् भाव

है, उसी तरह देह तथा आत्मा का भी पृथक् भाव सिद्ध है। इस प्रकार शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि आदि से क्षीरनीर की तरह एकीभूत होने पर भी देह से परमात्मा पुरुष भी भिन्न है। प्रधान की ही तरह सूक्ष्म होने के कारण उपलब्ध नहीं होता, उसी की सिद्धि के लिए निम्न लिखित हेतु उपस्थित किए जाते हैं।[52] संघात् तत्त्व (सामग्री समुदाय) अपने से भिन्न के लिए होने से, और तीनों गुणों का अभाव होने से भी, अधिष्ठाता होने से, भोक्ता होने से, कैवल्य (आत्मसाक्षात्कार) के लिए लोगों की प्रवृत्ति होने से भी, यह सिद्ध किया जाता है कि देहेन्द्रिय संघात् से भिन्न पुरुष (आत्मा) है।[53] कारिकाकार द्वारा दिये गये तर्कों को माठराचार्य ने उदाहरण पुरस्सर व्याख्या प्रस्तुत की है जो निम्नवत् है :-

संघातपरार्थत्वात्

आचार्य माठर का कहना है कि पुरुष (आत्मा) है। इस संसार में जो भी संघात (सामग्री समुदाय) है, वह परमार्थ के लिए देखा गया है। जैसे पलंग, रथ, घर, इत्यादि। इसी तरह शरीर व महदादियों का भी संघात परमार्थ के लिए ही है। इसलिए वह पुरुष ही है जिसके लए यह अन्योन्याधिष्ठित संघात् है। इस प्रकार संगति हो जाती है। शय्या, रथादि काष्ठसंघात है और गृहादि काष्ठदृष्टकादि संघात हैं, ये रथ गृह शय्या आदि अपना कुछ भी स्वार्थ सिद्धि नहीं करते, न अन्योन्य के लिए ही हैं। किन्तु इनसे पृथक् देवदत्तादि हैं, जो कि शय्या में सोते हैं, रथ से जाते हैं और घर में रहते हैं। (चैतन्य की प्रतीति से भी) इस प्रकार महदादि चक्षुरादि भी स्वार्थ के लिए नहीं हैं और न अन्योन्य के लिए ही, अपितु परमार्थ के लिए ही हैं। जो पर है वही आत्मा है। इसलिए यह अनुमान लगाया जाता है कि जरूर पुरुष है जिसके लिए कि चक्षुरादि संघात वाला शरीर उत्पन्न हुआ है।[54] इस प्रकार सुख-दुःख मोहात्मक होने के कारण त्रिगुणमयी प्रकृति और उसके समस्त कार्य संघात रूप हैं, वे जिस दूसरे के लिए हैं वह पुरुष है। तो क्या पुरुष संघात-रूप नहीं है? नहीं? क्योंकि पुरुष तीनों गुणों से मुक्त है। पुरुष त्रिगुण पदार्थों से भिन्न है। सांख्य के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में संसार की रचना को देखकर ईश्वर की सत्ता का अनुमान किया जाता है। विश्व की विचित्र रचना उसके रचयिता की ओर संकेत करती है। यह युक्ति योरोपिय दर्शनों में भी मिलती है। किन्तु सांख्य ने इस युक्ति का दूसरे ही रूप में प्रयोग किया है। 'रचना' रचयिता की ओर नहीं, बल्कि अपना उपभोग करने वाले की ओर इंगित करती है। पलंग सोने वाले की सिद्धि करता है, पलंग बनाने वाले की नहीं।[55]

आचार्य विज्ञानभिक्षु प्रकृति के संहत तथा परार्थ होने की पुष्टि के लिये योग सूत्रकार पतंजलि का मत उद्धृत करते हैं तथा तर्क देते हुए कहते हैं कि यदि सुखादिस्वरूप प्रकृति को ही अपने सुख आदि का भोग हो तब तो कर्मकर्तृविरोध उपस्थित हो जायेगा। क्योंकि एक ही धर्मी में कर्मत्व और कर्तृत्व दो विरोधी धर्म नहीं रह सकते। बिना धर्मी के अनुभव के सुखादि का अनुभव हो ही नहीं सकता, क्योंकि हमें जो अनुभव होता है वह 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार का होता है। इस तरह समस्त संहत पदार्थों से भिन्न चित्प्रकाशरूप पुरुष की सत्ता मानना युक्तियुक्त है।[56]

त्रिगुणादिविपर्ययात्[57]

वृत्तिकार का कहना है कि गुणत्रयाभाव होने से भी पुरुष की सत्ता स्वीकार की जाती है। तीन गुण हैं जिस समुदाय से उसे त्रिगुणादि कहेंगे। उस गुणत्रय का अभाव होने से पुरुष का पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है।[58] आचार्य माठर ग्याहरवीं कारिका को उद्धृत

करते हुए कहते हैं कि त्रिगुण व अविवेक्यादि धर्मों से व्यक्त व प्रधान में साम्य है और इनसे विपरीत पुरुष है इत्यादि अर्थात् अगुण, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन व अप्रसवधर्मी होने से आत्मा का व्यक्ताव्यक्त से पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।[59] युक्तिदीपिकाकार ने भी माठराचार्य का अनुसरण करते हुए ग्यारहवीं कारिका को उद्धृत किया है।[60] आचार्य विज्ञानभिक्षु का मानना है कि शरीर आदि स्वयं सुख आदि धर्मों से युक्त होने के कारण सुख आदि के भोक्ता नहीं हो सकते। यदि सुख–दुःखात्मक शरीर को ही सुख आदि का भोक्ता मानेंगे तो कर्तृकर्मविरोध होगा। ये सुख आदि पुरुष में नहीं, प्रत्युत बुद्धि में ही होते हैं, पुरुष में सुख आदि की प्रतीति बुद्धि के प्रतिबिम्ब से होती है। 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ' 'मैं मूढ़ हूँ' आदि की प्रतीति पुरुष में बुद्धि की स्वामिता के कारण होती है। इस प्रतीति से पुरुष में सुख आदि धर्मों की सिद्धि नहीं होती।[61] इस प्रकार संसार के पदार्थों का त्रिगुणमय होना, गुणहीन पुरुष को सिद्ध करता है।

अधिष्ठानात्

भोक्ता के अधिष्ठातृत्व से भी अधिष्ठेय प्रकृति आदि से भिन्न अधिष्ठाता पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है।[62] बिना अधिष्ठाता के कोई वस्तु नहीं रहती। जैसे– लोक में लंधन ल्पवन धावन में समर्थ अश्वों से युक्त रथ सरथी से सनाथ होकर ही चलता है। यदि सारथी रहित चलने लगे तो स्वयं विनष्ट हो सकता है। पर कोई भी अपने विनाश के लिए प्रवृत्त नहीं होता।[63] षष्टितन्त्र ग्रन्थ को उद्धृत करते हुए माठराचार्य का कहना है कि –"पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते।" इससे यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि पुरुष है।[64] षष्टितन्त्र का यह साक्ष्य माठर वृत्ति के अतिरिक्त सुवर्णसप्ततिशास्त्र, गौडपादभाष्य में भी प्रस्तुत किया गया है। कौमुदीकार का कहना है कि त्रिगुणात्मक पदार्थों के अधिष्ठीमान होने के कारण उसका कोई अधिष्ठाता होना चाहिए। जो–जो सुखदुःखमोहात्मक है, वह सब किसी दूसरे के द्वारा अधिष्ठित या नियन्त्रित होता हुआ देखा जाता है, जिस प्रकार रथ आदि सारथी के द्वारा नियन्त्रित होता हुआ देखा जाता है, उसी प्रकार बुद्धि आदि सब सुखदुःख मोहात्मक हैं, इसलिए ये भी किसी पर या दूसरे के द्वारा अधिष्ठित होने चाहिए। वह पर या दूसरा ही त्रिगुणात्मक पदार्थों से अतिरिक्त आत्मा है।[65]

भोक्तृभावात्[66]

भोक्ता होने से भी पुरुष का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है। वृत्तिकार का कहना है कि इस संसार में मधुर, अम्ल, तिक्त, लवण, कटु, कषाय, वाले छः रस हैं। इन्हीं षड्रसों से युक्त भोजन को देखकर यह सिद्ध किया जाता है कि जरूर इनका कोई भोक्ता होगा, जिसके लिए यह भोजन है। इसी तरह व्यक्ताव्यक्त को देखकर यह बात सिद्ध हो जाती है कि निश्चय ही इनके अतिरिक्त परमात्मा पुरुष भोक्ता है जिसके लिए ही व्यक्ताव्यक्त भोग्य है।[67] अपरिणामी पुरुष का यह भोग बुद्धि की अर्थाकार वृत्ति का प्रतिबिम्ब ही है।[63] सांख्यसूत्र में पुरुष को भोक्ता स्वीकार करते हुए कहा गया है कि भोग का अवसान चित्स्वरूप पुरुष में होता है।[69] किन्तु भोग रूप विकार से पुरुष विकृत नहीं होता क्योंकि भोगरूप विकार तो बुद्धि में ही रहता है और पुरुष भोग के निर्विकार साक्षी के रूप में अवस्थित रहता है। भोगरूप क्रिया वस्तुतः बुद्धिगत है परन्तु चिद्रूप–पुरुष के अधिष्ठान से ही भोग–क्रिया निष्पन्न होती है एवं बुद्धि के प्रतिसंवेदी पुरुष में भोग का उपचार होता है। पुरुष का यह भोक्तृत्व अविवेक के कारण ही सिद्ध होता है। तत्त्वतः भोगरूप से पुरुष

असंकीर्ण रहता है। पुरुष में भोग का उपचार किस प्रकार होता है? इसको स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार का कहना है कि जिस प्रकार स्वच्छ मणि जपाकुसुम के सान्निध्य से रक्तवर्ण की प्रतीति होती है[70] उसी प्रकार बुद्धि स्वगत इन्द्रियवृत्तियों को पुरुष तक पहुँचाकर उसके भोग को निष्पन्न करती है। इन्द्रियों की वृत्तियाँ वृत्तिरूप में पुरुष तक नहीं पहुँचती, वे बुद्धि में ही अवस्थित रहती हैं, पुरुष सान्निध्य के कारण ही उनका अनुभव करता है। कौमुदीकार का कहना है कि बुद्धि आदि भोग्य अर्थात् दृश्य हैं और द्रष्टा के बिना उनकी दृश्यता संगत नहीं हो सकती। इसलिए दृश्य बुद्धि आदि से भिन्न जो द्रष्टा है वही आत्मा है।[71]

कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च[72]

वृत्तिकार का कहना है कि लोगों की मोक्ष (आत्म–साक्षात्कार) के लिए प्रवृत्ति होने से भी पुरुष का अस्तित्व सिद्ध है। क्योंकि प्रधान की जो प्रवृत्ति होती है, वह मोक्ष के लिए ही हुआ करती है।[73] कौमुदीकार का कहना है कि शास्त्रों और दिव्यदृष्टि–सम्पन्न महर्षियों की कैवल्य के लिए प्रवृत्ति है। दुःख त्रय की आत्यान्तिक निवृत्ति के रूप में मान्य कैवल्य बुद्धि आदि का नहीं हो सकता, क्योंकि वे दुःखादिस्वरूप हैं, अतः वे अपने स्वभाव से कैसे वियुक्त किये जा सकते हैं, उनसे अतिरिक्त अदुःखस्वरूप आत्मा या पुरुष का तो दुःख से वियोग किया जा सकता है। इस प्रकार शास्त्रों एवं महामनीषियों की कैवल्य के लिए प्रवृत्ति के होने से बुद्धि आदि से अतिरिक्त आत्मा या पुरुष है, यह सिद्ध होता है।[74]

इस प्रकार संघातों से नितान्त परे, त्रिगुणातीत, अधिष्ठाता, भोक्ता तथा कैवल्य के लिए प्रवृत्तिशील और प्रकृति महतादि से भिन्न पुरुष तत्त्व की सिद्धि होती है।

पुरुष–बहुत्व का निहितार्थ

17वीं कारिका के अध्ययन से यह बात सिद्ध हो गयी कि शरीर से व्यतिरिक्त आत्मा है। किन्तु यहाँ एक शंका होती है कि वह आत्मा सभी शरीरों में एक ही है, अथवा प्रत्येक शरीर में भिन्न–भिन्न हैं? माठराचार्य के अनुसार इस संशय का कारण विभिन्न आचार्यों की विप्रतिपत्ति ही है। उदाहरण के लिए कुछ वेदान्ती आचार्यों का कहना है कि सभी शरीरों में एक ही आत्मा है। मणिसूत्र की तरह जैसे कि माला में जितने भी मणि रहते हैं वे सब एक ही सूत्र में पिरोये रहते हैं। इसी तरह मणिरूप शरीरों में भी क्या एक सूत्ररूप आत्मा है। अथवा जल चन्द्र की तरह जैसे–एक ही चन्द्र नदी, कूप, तडागादियों में अनेक रूपों में उपलब्ध होता है। अतः संशय है कि क्या मणिसूत्र न्याय से एक ही आत्मा है, अथवा जलचन्द्र न्याय से बहुत हैं? इस पर उत्तर देते हैं कि बहुत पुरुष हैं।[75] कारिकाकार ने पुरुष बहुत्व को सिद्ध करने के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किया है – प्रत्येक शरीर में पुरुष भेद सिद्ध है। क्योंकि जन्म–मरण तथा इन्द्रियों की प्रतिनियत व्यवस्था होने के कारण धर्मादियों के विषय में विभिन्न प्रवृत्ति के होने से भी गुणत्रय के परिणाम भेद से भी यह सिद्ध है कि प्रतिशरीर में भिन्न–भिन्न पुरुष (आत्मा) है।[76]

वृत्तिकार माठर का कहना है कि जनम के नियम से जैसे– इस संसार में कुछ लोग उत्तम श्रेणी में जन्म लेते हैं, कुछ लोग मध्यम श्रेणी में तथा अन्य लोग निम्न श्रेणी में जन्म लेते हैं। यदि एक ही पुरुष होता तो वही नीच, मध्यम व उत्तम कुलोत्पन्न होता, परन्तु ऐसा होता नहीं, यहाँ तो यह नियम है कि जो अधम है उससे भिन्न उत्कृष्ट है। इससे यह सिद्ध होता है कि बहुत से पुरुष

ऽ।' मरण के नियम से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। मरण में भी यह नियम है कि किसी का भ्राता मरा है और पिता भी, इससे सिद्ध है कि अनेक पुरुष हैं।[78] आचार्य माठर के अनुसार इसकी व्याख्या अन्य लोग 'जनममरणनियमात्' के रूप में भी करते हैं– इस संसार में यदि कोई कभी मरता है तो दूसरा उस समय उत्पन्न होता है, यदि एक ही पुरुष होता तो एक के पैदा होने पर सभी पैदा हो जाते। पर ऐसा नहीं होता, अथवा मरने पर सभी मर जाते। ऐसा भी नहीं देखा गया है। इससे सिद्ध है कि पुरुष बहुत्व है।[79] वस्तुतः निकाय अर्थात् संघात् या समुदाय के रूप में स्थित अपूर्व या नवीन देह, इन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि एवं वेदना (अनुभव या संवेदन) के साथ पुरुष का सम्बन्ध जन्म है, न कि पुरुष का परिणाम जन्म है, क्योंकि पुरुष अपरिणामी या निर्विकार है। उन्हीं पूर्वगृहीत देह आदि का परित्याग मरण है, न कि आत्मा या पुरुष का विनाश मरण है, क्योंकि वह कूटस्थ नित्य है अर्थात् सर्वदा एक से ही स्वरूप के साथ रहते हुये नित्य है।[80]

आचार्य माठर का कहना है कि करणों के नियमों से भी पुरुष–बहुत्व की सिद्धि होती है। करण का अर्थ है श्रोत्रादि इन्द्रियाँ। इस संसार में देखने में आता है कि कुछ लोग अन्धे, बहरे, तथा गूंगे हैं। परन्तु अन्य लोगों की इन्द्रियाँ तेज हैं। अतः यह स्पष्ट है कि जो विकृत इद्रियों वाले हैं वे और हैं, और जो इन्द्रियशक्ति सम्पन्न हैं वे कोई और हैं। इसलिए इन्द्रियों के प्रतिनियत व्यवस्था होने से भी यह सिद्ध होता है कि पुरुष अनेक हैं।[81] वाचस्पति मिश्र के अनुसार करण बुद्धि आदि तेरह हैं। इन जन्म, मरण एवं करणों का प्रतिनियम अर्थात् व्यवस्था है। यह व्यवस्था सब शरीरों में एक ही पुरुष के होने पर उत्पन्न नहीं हो सकती, तब तो अर्थात् सब शरीरों में एक ही पुरुष के होने पर भी सभी जन्म ग्रहण करने लगेंगे, एक के मरण प्राप्त करने पर सभी मर जावेंगे, एक के अन्धा आदि होने पर सभी अन्धे आदि हो जावेंगे, एक के विचित्त अर्थात् संज्ञाशून्य या बेहोश होने पर सभी विचित्त को जावेंगे। प्रत्येक शरीर में पुरुष का भेद होने पर व्यवस्था बनी रहती है। यह मानना भी उचित नहीं कि एक ही पुरुष की देह रूप उपाधियों के भेद से व्यवस्था हो जावेगी, क्योंकि फिर तो हाथ एवं स्तन आदि उपाधियों के भेद से भी जन्म एवं मरण आदि की व्यवस्था का प्रसंग उपस्थित हो जावेगा, किन्तु हाथ के कट जाने पर अथवा स्तन आदि बड़े अवयव या अंग के उत्पन्न होने पर युवती मरती या उत्पन्न नहीं होती है।[82]

सांख्यसूत्रों में पुरुष–बहुत्व की सिद्धि इस प्रकार की गयी है "जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्"[83] जन्म, मृत्यु तथा करण की व्यवस्था के कारण पुरुष–बहुत्व की सिद्धि होती है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि सांख्यदर्शन में जन्म, मरण का तात्पर्य उत्पत्ति और विनाश नहीं है, क्योंकि पुरुष नित्य तत्त्व है, अतः उसका उत्पत्ति तथा नाश नहीं हो सकता। नवीन शरीर, इन्द्रिय आदि संघातों का संयोग ही जन्म और उनसे वियोग ही मरण है। उनका मत है कि जन्म आदि व्यवस्था के लिए श्रुति में भी पुरुष–बहुत्व को स्वीकार किया गया है तथा वे अपने मत की पुष्टि के लिए श्वेताश्वतरोपनिषद् (4/5) तथा बृहदारण्यक उपनिषद् (4/4/14) भी उद्धत करते हैं।[84] ये जन्म, मरण आदि विरूद्ध धर्म पुरुष में केवल परिणाम रूप धर्म का ही अभाव है।[85] पुरुष बहुत्व के लिए एक अन्य तर्क देते हुए विज्ञानभिक्षु का कहना है कि "पुण्यवान् स्वर्ग में जन्मग्रहण करता है और पापी नरक में, अज्ञानी का बन्धन होता है तथा ज्ञानी की मुक्ति होती है।" इस अर्थवाली श्रुति–स्मृति की अन्यथा अनुपपत्ति न हो, इसलिए पुरुष–बहुत्व ही मानना श्रेयस्कर है।[86]

प्रवृत्ति भेद से भी यह मालूम पड़ता है कि अनेक आत्मायें हैं क्योंकि यदि एक ही आत्मा होती तो इस संसार में एक की प्रवृत्ति धर्म में होने से सभी की प्रवृत्ति उसी ओर होनी चाहिए। पर यहाँ तो देखा जाता है कि एक धर्म में प्रवृत्त है तो दूसरा अधर्म में। इस बात को ईश्वरकृष्ण ने "अयुग्पत् प्रवृत्तेश्च" के रूप में व्यक्त किया है किन्तु साहित्योपाध्याय पं. विष्णुप्रसाद शर्मा द्वारा संशोधित चौखम्बा संस्कृत सीरिज बनारस से प्रकाशित उपलब्ध पुस्तक की माठर वृत्ति में इसकी व्याख्या नहीं मिलती है। नीचे टिप्पणी में उन्होंने लिखा है "अयुगपत्प्रवृत्तेश्च" इत्यस्य व्याख्यानग्रन्थस्त्रुटितोयाति। गौड़पादभाष्य कारिका (18) में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है। "इतश्च अयुगपत् प्रवृत्तेश्च युगपदेक कालम्, न युगपदयुगपत् प्रवर्तनम्, यस्मादयुगपद्धर्मादिषु प्रवृत्ति दृश्यते, एके धर्मे प्रवृत्ता अन्येऽधर्मे वैराग्येऽन्ये ज्ञानेऽन्ये प्रवृत्ताः, तस्मादयुगपद प्रवृत्तेश्च बहवः इति सिद्धम्।" कौमुदीकार का कहना है कि प्रत्येक शरीर में पुरुष का भेद है क्योंकि सबकी एक साथ प्रवृत्ति नहीं होती। प्रयत्न रूप प्रवृत्ति यद्यपि अन्तःकरण में रहती है, फिर भी यह औपचारिक रूप में पुरुष में मानी जाती है और ऐसा होने पर एक शरीर में पुरुष के प्रयत्नशील होने पर, यतः सब शरीरों में वही एक पुरुष है। अतः सब शरीरों में वह प्रयत्नशील होगा और इस प्रकार वह सभी शरीरों को एक साथ संचालित कर देगा। पुरुषों की अनेकता में तो यह दोष नहीं आता है।[87] युक्तिदीपिकाकार ने भी तर्क की व्याख्या में कहा है कि "शक्तश्चासौ युगपदनेकानि शरीराणि उपभोक्तुमित्यतो यावद्भिः शरीरैरपचितासु कामात्रास्वस्मिन्भवपरिवर्ते भवितव्यं सर्वेषामुत्पत्तिं प्रति युगपत्प्रवेर्तेत। दृष्टा तु प्रधानस्याऽयुगपच्छरीरभावेन प्रवृत्तिः। तस्मादयुगपत्प्रवृत्तेश्च नाना आत्मान् इति।"[88]

गुणों की विषमता के कारण उनके कार्य में भी विषमता देखने में आती है। देखा जाता है कि कोई सात्त्विक सुखी है त्रो अन्य राजस दुःखी है और तामस मूढ़ है। इस तरह सुख–दुःखादि विभिन्न अवस्थाओं के देखने से भी यह मालूम पड़ता है कि प्रति शरीर में पुरुष भेद है। यथा–एक ब्राह्मण के तीन पुत्र हैं, वे तीनों समान हैं। एक ही पुरुष के द्वारा एक ही भार्या से उत्पन्न हुए हैं। उनमें से एक मेधावी सात्त्विक, पवित्र तथा सुखी है। दूसरा राजसी, दुर्बुद्धि तथा दुःखी है। तीसरा तामसी, मूढ़ तथा नास्तिक है। यदि एक ही आत्मा होती तो एक के सात्त्विक अथवा राजस या तामस होने पर सभी को वैसा ही होना चाहिए, परन्तु ऐसा देखा नहीं गया है।[89] अतः इससे पुरुष–बहुत्व की सिद्धि स्वीकार करते हैं। कौमुदीकार का कहना है कि तीन गुणों का विपर्यय अर्थात् प्रकार भेद दृष्टिगोचर होता है। कुछ प्राणिवर्ग सत्त्व की अधिकता रखने वाले हैं, जैसे उर्ध्वस्त्रोतम् अर्थात ऊपर को या आत्म की ओर वृत्तिप्रवाह रखने वाले देव एवं योगी आदि, कुछ रजः प्रधान हैं, कुछ तमः प्रधान हैं जैसे–मनुष्य। कुछ तिर्यगयोनि वाले अर्थात् पशु–पक्षी आदि। यदि तीन गुणों का विपर्यय या अन्यथात्व इन प्राणी वर्गों में तब नहीं हो सकता, जबकि सब शरीरों में एक पुरुष हो, पुरुष का भेद होने पर तो यह दोष नहीं आता।[91] इस प्रकार उपर्युक्त सब हेतुओं से सिद्ध है कि प्रत्येक शरीर में पुरुष (आत्मा) विभिन्न है।[92]

वस्तुतः सांख्य–दर्शन के अनुसार न तो पुरुष का जन्म होता है और न मरण ही तथा न तो पुरुष सुखदुःखादि परिणाम वाला ही है तो फिर पुरुष का उपर्युक्त वर्णन संगत नहीं होता, इसके उत्तर में प्रस्तुत कारिका का सार इतना ही है कि अनेक योनियों में शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि

से उसका सम्बन्ध होना ही जन्म है, और शरीर से सम्बन्धाभाव होना ही मरण है तथा सुखदुःखादि संवलित बुद्धि वृत्ति में प्रतिबिम्बित होना ही आत्मा का भोग है। अतः व्यवहारिक दृष्टि से तत्तत् अन्तःकरणों की उपाधि से अविच्छिन्न तत्तत् आत्माओं का भिन्न होना भी उचित ही है। आचार्य मठार का कहना है कि जब तक प्रकृति पुरुष विवेक साक्षात्कार नहीं होता तब–तक यह सूक्ष्म शरीर संसरण करता है और जब तत्त्व साक्षात्कार हो जाता है, तब यह भी उपरत हो जाता है। वस्तुतः मोहाश्रय लिंग शरीर के नष्ट हो जाने पर वह पुरुष परमात्मा में उसी प्रकार मिल जाता है जैसे–दर्पणाभाव में आभासहानि।[93]

सांख्य के पुरुष पर कुछ आक्षेप

सांख्य–दर्शन के पुरुष सम्बन्धी सिद्धान्तों पर अनेक विद्वानों ने आक्षेप लगाये हैं। डॉ. चन्द्रधर शर्मा का मानना है कि सांख्य को विशुद्ध चैतन्यस्वरूप पुरुष में तथा अन्तःकरणप्रतिबिम्बितचैतन्यरूप जीव में भेद करना चाहिए, किन्तु सांख्य इस भेद को भूल कर दोनों को एक ही मान लेता है। यह सांख्य दर्शन का बड़ा दोष है। सांख्य पुरुष को शुद्धचैतन्य–स्वरूप, स्वप्रकाश, नित्य, साक्षी, द्रष्टा, निर्गुण, निर्विकार तथा ज्ञान एवं अनुभव का अधिष्ठान मानता है। यह पुरुष का पारमार्थिक या वास्तविक स्वरूप है जो बन्धन, संसरण मोक्ष की कल्पनाओं से सर्वदा अस्पृष्ट है। जब पुरुष बुद्धि में प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब को ही अपना असली स्वरूप समझ लेता है तब वह बद्ध जीव प्रतीत होने लगता है। यह जीव प्रमाता और भोक्ता है। जन्म, मृत्यु, इन्द्रिय आदि का प्रतिनियम जीवों में सिद्ध होता है और जीव अनेक माने जाते हैं, बन्धन, संसरण और मोक्ष भी जीवों के होते हैं। किन्तु सांख्य पुरुष और जीव के भेद को भूल कर पुरुष को अनेक मानता है, तथा साक्षी एवं निर्विकार पुरुष में भोक्तृत्व की कल्पना करता है। पुरुष के वास्तविक स्वरूप के प्रतिपादन में भी वेदान्त अन्तर्निहित हैं। यदि सांख्य पुरुष को एक, और अनेक जीवों को पुरुष के विभिन्न आभासों के रूप में मान ले तो उसके अन्तर्विरोध मिटाये जा सकते हैं। अन्यथा द्वैतवाद तथा वस्तुवाद के प्रबल मोह ने सांख्य को अन्तर्विरोधों की परम्परा में जकड़ दिया है।[94]

सांख्य–दर्शन की परम्परा के अनुसार नवीन शरीर, इन्द्रिय आदि से पुरुष के संयोग तथा उनसे वियोग को ही पुरुष का जन्म–मरण कहा गया है।[95] अतः इससे पुरुषों के नित्य–स्वरूप की क्षति नहीं होती है। विज्ञानभिक्षु का मत है कि श्रुति भी जन्म आदि की व्यवस्था के लिए पुरुष–बहुत्व को स्वीकार करती है। उन्होंने अपने मत की पुष्टि के लिए श्वेताश्वतरोपनिषद् (4/5) तथा बृहदारण्यकोपनिषद् (4/4/14) को उद्धृत किया है।[96]

डॉ. उमेश मिश्र सांख्य द्वारा प्रतिपादित (नित्य, शुद्ध, मुक्त स्वभाव) पुरुष तथा उसकी सत्ता की सिद्धि के लिए दिये गये तर्कों की संगति दिखाते हुए कहते हैं कि सांख्य को 'ज्ञ, मुक्त, बुद्ध' त्रिविध पुरुष स्वीकार है। 'ज्ञ' पुरुष ही निर्लिप्त है और उसी में नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, त्रिगुणातीत, निष्क्रिय इत्यादि लक्षण घटित होते हैं और पुरुष की सत्ता सिद्धि के लिए प्रस्तुत किये गये तर्क बद्ध पुरुष की सिद्धि करते हैं। 'ज्ञ' पुरुष की सिद्धि के तर्क सांख्यकारिका में कहीं नहीं है। अतः डॉ. उमेष मिश्र का मत है कि 'ज्ञ' पुरुष की सिद्धि करने वाली कोई कारिका अवश्य रही होगी, जो अब लुप्त हो गयी है। इस लुप्तकारिका की स्थिति वर्तमान सोलहवीं और सत्रहवीं कारिका के मध्य होनी चाहिए क्योंकि सत्रहवीं कारिका में बद्ध पुरुष की सत्ता सिद्ध करने के पश्चात् अठारवीं कारिका में बद्ध पुरुषों की ही अनेकता सिद्ध की गयी है।[97]

प्रो. डी.डी. वाडेकर ने भी इसी प्रकार की समस्या को उठाया है, उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कारिका में पुरुष की सिद्धि के लिए दिये गये तर्क उन्नीसवीं कारिका में प्रतिपादित तटस्थ तथा उदासीन पुरुष की सिद्धि नहीं कर पाते।[98] डॉ. अणिमा सेनगुप्ता ने प्रो. डी.डी. वाडेकर के मतों का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है तथा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सत्रहवीं कारिका में केवल पुरुष की सत्ता सिद्ध की गयी है, पुरुष की तटस्थता और उदासीनता नहीं।[99] पुरुष की सत्ता की सिद्धि के तर्कों के विषय में उन्होंने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है – 'यदि हम (पुरुष की सिद्धि के लिए दिये गये) इन तर्कों के तत्त्वमीमांसीय महत्त्व पर गहराई तथा सावधानी से विचार करें तो हम पायेंगे कि इनको शुद्ध पुरुष की सत्ता सिद्धि के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है।''[100]

पुरुष की सिद्धि के लिए दिये गये तर्कों पर लगाये गये दोषों का परिहार करते हुए डॉ. अणिमा सेनगुप्ता[101]कहती हैं कि पहली युक्ति का अर्थ केवल इतना ही है कि अचेतन प्रकृति की सार्थकता तभी होती है जब कि यह चेतन पुरुष से संयुक्त हो। यदि हम यह भी मान लें कि संघात शय्या आदि की भांति भोग्य है और इनसे भोक्ता पुरुष की ही सिद्धि होती है, तब भी पुरुष के शुद्ध स्वरूप उदासीन तथा तटस्थ रूप से कोई विरोध नहीं होगा क्योंकि भोक्तृत्व अन्ततः पुरुष का बुद्धि को अपने प्रकाश से प्रकाशित करना है, जो शुद्ध पुरुष का स्वरूप ही है। आचार्य विज्ञानभिक्षु भी प्रतिबिम्ब द्वारा ही पुरुष का भोग स्वीकार करते हैं। अतः पुरुष के परिणामी तथा कूटस्थ स्वरूप में अन्तर नहीं आता।[102] पुरुष अपनी सन्निधिमात्र से ही प्रकृति को अधिष्ठित या प्रेरित करता है,[103] इससे उसमें कर्तृत्व नहीं आ जाता। सांख्य–दर्शन में उपादानरूप कर्तृत्व का निषेध बुद्धि के उपरागमात्र से होता है, उसमें वास्तविक कर्तृत्व नहीं है।[104] भोक्तृत्व तथा उदासीनता परस्पर विरूद्ध धर्म नहीं हैं, वे एक साथ ही पुरुष में रह सकते हैं। जीवन्मुक्त मनुष्य सुख–दुःख से उदासीन होने पर भी प्रारब्ध कर्मों के कारण सुख–दुःख का अनुभव करता है।

डॉ. उमेश मिश्र तथा ब्रजमोहन चतुर्वेदी पुरुष के बद्ध और मुक्त दो रूप स्वीकार करते हैं और पुरुष–बहुत्व के लिए दी गयी युक्तियों को बद्ध पुरुष के लिए मानते हैं। उनके विचार से मुक्त पुरुष एक तथा बद्ध पुरुष अनेक हैं। पुरुष के बहुत्व के लिए दी गयी युक्तियाँ बद्ध पुरुष पर ही घटित होती हैं क्योंकि मुक्त पुरुष का न तो जन्म होता है और न मरण तथा न ही उसका करण होता है। मुक्त पुरुष के प्रकृति से विविक्त होने के कारण उसमें प्रवृत्ति भी नहीं होती। पुरुष की अनेकता का कारण तीनों गुणों का विभिन्न रूप में सम्मिश्रित पुरुष में रहना है। प्रकृति पुरुष में संयोग होने पर प्रकृति के गुणों का पुरुष पर आरोप हो जाता है। प्रकृति–पुरुष के सम्बन्ध का प्रयोजन पुरुष को कैवल्य की प्राप्ति कराना है जो इस बात का प्रमाण है कि संयोग बद्ध–पुरुष और प्रकृति का ही होता है।[105] एक अन्य विद्वान् श्री राधानाथ पूखन पुरुष–बहुत्व के सिद्धान्त को सांख्य का अन्तिम सिद्धान्त न मानकर बीच की कल्पना तथा तथ्यों की मीमांसा करने से पूर्व की स्थिति मानते हैं। उनके विचार से पुरुष–बहुत्व के आधारभूत हेतु तभी तक वास्तविक हैं जब तक हम इस अन्तिम सत्य पर नहीं पहुँच जाते कि यह समस्त जगत् बुद्धिकृत है, अतः मिथ्या है।[106] किन्तु पूखन जी का यह मत उचित नहीं प्रतीत होता है क्योंकि सांख्य में न तो बुद्धि को अवास्तविक कहा गया है और न बुद्धिकृत जगत् की प्रतीयमानता के आधार पर पुरुष की अनेकता मानी गई है।

वस्तुतः पुरुष को एक अथवा अनेक मानना दोनों ही असंगत है। प्रकृति के साथ संयोग एवं वियोग के आधार पर ही पुरुष को अनेक (पुम्प्रकृतिसंयोगावस्था में) अथवा एक (अद्वैतरूप) पुम्प्रकृतिवियोगावस्था में) माना जा सकता है। इस बात को आचार्य माठर ने 'जलचन्द्रन्याय' से पुरुष बहुत्व एवं 'दर्पणाभावऽभासहानौ' से पुरुषाद्वैत सिद्ध करते हैं।



सन्दर्भ –

1. मा.वृ.का. 39, 149
2. 'व्यक्तव्यक्तज्ञविज्ञानात्' सां. का.2
3. सांख्यानां पंचविंशति तत्त्वज्ञानामेव साधर्मेण वैधर्मेण च निःश्रेयस हेतुः' मा.वृ. का 37, पृ. 142
4. व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्। सां.का. 11
5. सां. का. 64
6. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' यो.सू. 1/3
7. मा.वृ.का. 37, पृ. 140
8. 'असौ परमात्मा अस्ति पुरुषौ' मा.वृ.का.17, पृ. 85
9. 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः। वृहदा. 4/3/9
10. श्वेताश्वतर उप. 6/11
11. वही 6/19
12. 'एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्रात्मा' श्वेता. 6/11
13. ऋग्वेद–पुरुषसूक्त 10/90, यजुर्वेद
14. ऋग्वेद नासदीय सूक्त 10–12
15. तुलनीय– (क) "तमो वा इदमग्र आसीदेकम्"–मैत्रायणी उप. 5/2
    (ख) "तम आसीत् तमसा गूढमग्रे" ऋ. वे 10/129/3
16. यह पाठ 'सवर्णसप्ततिशास्त्र' नाम से मुद्रित चीनी अनुवाद के संस्कृत रुपान्तरण के आधार पर दिया गया है।
17. मा.वृ.का. 70, पृ. 211
18. गीता–7/4, 5 तथा 15/16
19. गीता – 15/17, 18
20. इन्द्रियेभ्यः पराह्यार्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
    मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।।
    महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
    पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः।। कठोपनिषद् 3/10–11
21. आत्मा क्षेत्रज्ञः इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गणैः।
    तैरवे विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः।। महा. शान्ति 187/23
22. गौडपादभाष्य का. 44
23. मा.वृ.का. 17,पृ.85
24. मा.वृ.का. 37, पृ. 140
25. मा.वृ.का. 19, प. 93
26. सां. सू. 1/161
27. सां. प्र. भ. 1/161
28. मा.वृ.का. 19, पृ. 93
29. वही।

30 सां. त. कौ. 19
31. सां. का. 55
32. मा.वृ.का. 37, पृ. 140
33. माठरवृत्ति संवलिता एवं प्रबोधनी—पं. थानेशचन्द्र उत्प्रेती, पृ. 151
34. सर्वं दुःखं मानसिककमेव—मा. वृ. का. 1, पृ. 4
35. सां. सू. 1/7
36. नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते, सां. सू. 1/19
37. 'तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्' सां.सू. 1/55
38. सां.का. 66
39. सां.का. 65
40. सां.का. 62
41. मा.वृ.का. 42, पृ. 153
42. मा.वृ.का. 19, पृ. 93
43. सां.त.कौ. 19
44. मा.वृ.का. 20, पृ. 95
45. योगसूत्र 2/6
46. तत्त्ववैशारदी, 2/6
47. सां. सू. 2/163
48. सां. सू. 1/164
49. सां. का. 20
50. मा.वृ.का. 20, पृ. 96
51. सांख्यसार उत्तर भाग 1/22
52. मा.वृ.का. 17, पृ. 85
53. संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविर्ययादधिष्ठानात्। पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च। सां.का. 17
54. मा.वृ. का. 17, पृ. 84
55. भारतीय दर्शन (ऐतिहासिक और समीक्षात्मक विवेचन) डॉ. एन.के. देवराज, पृ. 408, द्वितीय सं. 1978
56. सां.प्र.भा. 1/66
57. सां.सू. 1/140
58. त्रिगुणा यस्य गणस्यादौ सम्भवन्ति स त्रिगुणादिः, त्रिगुणादेर्विपर्ययः।
तस्मात्पश्यामोऽस्ति पुरुष इति। मा.वृ.का. 17, पृ. 84
59. तद्विपरीतस्तथा च पुमान् इति। मा.वृ.का.वही।
60. युक्तिका. 17, पृ.107
61. सां.प्र.भा. 1/141
62. अधिष्ठानाच्चेति। सां.सू. 1/42
63. मा.वृ.का. 17, पृ. 84
64. मा.वृ.का. 17, पृ. 85
65. सां.त.कौ. 17
66. सां.सू. 1/143
67. मा.वृ.का.17, पृ. 85
68. सां.प्र.भा. 1/104
69. सां.सू. 1/104

70. सां.सू. 2/35
71. सां.त.कौ. 17
72. सां. सू. 1/144
73. केवलः भावः कैवल्यं मोक्षं इत्यर्थः। या तस्य प्रधानस्य प्रवृत्तिः सा कैवल्यार्थ प्रवृत्तिः। मा.वृ.का. 17, पृ.85
74. शास्त्राणां महर्षीणां दिव्यलोचनानां च... । तस्मात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेरागमानां महाधियां चास्ति बुद्ध्यादिव्यतिरिक्त आत्मेति सिद्धम् सां. त.को. 17
75. मा.वृ.का. 18, पृ. 88
76. जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च। पुरुषबहुतवं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।।सां.का. 18
77. .... तस्माद् वहवः पुरुषा। मा.वृ.का. 18, पृ. 89
78. मरणेऽपि नियमो दृष्टो मम भ्राता मृतो मम पिता च। तस्माद् बहवः पुरुषाः। वही।
79. वही
80. .... पुरुषस्याभिसम्बन्धो जन्म, न तु पुरुषस्य परिणामः, तस्यापरिणामित्वात्। तेषामेव च देहादीनामुपात्तानां परित्योगो मरणम्, नत्वात्मनो विनाशः तस्य कूटस्थनित्यत्वात्। सां. त. कौ. 18
81. मा.वृ.का. 18, पृ. 89
82. सां. त. कौ. 18
83. सां.सू. 1/149
84. सां.प्र.भा.1/149
85. वही
86. वही
87. सां.त.कौ. 18
88. युक्तिका. 18, पृ. 113
89. मा.वृ.का. 18, पृ. 19
90. युक्ति.का. 18, पृ. 113
91. सां.त.को. 18
92. अतः पश्यामोऽनेको पुरुषाः। मा.वृ.का. 18, पृ. 90
93. मा.वृ.का. 39, पृ. 141
94. भारतीय दर्शन आलोचन एवं अनुशीलन, पृ. 164
95. सां.प्र.भा. 1/149
96. वही
97. भारतीय दर्शन, पृ. 298
98. Classical Samkhya : A critical study, p.101
99. वही, पृ. 101–102
100. वही पृ. 102
101. वही, पृ. 106
102. सां.प्र.भा. !2104
103. सां.सू. 1/96
104. सां.प्र.भा. 1/64
105. सां.का. 62
106. Samkhya Karika of Isvarakrsna, pp. 60-63

जैन दर्शन एवं शांकर वेदान्त

रज्जन कुमार

जैन एवं शांकर वेदान्त भारतीय दर्शन के दो प्रमुख लेकिन नितांत भिन्न चिन्तन परम्परा के दर्शन हैं। शांकर वेदान्त वेद एवं वेदानुकूल विचारों से परिपूर्ण आस्तिक परम्परा से सम्बद्ध है वहीं जैन वेदोत्तर, स्व–रचित ग्रंथों एवं स्व–मान्यताओं पर आधारित नास्तिक परम्परा की प्रमुख शाखा है। अतः इन दो भारतीय लेकिन भिन्न परम्पराओं से संबद्ध दार्शनिक विचारों में साम्य–वैषम्य परिलक्षित होना स्वाभाविक ही है।

जगत्, कारण और आधार

दर्शन का एक प्रमुख लक्ष्य यह है कि वह चेतन–अचेतन तत्त्वों की सत्ता एवं स्वरुप तथा परमतत्त्व से उनके सम्बन्ध की व्याख्या करे। समस्त भारतीय दर्शन–सम्प्रदायों ने दर्शन के उपर्युक्त लक्ष्य पर विचार किया है– चाहे वे आस्तिक हों अथवा नास्तिक, वेद समर्थक हों अथवा वेद विरोधी, द्वैतवादी हों अथवा अद्वैतवादी। परम तत्त्व को सचेतन तत्त्व से जोड़ने वाले अथवा दोनों को तत्त्वतः एक मानने वाले दर्शनों ने इन्हें आत्मा–परमात्मा के रुप में प्रस्तुत किया है तो अन्य दर्शनों ने एक परमतत्त्व की मान्यता पर प्रश्नचिन्ह लगाकर प्रमुख रुप से केवल जड़ और चेतन तत्त्वों के परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या का प्रयास किया है। पहली दृष्टि के उदाहरण अद्वैतवादी भारतीय दर्शन, शांकर वेदान्त आदि को लिया जा सकता है तथा दूसरी दृष्टि का प्रतिनिधित्व द्वैतवादी दर्शन, सांख्य, न्याय–वैशेषिक, जैन आदि करते हैं। दोनों ही दृष्टियों में यह समानता है कि इनमें जड़–चेतन रुप प्रत्यक्ष होने वाले इस जगत् का सर्वथा एवं सम्पूर्णतः निषेध नहीं किया गया है। अब यह भिन्न प्रश्न है कि इस जगत् के कारण, वास्तविक स्वरुप, जगत्, जड़–चेतन में भेद अथवा अभेद आदि बिन्दुओं पर उनमें मतभेद है।

जगत्–विचार के इन विविध पक्षों को देखने के बाद यह प्रतीत होता है कि दर्शन की विविध समस्याओं और उनकी विभिन्न व्याख्याओं का एक कारण जड़–चेतन–रुप जगत् है। जगत् के तात्त्विक विचार की समस्या परमतत्त्व के स्वरुप की भूमिका है। दुःखत्रय के फलस्वरुप उनके कारण एवं उनकी आत्यन्तिक निवृत्ति के उपायों की जिज्ञासा होती है तथा जगत् वैविध्य को देखकर परमार्थ सत्य की अन्वीक्षा आरम्भ होती है। अतः दुःख एवं उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति की भाँति ही जगत् एवं परमतत्त्व के विचार भी परस्पर सापेक्ष हैं। विशेष रुप से अद्वैत वेदान्त इस जगत् को व्यवहार मात्र कह कर एवं इसे अपना प्रमुख प्रतिपाद्य न मानकर यथाशीघ्र परमतत्त्व की चर्चा आरम्भ कर देते हैं जबकि वस्तुस्थिति यह है कि उनका परमतत्त्व का स्वरुप, जगत् सम्बन्धी उनके विश्लेषण का परिणाम अथवा निष्कर्ष ही है। इसके साथ ही जो दर्शन जगत् और परमतत्त्व सम्बन्धी मान्यताओं में जितनी अधिक संगति बिठा सकता है वह उतना ही तर्क संगत एवं निर्दुष्ट माना जाता है।

अनुप्रयुक्त दर्शन विभाग, महात्मा ज्योतिबाफुले रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली (उ.प्र.)

पुनश्च लोक के संबंध में वादी गण अनेक प्रकार की कल्पनाएं करते हैं। कोई पुरुष से उत्पन्न जगत् को मानता है। कोई दैव रचित कहता है। कोई ब्रह्मा से सर्जित कहते हैं। कोई अंडे में से इस जगत् की उत्पत्ति मानता है। कुछ लोक को स्वाधीन स्वरुप में स्वीकार करते हैं। कुछ पाँच भूतों के विकार में उत्पति मानते हैं। कोई इसे अनेक रुप वाला मानता है। जगत् का कारण क्या कौन और कैसे, इस प्रश्न को लेकर जैन एवं वेदान्त दर्शन में पर्याप्त भिन्नता है। शंकर मायोपहित ब्रह्म से जगत्सृष्टि मानते है वहीं जैन लोक को छह तत्त्वों का समुच्चय मानता है जो अनादि–अनंत हैं।

अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य केवल एक ही परमतत्त्व ब्रह्म को मानते हैं। अतः विश्व का स्रष्टा भी वही होना चाहिए। किन्तु शंकर का ब्रह्म निर्गुण, निष्क्रिय, परिनिष्ठित, शुद्ध चैतन्य है। अतः वह जगत्सृष्टि का कार्य कैसे कर सकता है। शंकर को 'पुरुष एवेदं सर्वम्'[1] और 'नेह नानास्ति किंचन'[2] जैसे भिन्नार्थवाचक वाक्यों में सामंजस्य भी स्थापित करना था। अतः उन्होंने ब्रह्म को निष्क्रिय मानते हुए जगत्कार्य के लिए अनिर्वचनीय माया को प्रस्तुत किया। यह माया ही जगत् का कारण बनती है। किन्तु सांख्य के प्रधानकारणवाद के खण्डन में शंकर कह चुके हैं कि अचेतन को जगत्–कारण या कर्त्ता नहीं माना जा सकता और प्रधान को ही वेदान्त में माया कहा गया है, तब स्वयं शंकर माया से जगत्सृष्टि कैसे मान सकते थे।[3] अतः उन्होंने चेतन अधिष्ठित माया को जगत् का कारण कहा अथवा यह चेतन जो माया से आच्छादित है, जगत्कारण है।[4] इसी मायाधिष्ठित चेतन को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ईश्वर की संज्ञा दी गई।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में जगत् का स्रष्टा मायाधिष्ठित अथवा माया से परिच्छिन्न ईश्वर है। किन्तु परमार्थतः ईश्वर और ब्रह्म में अभेद है। इसलिए जगत् का कारण परम ब्रह्म को कह दिया जाता है।[5] शंकर के विचार में यही समस्त वेदान्त[6] एवं उपनिशदों[7] का सिद्धांत है। पुनश्च शंकर ब्रह्म को केवल उपादान कारण ही नहीं, निमित्तकारण भी मानते हैं।[8] केवल उपादान कारण मानने से प्रतिज्ञा और दृष्टांत बाधित हो जाएंगे। कार्य उपादान कारण से अभिन्न होता है किन्तु निमित्तकारण से भिन्न होता है, लोक में बढ़ई प्रासाद से भिन्न ही दीखता है।[9]

विश्व, जगत् अथवा संसार के लिए जैन परंपरा में सामान्यरुप से लोक शब्द का व्यवहार हुआ है। यह लोक क्या है ? इसका उत्तर दो रुपों में मिलता है। कहीं पर पंचास्तिकाय को लोक कहा गया है तो कहीं पर षड़द्रव्य को लोक माना गया है। व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र) में एक स्थान पर बताया गया है कि लोक पंचास्तिकाय है। पंचास्तिकाय ये हैं : 1. धर्मास्तिकाय, 2. अधर्मास्तिकाय, 3. आकाशास्तिकाय, 4. जीवास्तिकाय, 5. पुद्गलास्तिकाय।[10] प्रवचनसार में लोक का स्वरुप बताते हुए कहा गया है कि जो आकाश पुद्गल और जीव से संयुक्त है तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल से भरा हुआ है, वह लोक है। सामान्यतया लोक में छह तत्व हैं : 1. जीव 2. पुद्गल 3. धर्म 4. अधर्म 5. आकाश 6. काल।[11]

लोक इन छह तत्त्वों का समुच्चय है। इन छह तत्त्वों में सारा लोक समाविष्ट हो जाता है। इनके अतिरिक्त लोक कुछ नहीं है। ये छह तत्त्व अनादि–अनंत हैं। ये स्वतः सत् हैं। इनको न किसी ने बनाया है और न कोई मिटा सकता हे। ये हमेशा से हैं और हमेशा रहेंगे। इनमें सदैव परिवर्तन होते रहते हैं किन्तु ये सर्वथा नष्ट नहीं होते। इनकी न एकदम नई उत्पत्ति ही होती है

और न सर्वथा विनाश ही। ये उत्पत्ति और विनाश में भी स्थिर रहते हैं। इनकी उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता के लिए ये स्वयं जिम्मेदार हैं, अन्य कोई शक्ति नहीं। विश्व का आकार नियत एवं अपरिवर्तनीय है। विश्व तीन भागों में विभक्त है : अधः, मध्य और उर्ध्व। अधोलोक में सात भूमियाँ है जिनमें नारकियों के निवास स्थान अर्थात् नरक हैं। मध्यलोक में असंख्येय द्वीप और समुद्र हैं जो मनुष्य और तिर्यंच 'पशु'–पक्षी, पेड़–पौधे का निवास स्थान है। उर्ध्वलोक देवों का निवास स्थान है।

जगत् का कारण क्या और कौन ? इस संबंध में जगत्–अधिष्ठान का वेदांत सिद्धांत अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस विचार के बिना इस मत में जगत्कारण को अथवा ब्रह्म के स्रष्टारूप को नहीं समझा जा सकता। माया बिना किसी अधिष्ठानया आधार के जगत् की उत्पत्ति नहीं कर सकती। अतः यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि अधिष्ठान की सत्ता को स्वीकार किए बिना जगत् की आरोपित किंवा व्यावहारिक सत्ता को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।[12] अधिष्ठान के बिना इन्द्रियों का व्यवहार भी असंभव है। व्यावहारिक जगत् ही नहीं किन्तु सत् अधिष्ठान के बिना असत् मृगतृष्णिका भी नहीं हो सकती अर्थात् इस दृष्टि से व्यवहार–सत्य को ही नहीं असत् को भी अधिष्ठान की अपेक्षा रहती है। अतः सत् ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है और जगत् उसमें अध्यस्त है। यही शांकर वेदांत का अधिष्ठानवाद है।[13]

इस अधिष्ठानवाद को शंकर ने इस रुप में भी प्रस्तुत किया है, जैसे संसार में मृत्तिका, सुवर्ण आदि उपादान कारण कुम्भकार, स्वर्णकार आदि अधिष्ठाताओं की अपेक्षा रखकर प्रवृत्त होते हैं उसी प्रकार उपादान कारण सत् ब्रह्म को अन्य अधिष्ठान की अपेक्षा नहीं है। यदि उपादान कर्त्ता से भिन्न अधिश्ठान को स्वीकार किया जाता है तो एक के ज्ञान से सबका ज्ञान हो सकता है। अतः किसी अन्य अधिष्ठाता के न होने के कारण आत्मा कर्त्ता अथवा अधिष्ठान है तथा अन्य उपादान के न होने से वही प्रकृति (उपादान) है।[14]

जगत्कारण एवं अधिष्ठान के संबंध में जैनों का सिद्धांत द्रष्टव्य है– यह लोक शाश्वत अनादि निधन है। किसी ने इसको आधार नहीं दिया है। आश्रय और आधार के बिना आकाश में निरालम्ब बना हुआ है। न किसी ने इसको बनाया है फिर भी अपने अस्तित्व में स्वयं सिद्ध है।[15] इस विषय में यह समझने योग्य है कि वायु ने जल को धारण कर रखा है जिससे वह इधर–उधर गमन नहीं कर सकता। जल ने पृथ्वी को आश्रय दिया, जिससे जल भी स्पंदन नहीं करता न पृथ्वी ही उस जल को से पिघलती है। लेकिन लोक का आधार कोई नहीं है। वह आत्मप्रतिष्ठित है अर्थात् अपने ही आधार पर है। केवल आकाश में ठहरा हुआ है। ऐसा होने से लोकस्थिति में अवस्थान ही कारण हैं। इस लोक का सन्निवेश अनादि है। कहा भी गया है कि पंचास्तिकायमय यह लोक अनादि से अस्तित्ववान् है और परमपुरुष जैसे ईश्वर द्वारा रचित नहीं है और इस विषय में सर्वज्ञ का वचन आगम प्रमाण है। लोक में जो विविधता है वह चर–अचर तत्त्वों के कारण है। मुक्त जीवों, आकाश, रत्नप्रभा पृथ्वीयों, मेरु आदि पर्वतों, भवनों, विमानों आदि अचर हैं। शेष संसारी जीव, तन, धन आदि अस्थिर चर हैं। इसी बात की पुष्टि करते हुए स्थानांगसूत्र में कहा गया है– के अयं लोको ? जीवच्चेव अजीवच्चेव[16] – लोक किसे कहना ? जीव और अजीव यह लोक हैं। जीव और अजीव ही लोक के चर–अचर तत्त्व हैं।

जगत्, बंधन और मोक्ष

दुःख अथवा पीड़ा बंधन है जबकि इससे मुक्ति मोक्ष है। इसका कारण क्या है, यह दार्शनिकों के लिए चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। प्रायः दार्शनिकों ने कुछ भिन्न्ता के साथ बंधन का कारण अज्ञान तथा मोक्ष के लिए ज्ञान को उत्तरदायी माना है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार बंधन का मूल कारण अविद्या या अज्ञान है।[17] दूसरी तरफ जैन दार्शनिक अविद्या के साथ–साथ अविरति, प्रमाद, कशाय, एवं योग को बंधन का प्रमुख कारण मानते हैं।[18] यह अविद्या जीव अथवा आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है, वरन् स्वयं जीव की मिथ्या कल्पना का परिणाम है। वस्तुतः जीव के बंधन का कारण स्वयं उसके मन में ही है, कहीं बाहर नहीं है। क्योंकि बंधन न तो शरीर में है, न इन्द्रियों में है और न ही बाहर किसी अन्य वस्तु में, बल्कि इनके निमित्त से मन में राग–द्वेष रुपी जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन भावों के कारण ही बंधन होता है।

बंधन का मूल कारण राग–द्वेष को ही माना गया है जो मोह के कारण उत्पन्न होता है और यही मोह जीव को बंधन में डाल देता है।[19] यह मोह बंधनग्रस्त जीव का स्वाभाविक गुण है। इस संबंध में आचार्य शंकर का मत उल्लेखनीय है – यदि हम यह मानकर चलें कि अविद्या जीव का स्वाभाविक गुण है तो ऐसी परिस्थिति में अज्ञान का कभी निवारण ही नहीं हो सकता है और जीव निरंतर बंधन में पड़ा रहेगा।[20] इसलिए यह बंधन भी केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से सत्य है। पारमार्थिक सत्य तो यह है कि जीव न कभी बंधन में पड़ता है और न कभी मोक्ष को प्राप्त करता है। शंकर कहते हैं कि बंधन और मोक्ष दोनों केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य हैं।[21]

अद्वैत वेदान्त में बंधन के कारकों का निवारण कर मुक्ति प्राप्त करने में ज्ञान को महत्त्वपूर्ण माना गया है। शंकराचार्य दृढ़तापूर्वक इस सिद्धांत को प्रतिपादित करते हैं कि ज्ञान (आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान) स्वयं मोक्ष है।[22] मोक्ष के स्वरुप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आत्मा की अपने स्वरुप में स्थिति ही मोक्ष है।[23] इसकी दूसरी परिभाषा यह दी गई है कि अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है, मोक्ष और अविद्या निवृत्ति एक ही है।[24] शंकराचार्य का कहना है कि मोक्ष की प्राप्ति कर्म से या ज्ञान और कर्म के समुच्चय से नहीं हो सकती, क्योंकि कर्म से निष्पन्न होने वाला कोई पदार्थ नित्य नहीं हो सकता जबकि मोक्षावस्था नित्य है।[25] मोक्ष ज्ञान का उत्पाद्य नहीं है क्योंकि ज्ञान का उत्पाद्य होने पर वह अनित्य हो जाएगा, अतः ज्ञान और मोक्ष एक ही हैं।[26]

जैन दार्शनिक मोक्ष को आत्मा की वह विशुद्धावस्था मानते हैं। जिसमें किसी भी विजातीय तत्त्व के साथ संयोग नहीं रहता और सम्पूर्ण विकारों का अभाव होकर आत्मा स्व–स्वरुप में स्थिर हो जाती है। इसमें जीवन का विसर्जन न होकर मानव बुद्धि में उत्पन्न मिथ्यात्व का नाश होता है। इस मिथ्यात्व के स्थान पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र का विकास होता है। मोक्ष वस्तुतः कोई ऐसी दुर्लभ वस्तु नहीं है जिसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। वास्तव में कर्मबंधन के मूल कारणों पर विजय प्राप्त कर लेने पर स्वतः प्राप्त हो जाता है। दशवैकालिक में कहा गया है – आरक्षित आत्मा आवेगों में फँसकर कर्मों का बन्ध करती है और सुरक्षित आत्मा विकारजन्य या कर्मजन्य समस्त बंधनों को तोड़कर मुक्त हो जाती है।[27]

वस्तुतः जैन एवं अद्वैतवादी दोनों इस बात पर एकमत हैं – मोक्ष या मुक्ति जीवन का अभिन्न अंग है। बंधन एवं मोक्ष जीवन के दो पक्ष हैं। जहां अन्यान्य कारणवश जीव या आत्मा अपनी प्रकृतावस्था को विस्मृत कर बैठती है वहीं मोक्षावस्था में वह समस्त विकारों को नष्ट कर एक शुद्ध, विशुद्ध एवं शाश्वत स्थिति प्राप्त करती है।

कर्म, बंधन और मोक्ष

बंधन और मोक्ष का विचार कर्म के अभाव में निष्प्रयोज्य है। क्योंकि कर्म ही जगत् वैचित्र्य एवं दार्शनिक ऊहापोह का केन्द्रीय तत्त्व है। यह कर्म ही है जो जीव को बंधनयुक्त करता है और बंधनयुक्त जीव इसी कर्मबंधन से मुक्त होकर मोक्षावस्था की कामना करते हैं वस्तुतः कर्म क्या है और यह किस प्रकार बंधन एवं मोक्ष से संबद्ध है आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन पर दार्शनिकों ने पर्याप्त चिन्तन किया है और वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण भी माने जाते हैं।

कर्म का साधारण अर्थ क्रिया होता है जो मानसिक, वाचिक एवं कायिक रुपों में कार्यान्वित होता है। वेदों से लेकर ब्राह्मण काल तक वैदिक परम्रा में कर्म का क्रियापरक अर्थ ही दृष्टिगत है, परंतु जैन दर्शन में कर्म शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वैसे जैनों ने क्रिया को ही कर्म कहा है और क्रिया में जीव की शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक तीनों ही क्रियाओं को समाविष्ट किया है। वस्तुतः शरीर, मन, वाणी के निमित्त से जो कुछ भी किया जाता है उसे कर्म कहा गया है। शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक व्यापार को जैनों ने 'योग'[28] कहा है और इस व्याख्या का जो हेतु है वही कर्म है। आचार्य देवेन्द्रसूरि कर्म की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि जीव की क्रिया का जो हेतु है वही कर्म कहलाता है।[29]

वस्तुतः जैन परम्परा में क्रिया और क्रिया के हेतु या कारण दोनों को कर्म कहा गया है। इसके साथ–साथ यहाँ कर्म को पौद्गलिक माना गया है। और ये वे पुद्गल परमाणु हैं जो किन्हीं क्रियाओं के परिणाम स्वरुप आत्मा की ओर आकर्षित होकर (आस्रव) कालक्रम में अपना फल प्रदान करते हैं और आत्मा में विशिष्ट मनोभाव उत्पन्न करते हैं।[30] जैन मतानुसार आत्मा या जीव का बंधन स्वतः होता है। अतः इसका निमित्त कारण अवश्य होना चाहिए। बंधन के हेतु कषाय, राग, द्वेष, मोह आदि मनोभाव भी आत्मा में स्वतः उत्पन्न नहीं होते अपितु कर्म वर्गणा के विपाक के फलस्वरुप चेतना के सम्पर्क में आने पर ये तज्जनित मनोभाव बनते हैं। ये कर्म–पुद्गल प्राणी की क्रिया द्वारा उसकी ओर आकर्षित होते हैं। ये ही बंधन के मूल कारण हैं। इनसे विरत होना ही मोक्ष है।

आचार्य शंकर के इस संबंध में अपने विचार हैं। उनका मत है कि जीव कर्म से बंधन में है और ज्ञान से मुक्त हो जाता है। इसलिए पारदर्शी मुनिजन कर्म नहीं करते। यहाँ ज्ञान और कर्म को विद्या, अविद्या रुप माना गया है। कर्म अविद्या जन्य है। केवल अज्ञानी द्वारा कर्म किया जाता है। ज्ञानी के लिए कर्म का विधान नहीं है।[31] केवल त्रयी धर्म (वैदिक–कर्म) में लगे रहने वाले सकाम पुरुष आवागमन को प्राप्त होते हैं। अतः अज्ञान का पूर्णतया क्षय होने पर ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। यही मोक्ष परम कल्याणकारी और सत् चित् आनंद स्वरुप है। एक बार यह प्राप्त हो जाता है तो पुनः इसका नाश नहीं होता।

व्रत, दान, तप, यज्ञ, तीर्थ, आश्रम और कर्मयोग ये सभी स्वर्ग के हेतु हैं परन्तु अनित्य, अशुभ और अकल्याणकर भी हैं। ज्ञान नित्य, शुभ, शान्तिकारक और परमार्थरुप है। मनुष्य यज्ञ के द्वारा देवत्व प्राप्त करता है, दान से तरह तरह के भोग को प्राप्त करता है और ज्ञान से मोक्ष पद पाता है। पुरुष धर्म की रस्सी से ऊपर की ओर जाता है और पापरज्जु से अधोगति को प्राप्त होता है। परन्तु जो इन दोनों को ज्ञान रूप खड्ग से काट देता है वह देहाभिमान से रहित होकर शान्ति प्राप्त करता है।[32]

जैन और आचार्य शंकर के मत में यहाँ जो अंतर परिलक्षित है वह वस्तुतः निमित्त और उपादान को लेकर है। क्योंकि बंधन की दृष्टि से आत्मा की अशुद्ध मनोवृत्तियाँ (कशाय और मोह) और कर्म–वर्गणा के पुद्गलों में पारस्परिक संबंध है। वस्तुतः बंधन की दृष्टि से जड़ कर्म–पुद्गल बंधन के निमित्त कारण हैं और आत्मा उपादान कारण। लेकिन एकांत रूप से न तो आत्मा बंधन का कारण है और न कर्मपुद्गल ही, अपितु दोनों के पारस्परिक संयोग से आत्मा बंधन में आता है। इस तथ्य का भान एकमात्र ज्ञान से ही संभव है। क्योंकि बन्ध का कारण अविद्या अथवा अज्ञान है। बन्ध के प्रसंग में अविद्या को देखें तो जीव और ब्रह्म में द्वैत–बुद्धि रखना, आत्म में अनात्म का तथा अनात्म में आत्मा का अभिमान करना अज्ञान है। यही बन्ध है। इसी के कारण ब्रह्म रूप जीव को अपने परमार्थ स्वरूप का बोध नहीं होता और वह नित्य एवं विशुद्ध होते हुए भी स्वयं को संसरण शील एवं शुभाशुभ कर्मों से लिप्त मानता है। मनुष्य की अनेक प्रकार की तृष्णाओं एवं जन्म–मरणादि दुःखों का कारण यही अविद्या है।[33]

कर्म, ज्ञान और मोक्ष

मोक्ष आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान अनात्मज्ञान (अविद्या) की निवृत्ति है। अतः मोक्ष ज्ञानसाध्य है। परन्तु यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि कर्म की उपयोगिता क्या है ? क्या मोक्ष प्राप्ति में कर्म का कोई महत्त्व नहीं है ? यदि ज्ञान ही मोक्ष का साधन है तो सभी प्रकार के कर्म लौकिक, आध्यात्मिक (वैदिक) कर्म व्यर्थ हैं। इस संबंध में शंकर और जैन दोनों ही कर्म और ज्ञान की पारस्परिकता को उदाहरण के द्वारा समझाते हुए इनके वैशिष्टय का विवेचन करते हैं। आचार्य शंकर इस हेतु पारमार्थिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों का सहारा लेते हैं जबकि जैन मतावलंबी पारंपरिक रूप से इसका समाधान प्रस्तुत करते हैं। मोक्ष के लिए कर्म और ज्ञान दोनों आवश्यक हैं।

मोक्ष में विश्वास रखने वाले सभी मत यह मानते हैं कि अज्ञान बन्ध का कारण है तथा ज्ञान से मुक्ति मिलती है।[34] परन्तु विवादास्पद विषय है ज्ञान का स्वरूप। कतिपय दार्शनिक तत्त्वज्ञान से मोक्ष मानते हैं, किसी मत में प्रकृति पुरूष के विवेक ज्ञान से मुक्ति मिलती है। शांकर दर्शन में स्वरूप ज्ञान ही है तथा यही मोक्ष का प्रधान उपाय भी है। ब्रह्मसूत्रभाष्य में शंकर कहते हैं– ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्त मोक्ष का साधनभूत ब्रह्मज्ञान अविद्या का निवर्तक होकर दृष्टफल रूप से अभीष्ट है। विद्या द्वारा अविद्या की निवृत्ति करके जीव परम अनन्त प्राज्ञ आत्मा के साथ एकता को प्राप्त होता है।[35] विशुद्ध चित्त में ही शुद्ध–बुद्ध–मुक्त आत्मज्ञान संभव है। बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य में वे कहते हैं कि ज्ञान, मोक्ष के अज्ञानरूप व्यवधान की निवृत्ति करने वाला है।

इसलिए उपचारार्थ कहा जाता है कि मोक्ष ज्ञान का कार्य है तथा अविद्या का अपकर्ष और विद्या की पराकाष्ठा होने पर सर्वात्मभाव की प्राप्ति ही मोक्ष है।[36] यही नहीं, वे मानते हैं कि श्रुति और स्मृति भी कर्मबीज के दाह में ज्ञान की ही साधनता को स्वीकार करते हैं।[37]

पुनश्च शंकर के मौलिक एवं प्रधान मत में ज्ञानेतर उपायों की कोई महत्ता नहीं है किन्तु अन्य शास्त्रों एवं दर्शन सम्प्रदायों ने ज्ञानेतर उपायों का उल्लेख किया है तथा परम्परा भी उन्हें अनुभव सिद्ध मानती रही है, अतः समन्वय की भावना से व्यावहारिक स्तर पर अन्य उपायों को भी यथोचित स्थान दे दिया गया है। परन्तु इस प्रयत्न में उन्होंने ज्ञान से मुक्ति की अपनी मौलिक मान्यता को न बदलते हुए अन्य उपायों को उसका सहयोगी मान लिया है। ये उपाय ज्ञान की प्राप्ति में सहायक हैं, ज्ञान–प्राप्ति की प्रात्रता उत्पन्न करते हैं एवं प्रमुखरूप से स्वात्मज्ञान के पूर्व चित्तशुद्धि करते हैं। ज्ञान के सहायक उपायों में प्रमुख श्रवण, मनन, एवं निदिध्यासन है। इनके बाद कतिपय अन्य सहायक उपायों का उल्लेख भी किया गया है जो श्रवणादि के भी सहायक माने गए हैं – जैसे यज्ञ, शम–दमादि, यम--नियमादि, स्वाध्याय, ध्यान उपासना आदि।[38]

शंकर मत में जब सर्वकर्मसंन्यास को मुमुक्षु की एक महत्त्वपूर्ण योग्यता मानी गयी है तब मोक्ष के साक्षात् उपाय में कर्म का परिगणित करना एक अन्तर्विरोध ही होता है। परन्तु मोक्षोपाय में कर्म को स्थान न देने का उक्त कारण इतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना यह है कि इस मत में ब्रह्म निष्क्रिय है, शान्त है, कूटस्थ है। वह कोई अप्राप्त या नूतन वस्तु नहीं जो कर्म करके प्राप्त की जा सके। कर्म में गति, गन्ता और गन्तव्य का विधान है। परन्तु मुक्ति तो स्वानुभूति है जिसमें किसी गति एवं गन्ता की आवश्यकता नहीं और स्वात्म से भिन्न उसका कोई भी गन्तव्य नहीं है। मोक्ष के उपायों में कर्म की गणना न करने का इस मत में एक कारण यह भी है कि इस मतानुसार कर्म और ज्ञान राई और पर्वत की तरह परस्पर भिन्न हैं।[39] ज्ञान क्रिया नहीं जबकि कर्म स्पष्ट ही क्रिया है।

यहाँ शंकर मत के इस उपस्थापना में यह आपत्ति उठाई जाती है कि यदि कर्म, मोक्ष में साधन या उपाय नहीं है तो श्रुतियों में कर्म का जो गौरव–गान किया गया है उसका क्या औचित्य है। इस पर शंकर का समाधान है कि कर्म मुमुक्षु के चित्त को शुद्ध करते हैं, उसके मन को सुसंस्कृत बनाते हैं और सुसंस्कृत अथवा परिशुद्ध मन आत्म–ज्ञान में सहायक होता है।[40] उनके मत में शास्त्रों में जो कर्म का विधान किया गया है वह अज्ञ अधिकारी के लिए है। आत्मज्ञाननिष्ठा की योग्यता प्राप्ति के पूर्व अनात्मज्ञ अधिकारी पुरुष को कर्मयोग का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए। गीता के उपदेश का निष्कर्ष भी वे यही मानते हैं कि केवल तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति होती है, कर्म सहित ज्ञान से नहीं।[41] अतः उनके मत में ज्ञान ही प्रधान एवं साक्षात् उपाय है, कर्म नहीं।

कर्म प्रेरक है, शक्ति है, ऊर्जा है जो व्यक्ति को प्रतिपल सक्रिय एवं क्रियाशील रखती है। जीवमात्र में पाई जानेवाली विचित्रता और विषमता का कारण कर्म है। जीव मात्र की यह विचित्रता कर्मजन्य है, कर्म के कारण है। भगवद्गीता[42] में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यही बात कही है। यह एक ध्रुव सत्य है कि कर्म एक ऐसी शक्ति तथा अपूर्व ऊर्जा है जो व्यक्ति को प्रतिपल सक्रिय और क्रियाशील रखती है। संसार में कोई भी व्यक्ति निष्क्रिय जीवन नहीं जी सकता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ क्रिया करता ही रहता है और इसी क्रियाशीलता की संप्रेरक शक्ति कर्म है। कर्त्ता क्रिया के द्वारा जिसे विशेष रूप से प्राप्त करना चाहता है वह कर्म कहलाता है।

कर्म यद्यपि जड़ात्मक होता है लेकिन ज्ञान चेतनात्मक है। परन्तु चेतनात्मक ज्ञान में आवरणत्व लाने का कार्य जड़ात्मक कर्म करता है जिससे ज्ञान अपना पूर्ण प्रकाश प्रदान नहीं कर सकता। कर्म की क्षमता और ज्ञान की योग्यता इन दोनों के बीच जीव अपने जीवत्व को जीवित रखता हुआ जीवन प्रणाली में कर्म की क्षमता का समादर करता है और ज्ञान से जो योग्यता उसे प्राप्त होती है उससे उसका स्वयं का सम्मान तो बढ़ता ही है, लोक का भी कल्याण होता है।

शंकर ज्ञान और कर्म में अंधकार और प्रकाश के समान नितांत भेद मानते हैं। प्रकाश के सामने अंधकार का कोई महत्त्व नहीं है। ज्ञान होने पर कर्म सम्पादन व्यर्थ है, आत्मज्ञानी के लिए कर्म निष्प्रयोज्य है। यह पारमार्थिक दृष्टि है। व्यावहारिक दृष्टि में कर्म का प्रयोजन है। कर्म से ही चित्त–शुद्धि होती है और विशुद्ध चित्त में ही शुद्ध–बुद्ध–मुक्त आत्मज्ञान संभव है। अतः कर्म विशुद्धि का मार्ग है। जैन चिन्तकों का भी इस संबंध में में समान मत है। उनका यह मानना है कि चारित्र–शुद्धि के बिना मुक्ति कभी भी संभव नहीं है। क्योंकि चारित्र धर्म है। यह चारित्रधर्म तत्त्वज्ञान से पुष्ट होता है। आगम में इसे शील कहा गया है। शील के बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान के बिना शील की प्रवृत्ति नहीं होती। इन्द्रियों के विषयों से विरत् रहने वाले व्यक्ति ही शीलवान् होते हैं और वे ही निर्वाण प्राप्त करते हैं।[43]

केवल काम्य कर्मों को छोड़कर अन्य सभी वैदिक कर्म ज्ञान में सहायक होते हैं। कर्म से हीं शरीर की शुद्धि होती है। शरीर शुद्धि से ही चित्त–शुद्धि होती है। चित्त–शुद्धि से विशुद्धज्ञान (आत्मज्ञान) होता है। अतः शरीर को पाप रहित और चित्त को निर्मल करने के लिए कर्म आवश्यक है। परन्तु ज्ञान के पूर्व ही कर्म का महत्त्व है। आत्मज्ञान तो अंतिम सोपान है। आत्मज्ञानी के लिए कर्म का कोई प्रयोजन नहीं। ज्ञान की अग्नि तो सभी कर्मों को भस्म कर डालती है। अतः कर्म का प्रयोजन तो व्यावहारिक है, ज्ञान के उदय होने के पूर्व है। ज्ञानोदय के पश्चात् तो कर्म का अंधकार सर्वदा और सर्वथा समाप्त हो जाता हे। परन्तु ज्ञानोदय के लिए साधक को साधन चतुष्टय अथवा त्रिरत्न की साधना करनी पड़ती है।

नित्यानित्य वस्तुविवेक, इहमुत्रार्थभोग विराग, शमदमादिसाधन सम्पत् और मुमुक्षत्व, ये साधन चतुष्टयरूप हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र त्रिरत्न के नाम से जाने जाते हैं। इनकी सहायता से साधक मोक्ष का अधिकारी बनता है। साधन चतुष्टय आत्मा और ब्रह्म के द्वैतभाव को नष्ट करता है। साधक ब्रह्मस्वरूप बन जाता है। त्रिरत्न स्वयं मोक्षस्वरूप है और यह आत्मा के अनंत चतुष्टय का प्रकाशक है। अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत आनंद एवं अनंतवीर्य ये ही शुद्ध आत्मा का अनंत चतुष्टयात्मक स्वरूप है। इस हेतु ज्ञान और कर्म समान रूप से फलदायी एवं उपादेय है।

सदेहमुक्ति, विदेहमुक्ति एवं मोक्ष

मोक्ष सदेहमुक्ति है अथवा विदेहमुक्ति अथवा दोनों यह दार्शनिकों का महत्त्वपूर्ण ऊहापोह है और इस संबंध में जैन एवं शंकर द्वारा प्रस्तुत विचार अवलोकनीय है। वेदान्ती यद्यपि विदेहमुक्ति को ही प्रमुखता प्रदान करते है तथापि सदेहमुक्ति भी उनके लिए महत्त्वपूर्ण है। जैन भी विदेहमुक्ति को ही सर्वोतम मानते हैं लेकिन इन्होंने भी सदेहमुक्ति को मोक्ष विचार में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। यह मोक्ष विचार को लेकर जैन एवं शंकर मत में अवश्य मत साम्य दृष्टिगोचर हो सकता है परन्तु इस मत साम्य में भी प्रर्याप्त अंतर है। दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि मोक्ष प्राप्त व्यक्ति

का शरीर प्रारब्ध कर्मानुसार विद्यमान रहता है, परन्तु वह व्यक्ति संसार के प्रपंचों से मुक्त रहता है। मोह उसे सताता नहीं है, शोक उसे अभिभूत नहीं करते, सांसारिक विषय के लिए उसे तृष्णा नहीं होती। यह जीवितावस्था में ही मुक्ति है। शंकराचार्य इसे जीवन्मुक्त कहते हैं जबकि जैन परंपरा में इसे तीर्थंकर अथवा जिन कहा गया है। प्रारब्ध कर्मों के समाप्त होते हीं उसका शरीर छूट जाता है और यही शंकर के लिए विदेहमुक्ति की अवस्था है जबकि जैन इसे सिद्धावस्था के नाम से जानते हैं।

जीवन्मुक्त एवं विदेहमुक्त मोक्ष संबंधी यह विभेद यद्यपि शांकर मत के अनुकूल नहीं है तथापि वे इस प्रकार के विभाजन का औचित्य परिस्थितिवशात् एवं व्यावहारिक मानते हैं। शांकर मत में जीवन्मुक्ति का अर्थ जीव में सांसारिकता अथवा द्वैतप्रपंच का अभाव है क्योंकि इस मत में जगत् हेय है। परन्तु जैन मत में मुक्त पुरूष संसार को हेय नहीं समझता अपितु इसे कर्म मुक्ति का आधार मानता है। इसीलिए वह इसके प्रति विशेष प्रकार की आत्मीयता का भाव रखता है। वेदान्त में जगत् के प्रति यह आत्मीयता संभव नहीं है क्योंकि उसमें जगत् को हेय एवं कुत्सित कहकर 'नेति नेति' के द्वारा पहले ही उसका निराकरण कर दिया जाता है। परंतु दोनों इस बात पर एकमत हैं कि मुक्त पुरूष शुभाशुभ कर्मों के भेदों से ऊपर उठ जाता है। इसलिए दोनों ही मत मुक्त के लोक व्यवहार को यन्त्रवत् कहते हैं।[44] दोनों ही मत मुक्त पुरूष के पुनर्जन्म का निषेध करते हैं क्योंकि वह फलों की आशा के बिना कर्म करता है।

आचार्य शंकर जीवन्मुक्त का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि ज्ञानी जीवितावस्था में ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है। सर्प के उतारे हुए केंचुल के समान जीवन्मुक्त का शरीर पड़ा रहता है। जीवन्मुक्त शरीर में स्थित वह आत्मा अशरीर है, अमृत, प्राण, और ब्रह्म है। स्वयं प्रकाश है और वस्तुतः नेत्रविहीन होते हुए भी सनेत्र के समान है, श्रोत्रहीन भी सश्रोत के समान है, वाणीरहित भी वाणीसहित सा है, मनरहित भी मनसहित सा है।[45] जीवन्मुक्त का भोग देहपात से पूर्व तक निर्लिप्त पुरूष की फलरहित क्रिया मात्र है। जैनों की मान्यता है कि जीवन्मुक्त प्रारब्धकर्मानुसार शरीरधारण अवश्य किए हुए है परन्तु उसका कर्म साम्परायिक न होकर ईर्यापथिक है। मोह–ममत्व, राग–द्वेष, तृष्णा–कषाय से मुक्त होन के कारण कृत कर्म उसे बांधते नहीं हैं। स्वभावतः कर्म उनकी ओर आते अवश्य हैं लेकिन उसी क्षण निर्जरित भी हो जाते हैं। साम्परायिक कर्म सकषाययुक्त होने के कारण बंधनकारी होते हैं जबकि ईर्यापथिक कर्म कषायमुक्त होते हैं और इसीलिए ये बंधनकारी नहीं होते हैं।

शंकर पूर्ण मोक्ष में शरीर और इन्द्रियों का अभाव मानते हैं।[46] जीवन्मुक्त देहपात के बाद ब्रह्मैक्यरूप जिस मोक्ष की अनुभूति करता है वह मोक्ष पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाशतुल्य, सर्वव्यापी है। यह सभी विकारों से रहित, नित्य–तृप्त निरवयव और स्वयं प्रकाश स्वभाव वाला है। इसमें धर्माधर्मादि नहीं रहते और इसका कालत्रय से कोई संबंध है। यह अशरीरी नामक मोक्ष है अर्थात् विदेहमुक्ति है।[47] सदानंद इसी को आनन्दैकरस से पूर्ण समस्त भेदों से रहित अखंड ब्रह्म में अवस्थिति वाला परम एवं पूर्णकैवल्य मानते हैं।[48] जैन परम्परा में इसे सिद्धजीव कहा गया है जो समस्त घाती–अघाती कर्मों से मुक्त होकर सिद्धशिला पर प्रतिष्ठापित होता है।[49]

सन्दर्भ –

1. पुरुषसूक्त, 10.90.2
2. बृहदारण्यक उपनिषद, 4.4.19
3. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1.1.9
4. वही. 1.1.2 ;2.2.2; 2.1.22
5. कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपचं जगत, कारणं परं ब्रह्म । वही, 2.1.12
6. सर्ववेदान्तेशुचश्वरहेतुका एव सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते, वही. 3.2.41
7. वही., 2.4.20
8. वही., 1.4.23
9. वही., 1.4.23
10. व्याख्याप्रज्ञप्ति, 13/4
11. प्रवचनसार, 2/36
12. अधिष्ठानसत्तातिरिक्ताया आरेपितसत्ताया अनंगीकारात्। वेदान्त परिभाषा, प्रथम परिच्छेद
13. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1.1.23; 1.4.23; गीताभाष्य 13.14; मांडूक्यकारिकाभाश्यशंकर, 3.28; 1.6
14. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1.4.23
15. योगशास्त्र, 4/106; लोकप्रकाश, 6
16. स्थानांगसूत्र, 163, 286, 498, 600, 204
17. आत्मानि एवविद्यानिवृतिः। शांकरभाश्य बृह.उप., 1.4.10
18. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकशाययोगबन्धहेतवः। तत्वार्थसूत्र, 8/1
19. रागो य दोसो नि य कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति– उत्तराध्ययनसूत्र, 32/7
20. ब्रह्मसूत्र शांकरभाश्य, 6.3.42
21. भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन : एक तुलनात्मक अध्ययन , अशोक कुमार लाड, म. प्र. हिन्दी अकादमी, भोपाल, 1973 पृ. 156
22. मोक्षज्ञान कार्यमित्युच्यते। बृहदा. उप शांकर भाष्य, 3.1.13
23. स्वात्मन्यवस्थान मोक्षः। तैत्ति. उप. भा. 1.11
24. अविद्यापगमयात्रत्वात् ब्रह्मप्राप्तिफलस्य। बृहदा. उप. शंकर भाष्य, 1.4.10
25. नहि क्रियानिर्वृनार्ध्यो नित्यो दृष्टः नित्यश्च मोक्षाध्युपगम्यते। वही. 4.4.6
26. मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेव आत्मज्ञानस्य फलम्। ब्रह्मसूत्र शांकरभाश्य, 1.2.4
27. अप्पाहु खलु सययं रक्खियत्वो सव्विदिएहिं सुसमाइएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ सुरक्खिओ सव्वदुक्खाण मुच्चई। दशवैकालिक चूलिका, 2/16
28. कायवांग्मनः कर्म योगः। तत्वार्थसूत्र, 6/11
29. कीरइ जिएणं हेउहिं, जेण तो भण्णए कम्मं । कर्मग्रंथ, प्रथम भाग
30. दर्शन और चिन्तन, पं. सुखलाल सिंघवी, पृ. 225
31. भारतीय दर्शन, बी.एन.सिंह, स्टूडेन्टस एंड फ्रेण्डस, बनारस 1984 , पृ. 502–3
32. धर्मरज्वा ब्रजेदृध्वे पापरज्वा ब्रजेदधः।
द्वयं ज्ञानसिना छित्वा विदेहः शांतिमृच्छति।। श्वेता.उप. शां.भा., 1.1
33. कठ. उप., 2.5 ; ब्रह्मसूत्र शां. भा., पृ. 162–6
34. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 2.1.11
35. वही., 2.1.4 ; 3.2.26
36. द्र.–बृह.उप.भाष्य , 3.2.13 ; 4.3.20
37. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 3.3.32

38. वेदान्तसार, 182–192; ब्रह्मसूत्र षांकरभाश्य 3.4.27
39. शंकर, गीताभाष्य, 18.55
40. केनोपनिषद् शांकरभाश्य 1.1 ;तैत्ति. उप. भा. 1.11
41. शंकर, गीताभाष्य, 3.16
42. भगवद्गीता, 3.6
43. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
 मोहक्खोह विहिणो परिणामो अप्पणो हु समो।। प्रवचनसार, 1/7
44. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1.1.4
45. तद्यथाघहिशल्वयनोवल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरे शेते। सचक्षुरचक्षुरिव ,सकर्णाअकर्ण इव सवागद्यवागिव समना अमना इव ,सप्राणोघ्राण इव इति च– ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य ,1.1.4
46. ब्रह्मसूत्र शांकरभाश्य, 4.4.10
47. वही., 1.1.4
48. न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते 'विमुक्तश्च विमुच्यत' इत्यादिश्रुतेः। वेदान्तसार, 226
49. णट्ठट्ठ लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
 पुरिसायारो अप्पा सिद्वो झाएह लोयसिंरत्थो।। बृहद्द्रव्यसंग्रह, 5

द्वैतवेदान्त के विकास में व्यासतीर्थ का अवदान

गोरखनाथ मिश्र

वेदान्त के तात्पर्यावधारण के लिए उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता की रचना हुई जिन्हें प्रस्थानत्रयी कहा गया क्योंकि परवर्ती वेदान्त दर्शन के सभी प्रणालियों का उद्गम इन्हीं में परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से पाया जाता है। वैदिक साहित्य में, विशेषतः पुरूष सूक्त और नासदीय सूक्त में, एक ऐसी अमूर्त, अनन्त, अद्वितीय, क्रियात्मक और पूर्ण सत्ता की संकल्पना की गयी जो समस्त अस्तित्व का अप्रस्फुटित बीज है। प्रस्थानत्रयी ने इसे ब्रह्म की संज्ञा दी। यह ब्रह्म न तो विज्ञानवादियों का ज्ञाता है और न ही यथार्थवादियों का ज्ञेय है। यह दोनों का समवेत मूल है। ज्ञाता और ज्ञेय उस सत्ता के दो ज्ञानमीमांसीय अवियोज्य पक्ष हैं।

प्रस्थानत्रयी का ब्रह्म अमूर्त है क्योंकि इसे इन्द्रियातीत बताया गया है। 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागम्युद्यते। तदेव ब्रह्मत्वंविद्धि नेदं यदिदमुपासते।[1] अद्वैतवादियों ने ब्रह्म को अमूर्त तो बताया, किन्तु इन्होंने उसे क्रियाविहीन कर दिया जो प्रस्थानत्रयी के मंतव्य से विपरीत है। उपनिषदों में खासकर तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित पंचकोश का सिद्धान्त इस बात को सम्यक् रूप से सिद्ध करता है कि उपनिषद्, ब्रह्म को क्रियाशील और गतिशील मानते हैं। जिस ब्रह्म से जड़–अजड़ जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है वह क्रिया–विहीन या स्थिर कैसे हो सकता है। यतो इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति.... यत् तद् ब्रह्म।[2]

ब्रह्मसूत्र के 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र में स्पष्ट है कि जो ब्रह्म जगत् की रचना, उसका धारण, पोषण तथा संचालन करता है और फिर अपने में विलीन कर लेता है वह क्रियाशील, गतिशील और सर्वशक्तिमान अवश्य होगा।[3] श्वेताश्वतर में भी कहा है कि ब्रह्म अद्भुत बल, क्रिया, ज्ञान और शक्ति से संपन्न है – परास्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च।[4] माण्डूक्य में कहा है कि –एषयोनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।[5] यही नहीं कि ब्रह्म केवल निमित्त कारण, अपितु जगत् का उपादानकारण भी है – तत्तु समन्वयात्। 'ऐसी स्थिति में अद्वैत वेदान्त की यह मान्यता कि ब्रह्म निर्गुण या क्रिया–विहीन है, श्रुतियों के मत के विरूद्ध है।'

श्रुतियों की सत्ताविषयक अवधारणा की अनेक व्याख्यायें हुई हैं। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता उस सत्ता को अपने–अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं जो लगभग एक रूप हैं। किन्तु उसी सत्ता की व्याख्या जब हमारे आचार्यों ने की तो उनमें परस्पर विरोध उत्पन्न हो गया। आचार्यों ने श्रुतियों की सत्तामीमांसा को अपने परिवेश, परिस्थिति और रुचियों के अनुरूप व्याख्यायित किया। गौड़पाद और उनके अनुयायी बौद्धदर्शन से प्रभावित और भयभीत होकर महायान बौद्ध मत के रंग से ब्रह्म की अवधारणा को रंगकर उसे शून्य बना दिया। इस पूर्ण विज्ञानवादी व्याख्या में 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' हो गया और उसके साथ ही ज्ञेय जगत् के आत्मतत्त्व और तज्जनित मूल्य, व्यावहारिक जीवन, नैतिक, कर्म, धर्म, पूजा–पाठ, प्रार्थना, पाप–पुण्य और तमाम सामाजिक संबंध भी निरर्थक हो जाते हैं। इस सदोष, श्रुति–विरोधी सत्तामीमांसीय अवधारणा में पूर्ण सन्यास,

---

सेवानिवृत्त आचार्य, दर्शन विभाग, ढेम्पी कॉलेज, गोवा

समाज त्याग, अनाशक्ति, नैराश्य को बल मिला जिससे सार्थक जीवन से विरक्ति पैदा हुई। समाज संरचना अशक्त हुई और देश सदियों तक गुलाम रहा। यह सब श्रुतियों के मन्तव्य के विपरीत था। श्रुतियों में न तो जगत् को माया या मिथ्या कहा गया है और न ही ब्रह्म को अचल, निर्गुण या शून्य।

औपनिषदिक ऋषि सामान्य मनुष्य होते थे – गाँवों, नगरों और घरों में रहते थे। वे जो तत्त्वविद्या दिए वह पारलौकिक, पलायनवादी और आरण्य दर्शन नहीं है ऋषि जगत् को मिथ्या नहीं मानते थे। उनका एक स्वस्थ जीवन–दर्शन था है। जिसमें पलायनवाद, नैराश्य और सन्यास के लिए तनिक भी स्थान नहीं था। श्रुतियाँ इस बात पर बल देती हैं कि ब्रह्म कोई अगम्य–अज्ञेय और अजूबा नहीं, बल्कि विश्वाधार होने के कारण वह ज्ञेय और प्राप्य है। तत् और इदम् एक ही सत्ता के दो अभिन्न पक्ष हैं। तत्त्वमसि और अहं ब्रह्मास्मि अदि महावाक्यों का यही संदेश है। श्रुतियों के ऋषि कर्मठ और पराक्रमी होते थे, वे निवृत्ति की उपेक्षा और प्रवृत्ति पर बल देते थे। वेदों में नरक, मोक्ष और सन्यास की परिकल्पना कहीं भी नहीं मिलती। वैदिक ऋषि इस जीवन को समृद्ध करने के लिए देवताओं से प्रार्थना करते हैं। वे सामाजिक एकता और परस्पर सहयोग को महत्त्व देते थे। उनका उद्घोष है – सः नौ अवतु सः नो भुनक्तु, सःवीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीत–मस्तुमाविद्विषाव है।। पुनः उनकी अभीप्सा है –सं गच्छध्वं सं वादध्वं, सं वो मनांसि जानताम। देवाभागं यथापूर्वे संजानाना उपासते। समानी वा आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तुवोमनो, यथा वः सुसहासति।[7] ऋषि देवताओं से राष्ट्र की उन्नति के लिए प्रार्थना करते हैं – इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभागाय, विश्व येनमनुमदन्तु देवाः। वे अपने और समाज के कल्याण के लिए प्रयास में रत रहते थे–ओऽम् स्वस्तिनः इन्द्रो वृद्धश्रवा, स्वस्तिनः पूषाविश्वेदेवा। ऋषि परा अपरा स्थातुस–चरतम्, अमृतम्–मर्त्यम् दोनों को ही सत् मानते थे। सभी जड़ अजड़ एक ही सत्ता के व्यक्तिकृत रूप हैं।

इसीलिए द्वैत वेदान्तियों ने जगत् को मिथ्या बताने वाले और सन्यास तथा मोक्ष को बढ़ावा देने वाले अद्वैतीदर्शन को श्रुति–विरोधी और प्रच्छन्न बौद्ध बताकर श्रुत्यर्थ को सही अर्थ में प्रस्तुत करने का श्लाघ्य प्रयास किया। मध्वाचार्य और उनके शिष्य जयतीर्थ और व्यासतीर्थ आदि ने अपने पैने तर्कों से प्रस्थानत्रयी की अद्वैती व्याख्या को खंडित किया। मध्वाचार्य ने द्वैत वेदान्त की उपस्थापना की जिसकी सत्ता मीमांसा में दो प्रकार की सत्ताओं की अवधारणा की गई–स्वतंत्र और अस्वतंत्र। प्रथम ब्रह्म और द्वितीय में जड़–अजड़ जगत् आते हैं। अभेद और भेद दोनों ही सत् है। भेदात्मक जगत् को अस्तित्ववान बताकर भेद प्रतिपादक श्रुतियों को सम्मान देते हुए द्वैतवेदान्ती ईश्वर, नैतिक कर्मधर्म की सार्थकता को स्वीकार करते हैं जो अद्वैत वेदान्ती व्याख्या में निरर्थक हो जाते हैं। द्वैती समीक्षात्मक यथार्थवाद में मनुष्य के ज्ञानात्मक पक्ष के साथ उसके संवेगात्मक और संकल्पात्मक पक्ष को भी समान महत्त्व मिलता है।

सत्ता के मानदण्ड – द्वैतवेदान्ती यथार्थवाद में सभी ज्ञान साक्षी प्रत्यक्ष होने के कारण वेद्य होते हैं। इसका प्रथम मानदण्ड है कि जो कुछ ज्ञेय है वह सत् है –प्रमितिविषयत्व। परन्तु कभी–कभी भ्रम और विभ्रम भी होते हैं जिनमें ज्ञेय अस्तित्ववान नहीं होता। इसलिए द्वैतवेदान्ती देशकाल सम्बन्धित्व का दूसरा मानदण्ड प्रस्तुत करते हैं – अहि–रज्जु के भ्रम में सर्प का संबंध देश और

काल से नहीं होने के कारण सर्प असत् है। सत्ता के ये दोनों मानदण्ड आवश्यक हैं पर पर्याप्त नहीं। अतः यथार्थवाद में तीसरा मानदंड प्रस्तुत किया जाता है जिसे अर्थक्रियाकारित्व कहा जाता है। भ्रम का जल प्यास नहीं बुझाता। इसलिए यह असत् है।

इसके अलावा द्वैती यथार्थवाद में 10 पदार्थ बताये गये हैं – ये हैं द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, व्यष्टि, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। विष्णु, लक्ष्मी, जीव, देश, काल, प्रकृति और उसके आठ रूप– ब्रह्माण्ड, अविद्या, शब्द, ध्वनि, संस्कार और प्रतिबिम्ब ये 20 द्रव्य हैं।

मध्व ने पराधीनत्व और भेद के सिद्धान्त प्रस्तुत किए जिनसे उन्होंने जगत् की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया। प्रथम सिद्धान्त के आधार पर द्वैती यथार्थवाद और पुनः समीक्षात्मक यथार्थवाद की सत्तामीमांसा में व्यासतीर्थ का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इनका जन्म मैसूर राज्य के कन्नूर गाँव में सन् 1460 में हुआ। इनके पिता कश्यप गोत्रीय रलण्णा सुभति और माँ अकम्मा थी। ब्रह्मण्यतीर्थ से दीक्षा लेकर कांची में इन्होंने शिक्षा प्राप्त की। मुलवागल के श्रीयादराज के मार्गदर्शन में इन्होंने द्वैत वेदान्त का विशेष परिशीलन किया। फिर कृष्णदेवराय के कुल देवतार्थ के रूप में रहते हुए विजयनगर में मार्च सन् 1539 में देहत्याग किया।

व्यासतीर्थ दर्शन, धर्मशास्त्र, संस्कृत व्याकरण और कन्नड़ के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनके नौ ग्रन्थों में न्यायामृत, तर्कताण्डव और चन्द्रिका विशेष दार्शनिक महत्त्व के हैं। भेदोज्जीवन, खण्डनत्रय और तत्त्वविवेक पर इनकी टीकायें द्वैती यथार्थवाद को संबल प्रदान करती हैं। चार अध्याय वाले न्यायमृत में व्यासतीर्थ ने विज्ञानवादी दर्शन का खण्डन कर यथार्थवाद को तर्क–प्रतिष्ठित किया। अद्वैती अवधारणाओं जैसे जगन्मिथ्यात्व, सत्ता की क्रमबद्धता, अध्यास, अनिर्वचनीयत्व आदि को व्यासतीर्थ ने अतार्किक और श्रुति–विरोधी बताया। मिथ्यात्वानुमान के चार हेतुओं का खण्डन करते हुए व्यासतीर्थ ने प्रत्यक्ष की गरिमा और अनुमान एवं आगम से उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की। वाचस्पति द्वारा प्रयुक्त मीमांसीय 'अपच्छेदन्याय' का खण्डन कर, व्यासतीर्थ ने दृष्टि–दृष्टि, एकजीवाज्ञानवाद, भावरूपाज्ञानवाद, आदि के साथ भामती और विवरण के मतों का भी खण्डन किया। अखण्डार्थ की आलोचना करते हुए ब्रह्म के निर्गुणत्व, निराकारत्व, स्वप्रकाशत्व और अवाच्यत्व को श्रुति और तर्क विरोधी बताते हुए, व्यासतीर्थ ने सेश्वर वेदान्त को बल दिया। उन्होंने दिखाया कि भेद, सत्य, ज्ञेय और कथ्य हैं। उन्होंने मध्व के पंचभेदों का समर्थन प्रमाणत्रय से किया और बताया कि अद्वैती विज्ञानवाद में ब्रह्म के उपादान और निमित्त कारण की अवधारणा निरर्थक है।

व्यासतीर्थ के अद्वैती मोक्ष की अवधारणा को अनुपयोगी बताया। मोक्ष अविद्या का अन्त नहीं है और निर्गुण आनन्द मानव को मोक्षार्थ प्रेरित नहीं कर सकते। विशिष्टाद्वैत के विपरीत व्यासतीर्थ ने मोक्ष की क्रमबद्धता को समर्थित किया। उन्होंने कहा कि साधनों में प्रयुक्त श्रवण मनन, धार्मिक शिक्षा और आत्मानुशासन में श्रुतियों का विशेष महत्त्व है।

व्यासतीर्थ ने मध्व, जयतीर्थ और विष्णुदास के द्वैती यथार्थवाद को सशक्त तार्किक आधार और विस्तार दिया। अद्वैतियों द्वारा दी गयी असत्यता की पांचों परिभाषाओं का खण्डन करते हुए चित्सुख, आनन्दबोध आदि की दृश्यत्व, जड़त्व की व्याख्याओं को परस्पर व्याघाती

सिद्ध किया। असत्य की नूतनतम परिभाषा ''ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वम' के संबंध में, व्यासतीर्थ ने प्रश्न किया – क्या जगत् पूर्णतः असत्य है – स्वरूपेण निषेध प्रतियोगीत्वेन् या केवल पारमार्थिक रूप से असत्य है? पारमार्थिकत्वाकारेण वा – उन्होंने कहा कि प्रथम विकल्प में अद्वैती बौद्ध मत के शून्यवाद से बंध जायेंगे। द्वितीयावस्था में, सत्ता का व्यावहारिक और पारमार्थिक विभाजन असिद्ध होने से, पारमार्थिक दृष्टि से संसार को असत्य कहना अनुचित होगा।

अद्वैती सत्तामीमांसा में जगत् को पूर्णतः असत्य बताया है। स्वरूपेण त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्वस्य प्रपंचे शुक्तिरूप्ये चांगीकारात् – (अद्वैतसिद्धि) –व्यासतीर्थ का कथन है कि ऐसी अवस्था में मिथ्यात्व का भी पूर्णतः अभाव हो जायगा – स्वरूपेण त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्वे, अत्यन्तासत्वापातात्। अद्वैती दार्शनिकों की असत्य संबंधी अन्य परिभाषाओं में भी यही परिणाम होगा – इति पक्षत्रयेऽत्यन्तासत्वं स्यादनिवारितम्। इसके साथ ही, यह अद्वैत के इस मत के विपरीत है जिसमें वे कहते हैं कि भ्रम में असत्य उपस्थित होता है और सत्य का निषेध होता है। व्यासतीर्थ ने अद्वैतवेदान्त की प्रतिकर्म व्यवस्था, कर्तृत्वाध्यास, दृष्टि–सृष्टि, देहात्मैक्याध्यास, सत्तात्रैविध्यम्, बिम्ब प्रतिबिम्बैक्य, मुक्तौपरम साम्यम्, जीव–मुक्ति, प्रपत्ति आदि का तार्किक खण्डन किया। व्यासतीर्थ ने द्वैतियों और अद्वैतियों के बीच एक वाद विवाद चलाया जो सदियों तक चलता रहा। अपने 'न्यायामृत' ग्रन्थ में व्यासतीर्थ ने न्याय कुसुमांजलि, बौद्धधिक्कार, पदमंजरी, ब्रह्मसूत्र–शांकरभाष्य, वृहद्भारती (सुरेश्वर) इष्टसिद्धि महाभाष्य, खण्डनखण्डरवाद्य, माध्यमककारिका, न्यासनय विवेक, चितसुखी, आनन्दबोध, सिद्धित्रय, विवरण, वेदान्तकौमुदी आदि पर भी विचार किया।

अपने दूसरे ग्रन्थ 'तात्पर्यचन्द्रिका' में व्यासतीर्थ ने ब्रह्मसूत्र पर शांकर, रामानुजीय एवं माध्व भाष्यों का तुलनात्मक विवेचन किया तथा भामती, पंचपादिका, विवरण, कल्पतरू, श्रुतप्रकाश, अधिकरण सारावली, तत्त्वप्रकाशिका और न्यायसूत्र के दार्शनिक सिद्धान्तों की समीक्षा की। इससे व्यासतीर्थ ने माध्वयथार्थवाद का मण्डन तथा अन्य दर्शनों का तार्किक पद्धति से आलोचनात्मक खंडन किया। 'सूत्रे भाष्येऽनुभाष्ये च सन्नयाय विवृतौतथा। टीकासु च यदस्पष्टं तच्च स्पष्टीकरिष्यते।। व्यासतीर्थ ने पूर्वमीमांसान्याय और पाणिनी के व्याकरण के सिद्धान्तों का उद्धरण देते हुए द्वैत वेदान्त की संपुष्टि की। साथ ही भास्कर, कैयट, यादव प्रकाश, कल्पतरू, महाभाष्य, न्यास, पदमंजरी, पंचपादिका, भामती, ऋग्वेदानुक्रमणिका, कात्यायन, शंकर, श्रीभाष्य, तंमसार, विवरण, श्लोकवार्तिक आदि का भी उद्धरण और परीक्षण कर व्यासतीर्थ ने सिद्ध किया कि द्वैतवेदान्त का यथार्थवाद श्रुति सम्मत और तर्क समर्थित है।

'तर्क ताण्डव' में व्यासतीर्थ ने मध्वाचार्य के तीन प्रमाण, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम की विशद व्याख्या की और न्यायवैशेषिक प्रमाणों को सदोष बताया। उदयन की कुसमांजलि, गंगेश उपाध्याय के तत्त्वचिन्तामणि, तथा पक्षधर, प्रगल्भ, यज्ञपति आदि के भाष्यों में प्रयुक्त न्याय को त्रुटिपूर्ण सिद्ध करते हुए द्वैती ज्ञानमीमांसा को न्यासतीर्थ ने ठोस आधार दिया। प्रमाण्यवाद, वेदापौरुषेयत्ववाद, ईश्वरवाद, समवायवाद, निर्विकल्पकवाद के साथ मध्व के दस पदार्थों में एक 'शक्ति' की यथार्थवादी व्याख्या करके व्यासतीर्थ ने मध्व मत को आगे बढ़ाया। साथ ही जाति,

विधि, शब्दों की अर्थात्मक शक्ति, संयुक्ताक्षर और अभाव के अर्थ को स्पष्ट किया। व्याप्ति, पक्षता, उपाधि, परामर्श, तर्क, अनुमान एवं तर्काभास को व्यासतीर्थ ने सुगम रूप से प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि संयुक्त कथनों में उपसंहार या अन्तिम कथन की अपेक्षा उपक्रम या प्रारम्भिक कथन अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। एवं सर्वत्र लिंगाच्घृतेरिव, उपक्रमादुयसंहारस्य, उत्सर्गतो बाधाकाभावे बलवत्तभूहयम् – इसी आधार पर व्यासतीर्थ ने शंकर, कुमारिल आदि मीमांसकों के विभिन्न अधिकरणों जैसे वैश्वानराधिकरण, श्येनाधिकरण, वेदोपक्रमाधिकरण आदि को अमान्य किया क्योंकि ये विषयवाक्य के निहितार्थ के विरूद्ध हैं।

व्यासतीर्थ के अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ मन्दारमंजरी और भेदोज्जीवन हैं। प्रथम में मायावाद, उपाधि, प्रपंचमिथ्यात्व आदि अद्वैती अवधारणाओं का सशक्त तार्किक खण्डन तथा माध्व यथार्थवादी सत्तामीमांसा का मंडन है। दूसरे ग्रन्थ में व्यासतीर्थ ने नये तर्क देकर भेद की अवधारणा को सुपुष्ट किया है। उनके अनुसार प्रमाणमात्र तीन हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तथा तीनों ही भेद को सिद्ध करते हैं। द्वैतीयथार्थवाद में भेद की प्रतिष्ठापना के लिए धर्मी स्वरूप भेदवाद को अपनाया गया है और इसे 'साक्षी' के प्रत्यय से समर्थित किया गया है।

जगन्मिथ्यात्व – द्वैती यथार्थवाद को सशक्त बनाने के लिए व्यासतीर्थ ने साक्षी द्वारा प्रमाणित इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर आधृत अनुभव की वैधता को सिद्ध किया। उन्होंने सत्ता की परिभाषा को सामान्य अनुभव सम्मत बनाया–प्रत्यक्ष योग्य सत्वनिरुक्ति–विष्णुदास ने कहा था कि जगत् उसी तरह सत् है जैसे ब्रह्म–यादृशः ब्रहमणः सत्त्वं तादृशं स्याज्जगत्यपि। इससे आगे बढ़कर व्यासतीर्थ ने कहा कि यदि ब्रह्म की सत्ता अनिर्वचनीय है तो जगत् की सत्ता को भी अपरिभाष्य कहा जायेगा। सत्वानिर्वचनेऽपि तद्वदेव स्वरूपपारमार्थोपपत्तेः। यदि ब्रह्म की सत्ता असत्ता से भिन्न और निरुपाधिक है तो जगत् के बारे में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। ब्रह्म की सत्ताको अपरिच्छिन या असीमित कहने में अतिव्याप्ति दोष होगा। शुक्ति में अध्यसित रजत यद्यपि सीमित है तो भी अद्वैती उसे असत्ता या अभाव नहीं मानते। बौद्धों का शून्य और हिरण श्रृंग असीमित हैं तो भी वे सत्य नहीं कहे जा सकते। अतः सत्ता की परिभाषा केवल देशकालादि की सीमा से रहित के रूप में करना व्यर्थ है। व्यासतीर्थ सत्ता की व्यावहारिक परिभाषा देते हैं – त्रिकालसर्वदेशीय निषेधाप्रतियोगिता सत्तोच्यते। सत्ता वह है जो त्रिकाल और सर्वदेश के निषेध का प्रतियोगी हो। अभाव और अध्यसित पदार्थ जैसे सर्प ऐसे निषेध के प्रतियोगी हैं अर्थात् किसी भी देश या काल में वे सब नहीं हैं। हमारा साक्षी प्रत्यक्ष सत्ता या उसके निषेध को पकड़ने में सर्वथा सक्षम है। यदि ऐसा नहीं है तो हम मिथ्यात्व और भ्रम को भी नहीं जान सकते। साक्षी प्रत्यक्ष का ज्ञान सर्व संदेह के परे है। कम से कम बाधक ज्ञान में त्रैकालिक निषेध की अनुपस्थिति को जानने की क्षमता तो मान्य होनी चाहिए।

व्यासतीर्थ अद्वैतियों की मिथ्यात्व की अवधारणा को अस्पष्ट बताते हैं। जब एक अनुभव को दूसरे परवर्ती अनुभव से असत्य बताते हैं तो हम यह कैसे माने कि दूसरा परवर्ती अनुभव सत् है। इसके अतिरिक्त दूसरा अनुभव प्रथम अनुभव को दो ढंग से सदोष सिद्ध कर सकता है, एक सदोष अनुभव का विषय उस काल में असत्य था, दूसरा वह विषय उस अनुभव के पूर्व या पश्चात्

असत्य था। इस दूसरी अवस्था में कम से कम अनुभव के समय तो विषय को सत्य मानना पड़ेगा। हाँ, यह कहा जा सकता है कि हर वह वस्तु अनित्य है जो प्रत्येक देशकाल में नहीं रहती। इस अर्थ में मिथ्यात्व मात्र अनित्यता है लेकिन अद्वैती मिथ्यात्व को इस अर्थ में नहीं लेते। उनका कहना है कि प्रथम अनुभव को अवैध बताने वाला दूसरा अनुभव यह दिखाता है कि वह पदार्थ उस समय भी असत् था जिस समय उसका अनुभव हो रहा था – अद्वैतसिद्धि में कहा है – यत्कालावच्छेदेन स्वार्थोंगृहीतः तत्कालावच्छेदेनैव तन्निषेधाभ्युपगमात्। इस अर्थ में मिथ्यात्व का अर्थ संपूर्ण अभाव या असत्ता है (अत्यन्तासत्)। किन्तु अद्वैती मिथ्यात्व को इस अर्थ में नहीं लेते। व्यासतीर्थ सतर्क रूप से कहते हैं कि अद्वैती मिथ्यात्व की अवधारणा का अर्थ वस्तुतः संपूर्ण सत्ता का अभाव ही है। यह कहना कि अभाव या असत्ता की कल्पना असंभव है जबकि मिथ्या की कल्पना होती है, एक बकवास है। असत् या अभाव को अनवधारणीय कहना ही उसकी अवधारणा बनाना है – न च निरूपाख्यत्वमेव तेषामसत्वं, निरूपाख्यत्वेनैव ख्यायमानत्वात्। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अभाव या असत् को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा होता तो अभाव या असत् का जगत् से भेद कैसे जानते। यदि हम असत् के बारे में सोच भी नहीं सकते तो हम उसके बारे में कुछ भी नहीं बोल सकते। असत् को परिभाषा देना कि यह सामान्यतः प्रत्यक्ष में नहीं आता, व्यर्थ है क्योंकि ऐसा प्रत्यक्ष तो प्रत्यक्षातीत नित्य पदार्थों का भी नहीं होता – नित्यातीन्द्रियेऽपि सत्वात्। यह भी नहीं कह सकते कि असत् वह है जो किसी अस्तित्ववान वस्तु के रूप में न मिले – क्वचिदपि उपाधौ सत्त्वेना प्रतीयमानत्वात्। यह भी नहीं कह सकते कि असत् में कोई तत्त्व या गुण नहीं होता जबकि मिथ्या में काल्पनिक गुण होते हैं। इस तरह असत् और मिथ्या में अद्वैती भेद नहीं कर पाते–तस्मात् सर्वत्र त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्वमेव असत्वम्। तदेव च मिथ्यात्वम्। अतः असत् और मिथ्यात्व का अर्थ एक ही है और इसका व्याघात सत् है– त्रिकालसर्वदेशीय निषेधाप्रतियोगिता सत्ता। इस अर्थ में ब्रह्म और जगत् समान रूप से सत् हैं – यादृशं ब्रहमणः सत्वं तादृशंस्याज्जगत्यपि।

विशेष की अवधारणा

द्वैती यथार्थवाद में विशेष की अवधारणा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विशेष एक गुण को दूसरे गुण से तथा गुण को द्रव्य से अलग करता है। व्यासतीर्थ के अनुसार विशेष वह शक्ति है जो द्रव्य की एकता को कायम रखते हुए इसे इसके गुणों और अन्य द्रव्यों से अलग करती है। उपनिषदिक कथन विज्ञानम् आनन्दमं ब्रह्म में विशेष प्रक्कल्पित है। इन तीनों में तादात्म्य न होकर भिन्नता है। 'ज्ञान' आनन्द नहीं है और ये दोनों ब्रह्म नहीं हैं। अन्यथा तीन शब्दों का प्रयोग क्यों होता। इसी तरह तत्त्वमसि की व्याख्या बिना 'विशेष' के नहीं हो सकती। किसी भी एकरूपता की व्याख्या के लिए 'विशेष' को मानना पड़ता है। 'अयंघटः' या 'शुक्लः पटः तादात्म्य के कथन हैं किन्तु यदि इनमें 'विशेष' निहित नहीं है तो ये मात्र पुनरुक्तियाँ हैं। इनमें तादात्म्य के अतिरिक्त 'भेद' और विशेष का भी कथन निहित है। 'विशेष' सर्वस्वतंत्र सिद्धान्त है और इसका प्रत्यक्ष होता है।

द्वैतवेदान्त में अभेद श्रुतियों की यथार्थवादी व्याख्या की जाती है, या उन्हें भेद श्रुतियों की अपेक्षा गौण माना जाता है। इसके लिए 'विशेष' और साक्षी प्रत्यक्ष को आधार बनाया जाता

है। व्यासतीर्थ सामान्य अनुभव को वैध मानते हुए हर प्रकार के तादात्म्य की द्वैती व्याख्या करते हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्य से ब्रह्म (तत् + त्वम्) में ऐक्यमाना अतार्किक है। मनुष्य में सीमित चेतना और क्षमता है, ब्रह्म में ये असीमित हैं। विशिष्टयोस्तत्त्वं पदवाच्येयोर्नैक्यम् –चित्सुख आदि अद्वैती इस कठिनाई से बचने के लिए 'अखण्डार्थ' प्रत्यय का प्रयोग करते हैं जिसके अनुसार तत्त्वमसि और अहं 'ब्रह्मास्मि' आदि वाक्यों में दोनों पदों के विशेष की उपेक्षा करनी चाहिए। ऐसा करने पर हमें मात्र सत्ता या चेतना (चिन्मात्रैक्यम्) मिलता है। सम्बन्ध विमुक्त कथनों में इस प्रक्रिया को 'विरूद्ध भागत्यागेन लक्षितयोश्चिन्मात्रैक्यम्' कहा जाता है।

व्यासतीर्थ आदि द्वैतवादी इस पर आपत्ति करते हैं। ब्रह्म की 'सर्वज्ञता और जीव की 'अज्ञानता' जैसे विरुद्ध गुणों की उपेक्षा कर ब्रह्म और जीव में ऐक्य दिखाना तथ्य को झुठलाना है। इन गुणों की उपेक्षा नहीं हो सकती। सत्व–असत्व, शून्यत्व, जड़त्व–चितत्त्व, आदि विरूद्ध गुणों की उपेक्षा कर असद् वा इदम् अग्र आसीत् या सर्वखलुइदम् ब्रह्म के आधार पर ब्रह्म को शून्य या असत् मानना केवल एक बकवास है। यदि जीवों की अपूर्णता मोक्ष से पूर्व होती तो तत्त्वमसि की जगह तत्त्वम् भविष्यसि होता। दूसरा विकल्प है जीव के गुणों को असत् मानना जैसा कि अद्वैती करते हैं तो यह साक्षी–प्रत्यक्ष से प्राप्त जीव ब्रह्म के भेद को नकारना है। इस भेद को श्रुतियाँ भी मानती हैं – निर्दोष श्रुति साक्षि सिद्धयोर्विरूद्ध धर्मयोर्मिथ्यात्वायोगात्। जीव और ब्रह्म उपजीव्य और उपजीवक हैं। प्रथम सभी विशेषणों का आधार होता है और द्वितीय प्रत्यक्ष पर आधृत होता है। यही उपजीव्योपजीवक मात्र है। साक्षी प्रत्यक्ष और श्रुतियाँ जीव का ब्रह्म से भिन्न और इस पर आश्रित बताती हैं जिसे अभेद वाक्य की कोई व्याख्या अवैध नहीं ठहरा सकती। उपजीव्य प्रमाण को अनुमान से भी अवैध नहीं दिखाया जा सकता। ब्रह्म की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता उसे जीव से भिन्न करती है।

व्यासतीर्थ कहते हैं कि अभेद श्रुतियाँ उपजीवक श्रुतियों और उपजीव्य प्रमाण के विरूद्ध हैं। उनकी व्याख्या के लिए द्वैती पूर्वमीमांसा के न्याय लक्षणार्थ का प्रयोग करते हैं। इसके विपरीत अद्वैती विज्ञानवाद में जहदजहल्लक्षणा का प्रयोग होता है। व्यासतीर्थ कहते हैं कि तत्त्वमसि की अद्वैती व्याख्या में भाषा की तोड़मरोड़ है जिसमें लक्षणा का प्रयोग दोनों पदों पर करना पड़ता है, जबकि द्वैती व्याख्या में लक्षणा का प्रयोग केवल एक पद् पर होता है। व्यासतीर्थ के अनुसार लक्षणा या व्याकरणीय व्याख्या का प्रयोग कम से कम होना चाहिए। इनका प्रयोग तभी होना चाहिए जब भाषा का सामान्य अर्थ वाक्य के निहितार्थ के स्पष्ट न कर सके। व्यासतीर्थ तत्त्वमसि की व्याख्या तत् पर पांच बार और त्वम् पर दो बार लक्षणा का प्रयोग करते हैं और कई व्याख्याओं में बिना लक्षणा का प्रयोग किये मात्र व्याकरण के माध्यम से करते हैं और सिद्ध करते हैं कि जीव ब्रह्म से भिन्न और उस पर आश्रित है। साहचर्यात्ताच्छब्द्यम् तदाग्रित्वात् तदितिव्यपदेशः ततो जातत्वात् तदितिव्यपदेशः, तद्धीनत्वात् तदिति व्यपदेशः अतिदेशोऽयम् तद्वत त्वमसीत्यर्थः – द्वारा व्यासतीर्थ तत् शब्द पर लक्षणा का प्रयोग कर जीव की ब्रह्म से भिन्नता और पराधीनत्व सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार व्यासतीर्थ ने द्वैती समीक्षात्मक यथार्थवाद को सशक्ततार्किक आधार दिया और उसे श्रुतिसम्मत सिद्ध किया। इन्हें मध्व और जयतीर्थ के साथ मुनित्रय में रखा गया–

श्रीमध्वा कल्पवृक्षस्तु जयार्थः कामधुक स्मृतः। चिन्तामणिस्तु व्यासार्थो मनुत्रयमुदीसितम्।। इनकी तात्पर्यचन्द्रिका ब्रह्मसूत्र की अनुपम व्याख्या है। इनके दर्शन में खण्डन और मण्डन दोनों मिलते हैं। व्याकरण, निरूक्त, अनुक्रमणिका निबन्ध, न्याय, पूर्वमीमांसा आदि के आधार पर द्वैत यथार्थवाद को संपुष्ट किया और अपने समय तक उपलब्ध अद्वैतवेदांत की आपत्तियों का मुहतोड़ जबाव दिया। अद्वैत वेदान्त अपनी विज्ञानवादी सत्तामीमांसा को लेकर चार मठों में सिकुड़ गया किन्तु द्वैतवेदान्ती यथार्थवाद को व्यासतीर्थ आदि ने विशेषतः दक्षिण के जनमानस में सनातन रूप से प्रतिष्ठापित कर दिया।



सन्दर्भ –

1. *केनोपनिषद् –खं. 1–4, कठ 1–3–15, मु. 3–2–10, तैत्ति 2–9–1*
2. *माण्डूक्य –6, तैत्ति–3–1, मुण्डक –1–1–7,–2–2–5*
3. *ब्रह्मसूत्र –1–1–2*
4. *श्वेता –6–8*
5. *माण्डूक्य –6,*
6 *ब्रह्मसूत्र –1–1–4*
7. *ऋगवेद –10–191–2,4*

कबीर बीजक में अद्वैतवादी जीवन-दर्शन

रघुनाथ गिरि

भारतीय दर्शन परम्परा में संत दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। संत दर्शन अनुभव, अनुभवाश्रित तर्क लौकिक युक्तियाँ तथा, गुरू परम्परा का पक्षधर होता है। इसकी शैली सरल, रोचक और सामान्य जन के लिये बोधगम्य होती है। इसमें खण्डन–मण्डन करनेवाली दुरूह तार्किकता का स्थान नहीं होता। उसका लक्ष्य सामान्य जन को भवमुखीवृत्ति से आत्ममुखी या ईश्वरमुखीवृत्ति की और ले जाना होता है। कबीर दर्शन संत परम्परा का दर्शन है। अतः संत दर्शन की समस्त विशेषताओं से परिपूर्ण है। प्रस्तुत निबंध में कबीर के सम्पूर्ण दर्शन को विवेच्य विषय नहीं बनाया गया है अपितु उनके ग्रंथ बीजक में निर्दिष्ट उनके दर्शन एवं जीवन दर्शन पर संक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

कबीर का बीजक उपनिषद् परम्परा से बहुत अधिक प्रभावित है। जिस प्रकार उपनिषद् को रहस्य विद्या, ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, गुह्यविज्ञान आदि कहा गया है उसी प्रकार कबीर अपने ग्रंथ बीजक को भी गुप्त ज्ञान का निर्देशक मानते हैं। बीजक शब्द की अन्वर्थता एवं सार्थकता को स्पष्ट करते हुए कबीर ने कहा है कि बीजक गुप्त धन का निर्देशक गुप्त पथ होता है जिसके आधार पर गुप्त धन की खोज और प्राप्ति होती है। यहाँ यह बीजक भी जीव के गुप्त स्वरूप को प्रकट करनेवाला है जिसको जाननेवाले बहुत बिरले ही मिल पाते हैं।

बीजक में अनेक दार्शनिक प्रश्न, दार्शनिक समस्या तथा दार्शनिक गुत्थियों पर विचार किया गया है जिनका समग्र विवेचन इस छोटे निबन्ध की परिधि में संभव नहीं है। अतः यहाँ तत्त्व, धर्म, समाज एवं जीवन से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को कबीर दर्शन के परिप्रेक्ष्य में समझाने का प्रयास किया गया है।

परमतत्त्व

तत्त्व विवेचन की दृष्टि से कबीर दर्शन अद्वैतत्त्ववादी है। यहाँ अद्वैत के विवेचन में उपनिषद् की परम्परा का प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। बीजक में व्यवहार सम्पादन के लिये उस 'परतत्त्व' को राम या ब्रह्म कहा गया है किन्तु वास्तविकता यह है कि वह शब्द वाच्य नहीं है। न तो उसका कोई स्थान है, न उसका ठिकाना, उसको कोई नाम देना और उस नाम से उसे सम्बोधित करना केवल काम चलाने के लिये ही हो सकता है, वास्तविक नहीं। वास्तविकता तो यह है कि वह अनिर्वचनीय है। यह वाणी का विषय नहीं बन सकता। अतः जब अनिर्वचनीय का निर्वचन किया जाता है तो उसकी वास्तविकता नष्ट हो जाती है। इस तथ्य को न समझकर जब उसका वर्णन होता है तो यह वर्णन या निर्वचन केवल विकृति ही उत्पन्ने करता है। इसलिए वर्णन करने से पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक है कि उसका वर्णन हो सकता है अथवा नहीं।[3] वाणी से निरूपण के लिये विकल्पों की आवश्यकता होती है। किन्तु वह तत्त्व निर्विकल्प है। अतः वाणी के निरूपण के सामर्थ्य के भीतर नहीं जा सकता। वाणी जिन रूप परिमाण, मात्रा, भाव, अभाव

सेवानिवृत्त आचार्य, दर्शन विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी (उ.प्र.)

भूख, प्यास, सुख, दुःख आदि द्वन्द्वात्मक विकल्पों के आधार पर ही किसी वस्तु का निरूपण करती है। जो तत्त्व इन विकल्पों में नहीं बंधा है, भला उसका निर्वचन करने में वाणी कैसे समर्थ हो सकती है।[4] उस पर तत्त्व के सम्बन्ध में जब कुछ कहा जाता है तो वह बड़ा ही आश्चर्यजनक लगता है क्योंकि वह निरूपण विश्वास योग्य नहीं होता। जैसे वह एक होकर भी सर्वत्र सर्वव्यापी रूप में परिलक्षित होता है। उसका रूप नहीं है, फिर भी वह अनेक रूपों में अपने आपको प्रदर्शित करता है।[5] वह परमतत्त्व अनन्त गुणों का आधार है। उसे समझ पाना बुद्धि की शक्ति की बात नहीं है। जब उसकी गति को ब्रह्मा, शिव, सनक आदि सिद्ध जन जानने में समर्थ नहीं हो पाते तो भला उसे मनुष्य कैसे जान सकता है।[6] परमतत्त्व ही परब्रह्म है, वह आगम्य और अविनाशी है। मन उसकी इयत्ता को समझने एवं ग्रहण करने में समर्थ नहीं है।[7] उसे एक कहना संभव नहीं है क्योंकि एक संख्या व्यक्तित्व का निर्देश करती है और परतत्त्व में कोई व्यक्तित्व नहीं और दो आदि संख्याओं से उसका निर्देश करना भी उसका अपमान करना है। अतः एकत्व, दित्व संख्याओं से अनभिलाप्य होने के कारण उसे अद्वैत कहना ही अधिक युक्ति संगत लगता है।[8] यह तत्त्व निर्गुण एवं निराकार है।[9] वह एक है किन्तु अनन्त रूप ग्रहण करता है। अनन्त रूप ग्रहण लेने पर भी उसकी एकता बनी रहती है। जिसको उसके एकत्व की जानकारी हो जाती है उसे उसकी बहुरूपता दृष्टिगोचर नहीं होती है।[10] वह पूर्ण है।[11] वह समस्त प्राणियों में अन्तर्यामी है जो उसे अपने ह्रदय में खोजता है उसे वह मिल सकता है किन्तु मिलने के बाद भी उसके विषय में कुछ कह सकना ठीक उसी प्रकार संभव नहीं है जैसे गूंगों को गुढ़ का स्वाद है।[12]

पुराणों में ईश्वर के राम, कृष्ण, नरसिंह, कच्छ, मच्छ, वाराह, वामन, शालिग्राम आदि अनेक रूपों एवं अवतारों की चर्चा की गयी है। किन्तु वह परतत्त्व इन अवतारों में न अवतारित होता है और न उन अवतारों के चरित्र, जीवनवृत्त और कथनों के परिचय से उसका परिचय ही प्राप्त हो सकता है।[12 (क)] वह नट के समान अनेक नाम रूपों में प्रकट होता है और समस्त विश्व को नचाता है, घट घट में अन्तर्यामी रूप से विद्यमान रहता है और सब के अंत में शेष रहता है।[13] उसकी दृष्टि में सभी नश्वर हैं, सब मृत्यु के वशीभूत होते हैं किन्तु वह समस्त सृष्टि का सृजनहार, एक मात्र अमर और अविनाशी है।[14]

उक्त निरूपण से यह स्पष्ट हो जाता है कि बीजक के अनुसार परतत्त्व अद्वैत है। वह निर्गुण, निर्विकार तथा नामरूपादि से रहित है। मन और वाणी उसको जानने और निरूपण करने में समर्थ नहीं हैं। वह समस्त निरूपणों से परे है। वह पर और अन्तर्यामी दोनों है। पर होकर भी घट–घट में व्याप्त रहकर सबका अन्यर्यामी है। वह विश्व का निमित्त भी और उपादान भी। वह एक, अनेक, सूक्ष्म, स्थूल, ह्रस्व, दीर्घ, तमः, प्रकाश आदि द्वन्द्वों से परे होने के कारण द्वन्द्वातीत है। फिर भी ह्रदय में उसका अन्वेषण और साक्षात्कार संभव है किन्तु साक्षात्कर्ता के लिये भी वह गूंगे के गुड़ के स्वाद के समान अनभिलाप्य एवम् अकथनीय है।

परमतत्त्व का उक्त निरूपण उपनिषद् के ब्रह्म निरूपण के पूर्ण अनुरूप है। उपनिषदों में भी ब्रह्म प्रसंग में उसे मन, वाणी से अगोचर, द्वन्द्वातीत, समस्त जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का आधार कहा गया है।

माया

समस्त अद्वैतवादी दर्शन के समक्ष अविकारी एक तत्त्व के अनेक रूप धारण एवम् जगत् के प्रपंच रूप की व्याख्या की समस्या एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। शंकराचार्य ने जगत् की व्याख्या के लिये माया का सहारा लिया है। कबीर दर्शन भी माया का निरूपण कर अपने तत्त्वदर्शन में एक से अनेक और अनेक से एक की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। किन्तु माया के निरूपण में बीजक शंकर मत से प्रभावित होते हुए भी उसके अनुरूप नहीं है। यहाँ माया के स्वरूप के संबंध में दार्शनिक उलझनों के निरूपण की अपेक्षा उसके प्रवंचनात्मक स्वरूप का विशेष उल्लेख किया गया है। शंकर के सत् असत् विलक्षण अनिर्वचनीय माया के स्थान पर कबीर उत्पत्ति विनाशशील की माया कहते हैं।[15] माया शब्द स्त्रीलिंग है। अतः कबीर माया शब्द से वाच्य को नारी या स्त्री मानते हैं। किन्तु यह माया अपने मूल रूप में न तो किसी बाप से उत्पन्न होती है और माई से। उसके हाथ पांव आदि अंग भी नहीं होते, फिर भी उसके भीतर संसार समाविष्ट रहता है।[16] सांख्य की प्रकृति के समान शंकर की माया भी त्रिगुणात्मक है। कबीर भी माया को तीन गुणों की रस्सी के साथ आते हुए देखते हैं। किन्तु जब यह जगत् में प्रवेश करती है तो अनेक रूप धारण कर लेती है। त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश की त्रिशक्ति ब्रह्माणी, लक्ष्मी एवं भवानी के रूप में उनके साथ सदा लगी रहती है। इसके अतिरिक्त पण्डा की मूर्ति, तीर्थ में पानी, योगी की योगिनी और राजा की रानी भी माया की ही विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। यह माया किसी के लिए हीरा का रूप ग्रहण करती है तो किसी के लिए कौंड़ी। इसलिए कबीर को इसकी कहानी अकथ लगती है।[17] यह माया राम की है और इन्हीं की जननी है। इसके कार्य, इसकी प्रक्रिया इसकी गति एवं मति मानव के समझ में नहीं आती। यह देव, मनुष्य एवं ऋणि मुनि सभी को नचाती रहती है। इसकी तुलना सैम से वृक्ष से की जा सकती है जिसके अनुपम लाल फूल को आग समझकर चातक तथा उसके फल को सरस समझकर शुक लुब्ध होकर उसके पास जाते हैं, पर दोनों का प्रयास विफल होता है।[18] यह माया समस्त जग को मोहित करनेवाली है। उसके प्रभाव में सभी चर और अचर आ जाते हैं।[19]

माया के मोह से व्याप्त यह संसार अत्यन्त दुस्तर है। इस पर कोई भी भलीभांति विचार नहीं कर पाया है। इस माया का मोह ही वह फांसी है जो जगत् को बांधी हुई है। इस फन्दा से छुटकारा प्राप्त करने के लिये विवेक के साथ राम नाम का अवलम्बन की एकमात्र उपाय है।[20] इस माया के मोह से मोहित हो जाने के कारण ज्ञान रूपी रत्न खो जाता है और यह जीवन दिवा स्वप्न के समान जो असार है वह सार गर्भित लगता है। दीप शिखा देखकर जैसे पतंग उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है उसी प्रकार अर्थ और काम के पीछे मनुष्य दौड़ता रहता है और उसमें छिपी अपनी मृत्यु को नहीं देखता।[21] परम पुरूष की शक्ति रूपा यह माया एक नारी है। जिसके कारण ब्रह्माण्ड के चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ जीव भ्रम में भूला रहता है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि भी खोजते खोजते थक जाते हैं किन्तु इस माया का अंत पाने में समर्थ नहीं पाते।[22] माया की प्रवंचना के मुख्य दो आधार हैं कनक (अर्थ) और कामिनी (काम) जिनके लिये सारा जग आतुर है। कबीर कहते हैं कि आग और रूई को एक में लपेट कर कौन इसे जलने से बचा सकता है।[23] माया की सबसे बड़ी विशेषता है कि जीव अपने आपको ही भूल जाता है।

उसे विम्ब और प्रतिबिम्ब का बोध ही नहीं रह जाता। अपने ही प्रतिबिम्ब को देखकर जैसे पक्षी, सिंह, हाथी, बन्दर आदि अपनी अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर अपने ही अंगों को शिथिल और घायल करते हैं उसी प्रकार जीव अपने (बिम्ब जो अद्वैत है) को न पहचान कर प्रतिबिम्ब (द्वैत) में उलझा रहता है।[24]

जीव

जीव के स्वरूप निरूपण में भी बीजक अद्वैत धारणा का सम्यक् निर्वाह करता है। बीजक के अनुसार जीवरूप में वहीं पर तत्त्व अन्तःकरण में निवास करता है। वह अन्तःज्योति है जिससे सब कुछ प्रकाशित होता है।[25] शरीर भेद से जीव भेद मानना संगत नहीं है क्योंकि जीव हंस है वह नीर क्षीर का विवेक करनेवाला है। एक ही हंस समस्त शरीर में विद्यमान है। दूसरा कोई नहीं है।[26] इसलिये शरीर भिन्न होने पर भी जीव भेद नहीं है। यह शरीर पंचतत्त्व (पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश) से बना हुआ है। अतः काल प्रभाव से प्रभावित है अर्थात् इसकी उत्पत्ति काल में होती है। अतः काल में उसका विनाश भी अपरिहार्य है। इस कालजन्य शरीर से सम्बद्ध होने एवं कर्म की प्रक्रिया में आ जाने के कारण वही तत्त्व जीव कहलाता है।[27] जीव शुद्ध चेतन (जिसकी उपलब्धि जाग्रत में होती है) स्वरूप है।[28] जगत् सम्बन्ध का मूल्याकंन जीव के आधार पर ही किया जा सकता है। कारण जीव पारस है और संसार लोहा। पारस के सम्बन्ध से लोहा स्वर्ण बन जाता है। उसका मूल्य बढ़ जाता है किन्तु वह पारस नहीं बन जाता। अर्थात् उसके सम्बन्ध से अन्य लोहे में स्वर्ण मूल्य का आविर्भाव नहीं हो पाता। पारस के संबंध से लोहा के स्वरूप और मूल्य का परिवर्तन भी भेद मिटाने के लिये पर्याप्त नहीं होता। पारस पारस ही रहता है भले लोहा स्वर्ण हो जाय। इस उक्ति के द्वारा कबीर ने जड़ चेतन संबंध, जीव शरीर सम्बन्ध या जीव जगत् सम्बन्ध की स्पष्ट व्याख्या की है। यह स्पष्ट है कि शरीर (जड़) चेतन जीव के सम्बन्ध से चेतनवत हो उठता है, उसकी क्रिया सचेतन क्रिया हो जाती है। किन्तु फिर भी शरीर चेतन नहीं बन जाता।[29] जीव और परतत्त्व में सम्बन्ध की व्याख्या बिम्ब प्रतिबिम्ब के आधार पर की जा सकती है, जैसे दर्पण में अपने प्रतिबिम्व को देखने पर द्रष्टा और दृश्य में और यह भिन्न होते हुए भी भिन्न नहीं रहते। भेद केवल दर्पण की उपाधि से रहता है। एकता तात्त्विक दृष्टि से रहती है। उसी प्रकार जीव और परातत्त्व दोनों एक हैं केवल कर्म या अन्तः करण भेद के कारण भिन्न रूपता की प्रतीति होती है।[30] जब अभेद दृष्टि उत्पन्न हो जाती है तब भेद दृष्टि समाप्त हो जाती है किन्तु जब तक अभेद दृष्टि नहीं उत्पन्न होती है तब तक भेद का अस्तित्व बना रहता है।[31] जीव उसी परतत्त्व से आता है ओर उसी में वह पुनः प्रविष्ट हो जाता है। किन्तु जीव तत्त्व का साक्षात्कार करने वाला भी जीव के स्वरूप को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हो पाता। यह भी गूंगे के गुड़ के आस्वाद के[33] समान ही बना रहता है।

जगत्

सृष्टि के आरम्भ के संदर्भ में बीजक नासदीय सूक्त की प्रक्रिया का अनुसरण करता है। उस परिस्थिति की कल्पना करना तथा उसका निरूपण करना क्या सम्भव हो सकता है? जिस स्थिति में न कोई रूप था न कोई आकार न कोई व्यक्ति जिसने उस असत् से सत् को बनते हुए देखा हो। वहाँ आदि मन्त्र ओम् तथा वेद का भी अस्तित्व नहीं था क्योंकि यह शब्द प्रक्रिया भेद

होने के बाद लागू होती है और उस समय कोई भेद नहीं था, उस समय न तो नक्षत्र थे न सूर्य, न चन्द्रमा, न पिता न वीर्य, न जल, न थल, न पवन। वहाँ दिन और रात भी नहीं थे। वहाँ एक मात्र सहजशून्य था। उसी सहज शून्य से एक ज्योति प्रकट हुई। यह, सब कुछ अव्यक्त पुरूष जो निरालम्ब है कि महिमा है। इस दृष्टि के आधारभूत तत्त्वों जैसे पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश में से उस समय कुछ भी न था। व्यवहार भेदक कोई वर्ग, जाति, कार्य कारण का भी कोई अस्तित्व नहीं था। उस स्थिति में शब्द अर्थ और ज्ञान की प्रक्रिया या त्रिपुटी का सर्वथा अभाव था। उस समय इन्द्रियज्ञान के विषय रूप, रस गंथ स्पर्श, शब्द भी नहीं थे। उस समय गुरू एवं शिष्य की परम्परा भी न थी। वह मार्ग अन्यन्त ही दुस्तर था क्योंकि उसे गम्य और अगम्य की कोटि में लाना संभव न था।[34] फिर भी उस सहज शून्य से जो ज्योति आयी उसने ही अकेला इस विविधतापूर्ण संसार की रचना की।[35]

उसने प्रथम ब्रह्मा, विष्णु, महेश की रचना की और पुनः जीव की तदन्तर पवन, पानी, प्रकाश, अंन्धकार, एवं इन सबको विस्तार करनेवाली माया को उत्पन्न किया। पुनः अण्ड, पिण्ड, ब्रह्माण्ड, नवखण्ड वाली पृथिवी उत्पन्न हुई। इसी क्रम में सिद्ध, साधक, संन्यासी, देवता, मनुष्य, मुनि,जीव, और शिव सभी उत्पन्न हुए। इन सभी का एक मात्र स्वामी वह है और वे सब उनके आज्ञा के पालन करने वाले दास हैं।

इस सृष्टि प्रक्रिया में ब्रह्मा, विष्णु, महेश और उसकी शक्तियों को सृष्टि के संचालन का कार्य सौपा गया। उधर सृष्टि के विभेद सत्व, रजस् और तमस् तीनों गुणों का आविर्भाव हुआ। उधर समाज संचालन के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र आदि का विभाजन हुआ।

इस समस्त सृष्टि का मूल केवल ओंकार है। यहीं उस अविचल पुरूष परमात्मा का वाचक है जो समस्त विश्व का भरण पोषण करने के कारण भर्ता है।[36]

व्यवहार में यह संसार सत्य है इसमें कोई विवाद नहीं हैं किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से विचार करने पर यह संसार बिल्कुल मिथ्या और झूठा है।[37] इसका कारण यह है कि इस जगत् में कुछ भी सारतत्त्व नहीं है। यह केवल असार का प्रचार और प्रचार मात्र है।[38] इस जगत् में सुख का वृक्ष उत्पन्न किया है जिसके रूप, रस, गंथ, स्पर्श, शब्द और वेदना ये छह पत्तें हैं और पाप तथा पुण्य दो फल हैं तथा जिसके अनन्त स्वाद हैं जिनका वर्णन संभव नहीं है।[39] किन्तु यह जगत् दुःख का ही साम्राज्य है। दुःख सर्वत्र व्याप्त है। माया के मोह में सभी प्राणी बंधे हुए है। तुच्छ स्वार्थ के लिये अपने मूल लक्ष्य को नष्ट कर रहे हैं। यहाँ पूरे तौर में सभी लिप्त हैं। यहाँ उत्पत्ति विनाश, पुनः उत्पत्ति का क्रम सदा चलता रहता है किन्तु कभी किसी को सुख का लेश नहीं मिल पाता।[40] यह जगत् माया का प्रंपच है। इसमें देवता, मनुष्य, ऋषि सदा ठगे जाते हैं। जादूगर अपनी जादू से केवल सबको मोहित करता है। उसी प्रकार यह संसार उस ईश्वर जादूगर का खेल है। इसमें केवल जादूगर की एकमात्र सत्य और जादू का खेल सब मिथ्या है।[41] यह विचित्र चित्रकार की कृति है। इस चित्र की वास्तविकता नहीं है किन्तु चित्रकार की वास्तविकता है।[42]

धर्म–दर्शन

धर्म दर्शन की दृष्टि से कबीर दर्शन एकेश्वरवाद का समर्थन करता है। बीजक ॠग्वेद के एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति, (एक सत् को पंडित लोग अनेक नामों से पुकारते हैं) मंत्र का अनुगमन करता हुआ कहता है कि राम, खुदा, शिव, शक्ति सब एक ही हैं। दो ईश्वर की कल्पना

समझ में नहीं आती है। यह भ्रम किस प्रकार फैल गया है कि ईश्वर भिन्न–भिन्न है। वास्तविकता तो यह है कि ईश्वर एक है और उसके ही अल्लाह, राम, रहीम, केशव, हरि, हजरत आदि अनेक नाम हैं।[43] भिन्न–भिन्न नाम और भिन्न–भिन्न रूप कल्पना प्रसूतक हैं। उनसे ईश्वर की अनेकता की स्थापना संभव नहीं है। जैसे एक ही स्वर्ण के अनेक आभूषण बना दिये जाते हैं। उनके भिन्न आकार और भिन्न नाम हो जाते हैं किन्तु वे सभी स्वर्ण ही रहते हैं। उनके पहनने के स्थान और प्रकारभेद भी स्वर्ण में भेद नहीं कर पाते। उसी प्रकार ईश्वर एक है, उसे विविध नामों और रूपों में उसकी ही उपासना की जाती है। उपासना या पूजा विधि का भेद भी केवल कहने सुनने के लिये है, वास्तव में उसमे भेद नहीं है।[44] ईश्वर की उपासना, पूजा एवं सेवा की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी कबीर धर्म के नाम पर होने वाले थोथे कर्मकाण्ड, ढोंग और पाखण्ड के आलोचक हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों अपने को अपने धर्म का अनुयायी होने के लिए जो कुछ बाह्याचार करते हैं वह युक्तिसंगत नहीं है, किन्तु ये लोग उस पर बिना विचार किए लकीर के फकीर बने रहते हैं। कबीर ने यह प्रश्न बड़ी तार्किकता के साथ उठाया है कि यदि मुसलमान होने के लिये सुन्नत अपरिहार्य है तो औरत कभी भी मुसलमान नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में मुसलमान आधा ही मुसलमान रहेगा क्योंकि उसकी पत्नी जो उसकी अर्द्धांगिनी है मुसलमान न होकर हिन्दू ही रह जाएगी। उसी प्रकार यदि ब्राह्मण होने के लिये यज्ञोपवीत अपरिहार्य है तो ब्राह्मणी के लिए क्या होगा? यज्ञोपवीत न धारण करने के कारण ब्राह्मण पत्नी शूद्रा बनी रही रहेगी और ब्राह्मण उस शूद्रा के हाथ का भोजन करने के कारण ब्राह्मण नहीं रह जायेगा।[45]

कबीर कहते हैं कि जब ईश्वर एक है और उसी का बनाया हुआ संसार है तथा समस्त मानव उसी ईश्वर की सन्तान हैं तो यह हिन्दू मुसलमान का भेद कहां से उत्पन्न हो गया है, यह भेदपरक पन्थ कैसे चल पड़ा है? यदि सच्चें हृदय से खोज किया जाय तो इस भेद का कोई भी आधार नहीं मिल पाता।[46] जिस प्रकार उपास्य (ईश्वर) एक है उसी प्रकार निवास भूमि भी दोनों के लिए एक है। भेद उनके ग्रंथ वेद और कुरान तथा उनके नाम पण्डित और मौलाना में है। किन्तु वह भेद केवल नाम मात्र का है, वास्तविक नहीं। वास्तविक तो सबके लिये वही पंचतत्त्व है जिनसे सबका शरीर निर्मित है। जैसे एक मिट्टी के विविध वर्तनों का नाम व्यवहार के लिये ही होता है, भेद सिद्ध करनेवाला नहीं होता। उसी प्रकार इस कल्पित नाम के आधार पर भेद को वास्तविक मानना युक्ति संगत नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि दोनों भूल करते हैं। उनमें किसी को भी राम का ज्ञान नहीं है। यही कारण है कि एक गाय को बलि चढ़ता है तो दूसरा बकरे की।[47]

देव या देव तत्त्व को समझे बिना कल्पित देवत्व और कल्पित देव की पूजा उपहास योग्य है। यह कितना हास्यास्पद है कि मिट्टी के देव और देवी की मूर्त्तियों को देवता मानकर उनको बलि चढ़ाया जाता है और उनसे अपनी मनोकामना की सिद्धि की अभिलाषा की जाती है। यदि उनका देवत्व यथार्थ है और उनमें बलि लेने की शक्ति है तो वे खेत में चरते हुए पशु की बलि क्यों नहीं ले लेते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका देवत्व और उनकी शक्ति कल्पना मात्र है।[48]

व्रत उपवास की असारता भी इससे सिद्ध हो जाती है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों एकादशी और रोजा का व्रत तो रखते हैं, बाह्य दृष्टि से अन्न का परित्याग करते हैं किन्तु हिन्दू भीतर ही भीतर मन से अन्न के लिये लालायित रहता है और पारण के लिये जल्दी मनाता है और मुसलमान मुर्गी के मांस से रोजा तोड़ता है।

हिन्दू और मुसलमान दोनों दया मेहर को धर्म का अंग तो मानते हैं किन्तु उनके आचरण में यह प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। एक झटका और दूसरा हलाल का नाम देकर मांस खाने के लिये दया का तिरस्कार करता है।[49]

हिन्दू मुसलमान दोनों के आचरण में पशुवध और मांसाहार उनकी धार्मिक मान्यता को कलुषित कर देता है फिर भी वे अपने को धर्मावलम्बी मानते रहते हैं, यही उनकी विडम्बना है।

हिन्दू वेद का स्वाध्याय करता है और मुसलमान कुरान का। किन्तु इस स्वाध्याय से दोनों के अन्तःकरण में जब कोई परिवर्तन नहीं होता, संशोधन या शुद्धि नहीं होती, कोई तत्त्वज्ञान नहीं होता तो इस स्वाध्याय से क्या लाभ है।[51]

हिन्दू और मुसलमान दोनों में किसी के पास इस प्रश्न का उत्तर नहीं है कि सृष्टि के प्रारम्भ में उनके धर्मगुरू और पैगम्बर, उनके वेद और कुरान, उनके मन्दिर और मस्जिद, उनके व्रत और रोजा का जब अस्तित्व नहीं था तो ये सब कहाँ से आ गये? क्या ये कल्पना प्रसूत नहीं हैं?[52]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कबीर धर्माचरण के विरुद्ध नहीं हैं किन्तु धर्माचरण के नाम पर पाखण्ड और थोथा कर्मकाण्ड जो सामान्य तार्किकता से भी असंगत लगता है, के कट्टर आलोचक हैं।

समाजदर्शन

कबीर का समाज दर्शन एक ऐसे आदर्श समाज की मान्यता को स्वीकार करता है जिसमें ऊँच, नीच, छुआछूत, अस्पृश्यता आदि का कहीं स्थान न हो। किन्तु कबीर के समय का तथाकथित समाज भी अनेक कुप्रथा, अंध विश्वासों, रूढ़ियों और दुराग्रहों से ग्रस्त था जिन पर कबीर की पैनी दृष्टि पड़ी है और कबीर ने उन पर बड़ा तीखा प्रहार किया है। मानव मानव न रहकर रंगभेद, जातिभेद, वर्णभेद, ऊँचनीच भेदों में बंट जाता है। इस तरह वास्तविक लक्ष्य से विमुख हो जाता है। दम्भ, अभिमान और अहंमन्यता के कारण ऊँच, नीच, छुआछूत का भेद बल पकड़ लेता है जिससे मानव की मानवता ही नष्ट हो जाती है। यदि हम मानव की उत्पत्ति प्रक्रिया को देखते हैं तो लगता है कि उसमें कोई भेद नहीं है। सभी मनुष्य समान रूप से माता पिता के रजवीर्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं। मानव के शारीरिक तत्त्व, रक्त, मज्जा, मांस, त्वचा, अस्थि, मल, मूत्र, तथा विविध अंग समान हैं फिर किसी को ब्राह्मण और किसी को शूद्र, किसी को हिन्दू और किसी को मुसलमान मानने का क्या आधार है ?[53]

अस्पृश्यता को निराधार एवं कल्पित सिद्ध करते हुए कबीर ने यह प्रश्न उठाया है कि यह एक विचारणीय प्रश्न है कि छूत की उत्पत्ति कहाँ से होती है ? मानव अपनी उत्पत्ति प्रक्रिया में रज, वीर्य, मिलकर भ्रूण का रूप लेता है और माता के ऊदर से पृथिवी पर उत्पन्न होता है। इनमें ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो एक में पवित्र हो जाय और दूसरे में अपवित्र। विश्व में पुराण प्रसिद्ध 84 लाख योनियाँ हैं। उन सब का शरीर जब विनष्ट हो जाता है तो मिट्टी बन जाता है। इस प्रक्रिया को देखते हुए भी किसी शरीर को उच्च और किसी को नीच सिद्ध नहीं किया जा सकता। सबके भोजन, वस्त्र और आसन भी समान उपादानों से ही बनते हैं तब शरीर, भोजन, वस्त्र और आसन आदि में छूत मानना किसी प्रकार तर्क संगत नहीं लगता।[54]

आचरण रहित उपदेश से भला किसी का क्या उपकार हो सकता है। किन्तु समाज में इस प्रकार की कुप्रथाओं का अस्तित्व सदा रहता है। कबीर कहते हैं कि ऐसे उपदेष्टा जिसके आचरण में स्वयं वह उपदिष्ट वस्तु नहीं है उसे दूसरे को उपदेश देते देखकर मुझे हंसी आती है। यह पाखण्ड और मिथ्याचार है इससे न तो उपदेष्टा लाभान्वित हो सकता है और न उपदिश्य।[55] दम्भ युक्त आचरण व्यक्ति और समाज किसी के लिए भी हितकर नहीं होता, किन्तु प्रत्येक समाज में कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने को धर्माचार्य, सदाचारी, एवं लोकोपकारी मानते हैं। उन्हें स्वयं भी यह पता नहीं रहता कि उनका यह आचरण दम्भ युक्त होने के कारण हेय है। इसे पाखण्ड और मिथ्याचार की कोटि में ही रखा जा सकता है। यदि इस सत्य को कोई कहता है तो लोग उसका विश्वास नहीं करते किन्तु यदि वह ढोंग और आडम्बर का सहारा लेता है तो सर्वत्र उसकी पूजा होती है। इस वर्ग में अनेक लोग आते हैं जैसे नेमी, घर्मी, पीर, औलिया, जोगी, वेशधारी, साधुवेशधारी आदि। इनमें अधिकांश दम्भ और दिखावे के लिये ही अपना आचरण करते हैं। इनकी कलई तब खुल जाती है जब ये तुच्छ स्वार्थों के लिये अपने सिद्धान्त की तिलांजलि देकर आपस में लड़ते हैं।[56] साधना के नाम पर भी आडम्बर होता रहता है। इसमें स्नान, व्रत, उपवास, पाठ एवं जप आदि हैं। साधना अन्तः शुद्धि हेतु की जाती है किन्तु इन साधनाओं के करने वाले केवल प्रदर्शन के लिये ही इनका अनुष्ठान करते हैं। तब इनसे लाभ वैसे हो सकता है। वे न तो इन साधनाओं की तात्त्विकता समझते हैं और न इनका सही अनुष्ठान ही जानते हैं। उदाहरण के लिए नाम का उच्चारण या मंत्र का उच्चारण कर उसे जप या सद्गति का साधन मान लिया जाता है किन्तु यह सरल तर्क समझ में नहीं आता कि यदि राम के नाम के उच्चारण मात्र से सद्गति हो सकती हो तो आग के उच्चारण से मुँह जल जाना चाहिए और भोजन कहने से भूख मिट जानी चाहिए। किन्तु क्या कभी किसी ने शब्द के उच्चारण मात्र से अर्थ द्वारा होने वाले फल की निष्पत्ति देखी है ? यही कारण है कि इन साधनों की तात्त्विकता को भली भांति समझे बिना जोग, जप, तप, संयम, व्रत, दान आदि अनेक प्रकार के अनुष्ठान व्यर्थ में किये जाते हैं।[57]

यह मिथ्याचार केवल गृहस्थ में ही नहीं होता अपितु, साधु, सन्यासी, तपस्वी एवं उदासी भी इस मिथ्याचार से नहीं बच पाते। उनमें भी सत्यान्वेषण सत्यस्वीकृति एवम् सत्योक्ति के समर्थन का साहस नहीं होता। अतः वे भी मिथ्याचार के द्वारा अपनी प्रशंसा कराना चाहते हैं।[58]

इस समाज की स्थिति ऐसी हो गयी है कि जो स्वयं नहीं जानता वह दूसरे का मार्ग दर्शन करता है। मार्ग में चलने वाला भी स्वयं जानने का प्रयास नहीं करता। वह दूसरे को आगे चलते देखकर चलता रहता है। इस प्रकार के व्यवहार के लिए अन्धे नैव नीयमाना वाली उक्ति ही चरितार्थ होती है।[59]

जीवन के लिये सत्य दृष्टिकोण

अब यहाँ कुछ और महत्त्वपूर्ण प्रश्न विचारणीय हैं कि जीवन की सार्थकता के लिए किस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया जाय। जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या है ? उसकी जानकारी कैसे हो सकती है ? और उसकी प्राप्ति का सही और सुगम उपाय क्या है ?

इन प्रश्नों के उत्तर के लिये कबीर ने गुरु सत्संग और अनुभव को विशेष महत्त्व दिया है जिनके द्वारा जीवन के प्रति दृष्टिकोण, जीवन के लक्ष्य, उसकी प्राप्ति के उपाय तथा दोषों के परिहार की सही जानकारी प्राप्त हो सकती है।

•

जीवन की सार्थकता इसकी भवमुखी वृति को आत्ममुखी या ईश्वर मुखी बनाने में है, जिसका प्रारम्भ गुरुमुख होने से होता है तथा जिसकी दृढ़ता एवं पुष्टि सत्संग से होती है और अन्त में अनुभव जिसको प्रमाणित करता है। इसलिये जीवन पथ की सफल और सार्थक यात्रा में गुरु, सत्संग और अनुभव तीनों अपरिहार्य हैं।

गुरु

जीव चौरासी लाख योनियों में तब तक भटकता रहता है और दुःख पाता है जब तक उस पर गुरु की कृपा नहीं होती। गुरु की कृपा जिस पर हो जाती है उसका उद्धार हो जाता है।[60] ईश्वर से विछुड़ना उतना कष्टप्रद नहीं होता जितना गुरु से विछुड़ना। क्योंकि ईश्वर से विछड़ने पर गुरु अपनी शरण में रख लेता है किन्तु गुरु से विछुड़ने पर कहीं भी ठिकाना नहीं रहता।[61] गुरु कुम्भकार के समान होता है और शिष्य घड़ा के समान। जैसे कुम्भकार घड़ा को ठोक पीटकर उसके सभी दोषों को निकालकर उसे सुन्दरता प्रदान करता है उसी प्रकार गुरू शिष्य को अनुशासित कर उसके स्वरूप का परिमार्जन करता है। अनुशासन के लिये गुरु भीतर से बड़ा कोमल होता है किन्तु बाहर से बड़ा कठोर लगता है।[62] गुरु सबसे बड़ा दाता होता है। उसके सदृश कोई दाता हो नहीं सकता और शिष्य बड़ा ही दीन याचक होता है। गुरु की महत्ता इसलिये भी बढ़ जाती है कि गुरु जब स्वयं अपने आपको शिष्य में प्रविष्ट कर देता है तब देह की दृष्टि से ही गुरु शिष्य में भेद रह जाता है प्राण की दृष्टि से दोनों में अभेद हो जाता है।[64] राम का ज्ञान और राम का भजन गुरु की दया से ही सम्भव हो पाता है।[65] अन्यथा विषय सुख में ही जीव लिपटा रहता है। इसलिये कबीरदास जी गुरु की मूर्ति को चन्द्रमा और शिष्य के नेत्र को चकौर की उपमा देते हैं। क्योंकि शिष्य के लिये यह आवश्यक है कि वह सदा गुरु मूर्ति की ओर अपना ध्यान रखे। एक पल के लिये भी उसे विचलित न होने दे।[66] गुरु तो अनेक बनाए जा सकते हैं किन्तु वास्तव में गुरु वही होता है जो शब्द की जानकारी करा देता है। सभी गुरु समान स्तर के नहीं हो सकते, इसलिये सब के प्रति समान भाव भी रखना संभव नहीं है। उसी गुरु की वन्दना की जा सकती है जो शब्द का पहचान करा देता है। गुरु का महत्त्व केवल गुरु होने मात्र से नहीं हैं अपितु शब्द की जानकारी कराने के कारण है। इसलिये शब्द के निर्देशानुसार ही अनुष्ठान करना चाहिए, गुरु के निर्देशानुसार नहीं कयोंकि शब्द न जानने वाले गुरु अपने स्वार्थ के लिये अनेक अनुष्ठान कराने का आदेश दे सकता है।[67] कान फुककर परम्परागत गुरु बनने वाले और होते हैं और अनाहत नाद को पहचान कराने वाला गुरु और होता है। वह आहत और अनाहत दोनों के ऊपर उठाकर सही स्थान दिखा देता है।[68]

सत्संग

जिसको सन्तों की संगति नहीं मिल पाती है उसका जनम निरर्थक ही चला जाता है। साधु की संगति को पहचानने के लिये मानव शरीर से उत्तम और कोई शरीर नहीं है। जो इस शरीर को पाकर भी सत्संगति का लाभ नहीं उठा पाता उसका जन्म निरर्थक हो जाता है। सत्संगति का प्रभाव इतना अधिक होता है, कामरूपी रत्न की तो प्राप्ति हो जाती है और संसर्ग से होने वाले दोष नहीं लग पाते जैसे जादूगर का छोटा बालक भी सर्प के साथ खेल लेता है और उसे सर्प डस नहीं पाता है।

अनुभव

कबीर दर्शन अनुभव की स्थापना में योगवाशिष्ठ का अनुगमन करता है। यहाँ भी अनुभव के समक्ष शास्त्रादि प्रमाणों की उपादेयता निम्नकोटि की है। बीजक में एक रोचक रूपक के द्वारा इस लक्ष्य को स्पष्ट किया गया है। अनुभव अपार एवं अखण्ड जल से परिपूर्ण कूप हैं। चारों वेद घड़े के समान हैं, और पण्डित जन उस जल को भरने वाले पनिहार हैं।[70] वेद, स्मृति, पुराण आदि को उतना महत्त्व नहीं दिया जा सकता जितना अनुभव को दिया जाता है क्योंकि अनुभव साक्षात् होने के कारण अनुभवकर्ता में ठीक उसी प्रकार मूल्यात्मक परिवर्तन ला देता है जैसे पारस का सम्पर्क लोहे में।[71] बिना अनुभव प्राप्त किए जो बातें करता है यह मिथ्याभाषी है। उसका कथन उसी प्रकार विश्वास योग्य नहीं है जैसे खारी खाने वाले व्यक्ति द्वारा कपूर का विक्रय।[72] अनुभव वाले के लिये वेद पुराण आदि की आंशिक सार्थकता हो सकती है किन्तु अनुभव हीन के लिये शास्त्र ठीक उसी प्रकार हैं जेसे अन्धे के हाथ में दर्पण हो। जो लोग इन शास्त्रों के आन्तरिक महत्त्व को समझे बिना इनका पाण्डित्य प्राप्त करते हैं वे ठीक उसी प्रकार हैं जैसे चन्दन का भार ढोने वाला गदहा।[73] इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वेद ही झूठा है अपितु झूठा वे हैं जो विचार नहीं करते।[74]

ज्ञान, वाणी और कर्म का सामंजस्य

उक्त तीनों स्रोतों (गुरु, सत्संग और अनुभव) से प्राप्त ज्ञान केवल कहने और सुनने के लिये नहीं होता अपितु आचरण के लिये होता है। जब ज्ञान, वाणी और कर्म तीनों में सामंजस्य स्थापित हो जाता है तभी व्यक्ति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आता है। यदि ज्ञान है और उसका गान और कथन भी होता है किन्तु विचारपूर्वक उसका आचरण नहीं होता तो उस ज्ञान का महत्त्व उसी प्रकार नहीं रह जाता हैं जैसे पारस के स्पर्श करने वाले पत्थर के अन्दर के लोहे में पारस का स्पर्श नहीं हो पाता और उसका स्वर्णरूप में परिवर्तन भी नहीं हो पाता। इसलिये कथनी और करनी में पूर्ण सांमजस्य चाहिए जिससे राग और द्वेष की निवृत्ति हो सके। ऐसे तो बहुत लोग मिल जाते हैं जो बड़े–बड़े ज्ञान की बातें कहते हैं किन्तु वे बातें उनके ही आचरण में नहीं होती। ऐसे कहने वाले से कोई लाभ नहीं है जो स्वयं जानकर भी अपने आचरण में न ला पाता हो। ज्ञान को तो चुम्बक के समान होना चाहिए जो क्रिया को अपने आप संचालित कर सके।[75]

सद्गुण

मानव जीवन की सार्थकता के लिये सद्गुणों का विकास आवश्यक हैं। इन सद्गुणों में अहिंसा, सत्य, क्षमा, सन्तोष और प्रेम का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अहिंसा

यह सद्गुण समता पर आधारित है। सभी प्राणियों में प्राण समान है। अतः किसी भी प्राणी की हिंसा समता के सिद्धान्त का उल्लंघन करती है। इस अहिंसा से होने वाले पाप का निवारण तीर्थ, स्थान, पुराण श्रवण और हीरादान से छुटने वाला नहीं है।

सत्य

सत्य ज्ञान और वाणी का समन्वय है। जो विषय जिस रूप में ज्ञात है उसी रूप में उसका कहना यथार्थ कथन है और वही सत्य है। इस सत्य के बराबर कोई तप नहीं होता और झूठ के

बराबर कोई पाप नहीं होता। जिसके हृदय में सत्य रहता है उसके हृदय में परमात्मा स्वयं रहता है।[77] सत्य में न तो शाप लगता है और न काल विनष्ट कर पाता है। इसलिये सत्य का आश्रयण करने वाले का भी विनाश नहीं होता।[78]

क्षमा और शील

जब मानव में क्षमा और शील का उदय होता है तब उसकी खल दृष्टि समाप्त हो जाती है। इसलिये शील को सबसे उत्तम रत्न और समस्त रत्नों की खान कहा जाता है।[79]

प्रेम

वाणी में सत्यता के साथ साथ प्रियता भी होनी चाहिए। प्रेमपूर्वक वाणी औषधि का कार्य करती है और कटु वचन तीर के समान तीखा प्रहार करता है। जो कोई वाणी को बोलना जानता हो उसकी वाणी अनमोल होती है। किन्तु वाणी बोलने के लिये उसके गुरुत्व लघुत्व का तौल हृदय की तराजू पर करना नितांत आवश्यक होता है।[80]

सन्तोष

समस्त संपदाओं की सार्थकता तभी तक रहती है जब सन्तोष रूपी सम्पदा उपलब्ध नहीं होती। उसके उपलब्ध होते ही गोधन, गजधन, वाजीधन, और रत्नों के खान धूलि के समान निरर्थक लगने लगते हैं।[81]

निष्कर्ष

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर का अद्वैतवाद वाग–बैखरी और शब्दझरी रूप अद्वैत का प्रतिपादन नहीं बल्कि अनुभव की कसौटी पर कसा गया एक सम्पूर्ण जीवन–दर्शन है। इनके जीवन–दर्शन में अद्वैतवाद वर्णाश्रमी व्यवस्था का पुरस्कारक अद्वैतवाद नहीं है जैसा कि मनुस्मृति और शंकर के अद्वैतवाद में देखने को मिलता है। मनु और शंकर परमार्थ में अद्वैत की भुरिशः प्रतिष्ठा करते हैं लेकिन व्यवहार में सभी प्रकार के भेदों को स्थान देते हैं। यहाँ तक कि वैसे भेद जो जीवन को कुत्सित कर देते हैं जबकि उनकी संगति अद्वैती तत्त्वमीमांसा से बैठती भी नहीं है। कबीर का अद्वैतवाद परमार्थ और व्यवहार दोनों में समान रूप से अद्वैत की प्रतिष्ठा है। कबीर का यह भारतीय परम्परा के प्रति बड़ा योगदान है कि उन्होंने पारम्परिक अद्वैत की तत्त्वदृष्टि को आधार बनाकर तदनुरूप जीवन मूल्यों को अनुभव की कसौटी पर तरासा है। अतः कबीर के चिन्तन में पारम्परिकता तो है लेकिन काल क्रम में परम्परा के अन्तर्गत आये हुए विकारों से उसे मुक्त करने की तत्पर आत्मचेतना भी है। ठेठ भाषा में कबीर के स्वानुभाव और उनके आलोचक स्वर की भारतीय संस्कृति में सर्वतंत्र स्वीकृति का रहस्य भारतीय संस्कृति की यही आत्मचेतना है जो सदैव अपने परिमार्जन के लिए साथ तैयार रहती है।

सन्दर्भ –

1. *बीजक बतावे वित को, जो वित गुप्ता होय।*
   (ऐसे) शब्द बतावै जीव को, बूझे विरला कोय।। .....
   – कबीर बीजक : रमैनी 37–
2. *कबीर बीज : रमैनी 7।*
3. *वही : रमैनी 70।*

4. वही : रमैनी 77।
5. कबीर बीजक : शब्द 27।
6. वही : शब्द 18।
7. वही : शब्द 29।
8. वही : साखी 120।
9. वही : साखी 84।
10. वही : साखी 124।
11. वही : शब्द 74।
12. वही : शब्द 12।
12. (क) वही रमैनी 75।
13. वही : रमैनी 63।
14. वही : शब्द 45।
    नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
    –कठो. 2/3/12/–
    अणोरणीयान महतो महीयाण –कठो. 1/2/20/–
    यतो वा इमानि मूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति – तैत्तिरीय. 3/1/–
15. कबीर बीजक : शब्द 8/
16. वही : रमैनी 72।
17. वही : शब्द 59।
18. वही : शब्द 13।
19. वही : रमैनी : 47।
20. रमैनी 76।
21. वही : शब्द 6..।
22. कबीर बीजक : शब्द 5।
23. कबीर बीजक : साखी 144।
24. वही : शब्द 76।
25. वही : रमैनी 21।
26. वही : शब्द 60।
27. वही : साखी 26।
28. कबीर बीजक साखी 25।
29. वही : साखी 57।
30. वही : साखी 60।
31. वही : कहरा 10।
32. वही : शब्द 38।
33. वही : शब्द 38।
34. कबीर बीजक रमैनी 6/7।
35. वही : रमैनी 1।
36. वही : रमैनी 27।
37. कबीर बीजक : रमैनी 67।
38. वही : कहरा –5।
39. वही : रमैनी 82।
40. वही : रमैनी 84।

41. रा. 78।
42. वही : चौतीसा –6।
43. वही : शब्द –48।
44. कबीर बीजक : शब्द 30।
45. वही : शब्द 84।
46. वही : शब्द 84।
47. कबीर बीजक शब्द : 30।
48. वी : शब्द 70।
49. वही : शब्द 10।
50. वही : शब्द 83।
51. वही : शब्द 83।
52. कबीर बीजक शब्द : 98।
53. वही : शब्द 75, रमैनी 62।
54. कबीर बीजक शब्द 41।
55. वही : शब्द 11।
56. वही : शब्द 4।
57. कबीर बीजक शब्द 40।
58. वही : साखी 53।
59. वही : साखी 153।
60. कबीर रमैनी 67।
61. वही : साखी 29।
62. वही साखी 30।
63. वही साखी 33।
64. साखी 27।
65. रमैनी 66।
66. वही साखी 26।
67. कबीर. साखी74।
68. वही : 18।
69. रमैनी 4।
70. वही : साखी 70।
71. वही : शब्द 104।
72. वही : साखी 36।
73. कबीर रमैनी 32।
74. वही शब्द 97।
75. वही : साखी 249, 315।
76. कबीर साखी 201।
77. वही : साखी 334।
78. वही : साखी 308।
79. वही : साखी 38।
80. वही : साखी 301।
81. साखी 40।

विवेकानंद का नव्यवेदांत

सरोज कुमार वर्मा

स्वामी विवेकानंद समकालीन भारत के वैसे दार्शनिक हैं, जिन्होंने दर्शन की देह से सिद्धांत के पुराने लबादे को उतार कर उसे व्यवहार के नये पोशाक से सुसज्जित किया। एक ऐसा पोशाक जिसमें चमक हो, ऐसी चमक जो लोगों को आकर्षित करे, ऐसा आकर्षण जिसकी डोर में बंधे हुए वे व्यवहार को जीवन में उतारने के लिए विवश हो जायें। यह उस वक्त की जरूरी मांग थी। सिद्धांतों की जुगाली करते-करते आम जनता व्यावहारिक जीवन से कट गयी थी। उसके पास कुछ थोथे शब्द रह गये थे, जिन्हें रटते हुए वह और फिसलती जा रही थी। यह स्थिति महात्माजी के उन तोतों के समान थी जो दाने के लोभ से नहीं फंसने का पाठ पढ़ते हुए शिकारी की जाल में फंस गये थे। इसलिए पहला काम इस जाल को काटना था। यह व्यवहार के चाकू से कट सकता था। इसलिए विवेकानंद के सामने सबसे अहम् समस्या वेदान्त के सैद्धांतिक दर्शन को व्यावहारिक बनाना था। यह काम उन्होंने अपने नव्य-वेदांतवाद के द्वारा किया। अपने नव्य-वेदांतवाद में उन्होंने दर्शन की युगीन व्याख्या करके उसे जन-जीवन के लिए उपयोगी बनाया । तभी तो डॉ0 प्रभाकर माचवे एवं सुरेन्द्र नारायण दतुआर लिखते हैं कि – "वेदांत के उत्कृष्ट विचारों को शास्त्रीयता से मुक्त करना ही उनका अभीष्ट रहा है। अमूर्त अद्वैत का हमारे दैनंदिन जीवन में जीवन काव्यात्मक हो जाना आवश्यक है, अत्यधिक जटिल पौराणिकता में से मूर्त नैतिक रूप निकलने चाहिए और भ्रांतिकारी योगवाद में से अत्यंत वैज्ञानिक और व्यावहारिक मनोविज्ञान प्रकट होना चाहिए।"[1] विवेकानंद का नव्य-वेदांतवाद इन्हीं अनिवार्यताओं को पूरा करने का सघन प्रयास है।

सैद्धान्तिक स्थापना :– नव्य-वेदांतवाद वेदांत को नये ढंग से परिभाषित करने वाला दार्शनिक सिद्धांत है। यद्यपि वेदांत के कई संप्रदाय हैं, परन्तु इसका आधारभूत संप्रदाय अद्वैतवाद ही है। विशिष्टाद्वैत और द्वैताद्वैत आदि इसी के प्रतिकार में निर्मित हुए संप्रदाय हैं। इसलिए नव्य-वेदातंवाद मुख्यतः अद्वैत वेदांत को ही पुनः परिभाषित और परिमार्जित करने वाला निकाय है। वैसे कहीं-कहीं इसमें वेदांत के अन्य संप्रदायों की भी छाप, कोई चाहे तो, देख सकता है। मगर मूलतः यह केन्द्रित अद्वैत वेदांत पर ही है। इसलिए सभी नव्य-वेदांतवादी दार्शनिकों ने अपने दर्शन की भित्ति अद्वैत वेदांत को ही बनाया है। विवेकानंद भी ऐसे ही चिंतक हैं, जिन्होंने अद्वैत वेदांत की नींव पर अपने नव्य-वेदांत की इमारत निर्मित की है।

अद्वैत वेदांत वह दार्शनिक सिद्धांत है, जो एकमात्र परम सत्ता में विश्वास करता है और उसे 'ब्रह्म' की संज्ञा देता है। यहां 'एकमात्र' शब्द भी भाषा की अपर्याप्तता के कारण प्रयोग हुआ है, वरना 'अद्वैत' का मतलब होता है-दो नहीं- और इससे यह प्रतिध्वनित होता है कि दो से ज्यादा-तीन, चार ...... भी नहीं। ओशो इस संदर्भ में कहते हैं– "इसीलिए तो हिन्दुओं ने बड़े श्रम के बाद 'अद्वैत' शब्द खोजा। यह दुविधा के भीतर बड़ी चेष्टा करनी पड़ी। तो न तो वे कहते हैं

दर्शन विभाग, बी.आर. अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय, मुज्जफरपुर (बिहार)

कि ब्रह्म एक है; न वे कहते हैं कि दो है। वे कहते हैं कि इतना ही समझ लो कि दो नहीं है। अद्वैत का अर्थ हुआ : दो नहीं। तो हम साधारणत : कहेंगे, 'भले मानस, एक ही क्यों नहीं कह देते ? ऐसा सिर के पीछे से घुमाकर कान क्यों पकड़ते हो? सीधे क्यों नहीं पकड़ लेते हो ?' अड़चन है : एक कहने में डर है, क्योंकि एक में अर्थ ही तब होता है, जब दो की संख्या सार्थक हो। और उस पार ब्रह्म के अनुभव में दो की कोई संभावना नहीं है। तो जहां दो ही नहीं है, वहां एक की क्या सार्थकता ?"[2] लेकिन हमारी भाषा में इस स्थिति को दर्शाने के लिए जो संख्या बचती है, वह 'एक' ही है, इसलिए मजबूरी में यह कहना पड़ता है कि अद्वैतवेदांत एक परमसत्ता में विश्वास करने वाला सिद्धांत है। इसे थोड़ा और साफ करके, यदि संख्यात्मक शब्दों का प्रयोग किये बिना, कहा जाये तो सिर्फ यह कहना ज्यादा अनुकूल होगा कि यह सिद्धांत, जिसकी सत्यता में विश्वास करता है, वह ब्रह्म मात्र है। ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । जो कुछ है ब्रह्म ही है। इसलिए इस सिद्धांत का मूल प्रतिपाद्य 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या' से प्रकट होता है। यद्यपि कि यह श्लोक यहां पूरा उद्धृत नहीं है, लेकिन अपने अधूरेपन में ही यह अद्वैत वेदांत की स्थापना को साफ तौर पर व्यक्त कर देता है, जिसके मुताबिक ब्रह्म को सत्य मानते हुए जगत् को मिथ्या माना गया है।

यदि अद्वैत वेदांत के अतीत का पन्ना उलटें तो यह धुंधले रूप में वैदिक साहित्य में दिखायी पड़ता है और कालान्तर में इसका धुंधलापन साफ भी होता चलता है, लेकिन यह पूरी तरह पहचान में तब आता है जब गौड़पाद अपने 'माण्डुक्य कारिका' की रौशनी में इसे देखते हैं। यहीं से उनके शिष्य के शिष्य शंकराचार्य इसे आमंत्रित कर अपने यहां ले जाते हैं और बादरायण के 'ब्रह्म सूत्र' के हवाले से अपने 'शांकर भाष्य' में इस तरह स्थापित करते हैं कि उसकी जगमगाहट से दर्शन के भविष्य का पूरा रास्ता उजाले से भर उठता है। तभी तो उमेष मिश्र कहते हैं– "समस्त संसार में आज भारतीय दर्शन ने शंकराचार्य के नाम से जितनी प्रसिद्धि प्राप्त की है, उतनी न किसी आचार्य के नाम से और न किसी ग्रंथ के नाम से।"[3] इसी तरह एम. हिरियन्ना भी शंकर की महत्ता और सिद्धांत के बारे में लिखते हैं– "शंकर ने जिस विशेष प्रकार के एकवाद का उपदेश किया वह बहुत प्राचीन है, हालांकि इसने अंत में जो रूप धारण किया वह अधिकांश में शंकर के विचारों की उपज है। इसके सैद्धांतिक पक्ष की सबसे प्रमुख विशेषता निर्गुण ब्रह्म को पारमार्थिक सत्ता मानना है, जिसमें यह विश्वास गर्भित है कि जगत् माया है, जीव ब्रह्म से अभिन्न है और मोक्ष में जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है।"[4]

विवेकानंद भी इस सिद्धांत के अनुरूप ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य मानते हैं और इस समूची दुनिया को उसकी अभिव्यक्ति बतलाते हैं। उनके अनुसार वेदांत का मूल 'बहुत्व में एकत्व' है। इसलिए ब्रह्म, जो भौतिक, मानसिक, नैतिक और तात्त्विक सभी दृष्टियों से एक है, वही विश्व के विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है। जीवन एक स्पन्दन मात्र है और हमें भी वही स्पन्दित करता है जो आकाश को स्पन्दित करता है। विवेकानंद ब्रह्म को नित्य, असीम और अनंत मानते हुए कहते हैं कि उसे बाहर की दुनिया में नहीं ढूंढ़ा जा सकता है, क्योंकि बाहर की दुनिया सीमित है। उसे ही अनंत में ढूंढा जा सकता है, और चूंकि अनंत हमारे भीतर निवास करने वाली आत्मा है, इसलिए उसे वहीं ढूंढा जाना चाहिए। परन्तु आत्मरूप होने के कारण वह बाहरी आंखों से

दिखायी नहीं पड़ता। उसे तो संशय–रहित बुद्धि और समर्पण के द्वारा हृदय में ही देखा जा सकता है। विवेकानंद कठोपनिषद् के इस विचार से कि – ''जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत् में प्रविष्ट होकर बाह्य वस्तु के रूप–भेद से भिन्न–भिन्न रूप धारण करती है, उसी प्रकार सब भूतों की वह एक अंतरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस वस्तु का रूप धारण किये हुए है और सबके बाहर भी है जिस प्रकार एक ही वायु जगत् में प्रविष्ट होकर नाना वस्तुओं के भेद से तद्रूप हो गयी है, उसी प्रकार सब भूतों की वही एक अंतरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस रूप की हो गयी है और उनके बाहर भी है।''[5]– अपनी सहमति दर्शाते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि ब्रह्म अनंत सत्ता, अनंत, ज्ञान और अनंत आनंद होने के कारण स्थिर–गतिशील, दूर–नजदीक तथा सबके भीतर और सबके बाहर भी है। अतः वही एक मात्र सत्य है।

परिमार्जित स्थल :– परन्तु ब्रह्म को एकमात्र सत्य मानने के बावजूद विवेकानंद जगत् को मिथ्या नहीं मानते हैं, जैसा कि शंकर मानते हैं। शंकर के अद्वैत वेदांत में ब्रह्म की सत्यता ही जगत् के मिथ्यात्व पर निर्भर करती है। यदि इस क्रम से किसी को आपत्ति हो तो वह इसे पलट कर कह सकता है कि ब्रह्म की सत्यता की अनिवार्य तार्किक परिणति जगत् का मिथ्यात्व है। यद्यपि कि मिथ्यात्व का अर्थ यहां अनस्तित्व नहीं है, इसीलिए शंकर ने सत्ता की व्यावहारिक श्रेणी में जगत् को रखा है, लेकिन इतना करने के बाद भी उनके मिथ्यात्व से अनस्तित्व की ही अनुगूंज आती रहती है और इस पर विचार करने वाले को इसके लिए कैफियत देनी पड़ती है। इसीलिए विवेकानंद शंकराचार्य की इस अवधारणा से ही सहमत नहीं होते। वे उनके 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या' की उक्ति से असहमत होते हुए यह कहते हैं कि यह संसार असत्य नहीं; बल्कि ब्रह्म की अभिव्यक्ति होने के कारण सत्य है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि विवेकानंद को भी मिथ्यात्व में असत्यता की ही प्रतिध्वनि आई होगी या फिर औरों द्वारा लगाये गये आरोपों का उत्तर देने के लिए उन्होंने ऐसा किया होगा। अतः यही वह परिमार्जित स्थल है, जहां वे शंकराचार्य को परिष्कृत कर उनकी स्थापनाओं को परिमार्जित करते हैं। इसलिए अद्वैत वेदांत से नव्य–वेदांत का अंतर भी यहीं स्पष्ट होता है। इसी अंतर को ध्यान में रख कर सैद्धान्तिक स्थापना में यह कहा गया है कि नव्य–वेदांत में कोई चाहे तो अद्वैत वेदांत के अलावा विशिष्टाद्वैत या द्वैताद्वैत आदि संप्रदायों की भी छाप देख सकता है, क्योंकि ये संप्रदाय जगत् की सत्यता में विश्वास करनेवाले संप्रदाय हैं। हालांकि उनके विश्वास और नव्य–वेदांत के विश्वास में फर्क है, लेकिन इस विश्वास भर से कोई चाहे तो ऐसा कर सकता है, वरना नव्य–वेदांत अद्वैत वेदांत की ही पुनर्व्याख्या है।

इसी पुनर्व्याख्या के कारण विवेकानंद जगत् को असत्य नहीं मानते । उनके अनुसार चूंकि यह जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है, इसलिए यह सत्य है और इसीलिए वे यह कहते हैं कि एक क्षुद्र जीव से लेकर विशाल मानव तक उसी एक बह्म की भिन्न–भिन्न मात्राओं में हुई अलग–अलग अभिव्यक्तियां हैं। क्षुद्र जीव उसकी निम्नतम अभिव्यक्ति है और विशाल मानव उसकी उच्चतम अभिव्यक्ति। अपनी इसी मान्यता के कारण वे अमीबा को भी एक प्रकार का गौतम बुद्ध मानते हुए कहते हैं– ''यदि परिवर्तन–प्रक्रिया में एक सिरे पर बुद्ध हैं तो दूसरे सिरे पर अमीबा भी बुद्ध का ही एक रूप होगा। प्रलय के समय विश्व में ऊर्जा की वही मात्रा रही होगी, जो पहले थी। साध्य रूप में, निम्नतम कीटाणु से जो हमारे पैरों तले रेंगता है, उच्चतम साधु तक सबमें अनंत

शक्ति, अनंत शुचिता और अन्य प्रकार की अनंतता पायी जाती है।..... उनके बीच अंतर केवल अभिव्यक्ति की मात्रा में ही है। कीटाणु उस ऊर्जा को निम्नतम मात्रा में अभिव्यक्त करता है, मनुष्य उसी ऊर्जा को कुछ अधिक मात्रा में अभिव्यक्त करता है तथा कोई ईश्वरीय व्यक्तित्व उसी ऊर्जा को अधिकतम मात्रा में अभिव्यक्त करता है।''[6]

अब यदि ऐसा है तो मामला यहां उलझता है कि वह एक ब्रह्म, जो असीम और अनंत है, सीमित और सांत होकर विश्व की अनेक वस्तुओं में कैसे प्रकट होता है? विवेकानंद इस गुत्थी को देश, काल और निमित्त के द्वारा सुलझाते हैं। उनके अनुसार जब हम उस एकमात्र ब्रह्म को देश यानी स्थान, काल यानी समय और निमित्त यानि कारण–कार्य के चश्मे से देखते हैं तो वह नानारूपात्मक संसार के रूप में प्रतिभासित होने लगता है। इसे विवेकानंद एक रेखा–चित्र द्वारा समझाते हुए कहते हैं–''इस चित्र में (क) ब्रह्म है और (ख) है जगत्। ब्रह्म ही जगत् हो गया है। यहां पर जगत् शब्द से केवल जड़–जगत् ही नहीं; किन्तु सूक्ष्म तथा आध्यात्मिक जगत्, स्वर्ग, नरक और वास्तव में जो कुछ भी है, सबको इसके अंतर्गत् लेना होगा। मन एक प्रकार के परिणाम का नाम है, शरीर एक दूसरे प्रकार के परिणाम का–इत्यादि, इत्यादि। इन सबको लेकर अपना यह जगत् निर्मित हुआ है। यह ब्रह्म (क) देश–काल–निमित्त (ग) में से होकर आने से जगत् (ख) बन गया है। यही अद्वैतवाद की मूल बात है। हम देश–काल–निमित्त रूपी कांच में से ब्रह्म को देख रहे हैं, और इस प्रकार नीचे की ओर से देखने पर ब्रह्म हमें जगत् के रूप में दीखता है। इससे यह स्पष्ट है कि जहां ब्रह्म है, वहां देश–काल–निमित्त नहीं है। काल वहां नहीं रह सकता, क्योंकि वहां कोई बाह्य परिणाम नहीं है। जहां सत्ता केवल एक है, वहां गति एंव निमित्त अथवा कार्य–कारणवाद भी नहीं रह सकता।''[7] विवेकानंद के इस कथन से स्पष्ट है कि देश, काल और निमित्त स्वतंत्र सत्तायें नहीं हैं । ये सापेक्ष सत्तायें हैं और मन के परिवर्तन मात्र हैं। देश बाहर की दो वस्तुओं पर निर्भर करता है, काल बाहर की दो घटनाओं पर और निमित्त इन्हीं दोनों–देश और काल–पर। लेकिन सापेक्ष होते हुए भी इन तीनों का अस्तित्व है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा ब्रह्म विश्व के रूप में प्रकट होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म और विश्व के बीच उसी तरह का रिश्ता है, जिस तरह का रिश्ता सागर और उसकी लहरों के बीच होता है। लहरों का कोई स्वतंत्र और अलग अस्तित्व नहीं होता। वह सागर की सतह पर ही उठती–गिरती हैं। फिर भी वे एकदम से असत्य नहीं होतीं और सापेक्ष ढंग से उनका अस्तित्व भी होता है।

विवेकानंद विश्व की व्याख्या के क्रम में माया की अवधारणा पर भी विचार करते हैं, क्योंकि माया वेदांत दर्शन की एक अतिमहत्त्वपूर्ण अवधारणा है, और वहां विश्व की व्याख्या इसी के सहारे की गयी है। शंकराचार्य के अनुसार हम माया के कारण ही ब्रह्म को नहीं जान पाते, इसलिए कि माया हम पर अज्ञान का पर्दा डाल देती है। शंकर माया के दो कार्यों– आवरण और विक्षेप–की बात करते हुए कहते हैं। आवरण के द्वारा माया ब्रह्म पर पर्दा डाल देती है और विक्षेप के द्वारा उसे जगत् के रूप में प्रक्षेपित कर देती है। इस प्रकार माया सत्य को ढंक कर उसे असत्य रूप में दिखलाने का कार्य करती है। अद्वैत वेदांत में 'माया' शब्द का प्रयोग अविद्या, अज्ञान, अध्यास, अध्यारोप, विवर्त, भ्रांति, भ्रम आदि अर्थों में हुआ है। इसीलिए शंकर के यहां माया भ्रम अथवा अविद्या के रूप में उपस्थित होती है और उनके 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या' से संसार असत्य

घोषित होने लगता है। परन्तु विवेकानंद माया के इस अर्थ से सहमत नहीं होते। उनके अनुसार माया भ्रम अथवा अविद्या नहीं है, बल्कि घटनाओं का वर्णन मात्र है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में– "माया संसार की व्याख्या करने के निमित्त कोई सिद्धांत नहीं है। वह संसार की वस्तुस्थिति का वर्णन मात्र है।"[8] इसलिए जब यह कहा जाता है कि जगत् मिथ्या है तो इसका कुल इतना ही अर्थ होता है कि इसकी कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है। इसे वे स्पष्ट करते हुए कहते हैं–" 'इस जगत् का अस्तित्व नहीं है', 'जगत् मिथ्या है'– इसका अर्थ क्या है? इसका यही अर्थ है कि उसका निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। मेरे, तुम्हारे और अन्य सबके मन के संबंध में इसका केवल सापेक्ष अस्तित्व है। हम पांच इन्द्रियों द्वारा जगत् को जिस रूप में प्रत्यक्ष करते हैं, यदि हमारी एक इन्द्रिय और होती, तो हम इसमें और भी कुछ अधिक प्रत्यक्ष करते तथा और अधिक इन्द्रिय–सम्पन्न होने पर हम इसे और भी भिन्न रूप में देख पाते। अतएव इसकी यथार्थ सत्ता नहीं है– इसकी अपरिवर्तनीय, अचल, अनंत सत्ता नहीं है। पर इसको अस्तित्वशून्य या असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह तो वर्तमान है और इसमें तथा इसी के माध्यम से हम कार्य करते हैं। यह सत् और असत् का मिश्रण है।"[9]

विवेकानंद के अनुसार यह सारा संसार और हमारा संपूर्ण जीवन सत्–असत्, अस्तित्व–अनस्तित्व, अंधेरा–उजाला, सुख–दुख आदि विरोधों से व्याप्त है। और इन्हीं विरोधों का प्रकटीकरण माया है। इस प्रकार माया मनुष्य, जीवन और जगत् के सापेक्षिक अस्तित्व का प्रतिपादन है। अतः माया कहने का यह अर्थ नहीं है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु अशुभ है, बल्कि इसका अर्थ यह है कि आशा–निराशा, सुख–दुख तथा जीवन–मृत्यु सभी एक–दूसरे से इस प्रकार अवियोज्य रूप में जुड़े हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। इस तरह माया एक विरोध की अवस्था है, लेकिन यह विरोध परम नहीं है, क्योंकि मानव माया का सहयोगी नहीं बल्कि उसका प्रतिद्वन्द्वी है। अतः उसे माया के बीच रहकर ही मुक्ति के लिए प्रयास करना है। मुक्ति उसका जन्मसिद्ध अधिकार है और इसे माया को जीत कर प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विवेकानंद ब्रह्म से जगत् की व्याख्या जिस तरह देश, काल और निमित्त के सहारे करते हैं और उस सिलसिले में माया की जैसी व्याख्या करते हैं वह शंकराचार्य की अवधारणाओं का परिमार्जन है।

तथ्यगत कारण – विवेकानंद ने यह परिमार्जन भारतीय जन–मानस को जगत् और जीवन की ओर उन्मुख करने के लिए किया। जब हम भारतीय दर्शन को पीछे मुड़कर देखते हैं तो पाते हैं कि वैदिक काल में यह जगतोन्मुख था। यह इसका प्रारंभिक काल है। इस काल के ऋषि, जो वैदिक मंत्रों के द्रष्टा और ऊँचे दार्शनिक सिद्धांतों के प्रतिपादक थे, गृहस्थ और पत्नी–बच्चों वाले थे। उन्हें श्रम से कोई वैर नहीं था, जगत् से कोई दुश्मनी नहीं थी। वे खेतों में काम करते थे, पशुओं को पालते थे, परिवार का पोषण करते थे, अतिथियों का सत्कार करते थे तथा अन्य सभी प्रकार के जो सांसारिक धर्म हैं, उनका निर्वहन करते थे। इसलिए तब का समाज प्रवृत्ति मार्गी था। लोगों में जगत् के प्रति विमुखता नहीं थी। लेकिन उसके बाद जब उपनिषद् का काल आया तो मोक्ष को जीवन का परम लक्ष्य घोषित किया गया और उसकी प्राप्ति के लिए धन और स्त्री का परित्याग आवश्यक माना गया। यह आवश्यकता इसलिए हुई कि मोक्ष

को एक ऐसी स्थिति के रूप में चित्रित किया गया जो सांसारिकता से परे है। अतः उसे संसार से परहेज करके ही पाया जा सकता है। इसका परिणाम यह हुआ कि श्रम की महत्ता घट गयी। स्वस्थ्य और बलवान आदमी भी संसार से विमुख होने लगा। मोक्ष–प्राप्ति के लिए उसने धन और स्त्री की तरफ से मुंह फेर लिया। फिर उसके लिए न तो गृहस्थी जरूरी रह गयी न धनोपार्जन। इससे स्त्रियों की मर्यादा तो घटी ही, धन का उपार्जन भी बंद होने लगा। फिर पूरा समाज एक अजीब–सी उदासीनता और पलायन वृत्ति का शिकार हो गया। इसमें जो थोड़ा–बहुत कोर–कसर बाकी रह गया था उसे बौद्ध और जैन धर्माचार्यों ने पूरा कर दिया। इन आचार्यों ने सन्यास की ऐसी स्तुति की, उसका ऐसा गुण–गान किया, उसकी ऐसी आरती उतारी कि समूचा समाज सन्यासियों से भर गया।

इसके बाद शंकराचार्य आये। यद्यपि उनका उद्देश्य बौद्धों के प्रभाव को कम करना था, परन्तु उन्होंने भी जिस 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या' का सिद्धांत दिया उससे समाज में कोई तब्दीली नहीं आई। उल्टे लोगों में जीवन और जगत् के प्रति विमुखता का भाव और गहरा ही गया। वे जगत् की चिंता छोड़ कर ब्रह्म को पाने के लिए ललक उठे। इस लोक को संवारने के बदले परलोक को संवारने में जुट गये। यद्यपि शंकर के विरोध में रामानुज और मध्वाचार्य जैसे दार्शनिक जरूर आये, जिन्होंने जगत् को सत्य माना। परन्तु उनकी मान्यता के बावजूद जगत् को उतनी तवज्जोह नहीं मिली, जितनी मिलनी चाहिए थी। इन दार्शनिकों के बाद दर्शन, साहित्य के जिन विस्थापित रास्तों से आगे बढ़ा, उन पर चलने वाले भक्त कवियों ने भी, जो जगत् को सत्य मानने वाले दार्शनिकों से प्रभावित थे, जीवन का लक्ष्य प्रभु–मिलन को ही माना। कोई आकार में लपेट कर, कोई आकार को उतार कर। लेकिन भगवान् ही इनके सर्वेसर्वा रहे। संसार मुट्ठी की रेत की तरह फिसलता रहा। जैसे–तैसे जीवन–यापन करते हुए वे ईश्वर–आराधना में ही लीन रहे। अपने आराध्य से मिलने को बेचैन। इसलिए आम जनता भी जगत् से विमुख ही रही, जीवन से उदासीन, किसी भी तरह जी लेने की जहमत उठाते हुए। इसकी परिणति कायरता में हुई, निर्धनता में हुई। रामधारी सिंह 'दिनकर' इस पर पर्याप्त चर्चा करने के बाद लिखते हैं– "फिर तो, भारत में सदियों तक निवृत्ति–निवृत्ति की भयानक ध्वनी गूंजती रही और कोई भी सुधारक ऐसा उत्पन्न नहीं हुआ, जो समाज को फटकारे कि निवृत्ति की अतिशयता मनुष्य को कायर एवं दरिद्र बना देती है। भक्ति–काल में आकर निवृत्ति का जहर कुछ कम अवश्य हुआ, किन्तु, भक्त पंडित और कवि स्वयं निवृत्ति के संस्कारों से ग्रसित थे और यद्यपि, कहने को वे द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत की बातें कर रहे थे, किन्तु अंतर्मन उनका भी यह मानता था कि 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' वाला सिद्धांत ही सत्य है। कबीर, नानक और वल्लभाचार्य ने गृहस्थी बसाकर संसार को सम्मान अवश्य दिया, किन्तु, जनता को प्रवृत्ति के मार्ग पर लाने का सचेष्ट प्रयास उनमें भी नहीं था। कबीर आदि निर्गुण–पंथियों के उपदेश तो, निश्चित रूप से, निवृत्ति को बढ़ावा देने वाले थे। दार्शनिक स्तर पर जीवन को असत्य कहते–कहते हिन्दुओं ने उसे, सचमुच ही, असत्य मान लिया एवं देश और समाज से उनकी दिलचस्पी दिनोंदिन कम होती चली गयी। प्रत्येक हिन्दू, मां के पेट से ही, इस विश्वास को लेकर आने लगा कि परलोक की साधना सबसे श्रेष्ठ सुकर्म है, चाहे लोक हमारे हाथ से छूट ही क्यों न जाये। इसीलिए, कण्ठी, माला, आरती और घंटे में मग्न हिन्दुओं का यह बात कभी अखरी ही नहीं कि उनका देश पराधीन है अथवा वे निर्धन और दरिद्र होते जा रहे हैं।"[10]

विवेकानंद को यही परिवेश मिला था । उनके वक्त देश की यही दुःस्थिति थी। इसलिए उनके लिए जरूरी था कि वे तत्कालीन परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए यहां की जनता को जीवन की ओर उन्मुख करें। उसे इस लोक की महत्ता समझायें और यह बतायें कि परलोक इहलोक से भाग कर नहीं सुधरता है। वह तो इस लोक को संवार कर भी सुधर सकता है। और यह तभी हो सकता है जब दार्शनिक स्तर पर जगत् को मिथ्या घोषित नहीं किया जाये। लेकिन यह घोषणा एकदम से ब्रह्म को खारिज करके नहीं की जा सकती थी, न उसके विरोध में कोई सिद्धांत निर्मित्त करके की जा सकती थी। विशिष्टाद्वैतवादियों और द्वैतवादियों के इस प्रयास और उनके प्रभाव का हश्र वे देख चुके थे । इसलिए सबसे मुफीद रास्ता यही था कि अद्वैत वेदांत की ही पुनर्व्याख्या की जाये और इस क्रम में ब्रह्म की सत्यता को अक्षुण्ण रखते हुए जगत् की ऐसी व्याख्या की जाये कि उसकी भी सत्यता खंडित न हो। उन्होंने अपने नव्य–वेदांतवाद में यही किया। देश, काल और निमित्त के त्रिपार्श्व से ब्रह्म की एकता को गुजार कर जगत् की अनेकता में इस प्रकार बिखेर दिया कि वह ब्रह्म के जैसा ही सत्य लगने लगा और इसकी स्वीकृति के लिए माया के शुभ और अशुभ के विरोधों के इकट्ठे प्रकटीकरण के रूप में इस ढंग से पुनर्परिभाषित और पुनर्व्याख्यायित किया कि उससे लिपटा हुआ मिथ्यात्वा का भाव तिरोहित हो गया। फलतः जगत् की सत्यता का भाव भारतीय जन मानस में रचने–बसने लगा और यहां के लोग जीवन की ओर लौटने लगे। स्वामी आत्मानंद का यह कथन इस बात की गवाही देता है– "स्वामीजी ने बताया कि हम संसार को बिना समझे–बुझे मिथ्या मिथ्या कहते रहे। इसी का परिणाम हमारा यह अधःपतन है। उन्होंने भौतिकता पर जोर दिया। वे कहते थे कि आज भारत को राजोगुण की आवश्यकता है। सत्त्वगुण की दुहाई देते हुए, धर्म की आड़ में आज भारतवासी घोर तमोगुण में डूबे हुए हैं। अतः स्वामी जी ने भारतीय नवजागरण के लिए यह अनिवार्य देखा कि बाहर की अच्छी बातों को हम सीखें, हमारा रहन–सहन कुछ सुधर सके। वे कहते थे कि जैसे पक्षी एक पर से नहीं उड़ सकता, उसे उड़ने के लिए दोनों परों की आवश्यकता होती है, वैसे ही किसी भी देश को ऊपर उठने के लिए अभ्युदय और निःश्रेयस रूपी दोनों पंखों की आवश्यकता होती है।"[11] विवेकानंद ने अपने नव्य–वेदांत के द्वारा यह दूसरा पंख देने का सफल प्रयास किया।

व्यावहारिक परिणति :– इसी प्रयास की यह परिणति हुई कि आत्महीनता से श्लथ भारत आत्मगौरव की अंगड़ाई लेकर उठ खड़ा हुआ। तब के पढ़े–लिखे बौद्धिक भारतीय अंगरेज और अंगरेजी के प्रभाव के कारण अपने धर्म और दर्शन को हेय दृष्टि से देखने लगे थे, विवेकानंद ने अपने नव्य–वेदांतवाद के द्वारा उनकी फिर से इन पर आस्था जमाने और जमाये रखने का काम किया। तब के हिन्दू यूरोपीय बौद्धिक आक्रमण से इस कदर टूट गये थे कि जब तक उनके धर्म, दर्शन, परंपरा और संस्कृति की प्रशंसा पश्चिमी जगत् न करे तब तक वे उन्हें श्रेष्ठ मानने को तैयार ही न थे। विवेकानंद ने इस हीनता की ग्रंथी को तोड़ा और भारतीयों में गौरव की भावना जगाते हुए उन्हें अपनी उन्नत संस्कृति, आध्यात्मिक विरासत और समृद्ध परंपराओं का योग्य उत्तराधिकारी बनाया। इसके लिए उन्होंने अपने धर्म और दर्शन की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की कि पश्चिम वाले अचंभित रह गये। इस व्याख्या के द्वारा उन्होंने पश्चिम वालों को यह बताया कि आध्यात्मिक संपदा भारतीयों के पास उनसे बहुत ज्यादा है, इतना ज्यादा कि वे इसका उन्हें दान भी कर सकते हैं, और यह दान न केवल उनके लिए बल्कि पूरी मानवता के लिए कल्याणकारी है।

विवेकानंद का यही कथन भारतीयों की झुकी रीढ़ को एकदम–से सीधा कर दिया। वे जैसे गहन खुमारी से जाग कर एकदम–से तरोताजा हो गये। और विवेकानंद ने यह उद्घोष भारत के प्रांगण से नहीं किया, यूरोप की धरती पर जाकर किया, उनकी आंखों में आंखें डालकर। तभी तो 'द न्यू हेराल्ड' ने शिकागो के सर्वधर्म सम्मेलन में उनके उद्गार सुनने के बाद लिखा कि "उन्हें सुनने के बाद हम यह अनुभव करते हैं कि भारत जैसे ज्ञानी राष्ट्र को मिशनरी भेजना कितनी मूर्खता है।" डॉ. ए.एल. बाशम उनके इस कार्य का आकलन करते हुए लिखते हैं – "विवेकानंद विश्व–इतिहास में अपने उस कार्य को प्रारंभ करने के लिए भी सदा स्मरण किये जायेंगे, जिसे स्वर्गीय डॉ. सी.ई.एम. जोड़ ने एक बार 'the counter-attack from the East' (प्राच्य का प्रति–आक्रमण) कहा था। प्रायः एक हजार वर्ष पूर्व दक्षिण–पूर्व एशिया और चीन में बौद्ध एवं हिन्दू धर्म का प्रचार करते हुए भ्रमण करनेवाले भारतीय धर्म प्रचारकों के बाद (आधुनिक काल में) वे ही सर्वप्रथम एक ऐसे धर्म शिक्षक हुए, जिन्होंने भारत के बाहर प्रभाव का विस्तार किया। यहां हम केशवचंद्र सेन (फुटनोट में संपादक ने इनके बारे में लिखा है कि उन्होंने स्वामीजी के समान विशुद्ध हिन्दू धर्म का प्रचार नहीं किया था) के रूप में एक छोटा सा अपवाद पाते हैं, जिन्होंने लंदन तथा अन्य स्थानों में कुछ व्याख्यान दिये, परन्तु उनका प्रभाव नगण्य था। पश्चिम में उन दिनों पहले से ही ऐसे लोग थे, जिन्हें हिन्दू धर्म की महिमा तथा उसमें निहित सौंदर्य की थोड़ी समझ थी और वे उसके प्रति प्रशंसा का भाव भी रखते थे; परन्तु आधुनिक जगत् के इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ कि एक भारतीय ने भारत की सीमा के बाहर जाकर शिक्षा दी और वे अपने व्यक्तिगत आकर्षण, गहन आध्यात्मिक भाव तथा अद्भूत वाग्मिता के द्वारा पाश्चात्य लोगों को अपने अनुयायी के रूप में भारत लाकर उन्हें अपने कार्य में नियोजित करने में सफल हुए।"[12]

यद्यपि यह सही है कि भारतीय नवजागरण का काल राजा राममोहन राय के समय से शुरू होता है। समकालीन भारतीय दर्शन की शुरूआत भी यहीं से मानी जाती है। उन्हीं के समय से यह विचार किया जाने लगा था कि भारत का पुनरुत्थान कैसे हो? इसके लिए आंदोलन भी चलाये गये और आगे चल कर केशवचन्द्र सेन, महर्षि देवेन्द्रनाथ, महादेव गोविन्द रानाडे, दयानंद सरस्वती, एनी बीसेंट जैसे लोगों ने अपने विचारों, संगठनों और संस्थाओं के द्वारा इस आंदोलन को मजबूत किया और इसे आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन्हीं लोगों के निरंतर प्रयास से यह आंदोलन बचा और विकसित होता रहा। परन्तु इस आंदोलन को शीर्ष पर पहुंचाने का काम विवेकानंद ने ही किया। इन सुधारकों ने जो आकृति तैयार की, विवेकानंद ने उसमें रंग भर कर, उसे एक मुकम्मल तस्वीर बना दी। इसलिए नये भारत की पहचान विवेकानंद की कूची से ही हुई। उन्होंने ही स्पष्ट रूप से उस ओर इशारा किया जिधर नये भारत को जाना था। भारत के आनेवाले कल की वाणी विवेकानंद के उद्गारों से ही मिली। इसीलिए रामधारी सिंह 'दिनकर' उन्हें सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का जनक मानते हुए लिखते हैं– "स्वामी जी ने अपनी वाणी और कर्त्तृत्व से भारतवासियों में यह अभिमान जगाया कि हम अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं; हमारे धार्मिक ग्रंथ संसार में सबसे उन्नत और हमारा इतिहास सबसे महान् है; हमारी संस्कृत भाषा विश्व की सबसे प्राचीन भाषा है और हमारा साहित्य सबसे उन्नत साहित्य है; यही नहीं, प्रत्युत हमारा धर्म ऐसा है जो विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरा है और जो विश्व के सभी धर्मों का सार होता

हुआ भी उन सबसे अधिक है। स्वामी जी की वाणी से हिन्दुओं में यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि उन्हें किसी के भी सामने मस्तक झुकाने अथवा लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पहले उत्पन्न हुई, राजनैतिक राष्ट्रीयता बाद को जनमी है और इस सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता स्वामी विवेकानंद थे।''[13]

इस सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का एक पहलू पश्चिम से विनिमय भी था। विवेकानंद के समय देश गुलाम था। इसलिए यहां का जन–मानस अंग्रेजों की चाकरी करते–करते उनकी श्रेष्ठता के सामने नतमस्तक होकर श्रीहीन हो गया था। अंग्रेज भौतिक स्तर पर काफी संपन्न थे, क्योंकि पश्चिम वैज्ञानिक विकास के द्वारा प्रचुर धन–संपदा अर्जित कर चुका था। इसलिए अंग्रेजों के रहन–सहन, खान–पान, वेशभूषा, सबमें संपन्नता झलकती थी। दूसरे वे यहां के शासक थे। इसलिए भी उनका प्रभुत्व और दबदबा था। इसके विपरीत यहां की जनता शासित और गरीब थी। न उसके पास भौतिक संपन्नता थी न उसके प्रदर्शन का अवसर। ले–दे कर इनके पास एक उन्नत आध्यात्मिक परंपरा थी, जो भौतिक समृद्धि के बाद की चीज होती है। जब शरीर की जरूरतें पूरी हो जाती हैं तब आत्मा की आवश्यकता का उपक्रम सार्थक होता है। इसलिए यहां वाले उस उन्नत परंपरा का कोई सार्थक उपयोग नहीं कर पा रहे थे, न उस पर उनको कोई गुमान था। वे तो दीन–हीन यूरोप के सामने खड़े थे ताकि उन्हें भौतिकता का कुछ खैरात मिल जाये। विवेकानंद को यह स्थिति बहुत नागवार गुजरी। उन्हें भारतवासियों का ऐसा दबा–कुचला होकर पश्चिम वालों के सामने याचक की तरह खड़ा होकर हाथ पसारे रहना अखर गया। इसलिए उन्होंने आहत होकर यह घोषणा की कि हम पश्चिम से केवल लेंगे ही नहीं, उन्हें देंगे भी। उनके पास यदि भौतिक समृद्धि प्रचुरता में है तो हमारे पास उन्नत आध्यात्मिक परंपरा है, ऐसी परंपरा जिसके बिना सारी समृद्धि बेमानी है। इसलिए यदि आर्थिक मोर्चे पर हम पिछड़े हैं तो आध्यात्मिक मोर्चे पर पश्चिम भी पिछड़ा है। इस प्रकार दोनों अधूरे हैं और दोनों को पूरे होने के लिए एक–दूसरे का साथ चाहिए, सहयोग चाहिए।

इसलिए हमें एक विनियम करना होगा। पश्चिम से हम भौतिकता का दान लेंगे और बदले में उन्हें आध्यात्मिकता का दान देंगे। अतः हमें केवल याचक बनकर उनसे खैरात लेने की जरूरत नहीं है, बल्कि हमारे पास भी उन्हें देने के लिए बहुत कुछ है। और इस लेन–देन से ही समूची दुनिया और पूरी मानवता का कल्याण हो सकता है। इसलिए उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा– ''क्या यह अच्छा होगा कि हम सदैव पश्चिम वालों के चरणों के पास बैठकर सब–कुछ यहां तक कि धर्म भी, सीखते रहें। क्या हम केवल लेते ही रहेंगे? देना हमें कुछ भी नहीं है ? पश्चिम से हम यंत्रवाद की शिक्षा ले सकते हैं। और भी कई बातें अच्छी हैं, जिन्हें पश्चिम से ग्रहण करना आवश्यक दीखता है। किन्तु, हमें उन्हें कुछ सिखाना भी है। हम उन्हें धर्म और आध्यात्मिकता की शिक्षा दे सकते हैं। विश्व–सभ्यता अभी अधूरी है। पूर्ण होने के लिए वह भारत की रहा देख रही है। वह भारत की उस आध्यात्मिक संपत्ति की प्रतीक्षा में है, जो पतन, गंदगी और भ्रष्टाचार के होते हुए भी भारत के हृदय में जीवित और अक्षुण्ण है। इसलिए, संकीर्णता को छोड़कर हमें बाहर निकलना है। पश्चिम वालों से हमें एक विनिमय करना है। धर्म और आध्यात्मिकता के स्तर की चीजें हम उन्हें देंगे और बदले में, भौतिक साधनों का दान हम सहर्ष स्वीकार करेंगे। समानता के

बिना मैत्री संभव नहीं होती और समानता वहां आयेगी कहां से, जहां एक तो बराबर गुरु बना रहना चाहता है, और दूसरा उसका सनातन शिष्य ?"[14] विवेकानंद का यही कथन धर्म और विज्ञान के समन्वय विषयक विचार का आधार बना।

प्रासंगिक उपादेयता :– इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विवेकानंद का नव्य – वेदांतवाद दर्शन की सैद्धान्तिकता से व्यावाहरिकता की ओर जाने का प्रस्थान बिन्दु है। उनके पहले दर्शन महज वैचारिक जुगाली में उलझा हुआ था। आत्मा और ब्रह्म जैसी पारलौकिक सत्ताओं से संबंधित बहस–मुहावरों की प्रधानता थी। माया की वजह से संसार को असार समझने का प्रचलन था। इन सब की निष्पत्ति थी कि जीवन रोज–रोज छीजता जा रहा था। जगत् दिन–व–दिन छूटता जा रहा था। गरीबी, बदहाली, जहालत, गुलामी और हीनता इस मुल्क की तकदीर बन गयी थी। विवेकानंद ने अपने नव्य–वेदांतवाद के द्वारा इस तकदीर को बदला। अपनी व्याख्याओं के द्वारा उन्होंने इस देश को हौसला दिया, इसके स्वाभिमान को जगाया और विजय की प्रेरणा दी। लेकिन उनके हुये हुए एक शताब्दी बीत गई। उनका जन्म 1863 में हुआ था और महज 39 साल की उम्र में 1902 में उन्होंने अपना देह–त्याग कर दिया। यद्‌यपि कि इस छोटी–सी अवधि में ही इस देश और दुनिया को इतना कुछ दिया कि समूची मानवता हमेशा–हमेशा के लिए उनका ऋणी रहेगी। परन्तु उनके अशेष ऋण के बावजूद उनके होने के सौ से अधिक वर्षों के बाद यह सोचना जरूरी है कि क्या उनके विचारों की आज भी कोई प्रासंगिकता बची हुई है? क्या उसकी आज भी कोई उपादेयता है?

निश्चित रूप से इसका उत्तर 'नहीं', नहीं हो सकता है, क्योंकि किसी भी काल–खंड में मानवता के हित के लिए यदि कोई विचार दिया गया है, तो कालान्तर में वह एकदम–से निरर्थक नहीं हो जाता। उसकी प्रासंगिकता और उपादेयता बची और बनी रहती है। हाँ! समय के हिसाब से उसमें संशोधन–परिमार्जन करना पड़ता है, पड़ सकता है। कुछ मामलों में यह संशोधन–परिमार्जन विवेकानंद के विचारों में भी करने जैसा लगता है। और यह सर्वाधिक जरूरी उनके पश्चिम से विनिमय संबंधी विचार में है। विवेकानंद यह विनिमय दो कारणों से करना चाह रहे थे। एक तो वहां से धन लाकर भारत की निर्धनता दूर करना और दूसरा वहां के निपट भौतिकवादियों को आध्यात्मिकता का पाठ पढ़ाना। लेकिन अफसोस के साथ यह स्वीकारना पड़ता है कि उनके ये दोनों उद्देश्य पूरे नहीं हुए। न तो भारत की निर्धनता दूर करने के लिए वहां से धन मिला, न वहां वाले आध्यात्मिकता का पाठ पढ़ पाये। ये दोनों काम तब भी नहीं हुए जब स्वयं विवेकानंद इसके लिए प्रयास कर रहे थे। यद्‌यपि कि वे इसी के लिए दो–दो बार पश्चिम गये थे और कई महीनों तक वहां रह कर इसके लिए प्रयत्न करते रहे थे। इन दोनों यात्राओं में उन्होंने पश्चिम के कई मुल्कों का भ्रमण भी किया था। लेकिन सब जगह से उन्हें निराशा ही हाथ लगी थी और दोनों ही बार वे वहां से असफल होकर ही लौटे थे। दूसरी बार की निराशा और असफलता का अनुपात तो पहली बार से ज्यादा ही था। रोमां रोलां उनकी दूसरी यात्रा की विफलता के बारे में लिखते हैं – "डेढ़ वर्ष बाद जब वे भारत लौटे, तब वे जीवन से प्रायः पूर्णतः विरक्त हो चुके थे। इस बार पाश्चात्य साम्राज्यवाद का हिंस्त्र चेहरा उघाड़ने के बाद उनके मन से सारा हिंसा का भाव निकल गया था। वे पाश्चात्य साम्राज्यवाद की खूनी और घृणा से भरी

आंखों में आंखें डाल कर देख चुके थे। उन्होंने अनुभव किया कि पहली यात्रा में वह अमेरिका और यूरोप के लोकतंत्र की सतही बातों, उसकी शक्ति और संगठन क्षमता के छलावे में आ गये थे। इस बार उन्होंने उसमें छिपी पैसा बटोरने की ललक, अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए भीषण संघर्ष और उसके विकराल गठबंधनों को समझ लिया था। वे एक सुदृढ़ सहयोग की भव्यता के प्रति अपनी श्रद्धांजलि देने में समर्थ थे......

"किन्तु भेड़ियों के झुंड में कौन सा सौंदर्य है?" एक प्रत्यक्षदर्शी ने कहा, "पाश्चात्य जीवन उन्हें नरक सा लगा।" भौतिक समृद्धि अब उन्हें धोखा न दे सकी। उन्होंने देखा कि आत्मशक्ति के निरर्थक अपव्यय के नीचे पीड़ा और छिछोरे चेहरे के पीछे गहरा संताप छिपा हुआ है। उन्होंने निवेदिता से कहा – "पश्चिम में सामाजिक जीवन एक अट्टहास के समान है, पर नीचे है करुण क्रंदन। अंत में रह जाती है केवल एक सिसकी। बाहर तफरी–तमाशा है। वास्तव में भीतर करुण वेदना भरी है। यहां भारत में ऊपर दीखती है उदासी और दुख, पर नीचे छिपी है बेफ्रिकी और मौज–मस्ती।"[15] यद्यपि कि रोमां रोलां का यह उद्धरण विवेकानंद की दूसरी यात्रा की विफलता के बारे में है, लेकिन विवेकानंद पहली यात्रा में भी विफल ही लौटे थे और उनकी यह विफलता इस बात का सूचक है कि वे पूरब और पश्चिम का जो और जैसा विनिमय चाहते थे वह और वैसा विनिमय कभी नहीं हो सकता है। इस विनिमय के नाम पर पश्चिम द्वारा पूरब का सिर्फ शोषण हो सकता है या उस पर आधिपत्य हो सकता है, जैसा कि अभी हो भी रहा है, लेकिन समानता के स्तर पर, जैसा कि विवेकानंद चाहते थे, मैत्री संभव नहीं हो सकता है। अभी प्रगति के नाम पर हम जिस यंत्र, उद्योग, बाजार, हथियार और जीवन–पद्धति को अपनाते जा रहे हैं वह प्रकारान्तर से पश्चिम का पूरब पर वर्चस्व ही है। और यदि यह कहा जाये कि हमारा योग, ध्यान और हमारे साधु–सन्यासी पश्चिम में बड़ी तत्परता से स्वीकृत हो रहे हैं तो यह भी एक छलावा ही है। हमारा योग, ध्यान आत्म–साक्षात्कार की प्रविधि के रूप में नहीं बल्कि सिर्फ दैहिक चिकित्सा–पद्धति के रूप में स्वीकृत हो रहा है और हमारे तथाकथित साधु–सन्यासी धर्म–अध्यात्म को भौतिकता की चाकरी में लगाकर अर्थोपार्जन के उपक्रम में लगे हैं। इस प्रकार पश्चिम अपनी चीजों को तो अपनी शर्तों पर हम पर थोप ही रहा है हमारी चीजों को भी अपनी ही शर्तों पर हमसे ले रहा है। अतः यह स्वीकार लेना श्रेयष्कर है कि विवेकानंद द्वारा प्रस्तावित विनिमय संभव नहीं है। अतः उनके इस विनिमय संबंधी विचार का परिमार्जन किया जाना जरूरी है जिसका सूत्र गांधी की पाश्चात्य सभ्यता की आलोचना और उसके इंकार से मिलता है, मिल सकता है।

विवेकानंद के विचारों में संशोधन का दूसरा स्थल उनका प्रवृत्ति विषयक वह विचार है जो उन्होंने सौ साल पहले भारत को दिया था। बेशक उस समय निवृत्ति की परंपरा से जकड़े होने के कारण भारत भौतिकता के प्रति बिल्कुल आंखे मुंदे हुए था, जिसकी परिणति गरीबी और गुलामी में हुई थी। लेकिन अब सौ साल बाद यह स्थिति नहीं है। अब भारत भी आकंठ भौतिकता में डूबता जा रहा है। यह डूब इस हद तक है कि अब भारत भी निरंतर और केवल भोग में ही रत रहने लगा है। धर्म–अध्यात्म यहां भी हासिये पर चला गया है। अब इनका भी व्यापार होने लगा है और इनके नाम पर भी पैसा कमाने की होड़ चल रही है। इसलिए अब उनके यहां के लिए प्रवृत्ति संबंधी दिये गये उपदेष में थोड़ी शिथिलता बरतने की जरूरत है और थोड़ी दूर तक

उनके पश्चिम को दिये गये निवृत्ति संबंधी उपदेश को यहां के लिए भी लागू करने की जरूरत है। यद्यपि कि पूरे तौर पर इसकी आवश्यकता अभी भी पश्चिम को ही है, लेकिन जितनी दूर तक भारत ने पश्चिम का अनुकरण किया है, उतनी दूर तक तो इसकी जरूरत यहां भी हो ही गयी है।

परन्तु इन संसोधनों–परिमार्जनों के बावजूद विवेकानंद आज भी प्रासंगिक हैं, क्योंकि वे जिस साहस, स्वाभिमान, आत्मगौरव और तेज से युक्त भारत और भारतवासियों को देखना चाहते थे वह आज भी नहीं आ पाया है। इसलिए उनका 'उठो, जागो और अपने चरम आदर्श को प्राप्त करो' वाला आह्वान आज भी प्रासंगिक है। यह ठीक है कि भारत आज राजनैतिक रूप से गुलाम नहीं है, लेकिन मानसिक और वैचारिक रूप से गुलाम वह आज भी है। इसी के साथ आर्थिक गुलामी भी जुड़ी हुई है। आज जिन बहुराष्ट्रीय कंपनियों में लाखों–करोड़ों के पैकेज पर काम करते हुए भारतीय युवक जिस आर्थिक स्वतंत्रता का अहसास कर रहे हैं, वह सूक्ष्म रूप से पश्चिम की आर्थिक गुलामी ही है। इन युवकों को ये कंपनियां उनके काम के बदले जितना धन देती है उससे कई गुना ज्यादा वह इस देश से अपने देश के लिए कमा लेती है। इसी तरह जिस उत्तर आधुनिकतावाद और अनुप्रयुक्त नीतिशास्त्र आदि विचारधाराओं की जुगाली हमारे भारतीय विद्वान् कर रहे हैं वह पश्चिम की वैचारिक गुलामी ही है। इन विचारधाराओं के माध्यम से पश्चिम यह चाहता है हम अपने जातीय इतिहास, उन्नत परंपरा और आध्यात्मिक विरासत से कट कर बिल्कुल कोरे कागज की तरह हो जायें जिस पर वह अपनी मनचाही इबारत लिख सके। फिर नारी स्वंतत्रता के नाम पर पश्चिम से आयातित जो उच्छृंखल खुलापन भारतीय स्त्री स्वीकार रही है वह भी हमारी मानसिक गुलामी का ही प्रमाण है। ऐसा उच्छृंखल खुलापन भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में कभी नहीं रहा है, कहीं नहीं रहा है; इसलिए यदि इसे आधुनिकता के नाम पर स्वीकारा जा रहा है तो यह मानसिक गुलामी का ही सूचक है। और यह हाल केवल स्त्रियों का ही नहीं है, बहुत दूर तक और बहुत हद तक पुरुषों का भी है। इस प्रकार कुल मिला कर जिस स्वतंत्रता और तने हुए मस्तक के साथ विवेकानंद भारतीयों को देखना चाहते थे वह स्वतंत्रता और वह तना हुआ मस्तक अभी भी भारतवासियों के पास नहीं है। इसलिए उनके ओजस्वी विचारों और भारत के उत्थान के लिए किये गये आह्वानों की प्रासंगिकता और उपादेयता आज भी है।

विवेकानंद की एक उपादेयता भारत की गरीबी के संदर्भ में भी है। यह सही है कि भारत में नवधनाढ्यों का एक ऐसा समूह पैदा हो गया है जिसके पास धन की अतिरिक्तता है। इसलिए वे तमाम ऐशो–आराम की जिन्दगी जी रहे हैं और जरूरी, गैर–जरूरी हर चीजों का अनियंत्रित उपभोग कर रहे हैं; मगर भारत की बहुसंख्यक जनता आज भी निर्धनता से जूझ रही है। मुल्क में एक बड़ा तबका है जिसके पास भरपेट भोजन, पूरे तन कपड़ा, और सर छुपाने के लिए छप्पर भी मयस्सर नहीं है। यद्यपि कि आज भारत के आर्थिक विकास की दर बढ़ती जा रही है परन्तु यह उन्हीं नवधनाढ्यों को शामिल कर औसत के आधार पर निकाले गये आंकड़ों का कमाल है; वरना हकीकत यही है कि आज भी इस देश की गरीबी शर्मसार करने वाली है। विवेकानंद इस गरीबी को हर संभव तरीके से दूर करना चाहते थे। उनके लिए गरीबी दूर करना एक पुण्य का

कार्य भी था। तभी तो उनसे प्रेरित हो कर गांधी ने 'दरिद्र नारायण' शब्द उनसे लिया। यह दरिद्रता भारत में आज भी मौजूद है। अतः उसे दूर करना जरूरी है और इसके लिए विवेकानंद के उद्गार और उनकी पुकार आज भी प्रासंगिक है।

और पूरे विश्व–स्तर पर पश्चिम को अध्यात्म को आत्मसात् करने के लिए दिये गये उनके उपदेशों की प्रासंगिकता भी पूरी तरह बनी हुई है, क्योंकि बहुत आग्रह और कई बार दी गई चेतावनी के बावजूद आज तक पश्चिम अध्यात्म की महत्ता नहीं समझ सका है और अपनी भौतिक उपलब्धियों के एकांगीपन पर इतराया हुआ है। परन्तु यह विस्फोटक स्थिति है। पश्चिम ज्वालामुखी की ढ़ेर पर बैठा हुआ है। कभी भी वह ज्वालामुखी फट सकती है। इसलिए भले विवेकानंद की पश्चिम वालों ने नहीं सुनी और अभी तक अनसुना किये हुए है, लेकिन इससे उनके कहे की सार्थकता समाप्त नहीं हो जाती। उनका कहा तब भी सार्थक था। अब भी सार्थक है। यदि उन्हें नहीं सुना गया तो आगे भी सार्थक रहेगा।

इस प्रकार देश और दुनिया दोनों ही स्तरों पर विवेकानंद के विचारों की प्रासंगिक उपादेयता आज भी बनी हुई है। भारत के लिए तो उनके विचार उस थाती के समान है जिससे किसी भी दुर्गम रास्ते के लिए कभी भी पाथेय मिल सकता है। इसलिए रामधारी सिंह 'दिनकर' का यह कहना बिल्कुल सही है कि– '' विवेकानंद ने हिन्दू–धर्म और भारतीय संस्कृति की जो सेवा की, उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। उनके उपदेशों से भारतवासियों ने यह सीखा कि भारतवर्ष का अतीत इतना उज्जवल और महान् है कि उसके प्रति गौरव और अभिमान होना ही चाहिए। उनके उपदेशों से हमें यह ज्ञान हुआ कि हमारी प्राचीन संस्कृति प्राणपूर्ण एवं आज भी विश्व का कल्याण करनेवाली है। अंगरेजी पढ़े–लिखे हिन्दू, जो अपने धर्म और संस्कृति की खिल्ली उड़ाने में ही अपनी सार्थकता समझते थे, विवेकानंद के उपदेशों और कर्त्तृत्व से ही अंतिम बार पराजित हुए। यह भी हुआ कि विवेकानंद के उपदेशों से ही भारतवासी अपने पतन की गहराई माप सके, अपने शारीरिक क्षय एवं आधिभौतिक विनाश, अपनी क्रियाविमुखता और आलस्य तथा अपने पौरुष के भयानाक ह्रास को पहचान सके और विवेकानंद की वाणी में ही सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ एवं लोगों में अपने भविष्य के प्रति उज्जवल आशा संचरित हुई।''[16] यह आशा आज भी उनकी वाणी से संचरित हो रही है और आगे भी संचरित होती रहेगी।



संन्दर्भ –

1. *डॉ. प्रभाकर माचवे एवं सुरेन्द्र नारायाण दतुआर; 'आधुनिक भारत के विचारक', पृ.–17; बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, सम्मेलन भवन, कदमकुआं, पटना–800003; 2000*
2. *ओशो; 'कस्तुरी कुंडल बसै', पृ.–278; रजनीश फाउंडेशन प्रकाशन, पूना*
3. *उमेष मिश्र; 'भारतीय दर्शन', पृ.–349; उत्तर प्रदेश शासन, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन हिन्दी भवन, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ; 1975*
4. *एम. हिरियन्ना; 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा' पृ.–337–338; राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 8, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002, 1980*
5. *''अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।*
   एकस्तथा सर्वभूतांतरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतांतरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।। –कठोपनिषद्, वल्ली–2, श्लोक–9–10

6. विवेकानंद, सेलेक्टेड वर्क्स, पृ–249
7. विवेकानंद साहित्य, द्वितीय खंड, पृ–85; अद्वैत आश्रम (प्रकाशन विभाग), 5 डिटी एण्टाली रोड, कोलकाता–700014; मार्च 2002
8. उपरिवत्, पृ–52
9. उपरिवत्, पृ–46
10. रामधारी सिंह 'दिनकर'; 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ–501–502; लोकभारती प्रकाशन, 15–ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद–1; 1997
11. स्वामी आत्मानंद; "स्वामी विवेकानंद और भारत का नव जागरण", 'स्वामी विवेकानंद और उनका अवदान (संपादक–स्वामी विदेहात्मानन्द) पृ–119–120; अद्वैत आश्रम (प्रकाशन विभाग) 5 डिटी एण्टाली रोड, कोलकाता–700014; जनवरी 2008
12. डॉ. ए.एल. बाशम; "आधुनिक जग को स्वामी विवेकानंद की देन", उपरिवत् पृ–64
13. वहीं, पृ–503
14. रामधारी सिंह 'दिनकर' की पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ–510 से उद्धृत।
15. रोमां रोलां; 'विवेकानंद की जीवनी', पृ–116–117; अद्वैत आश्रम (प्रकाशन विभाग), 5 डिटी एण्टाली रोड, कोलकाता–700014; जून 2004
16. वहीं, पृ–513

श्री अरविन्द की दृष्टि में मानव उत्कर्ष

विजय कान्त दुबे

भारतीय चिन्तन में प्राचीन से लेकर अर्वाचीन तक मानव की श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया है। 'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरो हि किन्चित्' – कहीं इस कथन से उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की गयी, तो कहीं 'आत्मा का प्राण' या जीवनाधार– आध्यात्मिक तत्त्व अथवा 'प्रकाशों का प्रकाश' कह कर मानव की गरिमा और उसकी श्रेष्ठता को अखण्डित कहा गया। जैनो का सूत्रकृतांग अपने कथन– इह माणुस्सये ठाणे घमारहि उणरा–(1/15/15) से भी इसकी पुष्टि करता है। समकालीन भारतीय चिन्तन, जो परम्परा एवं आधुनिकता, सिद्धान्त एवं व्यवहार का संगम है, बाह्य एवं आन्तरिक दोनों दृष्टियों से मनुष्य को उत्कृष्टता के धरातल पर स्थापित करता है। टैगोर मानव को 'इनफाइनाईट–सरप्लस–इन–मैन' के स्वरूप को देखते हैं।[1] मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो वर्तमान एवं भविष्य, व्यष्टिगत एवं सामाजिक दोनों में जीता है और अपना उत्कर्ष प्राप्त करता है। उसमें बाह्य भौतिक, प्राणिक एवं बौद्धिक शक्ति है, तो उसमें अन्तर्निहित आन्तरिक आध्यात्मिक शक्ति भी है। स्वामी विवेकानन्द इसी शक्ति के कारण उसकी श्रेष्ठता स्थापित करते हुए कहते हैं कि यही कारण है वह दिव्यता का अनुभव करता है, जो उसका सत्य स्वरूप है।'[2]

मानव न केवल बौद्धिक प्राणी होने के कारण इस जीवन और जगत् का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, अपितु आत्मिक शक्ति के कारण वह परम सत् से अभिन्न भी है। इसे मुख्यतः दो रूपों में – बाह्य एवं आन्तरिक, भौतिकता एवं आध्यात्मिकता, व्यक्तिगत आचरण एवं सामाजिक सम्बन्ध–में अभिव्यक्त किया जा सकता है। एक ओर उसका बाह्य व्यक्तित्व और बाह्य आचरण है, तो दूसरी ओर आन्तरिक आध्यात्मिक शक्ति उसके अन्दर विद्यमान है। एक ओर उसका व्यक्तिगत जीवन है, तो दूसरी ओर समाज के अन्य मनुष्यों से उसका सम्बन्ध। इन दोनों रूपों में मानव अपनी अभिव्यक्ति पाता हैं। अनेक भारतीय सन्त, ऋषिगण, आचार्यगण एवं चिन्तक इन दोनों ही स्थितियों में आदर्श मानव के निर्माण हेतु संकल्पित रहे है और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसकी श्रेष्ठता को स्थापित करते हैं। उनका स्पष्ट मन्तव्य है कि श्रेष्ठता का सम्बन्ध मानव और केवल मानव से है, वही इस जगत् का योग्यतम् एवं श्रेष्ठतम् प्राणी है, जो अपने गौरव के अनुकूल आदर्शमय जीवन व्यतीत करने का संकल्प कर सकता है और करता भी है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसकी श्रेष्ठता का आकलन किया जा सकता है।

जहां तक मानव के बाह्य व्यक्तित्व में उत्कृष्टता का प्रश्न है, वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों– सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक आदि में देखा जा सकता है। समाज में उत्कृष्ट आचरण द्वारा, एक उच्च नैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक आदर्शों के प्रतिस्थापक के रूप में, विशिष्ट वैज्ञानिक अन्वेषणों द्वारा, बौद्धिक दार्शनिक स्थापनाओं द्वारा अथवा सामाजिक, राजनीतिक एवं अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों की स्थापना आदि के उत्कृष्ट प्रतिभा द्वारा अपना गौरवमयी स्थान बनाया है, तो विभिन्न मानवीय गुणों–यथा–आत्मप्रकाशन–आत्मश्रद्धा, आत्मसंयम–

दर्शन विभाग, काशी नरेश महाविद्यालय, ज्ञानपुर, भदोही (उ.प्र.)

सर्जनशीलता, परार्थता, त्याग, सेवा, प्रेम, साहस आदि के द्वारा उसकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है। मानव उत्कर्ष का दूसरा पक्ष आन्तरिक है – बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक जीवन, आन्तरिक चेतना, आन्तरिक शक्ति, आन्तरिक आनन्द आदि में भी इसका अनुभव किया जा सकता है। इसमें एकता, व्यापकता, सार्वभौमिकता, समग्रता, शाश्वत शक्ति, प्रकाश एवं सौन्दर्य का भाव है। कहा जाता है कि जीवन में परमपूर्णता इसी आध्यात्मिक उत्कृष्टता से प्राप्त हो सकता है। वस्तुतः यही वास्तविक ज्ञान, शक्ति एवं पूर्ण चेतना है। विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तकों ने मानव की उत्कर्षता को प्रतिष्ठित करने के लिये किसी एक पक्ष का चयन न कर इन दोनों में अद्भुत सामंजस्य स्थापित किया है। इसमें समकालीन भारतीय चिन्तकों – यथा–स्वामी विवेकानन्द, रविन्द्र नाथ टैगोर, महात्मा गांधी, श्री अरविन्द आदि का विशेष योगदान है। प्रस्तुत आलेख में मैं विशेष रूप से श्री अरविन्द के मानव उत्कर्ष सम्बन्धी दृष्टिकोण को उद्घाटित करने का प्रयत्न करुँगा।

श्री अरविन्द समग्र अद्वैतवाद के पोषक हैं। उन्होंने एक ऐसे चरम सत्ता को स्वीकृति प्रदान की है, जिसमें जीवन और जगत्, भौतिक एवं आध्यात्मिक, सत् एवं सम्भूति सब कुछ समाहित है। इस स्वीकृति का आधार उन्होंने उपनिषदों के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' को माना है। इस प्रकार जड़ जगत् की वास्तविकता को स्वीकार करते हुए उन्होंने जड़, प्राण व मानस सब कुछ को न केवल परम सत् की अभिव्यक्ति स्वीकार किया, अपितु इनके विकास क्रम को भी स्वीकृति प्रदान की। साथ ही साथ उन्होंने व्यष्टि एवं समष्टि दोनों को एक दूसरे के लिये आवश्यक माना। इससे भी आगे बढ़कर उन्होंने सर्वोच्च प्राणी के रूप में मनुष्य को ही एक ऐसा प्राणी माना, जो न केवल जीवन के विभिन्न रूपों में अपनी उत्कृष्टता सिद्ध कर सकता है, सम्पूर्ण जगत् में व्यवस्था एवं सामंजस्य स्थापित कर सकता है, अपितु सम्पूर्ण रहस्य पर अधिकार कर जीवन के उत्कर्ष को प्राप्त कर सकता है। श्री अरविन्द मानव में अनन्त सम्भावनाएं मानते हैं। उसमें विकास की इतनी जिजीविषा है कि वह दिव्यता की प्राप्ति तक भी कर सकता है। परन्तु इस हेतु हमें मानव के वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन करना होगा, उसमें अन्तर्निहित बाह्य एवं आन्तरिक शक्ति का आकलन करना होगा, क्योंकि जैसा श्री अरविन्द कहते हैं, 'इन सभी शक्ति का हमारी चेतना को सर्जित करने में योगदान है।'[3]

श्री अरविन्द भी मानव जीवन के दो पक्ष – बाह्य एवं आन्तरिक–मानते हैं। अपने जागतिक जीवन में भी मनुष्य उच्चतम प्राणी है, तो आन्तरिक रूप में अन्तःस्थलीय मन के रूप में विशाल, बलशाली एवं ज्योतिर्मय है। इस रूप में वह अपनी आन्तरिक आत्मा को प्राप्त करता है और इसी आध्यात्मिक जीवन की ओर उसका आगे बढ़ना और सर्वोच्च उत्कर्ष की प्राप्त करना उसका लक्ष्य है। यह सब इस कारण है कि परमसत् अवरोहण के क्रम में पूर्व से ही उसमें समाहित है। श्री अरविन्द का कथन है, "हमें अध्यात्म तत्त्व को अवश्य ही विकास के अंतिम उन्मेष उनके रूप में मान लेना पड़ेगा, क्योंकि यह भौतिक निवर्तनमूलक उपादान या तत्त्व रहा है।"[4]

श्री अरविन्द का मत है कि मानव बौद्धिक प्रतिभा से सुसज्जित है। यह जीवन और जगत् के अन्याय रूपों को व्यक्त करता है। वह तथ्य के सत्य रूप को व्यवस्थित करता है। श्री अरविन्द मनुष्य की इस सर्वाधिक विकसित बौद्धिक शक्ति को हमारे आन्तरिक एवं बाह्य दोनों जीवन के

लिए विवेकयुक्त संकल्प–प्रदाता मानते हैं। यही सर्वशासक एवं स्व–शासक शक्ति है। श्री अरविन्द का कथन है, "मनुष्य एक ऐसा युक्तियुक्त विधान चाहता है, जिसका वह स्वयं ही अधिष्ठाता एवं स्वामी हो, अथवा कम से कम आंशिक रूप में उसका स्वतन्त्र शासक हो।[5] यह मनुष्य की बौद्धिक शक्ति है, जो न केवल विश्वीय घटनाओं का संचालन एवं नियन्त्रक है, अपितु वह धीरे–धीरे प्रकृति का नियामक बनता जा रहा है। यदि वर्तमान जीवन की उपलब्धियों का आकलन किया जाय तो श्री अरविन्द का यह मत बहुत प्रासंगिक प्रतीत होता है। आज विज्ञान एवं तकनीकी के बढ़ते कदम मनुष्य को उसके विकास का अग्रपथ तैयार करते हैं। आज विज्ञान ने जो आश्चर्यजनक प्रगति की है और उससे भौतिक जीवन में अभूतपूर्व उन्नति हुई, उसके परिणामस्वरूप मानव बुद्धि शीर्ष स्थान पर पहुँच गयी। परन्तु यह बौद्धिक स्तर सामान्य मनुष्य का नहीं है, विशेषकर आज की वैज्ञानिक एवं तकनीकी ऊँचाई, चाहे सूचना एवं संचार माध्यम की हो, कम्प्यूटरजनित विज्ञान, बायोजनिक विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान आदि सभी ने सम्पूर्ण विश्व को एक 'ग्लोबल विलेज' के एकता सूत्र में बाँध दिया है। ये सब मानव क उच्चतर मनस, प्रज्ज्वलित मनस आदि के कारण सम्भव हो सका। हम प्रगति की राह पर अग्रसर हो रहे है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी विशेषज्ञों के अतिरिक्त मानव एक उच्च्व कलाकार एवं दार्शनिक, नैतिक, राष्ट्रवादी, मानवतावादी आदि बन गया है। यह उसकी उच्च्व प्रतिभा या ज्ञान का परिणाम है। श्री अरविन्द कहते हैं, 'मनोमय सत्ता होने के कारण मनुष्य जैसे ही शारीरिक एवं प्राणिक सत्ता से ऊपर उठता है, वह अपने मानसिक शक्तियों का विकास कर लेता है और मनोमय जीवन में वृद्धि कर अपने को उच्चतर स्तर पर ले जाना चाहता है और यही उसका उद्देश्य भी हो जाता है। श्री अरविन्द कहते हैं, 'ज्ञान, विज्ञान, कला, चिन्तन, नैतिकता, दर्शन एवं धर्म – ये मनुष्य के वास्तविक व्यापार हैं, ये उसके सच्चे कार्य हैं।[6] तात्पर्य है कि मानव अपने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में बाहय उत्कर्ष प्राप्त करता है।

मानव उच्च से उच्चतर विकास के क्रम में है। वह अपने सत्य, शुभ एवं सौन्दर्य की विशिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति करना चाहता है। सत्य के रूप में वह परम् सत् को स्वीकार करता है। शुभ के रूप में अपने नैतिक जीवन में वह निष्काम कर्म का आदर्श स्थापित करना चाहता है। वह ज्ञान, भावना, संकल्प को उच्चतम रूप प्रदान करता है। वह आत्म–त्याग, आत्म–श्रद्धा, एवं आत्म–ज्ञान का प्रतीक है। वह त्याग, बलिदान, सेवा, प्रेम आदि आदर्श अपनाता है। इससे भी आगे बढ़कर वह मानवता की ओर अग्रसर होता है। आत्म–बलिदान की कड़ी में 'स्व' का बलिदान, परिवार, संघ आदि के बलिदान से राष्ट्रवाद, जिसे श्री अरविन्द' इस युग का धर्म कहते हैं, से आगे अन्तर्राष्ट्रीय एकता और उससे भी ऊँची पूर्णता जिससे मानव आदर्श की प्राप्ति होती है, वह है मानवतावाद की अर्थात् सारी मानवता को समाहित कर लेने के लिये आत्म–विस्तार, जिसमें मानव को इस जगत् का केन्द्र बिन्दु मानते हुए उसके उत्कर्ष को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार मानवता अनवरत रूप से अग्रसर रहती है। मानव चक्र में वे कहते हैं, "हम मानवता के अनवरत अग्रगमन में विश्वास करते हैं और मानते हैं कि वह अग्रगति एक जीवनगत विचार का रूपायण है, जो कभी–कभी सतह पर उदय होता है और कभी–कभी भीतर डूब जाता और बाहरी शक्तियों

एवं हितों के आवरण में काम करता है।[7] इसके अतिरिक्त मानव में सुन्दरम् का आदर्श भी विद्यमान है। श्री अरविन्द ने सुन्दरम् को किसी संकीर्ण अथवा कलातिरेक भाव में न समझते हुए कहा है कि इससे ही कलामय और रसमय मानव का सृजन होता है, उसमें सौन्दर्य का एक उच्च भाव, एक स्पष्ट सौन्दर्यमूलक संवेदनशीलता तथा प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक सृजन, प्रत्येक विचार, कला, जीवन एवं धर्म में सुन्दरम् का भाव विद्यमान है।''[6] इस प्रकार मानव उत्कृष्टता को इसलिये प्राप्त कर पाता है कि उसमें बौद्धिकता के साथ–साथ आत्म–श्रद्धा, आत्म–सम्मान एवं आत्म–गौरव की भावना विद्यमान है।

मानव उत्कर्ष का दूसरा पक्ष आन्तरिक है। यही आध्यात्मिक उत्कर्ष का माध्यम भी है। श्री अरविन्द का मत है कि व्यक्ति का महत्ता का अर्थ है, उसके अर्न्तस्थित शाश्वत शक्ति की महत्ता मानव की अभीप्सा है, इस शाश्वत शक्ति का पूर्णता की प्राप्ति। पूर्णता की अभीप्सा वस्तुतः मानव के दिव्य स्वरूप की ही एक आन्तरिक प्रेरणा है। आरोहण क्रम में यही उच्चतम मूल्य है। इसकी प्राप्ति ही मानव का परम उत्कर्ष है। मानव जीवन की विकास की स्थिति इसके पूर्व अवरूद्ध नहीं हो सकती। श्री अरविन्द कहते हैं, उस चेतना की उच्चतर चोटी को अपना लक्ष्य बनाना है, जीवन और मन में से एक ऐसी चीज को उन्मुक्त करना है, जो अभी सुप्त एवं प्रारम्भिक अवस्था में पड़ी है।''[9] विकास की पूर्णावस्था, जीवन का अन्तिम आध्यात्मिक रूप, जो आत्मा के पूर्ण प्रकाश में है, से प्राप्त किया जा सकता है। जैसा कि उन्होंने कहा है, ''मन की पूर्णता सदैव पूर्ण आत्मा की अभिव्यक्ति में निहित है ...... आध्यात्मिक जीवन की यह पूर्णता तभी प्राप्त हो सकती है जबकि आध्यात्मीकृत मनुष्य अपनी अनुभूत सत्ता के सत्य का सहज भाव में अनुगत रहे, जब वह 'अपना–आप' बन जाय, जब वह अपनी वास्तविक प्रकृति को प्राप्त कर ले'।[10] यही 'आत्मा वा रे द्रष्टव्यो':– का उपनिषदों का मत ही मानव जीवन का उच्चतम लक्ष्य है। इसका क्या अर्थ है कि वह सम्पूर्ण जगत् को तो प्राप्त कर ले और स्वयं अपने आन्तरिक सत्ता को न जाने। यही आध्यात्मिक यथार्थवाद है।

वस्तुतः श्री अरविन्द का यह चिन्तन मानव जीवन की अन्तिम लक्ष्य की ओर इंगित करता है, ताकि उसका भटकाव भौतिक तत्वों की ओर न हो। वे मानव को आध्यात्मिकता की ओर ले जाकर अतिमानव का स्थान दिलाते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि अतिमानव या प्रज्ञान पुरूष बनकर मानव किसी अन्य जगत का प्राणी बन जायेगा अथवा उसमें कोई भौतिक परिर्वतन हो जायेगा। वस्तुतः वह शरीर, प्राण व मन से ही आबद्ध रहेगा। परन्तु अब उसके बन्धन में नहीं रहेगा, वे सभी अतिचैतन्य से प्रकाशित हो जायेगें। बल्कि यह कहा जाय कि इस स्तर पर मानव सत्य रूवरूप बन जायेगा। यही मानव की दिव्यता है, श्री अरविन्द कहते है, ''मानव जाति वह देवत्व है जिसकी मनुष्य को पूजा करनी चाहिये और यह भी कि मनुष्य और मनुष्य जीवन का सम्मान, उसकी सेवा और उन्नति मानव भावना का प्रधान कर्तव्य एवं प्रधान लक्ष्य है।''[11] रविन्द्रनाथ टैगोर ने मानव के इसी स्वरूप को 'मानव देवता' के रूप में स्वीकार किया।'[12] श्री अरविन्द इस भौतिक शरीर में दिव्य जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं, क्योंकि मानव इसी जीवन में अतिचैतन्य के स्तर पर पहुँचकर प्रज्ञानमय पुरूष या अतिमानव बन जायेगा। यह उसके व्यक्तिगत जीवन की

पूर्णता है, उसका उत्कर्ष है। इसका तात्पर्य है कि दिव्य मानव के रूप में उसका उत्कर्ष पूर्णता, एकता एवं सामंजस्य में होगा। इस पूर्णता की स्थिति या पूर्ण ज्ञान की स्थिति में ये सभी आवश्यक हैं। इसे गीतावर्णित 'दैवीय सम्पदाओं का मूर्त विग्रह' माना जाता है। परन्तु मानव को इस लक्ष्य की प्राप्ति तब तक नहीं होगी, जब–तक समाज के अन्य मानव इस उच्चता पर नहीं पहुँचते। इससे दिव्य समाज का आविर्भाव होगा और जीवन की सभी स्तरों में दिव्यता आ जायेगी। अतिमानव के अवतरण से ही यह संभव होगा। डॉ. ए.सी. भट्टाचार्य कहते हैं– ''यह अतिमानसिक परिवर्तन समस्त जगत् प्रक्रियाओं की वैश्विक क्रान्ति है।''[13]

श्री अरविन्द ने न केवल व्यष्टिगत आन्तरिक शक्ति के उत्कर्ष अथवा दिव्य मानव के विकास को जीवन का परम लक्ष्य माना, अपितु साथ ही सम्पूर्ण समाज की दिव्यता अर्थात् दिव्य समाज या दिव्य जीवन की स्थापना को मानव जीवन का परमोत्कर्ष माना। उन्होंने कहा कि विज्ञानमय पुरूष, दिव्यमानव' तब तक पूर्ण नहीं होता, जब तक दिव्य जगत् के साथ उसका एकत्व नहीं हो जाता। दूसरे शब्दों में, मानव पूर्णता के लिये सामाजिक पूर्णता अपरिहार्य है। श्री अरविन्द कहते हैं, 'विज्ञानमय पुरूष जगत् में और जगत् का होगा।'[14] इस कथन का तात्पर्य है कि वह व्यक्तिगत स्वार्थ, अहं, संकीर्णता आदि से मुक्त होगा, क्योंकि इसके परे उठकर ही वह सत्यस्वरूप हो सकता है, जो दिव्य समाज के स्थापना के लिये आवश्यक है। वह विज्ञानमय पुरूष समाज की आध्यात्मिक उन्नति, विकास एवं पूर्णता का प्रयास करेगा। इसके लिये इस समाज में सभी का सभी के प्रति ऐक्य भाव, समानता, स्वतन्त्रता, और सार्वभौमिकता का व्यापक दृष्टिकोण होगा। श्री अरविन्द का कथन है, ''विज्ञानमय व्यक्ति पूर्णता प्राप्त सम्पूर्ण व्यक्ति होगा, जो अपने विकास एवं आत्माभिव्यक्ति की तुष्टि में परिपूर्ण होगा, क्योंकि उसके सभी तत्त्व उच्चतम कोटि तक ले जायेगें और इसी तरह की व्यापक विशालता में समाकलित होगें। हम जिसके ओर प्रयास कर रहे हैं, वह है पूर्णता एवं सामंजस्य।''[15] मानव जीवन की सार्थकता इस बात में निहित है कि वह स्वयं पूर्ण बने और सम्पूर्ण जगत् को पूर्ण या दिव्य बनाये। यहां श्री अरविन्द व्यष्टिगत जीवन के साथ सामाजिक सम्बन्ध को भी स्वीकारते हैं, क्योंकि उसके उत्कर्ष में ये दोनों पहलू समन्वित हैं।

वस्तुतः श्री अरविन्द मानव जाति में आध्यात्मिकता का विस्फोट करते हैं, अर्थात् विज्ञानमय पुरूष ही नहीं, वे विज्ञानमय पुरूषों की जाति की संकल्पना करते हैं, जो दिव्य समाज के लिये आवश्यक है। आरोहण के क्रम में अतिमनस का जगत् के रूप में विस्फोट ही आरोहण के क्रम में आध्यात्मिकता की ओर बढ़ता है, जिसमें प्रज्ञानमय पुरूष प्रत्येक सर्वगत चैतन्य की अपने में और अपने को चैतन्यमय जगत् में देखता है। यही है सर्वभूतों में एकतात्मकता का बोध-- सर्व भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनिं का गीता का संदेश, जिसे श्री अरविन्द ने अत्यन्त प्रभावशाली रूप में अपने चिन्तन में स्थान दिया है। वे कहते हैं, 'जो मनुष्य सब में भगवान का दर्शन करता है, वह प्रेममयी सेवा के द्वारा सब में भगवान की उपासना करेगा।'[16] यहां श्री अरविन्द धार्मिक दृष्टि से मानव उत्कर्ष देखते हैं। मानव अपने परिपूर्णता की स्थिति में अपने को पूर्ण स्वतन्त्र पाता है और अपने इसी स्वतन्त्रता में सभी के स्वतन्त्रता का दिग्दर्शन करता है। वह केवल अपनी पूर्णता

ही नहीं, सभी की पूर्णता प्राप्त करना चाहता है। उसके में ऐक्य एवं पूर्णत्व के साथ-साथ सामंजस्य का भी भाव है, बल्कि यह कहा जाय कि एकता स्वतन्त्रता, पूर्णता, और सामंजस्य विज्ञानमय पुरूष का अपरिहार्य विधान होगा।[17]

श्री अरविन्द के ऐसा मानने का आधार है, उनकी सामाजिक दृष्टि, क्योंकि मानव की पूर्णता केवल स्वयं को पूर्ण बनाने में नहीं है, उसे समाज या मानव जाति के लिये जीना होता है। उसकी पूर्णता अन्य मनुष्यों के साथ उनके नैतिक एवं सामाजिक सम्बन्धों पर निर्भर होती है, क्योंकि सभी सामाजिक जीवन के आवश्यक अंग है, जिसका मनुष्य एक सदस्य है। वह किसी भी टकराव या संघर्ष से परे है, चाहे मानव का अन्य मानव से टकराव हो, समुदाय का समुदाय से टकराव हो, समाज-समाज के अहं का टकराव हो अथवा एक राष्ट्र का अन्य राष्ट्रों के अहं का टकराव। व्यापक चेतना के स्तर पर इनमें कोई विरोध या संघर्ष न होकर पूर्ण सामंजस्य होता है। इन सभी से बचने का मार्ग है, आन्तरिक एकता, अर्थात् व्यक्ति, समुदाय, समाज तथा राष्ट्र के बीच ऐक्य एवं सामंजस्य। श्री अरविन्द के अनुसार निश्चित रूप से ये परिणाम अवश्य लायेगें। वे स्वयं कहते हैं, 'केवल एकता एवं सामंजस्य लाने वाला ज्ञान ही सही मार्ग हो सकता है' लेकिन वह ज्ञान हमारी सत्ता के ऐसे ज्यादा गहरे तत्व की खोज है, जिसके लिये ऐक्य एवं सामंजस्य सहज है। केवल उसी को अपने अन्दर पाकर हम अपने जीवन की समस्या और उसके साथ ही व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के सच्चे मार्ग की समस्या का समाधान कर सकते हैं।"[18]

इस प्रकार श्री अरविन्द ने बाह्य एवं आन्तिरिक दोनों रूपों में मानव उत्कर्ष को प्रतिस्थापित किया है। विशेष रूप से उन्होंने आध्यात्मिक, आन्तरिक पूर्णता को मानव जीवन को चरम उत्कर्ष माना है।

प्रश्न उठता है कि श्री अरविन्द का यह मानव उत्कर्ष सम्बन्धी चिन्तन कहीं कपोल कल्पित अथवा प्राक्कल्पनात्मक आदर्श तो नहीं है? क्या इसका कोई दार्शनिक आधार भी है? जहां तक श्री अरविन्द के दिव्यत्व, चाहे वह मानव में हो अथवा समाज में, का प्रश्न है, यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि श्री अरविन्द इसे भविष्य का विषय मानते हैं। इसके लिये दो तथ्य विचारणीय हैं। प्रथम, तो यह कि सच्चिदानन्द से जड़ तक का अवरोहण अथवा अज्ञान में निमज्जन, जिस प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है उसी के विपरीत क्रम में अर्थात् आरोहण में प्रकृति की वापसी है। तो स्वाभाविक है यदि अतिमनस के अवरोहण को स्वीकार करते हैं, तो आरोहण का क्रम अर्थात् अतिमानसिक चेतन अथवा मानव व समाज का दिव्यत्व प्राप्त ही होगा। दूसरे, यदि विशेष रूप से हम विकास के स्वरूप को स्वीकार करते हैं, तो जैसे जड़ वस्तु, वनस्पति अथवा पषु से मानव उच्चतर प्रकृति का है अथवा विकास के अग्रिम पथ पर विद्यमान है, तो अब प्रकृति के अवरूद्ध होने का कोई कारण नहीं है और विकास का अग्रस्तर क्रमिक रूप से बढ़ता रहेगा, जब-तक कि वह अपनी परिपूर्णता प्राप्त नहीं कर लेता' और वह परिपूर्णता है, अतिचेतना की प्राप्तिं जो दिव्य चेतना का आधार है। इस प्रकार से प्राक्कल्पना मानने का कोई तार्किक आधार नहीं है। श्री अरविन्द स्वयं कहते हैं, "इस प्रकार के विकास में अतिप्राकृतिक या चमत्कारिक कुछ नहीं होगा। इसके सिवाय कि वह श्रेष्ठतम प्रकृति हमारी प्रकृति से श्रेष्ठतर होगी, उसी तरह जैसे

मानव प्रकृति का पशु, वनस्पति या जड़ वस्तुओं के प्रकृति से श्रेष्ठतर है। हमारा मन और उसकी शक्तियां, हमारी तर्कबुद्धि का उपभोग, हमारा मानसिक अन्तर्भाव और अर्न्तदृष्टि, वाणी, दार्शनिक, वैज्ञानिक, सौन्दर्य बोध सम्बन्धी सत्ता के सत्यों और अन्तः शक्तियों के आविष्कार की सम्भावनाएं और उसकी शक्तियों पर अधिकार, एक ऐसा विकास है, जो हो चुका है। लेकिन अगर हम सीमित पशु–चेतना और उसकी क्षमताओं को आधार बनाकर देखें, तो यह असम्भव मालूम होगा, क्योंकि वहां ऐसी कोई चीज नहीं है, जो ऐसी विपुल प्रगति को उचित ठहराये।"[19] आवश्यकता इस बात की है कि यदि हम चेतना के वास्तविक स्तर पर इसकी व्याख्या करें, तो इस पर कल्पनात्मक स्तर पर कोई प्रश्न ही नहीं उठता। तार्किकता ही नहीं, यथार्थ के धरातल पर भी हम इसकी पुष्टि कर सकते है, क्योंकि चेतना की नई–नई शक्तियां विकसित हुई देखी जाती है। और यही आगे भी महत्तर चेतना और उसकी शक्तियों के विकास की आवश्यक गति अग्रसर होती रहेगी।

यहां पुनः एक व्यावहारिक प्रश्न उठ सकता है कि यदि हम अतिमानसिक चेतना की ओर बढ़ रहे हैं या मनस के कुछ उच्चतर स्तर तक बढ़ भी चुके हैं, तो फिर व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन में नैतिक स्तर में गिरावट अथवा धार्मिक स्तर पर विभिन्न संघर्ष आदि क्यों अनुभव किये जा रहे हैं? वैसे तो यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के कार्य स्वार्थ, अहं संकीणता आदि के कारण होते है और ये सब भौतिक प्रवृत्ति अथवा सीमित तर्क बुद्धि की देन है। परन्तु यह सत्य है कि भौतिकता या उसकी आनुशंगिक उत्पत्त्यिां हमारे जीवन का उच्चतम लक्ष्य नहीं है। परन्तु इनका निषेध भी सम्भव नहीं है। अपितु आवश्यकता है, इन्हें तरासने की, क्योंकि ये तो केवल अन्तरात्मा और जीवन शक्ति के उपकरण हैं। पूर्ण विकास के क्रम में निम्न वैचारिक स्तर, चाहे वे नैतिक हैं अथवा धार्मिक, सभी में परिवर्तन होगा, उनमें उच्चता आयेगी और दिव्यता का साम्राज्य होगा।

श्री अरविन्द दर्शन की सबसे बड़ी समस्या है, "सीमित ज्ञान से दिव्यत्व को जानने या पाने की। वे मानते हैं कि हमें एकांगी एवं संकीर्ण दृष्टि को बदलना होगा। मानव एवं समाज के दिव्यत्व की स्वीकृति हेतु हमें व्यापक दृष्टिकोण अपनाना होगा। सीमित दृष्टि से हम मानव के बाह्य उत्कर्ष को भले ही स्वीकार कर लें, परन्तु आध्यात्मिक उत्कर्ष के स्रोत एवं उनकी प्राप्ति के लिए अतिचैतन्य की स्वीकृति आवश्यक है। इससे हमें आन्तरिक शक्ति की उच्चता को स्वीकार करने में सहायता मिलती है। श्री अरविन्द मानव उत्कर्ष के सम्बन्ध में जिस ऊँचाई तक जाते हैं, वह है विकास की आध्यात्मिक पूर्णता। यही पूर्णता ही दिव्यता है और यह दिव्यता प्राप्त होकर रहेगी।



संदर्भ –

1. *रविन्द्र नाथ टैगोर, – Man, पृ. 77*
2. *विवेकानन्द साहित्य, खण्ड – 9, पृ. 121*
3. *श्री अरविन्द, मानव चक्र, पृ. 224*
4. *श्री अरविन्द, दिव्यजीवन, पृ. 1017*
5. *श्री अरविन्द, मानवचक्र, पृ. 114*
6. *व्ही, पृ. 91*

7. व्ही, पृ. 351
8. व्ही, पृ. 105
9. व्ही, पृ. 193
10. वही, पृ. 278
11. श्री अरविन्द, दिव्य जीवन, पृ. 955
12. श्री अरविन्द, मानव एकता का आदर्श, पृ. 272
13. रविन्द्र नाथ टैगोर, – Man, पृ. 76
14. डॉ. अभयचन्द भट्टाचार्य–श्री अरविन्द दर्शन, पृ. 215
15. श्री अरविन्द, दिव्यजीवन, पृ. 955
16. वहीं पृ. 955
17. श्री अरविन्द मानवचक्र, पृ. 296
18. श्री अरविन्द, दिव्यजीवन, पृ. 1012
19. वहीं, पृ. 1026
20. वहीं, पृ. 1020

अंबेडकर की दृष्टि में वेदांत

सुधांशु शेखर

वेदांत को भारतीय दर्शन का सिरमौर माना जाता है। यह षड्दर्शनों में सर्वाधिक प्रसिद्ध और सर्वाधिक आदृत है। वैदिक धर्म के प्रायः सभी अनुयायियों को इस पर गर्व है और इसे एक तरह से वेदों की समस्त शिक्षाओं का सार या लक्ष्य मान लिया गया है। लेकिन, भारतीय इतिहास में एक ऐसा भी समय रहा है, जब वेदांत 'वेदद्रोही' रहा है। इसने जोरदार तरीके से वैदिक सिद्धांतों एवं कर्मकांडों का खंडन प्रस्तुत किया था। इसलिए, इसे वैसे विचारों का साकार रूप माना जाता था, जो वैदिक साहित्य के अधिमत की परिधि से बाहर हैं।[1] यह बात दीगर है कि वेदांत के इस मूल प्रवृत्ति को आज दबा दिया गया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आजकल 'वेदांत' शब्द का प्रचलन 'उपनिषद्' के पर्याय के रूप में किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि, उपनिषद् की व्युत्पत्ति 'षद्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है– बैठना। इसके पश्चात् 'नि' का अर्थ है– 'नीचे' और 'उप' का अर्थ है– 'पास'। इसतरह 'उपनिषद्' का अर्थ है– 'किसी के पास जाकर नीचे बैठना'। लेकिन, इस व्युत्पत्ति के संबंध में दो आपत्तियाँ हैं। एक, 'किसी के पास जाकर नीचे बैठना' यह अर्थ वेदांत के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों के संबंध में भी लागू होती है। दूसरा, उपनिषद् का भाव अमनगम से मेल नहीं खाता है। इस शब्द का प्रयोग सिद्धांत, गुह्य सिद्धांत आदि के अर्थ से प्रयुक्त हुआ है, जिसका सरलार्थ है– वैसी दार्शनिक पुस्तक, जिसमें गुह्य सिद्धांत निहित हो।

वास्तव में, उपनिषद् का अर्थ– 'किसी के पास जाकर नीचे बैठना' अथवा 'गुरु के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करना' नहीं है। बल्कि, इसका आशय उस ज्ञान से है, जो अज्ञान का विनाश करके 'आत्मज्ञान' या 'ब्रह्मज्ञान' को उपलब्ध कराता है। प्रोफेसर मैक्समूलर के अनुसार 'उपनिषद्' शब्द 'षद्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है– 'विनाश', अर्थात् 'ऐसा ज्ञान, जो अज्ञान का विनाश करता है'। दूसरे शब्दों में यह वह ज्ञान है– 'जिसमें मोक्षमार्ग से ब्रह्मलीन होने के लिए संसार का कारण बताया जाता है'।[2]

सामान्यतः भारतीय और यूरोपीय विद्वानों ने भी भ्राँतिवश वेदांत का अर्थ– 'वेदों का उपसंहार' या 'वेदों का अंतिम भाग' किया है। लेकिन, वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रो. मैक्समूलर का भी कहना है– "वेदांत एक तकनीकी शब्द है और मूलरूप से इसका अर्थ वेदों का अंतिम अंश नहीं है। और न ही वैदिक साहित्य का अध्याय है, अर्थात् वेदों का अंतिम भाग।"

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि गौतम के समय में उपनिषद् वेदों से अलग माने जाते थे और वे वेदों का अंग भी नहीं थे। भगवद्गीता में भी 'वेद' शब्द का प्रयोग इस भाव से किया गया है कि लेखक का आशय उपनिषद् नहीं है। सुप्रसिद्ध विद्वान् काणे ने भी यह माना है कि प्राचीन काल में उपनिषदों को वैदिक साहित्य की मान्यता नहीं थी। उन्हें यदि तिरस्कृत भले नहीं किया गया था, लेकिन तुच्छ जरूर माना गया था।

दर्शन विभाग, तिलकामांझी विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार)

वास्तव में, उपनिषदों की शिक्षा वेद विरूद्ध है और उसमें वैदिक ब्राह्मणों की काफी निंदा की गई है। उपनिषदों में ईश्वर और मनुष्य के मध्य धार्मिक संबंधों के चलते बिचौलिए की स्वयंभू भूमिका में उतरने वाले परजीवी पुरोहित (ब्राह्मण) वर्ग (जो संगठित धर्म में सामाजिक संबंधों और आचार–व्यवहार के नियंत्रक मानुषी देवता के रूप में बेहद शक्तिशाली होते जा रहे थे) को अत्यंत हेय दृष्टि से देखा गया है।[4] छांदोग्य उपनिषद् में एक स्थान पर पुरोहितों की पंक्ति की कल्पना कुत्तों की उस पंक्ति के रूप में की गई है, जिसमें प्रत्येक पीछे वाला कुत्ता आगे वाले कुत्ते की दुम को अपने मुँह में दबाए चलता है और इस मंत्र का पाठ करता है– "ओम, खाने दो; ओम, पीने दो। ओम हम खाते हैं; ओम हम पीते हैं। ओम, देवता, वरुण, प्रजापति, सूर्य देव यहाँ अन्न लावें। हे अन्नपते! यहाँ अन्न लाओ! अन्न लाओ, ओम्।"[5] इतना ही नहीं मुंडकोपनिषद् में तो वेदों को पुरोहितों का प्रपंच मानते हुए, उसे 'अश्रेष्ठ' विद्या के अंतर्गत रखा गया है।[6] इसके अलावा उपनिषदों के वेद विरूद्ध होने का प्रमाण 'अनुलोम' एवं 'प्रतिलोम' शब्दों की उत्पत्ति के संदर्भ में भी मिलता है। यूँ तो ये दोनों शब्द सामान्यतः हिंदुओं की विवाह पद्धति के संदर्भ में प्रचलित हैं। लेकिन, वास्तव में इनका अर्थ कुछ व्यापक है। व्यापक दृष्टि से, अनुलोम का अर्थ शास्त्रानुसार सहज परंपरा से कार्य संपन्न होना है, जबकि प्रतिलोम का अर्थ है– सहज परंपरा के विपरीत। बृहदारयण्क उपनिषद् (ii 1.15) और कौषीतकि बृहदारयण्क उपनिषद् (iv-18) में 'प्रतिलाम' शब्द का प्रयोग उस स्थिति के लिए किया गया है, जब कोई ब्राह्मण ज्ञानप्राप्ति हेतु क्षत्रिय के पास जाए। इस अर्थ में भी उपनिषद् 'प्रतिलोम' माने जाते हैं।

डॉ. अंबेडकर ने कतिपय उपनिषदों से कुछ उदाहरण प्रस्तुत करके उपनिषदों को वेदों के विरूद्ध प्रमाणित किया है। ये उदाहरण निम्न हैं –

मुंडकोपनिषद् के अनुसार –

1. देवों में सर्वप्रथम सृष्टि के रचयिता और विश्व–परिपालक ब्रह्मा उत्पन्न हुए। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व को ब्रह्मज्ञान दिया।
2. अथर्वन ने ब्रह्मा से प्राप्त ज्ञान अंगिरा ऋषि को प्रदान किया। इसके पश्चात्, अंगिरा ने भारद्वाज गोत्रोत्पन्न सत्यवाह को यह ज्ञान दिया।
3. शौनक विधिपूर्वक आंगिरस की शरण में आए और उनसे पूछा– "हे भद्रेय ऋषि वह क्या है, जिसके माध्यम से ब्रह्मांड का ज्ञान प्राप्त होता है?"
4. अंगिरस ने उत्तर दिया– "दो विद्याएँ प्रसिद्ध हैं– एक, परा और दूसरी, अपरा।"
5. इनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद आते हैं। इसी में स्वरांकन शास्त्रीय व्याकरण, भाष्य, पिंगल, गणित और ज्योतिष आते हैं। श्रेष्ठ विज्ञान वह है, जो अविनाशी इंद्रियगोचर होता है।

छांदोग्य उपनिषद् के कथनानुसार –

1. "मुझे उपदेश करें।" ऐसा कहते हुए नारद सनत कुमार के पास गए। नारद से सनत कुमार ने कहा कि तुम जो कुछ जानते हो, उसे बतलाते हुए मेरे पास आओ, फिर मैं तुम्हें तुम्हारे ज्ञान के आगे उपदेश करूँगा।

2. ऐसा सुनकर नारद ने कहा– "मैं ऋग्वेद पढ़ा हूँ, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद भी जानता हूँ। इनके अलावा इतिहास, पुराणरूप, पंचमवेद, वेदों का वेद व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणि, उत्पातज्ञान, कलानिधि शास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, शिक्षाकल्प, छंद और चितिरूप ब्रह्मविद्या, भूतशास्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिषविद्या, मारूड़विद्या, नृत्य, यह सब मैं जानता हूँ।"
3. नारद ने कहा– "यह सब जानते हुए भी वह मैं केवल शब्दार्थ मात्र ही जानता हूँ, आत्मा को मैं नहीं जानता। मैंने आप पूज्यजनों जैसे महापुरुषों से सुना है कि आत्मज्ञानी शोक को पारकर जाता है। मैं तो शोक करता हूँ। ऐसे शोकग्रस्त मुझे शोक से पार करें, अर्थात् मुझे अभय प्राप्त कराएँ।" ऐसा सुनकर सनत कुमार ने नारद से कहा– "अभी तक यह जो कुछ तुम जानते हो वह नाममात्र ही है।"
4. क्योंकि, ऋग्वेद नाम है, यजुर्वेद, सामवेद, चौथा अथर्ववेद, पाँचवा वेद इतिहास पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पात ज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष, गारुड़, विद्या संगीतादि कला और शिल्पशास्त्र – ये सब भी नाम ही हैं (अतः, प्रतिमा में विष्णु बुद्धि के समान) तुम नाम की ब्रह्म बुद्धि से उपासना करो।
5. सनत कुमार ने कहा– "वह, जो नाम ब्रह्म है, ऐसी उपासना करता है, जहाँ तक नाम की गति है, वहाँ तक नाम के विषय में उस उपासक की यथेष्ठ गति हो जाती है, जो 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार नाम की उपासना करता है।" नारद ने पूछा, "क्या नाम से बढ़कर भी कोई वस्तु है? सनत कुमार ने कहा, नाम से भी बढ़कर वस्तु है। तब नारद ने कहा, मुझे उसका ही उपदेश करें।"

कठोपनिषद् का कहना है –

6. आत्मा उपदेश से प्राप्त नहीं। न ही ज्ञान से, न पठन–पाठन से। वह उसी को प्राप्त होती है, जिसे वह चाहे। आत्मा उसी शरीर में वास करती है, जिसे वह चुन लेती है।
7. यद्यपि आत्मा का ज्ञान कठिन है, तथापि समुचित साधनों से उसे जाना जा सकता है। वह (लेखक) कहता है – "इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। न तो उपदेश से, न वेदों के ज्ञान से, न बुद्धि से, न पुस्तकों के रखने से, न मात्र पठन–पाठन से। फिर वह कैसे प्राप्य हो, वह यह कहता है?"

वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है –

इस (सुषुप्तावस्था में) पिता, पिता नहीं होता है, मात, माता नहीं होती है, अर्थात् वहाँ जन्यभाव संबंध नहीं रह जाता। लोक, अलोक हो जाते हैं। देव, देव नहीं और वेद, वेद नहीं हो पाते हैं, अर्थात् सभी साध्य–साधन का अभाव हो जाता है। यहाँ पर चोर, चोर नहीं होता है। भ्रूण हत्यारा, अभ्रूणहत्यारा हो जाता है। चांडाल–चांडाल नहीं रह जाता है। पौल्कस, पौल्कस नहीं हो पाता है। परिव्राजक अपरिव्राजक और वानप्रस्थी अतापस हो जाता है। इस समय संत (प्राणी) का लाभ या हानि से कोई संबंध नहीं रह जाता, न गुण से, न पाप से, क्योंकि तब वह हृदयस्थ समस्त दुखों को विस्मृत कर जाता है।

डॉ. अंबेडकर का कहना है कि ब्रह्मसूत्र के रचयिता बादरायण ने उपनिषदों को वेदों का अंग मानकर बौद्धिकहीनता का परिचय दिया है। डॉ. अंबेडकर के शब्दों में– "....बादरायण का मामला एक ऐसे विचित्र और दयनीय व्यक्ति का है, जिसने अपना संघर्ष इसी बात को स्वीकार करके प्रारंभ किया कि उसका विरोधी उससे श्रेष्ठ है।"[8] उपनिषद् जैसे एक अटल सत्य का मार्ग छोड़कर उपनिषद् विरोधी वेदों के अनुयाई जैमिनी के समर्थक बन गए। उन्होंने इस बात को भूला दिया कि जिस उपनिषदों के आधार पर वे अपने ग्रंथ 'ब्रह्मसूत्र' की रचना करने जा रहे हैं, वे उपनिषद् मूलतः वेद विरोधी हैं। उन्होंने वेदों की संशयहीनता के संदर्भ में मीमांसा दर्शन के प्रणेता जैमिनी की सत्ता स्वीकार कर ली।

हम जानते हैं कि जैमिनी वैदिक कर्मकांड के प्रबल समर्थक रहे हैं, जो कि वेदांत की ज्ञानमूलक स्थापनाओं के सर्वथा विपरीत है। वेदांत के प्रति जैमिनी के व्यवहार पर बादरायण ने स्वयं भी स्वीकार किया है कि जैमिनी उनके विरोधी हैं। जैमिनी के कुछ प्रमुख सिद्धांतों को देखने से भी यह बात स्पष्ट होती है कि वे वेदांत या उपनिषद् के विरोधी हैं।

जैमिनी का मत है– "कोई उस समय तक बलि नहीं देता है, जब तक उसे इस बात का ज्ञान न हो कि वह शरीर से भिन्न है और मृत्युपरांत वह स्वर्ग जाएगा, जहाँ उसे बलि का फल प्राप्त होगा। जीवन में आत्मज्ञान किसी का मार्गदर्शक मात्र है.... ।"[9] इस प्रकार जैमिनी ने ज्ञानकांड पर कर्मकांड की श्रेष्ठता स्थापित करने की कोशिश की है। यद्यपि जैमिनी ने वेदांत की इस स्थापना को स्वीकार किया है कि आत्मा देह से भिन्न है और वह देहांत के बाद भी अस्तित्ववान रहती है। लेकिन, उन्होंने आत्मा को सर्वोच्च लक्ष्य को स्वर्गप्राप्ति तक सीमित कर दिया और इस हेतु वैदिक यज्ञों को अपरिहार्य बताया है। जाहिर है कि जैमिनी का दर्शन कर्मकांड को ही जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मान लेता है।

यहाँ यह भी गौरतलब है कि जैमिनी ने आत्मज्ञान को यज्ञ की अपेक्षा गौण माना है। साथ ही उनका यह भी कहना है कि आत्मज्ञान स्वतः कोई फलदाई नहीं है। इस बावत विदेह राजा जनक और परमज्ञानी अश्वपति के उदाहरण बार–बार प्रस्तुत किए जाते रहे हैं। ऐसा माना जाता है कि वे दोनों आत्मज्ञानी थे, इसके बावजूद दोनों ने अपने–अपने स्तर से यज्ञ किया। क्योंकि, मुक्ति आत्मज्ञान से नहीं मिलती है, बल्कि यज्ञ करने से प्राप्त होती है।

यहाँ अंबेडकर इस बात की पड़ताल करते हैं कि जैमिनी की ज्ञानकांड या वेदांत विरोधी स्थापनाओं पर बादरायण की क्या स्थिति है। इसे ब्रह्मसूत्र के विभिन्न श्लोकों के आलोक में डॉ. अंबेडकर ने निम्न रूपों में प्रस्तुत किया है[10]–

1. जैमिनी ने जिस 'आत्मा' का जिक्र किया है, वह सीमित आत्मा है, अर्थात् आत्मा और परमात्मा भिन्न है और शास्त्रों में परमात्मा को मान्यता है।
2. वेदा आत्मज्ञान के पक्षधर हैं और वेदों की यज्ञों में भी आस्था है।
3. जिनकी वेदों में निष्ठा है, उन्हें ही यज्ञ की अनुमति है। लेकिन, जो उपनिषदों के अनुगामी हैं, उन पर यह निर्देश लागू नहीं है।
4. जिन्हें ब्रह्मानंद प्राप्त हैं, उनके लिए कर्मकांड वैकल्पिक है।

इसप्रकार बादरायण ने वेदांत के विरूद्ध जैमिनी द्वारा लगाए गए आरोपों का समुचित उत्तर नहीं दिया। उलटे उन्होंने जैमिनी के कर्मकांड को शास्त्रसम्मत मान लिया। साथ ही उन्होंने ज्ञानकांड (वेदांत) और कर्मकांड (पूर्व मीमांसा) को एक–दूसरे का पूरक बताकर वेदांत के साथ छल किया।

डॉ. अंबेडकर का कहना है कि जिसे उन्होंने हिंदू धर्म का दर्शन बताया है, वही वास्तव में उपनिषद् का दर्शन भी है। उपनिषद्–दर्शन के संबंध में हक्सले ने बहुत ही संक्षेप में उत्तम ढंग से अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनके अनुसार उपनिषद्–दर्शन इस बात से सहमत हैं– "मन के अथवा किसी वस्तु के हृदय स्वरूप में होने वाले क्रमिक बदलाव के सूत्र के अंतर्गत छुपी हुई स्थाई वास्तविकता अथवा पदार्थ के अस्तित्व को समझने में ही उपनिषद्–दर्शन का सार है। विश्व का सारभूत पदार्थ है– ब्रह्म और व्यक्ति की 'आत्मा' और ब्रह्म तथा आत्मा दोनों भी एक–दूसरे से केवल उनकी अभिव्यक्ति, भावना, विचार, इच्छाएँ, सुख तथा दुख के कारण अलग हैं, जिसके कारण जीवन का भ्रामक मायाजाल खड़ा होता है। जो लोग अज्ञानी होते हैं, वे उसे ही सच्चाई मानते हैं। इसलिए, उनकी आत्मा नित्य भ्राँतियों से घिरी रहती है, जो अपनी इच्छाओं के बंधनों में जकड़ कर दुख–यातनाओं की सजा सहन करते हैं।"[11]

इस तरह उपनिषद् के दर्शन का मतलब है– "स्वचेतना के विनाश द्वारा अपनी इच्छाएँ नष्ट करके और संन्यास लेकर जीवन के अस्तित्व के संघर्ष से पीछे हटना।" हक्सले ने इस उपनिषदीय जीवन–पद्धति की बड़े ही कठोर शब्दों में आलोचना की है। उनका कहना है– "भारतीय संन्यासियों–तपस्वियों ने तापश्चर्या रूप से जितना कष्ट सहा उसका अन्यत्र उदाहरण मिलना कठिन है। आधुनिक युग की किसी भी संन्यासी मठवादी प्रथा ने मानवीय मन को निर्विकार निंद्रित अवस्था को उस हद तक नहीं गिराया, जो उसकी सर्वमान्य पवित्रता का पागलपन की भावना से भर जाने का खतरा उत्पन्न करती है।"[12]

हक्सले से भी आगे बढ़कर लाला हरदयाल का कहना है– "उपनिषद् यह दावा करता है कि उसके ज्ञान से प्रत्येक वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है। परिपूर्णता की यह लालसा ही भारत के कृत्रिम अध्यात्मवाद का आधार बन गई है। उपनिषद् के यह लेख मूर्ख विचार, स्वेर कल्पनाएँ तथा भ्रमित करने वाले अनुमानों से भरे हैं और हमने यह बात नहीं समझी कि यह सभी निरर्थक हैं। हम पुराने ही रास्तों पर चल रहे हैं। भारतीय विद्वानों तथा बुद्धिजीवियों की, जो बातें निरर्थक तथा पुरानी हैं, उनके प्रति एक प्रकार का पागल मोह है। इस प्रकार विकासशील मनुष्यों द्वारा स्थापित संस्थाएँ अपने युवकों को वेदों के माध्यम से संस्कृत व्याकरण की शिक्षा देने का उद्देश्य रखती है। बुद्धिमानी प्राप्त करने की लालसा में यह कितना गलत कदम है। यह ऐसा प्रयास है, जैसे कोई कारवाँ किसी रेगिस्तान से ताजे पानी की खोज में भरे हुए समुद्र के किनारे की ओर चला जा रहा है।"[13]

डॉ. अंबेडकर का यह भी कहना है कि उपनिषद्–दर्शन का हिंदुओं की सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था पर कोई खास असर नहीं रहा है। वास्तव में उपनिषद् का दर्शन अपूर्ण ही रहा और इसके कारण उससे कोई परिणाम प्राप्त नहीं हो सका, जो होना चाहिए था।

इस बावत गौरतलब है कि उपनिषद् का मूल स्वर है– 'स्वयं को जानो।' यहाँ 'स्वयं को जानो' का मतलब है– 'सत्य क्या है, उसे जानो, जो तुम्हारे अहंकार के नीचे दबा हुआ है, और उसे प्राप्त करो तथा उसे उसके श्रेष्ठतम एवं नित्य रूप में जानो।' दरअसल, उपनिषदों ने उस महान सत्य को खोजा कि आत्मा एवं ब्रह्म एक है और लोागें को यह संदेश दिया कि वह उसे जाने। लेकिन, उपनिषद् के तत्त्ववेत्ता लोगों को यह बात नहीं समझा सके कि केवल सत्य को जानना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उस पर आस्था–विश्वास का होना भी जरूरी है।

इसतरह उपनिषद्–दर्शन मात्र एक लोकोत्तर आदर्श बनकर रह गया और वह एक व्यावहारिक धर्म या कार्यरत नीतिशास्त्र का रूप नहीं ले सका। डॉ. अंबेडकर ने मैक्सलोमन के हवाले से बताया है– "जब तक कि धर्म परिवर्तनशील नहीं रहता और किसी वस्तु के लिए हममें प्रेम–भावना उत्पन्न नहीं करता है, हमें उस वस्तु के बिना रहना ही उत्तम होगा, जिसे हम धर्म कहते हैं, धर्म सत्य की दृष्टि है और यदि हमारी सत्य की दृष्टि के साथ उसके प्रति प्रेम की भावना नहीं रहती है, तब हमारे लिए यही उत्तम होगा कि हम उस दृष्टि को ही न प्राप्त करें। बुरा मनुष्य वही होता है, जिसने सत्य को केवल उसका तिरस्कार करने के लिए देखा है। टेनीसन ने कहा है, 'जब हम किसी को देखते हैं, तब उस पर अत्यधिक प्रेम करना चाहिए।' लेकिन, ऐसा नहीं होता है। इस बात को उसकी वस्तुपरकता से देखते हुए जो श्रेष्ठ होता है, वह उसकी भिन्नता तथा अंतर के कारण चमकता है, जिससे हम भयभीत हो जाते हैं, और जिससे हम डरते हैं, उससे घृणा करने लगते हैं।"[14]

यहाँ उपनिषद्–दर्शन के संबंध में प्लामन की उक्ति बिल्कुल सत्य प्रतीत होती है– "यदि धर्म एक अध्यात्मवाद बनकर रह जाए और उसके अलावा कुछ भी नहीं, तब एक बात निश्चित है कि उसका सीधे तथा सामान्य मनुष्यों के साथ कोई संबंध नहीं होगा। धर्म को पूर्ण रूप से अध्यात्मवाद की पकड़ में रखने का मतलब है, उसे मूर्खता का विषय बनाना। क्योंकि, जिस प्रकार हम किसी ऐसी बात में, जो प्रत्यक्ष तथा सजीव रूप से राजनीति में परिणामकारक नहीं है, विश्वास करते हैं, उसी प्रकार अंततः धर्म में विश्वास करना भी कठोर शब्दों में एक मूर्खता ही है; क्योंकि किसी परिमाणकारक अर्थ में, ऐसा विश्वास किसी प्रकार का फर्क नहीं करता और समय तथा आकांक्षा की इस दुनिया में जो बाद में कोई फर्क नहीं कर सकती, वह अस्तित्त्वहीन ही होती है। इन्हीं कुछ कारणों के कारण उपनिषद् का दर्शन परिणामशून्य साबित हुआ।"[15]

डॉ. अंबेडकर ने इस बात को बड़े ही तार्किक रूप से सामने लाया है। वे स्पष्ट कहते हैं– "उपनिषदों में समानता के तत्त्व मौजूद हैं। लेकिन, उपनिषद् हिंदू दर्शन के अंग हैं, न कि हिंदू धर्म के। यदि वे हिंदू धर्म के अंग होते, तो हिंदू समाज का आचरण भी ऐसा (समानतापूर्ण) होता, जबकि ऐसा नहीं है।"[16] उपनिषदों द्वारा संपूर्ण चराचर जगत की एकता एवं समता के उद्‌घोष के बावजूद भारत में जातिवादी भिन्नता एवं अस्पृश्यतागत असमानता की जड़ें गहरी हुईं। उपनिषद्–दर्शन हिंदू धर्म, जिसका नाम असमानता है[17] के चरित्र को नहीं बदल पाया।

इस तरह डॉ. अंबेडकर ने वेदांत के संबंध में एक सर्वथा नवीन दृष्टि का प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि को लेकर अभी और शोध की जरूरत है। यह लेख उस दिशा में एक विनम्र प्रयास है।

संदर्भ –

1. *अंबेडकर, डॉ. बी.आर.; बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड–8, संपादक–कैलाश चंद्र सेठ एवं मोहनदास नैमिसराय, डॉ. अंबेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 1995, पृ. 159.*
2. *वही, पृ. 160.*
3. *वही (उद्धृत : मैक्समूलर; द उपनिषदाज, एस.बी.ई., खंड–I भूमिका)*
4. *शर्मा, डॉ. राजकुमार; 'संपादकीय', भारतीय चिंतन–सृजन का प्रगतिकामी मानवीय पक्ष, संपादक–डॉ. राजकुमार शर्मा, उद्भावना प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण–नवंबर 2009, पृ. 13 (उद्धृत)*
5. *वही, पृ. 16 (उद्धृत : छांदोग्य उपनिषद्, अध्याय–1, खंड–12, श्लोक– 4–5.)*
6. *अंबेडकर, डॉ. बी.आर.; बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड–8, पूर्वोक्त, पृ. 73.*
7. *वही, पृ. 161–163.*
8. *वही, पृ. 167.*
9. *वही, पृ. 166 (उद्धृत)*
10. *वही, पृ. 166–167.*
11. *जाटव, डॉ. डी.आर.; डॉ. अंबेडकर : भारतीय दर्शन के समीक्षक, समता साहित्य सदन, जयपुर, राजस्थान, प्रथम संस्करण–1996, पृ. 127.*
12. *वही (उद्धृत : हक्सले; इवॉल्यूशन एंड इथिक्स, पृ. 63.)*
13. *वही, पृ. 128 (उद्धृत)*
14. *वही, पृ. 129 (उद्धृत)*
15. *वही, पृ. 130.*
16. *सिंह, रामगोपाल; डॉ. अंबेडकर : सामाजिक न्याय और परिवर्तन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर (राजस्थान), प्रथम संस्करण–2006, पृ. 73 (उद्धृत)*
17. *अंबेडकर, डॉ. बी.आर.; बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड–6, संपादक–कैलाश चंद्र सेठ एवं मोहनदास नैमिसराय, डॉ. अंबेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 1994, पृ. 102–103.*

7

धर्म , संस्कृति और मूल्य विमर्श

अध्यात्म की अवधारणा

रामलाल सिंह

प्रस्तुत लेख में मैंने अध्यात्म की अवधारणा पर विचार करने का एक छोटा सा प्रयास किया है। अध्यात्म की अवधारणा को लेकर आजकल, अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। जहाँ कुछ लोग इसे भ्रमवश विचित्र तथा रहस्यात्मक (Mysterious and mystical) मानते हैं, वहीं अन्य लोग इसे एक प्रकार की असामान्य मनोदशा (Abnormality) समझते हैं। ऐसे भी अवसर अथवा क्षण होते हैं जब इसे अशुभ का स्रोत माना जाता है। कभी–कभी इसे नैतिकता का एक प्रकार भी समझा जाता है। आगामी पृष्ठों में एक छोटा सा प्रयास यह दिखाने तथा स्पष्ट करने का किया गया है कि अध्यात्म के स्वरूप एवं अवधारणा से ऊपर चर्चित मतों का वस्तुतः कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि अध्यात्म की अनेक परम्परायें हैं, तथापि उन सभी में एक ही लक्ष्य एवं ध्येय निहित होता है। अतएव अब विचारणीय यह है कि अध्यात्म क्या है और आध्यात्मिक जीवन क्या है? सामान्य तौर पर किसी व्यक्ति को आध्यात्मिक तभी समझा अथवा कहा जाता है जब वह विशेष प्रकार की वेशभूषा से आवेष्टित होता है। इसके अतिरिक्त वह कुछ विशेष प्रकार की पूजा अथवा उपासना मन्दिर, मस्जिद अथवा गिरिजाघर में जाकर करता है। परन्तु उपर्युक्त बातें जो प्रायः बाह्य आचरण से सम्बन्धित हैं, अनिवार्यतः व्यक्ति के आन्तरिक जीवन को स्पर्श नहीं करती हैं। कुछ लोग आध्यात्मिक व्यक्ति का लक्षण असाधारण दृष्टियों (Visions) को मानते हैं। परन्तु मनोवैज्ञानिक शोधों एवं अध्ययनों से यह बात नितान्त सुस्पष्ट हो चुकी है कि असामान्य मनोदशा (Abnormalities) वाले व्यक्तियों में भी दृष्टियाँ (Visions) ड्रग्स के सेवन से भी इस प्रकार की दृष्टियों का अनुभव कुछ व्यक्तियों में देखा गया है। कुछ अन्य लोग चमत्कारों (Miracles) को दिखाने अथवा भविष्यवाणियाँ करने की क्षमता को आध्यात्मिक व्यक्ति की एकमात्र पहचान मानते हैं। परन्तु उक्त सभी विवेचन अध्यात्म की अवधारणा का सही रूप प्रस्तुत नही करते हैं। ये सभी भ्रामक दृष्टि एवं त्रुटिपूर्ण विचार पर आधारित हैं।

वस्तुतः अध्यात्म की समुचित अवधारणा से अवगत होने के लिए व्यक्ति के उस आन्तरिक जीवन के स्वरूप को उजागर करने का प्रयास किया जाना चाहिए जो सभी दार्शनिक–धार्मिक परम्पराओं में सन्निहित होता है तथा परस्पर विवादित परम्पराओं के बाह्य अनुष्ठानों (External Observances), सिद्धान्तों (Principles) एवं आडम्बरों (Dogmes) को भी अर्थवत्ता तथा सार्थकता प्रदान करता है। अब यह स्वीकार किया जा सकता है कि अध्यात्म अहं की समस्या के प्रबन्धन, सुनियोजन तथा नियंत्रण द्वारा स्थायी शान्ति की प्राप्ति का एक उपाय अथवा साधन है। सर्वप्रथम हमें यह भलीभांति विदित होना चाहिए कि अध्यात्म मात्र एक उपाय है, न कि स्वयंसाध्य अथवा उपेय है। इसे भ्रमवश कभी लक्ष्य नहीं समझना चाहिए। जब यह तथ्य विस्मृत हो जाता है तभी संकीर्णता, कट्टरपन (fanaticism) तथा अन्धविश्वास उभर कर ऊपर आते हैं। अतएव यह बात नितान्त सुस्पष्ट होना चाहिए कि अध्यात्म जीवन का मात्र एक प्रकार (Way of life) विधि अथवा

सेवानिवृत्त आचार्य, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ.प्र.)

साधन है। यह केवल एक अनुशासन है जिसका तात्पर्य यह है कि ऐसे तमाम अनुशासन तथा प्रणालियाँ हो सकती हैं जिनका लक्ष्य अथवा ध्येय सर्वथा एक ही होता है। कट्टरपन के निराकरण के लिए तथा अन्य धर्मों एवं परम्पराओं के समुचित आग्रहों की भी अनदेखी न करने के लिए यह मात्र वांछनीय ही नहीं अपितु नितान्त आवश्यक है कि जीवन के विभिन्न आध्यात्मिक मार्गों को स्वीकार किया जाय। ये मार्ग हैं भक्ति, ज्ञान, योग, बौद्ध, जैन आदि। पाश्चात्य चिन्तन प्रायः केवल भक्तिमार्ग को स्वीकृति प्रदान करता है और अन्य मार्गों की प्रायः अनदेखी करता है। विभिन्न मार्ग अपने लक्ष्य अथवा ध्येय के संबंध में पृथक्–पृथक् मत व्यक्त करते हैं, यथा आत्मसाक्षात्कार,, ईश्वरसाक्षात्कार, मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण इत्यादि। प्रथम दृष्टया यह मानना कि उक्त सभी का लक्ष्य स्थायी शान्ति प्राप्त करना है, सर्वथा अनुचित प्रतीत हो सकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में हम यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि लक्ष्य अथवा ध्येय की उपर्युक्त सभी अवधारणाएँ संबंधित उस अध्यात्म से ही हैं जो केवल वर्तमान जीवन से ही सम्बन्धित है तथा जिसका जीवनोपरान्त की स्थिति से कोई सरोकार नहीं है। अतएव अध्यात्म का लक्ष्य अथवा ध्येय स्थायी शान्ति प्राप्त करना ही है।

अध्यात्म जिस प्रकार की शान्ति की प्राप्ति का प्रयास करता है वह शान्ति के प्रत्येक प्रकार, यथा भौतिक, मानसिक, नैतिक आदि से नितान्त भिन्न है। जब कोई व्यक्ति भौतिक असुविधाओं, यथा भूख, प्यास, रोग, दुःख अथवा विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं से सर्वथा मुक्त होता है तो समझा जाता है कि उसे भौतिक शान्ति है। भौतिक अशान्ति का अनुभव प्रायः सार्वभौमिक है, यहाँ तक कि पशु भी इसका अनुभव करते हैं। इस प्रकार की अशान्ति का कारण हमारे परिवेश में विद्यमान कोई घटक होता है और इसके निराकरण का मार्ग भी आनुभविक होता है तथा प्राप्त शान्ति भी अत्यन्त अस्थायी और क्षणिक होती है। अधिकांश लोग केवल भौतिक शान्ति प्राप्त करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते हैं। ऐसे लोगों को भौतिक शान्ति की उपलब्धि हेतु अनुचित साधनों का आश्रय लेने में भी तनिक हिचक नहीं होती है। वे भौतिक शान्ति को ही अपने सांसारिक अस्तित्व का सब कुछ (be all and end all) मानते हैं। परन्तु ऐसे व्यक्ति भी हैं जो भौतिक शान्ति की प्राप्ति के उपरान्त भी शान्ति का अनुभव नहीं करते। उन्हें एक प्रकार का मानसिक तनाव और समस्या रहती है। वे शान्ति का अनुभव तभी करते हैं जब मानसिक समस्या का समाधान हो जाता है। इसे ही मानसिक शान्ति की संज्ञा दी जा सकती है। इससे भी पृथक् ऐसे लोगों की श्रेणी भी है जो नैतिक बिन्दुओं तथा द्वन्द्वों के कारण अशान्ति का अनुभव करते हैं। ऐसे लोगों को अशान्ति से मुक्ति तभी मिलती है जब नैतिक द्वन्द्व का समाधान हो जाता है। इसे ही नैतिक शान्ति कहा जा सकता है। मेरे विचार से अशान्ति के ये सभी भौतिक और नैतिक प्रकार, क्षणिक और निष्प्रभावी हैं, क्योंकि ये अशान्ति की सम्भावना मात्र को समाप्त नहीं करते हैं। अतएव यह जानना नितान्त वांछनीय है कि क्या सभी प्रकार की अशान्ति का कोई मूलकारण है और क्या उसका आत्यन्तिक अथवा सर्वथा निराकरण कर पाना संभव है ?

अध्यात्म की स्थिति कुछ इस प्रकार की है। अनुभववादी के अनुसार अशान्ति का कारण बाह्य परिस्थितियाँ हैं। नीति–दर्शन वेत्ता बुराई अथवा पाप को अशान्ति का कारण मानते हैं। आध्यात्मिक व्यक्ति, इन दोनों से ही सर्वथा भिन्न विवेचन तथा विश्लेषण प्रस्तुत करता है। उसके

अनुसार सारी अशान्ति का कारण आन्तरिक है। हमारा अहं अथवा अहं का भाव ही सारी अशान्ति का कारण है। गम्भीरता से सोचने के उपरान्त यह विदित होता है कि अहं ही हमारे सम्पूर्ण जीवन का आधार है। यह अहं ही है जो हमें अन्य लोगों से पृथक् करता है तथा एकाकी बनाता है। अहं के कारण ही स्वार्थ तथा स्वार्थपरता दोनों को बढ़ावा मिलता है। अहं के माध्यम से ही हमें सारे द्वन्द्वों, यथा सुख–दुख, सम्पन्नता तथा विपन्नता, सफलता तथा असफलता, जय एवं पराजय, आदि का अनुभव होता है। वस्तुतः व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन ही अहं का जीवन कहा जा सकता है जिसमें प्रत्येक क्षण वह स्वार्थ, शक्ति तथा समृद्धि की खोज में ही आसक्त रहता है। यह अत्यन्त सरलता से स्पष्ट किया जा सकता है कि दुःख का कारण वासनायें (Passions) हैं और वासनायें अहं के कारण होती हैं। अहं के लगाव के कारण ही भावनाओं तथा प्रवृत्तियों का आर्विभाव होता है। इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि अहं ही समस्त दुःखों का मूलकारण है। इस तथ्य की पुष्टि प्रत्येक क्षण अपने जीवन तथा दूसरों के जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण से होती रहती है।

अहं की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ भी होती हैं। यह मात्र शरीर तक सीमित तथा संकुचित नहीं रहता है। उस प्रत्येक वस्तु तक यह विस्तृत रहता है जिससे शरीर सम्बद्ध होता है और उस प्रत्येक वस्तु यथा परिवार, सम्प्रदाय, कस्बा, जिला, ग्राम, राज्य, देश और पार्टी के द्वारा आत्म–तुष्टि प्राप्त करता है। अहं प्रत्येक वस्तु, यहाँ तक कि अपने धर्म को भी, आत्म–तुष्टि का साधन बनाता है। अहं के क्रिया–कलापों का क्षेत्र केवल विस्तृत ही नहीं होता, अपितु नितान्त सूक्ष्म भी होता है। यद्यपि विनम्रता अहं के प्रतिकूल होती है, तथापि अहं उसका भी पोषण उसके प्रदर्शन अथवा विज्ञापन के द्वारा आत्म–तुष्टि के लिए करता है। इस प्रकार अहं, सर्वत्र सामान्य रूप से एवं अध्यात्म के क्षेत्र में विशेष रूप से, नितान्त आत्म–प्रवंचना (Self decaption) उत्पन्न करता है। ऐसी आत्म–प्रवंचना से तभी और केवल तभी बचा जा सकता है जब व्यक्ति अहं की सूक्ष्म क्रियाशैली के विरूद्ध सर्वथा सतर्क रहे। अहं के छिपने के स्थल जीवन के नितान्त आशातीत कोनों में भी ढूँढे जा सकते हैं। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए आध्यात्मिक व्यक्ति को अपने ध्यान को अर्न्तमुखी करना पड़ेगा। बाहय परिस्थितियों तथा अन्य व्यक्तियों एवं उनके समूहों के प्रति दोषारोपण करने की अपेक्षा उसे अपने को दोषी समझना चाहिए। सांसारिक व्यक्ति का ध्यान सदैव बाहय परिस्थितियों अथवा अन्य व्यक्तियों तथा उनके समूहों की ओर उन्मुख रहता है। यही कारण है कि सांसारिक व्यक्ति यह समझने में सर्वथा असफल एवं असमर्थ रहते हैं कि उनके दुःखों का एक मूलकारण भी है और वह उनके स्वयं के स्वभाव में निहित है। उनकी स्थिति के दयनीय होने का कारण वे स्वयं हैं। सांसारिक व्यक्ति निश्चित रूप से यह समझने में असमर्थ होता है कि बाहय परिस्थितियाँ तथा अन्य लोग उसके दुःखों का कारण, ज्यों ही उनसे आसक्ति के सभी बन्धन समाप्त हो जाते हैं, नहीं रह जाते हैं। इस प्रकार की आसक्ति की समाप्ति मात्र भौतिक सम्बन्धों की समाप्ति तक ही सीमित नहीं है, अपितु उस अहंभाव की समाप्ति की भी अपेक्षा रखता है जो समस्त भेददृष्टि तथा उससे उत्पन्न 'मेरा' तथा 'अन्य' जैसे मनोभावों को उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त मूलकारण के अभाव में दुःखों का आत्यन्तिक निराकरण कदापि सम्भव नहीं है। यदि दुःख बाहय कारणों के फलस्वरूप हैं तो वे सदैव बने रहेंगे, क्योंकि बाहयकारणों को न तो पूर्णतया नियंत्रित किया जा सकता है और न ही उनका कोई अन्य प्रबन्धक सम्भव है। नैतिक

दृष्टि से दुःखों का कारण व्यक्ति के पाप (Sin) हैं। परन्तु गंभीरता से विचार करने पर यह विदित होता है कि पाप का उद्भव तथा विकास भी व्यक्ति की आत्मतुष्टि की उत्कण्ठा के कारण ही होता है। जिसकी पृष्ठभूमि में उसका अहं (Ego) होता है। अतएव अहं ही समस्त दुःखों का मूलकारण है। व्यक्ति में इस प्रकार का अनुभव उसके आध्यात्मिक सोपान पर पहुँचने का द्योतक है। दुःखों से मुक्त होने की आकांक्षा निःसंदेह सार्वभौमिक तथा विश्वजनीन होती है, परन्तु यह साक्षात् अनुभव कि दुःख उस व्यक्ति ने अपने अहं के कारण हैं बिल्कुल सार्वभौमिक नहीं हैं। केवल वे लोग ही जिन्हें यह साक्षात् अनुभव है कि दुःख उनके स्वयं के अहं के कारण हैं उनकी निवृत्ति हेतु अहं तथा उसकी समस्याओं के समाधान के आध्यात्मिक उपाय का आश्रय लेंगे। ऐसे व्यक्ति विरले हैं किन्तु उनकी उपस्थिति समाज में सदैव रहती है। यदि इस प्रकार के व्यक्ति जो अपने दुःखों का आध्यात्मिक विश्लेषण करते हैं समाज में न होते तो आध्यात्मिक जीवन का स्रोत कब का सूख गया होता।

एक बार निश्चित रूप से यह विदित हो जाने के पश्चात् कि अशान्ति अथवा दुःखों का प्रमुख कारण मनुष्य का अहं है तो उसके पश्चात् समस्या के समाधान का एकमात्र तरीका यह रह जाता है कि अहं को किस प्रकार सुनियोजित किया जाय? अहं की समस्या का समाधान या तो साक्षात् हो सकता है अथवा परोक्ष। अहं के साक्षात् नियोजन के प्रयास को अपरोक्ष समाधान (frontal attack) और उसके परोक्ष नियोजन के प्रयास को परोक्ष समाधान (Flanks attack) कहा जायगा। अहं के समाधान की परोक्ष विधि को भक्ति मार्ग (Path of devotion) तथा उसके समाधान की साक्षात् विधि को ज्ञानमार्ग (Path of knowledge) कहा जा सकता है।

भक्तिमार्ग के अनुसार यह समझा जाता है कि अहं का आत्यन्तिक निराकरण कम से कम अहं की सहायता से, संभव नहीं है। अहं कभी भी स्वयं समाप्त नहीं हो सकता है। यहाँ वांछनीय यह है कि अहं को इस प्रकार व्यवस्थित तथा सुनियोजित किया जाय ताकि वह आत्मसंतुष्टि की सभी इच्छाओं, वासनाओं और प्रवृत्तियों से पूर्णतया रिक्त हो सके। भक्ति का अभिप्राय है अहं को ईश्वर की सेवा में समर्पित करना। स्वभाव तथा स्वरूप की दृष्टि से आत्मतुष्टिपरक होने के कारण अहं की रूझान एवं उसका आकर्षण ऐसी सांसारिक वस्तुओं अथवा क्षेत्रों के प्रति हो जाता है जो नितान्त क्षणिक एवं नश्वर होने के फलस्वरूप उसके दुःख एवं अशान्ति के कारण बनते हैं। अतएव समस्या का समाधान इस बात में निहित है कि मनुष्य उन सभी वस्तुओं अथवा क्षेत्रों से विमुख हो जाय तो नितान्त क्षणिक एवं नश्वर हैं तथा अपने प्रेम को शाश्वत एवं असीम की ओर अग्रसर करे जो ईश्वर से पृथक् और कुछ भी नहीं। अहं का स्वरूप परिवर्तित हो जायेगा क्योंकि यह शाश्वत तथा असीम की उपस्थिति का अनुभव करने लगेगा। इस अनुभूति के साथ कि केवल ईश्वर जानता है कि मनुष्य के लिए शुभ क्या है और केवल ईश्वर ही शुभत्व प्रदान करने में सक्षम है, मनुष्य की आत्मतुष्टि की इच्छा तथा उससे अनुस्यूत उसका अपना प्रयास शिथिल हो जाता है तथा धीरे–धीरे समाप्त होकर ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाता है। इस प्रकार प्रपत्ति अथवा समर्पण भक्ति का वास्तविक रूप है तथा अहं सांसारिकता की पहचान तथा अभिव्यक्ति है। समर्पण की स्थिति में मनुष्य के व्यक्तित्व अथवा अहं का निराकरण न होकर उसका समुचित सुनियोजन हो जाता है। भक्तिमार्ग को स्वीकार करने वाले सभी सम्प्रदाय चाहे भारतीय हों अथवा

पाश्चात्य, अनिवार्यतः उक्त विवेचित दृष्टिकोण से सहमति रखेंगे। भक्तिमार्ग का पालन ज्ञानमार्ग की अपेक्षा सरल एवं सहज है, जहाँ तक इसके अर्न्तगत अहं के निराकरण तथा परित्याग पर बल न देकर उसके सुनियोजन एवं समाधान पर ही एकमात्र बल दिया जाता है। अहं के प्यार एवं आसक्ति को सीमित तथा आत्मप्रेम से असीमित तथा ईश्वर प्रेम की ओर उन्मुख करना दुष्कर नहीं है, क्योंकि अहं अधिक आकर्षक वस्तु को प्यार करने की प्रवृत्ति को अपने में समाहित करता है। अहं का परित्याग करना नितान्त कठिन है।

मनुष्य भक्तिमार्ग में आनन्द की प्राप्ति सीमित, नश्वर एवं अनित्य तथा क्षणिक वस्तुओं और वस्तुगत क्षेत्रों से न प्राप्त करके असीमित नित्य एवं शाश्वत ईश्वर–प्रेम से प्राप्त करता है। अतएव भक्तिमार्ग में प्रेम का परित्याग एवं निराकरण न होकर उसको उचित दिशा की ओर उन्मुख कर दिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य का व्यक्तित्व अथवा अहं भक्तिमार्ग के अर्न्तगत् सर्वथा विद्यमान रहता है।

हमारे भारत में अहं के प्रबन्धन, नियोजन एवं समाधान के लिए भक्तिमार्ग के अतिरिक्त अन्य मार्ग भी सुझाए गए हैं। आत्मतुष्टि के अतिरिक्त अहं की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता विशेषीकरण तथा पृथक्करण है। एक ऐसा भी मार्ग है जो अहं अथवा सभी अहमों के विशेषीकरण के अर्न्तगत सार्वभौम तथा विश्वजनीन को ढूँढ़ने का सक्षम एवं सार्थक प्रयास करता है। यह हमें सलाह देता है कि हम विशेषीकरण अथवा पृथक्करण से सर्वथा मुक्त होकर उस सार्वभौम आत्मा को प्राप्त करने का प्रयास करें जो हमारी वास्तविक आत्मा **(Real Self)** है। यह आत्म–विस्तार का मार्ग है। हम अपने को अज्ञानवश सीमित एवं सापेक्ष मानते हुए मात्र शरीर तथा उससे सम्बद्ध वस्तुओं तक सीमित समझते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि हम असीमित हैं और हमें अपने असीमित एवं सार्वभौम स्वरूप का ज्ञान होते ही द्वैत, चिन्ता, अभाव, भय, पाप, द्विविधा एवं अशान्ति का आत्यन्तिक निरसन हो जाता है। अतएव हमारे अहं अथवा आत्मा का विस्तार इस ज्ञान अथवा अनुभूति के फलस्वरूप होता है कि हम वस्तुतः असीमित एवं निरपेक्ष हैं। अज्ञान के निराकरण के पश्चात् उक्त अनुभूति से पुनः विरत नहीं होना पड़ता है। भक्तिमार्ग में भी पुनः च्युत होने का भय नहीं रहता है। चूँकि भक्त ईश्वर के गुरूत्वाकर्षण की परिधि के अर्न्तगत् रहता है तथा असीमित का आकर्षण इतना सशक्त होता है कि पुनः च्युत होने का भय कदापि नहीं रहता है।

अहं के समाधान के उपर्युक्त मार्गों के अतिरिक्त एक और मार्ग भी है। यह गौतम बुद्ध के बौद्ध दर्शन में उपलब्ध है। इस मार्ग में न तो विशेषीकरण से सार्वभौम की ओर संक्रमण और न ही आत्म–विस्तार अपेक्षित है। इसमें मात्र विशेषीकरण की प्रवृत्ति से निवृत्ति आवश्यक है। मनुष्य का अहं इस विश्वास पर आधारित होता है कि वह कुछ नित्य एवं शाश्वत है।

वस्तुतः वह क्षणिक एवं अनित्य धर्मों के क्षणिक तथा अनित्य संघात के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह जब इस तथ्य का अनुभव करता है तो उसके अहंकार का अधिष्ठान समाप्त हो जाता है यहाँ पर विस्तार न होकर निराकरण अथवा निरसन विद्यमान होता है। वस्तुतः जो जीवन का केन्द्र समझा जाता है उसी का निराकरण हो जाता है। उसके पश्चात् कुछ अवशिष्ट ही नहीं रहता जो चिन्ता अथवा अशान्ति उत्पन्न कर सके। आत्मवाद की परम्परा के अन्तर्गत आत्मा के शाश्वत एवं नित्य स्वरूप की अनुभूति के अनन्तर सीमित तथा अनित्य के प्रति किसी

भी प्रकार की चिन्ता शेष नहीं रहती है। परन्तु अनात्मवाद की परम्परा के अन्तर्गत अहं के निराकरण के मात्र निषेधात्मक पक्ष पर ही बल दिया जाता है, क्योंकि दुःख के निराकरण के लिए केवल वही पर्याप्त है। अतएव बौद्ध मार्ग भी ज्ञानमार्ग है। वस्तुतःज्ञान के अन्तर्गत दो पक्ष होते हैं – भाव तथा अभाव। भाव पक्ष में किसी वस्तु अथवा तथ्य का ज्ञान प्राप्त किया जाता है और अभाव पक्ष में अज्ञान का निराकरण होता है। बौद्धमार्ग केवल अभाव पक्ष पर बल देता है क्योंकि वह उसे अनिवार्य एवं पर्याप्त (necessary and sufficient) दोनों ही मानता है। बौद्ध दर्शन क्षणभंगवाद एवं अनित्यवाद की पृष्ठभूमि में किसी शाश्वत अथवा नित्य सत्ता को स्वीकार नहीं करता है।

जैन दर्शन के अन्तर्गत भी दुःख और अशान्ति की परिधि से बाहर निकलने का मार्ग प्रशस्त करने का सार्थक प्रयास किया गया है। इस हेतु जैन अनेकान्तवाद का सिद्धान्त, जिसका की तार्किक आधार उनका स्यादवाद का सिद्धान्त है, एक उल्लेखनीय आध्यात्मिक प्रभाव प्रस्तुत करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका प्रभाव अहं की रूढ़िवादिता से सम्बन्धित है तथा अहं की रूढ़िवादिता उसके विश्वासों की रूढ़िवादिता है जिस पर यह अन्ततः आधारित है। विश्वासों की इस प्रकार की रूढ़िवादिता की अन्धविश्वासपरता, असहनशीलता एवं कट्टरता के लिए अन्ततः उत्तरदायी है। "मैं सही हूँ और अन्य लोग गलत हैं" ऐसा विचार केवल अहंकार युक्त दृष्टि का द्योतक है। अनेकान्तवाद का सिद्धान्त हमें विनम्रता, सहिष्णुता, विशाल मानसिकता एवं उदारता की शिक्षा देता है। इसके फलस्वरूप हमारा अहं प्रगतिशील तथा समायोजित हो जाता है। सभी दृष्टियों की स्वीकृति तथा उनके साथ समायोजन के फलस्वरूप जैन दर्शन अहं का निरसन करने में सक्षम होता है। वह हमें बतलाता है कि हम सही हो सकते हैं, किन्तु हमारे अतिरिक्त अन्य लोग भी उतना ही सही हो सकते हैं। शून्यवाद या माध्यमिक दर्शन का तर्क और उनकी सर्वदृष्टिशून्यता भी उक्त स्थिति को उत्पन्न करने में सक्षम होती है। अहं के अधिष्ठान की ही समाप्ति हो जाती है जब सभी दृष्टियों की शून्यता प्रमाणित हो जाने के पश्चात् उन्हें निरस्त कर दिया जाता है। आत्मा और ईश्वर विषयक भिन्न सिद्धान्त एवं विवेचन के होते हुए भी अध्यात्म के अन्य मार्गों को भी अहं के प्रबन्धन तथा समाधान की विधि अथवा प्रणाली के रूप में ही दिखाया जा सकता है। सैद्धान्तिक भिन्नताओं के होते हुए भी सभी आध्यात्मिक मार्गों द्वारा स्वीकृत एक लक्ष्य अथवा ध्येय उनके अपने ढ़ंग से अहं का नियोजन अथवा प्रबन्धन है। यहाँ महत्त्वपूर्ण एवं सार्थक बात अहं तथा उसके क्षेत्रों का नियंत्रण तथा नियोजन है न कि तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त अथवा पूजा–विधि अथवा विशिष्ट धर्मग्रन्थ। अहं का समाधान और नियोजन ही आध्यात्मिक जीवन और शान्तिपूर्ण जीवन के सभी मार्गों की मुख्य पहचान है। वस्तुतः जब हम कह सकते हैं कि अध्यात्म अहं के प्रबन्धन का एक मार्ग है और इस प्रकार के कई मार्ग हो सकते हैं। अध्यात्म की ऐसी अवधारणा उसके सभी रूपों, यथा भक्ति, ज्ञान, योग इत्यादि को अपने में समाहित करती है। अध्यात्म के ऐसे स्वरूप का प्रभाव वर्तमान जीवन में तथा इस पृथ्वी पर ही देखा तथा अनुभव किया जा सकता है।

यहाँ यह भी स्पष्ट करना अत्यन्त वांछनीय होगा कि अध्यात्म मात्र नैतिकता नहीं है, क्योंकि नैतिकता अहं पर आधारित है। यद्यपि नैतिकता से अहं के शुद्धीकरण एवं नियंत्रण की अपेक्षा की जाती है, किन्तु यह अहं का निराकरण कदापि नहीं कर सकती है। अहं के निराकरण

हेतु मात्र आध्यात्मिक मार्ग ही अपेक्षित है। यदि अहं की समस्या को टाल दिया जाय तो अध्यात्म स्वयं अत्यन्त सूक्ष्म ढ़ंग से अहं के प्रसार के लिए अवसर प्रदान करेगा। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति अपनी नैतिकता का प्रदर्शन करता है तो वह निःसंदेह अपने अहं का शिकार है। विभिन्न मतावलम्बियों के बीच उनकी आध्यात्मिकता सम्बन्धी श्रेष्ठता का विवाद भी वस्तुतः अध्यात्म का विवाद न होकर केवल अहं का ही विवाद है। अतएव अध्यात्म नैतिकता तक सीमित न होकर उससे अधिक है।

वांछनीय वस्तु अहं के सुनियोजन, प्रबंधन तथा नियंत्रण की है। किसी मनुष्य को अहं के दुष्प्रभाव से बचने के लिए नाम एवं ख्याति, शक्ति तथा सम्पन्नता, धन एवं धान्य की इच्छा से सर्वथा मुक्त होना चाहिए, क्योंकि ये सभी अहं की अभिव्यक्ति हैं। जिसने अपने अहं को नियंत्रित कर लिया है वह अपने को विज्ञापित नहीं करता है। अहं से रहित व्यक्ति लोगों को आकर्षित करने का प्रयास नहीं करता है। ऐसा व्यक्ति अपने अहं को कभी भी न तो प्रत्यक्ष रूप से और न ही परोक्ष रूप से प्रोत्साहन देने का प्रयास करता है। ऐसा व्यक्ति कभी भी न तो सत्य के नाम पर और न ही न्याय के नाम पर लड़ने को तत्पर होगा। वह धर्म के नाम पर भी कभी लड़ने झगड़ने को उद्यत नहीं होगा, क्योंकि जहाँ भी लड़ाई और झगड़ा होता है उसकी पृष्ठभूमि में अहं ही कारण के रूप में विद्यमान होता है। जिसे इस तथ्य का सम्यक्ज्ञान रहता है उसकी अधिकतर समस्यायें स्वतः लुप्त हो जाती हैं। जो व्यक्ति अध्यात्म के आदर्श के तात्पर्य को समझ सकता है, वही अध्यात्म के सामाजिक औचित्य को भी समझ सकता है। सामाजिक समस्यायें दो प्रकार की होती हैं, वस्तुगत तथा व्यक्तिगत। वस्तुगत अपेक्षाएँ, यथा भोजन, वस्त्र, आवास, दवाएँ इत्यादि वस्तुगत समस्यायें हैं। व्यक्तिनिष्ठ समस्याओं का सम्बन्ध ईर्ष्या और द्वेष आदि की भावनाओं से है। इन दोनों में से अहं से आविर्भूत व्यक्तिनिष्ठ समस्याएँ आवश्यकता अथवा विपन्नता से आर्विभूत वस्तुगत समस्याओं से कहीं अधिक गंभीर एवं दूरगामी परिणामवाली होती हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि मनुष्य की ईर्ष्या तथा द्वेष जैसी भावनाएँ एवं प्रवृत्तियाँ उसे, जो कुछ उसके पास है, उसे भी भोगने नहीं देती हैं। ऐसी स्थिति मात्र उनके साथ नहीं है जो अभावग्रस्त हैं, अपितु उनके साथ अधिक है जो अत्यन्त सम्पन्न तथा समृद्ध हैं। अतएव अहं की समस्या का समाधान केवल वस्तुगत समस्याओं के समाधान मात्र से कदापि नहीं हो सकता है। उसका समाधान केवल आध्यात्मिक विधियों द्वारा ही किया जा सकता है। जिस व्यक्ति ने अपने अहं पर विजय प्राप्त कर लिया है वह समाज के लिए अत्यन्त मूल्यवान एवं उपयोगी है। वह स्वयं शान्तिपूर्वक रहते हुए समाज में अन्य लोगों के साथ भी नितान्त शान्तिपूर्वक जीवन–यापन करता है। ऐसा व्यक्ति अपने आचरण द्वारा यह स्पष्ट करने में सक्षम होता है कि शान्ति की प्राप्ति तुच्छ सांसारिक वस्तुओं एवं तथाकथित उपलब्धियों में निहित ईर्ष्या एवं प्रतिस्पर्धा से संभव न होकर अपने अन्दर अनासक्ति, आत्म त्याग तथा सन्यास की भावना पैदा करने से ही सम्भव हो सकती है। सांसारिक उपलब्धियों के मार्ग में निहित अप्रकट अशान्ति को दुनियादार व्यक्ति, जो कि प्रायः अचिन्तनशील एवं अदूरदर्शी होता है, देखने में सर्वथा असमर्थ रहता है। इसके विपरीत जो लोग दूरदर्शी एवं चिन्तनशील होते हैं वे यह समझने में सर्वथा सक्षम होते हैं कि अध्यात्म तिरस्कार योग्य वस्तु न होर समाज एवं व्यक्ति दोनों के लिए सर्वथा वांछनीय है।

दार्शनिक लोग ईश्वर तथा आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करें अथवा उसका निराकरण करें। उनमें परस्पर प्रत्येक तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय प्रश्न और समस्या के सम्बन्ध में मतभेद एवं विवाद् हो सकता है। परन्तु उनमें इस तथ्य के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का विवाद अथवा मतभेद नहीं हो सकता है कि हम सभी लोग शान्ति चाहते हैं तथा हर तरह की अशान्ति चाहे वह वैयक्तिक हो अथवा सामाजिक उसका एक मात्र कारण अहं अथवा अहं की भावना है। ऊपर के पृष्ठों में विवेचित अध्यात्म की महत्ता तथा मूल्य उन सभी तत्त्वमीमांसीय एवं दार्शनिक विवादों को दूर रखने का सर्वथा प्रयास करता है जिनमें दार्शनिक लोग प्रायः उलझे रहते हैं। यह अपने को अहं की समस्या तथा उसके समुचित नियोजन, प्रबन्धन एवं समाधान तक ही सीमित रखता है। यह आध्यात्मिक जीवन की न्यूनतम अपेक्षा है जो उस शान्ति के अनुभव की प्राप्ति की ओर ले जाता है जिसके लिए प्रत्येक व्यक्ति सतत प्रयत्नशील रहता है। दार्शनिक लोग समाज को अपने अस्तित्व तथा औचित्य का बोध तभी और केवल तभी करवा सकते हैं, जब वे अहं के नियोजन एवं समाधान के एक प्रकार के रूप में आध्यात्मिक जीवन के स्वरूप एवं महत्ता की ओर हमारे ध्यान को ले जाने में सक्षम हों। हमारे लिए वांछनीय है कि हम अहं का नियंत्रण, नियोजन तथा समाधान करें और शान्ति को प्राप्त करें। इस संबंध में अहं के नियंत्रण हेतु हमें विभिन्न मार्गों के औचित्य को स्वीकृति प्रदान करना चाहिए न कि उनके औचित्य के सम्बन्ध में विवाद तथा संघर्ष करना चाहिए। उन मार्गों के सम्बन्ध में सभी विवाद अहं अथवा उसकी भावना के कारण ही होते हैं। हमें अपने अहं पर नियंत्रण रखना चाहिए, न कि अहं द्वारा स्वयं नियंत्रित होना चाहिए। किसी भी अध्यात्म मार्ग को स्वीकार करके हमें अहं के निरसन का सार्थक प्रयास करना चाहिए। अहं–विहीनता ही अध्यात्म है। अहं विहीनता ही शान्ति है। अध्यात्म की अर्थवत्ता एवं महत्ता कभी भी कम नहीं आंकी जा सकती है जब तक कि मनुष्य में शान्ति की लालसा विद्यमान है।



अद्वैत वेदान्त की आध्यात्मिक एवं धार्मिक दृष्टि

रंजय प्रताप सिंह

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।[1]

शुक्लयर्जुवेदकाण्वशाखीय संहिता के चालीसवें अध्याय में वर्णित मंत्रों में भगवत्ता का निरुपण कर्मकांड के रूप में न होकर, ज्ञानकांड में हुआ है, जिससे ईशावास्य उपनिषद् के मंत्र संकलित हैं। इस उपनिषद् को कालक्रम की दृष्टि से प्रथम उपनिषद् की संज्ञा प्रदान की जाती है। ईशावास्योपनिषद् का उपर्युक्त मंत्र ऐसे मनुष्य की स्थिति का वर्णन करता है, जिसकी आध्यात्मिक एवं धार्मिक अनुसंधानात्मक दृष्टि अद्वैती है, क्योंकि जब कोई मनुष्य अपनी आत्मा में सभी प्राणियों को तथा सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को देखता है, तो उसके भीतर अद्वैत का भाव स्वतः उपस्थित हो जाता है। यही अद्वैत दृष्टि आध्यात्मिकता एवं नैतिकता का आधार है जो 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' के द्वारा समाज में व्यवहृत है। 'सर्वभूतेषु चात्मानं' श्रुतिवचन में अध्यात्म के सर्वोत्कृष्ट अद्वैती भाव का प्रकटीकरण है, जहाँ पर विजुगुप्सा अर्थात् घृणा, द्वेष आदि का निर्मूलन है। इसीलिए अध्यात्म का विश्लेषण ''आत्मनि अधि'' के द्वारा करने पर जो कुछ आत्मा के निजी स्वरूप में विद्यमान है, सभी इसके अन्तर्गत आ जाता है। आत्मस्वरूप की दृष्टि मनुष्य के समस्त मोह जन्य विकारों एवं शोक जन्य दुःखों को दूर करके नानात्व का अन्त कर देती है। आचार्य शंकर की अभिस्वीकृति है कि :

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि ह्यात्मत्वेन विजानतः।
न वै तस्य भवेन्मोहो न च शोकोऽद्वितीयतः।।[2]

मनुष्य के जीवन में मोहांधकार[3] जब तक विद्यमान रहता है, तब तक वह नाना प्रपंचात्मक जगत् में आशा, तृष्णा, लोभ, राग, द्वेष में लिप्त रहता है और उसी में सुखानुभूति प्राप्त करता है। शंकराचार्य व्यावहारिक जीवन की विविध अनुभूतियों के सूक्ष्म द्रष्टा हैं, उन्होंने जहाँ एक तरफ वैदिक ग्रन्थों का गहन अनुशीलन करके विद्वतजनों के लिए दुरुह, प्रौढ़, गम्भीर दार्शनिक चिन्तन से परिपूर्ण प्रस्थानत्रयी का भाष्य किया, वहीं दूसरी तरफ सामान्य लोगों में अद्वैत वेदान्त को सहज एवं सुबोधगम्य बनाने के लिए स्तोत्रों एवं प्रकरण ग्रंथों का प्रणयन किया। आचार्य शंकर के द्वारा रचित लगभग 240. स्तोत्र उपलब्ध हैं, उनमें से दक्षिणामूर्ति स्तोत्र, मनीषापंचक, सोपान पंचक, चिदानन्द दशश्लोकी, मोहमुद्गर (भज गोविन्दं), द्वादश पंजारिका आदि प्रमुख हैं। ये स्तोत्र पद्यात्मक हैं तथा अत्यन्त सरल, सरस, एवं गीतमय हैं। ये सभी स्तोत्र धार्मिक, उपासनात्मक, उपदेशात्मक, अर्चनात्मक भक्तिभावनात्मक व्यवस्था एवं सामाजिक मूल्य व्यवस्था को नियमित एवं संयमित करके श्रुति, स्मृति एवं पुराणों में वर्णित मान्यता–''नर तन सम नहि कवनेहु देही। जीव चराचर जाचत तेही।। नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ग्यान विराग भगति शुभ देनी।।''[4] को प्राप्त

दर्शन विभाग, डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर (उ.प्र.)

कराने में सक्षम हैं। धर्म दार्शनिकों का यह अनुभूत सत्य है कि मानव के स्वभाव में सरलता एवं चित्त की निर्मलता, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति के अनुसंधान से ही आती है, इसीलिए शंकराचार्य का सुझाव है कि –

भगवद्गीता किञ्चिदधीता, गंगाजललवकणिका पीता।
सकृतदपि येन मुरारि समर्चा, क्रियते तस्य यमेन न चर्चा।।[5]

श्रीमदभगवद्गीता में निहित ज्ञान–कर्म एवं भक्ति योग की ध्यान साधना पर भाष्य के साथ–साथ शंकराचार्य ने शैव, शाक्त, गाणपत्य, कौमार एवं कापालिक मतों की व्याख्या करके अद्वैत मत को सुदृढ़ता प्रदान की। उन्होंने कांची और श्रृंगेरी मठों में शक्ति यंत्रों की परम्परा स्थापित किया। उनकी दो तांत्रिक रचनाओं, 'सौन्दर्य लहरी' और 'प्रपंचसार तंत्र' से ज्ञात होता है कि उन्होंने तांत्रिक उपासना का भी उपदेश किया है। यद्यपि उनके भाष्यों में केवल ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन है, तांत्रिक रूप अभिव्यक्त नहीं होता है, किन्तु उनकी मंत्रशास्त्र की विद्वत्ता से स्पष्ट है कि तांत्रिक उपासना के लिए भी श्रेष्ठ कोटि के अधिकारी विद्वान् की आवश्यकता है। सौन्दर्य लहरी भगवती शारदा की स्तुति से प्रारम्भ है तथा वैदिक, पौराणिक, लौकिक देवों के लिए प्रचलित मंत्रों एवं साधनापद्धतियों से की जाने वाली तंत्र साधना के विधान से परिपूर्ण है। इसे अमलानन्द ने वेदान्तकल्परु में आचार्य द्वारा प्रणीत तंत्र विद्या का उत्कृष्ट ग्रन्थ कहा है।[6] डॉ. गोविन्द चन्द पाण्डेय ने तांत्रिक उपासना की दार्शनिक अद्वैतवाद से संगति सिद्ध किया है। उनकी दृष्टि में शंकर के भाष्यों में ज्ञानस्वरूप ब्रह्मत्मतत्त्व को क्रियारहित ही माना गया है और उपासना मुक्ति के लिए अपर्याप्त है किन्तु अवर अधिकारियों के लिए उपासना की उपयोगिता है। यह संभव है कि अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में शंकर आगमिक अद्वैतवाद के अनुकूल हो गये हों और श्री विद्या की उपासना को उन्होंने प्रश्रय दिया हो, किन्तु इसमें कोई असमाधेय अन्तर्विरोध नहीं है। अतः तांत्रिक उपासना और दार्शनिक अद्वैतवाद की सहावस्थिति शांकर सम्प्रदाय में प्राचीन काल से उपलब्ध होती है। डॉ. पाण्डेय शंकराचार्य की सिद्धान्त विषयक दृष्टि अनेकों प्रकार से निरूपित करते हुए कहते हैं कि "वे श्रौत कर्मकाण्ड के समर्थक नहीं हैं, स्मार्त धर्म को वैकल्पिक मानते हैं, उपासनाओं को उपयोगी, साधारण धर्म को आवश्यक, कर्मयोग को मुक्ति के मार्ग तक ले जाने वाला और ज्ञान को साक्षात् मुक्ति द्वार। भक्ति का वे कर्म और ज्ञान में अन्तर्भाव करते हैं। तान्त्रिक साधनाओं का उन्होंने सुधार और उद्धार किया तथा अद्वैतपरक तांत्रिक साधना को अपने सम्प्रदाय की ज्ञान साधना से जोड़ा।"[7]

I

उपासना एवं भावना में अधिकारिता का निरुपण भारतीय शास्त्रीय चिन्तन परम्परा का अंग है। शास्त्र वही है जो अनुशासित करे और अनुशासन की स्वीकार्यता से व्यक्तित्व परिमार्जित होकर दक्ष, कार्यकुशल, संकल्पशक्ति सम्पन्न बनता है। इसीलिए शास्त्रीय सिद्धान्तों में ऐसा दृष्टान्त मिलता है कि अधिकारी मनुष्य में ही योग्यता के अनुरूप प्राप्यकारिता का संभव है। निगम, आगम और पुराण में अनेकों ऐसे प्रसंग हैं जिनमें ज्ञान, भक्ति, वैराग्य के लिए आध्यात्मिक एवं धार्मिक प्राप्यकारिता अधिकारिता के अनुरूप प्राप्त हुई है। यथा– ऋषि पूछी हरि भगति सुहाई। कही शंभु अधिकारी पाई।। तथा, शंभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा।।

सोइ शिव काग भुशुंडिहि दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा।।[8] इसीलिए शास्त्रीय अवधारणा[9] के अनुरूप शंकराचार्य ने अधिकारिता को वेदान्त का साधनभूत अंग माना है, जिसकी चार प्रमुख विशेषतायें नित्यानित्य वस्तुविवेक, इहमुत्रार्थ भोग विराग, शमादिषट्कसम्पत्ति तथा मुमुक्षुता ही ब्रह्मजिज्ञासा अथवा तत्त्व जिज्ञासा का उपशमन करने में सहायक हैं।

शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त के मूल तत्त्वों को सामान्य लोगों के लिए सरल एवं सहज बनाने के लिए, जिन छोटे–छोटे ग्रंथों का प्रतिपादन किया है, वे प्रकरण ग्रंथ कहलाते हैं। इन ग्रंथों के माध्यम से शंकराचार्य ने तत्त्व ज्ञान प्राप्ति में बाधक समस्त ज्ञात एवं अज्ञात बंधनों को समाप्त करने के उपायों का अन्वेषण करके वेदान्त को सर्वसुलभ बनाया, जिससे जिज्ञासु ऐसे ज्ञान की अधिकारिता प्राप्त कर सकता है जिसे उपनिषद् में 'यस्मिन्नु खलु विज्ञाते, सर्व विज्ञातं भवति।' भगवद्गीता में 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिम् अचिरेणाधिगच्छति' तथा माण्डूक्योपनिषद में 'नान्तः प्रज्ञं, नोभयतः प्रज्ञं, ना प्रज्ञं, शान्तं शिवं अद्वैतं तुरीयं मन्यते' की अद्वैतानुभूति के रूप में माना गया है। इसीलिए नारायण शास्त्री द्रविड़ का मत है कि जिज्ञासा शमन की प्रक्रिया एक आध्यात्मिक साधना है, जिसका पूर्वरूप द्वैत निरासक तर्क है जो देहात्मानुभूति के पोषक सभी प्रकार के अन्तर्विरोधों को सुव्यवस्थित ढंग से उद्घाटित करता है। दर्शनों के अध्येता लोग इन तर्कों को ही अद्वैत वेदान्त मानते हैं, वे यह नहीं जानते हैं कि अद्वैत एक आध्यात्मिक साधना है, जिसके लिए साधन चतुष्टय सम्पन्न होना साधक के लिए आवश्यक बताया है।'[10]

आध्यात्मिक साधकों के लिए परिनिष्ठित सिद्धान्तों एवं उपादेय उपदेशों से संग्रहित शंकराचार्य के प्रकरण ग्रन्थों की संख्या लगभग चालीस है जिसमें प्रमुखता से तत्त्व विषयक सिद्धान्तों में आत्मस्वरूप का वर्णन अपरोक्षानुभूति में, आत्मा का शरीर, इद्रिय, मन, बुद्धि से पार्थक्य आत्मबोध में, गुरु शिष्य संवाद के साथ–साथ 'सकल वेदोपनिषत् सारोपदेश साहस्त्री' उपदेश साहस्त्री में, विषयों से आसक्ति की निन्दा एवं वैराग्य की प्रशंसा प्रबोध सुधाकर में, जीवन का विज्ञान स्पष्ट करने के लिए नित्य–अनित्य एवं सत्य–असत्य का विवेक[11] परीक्षण विवेक चूड़ामणि में, आनन्द कोश, जगन्मिथ्यात्व और कर्ममीमांसा प्रकरण शतश्लोकी में किया गया है। इन ग्रन्थों का अनुशीलन मनुष्य को अध्यात्म विद्या, ब्रह्मविद्या, ज्ञान विज्ञान और तत्त्व ज्ञान का बोध करा देता है। शंकर कहते हैं कि आत्मबोध में क्रिया का रंचमात्र अवकाश नहीं है। "ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रिया गंधतात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते।"[12] यही वेदान्त का प्रतिपाद्य है। शंकराचार्य ने वेदान्त का प्रचार–प्रसार करके अवैदिक सिद्धान्तों का प्रबल तर्कों के माध्यम से खण्डन किया, जिससे उसकी निःसारता प्रमाणित हुई।

शंकराचार्य शास्त्रार्थ के द्वारा पूर्व पक्ष उत्तरपक्ष खण्डन–मण्डन के रूप में वैदिक सिद्धान्तों की पुनर्स्थापना करके दिग्विजयी हुए। इस सम्बन्ध में उनका आचार्य मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ वैदिक,लौकिक, धर्म–अध्यात्म विषयक अभिरुचि का ग्राम्यजन एवं विद्वत्जन के मध्य सहज बोधगम्यता का सर्वोत्तम उदाहरण है, जहाँ तालाब के किनारे गाँव की पनिहारिनें शंकराचार्य से कहती हैं कि वेद स्वतः प्रमाण है या परतः प्रमाण है। कर्म स्वतः फल देता है या कर्म का फल ईश्वर देता है, इतना ही नहीं, जगत् सत्य है अथवा असत्य इन विषयों की चर्चा पिंजरस्थ शुकांगनाएं करती हों, वही मण्डन मिश्र का घर है –

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः।।[13]

न्याय दर्शन में वेद पौरुषेय है तथा ईश्वर द्वारा प्रणीत है। उनकी प्रामाणिकता ईश्वर पर निर्भर है। अतः परतः प्रमाण है। इस मत को कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के प्रतिपादक मीमांसा और वेदान्त दर्शन में नहीं माना जाता है। ये दोनों दर्शन वेद को अपौरुषेय स्वीकार करते हैं। इसलिए वेद वाक्य स्वतः प्रमाण है। इस प्रकार गूढ़ दार्शनिक विषयों का पाठ द्वार पर पिंजड़े में स्थित तोता मैना के द्वारा किया जाना एवं इसे घर के प्रतीक के रूप में चिन्हित किया जाना, धार्मिक एवं आध्यात्मिक निष्ठा का द्योतक है। शंकराचार्य का मण्डन मिश्र तथा भारती से शास्त्रार्थ एवं शंकराचार्य का दिग्विजयी होना अद्वैत मत की चतुर्दिक प्रतिष्ठा का प्रमाण है। दिग्विजय यात्रा से सम्बद्ध स्थानों के अनुरूप नर्मदाष्टक, यमुनाष्टक, गंगाष्टक, मर्णिकर्णिकाष्टक, काशीपंचक, कालभैरवाष्टक, अन्नपूर्णाष्टक, देवी भुजंगकनकधारास्तोत्र, अच्युताष्टक स्तोत्र की रचना उनकी आध्यात्मिक एवं धार्मिक भावना के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। स्तोत्र के माध्यम से भक्ति भावना की प्रखरता एवं सगुण साकार शक्ति की महत्ता प्रकट करना शंकराचार्य का अभीष्ट रहा। मोक्ष प्राप्ति के साधनों में भक्ति को गरिमामयी स्थान प्राप्त है।

मोक्षकारणसामग्रयां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यमिधीयते।।[14]

अध्यात्म ही भारतीय संस्कृति का प्राण है, जिसका मूल स्वर वैदिक साहित्य में प्रस्फुटित हुआ है। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक, पुराण एवं महाकाव्य का सारतत्त्व यही है कि मनुष्य आत्मचेतना में सहज रूप से उपलब्ध आत्मचिंतन की शक्ति से उपजी विवेकशीलता के कारण ऐसा बोध प्राप्त कर ले कि अद्वैत एवं अविनाशी तत्त्व का विस्तार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। यही सम्पूर्ण प्रपंचात्मकता, सामाजिकता, नैतिकता, धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता का उद्देश्य है, जिससे मानव का आचार–विचार निर्धारित हुआ है। "भारतीय संस्कृति का मूल उत्स अद्वैत तत्त्व है जिसे उपनिषदों में 'तदेकम्', 'एकं सत्' 'एकमेवाद्वितीयम्' कहा गया है। वेदान्त का यही 'एकम्' 'अद्वितीयम्', 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' है, यही 'वासुदेवः सर्वमिति' है। इसी का साक्षात्कार अमरत्व है।"[15] इसी अद्वैत पुरुषोत्तम तत्त्व का ज्ञान होते ही हृदय में निहित समस्त वासनात्मक विकार समाप्त हो जाते हैं, समस्त संशयों का शमन हो जाता है और शुभत्व एवं अशुभत्व का प्रकाशन करने वाले कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।[16] अतः आत्मज्ञान का उदय 'तरति शोक आत्मवित्' की भांति समस्त शोक, मोह जनित व्यापारों से निवृत्ति एवं शाश्वत शान्ति की अनुभूति प्रदान करता है। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।' यह एकत्वमनुपश्चत् ही अद्वैत साक्षात्कार है, यही अपरोक्षानुभूति है। यही परम निश्रेयस् है, सत्य है, 'रसो वै सः' है, यही सच्चिदानन्द है।'[17] ब्रह्म निष्कल, निश्चल और शांत है। आत्मज्ञान रूपी नेत्रों से ब्रह्म का अपरोक्ष बोध हो सकता है किन्तु यह अपरोक्षानुभूति तभी होगी, जब आत्मा और ब्रह्म का साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान होगा। अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, प्रज्ञानं ब्रह्म श्रुति वाक्य एक तरफ आत्मचेतना की अद्वितीयता का बोध कराते हैं, तो दूसरी तरफ एक ही परम सत्य को लक्षित करते हैं।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित है कि मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान अन्तःकरण के अवयवों मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की क्रमशः संशयात्मक, निश्चयात्मक, स्मरणात्मक और गर्वात्मक दशाओं पर केन्द्रित रहता है, ऐसे अन्तःकरण में अनन्त स्वरूप, निर्गुण, निर्विशेष, निरपेक्ष का ग्रहण कैसे सम्भव है? श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रश्न पर विचार किया गया है। गीता के अनुसार ईश्वरासक्ति एवं ईश्वराश्रय की सामर्थ्य से ज्ञान–विज्ञान सहित धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की अनुभूति परक ज्ञातव्यता ग्रहण की जा सकती है –

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणुः।।[18]

शांकर भाष्य से स्पष्ट है कि पुरुषार्थ को अभीष्ट बनाने वाला मनुष्य, साधन के रूप में अग्निहोत्र, कर्म, तप, दान आदि में से किसी एक का पूर्ण निष्ठा के साथ आश्रय ग्रहण करने वाला धर्मादि लक्ष्य की प्राप्ति सहजता से कर सकता है।[19] शंकराचार्य के अनुसार वेद प्रतिपादित ब्रह्म का ज्ञान अन्तःकरण में प्राप्त करना ही वेदान्त जिज्ञासु का प्रमुख उद्देश्य है। 'शास्त्रयोनित्वात्'[20] सूत्र की व्याख्या में ऋग्वेदादि का कारण ब्रह्म स्वतः सिद्ध है। ऋग्वेद का मंत्र 'एकम् सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' स्पष्ट करता है कि परमात्मा सत् अद्वैत है, उसे इन्द्र, वरुण, आदि भिन्न–भिन्न नामों से जाना गया है। यजुर्वेद में इस कथन की पुनरावृत्ति हुई तथा इन्द्र, वरुण, अग्नि, मित्र, सुपर्ण, गरुत्मान, यम, मातरिश्वा, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र आदि नामों से अभिहित परमसत् की सर्वव्यापी सत्ता का निरूपण किया गया। इसी प्रकार साम और अथर्ववेद में भी कहा गया है कि सत्य एवं ज्ञान के रूप में ब्रह्मत्व का भान प्रत्येक मनुष्य के हृदय में होता है।

तर्क युक्ति आदि प्रमाणों का अवलम्बन लेकर मधुसूदन सरस्वती ने अठारह विद्याओं के द्वारा अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन होना माना है, जिनमें चार वेद, चार उपवेद, छः वेदांग, न्याय, पुराण, मीमांसा, धर्मशास्त्र निहित है। इन सभी ग्रन्थों में मनुष्य के हृदय से सृष्टि के अधिष्ठान तक एक ही अद्वैत ब्रह्म तत्त्व की महत्ता प्रकट होती है। सरस्वती जी कहते हैं कि 'ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, वह अचर जगत् में ब्रह्म के रूप में एवं चर प्राणियों में आत्मा के रूप में है। उपाधि भेद के कारण भिन्न–भिन्न दिखाई देता है किन्तु वास्तव में एक ही चेतन तत्त्व है।[21] सिद्धान्त बिन्दु में सरस्वती जी का मत है कि अपरिच्छिन्न ब्रह्म सूक्ष्म एवं स्थूल, अमूर्त एवं मूर्त रूप में प्रकट होता है। यही अमूर्त ब्रह्म अविद्यारूपी उपाधि के कारण मूर्त रूप में जीव परिणत हो जाता है।[22] भागवतपुराण में कहा गया है कि विवेकी मनुष्य इस विनाशी एवं नश्वर शरीर से भी अविनाशी एवं सत् तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत सत्यम् अनृतेनेह मर्त्येनापनोतिमामृतम्।।[23]

स्पष्ट है कि बुद्धिमान मनुष्य की बुद्धिमानी, तत्त्व बोध एवं युगबोध के अभिहितार्थ ग्रहण में है, किन्तु अन्तःकरण के अवयव के रूप में बुद्धि का प्रपंचात्मक विमर्श विलक्षण है, जिसमें लोभ, मोह, ममता, राग द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, प्रेम, कामना, तृष्णा, अहंकार का प्रकृतिजन्य विकार निहित हैं। अष्टावक्र गीता में अद्वैत तत्त्व जानने के लिए प्रयत्नशील मनुष्य के लिए विश्व की स्थिति का

अनुशीलन आवश्यक माना गया है। नाम रूप युक्त जगत की सत्य प्रतीति का प्रमुख कारण बुद्धि ही है। बुद्धि के आवरण में ज्ञान का प्रकाश फैलता है, किन्तु यह प्रकाश केवल मन को संतुष्ट कर पाने तक सीमित हो जाता है। मन अतृप्त है क्योंकि मन अहंकार के प्रभाव से प्रभावित रहता है। संयम, साधना के अभ्यास से मन को अहंकार रहित किया जा सकता है, जिसका परिणाम वासना क्षय है जब माया द्वारा भासित बुद्धिपर्यन्त संसार विवर्तमय दिखायी पड़ता है, तभी ममतारहित, अहंकार रहित एवं कामना रहित ज्ञानी मनुष्य की प्रंज्ञा सुशोभित होती है।

बुद्धिपर्यन्ते संसारे मायामात्रं विवर्तते।
निर्ममो निरङ्कारो निष्कामः शोभते बुधैः।।[24]

कुछ मनोवैज्ञानिक विश्लेषक यह स्वीकार करते हैं कि सत्यता–असत्यता, प्रायिकता–अप्रायिकता, व्यवहार्यता–अव्यवहार्यता, यथार्थता–अयथार्थता, संभावना असंभावना, की कोटियों में बुद्धि भ्रमण करती रहती है। भगवद्गीता के अभिमत में बुद्धि का भौतिक विषयों के चिन्तन में रहना कामनाओं की उत्पत्ति का कारण बनता है। वही कामनाएं ऐसी आसक्ति उत्पन्न कर देती है कि उनका पूर्ण न होना क्रोधाग्नि को प्रज्वलित कर देता है। क्रोध से सर्वप्रथम मनुष्य अविवेकी बन जाता है, जिससे उसका यह बोध समाप्त हो जाता है कि जिस पर मैं क्रोध कर रहा हूँ, वह मुझसे किस प्रकार से संबंधित है? ऐसी स्मृति का भ्रमित हो जाना मनुष्य को पतनोन्मुखी बना देता है। शनैः–शनैः मनुष्य के सद्गुण क्षीण होने लगते हैं। भागवत् पुराण में कपिल ने भौतिक प्रवृत्ति की तरफ अग्रसर मनुष्य की स्थिति का वर्णन किया है कि यदि जीव ज्ञानेन्द्रियों की तृप्ति हेतु सुख में आसक्त रहता है, तो उसकी स्वच्छन्द इच्छायें अधर्म की तरफ ले जाती हैं। वह सत्यवादिता, शौच, कृपा, गम्भीरता, लज्जा, तप, यश, क्षमाशीलता, मन का नियंत्रण, इन्द्रियों का नियंत्रण तथा आध्यात्मिक बुद्धि से सर्वथा दूर हो जाता है।[25] यह मानव की भौतिक गंतव्यता है जिसमें ज्ञान के प्रकाश से हटकर अज्ञान के कारण सुखोपभोग में लिप्त रहकर दिन–प्रतिदिन क्षीणकाय हो जाता है। दूसरी तरफ आध्यात्मिक, अनुशीलन मानव को सद्गुणी, सद्विवेकी, धर्मशील, सत्यवादी, दृढ़संकल्पयुक्त, सदाचारी, सर्वकल्याणकारी, विद्वान्, द्यूतिमान बना देता है। इसीलिए आध्यात्मिक बुद्धि केवल उपाधि मात्र है, वास्तव में आत्मा ही बुद्धि के रूप में प्रकट हो जाता है। यथा –

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।[26]

आध्यात्मिक एवं धार्मिक पथ पर मानव जीवन की स्वाभाविक यात्रा एक विशेष उद्देश्य के प्रति समर्पित है। इस समर्पण का मुख्य प्रयोजन है, श्रेष्ठ मनुष्य बनना। शास्त्रों में मनुष्य के भीतर श्रेष्ठता का विकास तथा आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न बनने का प्रयास करने पर विशेष बल दिया गया है। अध्यात्मिक शक्ति का तात्पर्य मनुष्य के चारित्रिक बल, मानसिक बल एवं आत्मिक बल की प्रचुरता से है। मनुष्य का आध्यात्मिक विकास भारतीय संस्कृति का मुख्य उद्देश्य रहा है। इसके द्वारा विगत तीन हजार वर्षों से भारतीय दर्शन, धर्म एवं जीवन पूर्ण रूप से प्रभावित होता रहा है। इस परम्परा में जगत् के व्यावहारिक दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण की आध्यात्मिक जिज्ञासा है। आचार्य विनोबा जी अध्यात्म को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि अध्यात्म के द्वारा पूरे ब्रह्माण्ड को अपने में पहचाना जा सकता है। ब्रह्माण्ड का स्वरूप एवं उसके कर्त्ता का पता लगाना संभव नहीं

है। यह अत्यन्त व्यापक एवं सूक्ष्म है, फिर भी उसे पहचानने का प्रयत्न किया जा सकता है। आध्यात्मिक विचार जहाँ एक तरफ हमारे मन को प्रकाशित करते हैं, वहीं आनन्दपूर्वक सामाजिक जीवन व्यतीत करने हेतु पथ प्रदर्शक का भी कार्य करते हैं। डॉ. राधाकृष्णन का भी मानना है कि भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा नये प्रकाश एवं आत्मिक पुनरुत्थान के लिए बराबर इन्हीं धर्म ग्रन्थों का आश्रय लेती रही है और इसमें उसे लाभ भी हुआ है।[27]

श्री अरविन्द के अनुसार जगत् के प्रत्यक्षजन्य आभासों के मूल में सत्ता की गूढ़, गम्भीर, गहरी एवं व्यापक सत्यता निहित है, जिसकी ओर मानव की गति आध्यात्मिक गति है। यही जीवन का लक्ष्य है। मनुष्य निरन्तर कर्ममय रहता है। चाहे उसकी अनुभूति से परिचित रहे या अपरिचित रहे। लेकिन मनुष्य की यह गति यदि आन्तरिक और उच्चतर सत्यों के साथ होती है, तो वह प्रत्येक क्षण एवं प्रत्येक कर्म में आन्तरिक दिव्यता की अनुभूति से ओत–प्रोत रहता है। सम एवं विषम परिस्थितियों में बुद्धि में धैर्यता के साथ–साथ मनुष्यता की दिव्य आत्मसंतुष्टि केवल अध्यात्मिकता से आ सकती है। इस प्रकार श्री अरविन्द का मत है कि आन्तरिक एवं बाह्य आध्यात्मिक संदर्श ही मानवता के सुनिश्चित लक्ष्य तक पहुँच सकता है एवं भौतिकवादी मूल्यों की प्रासंगिकता न्यून करके नैतिक मूल्यों को अपना सकता है। सत्य का अनुभव आन्तरिक अनुभव है, जो मनुष्य को सहज एवं दिव्य आनन्दयुक्त बनाता है। इसका ऐतिहासिक उदाहरण राम के राज्याभिषेकोत्सव की सायंकाल की घोषणा एवं प्रातः चौदह वर्ष का बनवास। इसके पश्चात् भी राम की स्थिति 'मन मुसुकाहि भानुकूल भानु, राम सहज आनन्द निधानू'[28] मानव जीवन की आध्यात्मिक दिव्यता का संकेत है। यह दिव्य अध्यात्मिक अनुभव, सुख, शान्ति, सदाचार, आनन्द, प्रेम, सौन्दर्य एवं स्थिरता की गहराई में निमग्न कर देता है।

श्री अरविन्द अद्वितीय सत्ता के अद्वैतत्व का प्रतिपादन करते हैं, जो अपने शुद्ध स्वरूप में सच्चिदानन्द है, जिसमें निर्गुण और सगुण अथवा अव्यक्त एवं व्यक्त दोनों रूप समाहित हैं। एक ही सच्चिदानन्द, ब्रह्म, जब स्थिर रहता है तब निर्गुण, निर्वैयक्तिक एवं नेति–नेति रूप में है, किन्तु वही ब्रह्म जब गतिमान होकर जड़ प्रकृति के रूप में व्यक्त हो जाता है, तब सृष्टि का आविर्भाव हो जाता है। अतः सृष्टि भ्रमात्मक नहीं है बल्कि सच्चिदानन्द ब्रह्म की सीमित अभिव्यक्ति है। चूँकि सच्चिदानन्द स्वयं चिन्मय है, इसलिए जगत् का सब कुछ यहाँ तक कि निष्प्राण, जड़ भी बीज रूप में चिन्मय है। शंकर ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप को स्वीकार करते हुए शुद्ध सत् में चिन्मय स्वरूप निहित मानते हैं। इस प्रकार सत् और चित् दोनों अभिन्न हैं। सत् चित् के सिद्धान्त के आधार पर ही शंकर जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं। श्री अरविन्द के शब्दों में "हम यह देखते हैं कि अध्यात्म सत्ता की, ब्रह्म की एक अनन्त शुद्ध स्वरूप स्थिति एवं निश्चल नीरवता है। हम यह भी देखते हैं कि ब्रह्म की एक निःसीम गतिधारा है, एक शक्ति है, अनन्त का एक क्रियात्मक आध्यात्मिक सर्वधारक आत्मप्रसार है। यद्यपि अनन्त अरूप है, किन्तु यही अरूपता परम 'सदवस्तु' के आध्यात्मिक सार का, अध्यात्मवस्तु का धर्म होती है।"[29]

अद्वैत वेदान्त की धार्मिक दृष्टि प्रत्येक मानव की अन्य प्राणियों के प्रति समादृत दृष्टि है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का वेदान्तीय दृष्टिकोण मानव को सहिष्णु एवं धैर्यवान बना देता है। भज गोविन्दम् में आचार्य शंकर भौतिक, भावनात्मक एवं बौद्धिक तीनों अनुभवों में इस सत्य का उद्घोष

करते हैं कि 'भव समचित्तः सर्वत्र त्वं, वाच्छस्यचिरादयदि विष्णुत्वम्'[30] हमारे चित्त की समदृष्टि ही विष्णुत्व पद प्राप्त कराने में सक्षम है, क्योंकि इस जगत् के प्रत्येक प्राणी में एक नित्य, विभु, सत्य विष्णुत्व विद्यमान है। विद्यारण्य स्वामी इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अनेकत्व, नानात्व एवं प्रपंचत्व का अनुभव अपूर्ण दृष्टि वाले मनुष्य का है। इसमें अनेकों प्रकार के विकल्पों एवं संदेहों के उत्पन्न होने का अवसर छिपा रहता है, किन्तु एकत्व की दृष्टि पूर्णता की दृष्टि है, जिसमें सभी संदेह और विकल्प समाहित हो जाते हैं, इसलिए न तो कोई प्रश्न उठता है और न ही किसी उत्तर की आवश्यकता रहती है।

चोद्यः वा परिहारोवा क्रियतां द्वैतभाषया।
अद्वैतभाषया चोद्यं नास्तिनापि तदुत्तरम्।।[31]

अद्वैत की भावना से चित्त की स्थिरता शनैः शनैः आती है, किन्तु इसके लिए सोऽहम् का अनुभव आवश्यक है। मोह मुद्गर से काम, क्रोध, लोभ का दमन करके श्रीमद्भगवद्गीता और विष्णुसहस्रनाम का गान, सार्वकालिक श्रीपति में ध्यान, दीन जनों को दान तथा सत्संग में रुझान[32] आध्यात्मिक आत्मविश्वास जागृत कर देता है। गीता भाष्य में आचार्य शंकर श्रुतियों एवं स्मृतियों के अनेको दृष्टान्तों से स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्म को जानने वाला तो ब्रह्म ही हो जाता है, किन्तु जो ब्रह्म को पर एवं स्वयं को अपर की भाँति अन्य–अन्य मानता है, वह आत्मतत्त्व को जान ही नहीं सकता है। इस प्रकार वेद की वाणी और उपनिषद् के अन्वेषण में धर्म को सत्य और सत्य को धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है। इस जगत् में सर्वश्रेष्ठ स्थान धर्म को मिला है। पुनः धर्म और सत्य में अद्वैत स्थापित किया गया है किन्तु 'हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं' से सत्य की गूढ़ता एवं महत्ता ने योग साध्य एवं संयम साध्य बना दिया। आचार्य शंकर कहते हैं कि –

''अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।''[33]

यद्यपि ज्ञान के समान पवित्र संसार में कुछ भी नहीं है किन्तु ज्ञान सदैव अज्ञान रूपी आवरण से ढका रहता है। इसलिए अन्तःकरण के आवरण से ग्रसित जीव पर मोह प्रभावी बना रहता है, किन्तु जिसका चित्त समत्व में स्थित हो गया है, वही समदृष्टि प्राप्त करके संसार पर विजय प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार सत्य दृष्टि, धर्म दृष्टि एवं समत्व दृष्टि प्राप्त करने के लिए बाह्यान्वेषण की आवश्यकता अद्वैत वेदान्त में नहीं है। केवल 'एकमेवाद्वितीयम्' का आन्तरिक अवबोध प्राप्त करने की आवश्यकता है। इसके पश्चात् अन्तःकरण स्वतः अविद्या में लीन हो जायेगा और भगवद्गीता में वर्णित परमपद का आदर्श प्राप्त हो जायेगा। यही अध्यात्म एवं धर्म का लक्ष्य है, जिसमें मानव जीवन का षड़ैश्वर्य यथा–मान–मोह से निर्मुक्तता, आसक्ति दोष, पर विजयित्व, अध्यात्मविद्या में निरन्तर तत्परता, कामनाओं का अभाव, निर्द्वन्द्वता और अमूढ़ता का भाव हमारे हृदय में स्वतः प्रकट हो जाता है।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुखदुखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत्।।[34]

संदर्भ –

1. ईशावास्योपनिषद मंत्र 6
इसी आशय की अभिव्यक्ति अर्जुन कृष्ण सम्वाद में है, जब श्रीकृष्ण जी कहते हैं--सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः। भगवद्गीता 6/29
2. अपरोक्षानुभूति 54
3. प्रपंचात्मक जगत् की मोहनिशा का वर्णन नानापुराणनिगमागम पर आधारित महाकाव्य रामचरितमानस में हुआ है –
मोह निशा सबु सोवननिहारा। देखहि सपन अनेक प्रकारा।
एहि जग जामिनि जागहि जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी।।
रामचरितमानस 2/93/2–3
4. रामचरितमानस 7/121/9–10
5. भजगोविन्दम् – श्लोक सं. 20
6. वेदान्तकल्पतरु 1/3/33
7. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय (1996) शंकराचार्य विचार और संदर्भ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नयी दिल्ली। पृ. 110
8. रामचरितमानस 1/48/3, तथा 1/30/3–4
9. यः शास्ति वः क्लेशरिपूनशेषान् सन्त्रायते दुर्गतितो भवाच्च।
तच्छासनात्त्राणगुणाच्च शास्त्रमेतद् द्वयं चान्यमतेषु नास्ति।।
शासन एवं त्राण करने वाला ही शास्त्र है, यह परिभाषा प्रसन्नपदा में उद्धृत है और आध्यात्मिकता से सम्बद्ध दर्शनशास्त्र पर पूरी तौर पर लागू हैं। शंकराचार्य विचार और संदर्भ पृ. 37
10. नारायणशास्त्री द्रविड़ के आलेख 'ब्रह्म जिज्ञासा और मोक्ष सम्प्रत्यय' से उद्धृत। इस लेख में वेदान्त तत्त्व जिज्ञासा सम्बंधी विचार द्रष्टव्य है। उन्मीलन वर्ष 24 अंक 1, जनवरी 2010।
11. बिना विवेक के विद्या का बोध प्राप्त नहीं हो सकता है–
विद्या बिनु विवेक उपजाए। श्रम फल पढ़े किए अरु पाए।
रा.च.मा. 3/21/9
12. शारीरक भाष्य 1/1/4
13. डॉ. जगदीश चन्द्र मिश्र सम्पादित आत्मानात्मविवेक से उद्धृत, चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी, पृ. 23
14. शंकराचार्य–विवेकचूड़ामणि 31
15. रेवती रमण पाण्डेय के आलेख 'वेदान्त एवं भारतीय संस्कृति : वासुदेवः सर्वमिति' से उद्धृत। समेकित अद्वैत विमर्श (सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा) विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर। पृ. 327
16. भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।। मुण्डकोपनिषद 2/2/8
17. समेकित अद्वैत विमर्श पृ. 327, वही
18. श्रीमद्भगवद् गीता 7/1
19. यो हि कश्चिद् पुरुषार्थेन केनचिद् अर्थी भवति। स तद्साधनं कर्म अग्निहोत्रादि तपो दानं वा किञ्चिद् आश्रयं प्रतिपद्यते।। गीता शांकर भाष्य 7/1
20. शारीरिक भाष्य 1/3
21. उपाधिभेदभिन्नेऽर्थे ऐक्य प्रतिपादकत्वात्, न्यायामृताद्वैतसिद्धि भाग–2, पृ. 850
22. अज्ञानप्रतिबिम्बित चैतन्य जीव इति। सिद्धान्त बिन्दु (1962) भण्डारकर ओरिएण्सटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना पृ0 48। प्रकाशानन्द ने वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली में चैतन्य वैविध्य का कारण उपाधिभेद कहा है–
ब्रह्मात्मनोर्विभिन्नत्वे भेदः स्वाभाविको यदि। औपाधिकोऽथवा भेदः सर्वथाऽनुपपत्तिकः।। 7

23. श्रीमद्भागवद् 11/29/22
24. अष्टावक्रगीता 18/73
25. श्रीमद्भागवद् 3/31, 32, 33 यही आशय भज गोविन्दम् में है–
    सुखतः क्रियते रामाभोगः पश्चाद्धतं शरीरे रोगः
    यद्यपि लोके मरणं शरणं, तदपि न मुञ्चति पापाचरणम्।। श्लोक 28
26. भगवद्गीता 7/10
27. डा0 राधाकृष्णन् ने उपनिषदों की भूमिका में अध्यात्म का उद्गम धर्मशास्त्र से माना है।
28. मन मुसुकाइ भानुकुल भानू। राम सहज आनन्द निधानू।
    बोले वचन विगत सव दूषन। मृदु मंजुल जनु बाग विभूषन।।
    रा.च.मा. 2/41/5–6
29. श्री अरविन्द, दिव्य जीवन, अनुवादक श्याम सुन्दर झुनझुनवाला (1970)
    श्री अरविन्द आश्रम पाण्डिचेरी, पृष्ठ 47–48
30. भजगोविन्दम् श्लोक सं. 24
31. पंचदशी 2/39
32. भजगोविन्दम श्लोक सं. 27
33. श्रीमद्भगवद्गीता शांकर भाष्य 13/2
34. श्रीमद्भगवद्गीता शांकर भाष्य 15/5

अद्वैत वेदान्त की आचार मीमांसा

विवेक कुमार पाण्डेय

मनुष्य स्वभावतः विचारशील प्राणी है। जब से वह विचार करना आरम्भ किया है तभी से वह यह जिज्ञासा रखता हैं कि जीवन का परम सत्य क्या है ? वह कौन सी सत्ता है जिसको जानने से सब कुछ का भान हो सकता है। मरने के बाद शरीर की क्या गति होती है ? इसकी व्याख्या के लिए अनेकों सिद्वान्तों की स्थापना हुई, सैकड़ों मत प्रतिपादित हुए। इसमें से कुछ खण्डित करके छोड़ दिये गये और कुछ स्वीकार किए गये। जब तक मानव जीवन चलता रहेगा खण्डन और मण्डन की वृत्ति विद्यमान रहेगी। इसी में चिन्तन का परिष्करण भी है और समुन्नयन भी। जीवन जन्म से लेकर मृत्यु के बीच की अविभाज्य रेखा है जिसको मनुष्य अपने कर्मो के सम्पादन से बनाता है। इसी के फलस्वरूप उसे सुख–दुःख प्राप्त होते हैं। यह सुखदायी कम कष्टकारी अधिक प्रतीत होता है। इसी कठिन रास्ता पर व्यक्ति को चलना होता है। चलना तो व्यक्ति का अनिवार्य नियति है क्योंकि विराम मृत्यु है। किन्तु इसमें कुछ ऐसे साधनों का यदि निर्माण हो सके जिससे व्यक्ति का गंतव्य सुगम बन जाय तो उसे पीड़ा कम उठानी पड़ेगी और एक समय ऐसा आ जायेगा जब पीड़ा समाप्त ही नहीं होगी किन्तु उसका अवबोध नहीं रहेगा। आचार मीमांसा ऐसा ही साधन है जिसके माध्यम से जीवन रूपी कष्टों के निवारण का मार्ग प्रशस्त होता है। लोक–व्यवहार के लिए इसकी उपादेयता सहज ही सिद्व है। क्योंकि कोई भी बुद्विमान व्यक्ति अपने जीवन को कुविचारित रूप से जीना नहीं चाहेगा। कहा भी गया है[1] –

"सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्।
धमार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः।।"

नीतिशास्त्र सभी शास्त्रों का उपजीव्य और लोकस्थिति का व्यवस्थापक है। इसलिए वह धर्म, अर्थ काम, और मोक्ष इन चारों पुरूषार्थों का प्रदाता है। आचार्य शंकर की भी आचार मीमांसा इसी दिशा में उन्मुख है। वे भी जीवन के कष्टों एवं दुःखों से मानव मात्र को त्राण दिलाने के लिए कुछ ऐसें मार्गों का निर्देशन किया है जिस पर यदि प्रतिबद्धता पूर्वक चला जाय तो जीवन की दशा और दिशा को बदला जा सकता है। यहाँ कुछ प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठतें हैं।

आचार्य के दर्शन में तत्त्वमीमांसा का स्वरूप क्या है ? क्योंकि भारतीय दर्शन में आचार मीमांसा तत्त्व मीमांसा का ही अनुगमन करती है। आचार मीमांसा की आवश्यकता क्यों है? अशुभ क्या हैं, शुभ क्या है ? जीवन का सर्वोच्च आदर्श क्या है ? इसकी प्राप्ति के साधन क्या हैं ? इनकी उपादेयता क्या है ? वस्तुतः प्रस्तुत शोध आलेख इन्हीं प्रश्नों का समुचित समाधान खोजने का एक प्रयास है।

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं शास्त्र कोटिभीः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।।"

दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ.प्र.)

जिस बात को करोड़ो सदग्रंथ अपने अनेकानेक तर्कों व युक्तियों द्वारा नहीं कह सकते, उसे मैं मात्र अर्द्धश्लोक में प्रकट कर सकता हूँ– ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, और जीव ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं। यह वाक्य अद्वैत वेदान्त का वह नाभिकीय बिन्दुं है जिसके परितः शंकराचार्य का चिन्तन घूमता है। इसकी प्रामाणिकता की अनुभूति उन्होंने अपने जीवन में ही प्राप्त की थीं और इसी अनुभूति के फलस्वरूप उन्हें जगत् मिथ्यात्व का बोध हुआ। "मिथ्या" शब्द आचार्य की भारतीय चिन्तन को नवीन देन है। यह सत्–असत् का मिथुनीकृत है। "सत्" वह है जिसका त्रिकाल में बांध नहीं हो सके – "त्रिकालाऽबाध्यत्वं सत्त्वम्", तथा असत् वह जिसकी त्रिकाल में कोई सत्ता न हो और जिसमें कभी "सत्" के रूप मे प्रतीत होने का सामर्थ्य भी न हो– क्वाचिद्प्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वम् अत्यन्ताऽसत्त्वम्"। किन्तु हमारे लोक–व्यवहार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसे हम वेदान्त के अनुसार सत् या असत् कह सकें। अतः हमारा लोक–व्यवहार मिथ्या पदार्थों तक ही सीमित है। जो भी पदार्थ हैं वह ज्ञेय, दृश्य, सीमित और अचित् होने के कारण मिथ्या हैं। जो मिथ्या है वह माया, अविद्या या भ्रम है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह भ्रम दो प्रकार का है– एक तो व्यक्तिगत भ्रम, जिसके अन्तर्गत स्वप्नादि आते हैं और दूसरा समाष्टिगत भ्रम जिसके अन्तर्गत व्यवहार आता है। प्रतिभास का बाध तो लौकिक ज्ञान से हो जाता है किन्तु व्यवहार का बाध लौकिक ज्ञान से नहीं होता। इसका बाध पारमार्थिक ज्ञान से होता है, इसके पूर्व उसकी व्यावहारिक सत्ता अक्षुण्ण रहती है। इसी पारमार्थिक ज्ञान के लिए जिससे की व्यक्ति व्यावहारिक स्तर से ऊपर उठकर अपने "आत्मस्वराज्य" को प्राप्त कर सके तथा "अहं ब्रह्मास्मि" का बोध कर सके, शंकर आचार मीमांसा का प्रणयन करते हैं।

आचार मीमांसा की आवश्यकता उस व्यक्ति के लिए है जो जीवन के कष्टों एवं उसके प्रभावों से मुक्त होना चाहता है। यदि कोई व्यक्ति इसी में फँसा रहना चाहता है, अनित्य को नित्य समझना चाहता है तो उसके लिए इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें व्यक्ति को स्वतंत्रता प्राप्त है कि वह इसका वरण करे या नहीं। यदि वह उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करना चाहता है तो इसका वरण करना पड़ेगा और यदि नहीं तो कोई बात नहीं। उत्कृष्ट जीवन "आत्म–साक्षात्कार" है और निकृष्ट जीवन "आत्म–मोह"। "आत्म–मोह" बंधन है। इसी से मुक्त होने के लिए आचार–विचार की आवश्यकता होती है। बंधन का कारण अनादि अविद्या या माया है जो वस्तु के वास्तविक स्वरूप को छिपाकर उस पर दूसरी वस्तु आरोपित कर देती है। यह व्यक्ति के लिए अशुभ का कार्य करती है। इस अज्ञान के कारण व्यक्ति वस्तु के वास्तविक स्वरूप को न समझ कर उसके आभासित रूप को सत्य मान लेता है। इसी में अनुरक्त रहता है। सारे अनर्थों तथा अधर्मों का जड़ यही है। शंकर का विश्वास है कि सांसारिक पदार्थों के विषय में बार–बार सोचते रहेने से उसे पाने की इच्छा मन में प्रबल हो उठती है और यह इच्छा ही उस व्यक्ति को पाप करने के लिए प्रबल प्रेरक सिद्व होती है[2]। अतः उनकी दृष्टि में केवल शारीरिक पीड़ा या मानसिक दुःख ही अशुभ नहीं है वरन् नैतिक अशुभ भी हैं जो शारीरिक और मानसिक कष्टों से अधिक भयंकर है। यही व्यक्ति के जीवन को निम्न स्तर पर ले जाता है[3] और जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति मे बाधक सिद्व होता है[4]।

अशुभ के कारण रूप में शंकर कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। कर्म सिद्धान्त का स्वाभाविक नियम है जैसा लोग बोते हैं वैसा ही काटते हैं। इसके अनुसार स्वेच्छा से किए गये हमारे कोई कार्य, विचार और इच्छाएं आदि व्यर्थ नहीं जाती हैं। डॉ दास गुप्ता के शब्दों में, "कर्म का सिद्धान्त प्रायः सर्वत्र नैतिक नियम के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसके कारण हर व्यक्ति को अपने कर्मों का भला–बुरा फल भोगना होता है"[5]। व्यक्ति द्वारा किए गये शुभ और अशुभ कर्मो का फल उसे अवश्य भोगना पड़ेगा, बिना भोगे कर्म सैकड़ों प्रयत्न में भी क्षीण न होगें[6]। कर्मफल में अन्तराल हो सकता है किन्तु किसी व्यक्ति द्वारा किया हुआ कार्य बिना फल दिये व्यर्थ नहीं हो जाता[7]। मुख्य रूप से मृत्यु काल में आये हुए विचार और इच्छाएं व्यक्ति के अगले शरीर का स्वरूप निर्धारण करते हैं[8]। अपने संस्कार और वासनाओं के अनुरूप ही मनुष्य शरीर धारण करता है। किन्तु शंकर के अनुसार "वासनाएं और संस्कार ही पर्याप्त नहीं हैं। ये जड़ होने के कारण व्यक्ति को उस स्थान या उस शरीर में स्वतः नहीं ले जा सकते जो उन्हें अपने कर्मों और इच्छाओं के फलस्वरूप प्राप्त होने को होता है। अतः शंकर काण्ट की तरह कर्म–सिद्धान्त को संचालित करने के लिए ईश्वर की मध्यस्थता स्वीकार करते हैं जो प्राणियों को कर्मानुसार फल वितरित करता है[9]। सम्यक् स्थल पर उल्लेखनीय है कि जैन, बौद्व, सांख्य, मीमांसक दर्शन के अनुयायी इस कार्य के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझते हैं। उनके मतानुसार कर्म सिद्धान्त यह कार्य करने की स्वयं क्षमता रखता है। किन्तु शंकर के विचार से कर्म सिद्धान्त जैसी कोई जड़ वस्तु बुद्वि सम्पन्न नियन्ता के निर्देश बिना यह जटिल कार्य नहीं कर सकती।

यहाँ कर्म सिद्धान्त और ईश्वर के कर्माध्यक्ष रूप में विरोध दृष्टिगत होता है। कर्म का स्वाभाविक नियम कर्मानुरूप फल प्रदान करना है। व्यक्ति जैसा करता है वैसा भरता है – "जैसी करनी वैसी भरनी"। लोकमानस तथा लोकसंस्कृति के मर्मज्ञ तुलसी के शब्दों में –"कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहि सो तस फल चाखा।" ऐसी स्थिति में ईश्वर के फलदाता रूप का खण्डन होता है और यदि ईश्वर को फलदाता रूप में स्वीकार किया जाता है तो कर्म का स्वाभाविक नियम खण्डित होता है। पुनश्च यदि कर्म को जड़ मान लें जिसके फलस्वरूप उसमें फल प्रदान करने की शक्ति नहीं है, इसलिए ईश्वर की आवश्यकता पड़ती है तो कर्म जड़ात्मक होने के कारण व्यक्ति को कैसे प्रभावित कर सकता है? व्यक्ति कर्म फल से प्रभावित होता है, ऐसा कहना भी व्यर्थ है। गीता इस सम्बंध मे पंचघटक का सिद्धान्त प्रस्तुत करती है,[10] जिसमें अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा तो व्यक्ति के अधीन हैं किन्तु दैव नामक घटक व्यक्ति के नियन्त्रण क्षेत्र से बाहर है। इसलिए व्यक्ति का अधिकार केवल कर्म करने में है, फल में नहीं। यह कौन सा नैतिक नियम है कि कर्म मैं करूं, फल कोई और प्रदान करें ? इस प्रकार कर्म सिद्धान्त और ईश्वर में असंगतता दृष्टिगत होती है। या तो पूरा दायित्व कर्म सिद्धान्त को दिया जाय या ईश्वर को।

पुनश्च यदि कर्म सिद्धान्त के अनुसार हम अपने दुःखो एवं कष्टों के लिए स्वतः उत्तरदायी है तो यह कैसे सम्भव है कि अशुभ फल देने वाले कर्म स्वयं करने लगते हैं ? हम अनैतिक कर्म करते ही क्यों हैं ? आचार्य शंकर की दृष्टि में ऐसा करने के पीछे शुभ–अशुभ, नैतिक–अनैतिक, के विभेद का अज्ञान हैं जिनके कारण व्यक्ति इनमें भेंद नहीं कर पाता है तथा अशुभ को ही शुभ और अनैतिक को ही नैतिक मान बैठता है। अज्ञान अविद्याजन्य है। यह अनादि है किन्तु इसका

अन्त सम्भव है। अतः अविद्या जो स्वयं एक अशुभ तथ्य है अनैतिक कार्यों का कारण है। यह सत्य है कि अशुभ से अशुभ ही उत्पन्न हो सकता है, घृणा, घृणा को ही उत्पन्न करती है। मनुष्य की स्वार्थपरता कई नैतिक समस्याओं को जन्म देता है। किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि अज्ञान अनादि है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि जीव के साथ यह जन्म से ही जुड़ा हुआ है और जीव इसके पाँश मे बँधा परतन्त्र है। तब उसके कार्यों का नैतिक मूल्याकंन कैसे हो सकता है? नैतिक कार्यों का मूल्याकंन तभी हो सकता है जब कर्ता किसी कार्य को करने के लिए स्वतंत्र हो। स्वतंत्रता नैतिकता की अनिवार्य शर्त है। शंकराचार्य भी इसे अस्वीकार नहीं करते हैं। हालाकि कुछ उक्तियों में विरोध दृष्टिगत होता है। गीता 3/33 पर भाष्य लिखते हुए इस बात पर बल देतें हैं कि ज्ञान वान सहित सभी प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करतें हैं[11]। फिर ब्रह्मसूत्र 1. 1. 28 पर भाष्य लिखतें हुए उन्होनें उपनिषदों का यह दृष्टिकोंण स्वीकार किया है कि ईश्वर जिसका उद्धार करना चाहता है उससें शुभ कर्म करवाता है और जिसे नीचे गिराना चाहता है उससे अशुभ कर्म। यहाँ व्यक्ति की विवशता और उसकी स्वतंत्रता का लोप हुआ सहज ही दिखता है। किन्तु गीता 3/34 पर जब भाष्य लिखते हुए प्रतिपक्षी का उत्तर देते हुए कहते हैं कि– "मनुष्य की वह प्रकृति जो उससे कोई विशेष कार्य करवा लेती है वह राग द्वेष की भावना के कारण होता है।" इस स्थिति में मनुष्य अपने कर्तव्य से विमुख होकर वह कार्य करने लगता है, जो उसे नहीं करना चाहिए। किन्तु मनुष्य जब अपने राग–द्वेष पर नियन्त्रण कर लेता है तब वह प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो जाता है। यहाँ व्यक्ति को इतनी स्वतंत्रता है कि रागद्वेषादि प्रवृति के वश में रहे या उनसे मुक्त। जहाँ तक ईश्वर द्वारा शुभ या अशुभ कर्म करवाने का प्रश्न है आचार्य उपरोक्त उक्ति के प्रतिपक्ष में गीता का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि ईश्वर सब प्राणियों से समत्व भाव रखता है, वह किसी से न घृणा करता है न प्रेम[12]। ईश्वर वर्षा की जल की तरह सब लोगों के द्वारा बोये कर्म बीजों को उगाता है। किन्तु बोने का दायित्व मनुष्य के ऊपर है। बीज बोने की स्वतन्त्रता मनुष्य के ऊपर है। वह अच्छे बीज बोता है या खराब। डॉ. राधाकृष्णन का इस विषय पर अभिमत है कि – "कर्म सिद्वान्त इस बात को देखता है कि व्यक्ति किस सामग्री या किस परिस्थिति में पैदा हुआ है। यह जहाँ अतीत को निर्धारित मानता है, वहीं अनागत को केवल सम्भावित। आदमी के अन्दर जो आध्यात्मिक तत्त्व है, वह उसे प्राकृतिक सीमा के अन्दर स्वतंत्रता प्रदान करता है। मनुष्य केवल सहज वृत्ति यंत्र नहीं है। उसकी अन्तरात्मा उस स्वाभाविक शक्तियों पर अधिकार जमा लेती है जो उसे बन्धन मे रखने की चेष्ठा करती है। जीवनरूपी खेल के ताश हमें दें दिये गये हैं उन्हें हमें चुनना नहीं है। वे हमारे पूर्व कर्म के जन्मों के अनुसार है। पर हम अपनी इच्छानुसार इसका उपयोग कर सकते हैं, जो खेल चाहे खेल सकते हैं और खेलते हुए जीत सकते हैं और हार भी सकते हैं, यही स्वतन्त्रता है।[13]"

अनैतिक कर्म करने के पीछे ग्रीक दार्शनिक सुकरात का अभिमत है कि कोई व्यक्ति अनैतिक कर्म इसलिए करता है क्योंकि वह नैतिक कर्म को जानता ही नहीं है। "ज्ञान सद्गुण है" और कोई व्यक्ति सद्गुण को जानता है तो वह दुर्गुण नहीं कर सकता। किन्तु ऐसा भी हो सकता है कि व्यक्ति नैतिक और अनैतिक कर्म को जानता हों पर प्रवृत्ति इसकें प्रतिकूल हों। महाभारत का एक प्रसंग है जिसमें दुर्योधन को फटकारते हुए कृष्ण कहते हैं कि अधर्म को छोड़कर धर्म के

रास्ते पर आओ और पाण्डवों के अधिकारानुसार केवल पाँच गाँव उनको जीवनयापन के लिए दे दो, तो वह उत्तर देता है कि मैं धर्म–अधर्म दोनों जानता हूँ किन्तु धर्माचरण करने में प्रवृति नहीं है। निश्चय ही कभी–कभी प्रवृत्ति बड़ी बलवती हो उठती है जिसके फलस्वरूप संकुचित दृष्टि और उससे उत्पन्न संकुचित स्वार्थ, नैतिक द्वन्द के कारण बन जाते हैं। यह द्वन्द मुख्यतः शरीर के साथ आत्मा का मिथ्या तादात्म्य के फलस्वरूप उत्पन्न होता है जिसका मुख्य कारण अज्ञान हैं। इसी के फलस्वरूप व्यक्ति शुभाशुभ कर्मों को जानते हुए भी प्रवृत्तियों के बस में रहता है। जब तक यह व्यक्ति के अन्दर विद्यमान है अशुभ एवं अनैतिक कार्यों से आत्यंतिक निवृत्ति की बात सोचना व्यर्थ है। अज्ञान का निवारण ज्ञान के माध्यम से ही हो सकता है, इसलिए शंकर के अनुसार कर्म चाहे भले किए जाए या बुरे किन्तु कर्मों के द्वारा कोई बंधन से नहीं छूट सकता। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उचित कार्यों की कोई महत्ता नहीं है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए इसकी आवश्यकता है। हाँ इतना अवश्य है कि काण्ट की पदावली में "कर्तव्य केवल कर्तव्य की दृष्टि" से हों, अनासक्त भाव से हों। कर्म बंधनकारी तब होता है जब वह आसक्ति से किया गया हो। अनासक्ति भाव से किये गये कर्म हमारे मन और ह्रदय को सब विकारों से मुक्त कर ज्ञान के प्रकाश के लिए मार्ग तैयार करते हैं।" इस मार्ग पर सुनियोजित प्रयत्न द्वारा चलने से व्यक्ति जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त कर सारे कष्टों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य या आदर्श क्या है ? चार्वाक को यदि छोड़ दिया जाए, इस अर्थ में कि वह आदर्श को स्थूल इन्द्रिय सुख तक सीमित रखता है, तो सभी भारतीय दर्शनों ने आदर्श को सर्वोच्च स्तर प्रदान किया है। इसकी आवश्कता लोक–व्यवहार के लिए होती है। इसी से व्यक्ति प्रेरणा प्राप्त करता है। और इसे प्राप्त करने के लिए सतत् सक्रिय रहता है। जहाँ तक आचार्य शंकर की बात है, वे जीवन का सर्वोच्च आदर्श उसे मानतें हैं जो कुटस्थ, नित्य अपरिणामी तथा त्रिकाल में अबाधित हो। ऐसा तत्त्व "ब्रह्म" है। यह आत्म–स्वरूप को प्राप्त करना है, जिसे व्यक्ति प्रपंच के कारण भूल गया है। यही मनुष्य का परम पुरूषार्थ है।[14] इससे बड़ा न कोई लाभ है और न सुख न इसके ज्ञान से उच्च कोई ज्ञान है।[15] जब व्यक्ति को आत्म–ज्ञान हो जाता है तो उसके सारे भेंद समाप्त हो जाते हैं। वह सब में अभेद देखने लगता है किन्तु जब तक यह स्थिति नहीं आती है। व्यक्ति सांसारिक सुखों को अपना आदर्श मानते हुए नाना दुःखों को भोगता है। पर आत्म–ज्ञान की स्थिति में वह सभी दोषों से परे एवं सभी विक्षेपों से मुक्त हो जाता है। यह स्थिति परम सुख एवं परम आनन्द की होती है। अतः मानव जीवन का सर्वोच्च मूल्य आत्म–साक्षात्कार है।

आत्म–साक्षात्कार व्यक्ति का प्रामाणिक जीवन है, जिसमें वह अपने कर्तव्य बोध से परिचित हों, उसके प्रभावों से मुक्त रहता है। ब्रैडले की भाशा में वह "आत्मत्याग में ही आत्म–लाभ" समझता है तथा हिरियन्ना की शब्दावली में कहें तो वह "कर्म का त्याग नहीं अपितु कर्म में त्याग" करता है। यही जीवन का परम लक्ष्य एवं परम शुभ है। "शुभ" एक मूल्यात्मक प्रत्यय है जिसे अंग्रेजी में "good" कहा गया है। यह जर्मन भाशा के "giet" शब्द से निकला है जिसका अर्थ है किसी उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक। अतः शुभ वह है जो कि लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक हो। इसका प्रयोग प्रायः दो रूपों – साधन एवं साध्य मे किया जाता है। कहीं इसका प्रयोग सर्वोच्च आदर्श की प्राप्ति के लिए किया जाता है तो कहीं स्वयं सर्वोच्च आदर्श (summum bonum) के

लिए। इसी अर्थ में "शुभ" मोक्ष से सम्बन्धित है। शंकर भी इसका दोहरा प्रयोग करते हैं। आदर्श के रूप में शुभ साध्य है तथा कर्मों के रूप में साधन। साध्य रूप में आत्म–साक्षात्कार परम शुभ है। यह सभी मूल्यों के लिए कसौटी भी है और मूल्याकंन का आधार भी। जो कार्य इसमें सहायक हैं वह शुभ तथा जो कार्य इसमें बाधक है वह अशुभ। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार– "नैतिक शुभ वही है जो अनन्त के साक्षात्कार में सहायक हो और नैतिक अशुभ वह है जो इसका विरोधी हो[16]"। किन्तु सामान्य जन के लिए मूल्यांकन का यह मापदण्ड इतना कठिन है कि हम अपने दैनिक कार्यों का मूल्यांकन इसके द्वारा सरलता से नहीं कर सकते। इसी कठिनाई को देखते हुए आचार्य ने मापदण्ड के कुछ अन्य उपायों को भी सुझाया है जिसके द्वारा सामान्यजन भी अपने कार्यों का मूल्यांकन कर सकें। यह अन्य आधार है–उस कर्म का शास्त्रानुकूल होना[17] अथवा महापुरुषों द्वारा अनुमोदित होना।[18] इस प्रकार वह पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दोनों मापदण्डों का प्रयोग कर्म के मूल्यांकन के लिए करते हैं।

आत्म–साक्षात्कार को अपवर्ग, मोक्ष, कैवल्य, निवार्ण इत्यादि नामों से अभिहित किया गया है। यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक है किं जीवन का यदि परम् लक्ष्य आत्म–साक्षात्कार है तो लोक सम्मत एवं शास्त्र सम्मत मूल्यों की स्थिति शंकर के दर्शन में क्या है ? सामान्य रूप से भारतीय चिन्तन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यें चार पुरूषार्थ माने गये हैं। ये ऐसे मूल्य हैं जिससे व्यक्ति की व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोनों आवश्कताएं पूरी होती हैं। इन पर चलने से व्यक्ति का सर्वागींण विकास होता है। शंकर को भी जीवन के ये सभी मूल्य मान्य हैं और इसकी आवश्यकता को उन्होंने भी स्वीकार किया है। इतना अवश्य है कि पारमार्थिक दृष्टि की तुलना में ये मूल्य निम्न स्तर के हैं। इन मूल्यों को उन्होंने "अभ्युदय" नाम दिया है, जिसका शब्दिक अर्थ है– उत्कर्ष या विकास। ये ऐसे मूल्य हैं जिनसे व्यक्ति का नैतिक और भौतिक दोनों उत्थान होता है। इसके अतिरिक्त मोक्ष या आत्म–साक्षात्कार "निःश्रेयस" है। अतः स्पष्ट है कि निःश्रेयस के साथ–साथ आचार्य ने अभ्युदय को भी पुरूषार्थ माना हैं।[19]

"अभ्युदय" और निःश्रेयस में अभ्युदय को मानव जीवन का सर्वोच्च पुरूषार्थ नहीं बनाया जा सकता क्योंकि ये मूल्य क्षणिक और नश्वर हैं। कठोपनिषद् के नचिकेता के शब्दों में वे केवल कल तक रहने वाले हैं – "श्वोभावः। शाश्वत केवल आत्म–साक्षात्कार है। किन्तु जिनके अन्दर ब्रह्म जिज्ञासा का भाव उत्पन्न नहीं हुआ है उनके लिए नश्वर प्रकृति के ये मूल्य ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हें हेय तभी कहा जा सकता है जब जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हो गयी हो। इस इच्छा के बाद व्यक्ति को केवल एक ही लक्ष्य दिखाई पड़ता हैं। इसी में उसको अखण्ड आनन्द तथा सुख प्राप्त होता है एवं परम् शान्ति मिलती है। इसलिए अद्वैत वेदान्त में सच्चिदानन्द को परम शुभ माना गया है। यह सत्यं शिवम् सुन्दर का समुच्चय है। यह सत्य है कि व्यक्ति के प्रामाणिक अस्तित्व और ब्रह्मम में तादात्म्य सम्बन्ध है किन्तु अज्ञान के कारण यह तादात्म्य छिप जाता है। इसी के फलस्वरूप जीव स्वयं को मन, शरीर, इन्द्रियाँ आदि समझने लगता है। यह उसका मिथ्याभिमान है किन्तु दोष निवारण के बाद वह तादात्म्य बोध को समझने लगता है। इसलिए जीव की बंधनग्रस्तता केवल मानसिक है सत्तागत नहीं। इन मानसिक बंधनों को हटाने तथा अज्ञान निवारण हेतु कुछ व्यावहारिक साधनों को आचार्य शंकर ने स्वीकृति प्रदान की है जिस पर चलकर व्यक्ति अपने आत्म–स्वरूप की पहचान कर सकता है।

आत्म–साक्षात्कार का साधन क्या है ? आचार्य के अनुसार ज्ञान "ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः। तब ज्ञान का स्वरूप क्या है ? "अहम् ब्रह्मास्मिं। यह ऐसा साधन है जिससे अमृतत्व प्राप्त हो सकता है। किन्तु इसका बोध जीव को अज्ञान के कारण नहीं होता है। अतः अज्ञान का निवारण केवल ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। श्रुति स्पष्ट रूप से कहती है– ज्ञानेन तु कैवल्यम्। पर यह तत्त्व ज्ञान प्राप्त कैसे हों ? शंकराचार्य ने इसके लिए अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक मानते हैं। अन्तःकरण की शुद्धि के लिए व्यक्ति को नैतिक गुणों से बलवान होना पड़ेगा और जब व्यक्ति नैतिक गुणों से बलवान हो जाता है तब वह कर्मों से परिशुद्ध हो जाता है। ऐसे परिशुद्ध अन्तःकरण में ही ज्ञान का उदय होता है। "ज्ञानेकनिवर्त्यत्वम्" जैसे ही हमारे अन्दर अद्वैत भाव का ज्ञान उत्पन्न होता है, जीवात्मा का पुनर्जन्मावस्था तथा ईश्वर का उत्पत्ति परक गुण विलुप्त हो जाते हैं। अनेकत्व का प्रतीतिपरक विचार जो मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होता है निर्दोष ज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाता है। ऐसे निर्दोष ज्ञान प्राप्ति के दो साधन हैं – 1. बहिरंग और 2. अन्तरंग।

बहिरंग साधनों का सम्बन्ध जिज्ञासा से है सीधे ज्ञान से नहीं। इस रूप में शंकराचार्य "भक्ति" और "कर्म" की महत्ता को स्वीकार करते हैं। भक्ति मार्ग का उल्लेख "चर्पट पंजिका स्तोत्रम्" में मिलता है। इसमें उन्होंने बृद्ध ब्राह्मण को व्याकरण सूत्र रटने के बजाय गोविन्द नाम का भजन करने का उपदेश देते हैं ताकि वह जन्म–मरण के चक्र से मुक्त हो सके[20]। दूसरा मार्ग कर्म का है जिसमें कर्म करते हुए फल की इच्छा नहीं की जाती है क्योंकि फल की इच्छा ही दुःख का कारण है तथा फलासक्ति बंधन का कारण है। इन साधनों की महत्ता अंतःकरण की शुद्धता के लिए है और शुद्ध अंतःकरण में ही ज्ञान प्रकाशित होता है। ज्ञान की सफलता मन की शुद्धता पर आश्रित है और मन की शुद्धता फलेच्छा रहित कर्तव्यों के सम्पादन में[21]। एसे कर्म व्यक्ति को बंधन में नहीं डालते हैं।

अंतरंग साधन चार हैं– 1. विवेक, 2. वैराग्य 3. शमादमादि षट्सम्पत् और 4. मुमुक्षत्व। नित्य वस्तु को नित्य और अनित्य वस्तु को अनित्य समझना ही विवेक है। कहा गया है – "नीर क्षीर विवेकस्य"। इसके द्वारा व्यक्ति इस निश्चय पर पहुँचता है किं मैं विषयी रूप में नित्य हूँ तथा मेरे ज्ञान के विषय अनित्य हैं। इस लोक में भोग–विलास और वेदोक्त यज्ञादि जन्य स्वर्गादि पारलौकिक भोग इन दोनों वस्तुओं तथा फलों से सर्वथा विमुख हो जाना वैराग्य है। वैराग्य का मुख्य उद्देश्य क्षणिक सुख देने वाली सभी ससीम वस्तुओं के प्रति घृणा भाव उत्पन्न करना है। इस घृणा भाव के फलस्वरूप ही मनुष्य शाश्वत आनन्द की ओर उन्मुख होता है। क्योंकि जब तक मन सांसारिक वस्तुओं से परांगमुख नहीं होता, इस "आनन्द" पर पूर्ण रूप से एकाग्र नहीं हो सकता। तीसरे साधन के अन्तर्गत शम, दम, उपरति तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ये छः उपसाधन हैं। "शम" का तात्पर्य है–मानसिक निग्रह या शान्ति। जब तक मन चंचल रहता तब तक कोई भी व्यक्ति अपने आत्म–स्वरूप को नहीं पहचान सकता[22]। मन की इस चंचलता को रोकने के लिए इन्द्रियों का संयम आवश्यक है। बाह्म इन्द्रियों के इस नियन्त्रण को "दम" कहते हैं। जब इन्द्रियाँ अपने विषयों से अलग हो जाती हैं तो इसे "उपरति" कहते हैं।[23] शम और दम से इसमें अन्तर यह है कि शम और दम में प्रयत्नपूर्वक क्रमशः मन एवं इन्द्रियों को विषयों से निगृहीत किया

जाता हैं, जबकि "उपरति" में उनके प्रति आकर्षण का सहज अभाव होता है– अर्थात् मन तथा इन्द्रियाँ उस ओर जाना ही नहीं चाहती। सम्पूर्ण दुःखों को सहना "तितिक्षा" है। वेद और गुरू के वचनों में विश्वास "श्रद्धा" है, तथा सदृश लक्ष्य में चित्त की एकाग्रता "समाधान" है।[24] संसार बंधन से मेरी मुक्ति कब और कैसे होगी ? इस प्रकार सुदृढ़ इच्छा को मुमुक्षता कहते हैं।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार इन चारों योग्यताओं से युक्त साधक ही ज्ञान मार्ग का अधिकारी होता है। ज्ञान मार्ग श्रवण, मनन, एवं निदिध्यासन का मार्ग है। यह आत्म लाभ हेतु वेदान्त का अभ्यास है। याज्ञवल्वय का उद्घोष है – "आत्मवाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मनतव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ., 2/4/4)। किसी योग्य गुरू से उपनिषदों की शिक्षाओं को सुनना "श्रवण" है। श्रवण से प्राप्त ज्ञान पर तर्क पूर्वक चिन्तन करना "मनन" है। यह आत्मज्ञान में संभाव्य संशय के निवारण के लिए आवश्यक है। जीव और ब्रह्म के तादात्म्य का ध्यान करते रहना निदिध्यासन है। यह अभ्यास तब तक चलता रहता है जब तक आत्म–ज्ञान न हो जाय।

इस प्रकार आत्म ज्ञान के तीन मुख्य सोपान हैं[25]– 1. नैतिक तैयारी 2. ज्ञान का स्फुरण और 3. आत्म ज्ञान की प्राप्ति। नैतिक तैयारी के अन्तर्गत साधन चतुष्टय के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ साधन आते हैं। ज्ञान के स्फुरण के अन्तर्गत वेदान्त श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन आते हैं। यह अज्ञान को दूर करने तथा ज्ञान की स्वानुभूति करने की अवस्था हैं। इस अवस्था में बुद्धि, भावना, और इच्छा को एकरूप बनाना पड़ता है। ये तीनों जिसे सत्य कहें उसी की साधना करनी पड़ती है। अन्त में सत्य प्राप्ति "अहं ब्रह्मास्मि" या आत्म–लाभ की अवस्था है, जिसमें परमार्थ की सिद्धि हो जाती है तथा मनुष्य अपने परम लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है।

इस प्रकार अद्वैत आचार मीमांसा के सम्यक् विश्लेषण के आधार पर यहां कहा जा सकता हैं कि इसका उद्देश्य जागतिक कठिनाइयों को दूर कर व्यक्ति को उस स्थिति पर पहुँचाना है, जहाँ वह आत्म–स्वरूप को पहचान कर जीवन के परम लक्ष्य तथा परम शुभ को प्राप्त कर सके। यह अनुभूति सबके लिए सर्वत्र सम्भव है। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति उस योग्य अपने को बनाये। अपने प्रामाणिक अस्तित्व को पहचाने। इसके लिए उसे व्यवहार से नहीं वरन् व्यावहारिक आसक्ति से ऊपर उठना पड़ेगा। "आसक्ति" से छुटकारा इतना सरल भी नहीं है किन्तु इसे कठिन कह कर छोड़ा भी नहीं जा सकता। अद्वैत प्रणीत व्यावहारिक साधनों की उपादेयता इसी में है, जिस पर सतत चलने से व्यक्ति "आसक्ति" से छुटकारा प्राप्त कर अपने "प्रामाणिक अवबोध" को प्राप्त कर लेता है। इसके परिणाम स्वरूप परिवर्तन उसके बाह्य जगत् में नहीं अपितु आभ्यांतरिक जगत् में होता है। उसके सारे कर्म लोक कल्याण के लिए स्वभावतः होते हैं। वह सब में "अभेद" देखने लगता है। वस्तुतः देखा जाय तो सारी समस्याओं की जड़ "भेद" है। इस दृष्टि के फलस्वरूप ही नैतिक–भौतिक तथा प्राकृतिक समस्याएं आती हैं। चोरी, हत्या, पाप, व्यभिचार इस लिए होते हैं कि इसमें परायेपन की भावना विद्यमान होती है। कोई व्यक्ति स्व धन की चोरी नहीं कर सकता। कारण चाहे अन्य भी हों लेकिन मुख्य यही है कि व्यक्ति चोरी इसलिए करता है कि दूसरे के धन को वह अपना नहीं मानता। ऐसी ही बात अन्य समस्याओं में भी है। क्या कोई व्यक्ति अपनी हत्या करेगा ? फिर आत्महत्या भी तो होती है। इसमें मुख्यतः स्व से भेद विद्यमान है। व्यक्ति अपने से विश्वास खोकर अन्य भावनाओं के अधीन हो जाता है।

इसलिए आचार्य शंकर भावनाओं के अधीन नहीं वरन् अपने नियन्त्रण में भावनाओं को करने की शिक्षा देते हैं। मन पर नियन्त्रण से व्यक्ति जहाँ अपने दायित्व बोध को उचित ढ़ंग से समझता है वही उसके अनुरूप कर्तव्य का सम्पादन भी करता है। उसका जीवन अन्य लोगों के कल्याणार्थ होता है–"परोपकाराय सतां विभूतयः"। इसलिए शंकराचार्य इस सिद्वान्त में विश्वास करते हैं कि वैयक्तिक स्वार्थ को कुल के लिए, कुल के स्वार्थ को ग्राम के लिए, ग्राम का स्वार्थ देश के लिए और देश तथा सारे संसार का स्वार्थ सर्वव्यापी आत्मा के लिए त्याग देना चाहिए –

"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।।

यह स्थिति क्रमिक अहं का त्याग कर क्रमशः उठते हुए आत्म–साक्षात्कार की है। यहाँ व्यक्ति "मानव से महामानव" बन जाता है तथा "सबमें अपना" और "अपने में सबको" देखता है। यह व्यापक दृष्टि आत्म–ज्ञान की है अपने को जानने की है। यही आदर्श अवस्था है जहाँ स्वतंत्रता, सामनता, बंधुत्व के मूल्य और "वसुधैवकुटुक्बकम्" की अवधारणा अपने सच्चे अर्थों में साकार होती है।

आचार मीमांसा ऐसी ही सीढ़ी है जिससे व्यक्ति व्यावहारिक स्तर से पारमार्थिक स्तर पर पहुँचाता है। पहुँचने पर इसकी निःसारता का बोध भले हो, उसके पूर्व इसकी उपादेयता सहज ही है। यह व्यक्ति को प्रामाणिक अर्थों में व्यक्ति बनाता हैं, उसका परिष्करण एवं परिमार्जन करता है, जिसके फलस्वरूप वह जीवन को सही अर्थों में समझ जाता है। उसके विचार और आचार में एकरूपता हो जाती है। वह नैतिकता से अलौकिकता की ओर अग्रसर होता है। जिस नैतिक आचार से वह परमार्थ की ओर गमन किया, उस स्तर पर पहुँचने पर आचार मीमांसा उसका अनुसरण करने लगती है तथा उसी से प्रामणिकता प्राप्त करती है। यही अद्वैत का ध्येय भी है और उद्देश्य भी।



सन्दर्भ –

1. *शुक्रनीति, 1/2*
2. *शां. भा, गीता, 3/37*
3. *वही, 2/63*
4. *शां० भा., कठोपनिषद्, 2. 24*
5. *Das gupta surendranath, "Indian Idealism"; Cambridge university press, 1933, P,3*
6. *"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाशुभम् नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटिशतैरपि।"*
7. *शां. भा., गीता, 8/6*
8. *वही, 7/22, 8/9, 9/17 "कर्मफलस्य प्राणिभ्यो विधाता"।*
9. *शां. भा., ब्रह्यसूत्र, 3. 2. 38 "कर्मानुरूपं फलं संपादयति"।*
10. *गीता, 18/14*
11. *शां. भा., गीता, 3/33*
12. *वही, 9/29*
13. *राधाकृष्णन, एस. "हिन्दूओं का जीवन दर्शन" अनु. कृष्ण किंकर मिश्र, पृ. 71*
14. *शां. भा., ब्रह्यसूत्र 1.1.28*

15. आत्मबोध, 54
16. "The ethically "good" is what helps the relatively of the infinite and the ethically "bad" it's opposite." Radha krishanan S, "Indian philosophy", vol-2 macmillan company newyark, 1962, P.614
17. शां. भा., गीता, 4/17, 16/23, 16/24
18. वही 3/21
19. शां. भा., तैत्तिरीय 2.1 (भोगापवर्गो पुरुषार्थौ), ब्रह्मसूत्र 1.1.1, (अभ्युदय फलं धर्मज्ञानम् निःश्रेयस फलं तु ब्रह्मविज्ञानम्)
20. "भज गोविन्दं भज गाविन्दं, गोविन्दं भज मूढ़मते।
संप्राप्ते सन्निहिते भरणे, नहि नहि रक्षति डुकृञकरणे।।
21. शां. भा., गीता, 2/48, सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते
22. वही, 2/66
23. अपरोक्षानुभूति, 7
24. "निगमाचार्यवाक्येशु भक्तिः श्रद्धेति विश्रुता।
चित्तैकाग्रयन्तु सल्लक्ष्ये समाधाननमिति स्मृतम्।।
वही, 8
25. पाण्डेय संगमलाल "नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण" सेण्ट्रल पाब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद 1989, पृ. 169

मूल्याधारित समाज-निर्माण में अद्वैतवेदान्त की सार्थकता

अरूण कुमार सिंह

किसी भी राष्ट्र के निर्माण में उस राष्ट्र के समाज और जीवन–दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान होता है। युग विशेष की सामाजिक स्थितियाँ ही समाज, राजनीति, अर्थनीति, धर्म, संस्कृति, कला–दर्शन, विधि एवं शिक्षा आदि को आधार प्रदान करती हैं एवं उनके आयामों को विस्तार भी देती हैं। हमारा राष्ट्र जीवन अनेक रूपान्तरणों से गुजरता हुआ विकसित हुआ है। अनेक झंझावातों को सहता हुआ भी अपनी पहचान एवं विशिष्टता को बनाये रहा। यह हमारे समाज एवं राष्ट्र जीवन की महत्वपूर्ण विशेषता है। इसकी इस विशिष्टता का कारण है कि प्रत्येक गम्भीर घड़ी में, प्रत्येक काल में, कोई न कोई चिन्तक, दार्शनिक, राष्ट्रभक्त खड़ा मिलता है, जो युगीन कुरीतियों, कुप्रथाओं आदि को मौन होकर न तो स्वीकारता है न ही केवल आलोचना तथा खण्डन करता है वरन् सम्पूर्ण समाज को उचित, तार्किक एवं सही दिशा की ओर चलाने का प्रयास भी करता है। वह स्वयं किसी के पीछे न चलकर सबको अपना अनुगामी बनाता है।

हमारे देश में तो राम, कृष्ण, बुद्ध महावीर, शंकर आदि से लेकर अरविन्द, गाँधी एवं गुरू गोलवरकर आदि महापुरूषों की एक लम्बी श्रृंखला है, जिन्होंने समाज एवं राष्ट्र जीवन को स्वस्थ एवं उचति मार्ग दर्शन दिया है।

प्रचलित सामाजिक कुपरम्पराओं, आडम्बरों, कर्मकाण्डों आदि सिद्धान्तों की आलोचना करना तथा जनसाधारण के समक्ष आदर्श जीवन प्रस्तुत करना एवं उचित तथा तर्कसंगत मार्ग दर्शन देना दार्शनिक का मुख्य कर्तव्य है। भारतीय दार्शनिकों ने सदैव निर्भीकता, निष्पक्षता तथा अपने चिन्तन एवं कथनी–करनी में समानता स्थापित करके हर मोड़ तथा हर काल एवं परिस्थितियों में हमारे सम्पूर्ण समाज को आगे बढ़ाया है। भारतीय दार्शनिकों की इस श्रृंखला में आचार्य शंकर सबसे प्रमुख एवं अग्रणी दिखते हैं। इन्होंने एक ऐसी दार्शनिक प्रणाली की व्याख्या की है जो भारतीय समाज एवं राष्ट्रजीवन का प्रमुख जीवन दर्शन है। इन्होंने कुरीतियों एवं आधारहीन कर्मकाण्डों की निरर्थकता सिद्ध की एवं वर्ग विशेष के लिये उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान को जन साधारण के लिये सहज सुलभ कराया। वह केवल आध्यात्मिक चिन्तक ही नहीं थे वरन् एक सफल समाज सुधारक, सांस्कृतिक क्रान्ति कर्ता एवं कुशल समाज संगठक भी थे।

आज मूल्यों का क्षरण हमारे देश में स्वीकार सा कर लिया गया है, जीवन के सभी क्षेत्रों में यह व्याप्त हो गया है। सभी कार्य क्षेत्रों में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का व्यापक क्षरण हुआ है। एक सीमा तक पूरी दुनिया के लिये यह सच है, किन्तु भारत के लिय यह विशेष त्रासदी है क्योंकि हमने अपनी सभ्यता के आरम्भ काल से ही कुछ आध्यात्मिक, धार्मिक और नैतिक मूल्यों को आधार बनाने की चेष्टा की है।

हम जानते हैं कि आज हमारा देश विचित्र परिस्थिति में खड़ा है। एक समय था जब यह देश वैभव की चरम सीमा तक पहुँचा था। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' अर्थात् हम सुसंस्कृत हैं, बाकी

दर्शन विभाग, डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर (उ.प्र.)

दुनिया को भी सुसंस्कृत करेगें, यह प्रतिज्ञा हमारे पूर्वजों ने की थी। जहाँ तक साम्राज्य की हमारी जो परिकल्पना है, वह राजनैतिक, शासकीय साम्राज्य की नहीं है, वरन् वह तो सम्पूर्ण मानवता के लिये उपकारक, आदर्श के सांस्कृतिक साम्राज्य की है। इस भूमि से जाने वाले हाथ में तलवार लेकर नहीं, संस्कृति का संदेश लेकर यहाँ से प्रचारक दुनिया के विभिन्न भागों में जाते थे, वहाँ लोगों को सुसंस्कृत करते थे और जिस तरह से इस देश को जगद्गुरू का पद प्राप्त हुआ था, वह एक गौरवशाली भूतकाल हमारे सामने है। उस समय समाज की एक स्थिर रचना थी, उसमें हर एक को अपनी रूचि, प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुकूल कार्य करते हुए आत्म विकास और उसके माध्यम से सर्व सुख मोक्ष प्राप्त करने का पूरा अवसर था एवं जहाँ हर व्यक्ति सम्पूर्ण समाज के साथ एकात्म भाव से रहता था। इस तरह की एक आदर्श अवस्था हमारे देश ने भूत काल में देखी है।

परन्तु यदि आज की हमारी अवस्था देखी जाये तो अत्यन्त पिछड़ी हुई है। भौतिक दृष्टि से देखा जाये तो 60 प्रतिशत आबादी गरीबी के नीचे है। 45 करोड़ लोग निरक्षर हैं। इसलिये सम्पूर्ण समाज को हम कैसे ऊपर ले जा सकते हैं, यह आत्म चिन्तन करने की आवश्यकता है। किन्तु आज जहाँ हम यह दुर्दशा देख रहे हैं वहीं पाश्चात्य इतिहासज्ञ 'अरनाल्ड टायन्बी' ने हमारे देश के विषय में जो अपेक्षा व्यक्त की है वह आश्चर्य जनक है। "उन्होंने यह कहा कि सम्पूर्ण समाज आज संघर्षमय है, क्योंकि तरह–तरह के विभेद संसार में हैं। इस संसार को सुख व शान्ति का रास्ता यदि कोई दिखा सकता है तो वह भारत ही है। उन्होंने यह भी कहा कि अलग–अलग कारणों से इस देश में इतनी विविधतायें हैं, किन्तु इन सबके बाद भी यदि एकात्मता का सूत्र बलवान हो सका और विविधता में एकात्मता का सूत्र रचने वाला समाज यदि मॉडल के रूप में यहाँ विकसित हो सका तो फिर उसी का अनुकरण सम्पूर्ण संसार को एकात्मता के सूत्र में बाँधने के लिये करने का प्रयोग प्रेरणा के रूप में करना चाहिये। आने वाले समय में संघर्षमय विश्व को सुख शान्ति का रास्ता दिखाने के लिये यदि एक मॉडल समाज का निर्माण होना है तो वह इसी देश से निर्माण हो सकता है।" ऐसी अपेक्षा प्रसिद्ध इतिहासज्ञ अरनाल्ड टायन्बी ने हमारे देश से की है।

हमारे यहाँ वेद मानने वाले भी हैं, न मानने वाले भी हैं। हमारे दर्शनों में तीन नास्तिक दर्शन हैं। हमारे यहाँ स्वर्ग को मानने वाले हैं, नहीं मानने वाले भी हैं। शून्य को मानने वाले भी हैं और भौतिकवादी भी हैं। नास्तिक दर्शन का जो हमारे यहाँ निर्माण हुआ, शुक्राचार्य से लेकर चार्वाक तक जो सम्प्रदाय चला वह विशुद्ध भौतिकवादी रहा। यहाँ सभी पंथ हैं सभी सम्प्रदाय हैं। हिन्दुओं के अलग–अलग रिलीजन हैं, किन्तु हिन्दू रीलीजन क्या है ? कोई पदार्थ नहीं है। फिर भी हिन्दू यह जानता है कि रिलीजन नाम का यह मनुष्य और जो अन्त में एक सत्य है, उसके बीच जो रिश्ता है उसको रिलीजन कहा गया है। फिर उसको आप कोई भी नाम दीजिये–"एकं सद्विप्राः बहुधा वदंति।" तत्त्व एक ही है, अलग–अलग लोग उसे अलग–अलग नाम से पुकारते हैं। स्वर्ण एक है, परन्तु आभूषण चाहे जो बनवा लीजिये। पानी तत्त्वतः एक ही होता है, चाहे वह गढ्ढे का हो, कुयें का हो, नदी आदि का हो। इसी तरह से अन्तिम सत्य को कोई चाहे विष्णु कहे, शिव कहे, अल्लाह कहें, जीजस कहे, मार्कसिस्ट उसे मैटर कहेगा, इसलिये नाम उसको कुछ भी दीजिये। लेकिन अन्तिम तत्त्व एक ही है। इसलिये अपने यहाँ कहा गया कि अन्तिम तत्त्व एक

है, गंतव्य स्थान एक है। वहाँ तक पहुँचने का रास्ता सबका अलग–अलग है, होना भी चाहिये, क्योंकि सभी का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक स्तर अलग–अलग है। इस कारण रास्ता एक नहीं हो सकता। सबकी मानस–संरचनायें अलग–अलग हैं। सबके प्रस्थान बिन्दु अलग–अलग हैं। इस कारण सबके लिये रास्ता एक रिलीजन नहीं हो सकता। मान लीजिये चार लोग चार दिशाओं में खड़े हैं और सबको दिल्ली आना है तो सबकी दिशा एक नहीं हो सकती, क्योंकि दक्षिण वाले की वही दिशा नहीं हो सकती जो उत्तर वाले की होगी। क्योंकि सभी के प्रस्थान बिन्दु भिन्न–भिन्न हैं। इसलिये हमारे यहाँ माना गया कि हर एक का रास्ता अलग–अलग हो सकता है, होना भी चाहिये। उसकी प्रकृति, प्रवृत्ति, रूचि, शारीरिक, मानसिक बौद्धिक एवं आत्मिक स्तर को ध्यान में रखकर हर एक का रास्ता अलग–अलग होना चाहिये। इसीलिये हमारे यहाँ तैंतीस कोटि देवताओं की गणना की गयी और कृष्ण ने भी गीता में यह कहा –

येऽप्यन्य देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयोन्विताः।
तेऽपि मायेव कौन्तेय यजन्त्यविधि पूर्वकम्।।

इसलिये वह कहते हैं कि जो अन्य देवताओं के भी भक्त हैं वह भी मेरी ही पूजा कर रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने अन्य देवताओं की भी कल्पना की है। इसलिये उन्होंने स्पष्ट कहा–येऽप्यन्य देवता। हमारे यहाँ एक प्रार्थना है जो हमारे दृष्टिकोण को और स्पष्ट करेगा। वह त्रैलोक्यनाथ हरि मेरे वांछित फल मुझे दें, मेरी कामना पूरी करें और उस त्रैलोक्यनाथ हरि का वर्णन क्या किया ?

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो।
बौद्धाः बुद्ध इति प्रमाण पटवः कर्तेति नैय्यायिकाः।
अर्हत इत्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः।
सोऽयं नो विदधातु वांछित फलं त्रैलोक्यनाथो हरि।।

शैव जिसको शिव कहते हैं, वेदान्ती जिसको ब्रह्म कहते हैं, मीमांसक जिसको कर्म कहते हैं नैय्यायिक जिसको कर्त्ता कहते हैं, बौद्ध जिसको बुद्ध कहते हैं, जैन जिसको अर्हत् कहते हैं, वह हरि मेरी कामना पूरी करें। यह भी स्पष्ट है कि यदि आज इस श्लोक का निर्माण होता तो शायद यह कहते कि मुसलमान जिसको अल्लाह कहते हैं, ईसाई जिसको जीसस कहते हैं, यहूदी जिसको यहोबा कहते हैं, वह हरि मेरी कामना पूरी करें। चीज एक ही है, रास्ते अलग–अलग हैं, यही इसका अर्थ है। इस दृष्टि से रिलीजन Personal Affair माना गया है। As strictay personal as one's truth brush – हर एक का टूथ ब्रश व्यक्तिगत होता है। ऐसा नहीं है कि बड़ा अच्छा ब्रश है, तो पूरे जन को वही ब्रश दे दो। वैसे ही हर एक का रिलीजन अलग–अलग ही होना चाहिये। ऐसी अपने यहाँ कल्पना है, इसके कारण हिन्दू रिलीजन के कारण झगड़ा करेगा ऐसा हो ही नहीं सकता। क्योंकि उपासना पद्धति की स्वतन्त्रता है। यही सनातन धर्म है। सनातन धर्म अर्थात् रिलीजन नहीं, रिलीजन का अर्थ तो उपासना पद्धति है। धर्म अर्थात् जो धारण करता है व्यक्ति जीवन की धारणा, परिवार जीवन की धारणा, राष्ट्र जीवन की धारणा, मानव जीवन की धारणा, विश्व जीवन की धारणा, अलग–अलग स्तर पर सम्पूर्ण जीवन की धारणा करने वाला सनातन धर्म है। महर्षि अरविन्द ने भी कहा है कि यह सनातन धर्म किसी एक समूह का नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व का है।

कई लोग अपनी संस्कृति को नहीं पहचानते–गलती से समझते हैं कि हिन्दू नाम का कोई रिलीजन है। उदाहरण के लिये परचून की दुकान लें और उस दुकान पर जाकर आप यह कहिये कि 50 रूपये का मुझे परचून दे दीजिये। कोई दुकानदार आपको परचून नहीं दे सकता, क्योंकि परचून नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, हाँ इस परचून नामक संज्ञा के अन्तर्गत पचासों किस्म की वस्तुयें आ सकती हैं। ठीक इसी तरह हिन्दू रिलीजन नाम की कोई वस्तु नहीं है। सभी उपासना पद्धतियाँ इसके अन्दर आ सकती है। इसलिये इसके कारण यहाँ झगड़ा होने की कोई सम्भावना नहीं है। यही कारण है कि अलग–अलग रिलीजन के लोगों का यदि कहीं स्वागत हुआ तो यहीं हुआ। चाहे ईसाई आये हों, पारसी आये हों, सभी प्रेम पूर्वक यहीं रहे। यहाँ तक कि इजरायल ने जो ग्रन्थ लिखा है, उसमें कहा है कि हर देश से मेरे ऊपर आक्रमण हुआ, लेकिन हिन्दुस्तान अकेला है, जिसने हमारे साइनागास पर, हमारे मन्दिर पर आक्रमण नहीं किया। इसलिये यहाँ पूजा पद्धति पर कभी झगड़ा नहीं हुआ।

इन सन्दर्भों में यदि हम शांकर दर्शन का अवलोकन करें तो हमे अद्वैत वेदान्त का एक व्यापक व व्यावहारिक रूप दिखायी देगा। हमारे राष्ट्र निर्माताओं में आचार्य शंकर का स्थान अत्यंत ऊँचा है। यदि इन्हें आधुनिक हिन्दू धर्म का जनक कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। शंकराचार्य का उद्‌य ऐसे समय में हुआ था जब बौद्ध धर्म का अनाचार, अत्याचार बढ़ता ही जा रहा था। बौद्ध धर्म को अनेकों वर्षों से राजाश्रय प्राप्त होने के कारण उनमें बहुत सारे दुर्गुण घर कर गये थे, ऐसे समय में शंकराचार्य उन्नायक बनकर राष्ट्र में उभरे और उन्होंने हिन्दू धर्म के अन्दर–बाहर चारों ओर उगने वाले झाड़–झंखाड़ को भष्मसात कर दिया। इस अग्नि में तप कर हिन्दू धर्म और अधिक तेजस्वी बनकर, कुन्दन होकर निखर आया। शंकराचार्य ने बुद्ध को हिन्दू धर्म के अवतारों में स्थान देकर बौद्धों की दृष्टि में भी परिवर्तन किया।

शंकराचार्य ने इतना ही नहीं बल्कि समस्त राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोने एवं उसे संगठित करने का प्रयास किया। देश के चारों कोनों में चार धामों की स्थापना करके उनके प्रति जन–जन के हृदय में श्रद्धा अंकित कर दिया। पंचायतन पूजन प्रारम्भ कर विभिन्न सम्प्रदायों को एक दूसरे के आराध्य देवों के प्रति केवल सहिष्णुता का भाव ही नहीं बल्कि सभी देवताओं के प्रति अपने इष्टदेव के माध्यम से वही श्रद्धा एवं आदर का भाव व्यक्त करने को प्रेरित किया। इसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य पांचों देवताओं – विष्णु, शिव, शक्ति, गणपति और सूर्य की पूजा करता है। अपनी श्रद्धा के अनुसार अपने इष्ट देव को बीच में तथा चारों ओर अन्य चार देवताओं को रखकर पूजन करने की उसे छूट है। ज्ञान, कर्म और भक्ति का योग्य समन्वय करने वाले तथा विविधता में एकता के सूत्र को खोजकर उन्हें पुष्ट बनाकर समाज और राष्ट्र को संगठित करने वाले महापुरूष थे आदि शंकराचार्य। यदि हम उनके गुरूकुल के सहपाठी विष्णु शर्मा के साथ आचार्य का वार्तालाप सुनें तो उनकी वैचारिक स्पष्टता तथा प्रतिबद्धता सहज रूप से दिखाई पड़ेगी।

सन्यास ग्रहण करके अपनी माता को प्रणाम कर आचार्य गुरू की खोज में निकल पड़ते हैं। रास्ते में उनके मित्र विष्णु शर्मा मिलते हैं और शंकर को देखकर कहते हैं यह क्या वेश बना रखा है ? कहाँ घूम रहे हो भाई ? आचार्य बड़े शान्त चित्त से कहते हैं सन्यास ले लिया है, विष्णु चौंक कर कहते हैं सन्यास? मजाक कर रहे हो? नहीं विष्णु, यह सत्य है, माता जी ने आज्ञा दे

दी है , तो क्या जंगल में जाकर तपस्या करोगे?" नही भाई, सन्यास का अर्थ संसार व समाज छोड़ना नहीं । मैने कर्म – सन्यास लिया है। इसका अर्थ है – कर्म छोड़ना नहीं, कर्म करना– देश और धर्म के कर्म करना है जो सत्य है तथा मनुष्य को ये कर्मफल – बन्धन में नहीं बाँधते।" तब विष्णु ने कहा की यह आयु सन्यास की तो नहीं है। शंकर कहते हैं "शुभ कर्म करने की कोई आयु निश्चित नहीं है। जब भी प्रेरणा हो, विचार और भावनायें पवित्र हों, उसी शुभ अवसर पर पुण्य कार्य में हाथ डाल देना चाहिये, क्योंकि कार्य अधिक है और समय बहुत कम है। विष्णु कहते हैं, लेकिन सन्यास तो गृहस्थाश्रम के बाद ही ले सकोगे। हाँ साधारण व्यवस्था तो यही है, कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और सन्यास इस क्रम में चारों आश्रमों का पालन किया जाये, किन्तु वर्णाश्रम व आश्रम व्यवस्था समाज के कल्याण के लिये समाज द्वारा निर्मित व्यवस्था है और अपने बनाये हुये नियमों के हम स्वामी हैं, दास नहीं। आचार्य शंकर अपने गीता भाष्य में वर्णित वर्णाश्रम धर्म, आश्रम व्यवस्था एवं लोक संग्रह को ज्यों का त्यों स्वीकार करते हैं। इस सन्दर्भ में मनुस्मृति में वर्णित सभी व्यवस्थाओं को भी स्वीकार करते हैं।[1]

विष्णु कहते हैं व्यवस्था पालन से ही तो समाज टिकता है। यदि अपने बनाये हुये नियम हम स्वयं तोड़ेगें तो उन नियमों का उपयोग क्या है? शंकर कहते हैं कि "व्यवस्था व नियम समाज की रचना के लिये होते हैं।" महत्व नियम और व्यवस्था का नहीं, अपितु समाज के संगठन और जीवन के लिए हैं। यदि समाज के जीवन के लिये मर्यादा स्थापित करने की आवश्यकता हो तो मर्यादा पुरूषोत्तम श्री राम के समान मर्यादायें बांधी जाती हैं। और यदि मर्यादा उल्लघंन की आवश्यकता हो तो योगेश्वर श्री कृष्ण की भांति मर्यादायें तोड़ी भी जाती हैं, लेकिन उल्लंघन व पालन दोनों में एक ही भावना है, समाज के संगठन की, समाज का अस्तित्व बनाये रखने की। व्यवस्था और नियम साध्य नहीं साधन हैं। साधन का उपयोग तब तक है जब तक वह साध्य को प्राप्त करने में सहायक हो।

आचार्य शंकर के दर्शन के सम्बन्ध में डॉ0 राधाकृष्णन् कहते हैं कि "इनका दर्शन स्वयं में परिपूर्ण है, जिसको न तो अपने आगे और न पीछे ही किसी अन्य सामग्री की आवश्यकता है। यह एक ऐसी स्वतः सिद्ध पूर्ण इकाई है जो कला पूर्ण ग्रन्थों में ही पाई जा सकती है।"[2]

आगे वह पुनः आचार्य के बारे में कहते हैं कि– "शंकर के जीवन में विरोधी भावों का एकत्र संग्रह मिला है। वे दार्शनिक भी हैं और कवि भी, ज्ञानी पंडित भी हैं और सन्त भी, वैरागी भी हैं और धार्मिक सुधारक के साथ–साथ समाज सुधारक भी हैं। उनमें इतने भिन्न–भिन्न प्रकार के दिव्य गुण निहित थे कि यदि हम उनके व्यक्तित्व का स्मरण करें तो भिन्न–भिन्न मूर्तरूप हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। युवावस्था में वे बौद्धिक महत्वाकांक्षा के आवेश से पूर्ण, एक अदम्य और निर्भय शास्त्रार्थ महारथी प्रतीत होते हैं। कुछ व्यक्ति उन्हें तीक्ष्ण राजनैतिक प्रतिभा से सम्पन्न मानते हैं जिन्होंने जनता को एकता की भावना का महत्व समझाया। तीसरे वर्ग के वे लोग भी हैं जिनकी दृष्टि में वे एक शान्त दार्शनिक हैं जिनका एक मात्र प्रयत्न जीवन तथा विचार के विरोधों का अपनी असामान्य तीक्षण बुद्धि के द्वारा भेद खोल देने के प्रति था, और चौथे वर्ग के लोगों की दृष्टि में वे एक रहस्यवादी हैं जो घोषणापूर्वक कहते हैं कि हम सब उससे कहीं अधिक महान हैं, जितना कि हम जानते हैं। उनके समान सार्वजनिक मेधावी पुरूष बहुत कम देखने में आते हैं।[3]

आचार्य शंकर के जन्म के वर्ष, तारीख और तिथि के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। तैलंग के अनुसार शंकर ईसा के पश्चात् छठी शताब्दी के मध्य या अन्त में पैदा हुये। सर आर.जी. भण्डारकर के अनुसार 680 ई. है। मैक्समूलर तथा प्रो. मैकडोनल का मत है कि शंकर का जन्म 788 ई0 का है और देहान्त 820 ईस्वी में हुआ। प्रो. कीथ– की सम्मति में 9वीं शताब्दी के प्रथम चरण में शंकर का होना माना गया है।[4]

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से यह काल राजपूत काल के नाम से जाना जाता है। सम्राट हर्षवर्द्धन की मृत्यु के उपरान्त के इस काल में भारत छोटे–छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। इस समय उत्तर भारत के बहुत से राज्यों पर राजपूत राजाओं यथा–दाहिर, गुर्जर, नागवंश, उत्पल तथा प्रतिहार वंश आदि का राज्य था, जिनमें पारस्परिक ईर्ष्या द्वेष ही अधिक था। इसी काल अर्थात् 722 ई. में सिन्ध प्रान्त के राजा दाहिर पर अरबों का आक्रमण मुहम्मदबिन कासिम के नेतृत्व में हुआ। इसने राजा दाहिर को परास्त करके गुर्जर राज्य पर आक्रमण कर भड़ौच तक का भू–भाग जीत लि़या। इस समय उत्तरी भारत में छोटे–छोटे राज्यों के साथ तीन प्रमुख राजवंश– मगध में पाल वंश, राजपूताना में गुर्जर – प्रतिहार तथा दक्षिण पथ एवं नर्मदा तट में राष्ट्रकूट थे। परन्तु इनमें से किसी ने भी बाह्य आक्रमण का विरोध मिलकर नहीं किया।

यही हाल दक्षिण में भी था । दक्षिण के दो प्रमुख राज्य चालुक्य और पल्लव आपस में ही संघर्ष रत रहते थे। शक्तिशाली होते हुये भी इन्होंने अपनी शक्ति का उपयोग राष्ट्रहित में न करके आपसी वैमनस्य को बढ़ाने में किया।

इस प्रकार भारत की उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रान्त सिन्ध का राजा दाहिर अत्यन्त शक्तिशाली होते हुए भी युद्ध में मारा गया और इसको परिणाम हुआ कि अरबों के प्रवेश के साथ–साथ उनकी भाषा, संस्कृति और धर्म का भी प्रवेश हुआ। इसी तरह समरकन्द की तरफ से भी अरबों का प्रवेश हुआ जिसके परिणाम स्वरूप वहाँ के बौद्ध इस्लाम के अनुयायी होने लगे। धीरे–धीरे मध्य एशिया का बहुसंख्यक निवासी इस्लाम का अनुयायी तो बना ही, सहायक भी बन गया।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आचार्य शंकर को कर्मक्षेत्र के रूप में असंगठित, परस्पर ईर्ष्या–द्वेष में ग्रस्त छोटे–छोटे राज्य मिले। यह पतन केवल राजनैतिक ही नहीं था वरन् सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी क्षेत्रों में भी था।

उत्तर वैदिक काल में समाज पुरोहितवाद से अत्यन्त पीड़ित था। कर्मकाण्ड, हिंसायुक्त यज्ञ, आड़म्बर पशुबलि एवं नरवलि की क्रूरता सर्वत्र व्याप्त थी। उपनिषद् के गम्भीर ज्ञान सामान्यजन की समझ के परे थे। परिणाम स्वरूप समाज में ऊब व उपेक्षा का वातावरण था। ऐसे समय में बुद्ध जैसा महापुरूष, करूणा तथा मानव की पीड़ा को अपना समझने वाला, समाज में अवतरित होता है। तदन्तर बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार सम्पूर्ण भारत में ही नहीं अन्य देशों में भी होता है। लेकिन बाद में राजाश्रय मिलने तथा कथनी करनी में भेद के कारण इसमें भी अनेक दोष आते हैं। साथ ही राष्ट्र राजनैतिक दृष्टि से और कमजोर होता है। इस समय सम्पूर्ण समाज कई पाटों में पिस रहा था। एक तरफ बौद्ध धर्म तो दूसरी तरफ कर्मकाण्ड युक्त सनातन धर्म एवं तीसरी ओर शैव एवं शाक्त अर्थात् तांत्रिक परम्परा का नग्न ताण्डव।

इस प्रकार हम पाते हैं कि आचार्य शंकर को विरासत में राजनैतिक, सामाजिक धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में ईर्ष्या, द्वेष और स्वार्थपरता पूर्ण समाज ही मिलता है। परन्तु आचार्य शंकर अपने अल्पकाल के जीवन में जिस ढंग से समाज के हर क्षेत्र में कार्य करते हैं वह अतुलनीय, प्रशंसनीय एवं महनीय है।

"ब्रहम सत्यं जगन्निमथ्या जीवौ बह्मैव नापरः।" इस प्रकार का उद्घोष करने वाला व्यक्ति किसी जंगल या कुटी में नहीं बैठता है और न ही वह समाज से पलायन ही करता है वरन् वह तो सम्पूर्ण समाज को दिशा निर्देशित करता है। अपने सतत् कर्मशील जीवन से शंकर समाज के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक एवं राष्ट्रीय एकता जैसे हर क्षेत्र में कार्य करते हैं।

आचार्य शंकर सामाजिक एवं धार्मिक सभी रूढ़ियों पर प्रहार करते हैं। परन्तु साथ ही साथ उच्च एवं आदर्श समाज एवं धर्म व्यवस्था भी देते हैं। आचार्य जी जब माँ की अन्त्येष्टि के लिये अपने गाँव आते हैं, तो वहाँ के राजा राजशेखर उस समय आचार्य जी से समाज संस्कार निर्देशक निबन्ध लिखने की प्रार्थना करते हैं। उस समय केरल की सामाजिक व्यवस्था और दशा सोचनीय थी, परन्तु ब्राहमणों के प्राधान्य एवं प्रतिष्ठा के कारण राजा उसमें सुधार करने का साहस नहीं कर पा रहे थे। आचार्य उनकी प्रार्थना स्वीकार करके संक्षिप्त धर्म संहिता लिखने की बात मान लेते हैं तथा चौसठ अनुशासन युक्त एक स्मृति ग्रन्थ तैयार कर देते हैं। राजा ने इस ग्रन्थ का नाम "शंकर –स्मृति" रखा। ब्राह्मणों के सम्मुख जब वह ग्रन्थ रखा गया तो सभी ने समवेत स्वर से उसे शास्त्र विरूद्ध बताया परन्तु आचार्य जी ने तर्क द्वारा सभी को सन्तुष्ट किया।

माता की चिता एवं श्राद्ध कर्म आदि आचार्य ने सन्यासी रहते हुये भी स्वयं किया जो कि प्रचलित नियमों के विरूद्ध था। अनेक बाधाओं के बाद भी आचार्य अपने मत एवं कर्म से डिगे नहीं। यही नहीं आचार्य ने प्रचलित कर्मकाण्ड़ों का भी घोर विरोध किया। उन्होंने कहा कि ईश्वर की प्राप्ति ज्ञान से की जा सकती है न कि रूढ़िगत कर्मकाण्डों से जो कि चेतना को कुंठित बना देते हैं।

आचार्य जी जाति भेद को भी नहीं मानते । उन्होंने अपने स्थापित मठों में जन्मगत जाति भेद की सर्वथा उपेक्षा की।[5] जाति व्यवस्था को लेकर आचार्य जी ने गहराई से विचार किया। आपने स्त्रोत में कहा है कि –

न मे मृत्युशंका न मे जाति भेदः पिता नैव मे नैव माता न जन्मः।
न बंधुर्न मित्रं गुरू नैव शिष्यः चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्।।

इतना ही नहीं उन्होंने तो चाण्डाल की भी स्तुति की है। वह सच्चे ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म को जानने वाले के बारे में जो कहते हैं वह भी इसी व्यवस्था की ओर संकेत करता है।

"यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राहमणः।।
गूढधर्माश्रितो विदान अज्ञातचरितं चरेत्।
अन्धवत् जडवच्चापि मूक वच्च महीं चरेत्।।[6]

जाति–पाति छुआ–छूत के सन्दर्भ में और भी कहते हैं – "यथा देहो अहं, पुरूषोअहं ब्राह्मणोअहं शुद्रोअहिमस्मीति, दृढा निश्चयस्तथा नाहं ब्राहमणः, नशूद्र : न पुरूषः, किन्तु असंगः सच्चिदानन्दरूपः प्रकाशरूपः सर्वान्तर्यामी।"[7]

आचार्य शंकर करूणा के अवतार थे। वह व्यक्ति व्यक्ति की मुक्ति चाहते थे। पूर्णता को प्राप्त मनुष्य अपने लिये नहीं दूसरों के लिए जीता है। शंकर संसार के अन्दर रहने को तो कहते हैं किन्तु संसार का बनकर रहने को नहीं। अर्थात् संसार में बिना लिप्त हुये, बिना किसी द्वेष या भेद के जीवनयापन करना। इसी सन्दर्भ में वह कर्म को भी व्याख्यायित करते हैं। वह गीता के निष्काम् कर्म को स्वीकार करते हैं। मोहजनित कर्म ही बंधन का, संघर्ष का कारण है। उनके जीवन में हम सतत् कर्मशीलता ही पाते हैं। मीमासकों का कर्मकाण्ड, तांत्रिकों व कापालिकों की नरबलि व पशुबलि, बौद्धों का आचारहीन आचरण, अंधविश्वास आदि का जिस कर्मठता से आचार्य ने मुकाबला किया तथा तर्कसंगत ढ़ंग से वैदिक काल का वास्तविक अर्थ समझाया, वह अनुपम है। वह जीवनपर्यन्त सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करते रहे तथा सम्पूर्ण समाज एंव राष्ट्र को एकता व कर्मठता का पाठ पढ़ाते रहे।

आचार्य जी सभी धर्माचार्यों को बौद्धिक रूप से परास्त कर वैदिक ज्ञान की गरिमा को प्रस्थापित करते हैं किन्तु उनके मन में सभी के लिए समान आदर है। यहाँ तक कि वह बुद्ध को अवतार की श्रेणी में रखते हैं। आचार्य जी समन्वयवादी चिन्तक थे। निराकार मत के व्याख्याता होते हुये भी वह सगुण उपासना का समर्थन करते हैं। इसीलिये वह तीन सत्ताओं–पारमार्थिक, प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक सत्ता की भी बात करते हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है– पंचायतन पूजा अर्थात् शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य और गणेश पूजा का विधान। उन्हें "षटमत स्थापनाचार्य की उपाधि दी जाती है।[8] एक धर्म प्रचारक के लिये छः विभिन्न मतों का औचित्य सम्पादन करना एक महनीय घटना है। यह हिन्दू धर्म में ही सम्भव है।[9] आचार्य जी संशयवाद तथा हठधार्मिता दोनों से ही उन्मुक्त थे।

राष्ट्रीय अखण्डता एवं एकता की दृष्टि से आचार्य जी ने जो कार्य किये हैं उनसे उनका प्रखर राष्ट्र प्रेम झलकता है। उन्होंने उत्तर, दक्षिण, पूर्व एवं पश्चिम चारों दिशाओं में चार मठों द्वारका, पुरी, श्रृंगेरी एवं जोशी मठों की स्थापना की एवं चार शंकराचार्य को पीठ पर बैठाया। मठाम्नाय ग्रन्थ द्वारा गुरू शिष्यादिकों का कर्त्तव्य–निर्देशक धर्म का आचरण अक्षुण्णतया चलता रहे, इसकी सुव्यवस्था की। वह गिरि, नदी, वन, वृक्ष आदि सभी का इतना सुन्दर एंव काव्यमय तथा श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक वर्णन करते हैं कि सामान्य जनमानस राष्ट्रीय रूपों के प्रति श्रद्धा व पूज्यभाव से भर जाता है।

भारत के अवतारी महापुरूषों में आचार्य शंकर किसी से कम नहीं हैं। हमारे राष्ट्र–जीवन, समाज जीवन की रचना में आचार्य का बहुत बड़ा योगदान है। उन्होंने विशेषतः विधि सम्प्रदायों से, मंतव्यों से तथा सामाजिक, राजनीतिक अव्यवस्था से छिन्न–भिन्न होते हुये भारत को बचाया तथा ब्रह्मवाद के द्वारा एकता की प्रतिष्ठा की। भायां रतः भारतः– जो भा–प्रतिभा– ज्ञान में रत है, आसक्त है, वही भारत है। इस उक्ति के अनुसार आपने वस्तुतः भारत को महान बनाया। जिस प्रकार धर्म एवं दर्शन में उनका स्थान सर्वोच्च है, उसी प्रकार सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, नैतिक, शैक्षिक आदि क्षेत्र में भी उच्च है। उनकी प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी। उनका तर्क सूक्ष्म

एवं तात्त्विक विचार सर्वग्राही था। अपने समकालीन मत भिन्नता तथा विविधता एवं उन्होंने अनेकता को जिस तार्किक एवं आकर्षक ढंग से सुलझाया तथा समस्त राष्ट्र को एकता के मर्म को समझाया, वह अनुपम है।

यह उन्हीं के लिए सम्भव था। आचार्य शंकर के सिद्धान्त और प्रयत्नों के कारण हमारा समाज एवं राष्ट्र रूढ़िवादी, कर्मकाण्ड, कापालिक क्रियाओं एवं नास्तिकतावाद के विनाश से बच सका। इसके लिये राष्ट्र उनका अभारी है। आचार्य शंकर के बारे में डॉ राधाकृष्णन् बहुत ही सुन्दर एवं सटीक व्याख्या करते हैं कि "एक दार्शनिक तथा तार्किक के रूप में सर्वश्रेष्ठ, शान्त, निर्णय तक पहुँचने में तथा व्यापक सहिष्णुता में एक मनुष्य के रूप में महान शंकर ने हमें सत्य से प्रेम करने, तर्क का आदर करने तथा जीवन के प्रयोजन को जानने की शिक्षा दी। बारह शताब्दियाँ व्यतीत हो गईं किन्तु आज भी उनका प्रभाव देखा जा सकता है। उन्होंने अनेकों रूढ़ियों का उनके उग्ररूप में आक्रमण करके नहीं अपितु शान्तिपूर्वक उनसे अधिक युक्ति–युक्त क्रियाओं का सुझाव रखकर विनाश किया। यह विधान अधिकतर धार्मिक था। वे कोई स्वप्नदर्शी आदर्शवादी नहीं थे, वरन् एक कर्मवीर कल्पना बिहारी व्यक्ति थे, दार्शनिक होने के साथ साथ वे एक कर्मवीर पुरूष थे, जिसे विस्तृत अर्थों में एक सामाजिक आदर्शवादी कह सकते हैं। वे व्यक्ति भी जो जीवन के प्रति उनकी सामान्यवृत्ति से सहमत नहीं हैं, उनको अमर महापुरूषों की पंक्ति में स्थान देने के लिये अनिष्ठा प्रकट न करेंगे।[9] आचार्य शंकर ने अपने ग्रन्थों तथा गीता आदि के भाष्यों में मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों के वचनों को प्रमाण स्वरूप उपन्यस्त करते हुये विश्व दृष्टि निवृत्ति पूर्वक सर्वत्र एक ही परमात्मा के अवबोध द्वारा कैवल्य प्राप्ति में परम कल्याण माना है और इसी में मानव जीवन की सफलता पायी है। उन्होंने दिव्य ज्ञान और शान्ति की दिव्य धारणा प्रवाहित की है। विश्व का कल्याण आचार्य के द्वारा निर्दिष्ट विशुद्ध धर्म, ज्ञानमय सदाचार के अनुसरण में ही है। उनके धर्ममय उपदेश सभी के लिये कल्याण–मंगल का पथ प्रशस्त करते आ रहे हैं। आज सभी को उस पथ पर चलने की विशेष आवश्यकता है, तभी सच्ची सुख शान्ति प्राप्त हो सकती है।



सन्दर्भ –

1. *आचार्य शंकर गीता भाष्य–2/31–32–37, गीता भाष्य 4/13, पृ0 112, वही 6/1, 2, 4, 5, 8, 10 पृ. 171–72, वही 6/35 पृ0 190, वही 6/14, 16, 41 पृ0 181 एवं 192, वही, 9/28–32–33, पृ. 241–43 वही 17/14, 3/13, 12/43, 18/5, 6, 18/44, 18/46–46, मनुस्मृति 1/88 4/4–6, 10–81–82*
2. *डॉ. राधाकृष्णन – भारतीय दर्शन, खण्ड–2, पृ. 383 (संस्करण)–1989*
3. *वही पृ. 387 संस्करण–1989*
4. *वही पृ. 384 संस्करण–1989*
5. *वही पृ. 541 संस्करण–1989*
6. *ब्रह्म सूत्र – शविर भाष्य, 3 : 4, 50*
7. *तत्व बोधः, पृ. 28*
8. *शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त, गाणपत्य एवं कापालिक।*
9. *डा. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन खण्ड–2 पृ0 573, संस्करण–1989*
10. *वही पृ. 577 संस्करण–1989*

मदनमोहन मालवीय की अद्वैती धर्म-दृष्टि

देवव्रत चौबे

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय आधुनिक भारत के उन विभूतियों में से एक थे जिनका जीवन सर्वभूत के हित के लिए समर्पित था। वे सनातन धर्म के मूर्तरूप थे। उनका पूरा जीवन धर्म ही था। गीता एवं भागवत का वे जीवन भर पारायण करते रहे। गीता को वे दुनिया का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मानते थे।[1] क्योंकि यह मनुष्य को न्यायपूर्वक जीवन बिताने के लिए प्रेरित करती है। यह केवल अध्यात्म की ही शिक्षा नहीं देती, सांसारिक व्यवहार की भी शिक्षा देती है। महामना के शब्दों में– "जैसे अंधेरे में लालटेन हमें प्रकाश देती है और हमें ठीक मार्ग बताती है, ठीक उसी प्रकार गीता भी हमें कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान कराती है। यह हमें आध्यात्मिक और सांसारिक दोनों का ऊँचे से ऊँचा उपदेश देती है।"[2] संभवतः इसीलिए स्वातंत्र्य आंदोलन के सभी महान नेता गीता से प्रभावित हुए थे। उनमें महामना मालवीय, तिलक और महात्मा गाँधी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मालवीय जी गीता पर प्रवचन देते समय कहते थे कि गीता सामान्य जन के दैनन्दिन जीवन का अनमोल ग्रन्थ है। संकटकाल का यह सबसे बड़ा साथी है। उन्हीं के शब्दों में– "संसार में झगड़े होते हैं, उपद्रव होंगे और होते हैं। ऐसे संसार में, ऐसी स्थिति में जीवन लाभ देने वाला अमूल्य ग्रन्थ गीता ही है। इसमें धर्म और राजनीति का मेल है। पृथ्वी मण्डल पर ऐसी पुस्तक नहीं है, जब आपत्ति हो तब गीता से उत्तर पूछे और अनुकूल उपाय करे।"[3] मालवीय जी की तरह महात्मा गाँधी भी कहते हैं कि– "जब–जब हम मुसीबत में पड़ते हैं तब–तब अपनी मुसीबत दूर करने के लिए गीता की शरण में जाते हैं और उससे आश्वासन लेते हैं।"[4] चूँकि गीता समस्याओं के समाधान का शास्त्र है इसलिए मालवीय जी गीता का प्रचार दुनिया के सभी नगरों एवं गाँवों में करना चाहते हैं। उनकी सोच थी कि ऐसा करने से अन्याय का दमन होगा और लोक का मंगल होगा।

महामना मालवीय जी का कहना है कि सनातन धर्म के सभी धर्म ग्रंथ परमात्मा को एक एवं अद्वितीय मानते हैं।[5] उस एक ही परमात्मा को विद्वान् अनेक नामों से पुकारते हैं।[6] वे कहते हैं कि उसी एक तत्त्व को हम ईश्वर, परमेश्वर, परब्रह्म, नारायण, भगवान्, वासुदेव, शिव, राम, कृष्ण, विष्णु, जिहोवा, गाँड, खुदा, अल्लाह आदि सहस्रों नामों से पुकारते हैं।[7]

उनका ईश्वर सृष्टि के कण–कण में व्याप्त है। कोई भी ऐसा जीवधारी नहीं है जिसमें वह समान रूप से वास न करता हो। वे कहते हैं कि भगवान् स्वयं गीता में कहते हैं कि हे अर्जुन! ईश्वर सभी जीवों के हृदय में विराजमान रहते हैं।[8] वे वेदव्यास के इस मत को स्वीकार करते थे कि ब्रह्म की ज्योति अपने भीतर ही है, अन्यत्र नहीं है, और वह सब जीवधारियों में एक समान है। उनका कहना था कि चूँकि उसका वास समस्त प्राणियों में है इसलिए हमें प्राणिमात्र से प्रीति करनी चाहिए और सभी जीवधारियों को प्रेम की दृष्टि से देखना चाहिए।[9] उन्हीं के शब्दों में– "यदि

दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

आप यह याद रखेंगे कि परमात्मा विद्यमान है और वही सभी जीवधारियों में विद्यमान है तो उस ईश्वर तथा अपने अन्य जीवधारी भाइयों से आपका सच्चा सम्बन्ध सदा बना रहेगा।"[10] वे विवेकानन्द की तरह मनुष्यों की सेवा को ईश्वर की सर्वोतम सेवा मानते थे। उनका कहना था कि जो ईश्वर की दी हुई शक्तियों को प्राणिमात्र की सेवा में नहीं लगाता, वह चोर है।

महामना मानते थे कि सनातन धर्म प्राणिमात्र में समता का भाव सिखाता है इसलिए उसकी दृष्टि में मनुष्यों में छोटा और बड़ा का भेद नहीं है। वे कहते हैं कि इस भाव को भगवान् कृष्ण ने गीता में स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया है– "मैं सभी प्राणियों में एक समान हूँ।"[11] और भी– "पंडित लोग विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण में, गौ–बैल में, कुत्ते में और चाण्डाल में समदर्शी होते हैं।"[12] उनकी धारणा है कि ऐसे लोग सबके सुख–दुःख को एक जैसा समझते हैं। क्योंकि वे समत्व को प्राप्त कर चुके होते हैं। समत्व प्राप्त करने का अर्थ अपने वास्तविक स्वरूप का बोध कर लेना होता है। जब मनुष्य शरीर, इन्द्रिय आदि की विषमता से अपने में विषमता और भेद मानने लगता है तभी अशान्ति, वैमनस्य एवं विग्रह आदि फैलता है। परन्तु जब वह समझ लेता है कि मैं उनसे पृथक् हूँ, तब वास्तविक आत्मस्वरूप जानकर वह सर्वत्र समबुद्धि और प्रेमभावना रखता है। मालवीय जी के शब्दों में– "यह मनुष्य की व्यक्तिगत आत्मा नहीं है, यह उसकी उच्च महान् आत्मा है, यह विश्वात्मा है।"[13] सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा का बोध सभी अनर्थों को मिटा देता है। इसलिए कि "वही हममें और तुममें है– अब हौं कासौं वैर करौं।"[14] यदि वही परमात्मा सब में है तो अशान्ति और संकट का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता।

महामना मालवीय जी की दृष्टि में सनातन धर्म का लक्ष्य समाज में समता लाना है। वे समता को कोरा आदर्श ही नहीं मानते अपितु धरती पर उतारकर उसे लोकोपयोगी बनाते हैं। संभवतः इसीलिए प्रसिद्ध दार्शनिक प्रोफेसर एस0के0 मैत्रा[15] उन्हें व्यावहारिक वेदान्ती कहते हैं।[16] प्रो. मैत्रा के शब्दों में– "उन्होंने (मालवीय जी ने) अपने चरित्र में न केवल व्यावहारिक वेदान्ती के आदर्श को, जिसे गीता में ज्ञान–विज्ञान–तृप्तात्मा कहा गया है, को समाहित किया था बल्कि उन्होंने ज्ञान और विज्ञान के माध्यम से आत्मतुष्टि प्राप्त की थी। इतना ही नहीं, भागवत (11.19.13) में जिस ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, श्रद्धा और भक्ति को जीवन का लक्ष्य बताया गया है उसे उन्होंने अपने जीवन में उतारा था।"[17] मालवीय जी चाहते थे कि प्रत्येक मानव उपर्युक्त आदर्शों से युक्त होकर आध्यात्मिक जीवन जीते हुए देश एवं समाज को समग्र दृष्टि से शक्तिशाली बनाने में योगदान दे। इसीलिए वे विद्यार्थियों से कहते थे– "खूब गड़कर, जमकर मेहनत करो और अपने उच्च और पवित्र आदर्श को कभी मत भूलो। शास्त्र और शस्त्र, बुद्धिबल और बाहुबल दोनों का उपार्जन करो।"[18] उनका कहना था कि इसके लिए तप की आवश्यकता है। तप से केवल शारीरिक बल में ही वृद्धि नहीं होती अपितु मानसिक और आध्यात्मिक बल में भी वृद्धि होती है। वे कहते हैं– "तप से अभ्युदय और निःश्रेयस्, स्वर्ग और मोक्ष, धन और संपत्ति, नाम और यश, बल और पराक्रम, सुख और शान्ति, राज्य और अधिकार सबकी ही प्राप्ति होती है और होगी।"[19]

मालवीय जी गीता के निष्काम कर्म के आदर्श पर विशेष बल देते थे। उनका कहना था कि जो लोग निष्काम भाव से काम नहीं करते उन्हें अपने कार्यों में सफलता नहीं मिलती। वे यह भी कहते थे कि ऐसे लोग आपस में मिलकर किसी कार्य का संपादन भी नहीं कर सकते। "कारण

यह कि एक समझता है कि 'इससे अमुक का हित हो रहा है, मैं इसमें क्यों अपना समय और शक्ति नष्ट करूँ?' ऐसा ही दूसरा समझता है और ऐसा ही तीसरा। परिणाम यह होता है कि उन लोगों में परस्पर ईर्ष्या और द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं और कार्य सफल नहीं होने पाता।''[20] इसलिए वे कहते हैं कि जहाँ निष्काम भाव से काम होता है, वहाँ लोग एक दूसरे की सफलता देखकर प्रसन्न होते हैं और उनमें एक दूसरे के प्रति प्रेम और सहानुभूति का भाव उत्पन्न होता है तथा कार्य में शीघ्र सफलता मिलती है।[21] यह भाव सामाजिक हित का भाव प्रस्तुत करता है। मालवीय जी के शब्दों में ''निःस्वार्थ भाव से जनकल्याण के निमित्त किया कार्य ही निष्काम कर्म कहलाता है।''[22] वे कहते हैं कि सकाम भाव से जो कर्म करते हैं वे विपत्ति आने पर काम से विमुख हो जाते हैं। लेकिन निष्काम भाव से काम करने वाले लोग लाख विपत्ति आने पर अपने–अपने कार्यों से विमुख नहीं होते क्योंकि वे उसे ईश्वर का काम मानते हैं। उन्हें यह विश्वास है कि चूँकि यह ईश्वर का कार्य है इसलिए विघ्न बाधाएँ उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकतीं। वे विवेकानन्द की तरह निष्काम सेवा को ईश्वर की आराधना मानते थे। उनकी दृष्टि में निष्काम कर्म जीवनोत्कर्ष और लोककल्याण का प्रमुख साधन है।[23]

महामना मालवीय जी को महाभारत का यह कथन बहुत ही व्यावहारिक लगता था कि जो कार्य अपने लिए अहितकर हो, उसे दूसरे के लिए न करें।[24] उनका मानना था कि इसके प्रतिपादन से देश की उन तमाम समस्याओं का समाधान हो सकता है जो देश को कमजोर करने में लगी हैं। वे कहते थे कि हमारा लक्ष्य ऐसा होना चाहिए जिससे अपनी भी उन्नति हो और दूसरों का भी कल्याण हो। किसी का अमंगल न हो। इसीलिए उन्हें निम्न प्रार्थना बहुत ही प्रिय लगती थी –

सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।

मालवीय जी ईश्वर को मनुष्य के स्तर पर नहीं उतारना चाहते हैं, बल्कि मनुष्य में ही ईश्वरत्व पैदा करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि– ''मनुष्यत्व का विकास ही ईश्वरत्व और ईश्वर है। मनुष्य का मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक जीवन केवल ईश्वरत्व से ही विकास प्राप्त करता है और उसी में लीन होता है।''[25] वे हमारा ध्यान एक ऐसे तथ्य की ओर खींचते हैं जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं कि यदि कोई मनुष्य को विचार करने से रोकता है, उसे स्वतंत्र विचार प्रकट करने में बाधा डालता है, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक मामलों में उसके योगदान की अवहेलना करता है तो इसका तात्पर्य यह है कि वह उसकी हत्या करता है। वह उसमें ईश्वरत्व का प्रादुर्भाव नहीं होने देना चाहता है। उनका मानना है कि यदि कोई व्यक्ति सामाजिक और राजनैतिक उन्नति में योग दे रहा है, दूसरे के लाभ के लिए अपने लाभ का परित्याग कर रहा है तथा परोपकार एवं देश के हित के कार्यों में संलग्न है तो इसका तात्पर्य है कि वह मनुष्य ईश्वर से उसके ईश्वरत्व में हिस्सा बँटा रहा है।[26] लेकिन मालवीय जी कहते हैं कि पराधीन देश में ऐसा होना संभव नहीं है। क्योंकि पराधीन देश में ऐसे कार्यों को राजद्रोह की श्रेणी में रखा जाता है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य में सर्वहितैषिता और सम्पूर्ण सत्यता का पनपना संभव नहीं हो पाता है। उसका ह्रास हो जाता है। वह अपने साथ–साथ ईश्वर को भी खो देता है। इसलिए मालवीय जी पराधीनता से मुक्ति दिलाकर देश को स्वतंत्र करना चाहते हैं।

महामना स्वतंत्रता के लिए आत्मा में विवेक का होना आवश्यक मानते हैं। जैसे ही उसमें विवेक उत्पन्न होता है वैसे ही स्थिति की भिन्नता का ज्ञान उसमें उत्पन्न हो जाता है। उन्हीं के शब्दों में– "उसमें आत्मिक बल उत्पन्न होता है और उसमें एक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है जिसे अध्यक्षता कहते हैं। वेदान्त के मतानुसार स्वतन्त्रता का तात्पर्य इसी को प्राप्त करना या स्थिति और परिसर को विवेक द्वारा जानकर और भिन्न समझकर उसका शासन करना है। इसमें यह ध्वनि है कि उसमें आधिपत्य की शक्ति–अध्यक्षता– जागृत हो जाती है, जिससे वह कहता है– 'यह ऐसा ही होगा, यह नहीं होगा', 'इस पर अधिकार हमारा होगा' इत्यादि। जो सिद्धान्त व्यक्तिगत जीवन के लिए उपयुक्त है, वह राष्ट्रीय जीवन के लिए भी उपयुक्त है।[27] स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रीय आत्मा या जीवन में विवेक होना आवश्यक है। उनका कहना है कि जब राष्ट्र में विवेक एवं अध्यक्षता करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, तभी वह स्वतंत्र होता है। सारे मनुष्यों और जातियों का कर्तव्य इसी स्वतन्त्रता को प्राप्त करना है। उनकी धारणा है कि सनातन धर्म में वर्णित आत्म–सिद्धान्त को जन–जन तक नहीं पहुँच पाना ही परतंत्रता का कारण है।

महामना के अनुसार आत्मा स्वयमेव न कमजोर है, न मजबूत, न वह हिन्दू है, न मुसलमान। क्योंकि इन सबसे भेद प्रगट होता है। आत्मा नाशवान् भी नहीं है क्योंकि जो नाशवान् होता है वह सांसारिक होता है। "आत्मा आन्तरिक है, वह बदलती नहीं, उसका नाश नहीं होता; वह हत्या नहीं करती, न कोई उसकी हत्या कर सकता है।"[28] अपने इस मत के समर्थन में वे गीता के श्लोकों को उद्धृत करते हैं।[29] उनका कहना है कि इस संसार में आत्मा ही ऐसी है जो न बदलती है, न सुखी होती है, न दुःखी होती है। वह सब प्रकार के बंधनों से रहित है। वह हर प्रकार से स्वतन्त्र है। उसका जब शरीर से सम्पर्क होता है तब उसमें गुण–अवगुण दीखने लगते हैं यद्यपि उसमें गुण–अवगुण कुछ भी नहीं है। वह आईने की तरह स्वच्छ है। मालवीय जी के शब्दों में– "किसी के यह प्रश्न करने पर कि जब आत्मा अनादि है, अनन्त है, सच्चिदानन्द है, स्वतन्त्र है– तब फिर क्या कारण है कि मनुष्य को पूरा ज्ञान नहीं रहता, वह दुःख भोगता है, बन्धनों से वह जकड़ा जा रहा है, परतन्त्र रहता है? वह उत्तर देता है कि "सत्यमेव तुम स्वतंत्र हो, तुम्हारी आत्मा अनादि, अनन्त और सच्चिदानन्द स्वरूप है, परन्तु तुम्हें पूरा ज्ञान नहीं है, इससे तुम दुःखी हो। तुम बन्धनों से जकड़े हो, इसका एकमात्र कारण यही है कि तुम अपने को भूल गए हो और तुम अपने को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते। तुम आत्मा और शरीर को एक समझते हो, तुम्हें सत् और असत् का ज्ञान नहीं है।...... यदि तुम अपने को अपने शरीर, स्थिति से अलग कर सको, तभी और उसी समय तुम्हें अपना पूरा ज्ञान होगा और उसी समय तुम अपने को स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, अनादि और अनन्त समझ सकोगे। उस समय तुम्हें पूर्ण ज्ञान हो जाएगा। तुम्हारा सब पर अधिकार हो जाएगा और तुम यह समझ सकोगे कि सब कुछ तुम्हारे भीतर है, तुम पर निर्भर है, और तुम्हीं, जो चाहो, कर सकते हो।"[30] हमारी अन्तर्यामी आत्मा स्वरूपतः स्वाधीन है और वही हममें मुक्ति की इच्छा जागृत करती है। महामना का कहना है कि यदि हम ही बन्धन में रहेंगे तो हमारा देश स्वतंत्र कैसे होगा? पराधीनता से बढ़कर हानिकारक वस्तु संसार में दूसरी नहीं है।[31] इसलिए हमें बंधन से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील होना पड़ेगा। स्वामी विवेकानन्द भी कहते थे कि "अपनी आत्मा का अपने उद्योग से उद्धार करो।"

महामना मालवीय जी कहते थे कि जो व्यक्तिगत आत्मा के लिए ठीक है, वही जनसमुदाय की और राष्ट्रीय आत्मा के लिए भी ठीक है। वे कहते थे कि हमें हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि जीव शरीर से श्रेष्ठ अवश्य है किन्तु हमें एक को हीन समझ कर दूसरे को ही केवल महत्व नहीं देना चाहिए। उनके अनुसार "यदि शरीर पर हमारा अधिकार नहीं है, तो धीरे–धीरे आत्मा पर से भी हमारा अधिकार जाता रहेगा; क्योंकि आध्यात्मिक उन्नति के लिए शरीर का सब प्रकार से पुष्ट रहना पहली और सबसे जरूरी आवश्यकता है।"[32] वे शरीर को परमात्मा का मन्दिर भी मानते हैं। इसलिए भी उसे पवित्र एवं पुष्ट रखना आवश्यक समझते हैं। सत्य और ब्रह्मचर्य दोनों को इसका रक्षक मानते हैं। उनका मानना है कि असत्य व्यवहार ईश्वर को अच्छा नहीं लगता क्योंकि उन्हें सत्य से बहुत ही लगाव है। इसलिए स्वप्न में भी असत्य से बचना चाहिए। वे सत्य को सबसे बड़ा धर्म भी मानते हैं। यही धर्म शरीर रूपी मन्दिर को अपवित्र होने से बचाता है। उनकी दृष्टि में शरीर की रक्षा ब्रह्मचर्य से भी होती है। क्योंकि उसमें अपार शक्ति है। "ब्रह्मचर्य ही हमें वह आत्मबल देता है जिसके द्वारा हम इस संसार में सब कष्टों और बाधाओं का साहस के साथ सामना कर सकते हैं।"

मालवीय जी का कहना है कि जो ईश्वर हमारा जन्मदाता, पालनकर्ता एवं रक्षक है उसके प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिए। नियमित रूप से उसकी आराधना तथा हमेशा उसका स्मरण वे प्रत्येक मानव का पुनीत कर्त्तव्य समझते थे। वे भक्तिमार्ग को सबसे सरल और उत्तम मानते थे। उनका कहना था कि हमारे दीन और अन्त्यज भाइयों के उद्धार का यही सर्वोत्तम मार्ग है। वे कहते हैं कि भगवान् कृष्ण ने गीता में स्वयं कहा है कि दुराचारी भी मुझे अनन्य भाव से भजता है तो वह मेरे लिए साधु ही है। क्योंकि अनन्य भक्ति दुराचार को शांत कर देती है। कृष्ण अर्जुन से पुनः कहते हैं कि तुम सबको यह बतलाओ कि मेरे भक्त का भला ही होता है, बुरा नहीं होता।[33] श्रद्धावान् मत्परायण भक्त मुझको अत्यन्त प्रिय हैं।[34] महामना कहते हैं कि जैसे माता अपनी संतान की देखरेख करती है वैसे ही परमात्मा अपने भक्त की रक्षा करते हैं।

महामना मालवीय जी के अनुसार भक्ति–साधन के अनेक मार्ग हैं किन्तु वे उन मार्गों में से दो को सामान्य जन के लिए विशेष उपयोगी मानते हैं– प्रथम कीर्त्तन अथवा नामस्मरण एवं द्वितीय भगवान् की मूर्ति का दर्शन। उनका कहना है कि नाम का स्मरण सामान्य से सामान्य प्राणी के लिए सहज है किन्तु उसका फल बहुत बड़ा होता है। नाम के स्मरण से मनुष्य की बुद्धि ईश्वर की ओर उन्मुख होती है। उनके गुणों के स्मरण से मनुष्य के दोष और पाप छूट जाते हैं। मन पवित्र तथा प्रकाशमान हो जाता है।[35] वे कहते हैं कि भीष्म ने भगवान् के नाम–स्मरण को ही सबसे बड़ा धर्म और तप बतलाया है। इसके उच्चारण मात्र से मनुष्य संपूर्ण दुःखों से मुक्त हो जाता है। भक्तिपूर्वक मन्दिर में देवदर्शन करने से भी लोकसुख के साथ–साथ पारलौकिक सुख की भी प्राप्ति होती है। उनका कहना है कि मन्दिर में देवदर्शन के अधिकारी सभी वर्ण के लोग हैं। वे कहते हैं कि पद्मपुराण में आया है कि मन्दिर में जो मूर्ति है, उसका दर्शन करने वाले को सब पृथ्वी का फल मिल जाता है।[36] वे अन्य और शास्त्रों से भी अपने मत के समर्थन में उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

महामना कहते हैं कि भगवद्स्वरूप में 'सोऽहमस्मि' का भाव देखना चाहिए। जब यह भाव आ जाता है तब उनका दर्शन हो जाता है। मन उज्ज्वल हो जाता है। आत्म–अन्धकार और अपवित्रता दूर हो जाती है। उसका वास्तविक ज्ञान हो जाने से यह मालूम हो जाता है कि वही तो हम हैं। हम भी उसी परमात्मा की ज्योति हैं। ऐसा होने पर हम भी आनन्द स्वरूप हो जाते हैं।[37]

शिवपूजन सहाय जी ने अपने एक लेख[37] में यह बतलाया है कि गीताप्रवचन में महामना विशेषतः ईश्वरभक्ति, ईश्वरप्रार्थना और ईश्वरोपासना पर ही जोर देते थे। उनका कहना था कि भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करते हुए भी भजन सुमिरन होना चाहिए। वे भक्ति और भजन के बहाने मौलिक कर्मों से विमुख होना उचित नहीं मानते थे। वे कहते थे कि सच्ची निष्ठा के साथ किया गया कोई भी कर्म आज तक भगवान् से अपुरस्कृत नहीं रहा। वे कहते थे कि सनातन धर्म का यही संदेश है कि मानव जीवन की सार्थकता इसी में है कि जो कुछ भी करो, भगवान् को समर्पित करते चलो। महामना की आखिरी आकांक्षा यही थी :

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम्।।



संदर्भ –

1. *सनातनधर्म, साप्ताहिक मुखपत्र, वर्ष–3, अंक–21, पृ. 15, 15 दिसम्बर, 1935*
2. *सीताराम चतुर्वेदी : महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय, द्वितीय खण्ड, पृ. 6, काशी, संवत् 1993*
3. *महामना श्री पण्डित मदनमोहन जी मालवीय के लेख और भाषण : (भाग–1 धार्मिक), (संकलनकर्ता) वासुदेवशरण, पृ. 168, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1962*
4. *महात्मा गाँधी : गीता माता, प्रास्ताविक, यरवदा जेल, 11.11.1930, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, 2010*
5. *सनातन धर्म साप्ताहिक, वर्ष–2, अंक–1, 17 जुलाई, 1934 ई0*
6. *ऋग्वेद 1 : 164 : 46*
7. *कल्याण : (ईश्वरांक) लेख– जगत् में सबसे उत्तम और अवश्य जानने योग्य कौन है? ईश्वर–लेखक महामना पं0 मदनमोहन जी मालवीय, पृ. 35, वर्ष–7, अंक–1–2, गोरखपुर, सम्वत् 2056*
8. *गीता : 18 : 61*
9. *कल्याण : (ईश्वरांक), पृ. 38*
10. *सीताराम चतुर्वेदी : महामना पंडित मदनमोहन मालवीय, द्वितीय खण्ड, पृ. 66*
11. *गीता : 9 : 29*
12. *वही, 5 : 18*
13. *मालवीय जी के लेख : (संपादक, पं. पद्मकान्त मालवीय), पृ. 205, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1962*
14. *महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय, द्वितीय खण्ड, पृ. 12*
15. *पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय*
16. *होमेज टू मालवीय जी : (संपादक) वी.ए. सुन्दरम्, लेख : प्रो. एस.के. मैत्रा : मालवीय जी– ट्रू डिसेन्डट ऑफ आर्य ऋषि, पृ. 29, बनारस, 1949*
17. *वही, पृ. 29*

18. महामना पंडित मदनमोहन मालवीय, द्वितीय खण्ड, पृ. 15
19. मालवीय जी के लेख, पृ. 187
20. अभ्युदय, 26 मार्च, 1909
21. वही
22. महामना मालवीय जी के सदुपदेश : (संकलनकर्ता) प्रो. मुकुट बिहारी लाल, पृ. 4, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
23. वही, पृ. 4–5
24. आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।
25. अभ्युदय, 19 मई, 1912
26. वही
27. वही, 23 मई, 1912
28. वही, 2 जून 1912
29. गीता : 2 : 19, 20, 23
30. अभ्युदय, 2 जून 1912
31. वही, 19 मई, 1912
32. वही, 2 जून, 1912
33. सनातन धर्म, वर्ष–1, अंक–1, भक्ति की महिमा, गीता 9 : 30–31
34. वही, गीता : 12 : 20
35. वही, भक्ति की महिमा
36. रावलपिण्डी की सनातनधर्म कान्फ्रेंस का भाषण, सनातन धर्म, वर्ष–1, अंक–43
37. सनातन धर्म, वर्ष–3, अंक–21
38. नागरी प्रचारिणी पत्रिका : (संपादक मण्डल) डॉ. सम्पूर्णानन्द आदि, पृ. 548–549, वर्ष 66, संवत् 2018, काशी नागरी प्रचारिणी सभा

श्री अरविन्द की सामाजिक विकास की अवधारणा

उमेशचन्द्र दुबे

श्री अरविन्द ने 'ह्यूमन साइकिल' नामक अपनी कृति में सामाजिक विकास का अत्यन्त सजीव एवं सुस्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार मानव समाज कुछ विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं से होता हुआ प्रगति करता है, जिन्हें उन्होंने क्रमशः प्रतीकात्मक, आदर्श–प्रधान, परम्परा प्रधान, व्यक्ति प्रधान तथा अनुभवप्रधान नाम दिये हैं। यह एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक क्रम है जिसमें से प्रत्येक राष्ट्र और संस्कृति को गुजरना होता है। यह सम्भव है, कि इस प्रकार के वर्गीकरण समाज को कठोर नियम की शृंखला में जकड़ देने की गलती कर सकते हैं तथा प्रकृति के घुमाव–फिराव वाले टेढ़े–मेढ़े मार्गों के स्थान पर एक सीधे, मानसिक मार्ग की स्थापना कर सकते हैं। मनुष्य तथा उसके सामाजिक संगठन का मनोविज्ञान अत्यन्त जटिल है। यह परस्पर मिश्रित तथा बहुमुखी प्रवृत्तियों का इतना विकट समन्वय है कि सन्तोषप्रद रीति से कोई भी ऐसा नियमबद्ध तथा कठोर विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। तथापि श्री अरविन्द के अनुसार ये अवधारणाएँ पर्याप्त अर्थसूचक हैं और यदि हम उनके आन्तरिक भाव तथा मूल्य की परीक्षा करें तो वे परदे के पीछे छिपे हुए ऐतिहासिक विकास के रहस्य पर कुछ प्रकाश अवश्य ही डालेंगी और यही वह दिशा है जिस पर उनका अनुसन्धान आधृत है।

श्री अरविन्द के अनुसार कोई भी मानव समाज अपनी आद्यावस्था में चाहे वह सभ्य हो अथवा असभ्य, आर्थिक दृष्टि से समुन्नत हो अथवा पिछड़ा हुआ– वहाँ हमें एक ऐसी प्रतीकात्मक मनोवृत्ति दृष्टिगोचर होती है जो उसके विचार तथा उसकी प्रथाओं और संस्थाओं पर शासन करती है। यह सामाजिक अवस्था सदा धार्मिक होती है तथा धर्म के विषय में सक्रिय रूप से कल्पनाशील होती है। यह प्रतीकवाद सामाजिक विकास की प्राथमिक अवस्था में केन्द्रीय स्थान पर होता है। मनुष्य प्रत्येक घटना के पीछे इसकी उपस्थिति अनुभव करता है। उसके जीवन के सभी क्षण तथा अवस्थाएँ प्रतीकों से भरी होती हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि ये प्रतीक किस वस्तु के होते हैं? ये प्रतीक किसी ऐसी वस्तु के होते हैं जिसे मनुष्य अपने पीछे, अपने जीवन तथा अपनी गतिविधियों की पृष्ठभूमि में विद्यमान अनुभव करता है जैसे भगवान, देवता इत्यादि। मनुष्य की सभी धार्मिक और सामाजिक संस्थाएँ उसके लिए प्रतीक हैं। इस अवस्था में मनुष्य को उसकी गतिविधि का निर्णय तथा नियन्त्रण करने वाले अथवा इनमें हस्तक्षेप करने वाले जो गुह्य प्रभाव हैं उनके विषय में वह जो कुछ जानता है अथवा अनुमान करता है, उस सबको वह प्रतीकों के द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न करता है।

पुरुष और स्त्री के आपसी सम्बन्ध के विषय में भारतीय आदर्श सदा ही पुरुष तथा प्रकृति के सम्बन्ध के प्रतीक द्वारा अधिशासित रहा है। पुरुष और प्रकृति जगत् में पुल्लिंगी तथा स्त्रीलिंगी भागवत तत्त्व हैं। प्रारम्भिक वैदिक युग की प्रतीकात्मक संस्कृति में स्त्री और पुरुष की स्थिति एक प्रकार की समानता की थी, यद्यपि पुरुष को कुछ आधिपत्य भी प्राप्त था परन्तु उस समय स्त्री

दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

जितना पुरुष का अंग थी उतनी ही सहचरी भी थी। उसके पश्चात् प्रकृति को पुरुष के अधीन समझा जाने लगा। तब स्त्री भी पुरुष पर निर्भर हो गयी और उसका जीवन केवल पुरुष के लिए ही हो गया तथा उसका पृथक् आध्यात्मिक अस्तित्व भी नहीं के बराबर हो गया। तान्त्रिक शाक्त धर्म में स्त्री को उच्चतम स्थान प्रदान किया गया। वस्तुतः श्री अरविन्द के अनुसार यह एक ऐसे प्रयास का सूत्रपात था जो समाज में कभी चरितार्थ नहीं हो सका, ठीक वैसे ही जैसे तान्त्रिक संस्कृति वेदान्ती विचारधारा के व्यापक सामाजिक प्रभाव को कभी उतार कर नहीं फेंक सकी।

इसी प्रकार वैदिक चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को लिया जा सकता है, क्योंकि यह उदाहरण हमारे उद्देश्य को स्फुट रूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ है। आज हम उन चार वर्णों को भ्रमवशात् या परम्परागत संस्कारवशात् जाति के रूप में स्वीकार करने लग गये हैं। किन्तु जाति परम्परागत वस्तु है और वर्ण एक प्रतीकात्मक तथा आदर्श प्रधान संस्था है। वेद के पुरुषसूक्त में जहाँ चतुर्वर्ण का वर्णन है वहाँ वे चारो विभाग स्रष्टा देव के शरीर से– उसके सिर, बाहुओं, जंघाओं तथा पाँवों से प्रकट हुए बताये गये हैं। आज हम इसे कवि की कोरी कल्पना समझते हैं और इसका भाव यह लिया जाता है कि ब्राह्मण ज्ञानी होता था, क्षत्रिय शक्ति सम्पन्न, वैश्य उपज करने वाला एवं समाज को आर्थिक अवलम्ब देने वाला तथा शूद्र समाज की सेवा करने वाला होता था। किन्तु यह भाव पूर्वजों की मनोवृत्ति में अपनी मनोवृत्ति का प्रतिबिम्ब देखने की प्रवृत्ति का ही परिणाम है। क्योंकि हमारे लिए कविता बुद्धि तथा भावना का विलास मात्र है जो हमारे आमोद–प्रमोद की वस्तु है। किन्तु प्राचीन लोगों के लिए कवि द्रष्टा होता था जो अन्तर्निहित गूढ़ तत्त्वों का उद्घाटन करने में सक्षम था (ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः)। उन पूर्वजों के लिए स्रष्टा के शरीर का प्रतीक किसी भी उपमा की अपेक्षा अधिक अर्थपूर्ण था, वह एक दिव्य सत्य को प्रकट करता था। उनके विचार में मानव समाज उस विराट पुरुष को जीवन में अभिव्यक्त करने का एक प्रयत्न था जो अपने आपको अन्य प्रकार से भौतिक तथा अतिभौतिक विश्व के रूप में अभिव्यक्त किये हुए है। मनुष्य तथा विश्व दोनों एक ही अदृश्य सत्य के प्रतीक तथा अभिव्यंजन हैं।

सामाजिक विकास क्रम की यह अवस्था मुख्य रूप से धार्मिक तथा आध्यात्मिक होती है। मनोवैज्ञानिक, नैतिक, आर्थिक तथा भौतिक तत्त्व भी वहाँ रहते हैं परन्तु धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारों की अपेक्षा इनका स्थान गौण है।

सामाजिक विकास की दूसरी अवस्था आदर्श प्रधान है जो मुख्यतया मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक है। धार्मिक तथा आध्यात्मिक तत्त्व भी मनोवैज्ञानिक विचार तथा नैतिक आदर्श के अधीन होते हैं। इस अवस्था में धर्म की स्थिति गौण हो जाती है, वह अधिकाधिक पारलौकिक स्वरूप ग्रहण करने लगता है। मनुष्य अपने जीवन और विश्व में भागवत सत्ता की सीधी अभिव्यक्ति के भाव को प्रधानतया अब अनुभव नहीं करता और शनैःशनैः यह भाव अभ्यास क्षेत्र से विलुप्त होकर जीवन सिद्धान्तों से भी बाहर निकल जाता है।

यह अवस्था कुछ बड़े सामाजिक आदर्शों की सृष्टि करती है जिनका प्रभाव इस अवस्था से पार हो जाने पर भी मानव मन पर बना रहता है। यह अवस्था अपनी समाप्ति के बाद सामाजिक मान–मर्यादा का भाव पीछे छोड़ जाती है। ब्राह्मण की मानमर्यादा पवित्रता में, मन तथा आत्मा सम्बन्धी बातों के लिए आदर में, एवं ज्ञान की निष्काम प्राप्ति में तथा इनकी खोज में लगे रहने

में निहित है। क्षत्रिय की मान–मर्यादा साहस, वीरता, शक्ति, स्वाभिमानपूर्ण आत्मसंयम, आत्मप्रभुत्व, आचार की उच्चता तथा उस उच्चता को बनाये रखने के लिए उसके कर्त्तव्य में रहती है। वैश्य की मान–मर्यादा शुद्ध और खरे व्यवहार, व्यापार विषयक सहायता, उत्पादन, व्यवस्था तथा परोपकार पर निर्भर करती है। शूद्र की मान–मर्यादा आज्ञापालन, अधीनता, सेवा तथा अपने को समर्पण करने पर निर्भर करती है। परन्तु धीरे–धीरे इन विचारधाराओं में से इन भावों की जीवन्त जड़ उखड़ने लगती है अर्थात् मनुष्य के आन्तरिक जीवन में से इनका स्वाभाविक प्रवाह परिरुद्ध होने लगता है। ये उच्चभाव परम्पराओं का रूप धारण कर लेते हैं, यद्यपि ये परम्पराएँ उच्चकोटि की होती हैं। इस प्रकार अन्ततः ये भाव जीवन की यथार्थता की अपेक्षा विचार तथा शब्द की परम्परा बन जाते हैं।

यह आदर्श प्रधान अवस्था परम्परा की अवस्था में तिरोहित हो जाती है। इस अवस्था की उत्पत्ति तब होती है जब बाह्य उपकरण आन्तरिक तत्त्व से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं, अर्थात् जब शरीर अथवा वस्त्र व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं अथवा बाह्य उपकरण जो आत्मा एवं आदर्श की बाह्य अभिव्यक्ति के साधन हैं, जब आदर्श से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेते हैं तब मानव समाज में परम्परा प्रधान भूमिका का श्रीगणेश होता है। वस्तुतः जाति–पाँति के विकास में चतुर्वर्ण के बाह्य भौतिक अवलम्बों यथा– जन्म, आर्थिक कर्म, धार्मिक कर्मकाण्ड, पवित्र संस्कार और पारिवारिक रीति–नीति में से प्रत्येक को योजना में आवश्यकता से अधिक अतिरंजित स्वरूप प्राप्त होने लगता है। वस्तुतः प्रारम्भ में सामाजिक व्यवस्था में जन्म को प्रधान पद प्राप्त नहीं था अपितु गुण तथा योग्यता का ही महत्त्व था। परन्तु बाद में धीरे–धीरे, जैसे–जैसे उस प्रतिरूप को स्थायित्व प्राप्त होता गया वैसे–वैसे शिक्षा और परम्परा के द्वारा उसकी रक्षा भी आवश्यक होती गयी तथा शिक्षा और परम्परा स्वाभाविक रूप से आनुवांशिक श्रेणियों को स्थायित्व प्रदान करती गयी। इस योजना के अन्तर्गत ब्राह्मण–पुत्र परम्परा या ब्राह्मण समझा जाने लगा। जब परम्परा सर्वाधिक दृढ़ तथा विशुद्ध अवस्था में थी तब जन्म तथा कर्म दोनों संयुक्त होकर आनुवंशिक परम्परा के द्विविध बन्धन थे। परन्तु एक बार परम्परा के इस कठोर रूप में स्थापित हो जाने के पश्चात् नैतिक भूमिका को बनाये रखना अब गौण हो गया। यद्यपि विचारक का आग्रह अभी भी इस पर था, परन्तु समाज के क्रियाचार या वास्तविक विधान में इसका कोई महत्त्व नहीं था।

इस प्रकार परम्परा युग की प्रवृत्ति सामाजिक मर्यादाओं को स्थिर तथा सुव्यवस्थित करने की होती है। इसमें वंश परम्पराओं की रुढ़ पद्धतियाँ जड़ पकड़ लेती हैं, धर्म को रुढ़ स्वरूप प्राप्त हो जाता है और सामाजिक क्रियाचार परम्परा या रुढ़िवादिता की जकड़ में मजबूती से आबद्ध हो जाते हैं।

इस परम्परावादी युग का एक आकर्षक पक्ष भी है जहाँ वह परवर्ती युगों के लिए सीमित ही सही किन्तु प्रेरणा देने वाले भावों से युक्त होता है। "जब आने वाली सन्ततियाँ दूर से इस युग पर दृष्टि डालती हैं तब अपनी यथार्थ सुव्यवस्था, सुन्दर तथा सूक्ष्म सामाजिक रचना और एक व्यापक तथा उच्च कोटि की आयोजना में इसके अंगों की सराहनीय अधीनता के कारण यह स्वर्ण युग उन्हें प्रायः बड़ा सुन्दर तथा आकर्षक प्रतीत होता है।"[1] परन्तु वास्तविकता तो यह है कि इस

युग में उस सत्य की जिसे हम पाने के लिए यत्न करते हैं न तो अनुभूति ही कर पाते हैं और न उसकी सिद्धि ही क्योंकि इस युग में भी सत्य के किसी क्षुद्रांश को ही विस्तारित किया जाता है अथवा उसके बाह्य रूप की कोई कलापूर्ण नकल बना दी जाती है। इस प्रकार जो वास्तविक सत्य होता है वह जड़ रूप धारण करने लगता है और वह सत्य नियम, व्यवस्था और परम्परा के कठोर समुदाय में विलीन हो जाता है। इसका कारण यह है कि इस अवस्था में सदा बहिरंग आकृति का ही प्रभुत्व होता है जबकि आत्मा पीछे रहती है और क्षीण हो जाती है। धर्म के इतिहास में इस तथ्य को स्पष्टतया परिलक्षित किया जा सकता है। जहाँ सन्तों अथवा धार्मिक सुधारकों की प्रेरणा कितनी ही प्रबल तथा शक्तिशाली क्यों न रही हो, कालान्तर में उनके यत्नों का वास्तविक प्रभाव बिखरने और कम होने लगता है और शनैः–शनैः खोखला हो जाता है। धर्मों का साम्प्रदायिक स्वरूप इसका स्पष्ट उदाहरण है। ऐसी स्थिति में एक ऐसा समय आता है जब सत्य तथा परम्परा के बीच की खाई असह्य हो जाती है और बौद्धिक शक्ति–सम्पन्न व्यक्तियों का उदय होता है।

जब परम्पराएँ दूषित एवं असफल हो जाती हैं, अपने वास्तविक अर्थ और भाव से शून्य हो जाती हैं, सम्पूर्ण क्रियात्मक सार्थकता खोकर केवल रुढ़ विचार और रीति–रिवाज के बल पर केवल यान्त्रिक सत्ता ही रखती हैं, तब जड़ीभूत परिपाटियों के शासन के विरोधस्वरूप मानव समाज के व्यक्तिप्रधान युग का उदय होता है। इस युग में बौद्धिक शक्ति सम्पन्न व्यक्ति तर्कणा शक्ति के आश्रय से परम्पराओं को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करते हैं तथा बुद्धि और हार्दिक भावनाओं के सहयोग से उस सत्य की खोज करते हैं जिसे समाज खो चुका होता है। इसे हम सुधारवादी युग का अथवा तर्कयुग का, विद्रोह के युग का, प्रगति तथा स्वतन्त्रता के युग का सूत्रपात कह सकते हैं। व्यक्तिवाद विश्वास और व्यवहार की परम्पराओं के पीछे वास्तविक सत्य की किसी दृढ़ आधारशिला को खोज निकालने का एक प्रयत्न होता है। इसमें व्यक्ति की भूमिका आविष्कारक की हो जाती है जो अपनी बुद्धि, अन्तर्ज्ञान, आदर्शवाद, आकांक्षा तथा अपने अन्दर के किसी भी अन्य प्रकाश की सहायता से जगत् तथा स्वयं अपनी सत्ता का सच्चा विधान खोज निकालना चाहता है। इस प्रकार वह धर्म, समाज, नीति, राजनैतिक संस्थाओं आदि को परम्परा की जकड़ से पृथक् जीवन्त रूप में ढालने का प्रयास करता है।

इस व्यक्तिप्रधान युग का जन्म यूरोप में हुआ और वहीं इसका पूर्ण साम्राज्य भी स्थापित हुआ। यूरोप ने व्यक्तिप्रधान युग में जिन सत्यों की उपलब्धि की वे जीवन के केवल आरम्भिक, सतही, भौतिक तथा बहिरंग विषयों से सम्बन्धित हैं। यूरोप में व्यक्तिप्रधान युग का प्रारम्भ बुद्धि के विद्रोह से हुआ और परिणति भौतिक विज्ञान की विजयपूर्ण प्रगति में।

पूर्व ने अपने जागृति काल में यह अनुभव किया कि वह ऐसे देव के सामने खड़ा है जो अपनी सारी शक्ति और सामर्थ्य खो चुका है, व्यक्ति यह अनुभव करता है कि जिस धर्म को उसपर लादा जा रहा है वह किसी आध्यात्मिक सत्य के जीवन्त भाव पर आधृत नहीं है अपितु उसका आधार किसी प्राचीन पुस्तक का लेख, किसी धर्मगुरु का उपदेश, धर्मसम्प्रदाय की परम्परा, धर्मोपदेशकों की परिषदें, मठ, मन्दिरों के महन्त एवं सब प्रकार के विशेषाधिकारी हैं, जो खोज, परीक्षण, अनुसन्धान की आवश्यकता, शंका आदि से परे केवल निर्णय और व्यवस्था देते हैं। इस

युग में व्यक्ति अधिकार के प्रत्येक दावे पर कठोर अन्वेषण की दृष्टि डालता है। इस प्रकार वह तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था के मूल पर ही प्रहार करता है, क्योंकि यह सब व्यवस्था किसी ऐसे सजीव सत्य के आधार पर स्थापित नहीं होती जो उसके घोषित सत्य का सफलतापूर्वक सामना कर सके।

किन्तु सत्य के किसी सार्वभौम स्रोत के बिना व्यक्तिगत प्रकाश या मान्यता के अनियन्त्रित उपयोग से समाज की विचारधारा में उतार–चढ़ाव तथा अव्यवस्था की सम्भावना रहती है। व्यक्तिगत अधिकारों, स्वार्थों तथा कामनाओं की पूर्ति के कठोर आग्रह के परिणामस्वरूप समाज में तीव्र विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है। इसलिए मानव जाति के व्यक्तिप्रधान युग के लिए दो परम आवश्यक बातों की खोज अनिवार्य है। इसे सत्य का एक ऐसा व्यापक आदर्श ढूँढ़ निकालना चाहिए जिसे सबकी व्यक्तिगत बुद्धि बिना किसी दबाव के–आन्तरिक प्रेरणावश स्वीकार कर ले। साथ ही सामाजिक व्यवस्था के किसी ऐसे सिद्धान्त पर पहुँचना होगा जिसकी स्थापना पदार्थों के ऐसे सत्य के आधार पर हो जो सर्वमान्य हो सके, जो व्यक्तिगत स्वार्थ और कामनाओं को नियन्त्रित कर सके और इसका स्वाभाविक परिणाम होता है, समाज की एक नवीन व्यवस्था। वस्तुतः "वह एक कठोर आर्थिक अथवा शासनात्मक समाजवाद के द्वारा समाज की एक नवीन व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति को उसके अपने हित में तथा मानवता के हित में उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से पुनरपि वंचित कर दिया जायेगा और जन्म से लेकर वृद्धत्वपर्यन्त हर पद पर तथा हर बात में उसका समस्त जीवन तथा कर्म उसके लिए राज्य के सुव्यवस्थित यन्त्र के द्वारा निर्धारित हुआ करेगा।"[2] इस अवस्था में समाज में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होगा। ब्राह्मण शास्त्रकार का स्थान विज्ञानवेत्ता तथा आर्थिक विशेषज्ञ ले लेगा। राजा के स्थान पर नियम द्वारा परिचालित शक्तिप्राप्त समुदायवादी राज्य स्थापित होगा। शक्ति, अधिकारों तथा कर्त्तव्यों से सम्पन्न वर्गों की व्यवस्था के स्थान पर शिक्षा तथा अवसर की आधारभूत समानता स्थापित होगी। सबके लिए कर्त्तव्य विशेषज्ञों द्वारा निर्धारित किये जायेंगे। विवाह, सन्तानोत्पत्ति तथा बच्चे की शिक्षा जो अब तक शास्त्र द्वारा निर्धारित होते थे, वे अब वैज्ञानिक राज्य के द्वारा निर्धारित होंगे। सामूहिक शासन के अधिकारियों के तत्त्वावधान में राज्य के लिए कार्य करना होगा और अन्त में मुक्ति का समय आयेगा जो विश्राम के लिए, आनन्द के लिए तथा व्यक्तिगत उन्नति के लिए होगा जो आर्यों के वानप्रस्थ तथा सन्यासाश्रम का काम देगा।

परन्तु श्री अरविन्द यह संकेत करते हैं कि तर्कप्रधान भौतिक विज्ञान अपनी सीमाओं का उल्लंघन कर चुका है और शीघ्र ही आन्तरात्मिक ज्ञान इसे अभिभूत कर लेगा। यह ज्ञान मानव सत्ता के विषय में एक नवीन दृष्टिकोण तथा नूतन क्षितिज का उद्घाटन करेगा। श्री अरविन्द के अनुसार यूरोप के व्यक्तिप्रधान युग ने भविष्य की दो विचारधाराओं को स्थायी बना दिया है। इनमें से पहला है– समाज के सदस्यों के रूप में व्यक्तियों के अधिकार की जनतन्त्रात्मक धारणा जिसके अनुसार अब यह निश्चित रूप से स्वीकार किया जाता है कि सामाजिक विकास तथा समृद्धि समाज के सभी व्यक्तियों से सम्बद्ध है न कि ये कुछ वर्गों तक ही सीमित है। परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरा गम्भीर सत्य जिसे व्यक्तिवाद ने उद्घाटित किया है कि– व्यक्ति एक सामाजिक इकाई ही नहीं है, अपितु वह अपने–आप में भी कुछ है जिसे अपना व्यक्तिगत सत्य संसिद्ध करना है।

इस प्रकार श्री अरविन्द की यह स्थापना है कि ब्राह्य भौतिक जगत् का ज्ञान ही सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है। मनुष्य भौतिक एवं प्राणमय सत्ता के साथ ही साथ मनोमय सत्ता भी है अपितु इनकी अपेक्षा वह मनोमय अधिक है। यद्यपि मनुष्य की चेतन सत्ता उसकी भौतिक सत्ता और बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होती है परन्तु अन्तरंगतया उनके द्वारा निर्धारित नहीं होती अपितु इनके प्रति सतत् प्रतिक्रिया करती रहती है और गुह्य रूप से उनकी क्रियाओं को निर्धारित करती है। श्री अरविन्द का वक्तव्य है कि, "इसलिए उसे पदार्थों के सत्य को और उस सत्य के सम्बन्ध से अपनी सत्ता के विधान को खोज निकालने के लिए अधिक गहरे जाना होगा और अपने तथा पदार्थों के आभ्यन्तरिक रहस्य एवं उनके बाह्य रूपों और परिस्थितियों की थाह लेनी होगी।"[3]

कुछ समय तक मनुष्य इस कार्य को आलोचनात्मक विश्लेषणात्मक तर्क के आधार पर करने का प्रयत्न करता है। परन्तु अपने तथा जगत् के अध्ययन की प्रक्रिया में वह अपनी आत्मा एवं जगत् की आत्मा के सम्पर्क में आये बिना रह नहीं सकता और उसे यह अनुभव होता है कि वह सत्ता इतनी गहन एवं गुह्य रहस्यों से युक्त है कि उसके सम्मुख उसका आलोचनात्मक तर्क अत्यन्त अपर्याप्त तथा स्खलनशील जिज्ञासु है जो वस्तुओं के बाह्य रूपों का ही विश्लेषण करता है और इस प्रकार वह गम्भीर ज्ञान की आवश्यकता को अनुभव करता है जो उसे अपने अन्दर की नवीन शक्तियों की खोज में प्रवृत्त कर देता है। इस अवस्था में वह आत्म–चेतना से सम्पन्न हो जाता है। वह समझने लगता है कि आत्म–आलोचक बनकर नहीं अपितु आत्म–सचेतन होकर, अपनी आत्मा में निवास करते हुए उसके साथ सचेतन समस्वरता स्थापित करके ही अपने आपको पूर्णतः समझा सकता है। इस प्रक्रिया में तार्किक बुद्धि अन्तःअनुभूतिजन्य ज्ञान एवं गम्भीर आत्मबोध के आदर्श का अनुगमन करने लगती है। फलतः उपयोगितावादी आदर्श का स्थान आत्मचेतना एवं आत्मानुभूति ले लेती है। इस प्रकार व्यक्तिवाद की युक्तिवादी और उपयोगितावादी अवस्था से समाज के अनुभववादी युग की ओर संक्रमण होता है।

व्यक्ति तथा संसार के सन्दर्भ में सत्य के विधान को खोज निकालने का प्रयास व्यक्ति प्रधान युग का मानव जाति के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान है। किन्तु अब व्यक्ति से विश्व की ओर आना होगा और अपनी सत्ता के विधान तथा सत्य के अप्रतिहत अन्वेषण के लिए सार्वभौम सिद्धान्त को खोज निकालना होगा जिसके साथ व्यक्तिगत एवं विश्वसनीय सत्ता का सामंजस्य (उस परमतत्त्व की समस्वरता में) संसिद्ध किया जा सके। वस्तुतः श्री अरविन्द व्यक्ति तथा विश्व को परमसत् की एक विशेष अवस्था मानते हैं। उनके अनुसार विश्वसत्ता सदा व्यक्तिगत सत्ता को अपने अन्तर्गत रखती है और विश्व के जीवन–विधान के द्वारा ही मनुष्य के जीवन–विधान का नियन्त्रण होता है। विश्व और व्यक्ति सर्वदा एक दूसरे से सम्बद्ध हैं एवं अपने व्यावहारिक सम्बन्धों में एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। परन्तु व्यक्ति भी अन्ततः अर्थात् विज्ञानमयी चेतना से सम्पन्न होने पर विश्व को अपनी चेतना के अन्तर्गत करता है और व्यक्ति जो विश्व को अपनी चेतना के अन्तर्गत करता है, ऐसा उसकी पूर्ण और विशाल आत्म–चेतना की प्राप्ति के द्वारा सम्भव होता है। एतदर्थ हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि व्यक्ति सदा ही विश्व को अपने अन्तर्गत करता था। केवल उसकी उत्तलीय चेतना ही अज्ञानवश एवं अहंकार में आत्मसीमित होने के कारण उस अन्तर्गतता

को ग्रहण करने में असमर्थ है। परन्तु जब हम विश्व और व्यक्ति की पारस्परिक अन्तर्गतता की चर्चा करते हैं अर्थात् जब हम यह कहते हैं कि विश्व मेरे भीतर है एवं मैं विश्व में हूँ, तो वस्तुतः मुक्तावस्था में भी यही आत्मानुभूति होती है – एवं ऐसी स्थिति में हम स्पष्टतः सामान्य बुद्धि से परे पहुँच जाते हैं। इस प्रकार यह पारस्परिक अन्तर्गतत्व आध्यात्मिक है। श्री अरविन्द का वक्तव्य है कि "विश्व और व्यक्ति उस विश्वातीत परमात्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं जो कि अविभक्त है, यद्यपि विभक्त या वितरित जैसा प्रतीत होता है; परन्तु यथार्थ में वह विभक्त या वितरित नहीं है अपितु अविभक्त रूप से ही सर्वत्र विद्यमान है। इसलिए सर्व प्रत्येक में है और प्रत्येक सर्व में है और ईश्वर सर्व में है और सर्व ईश्वर में है। जिस समय मुक्त आत्मा इस विश्वातीत परमात्मा के साथ युक्त होता है तो उसे अपने और विश्व के विषय में यही आत्मानुभव होता है।"[4] इस प्रकार व्यक्ति एवं विश्व परमतत्त्व की ही अवस्थायें हैं और यह विश्व निरर्थक एवं निरुद्देश्य भ्रम नहीं है अपितु इसका कुछ न कुछ अर्थ और लक्ष्य अवश्य है। श्री अरविन्द के अनुसार वह अर्थ विश्वातीत, ज्योतिर्मय, परमार्थतत्त्व को क्रमशः अधिकाधिक प्रकाशित करना है। उनका वक्तव्य है कि "व्यक्ति (जीव) और वैश्व (विश्व) का विश्वातीत सच्चिदानन्द के उस दिव्य ज्योति, दिव्य शक्ति, दिव्य आनन्द को अपने में उन्मीलित करना जो कि उनसे ऊपर सदा अभिव्यक्त है, उनके प्रतीयमान रूपों के पीछे सदा गुप्त रूप से विद्यमान है, यही दिव्य क्रीड़ा का, लीला का गूढ़ अभिप्राय है, चरम सार्थक्य है।" .... जीव (व्यक्ति) के भीतर ब्रह्म के उन्मीलन की सम्भावना इस ज्ञान–अज्ञानमय विश्व की पहेली का गुप्त रहस्य है; ब्रह्म की जीव और जगत् के भीतर उपस्थिति और वहाँ अपने आपको उन्मीलित करने का उसका यह अभिप्राय इस विश्व पहेली की कुंजी है।"[5] तात्पर्य यह है कि व्यक्ति एवं विश्व दोनों ही विश्वातीत परमार्थतत्त्व की ही अवस्थायें हैं एवं इनका लक्ष्य विश्वातीत सच्चिदानन्द को अपने में उन्मीलित करना है। वस्तुतः जगत् सम्बन्धी इस नवीन दृष्टि तथा ज्ञान से ही व्यक्ति को अपनी सत्ता, शक्ति, सामर्थ्य और अपनी वैयक्तिक एवं सामाजिक भवितव्यता के पथ तथा उसके लक्ष्य के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। श्री अरविन्द का वक्तव्य है कि यदि "मानव जाति के अनुभव प्रधान युग को सर्वोत्तम फल उत्पन्न करने हैं तो यह आवश्यक है कि राष्ट्र न केवल अपनी आत्मा के विषय में सचेतन हो, अपितु एक–दूसरे की आत्मा के विषय में भी सचेतन हो; उन्हें न केवल आर्थिक एवं बौद्धिक रूप में ही, अपितु अनुभवात्मक तथा आध्यात्मिक रूप में भी एक दूसरे का सम्मान करना, परस्पर सहायता करना एवं लाभ उठाना सीखना चाहिए।"[6] सच तो यह है कि "प्राणमय एवं भौतिक मानसिकता के परदे के पीछे आन्तरात्मिक सत्ता के साथ घनिष्ठतर सम्पर्क स्थापित करने के इस यत्न से और आत्मा की शक्यताओं पर बढ़ती हुई निर्भरता से हम इस अन्तिम आविष्कार पर पहुँच जायेंगे कि मनुष्य आन्तरिक रूप में एक आत्मा है एवं भगवान की एक सचेतन शक्ति है, और यदि आत्मा अपनी सत्ता के गुप्त सत्य एवं गम्भीरतम विधान को उपलब्ध करना तथा उसके अनुसार जीवन चलाना चाहती है तो अन्दर के इस वास्तविक मानव का बाहर की ओर आह्वान शिक्षा का तथा वस्तुतः समस्त मानव जीवन का सच्चा उद्देश्य होना चाहिए। यही वह ज्ञान था जिसे पुराने लोगों ने धार्मिक तथा सामाजिक प्रतीकवाद के द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया था और उस विस्मृत ज्ञान की ओर लौटने का मार्ग है अनुभववाद।"[7]

अनुभववाद प्रत्येक वस्तु को एक विकासशील आत्मचेतना की दृष्टि से देखता है। उसके अनुसार परमसत्ता सबके अन्दर एक ही है और वही व्यष्टि और समष्टि में अभिव्यक्त हो रहा है। दूसरों के साथ अपनी एकता को स्वीकार तथा अनुभव करके ही हम अपनी सच्ची आत्मसत्ता की पूर्ण रूप से परिपूर्ति कर सकते हैं। इस प्रकार अनुभववाद का आधार उस आत्मतत्त्व में है जो विभिन्नताओं में भी एक है और जो संघर्ष और प्रभुत्व को आधार न मानकर समानता के आधार पर प्रत्येक की भलाई का समन्वय शेष संसार की भलाई के साथ करता है। "अनुभववाद की समस्त प्रेरणा आत्मा तक पहुँचने की, आत्मा में रहने की, आत्मा द्वारा देखने की, आन्तर और बाह्य रूप में, पर सदा आन्तरिक प्रेरणा तथा केन्द्र से, आत्मा के सत्य को जीवन में क्रियान्वित करने की होती है।"[8] इस अवस्था में वस्तुतः "मनुष्य की आन्तरिक अनुभूति को गम्भीर बनाकर और सम्भवतः मानव जाति में अन्तर्दृष्टि एवं आत्मज्ञान की अभूतपूर्व परिमाण में पुनः स्थापना करके अन्त में उसकी सामाजिक एवं सामूहिक आत्माभिव्यक्ति में क्रान्ति उत्पन्न करना ही इसकी परिणति होगी।"[9]

वस्तुतः यदि हम श्री अरविन्द की सामाजिक विकास एवं परिवर्तन की अवधारणा को उनके विकासवादी सिद्धान्त के आलोक में देखें तो समाज के अनुभववादी अवस्था की अभिव्यक्ति एक अनिवार्य तार्किक परिणति होगी। अतिमानसिक चेतना एवं विज्ञानमय प्राणियों के समाज का अविर्भाव तात्त्विक रूप से श्री अरविन्द के अन्तर्लयन एवं विकास की अवधारणाओं पर आधृत है। परमसत् तथा उसका अन्तर्लयन एवं पुनः विकास की प्रक्रिया में उसकी चेतना की अधिकाधिक अभिव्यक्ति– ये अवधारणायें श्री अरविन्द–दर्शन की पूर्वमान्यतायें हैं एवं इन मान्यताओं की स्वीकृति का तात्पर्य होगा सबमें अपने को एवं अपने में सबको देखने वाली विज्ञानमयी अन्तर्दृष्टि के आविर्भाव की तार्किक अपरिहार्यता–जहाँ व्यक्ति, विश्व और विश्वातीत उसके सामंजस्य की समस्वरता में आबद्ध होंगे।



सन्दर्भ –

1. *श्री अरविन्द, मानव चक्र (अनूदित–लीला इन्द्रसेन), पृ. 10*
2. *वही, पृ. 20–21*
3. *वही, पृ. 29*
4. *दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, प्रथम खण्ड, पृ. 93 (केशवदेव आचार्य द्वारा अनूदित)*
5. *वही, पृ. 114*
6. *मानव–चक्र, पृ. 42*
7. *वही, पृ. 34*
8. *वही, पृ. 64*
9. *वही, पृ. 34*

राधाकृष्णन का वेदान्तीय मानववाद

राजेश कुमार तिवारी

जगत् विभिन्न प्राणियों का समुदाय है। इन्हीं प्रणियों में से एक प्राणी मानव या मनुष्य भी है। मानव इस जगत् का सबसे महत्त्वपूर्ण प्राणी है। दूसरे शब्दों में कह सकते है कि जगत् या संसार का अस्तित्व ही मानव, जीवन के उद्देश्यों पर निर्भर करता है। किसी भी संस्कृति में विकसित दर्शन का स्वरूप इस बात पर आधारित होता है कि मानव की प्रकृति क्या है? एवं उसका स्वरूप कैसा है? मानव केवल हाड़–माँस का पुँज मात्र है या इसमें कोई ऐसा आध्यात्मिक तत्त्व भी है जो सांसारिक एवं उपयोगी वस्तुओं की अपेक्षा शाश्वत मूल्य एवं सत्य को अधिक ऊँचा स्थान प्रदान करता है? भारतीय दर्शन में मानव की अवधारणा को विशेष स्थान दिया गया है। सभी आस्तिक दार्शनिक सम्प्रदायों में मानव चिन्तन प्रमुख प्रश्न के रूप में उपस्थित रहा है। नास्तिक सम्प्रदाय भी मानव के वाह्य स्वरूप पर अपना ध्यान केन्द्रित किये हुए है। वस्तुतः मानव वह केन्द्रीय विचार धारा है जिसके बगैर जगत्, धर्म, नैतिकता, आत्मा, ब्रह्म आदि के विषय में चर्चा करना निरर्थक सा प्रतीत होता है। उक्त लेख भारतीय दर्शन के वेदान्ती परिप्रेक्ष्य में डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार मानव के स्वरूप की जिज्ञासा के विषय में प्रस्तुत है।

मानव एक विवेक शील प्राणी है। जिसकी मौलिकता विचार के कारण ही है और वह इसी विचार के कारण संसार के अन्य प्राणियों में सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित है। यह निर्विवाद सत्य है कि भारत की सर्वोच्च प्रतिभा का उपयोग दार्शनिक अनुशीलन में हुआ है। भारत के परिप्रेक्ष्य में दार्शनिकों का मन्तव्य हमेशा से ही जगत् के आध्यात्मिक पक्ष की तरफ रहा है। यही मन्तव्य दार्शनिक विधा अर्थात् विचार को जन्म देता है। यह विचार मानव में ही विद्यमान है जिसके माध्यम से ही मानव ने अपने जीवन के उद्देश्य एवं कर्त्तव्य पथ का निर्धारण किया है। हमें आध्यात्मिक चिन्तन की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति वेद, उपनिषद, पुराण, स्मृति एवं ब्राह्मण ग्रन्थों आदि में प्राप्त है जिनसें हम जीवन सत्य के मूल्यों की तलाश आसानी से कर सकते है। मानव या मनुष्य एक तत्त्वयुक्त अवधारणा है। यह मात्र भौतिक तत्त्वों से बना शरीर नहीं है। यह कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों का समूह मात्र भी नहीं है। मनुष्य के सत् की यथार्थता उसकी आत्मचेतना में निहित है। यही चेतना ज्ञान का मूल निर्धारक है। भारत के दार्शनिक विचारधारा में मनुष्य के गौरव को महिमामण्डित कर उसे दिव्य रूप देने की प्रवृत्ति अत्यन्त ही प्रभावी रही है। वेदों में इसकी महिमा की संरक्षा में ईश्वर तक के लिए 'पुरूष' सम्बोधन का प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण मानता है कि परमसत का रहस्य मानव में ही निहित है। अतः वह संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है।

वस्तुतः अन्यान्य पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय दर्शन को वर्तमान समय में मानव की समस्याओं का निराकरण करने में असमर्थ बताते हुए इसकी आलोचना की और कहा कि– भारतीय दर्शन समसाययिक चिन्तन धारा से बहुत दूर है। इन लोगों की दृष्टि में वर्तमान दार्शनिक समस्याओं के परीक्षण के लिए भारतीय दर्शनों का परिप्रेक्ष्य नितान्त अनुपयुक्त है। मानववाद की

दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ.प्र.)

भी समस्या एक ऐसी ही समस्या है जो वर्तमान वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक आधार चाहती है जहाँ व्यक्ति और मानव के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास हो सके। यह भारतीय दर्शन की कोई भी परम्परा नहीं दे पाती है, परन्तु भारतीय दर्शन की आलोचना करने वाले विद्वानों का यह भ्रम है। न्यूटन के दो–तीन शताब्दी पूर्व ही भाष्कराचार्य ने चलन–कलन पद्धति प्रतिपादित किया था, जिसका विकास न्यूटन और लाइबनित्ज ने पश्चिमी गणित को विकसित करने में किया। भारतीय विचारधारा की आयुर्वेदिक औषधि में इतना बल था कि बड़े–बड़े पशुओं का रोग निवारण हो जाता था। इसलिये ऐसा कहना कि भारतीय दार्शनिक विचारधारा में आधुनिक एवं वैज्ञानिक समस्याओं का निदान नहीं है, भ्रामक है एवं उचित आधार रहित है। मूलतः मानववादी अवधारणा में मानव के सन्दर्भ का भी यथार्थ ज्ञान भारतीय परम्परा में ही हो सकता है क्योंकि पश्चिमी या विदेशी परम्परा तो मानव को मात्र व्यक्ति स्वीकार करती है, हांड़–मांस का बना हुआ ढांचा मात्र स्वीकार करती है, जिसमें संवेदनाओं का स्थान अत्यन्त ही गौण है। संवेदना तात्कालिक है, उपजती है और विनष्ट हो जाती है। पुनः नयी जो भौतिक जीवन के प्रयोग हेतु संवेदनाएं उत्पन्न होती हैं और पुनः विनष्ट हो जाती हैं। इस मानववादी विचारधारा का पूर्ण एवं संस्कारमय निदान तो वस्तुतः भारतीय दर्शन में ही निहित है। इस परिप्रेक्ष्य में वेदान्त दर्शन में मानव को जगत् की व्यावहारिक सत्ता का प्रधान स्वीकार किया गया है। मानव पर ही समस्त ज्ञान अधिष्ठानित है। मानव के वाह्य एवं आन्तरिक स्वरूप की चर्चा भी वेदान्त दर्शन में की गयी है। डॉ. राधाकृष्णन भी वेदान्त की परम्परा में विश्वास करने वाले विचारक है। राधाकृष्णन आधुनिक समय में हो रहे सांस्कृतिक परिवर्तनों के फलस्वरूप मानव के स्वरूप का सन्दर्भ वेदान्त दर्शन से ही लेते हैं। उनका मानना है कि मानव की समस्त समस्याओं का समाधान भारतीय दर्शन की अद्वैत वेदान्त की विचारधारा में निहित है। मानव मात्र हांड़–मांस का बना हुआ भौतिक पिण्ड नहीं है जो कि जन्म लेता है, विकसित होता है और मृत्यु को प्राप्त कर लेता है। मानव में भावात्मक पक्ष का प्रबल समायोजन है जिसमें वह संस्कारों एवं संवेदनाओं तथा मानव कल्याणकारी जगत् के विचार से आबद्ध रहता है। जिस प्रकार समस्त जगत् का मूल आधार ब्रह्म है उसी प्रकार ससीम पक्ष के रूप में जगत् का महत्त्वपूर्ण कारण मानव है। वेदान्त दर्शन में सत्य को परा विद्या कहा गया है, जिसमें आत्मा का एकत्व तथा उसकी यथार्थ सत्ता है। आत्म का एकत्व तथा उसकी यथार्थ सत्ता का वर्णन हम व्यावहारिक रूप से नहीं कर सकते इसके लिए हमें सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता पड़ती है। व्यावहारिक सत्य को अपरा विद्या कहा जाता है। अपरा विद्या से परा विद्या की तरफ उन्मुख होकर हम सम्पूर्ण जगत् तथा मानव का यथार्थ अध्ययन कर सकते है। वस्तुतः "व्यावहारिक सत्य अथवा अपरा विद्या सर्वथा असत्य नहीं है। यह वह सत्य है जो सांसारिक चैतन्य के दृष्टिकोण से देखा जाता है।"[1]

इसी आध्यात्मिक (परा) एवं व्यावहारिक (अपरा) स्वरूप के सन्दर्भ में मानव की अवधारणा कल्पित है। वेदान्त दर्शन की ही भाँति डा. राधाकृष्णन ने मानव के दो पक्षों की कल्पना की है। प्रथम पराविद्या के पक्ष को उन्होंने असीम तथा द्वितीय अपरा विद्या के पक्ष को समीम की संज्ञा से अभिहित किया है। वास्तव में तत्त्व विचार द्वारा जिस सत्य का आकलन होता है उसे आत्मभावना में पूर्णतः प्रतिष्ठित कर जीवन में कार्यान्वित करना मानव के अनुध्यान से ही सम्भव है।

"ध्यातव्य हो कि विश्व के यथार्थ वास्तविकता का जो भी ज्ञान–मानव सैद्धान्तिक या व्यावहारिक जड़–चेतन, सत्य–असत्य, द्रव्य–गुण आदि कोटियों को सामान्य मानव अपनाता है वे सब उसकी आत्मभावना से ही प्रसूत होती है इसलिए यह मानने में किसी भी विचारक को आपत्ति नही होनी चाहिए कि आत्म सम्प्रत्यय विश्व के वैविध्य को एकसूत्र में बांधने वाला तत्त्व है।"[2]

वस्तुतः अद्वैत वेदान्त में मानव की अवधारणा को प्रमुख बताते हुए उसे सत्य की खोज का आकांक्षी स्वीकार किया गया है, जिसके लिए उसके व्यावहारिक स्वरूप के चित्रण को आवश्यक माना गया है। उसकी भौतिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं को भी सत्य स्वीकार किया गया है। कह सकते हैं कि डा. राधाकृष्णन ने भी शंकराचार्य के दर्शन में तीन प्रकार की अस्तित्वमय सत्ताओं को स्वीकार किया है – 1. पारमार्थिक सत्ता 2. व्यावहारिक सत्ता तथा 3. प्रातिभासिक सत्ता।

"प्रथम श्रेणी की सत्ता में ब्रह्म को स्वीकार किया है जो कि मानव का वह रूप है जो अद्वय, अनिर्वचनीय, निर्विकार, निर्विशेष, निराकार एवं असीम है। द्वितीय श्रेणी में देशकाल एवं कारण कार्य से बद्ध संसार को स्वीकार किया है। तीसरी प्रकार की सत्ता में कल्पनात्मक पदार्थों को स्वीकार किया है जो कि भ्रम उत्पन्न करते हैं जैसे सीप मे चांदी का आभास।"[3] भ्रमात्मक सत्ता में सार्वभौमिकता नहीं रहती। यह किसी–किसी अवसर पर उत्पन्न होती है। इस सत्ता में किसी भी प्रकार की क्रियात्मक क्षमता भी उत्पन्न नहीं होती। इसके अधिष्ठान के प्रत्यक्ष का ज्ञान हो जाने पर यह नष्ट हो जाती है। शंकराचार्य ने व्यावहारिक जगत् को भ्रान्तिरूप नहीं माना है क्योंकि इसका निर्माण भी आनुभविक अहंभाव के विचारों से ही होता है। देश में अवस्थित वाह्य जगत का अस्तित्व आनुभविक आत्मा तथा इसके विचारों से स्वतन्त्र है। व्यावहारिक जगत् में उच्चतम कोटि का सत्य विद्यमान होता है। यह आत्माओं का जगत् कहा जाता है, किन्तु यथार्थ में इसका मूल एकमात्र ब्रह्म है।"[4] यहाँ हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आनुभविक आत्मा तथा व्यावहारिक जगत् दोनों ही यथार्थता की एक ही कोटि में हैं।

उपरोक्त मानव सम्बन्धी विचार धारा के ही परिप्रेक्ष्य में डा0 राधाकृष्णन ने भी अपने विचार प्रस्तुत किये है। ध्यातब्य है कि राधाकृष्णन भी वेदान्त दर्शन के आधार पर ही अपनी दार्शनिक दृष्टि प्रस्तुत की है। मानव को 'आत्म' से जोड़ते हुए उसे आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया है। राधाकृ ष्णन ने मानव को केवल, आध्यात्मिक या केवल भौतिक मात्र ही नहीं माना है। उन्होंन कहा है कि– "आध्यात्मिकता पर बल देने का यह अर्थ नहीं कि मानव की भौतिक, जैविक एवं मानसिक वृत्तियों की सर्वथा उपेक्षा हो जाय।"[5] मानव के अस्तित्वमूलक बिधाओं को स्वीकार करते हुए राधाकृष्णन की मान्यता है कि– सामान्यतः मानव मनोवैज्ञानिक एवं भौतिक मानव होता है, जिसके जीवन में सहज प्रवृत्तियों, इच्छाएं, प्रयोजन आदि का अधिक महत्त्व रहता है। यदि मानव सम्बन्धी विचार इनकी ओर ध्यान नहीं देता तो वह विचार वास्तविकता से हटा हुआ प्रतीत होता है। मानव एक विचित्र मिश्रण है– भौतिक तथा अभौतिक तत्त्वों का, स्वार्थमूलकता तथा आत्मोत्सर्गता की प्रवृतियों का, स्वार्थ और सार्वभौम प्रेम का। अन्यान्य भारतीय विचारकों ने मानव के भौतिक, जैविक, पक्ष को असत् कहकर उसकी उपेक्षा की है, किन्तु डॉ. राधाकृष्णन ने अपनी अलग दृष्टि रखते हुए कहा है कि– मानव अन्ततः आत्मरूप ही है, आध्यात्मिकता उसका स्वरूप है, किन्तु उसका भौतिक पक्ष अवास्तविक नहीं है। मानव के भौतिक पक्ष की अपनी सत्ता है।

राधाकृष्णन का मानववादी यह विचार शंकराचार्य के उस विचार से मेल खाता है जहां शंकराचार्य ने कहा था कि जगत् व्यावहारिक रूप से सत है, ब्रह्म पारमार्थिक रूप से सत् है तथा जगत् एवं ब्रह्म एक ही हैं। इसी प्रकार डा0 राधाकृष्णन ने मानव के आध्यात्मिक एवं भौतिक पक्षों को एक साथ सत्य माना है, जिसमें कोई तार्किक असंगति नहीं है। राधाकृष्णन ने मनुष्य या मानव के अस्तित्व को देकार्त की चिन्तन विधि से निगमित किया है। जिस प्रकार देकार्त ''आत्मा के अस्तित्व'' को सिद्ध करने के लिए **"I think therefore I exist"** का सहारा लेता है उसी प्रकार डॉ. राधाकृष्णन ने भी कहा है कि ''मनुष्य सोचता है'' इसलिए उसका अस्तित्व है। विदित हो कि डॉ. राधाकृष्णन की मानव सम्बन्धी अवधारणा एक सजीव अवधारणा है जिसमें मनुष्य कर्म के आदर्शों का पालन करता है और अपने वाह्य स्वरूप अर्थात् भौतिक स्वरूप का उपयोग करता है तथा दूसरे इस कर्म के लिए प्रेरक आत्मा (विचार) को भी उपेक्षित नहीं करता क्योंकि बिना उसकी प्रेरणा के किसी भी प्रकार का कर्म सम्भव नहीं होगा। उसी के माध्यम से कर्म करने की शक्ति प्राप्त होती है। आन्तरिक स्वारूप वाह्य स्वरूप को निर्देशित करता है उसकी उपेक्षा नहीं करता। यह आन्तरिक पक्ष आध्यात्मिक चिन्तन पक्ष है। द्रष्टव्य है कि भारतीय बेदान्ती चिन्तन परम्परा में आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति आरम्भ से ही अटूट आस्था भाव प्रभावी रहा है और इसी आस्था को संरक्षित करने के प्रयास में यहाँ के विचारकों ने ऐसे जीवन दर्शन की स्थापना की है जो मानव को महान बनाता है उसे मर्यादा प्रदान करता है एवं उसका सभी रूपों में हित चिन्तन करता है। इस चिन्तन परम्परा के उद्देश्य की अभिव्यक्ति में कहा जा सकता है कि लौकिक जीवन में शान्ति, सामंजस्य एवं सुव्यवस्था प्राप्त करना भी मनुष्य का लक्ष्य बन जाता है। बाह्य शान्ति एवं आन्तरिक शान्ति दोनों की आवश्यकता पड़ती है और मनुष्य दोनों प्राप्त करना चाहता है। आन्तरिक शान्ति प्राप्त हो, कहीं पर अन्तर्विरोध दिखलायी न पड़े, आर्थिक एवं राजनैतिक सुरक्षा बनी रहे यही आदर्श मानव जीवन को एक विशिष्ट मानवतावादी रूप प्रदान करता है और वह रूप आध्यात्मिक मानववाद है।

डॉ. राधाकृष्णन ने मानव के दो पक्षों को स्वीकार किया है। पहला जैविक या भौतिक पक्ष है जो सांसारिक पक्ष कहा जाता है जिसमें मानव जगत् की वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयास करता है। दूसरा पक्ष आन्तरिक पक्ष या अध्यात्मिक पक्ष है जिसमें मानव आन्तरिक शान्ति या आत्म–रूप हो जाता है। क्रोध, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि पर विजय प्राप्त कर लेता है। यही आत्मा के साथ मिलन की स्थिति होती है। यही सत् रूप होता है। राधाकृष्णन ने मानव के दोनों पक्षों को शरीर और आत्मा के नाम से अभिहित नहीं किया है क्योंकि ऐसा कहने से यह धारणा बनती है कि आत्मा में वैसे ही गुण विद्यमान है जो शरीर में सर्वथा अनुपस्थित है। राधाकृष्णन ने मानव के दोनों पक्षों को निम्नलिखित प्रकार से विभाजित किया है – 1. मानव–आत्म का ससीम पक्ष और 2. मानव आत्म का असीम पक्ष।

ससीम पक्ष में अधिकतर प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो शारीरिक हैं। इसे ससीम इसलिए कहा जाता है क्योंकि ज्ञात तत्त्वों के आधार पर इनका निर्धारण–प्रतिरूपण सम्भव है। जैसे मानव के उस कर्म–पक्ष का अवलोकन करें, जिनका निर्धारण जीवविज्ञान, मनोविज्ञान तथा शरीरिक विज्ञान में किया जाता हैं इन पक्षों की प्राकृतिक व्याख्याएं सम्भव है। राधाकृष्णन की मान्यता है कि यह

पक्ष हमेशा वातावरण स्थित मानव के स्वरूप को स्पष्ट करता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि इस पक्ष में जो भी लक्षण प्रकाश में आते हैं वे सभी इस मान्यता पर आधारित हैं कि मानव सदैव एक वातावरण में ही अस्तित्ववान है। वातावरण के विभिन्न उद्दीपनों के फलस्वरूप ही वह क्रियाएं करता है। उसका व्यवहार तथा उसका व्यक्तित्व इन्हीं क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं पर निर्भर करता है। राधाकृष्णन इस रूप के मानव को विभिन्न नाम देते हैं जैसे– भौतिक मानव, मनोवैज्ञानिक मानव, शारीरिक मानव, प्राकृतिक मानव, आनुभविक मानव इत्यादि। मानव स्वरूप का यह पक्ष निर्विवाद नहीं है। यह मानव की वाह्य यथार्थता का ही चित्रण मात्र है। पश्चिम और पूर्व के अनेक विद्वानों ने इस प्रकार के मानवरूपी मान्यता का उन्मूलन किया है और कहा है कि मानव स्वरूप का यह पक्ष स्वीकार्य नहीं है क्योंकि यह क्षणिक और नष्ट होने वाला है। यह भौतिक आत्मतत्त्व भ्रम–रूप और भ्रामक है, परन्तु राधाकृष्णन इन विचारकों में अपनी सहमति नहीं प्रदान करते हैं। वे यह मानते हैं कि भौतिक या ससीम पक्ष भी आरम्भ का एक वास्तविक पक्ष है। यदि इस पक्ष को 'आत्म' से सर्वथा भिन्न मान लिया जाय तो आत्म का स्वसंगठन सर्वथा खण्डित हो जाता है और मानव जीवन ही विभक्त हो जाता है। इस सन्दर्भ में डॉ. राधाकृष्णन ने स्पष्ट किया है– "The realm of spirit is not cut off from the realm of life. To divide man into outer desire and inner quality is to violate the integrity of human life-------the two orders of reality the transcendent and the empirical are closely related."[6]

आत्म–मानव के ससीम पक्ष को विकास के लिए आवश्यक मानते हुए राधाकृष्णन यह कत्तई स्वीकार नहीं करते कि भौतिकता की अति हो जाय जो कि वर्तमान समय में दिखायी दे रही है और उनके समय में भी प्रबल रूप में विद्यमान थी। वस्तुतः राधाकृष्णन का दर्शन उस समय की अंग्रेजी हुकूमत जो कि भौतिकवादी प्रवृत्ति का पोषक थी के दंश भी झेलता हुआ दिखायी देता है। उस समय की सच्चाई यह थी कि सभ्य समाज में जीवन यापन करने वालों का जीवन अवास्तविक एवं कृत्रिम हो चुका था। जीवन के प्रत्येक पहलू पर विज्ञान के अनावश्यक हस्तक्षेप ने मानवता को एक सम्भावित विनाश की ओर ढकेलना शुरू किया था। इस सभ्य संसार में ज्यों–ज्यों विज्ञान की प्रगति होती गयी मनुष्य से उसके स्वाभाविक चैन एवं स्वाभाविक शान्ति दूर होती चली गयी। यह मानव के ससीम पक्ष की अति व्यापकता थी जो कि डॉ. राधाकृष्णन को स्वीकार नहीं थी। उन्होंने विदीर्ण स्वर में कहा है कि– "आज के संसार में मानव की स्थिति अधिकाशतः अव्यवस्थित एवं घपलापूर्ण है। विज्ञान की चकाचौंध से ऊँचा मानव अत्यन्त ही हताश एवं कुण्ठित है। हम यन्त्रणापूर्ण दबाव के, गहरी चिन्ता के और बहुमुखी मोहभंग के युग में जी रहे है। संसार एक मूर्छा की दशा में है।"[7] डॉ. राधाकृष्णन मानव के ससीम पक्ष पर नियन्त्रण की बात करते हैं। वे कहते हैं कि विज्ञान की प्रगति ने सम्पूर्ण संसार को प्रभावित कर रखा है। इसके माध्यम से अनेकानेक मशीनी विकास हो रहे हैं, किन्तु साथ ही साथ एक चिन्ता भी सर्वत्र व्याप्त है और वह चिन्ता इस बात की है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी की आश्चर्य जनक गति का मानव–आत्मा के साथ सामंजस्य नहीं हो पा रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप मानव को एक संकट की स्थिति का सामना करना पड़ रहा है। राधाकृष्णन ने इस सन्दर्भ में स्पष्ट कहा है कि "इस तथ्य के होते हुए कि महान वैज्ञानिक अविष्कारों ने हमें प्रकृति की दासता से मुक्त कर दिया है,

हम एक प्रकार के मनोरोग से, एक प्रकार के सांस्कृतिक विघटन से पीड़ित दिखायी पड़ते हैं। विज्ञान हमें धन, वैभव एवं वस्त्र, भोजन इत्यादि उपलब्ध कराकर जीवन को बर्बरता से सभ्यता की तरफ उन्मुख तो किया है हम सभी एक प्रकार के आत्मिक एकाकीपन से पीड़ित है।"[8] डॉ. राधाकृष्णन इस एकाकीपन को दूर करने के लिए मानव–आत्म के ससीम पक्ष का पूर्ण रूपेण निराकरण नहीं करते, बल्कि बल देकर कहते है कि भौतिक आत्मतत्त्व के उन्मूलन का प्रयत्न या इसके निषेध का प्रयास पूर्ण मानव–आत्म की परिपूर्णता के मार्ग का बाधक है। वे कहते है कि इसका निषेध न करके इसे और ऊपर उठाना है, पूर्णता की ओर ले जाना है। डॉ. राधाकृष्णन पुनः कहते हैं कि मानव–आत्म का ससीम पक्ष उसका वास्तविक पक्ष तो है, किन्तु मानव–आत्म की अनुभूति केवल उसी पक्ष की अनुभूति नहीं है, बल्कि वह तो निम्नतर स्तर की अनुभूति है। यदि हम अपनी चेतना मात्र ससीम पक्ष तक ही सीमित रखें हो यह भी अपूर्णता ही होगी क्योंकि मानव के स्वरूप को जानने के लिए इस पक्ष को समझना आवश्यक तो है, किन्तु इसी पक्ष मात्र से चिपके रहना अपूर्णता का घोतक है। जब तक हम अपने को इस पक्ष तक सीमित रखते हैं तब तक हम अपनी मानवरूपी स्वरूप की वास्तविकता को नहीं जान सकते। ससीमपक्ष की वास्तविकता उसी अर्थ में है जिस अर्थ में किसी विकास प्रक्रिया के विभिन्न क्रमिक स्तर वास्तविक होते हैं। ससीम पक्ष के स्तर में हमें संगठन, व्यवस्था, एकता आदि के साक्ष्य मिलते हैं। शरीरधारी व्यक्ति को यह भी आभास रहता है कि शरीर उसकी परिणति नहीं है। उसे यह समझ रहती है कि उसको शारीरिक स्तर से ऊपर उठकर विकास करना है। अपने ससीमपक्ष की सीमाओं की स्पष्ट चेतना भौतिक मानव को रहती है। इसी चेतना द्वारा मनुष्य कार्य में प्रदत्त होता है। उसे यह भी स्पष्ट रहता है कि इस चेतना के पार भी जाया जा सकता है। यहाँ हमें मानव शारीरिक क्रियाओं का एक संगठन दृष्टिगत होता है, जिसे राधाकृष्णन ने आनुभविक आत्मा की संज्ञा दी है। आनुभविक आत्मा की यह विशेषता है कि वह सदैव ही विषय और विपक्षी का द्वैत प्रस्तुत करती है। आत्मा विषयी है, प्रत्यक्षकर्त्ता है जिसके पास विषय के रूप में प्रत्यक्ष का एक क्षेत्र है।

ससीम पक्ष या व्यावहारिक पक्ष में मानव के स्परूप की विवेचना में दो तथ्यों के स्पष्टीकरण को महत्त्वपूर्ण माना गया है। पहले पक्ष पर डा० राधाकृष्णन का मत है कि– "यद्यपि यहाँ विषय और विषयी का द्वैत प्रभावी होता है, लेकिन इस द्वैत में भी एक प्रकार का एकत्व विद्यमान रहता है। इनके अनुसार संगठन सतत् परिवर्तन का विषय है। अपनी संरचना से लेकर विघटन तक इसमें परिवर्तनीयता विद्यमान है, लेकिन प्रमुख तथ्य यह है कि इन परिवर्तनों में संगठन अपने मूलरूप में ही बना रहता हे। एक शरीर जन्म लेता है, विकास करता है, उम्र के साथ धीरे–धीरे अवसान की तरफ अग्रसर होता है तथा अन्त में मृत्यु को प्राप्त करता है। निश्चित रूप से इसमें सतत् परिवर्तन होता रहता है, लेकिन इन परिवर्तनों के बाद भी वही शरीर बना रहता है। इसका उदाहरण हम बीज के विकसित होने की प्रक्रिया से ले सकते हैं। इस पक्ष का समर्थन करते हुए डा. राधाकृष्णन का कहना है कि "इस बात की कोई व्यवस्था नहीं हो सकती कि एक के बाद एक द्रुत गति से गुजरने वाले अनुभव मिल कर उसी व्यक्ति के एक और अनुभव कैसे बन जाते हैं? द्वितीय पक्ष भी मानव की यथार्थता का ही विवरण है। राधाकृष्णन का मानना है कि "मन देह और आत्मा के बीच कोई संघर्ष नहीं हो सकता है। हमारी प्रकृति की विभिन्न दिशाओं में साम्य

शान्ति के लिए आवश्यक है और उसका परस्पर सामंजस्य पूर्णता के लिए। किसी भी एक दिशा का दमन आत्मपूर्णता में व्याघात पैदा कर देता है।"[9] गीता में भी आत्म–जगत् और जीवन–जगत् को एकदम से भिन्न नहीं माना गया है। गीता में वास्तविकता के दो प्रकारों की चर्चा मिलती है। एक अनुभवातीत जिसे लोकोत्तर वास्तविकता कहा जाता है तथा दूसरी अनुभवगम्य जिसे लौकिक वास्तविकता की संज्ञा दी जाती है। ये दोनों वास्तविकताएं एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध हैं। मानव के ससीम पक्ष का पुरजोर समर्थन करते हुए राधाकृष्णन ने कहा है कि शरीर की अवहेलना नहीं की जा सकती और न ही इस पक्ष का उन्मूलन किया जा सकता है। वे व्यावहारिक अद्वैत वेदान्त के समर्थक हैं। उनका मानना है कि – "ध्यानोपासना के जीवन का लक्ष्य इस जगत् से अलग हो जाना नहीं है। वह 'आत्मिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भौतिक पदार्थों का साधन रूप में उपयोग है। वह देह के अधिकारों को अस्वीकार नहीं करता, बल्कि देह का उपयोग आत्मा के संस्कार में करता है।"[10]

मानव के स्वरूप पर विचार करते हुए राधाकृष्णन ने आत्म–मानव के वास्तविक स्वरूप अर्थात् असीमपक्ष का भी चित्रण वेदान्ती दृष्टिकोण में किया है। राधाकृष्णन की मान्यता है कि ससीम पक्ष में जो परे की चेतना मानव को रहती है वही चेतना उसे आगे बढ़कर शारीरिक स्तर को पारकर और ऊँचा उठने के लिए प्रेरित करती है। क्योंकि उस पक्ष में शान्ति एवं अखण्डता नहीं रहती जिसकी तलाश मानव करता रहता है अर्थात् अपने मूल स्वरूप की तलाश मानव आध्यात्मिक स्वरूप को पाने की ललक के साथ असीम पक्ष रूपी वास्तविक स्वरूप की तरफ अग्रसर होता है। राधाकृष्णन कहते हैं कि जिस शक्ति के माध्यम से मानव वास्तविक एवं आध्यात्मिक लक्ष्य की तरफ बढ़ता है उस शक्ति को मानव का आत्म (Spirit in man) कहा जा सकता है। यह अशरीरी आत्म है–उसका अध्यात्म रूप है और यही मानव–आत्म का वास्तविक स्वरूप है। मानव का वास्तविक स्वरूप उसके आनुभविक स्वरूप से पूर्णतः भिन्न है। राधाकृष्णन ने स्पष्ट कहा है कि "मानव, उसकी सीमितता एवं अस्थायित्व का अर्थ ही उसकी चेतना है।"[11] यह अशरीरी रूप है, आध्यात्मिक रूप है और मानव आत्म का वास्तविक स्वरूप है। यह मानव के अन्दर अन्तर्विष्ठ आत्मा है जिसे विभिन्न नाम दिये जाते हैं जैसे जीव, आत्मत्व इत्यादि यही मानव में विद्यमान वह अलौकिक शक्ति है जिसे कोई भी विनष्ट नहीं कर सकता। यही शक्ति मनुष्य को उसके भौतिक पक्ष से ऊपर उठाती है। राधाकृष्णन ने माना है कि मानव के अन्दर वह क्षमता है जिससे वह अपने को भौतिक शरीर से पृथक् कर सकता है। वह अपनी इच्छाओं एवं अनुभूतियों से स्वयं को तटस्थ कर सकता है तथा विशुद्ध चेतना को प्राप्त कर सकता है। राधाकृष्णन ने बल देकर यह कहा कि "मानव की अन्तःस्थ प्रकृति उसके गुणों पर निर्भर करती है। इन्ही गुणों द्वारा वह परिभाषित होता है। हम आत्मा को उस रूप में नहीं जानते जिस रूप में वस्तुओं को जानते हैं। जब हम अपने अन्दर झांकते है तो हमें अपने आन्तरिक जीवन की सीमाओं का ज्ञान होता है। आत्मा प्रत्यक्ष विचार एवं भावनाओं की साधारण पहुँच से परे है। हम न तो इसे देख सकते हैं और न ही इसकी परिभाषा दे सकते हैं क्योंकि यथार्थ में यही तो स्वयं द्रष्टा है। यह विषयी है। इसका अधिग्रहण विचार के द्वारा नहीं बल्कि सम्पूर्ण चेतना के द्वारा ही किया जा सकता है।"[12]

राधाकृष्णन ने शंकराचार्य के एकतत्त्ववाद का समर्थन करते हुए मानव को आत्मरूप बताया है। यही आत्मरूप मानव ही आध्यात्मिक रूप मानव है जो कि शाश्वत मूल्य से निर्धारित होता है। राधाकृष्णन के अनुसार वस्तुतः यही मानव का असली स्वरूप है जो तत्त्वयुक्त है। जिस प्रकार शंकराचार्य आत्मा या ब्रह्म को छोड़कर सभी सावयव पदार्थों का विनष्ट होना स्वीकार करते हैं आत्मा रूपी तत्त्व का शेष रहना स्वीकार करते हैं उसी प्रकार राधाकृष्णन भी यह मानते हैं कि मानव जीवन का व्यावहारिक या भौतिक पक्ष साधन उपलबध कराकर विनष्ट हो जाता है अर्थात् शरीर विनष्ट हो जाता है, परन्तु उसका तत्त्व–आकृति भाव, रूप भाव, रंग भाव तथा नाम आदि सदैव के लिए शेष रह जाते हैं। मानव स्वरूप का यह पक्ष इतना जटिल है कि इसकी व्याख्या शब्दों में करना कठिन है। कह सकते हैं कि शंकराचार्य के ब्रह्म की तरह यह भी अनिर्वचनीय है। मानव स्वरूप के असीम पक्ष की प्रमुख कठिनाई यह है कि इसकी भाषीय अभिव्यक्ति सम्भव न होने के कारण आत्म (spirit) या अध्यात्म (spiritual) शब्द का निश्चित अर्थ देना सम्भव नहीं है। राधाकृष्णन ने इस कठिनाई को दूर करने के लिए आत्म–चेतना का सहारा लिया है। इस चेतना का प्रभाव इतना अधिक होता है कि विषयी एवं विषय का द्वैत समाप्त हो जाता है। चेतना के माध्यम से मानव अपने 'स्व' रूप को अच्छी तरह समझ सकता है। राधाकृष्णन कहते हैं कि मानव का असीम पक्ष ईश्वरीय है। उनकी मान्यता है कि मनुष्य में जो सदैव उच्चतर जाने की प्रेरणा है वह एक प्रकार से स्थित ईश्वरीय रूप है जो शारीरिक, भौतिक और इन्द्रिय आश्रित उपलब्धियों से सन्तुष्ट रह ही नहीं सकता। मानव प्रकृति का एक भाग ऐसा है जो वस्तुनिष्ठ नहीं है। यह अवस्तुनिष्ठ पहलू ही मनुष्य को इस प्रकृति जगत् में अप्रतिम बनाता है। मनुष्य केवल नैसर्गिक वृत्ति का प्राणी नहीं है उसकी सत्ता के केन्द्र में एक ऐसी वस्तु है जो बुद्धि से अधिक गहरी तथा उच्चतम सत्ता के समान है। यह आत्मा हैं। मानव प्रकृति की यथार्थता वास्तव में इसी आत्मा में निहित है। मानव के ईश्वरीय स्वरूप की स्थापना करते हुए राधाकृष्णन यहाँ तक कहते हैं कि असाधारण एवं विलक्षण क्षणों में ईश्वरत्व की साक्षात् अनुभूति भी सम्भव हो जाती है। वे बार–बार ईसामसीह, बुद्ध, जोरास्तर, हजरत मुहम्मद आदि के अनुभवों का उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि ये ईश्वरत्व की साक्षात् अनुभूति के उदाहरण हैं। राधाकृष्णन मानव में ईश्वरत्व होने का एक परोक्ष प्रमाण भी प्रस्तुतः करते हैं। उनका कहना है कि यह तो सर्व विदित है कि निकृष्ट एवं दुराचारी व्यक्ति का भी हृदय परिवर्तन कर उसे सुधारा जा सकता है। यह सम्भव उसी कारण हो पाता है क्योंकि उसमें ईश्वरत्व का अंश है। सुधार का अर्थ है उसके उस अंश को जगा देना। इस असीम पक्ष की वकालत राधाकृष्णन करते हुए अपने अद्वैतवादी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। इस सिद्धान्त में आत्म को चैतन्य कहा गया है। मनुष्य भी सारतः चेतना या चैतन्य ही है। यह चेतना द्रष्टा है, दृश्य नहीं। वह वैज्ञानिक अन्वेषण और विश्लेषण का विषय न होकर अनुभूत गम्य है। यह आत्मा प्रेम, इच्छा, आतुरता, चिन्तन, अन्वेषण आदि की अभिलाषा रखती है। मानव की ऐसी क्रियाएं जिन्हें नैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से उत्कृष्ट समझा जाता है, वास्तव में आत्मा के कारण ही है।

राधाकृष्णन ने मानव के आध्यात्मिक पक्ष को सर्वोच्च प्राप्य बतलाया है। इस आध्यात्मिक स्वरूप को उन्होंने सत् कहा है। सर्वप्रथम शंकर के अद्वैत वेन्दान्त के प्रभाव में राधाकृष्णन ने 'सत्' के लिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग किया और साथ ही साथ अपने ऊपर पड़े हेगेल के प्रभाव के कारण

इसी शब्द को 'निरपेक्ष' भी कहा। सिद्ध होता है कि मानव को सत् बताकर उन्होंने उसे निरपेक्ष या ब्रह्म की श्रेणी में ला दिया है। इनके तत्त्व दर्शन का लक्ष्य था "भारतीय परम्परा में प्रभावी एकतत्त्व वाद का संपोषण और इसी लक्ष्य से संचालित होकर इन्होंने माना है कि ब्रह्म विश्व का मूल सत् है जो निरपेक्षतः एक है तथा सम्पूर्ण संसार इसी एक सत् की अभिव्यक्ति है।"[13] यह मूलतः आध्यात्मिक है। यह एक सर्वव्यापी सत्ता है, अव्यक्त है और अपरिभाष्य है। वास्तव में राधाकृष्णन की यह अभिव्यक्ति ब्रह्म और मानव के एक रूपता की स्वीकृति एक प्रश्न खड़ा करती है कि क्या ब्रह्म की यह स्वीकृति मानववादी आदर्शों को खण्डित नहीं करती? राधाकृष्णन ने इस कठिनाई को दूर करने के लिए एक तरफ तो ब्रह्म के लिए उन्हीं सम्बोधनों को सम्भव माना जिनसे उनकी मानवतावादी आकाक्षाओं की तुष्टि हो एवं साथ ही साथ दूसरी तरफ उपनिषदों को आधार बनाकर मनुष्य को ब्रह्म के स्तर तक आरोहित कर मानवतावाद के आदर्शों को संरक्षित रखने का प्रयास किया है। राधाकृष्णन ने मानव या मनुष्य को पूर्णरूपेण स्वतन्त्र अस्तित्व वाला स्वीकार किया है उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि – "मनुष्य संसार में फेंक दिया गया कोई वस्तु नहीं है। उसके अन्दर सृजन की क्षमता है और यही उसकी स्वतन्त्रता का लक्षण है।"[14]

वस्तुतः राधाकृष्णन ने मानव को श्रेष्ठ व्यक्ति स्वीकार करते हुए उसे व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोनों स्वीकार किया है। मानववादी चिन्तन वास्तव में भारतीय दर्शन की एक परम्परा रही है क्योंकि जगत् और जीवन का अस्तित्व विचारवान मनुष्य पर ही निर्भर करता है। प्रसिद्ध मानववादी विचारक स्वामी विवेकानन्द का इस सन्दर्भ में कथन है कि – "हम लोग जो कुछ सोचते हैं, जो कुछ कार्य करते हैं वही कुछ समय बाद सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं, वह मानों बीज रूप बन जाता है और वही इस शरीर में अव्यक्त रूप में रहता है और फिर कुछ समय बाद प्रकाशित होकर फल भी देता है। मनुष्य का जीवन इसी प्रकार व्यावहारिकता से पारमार्थिकता की तरफ अग्रसर होता है। मनुष्य का जीवन किसी भी नियम से बद्ध नहीं हैं वह अपने ही नियम में अपने ही जाल में अपने आप बंधा है।"[15]

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि राधाकृष्णन द्वारा वर्णित मानव के दोनों पक्ष असीम तथा ससीम वेदान्ती पक्ष परा तथा अपरा स्वरूप से पूर्णतः मेल खाते हुए दिखायी देते हैं। मानव में ब्रह्मत्व तथा ईश्वरत्व है तभी ब्रह्म एवं ईश्वर की अस्तित्वमय धारणा है। राधाकृष्णन ने भी ससीम से असीम की प्राप्ति वेदान्त के व्यावहारिक से आध्यात्मिक की प्राप्ति के अनुसार ही बतायी है। शंकराचार्य ने कारण–कार्य के औचित्य पर समुचित उत्तर देते हुए कहा है कि ईश्वर एवं जगत् में पूर्वापर सम्बन्ध है। मानव के असीम तथा ससीम में भी उसी प्रकार का सम्बन्ध है। आपत्ति उठती है कि "ईश्वर जगत् का कारण नहीं हो सकता क्योंकि दोनों के स्वभाव में अन्तर है। विशुद्ध तथा धार्मिक ईश्वर भी जगत् का कारण नहीं हो सकता क्योंकि जगत् अशुद्ध तथा अधार्मिक है।"[16] उसी प्रकार मानव के ससीम पक्ष से असीम पक्ष की तरफ नहीं जाया जा सकता, किन्तु शंकराचार्य और राधाकृष्णन ने इसका सटीक उत्तर दिया है कि– "जिस प्रकार बाल और नाखून जैसे अचेतन अंग, चेतन मनुष्य से उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार ईश्वर और जगत् में सत्ता का एक सामान्य लक्षण है। दोनों ही सर्वथा भिन्न नहीं है और यदि ईश्वर के अन्दर कुछ अतिशय है तो इसमें किसी

आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि कारण में सर्वत्र यह विशेषता पायी जाती है।"[17] इसी प्रकार हम राधाकृष्णन द्वारा वर्णित वेदान्ती मानव के स्वरूप का भी निर्धारण कर सकते हैं कि मानव का असीम एवं ससीम पक्ष एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। असीम की विशिष्टता को प्राप्त करने के लिए निश्चित रूप से ससीम मानव की आवश्यकता होती है। जो अपनी अज्ञानजन्य सीमाओं को जानकर अपने असीम स्वरूप को प्राप्त होता है।



सन्दर्भ –

1. *तुलनीय–ड्यूसन–यदि ठीक–ठीक विचार किया जाये तो प्रतीत होगा कि यह अपरा विद्या व्यावहारिक रूप में अध्यात्म विद्या ही है अर्थात् विद्या जिस रूप में अविद्या के दृष्टिकोण से विचार करने पर हमें प्रतीत होती है।–ड्यूसन्स सिस्टम आफ दि वेदान्त, पृष्ठ–100*
2. *नारायण शास्त्री द्रविड़–भारतीय दर्शन की मूलगामी समस्याएं पृ.–81*
3. *डॉ. राधाकृष्णन–भारतीय दर्शन भाग–2, पृ.–515*
4. *डॉ. राधाकृष्णन–तुलना कीजिए–माण्डूक्योपनिषद् पर शांकरभास्य के सन्दर्भ में आनन्दगिरी की टीका–ब्रह्मणेवजीवोजगत ईश्वरश्चेति सर्वकल्पनिकं सम्भवति, उद्धृत–भारतीय दर्शन भाग–2, पृ.–515*
5. *बसन्त कुमार लाल–समकालीन भारतीय दर्शन पृ.–330*
6. *डॉ. राधाकृष्णन–दि भगवतगीता, पृ.–12*
7. *एस. राधाकृष्णन–धर्म एवं समाज, पृ.–07*
8. *,एस. राधाकृष्णन–भारतीय संस्कृतिः कुछ विचार, वर्तमान धर्म संकट (सं क.), पृ.–09*
9. *एस. राधाकृष्णन–जीवन की अध्यात्मिक दृष्टि, पृ.–141*
10. *एस. राधाकृष्णन–सत्य की ओर, पृ.–138*
11. *P.A. Schilpp-"Man's awareness of his finiteness and temporality means his conciousness of eternity"- The philosophy of Sarvapalli Radhakrishan, Pg.-17.*
12. *एस. राधाकृष्णन–दि एशियन व्यू ऑफ मैन (सैक.), रिलीजन एण्ड कल्चर पृ.–110–111*
13. *एस. राधाकृष्णन–दि रेन ऑफ रिलीजन इन कन्टेम्परारी फिलासफी, पृ.–143*
14. *एस. राधाकृष्णन–'पूर्व और पश्चिम' हिन्दी अनुवाद–ईस्ट एण्ड वेस्ट–सम रिफ्लेक्शन्स, (अनु0 रमेशवर्मा) पृ.–25*
15. *स्वामी विवेकानन्द–व्यावहारिक जीवन में वेदान्त, पृ.–91*
16. *शांकरभाष्य–2:1:4*
17. *शांकरभाष्य–2:1:6*

योगशास्त्र की वैयक्तिक एवं सामाजिक उपादेयता

सोमनाथ नेने

भारतीय दार्शनिक प्रस्थानों में मुख्य रूप से दुःखनिवृत्ति के लक्ष्य को लेकर विचार प्रारम्भ किया गया है तथा त्रिविध दुःखों से वैयक्तिक मुक्ति के लक्ष्य की प्राप्ति पर इस विचारपरम्परा का पर्यवसान हुआ है। नास्तिक दर्शनों में विद्यमान बौद्ध तथा जैन एवं आस्तिक दर्शनों में प्रतिष्ठित सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त, ये सभी दार्शनिक प्रस्थान, दुःखनिवृत्ति के लक्ष्य पर समान रूप से विद्यमान हैं। अन्तर इतना ही है कि मीमांसा तथा वेदान्त जहाँ स्वर्गीय सुख एवं परमानन्द सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मरूपता की अवाप्ति से दुःख से सहज निवृत्ति प्रतिपादित करते हैं, "तरति शोकमात्मवित्"[1] वहाँ बौद्ध, जैन, न्याय, वैशेषिक तथा सांख्ययोग, दुःखनिवृत्ति को ही जीवन का परम लक्ष्य निरूपित करते हैं।

महर्षि पतंजलि द्वारा प्रवर्तित तथा महर्षि व्यास द्वारा अपने व्यासभाष्य से अभिवर्द्धित योगशास्त्र भी यद्यपि दुःखनिवृत्ति हेतु वैयक्तिक कैवल्य के लिए ही भारतीय दर्शन के नास्तिक वर्ग में प्रतिष्ठित बौद्ध तथा जैन दर्शनों की तरह प्रवृत्त है, तथापि इस वैयक्तिक कैवल्य की साधना के मार्ग में प्राप्त नियमों के माध्यम से अभिव्यक्त व्यक्तिनिष्ठ नैतिकता केवल व्यक्ति तथा सीमित न रहकर पूरे समाज के लिए भी एक स्वस्थ सामाजिक अवस्था–प्राप्ति के लक्ष्य को सहज समधिगत करा देती है। महर्षि पतंजलि के सूत्रों तथा व्यासभाष्य के सन्दर्भों से समधिगत सामाजिक पक्ष की बौद्ध तथा जैन दर्शनों में अनेक सन्दर्भों के परिशीलन द्वारा समन्विति भी प्रदर्शित की जा सकती है।

मैत्र्यादि चारों भावनाओं की वैयक्तिक तथा समाजिक उपादेयता

महर्षि पतंजलि तथा महर्षि व्यास ने अपने सूत्र एवं भाष्यग्रन्थ द्वारा व्यक्ति के हृदय (चित्त) के प्रसादन के लिए मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा रूपी चार भावनाओं का उपदेश प्रदान किया हैः –मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।"[2]

मैत्र्यादिभावनाओं की वैयक्तिक उपादेयता

महर्षि पतंजलि ने चित्त की निर्मलता के लिए सुखी व्यक्तियों में मैत्री, दुःखी प्राण्यिों के प्रति करुणा, पुण्यात्माओं के प्रति मुदिता तथा पापियों के प्रति उपेक्षा की भावना करने का जो निर्देश प्रदान किया है, उसके वैयक्तिक पक्ष की दृष्टि से दो अर्थ निहित हैं। एक है सर्वसामान्य अर्थ तथा दूसरा योग का विशेष अर्थ है। इनमें से मीमांसा के 'स्थान–प्रमाण' के पाठसादेश्य के अन्तर्गत यथासांख्य पाठ से सर्वसाधारण अर्थ तथा 'परिसंख्या–विधि का अवलम्बन करने पर योगशास्त्राभिमत विशेष अर्थ, अभिव्यक्त होता है।

यथासांख्य न्याय की समन्विति

मीमांसा दर्शन में जिस क्रम से विधि–वाक्यों का श्रवण होता है, उसी क्रम से समाम्नात मन्त्रों का उनके साथ समन्वय माना जाता है। "ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्"[3] तथा "वैश्वानरं

संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

द्वादशकपालं निर्वपेत्''[4] इन विधि–वाक्यों के क्रम को देखते हुए ही ''इन्द्राग्नी रोचनादिवः''[5] तथा ''वैश्वानरोऽजीजनत्''[6] इन दोनों याज्यानुवाक्या मन्त्रों मे से ''ऐन्द्राग्न'' याग के साथ ''इन्द्राग्नी'' इस मन्त्र की तथा ''वैश्वानर' याग के साथ ''वैश्वानरी'' इस मन्त्र की अंगरूप से समन्विति मानी जाती है।

भावनाचतुष्टय के प्रतिपादन में भी सूत्र में जिस क्रम से सुख, दुःख, पुण्य, तथा अपुण्य का प्रतिपादन किया गया है, उसी क्रम से, मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा, इन चारों का भी प्रतिपादन, मीमांसा के इसी न्याय के आधार पर किया गया है।

परिसंख्या न्याय का समन्वय

योगशास्त्र द्वारा प्रतिपादित उक्त भावनाचतुष्टय में सैद्धान्तिक समन्वय के दोनों पक्ष विद्यमान हैं। भावनाचतुष्टय की स्वरूप–निष्पत्ति, मीमांसा के प्रयोगविधि में प्रतिपादित क्रमप्रमाण तथा परिसंख्याविधि की समन्विति पर अवस्थित है।

योगशास्त्र द्वारा प्रतिपादित करुणा आदि भावनाओं की कर्तव्यता का निरूपण व्यावहारिक धरातल पर स्वीकार कर एक शुद्ध व्यक्ति के माध्यम से एक समीचीन समाज की संरचना की जा सकती है, परन्तु इनकी कर्तव्यता का सूत्र द्वारा प्रतिपादन व्यावहारिक ही माना जा सकता है। इसे योगशास्त्र का परमार्थ नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि जिस प्रकार द्वेष, एक चित्तदूषक भाव है, उसी प्रकार, कल्याणकारक होने पर भी, मैत्री भी एक रागात्मक भाव है। चित्त की स्थिरता में यह भी प्रतिबन्धक है। इसी प्रकार करुणा तथा मुदिता (हर्ष) भी एक प्रकार के राग होने से त्याज्य है। गीता ने अन्तःकरण की शुद्धता तथा स्वच्छता के लिए द्वेष के साथ–साथ राग का भी त्याग निरूपित किया है – ''स्वाधीन अन्तःकरण वाला पुरुष राग और द्वेष से रहित वशीभूत इन्द्रियो0 द्वारा विषयों का भोग करता हुआ अन्तःकरण की स्वच्छता निर्मलता प्राप्त करता है। उस प्रसन्न चित्त वाले पुरुष की बुद्धि ''शीघ्र स्थिर हो जाती है –

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।[7]
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।[8]

श्रीमद्गवद्गीता के इस सन्दर्भ के आलोक में मैत्री का अर्थ द्वेष का अभाव, करुणा का अर्थ घृणा का अभाव तथा मुदिता का निर्गलितार्थ शत्रुता का अभाव मानना होगा। गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित पातंजलयोगप्रदीप में इस सूत्र की सम्पादकीय टिप्पणी में ग्रन्थकार श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ ने भी यही आशय प्रकट किया है। इनका कहना है कि ''मैत्री से द्वेषभाव का ही ग्रहण करना चाहिए, स्नेह का नहीं, क्योंकि स्नेह भी एक प्रकार का राग होने के कारण बन्धन ही है। मुदिता से भी शोक की निवृत्ति ही समझना चाहिए, हर्ष नहीं, क्योंकि हर्ष भी एक प्रकार से राग का हेतु होने से त्याज्य ही है। (मनु भाष्यकार मेधातिथि भट्ट)[9]

प्राप्त अर्थ को छोड़कर शास्त्रीय पक्ष की रक्षा हेतु इस प्रकार के अर्थनिर्णय की विधा को मीमांसाशास्त्र में 'परिसंख्या विधि' कहा गया है। ''पञ्च पञ्च नखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।''[10] यहीं पर रागतः भक्षणार्थ प्राप्त समस्त प्राणियों में पञ्च नख–प्राणियों को छोड़कर अन्य समस्त प्राणियों के भक्षण से, धर्मरक्षा के प्रयोजन की सिद्धि के लिए, यह वाक्य, निवृत्ति का प्रतिपादक है, उसी प्रकार प्रकृत सूत्र में भी मैत्री आदि का परमार्थ, शत्रुता आदि का अभाव ही माना जाता है। योगशास्त्र के इस परमार्थ–निष्पत्ति में मीमांसा के परिसंख्या–विधि की चरितार्थता स्पष्ट है।

मैत्र्यादिभावनाओं की सामाजिक उपादेयता

यद्यपि ये चारों भावनाएँ व्यक्ति के चित्त के उत्कर्ष के लिए प्रतिपादित की गई है तथापि ये चारों भावनाएँ एक स्वस्थ, समृद्ध सुखी एवं समर्थ समाज के निर्माण में भी अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य की अभिव्यञ्जिका हैं। इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए भाष्यकार महर्षि व्यास कहते हैं कि "समस्त प्राणियों में विद्यमान मैत्री, आदि चार प्रकार की भावनाओं में से सुख का आनन्दपूर्वक भोग करने वाले व्यक्तियों के प्रति मैत्री की भावना करनी चाहिए। दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा की भावना, पुण्यात्मा पुरुषों के प्रति मुदिता तथा पापकर्म करने वालों के प्रति उपेक्षा की भावना करनी चाहिए। महर्षि व्यास के अनुसार इस प्रकार की भावना करने वाले व्यक्ति में 'शुक्ल धर्म' का उदय होता है। इस सात्त्विक धर्मरूपी शुक्ल धर्म के उदय से चित्त प्रसन्न होता है तथा व्यक्ति, एकाग्रता को प्राप्त कर योग के लक्ष्य स्थिरता को प्राप्त करता है – तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्भोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करुणाम्, पुण्यात्मकेषु मुदिताम, अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसीदति, प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते।'[11]

प्रस्तुत सन्दर्भ, समाज के स्वास्थ्य तथा अस्वास्थ्य का भी स्पष्ट निदर्शक है। समाज का स्वास्थ्य,उसमें विद्यमान लोगों के परस्पर सौहार्द, ईर्ष्याराहित्य, एक दूसरे के उत्कर्ष मे प्रसन्नता तथा कमजोर व्यक्ति तथा वर्ग के लिए करुणा एवं सहायता प्रदान करने की भावना में निहित है। ऐसा समाज, जहाँ इसी पृथिवी पर स्वर्ग का निर्माण करता है, वहीं एक दूसरे के लिए शत्रुता, घृणा, ईष्या तथा बदले की भावना से व्याप्त चित्तवाले व्यक्तियों से निर्मित समाज, अपने आप में एक भयानक नर्क है। समाज में सुखी, दुखी, पुण्यात्मा तथा पापी, ये चारों प्रकार के व्यक्ति विद्यमान रहते हैं। इनमें से सुखी व्यक्ति के प्रति ईर्ष्याजन्य शत्रुता, दुःखी व्यक्ति के लिए घृणा, पुण्यशील व्यक्ति के सन्दर्भ में दोषाविष्करणात्मक असूया तथा सामाजिक नियमों के विपरीत आचरण करने वालों के प्रति उन्हें दण्डित करने की भावना विद्यमान रहती है। ये भावनाएँ, व्यक्ति तथा उसके माध्यम से सम्पूर्ण समाज को अस्वस्थ तथा प्रदूषित कर देती हैं। महर्षि पतंजलि तथा महर्षि व्यास द्वारा उक्त सर्वसाधारण रूप से विद्यमान विपरीत भावनाओं के स्थान पर अत्यन्त पवित्र चारों भावनाओं का उपदेश, व्यक्ति के अन्तःकरण की प्रसन्नता तथा प्रसन्नचेता व्यक्तितों के समुदाय से एक स्वस्थ तथा प्रसन्न समाज के निर्माण में भी चरितार्थ है।

योग दर्शन के अष्टांगमार्ग की वैयक्तिक तथा सामाजिक उपादेयता

महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्र में चित्तवृत्तिनिरोधात्मक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त उत्तम, मध्यम, तथा मन्द या आरुरुक्षु अधिकारी के लिए सोपान क्रम से अष्टांग योग का उपदेश दिया है। 1–यम, 2–नियम, 3–आसन, 4–प्राणायाम, 5–प्रत्याहार, 6–धारणा, 7–ध्यान तथा समाधि, ये आठ साधन प्रतिपादित किए गए हैं – यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान–समाधयोऽष्टांगानि"[12] इन आठों उपायों में प्रतिपादित प्रथम यम के साधन, व्यक्ति के जीवन के चरम लक्ष्य कैवल्य की सिद्धि में साधन होने से जहाँ इनकी वैयक्तिक उपादेयता स्पष्ट है, वहीं इन यमों के आचरण से व्यक्ति, उच्च नैतिकता के धरातल पर पहुँच जाता है तथा नैतिक व्यक्तियों का समुदाय ही समाज होने के कारण इन यम–नियमों की सामाजिक उपादेयता भी प्रकाशित हो जाती है।

अहिंसा की वैयक्तिक तथा सामाजिक उपादेयता

महर्षि पतंजलि ने अपने इस अष्टांगसूत्र में विद्यमान 'यम' के 1– अहिंसा, 2– सत्य, 3– अस्तेय, 4– ब्रह्मचर्य, तथा 5– अपरिग्रह, ये पाँच भेद प्रतिपादित किए हैं – "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।"[13] शरीर, वाणी, तथा मन के द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय आदि मनोवृत्ति के कारण किसी भी प्राणी को शारीरिक या मानसिक कष्ट पहुँचाना हिंसा कहा गया है। महर्षि व्यास ने सर्वदा सब प्रकार से समस्त भूतों (प्राणियों) के प्रति अभिद्रोह का न होना अर्थात् किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार की पीड़ा न पहुँचाने की भावना को ही अहिंसा के रूप में परिभाषित किया है –तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामभिद्रोहः।[14] यदि यह शारीरिक या मानसिक पीड़ा स्वयं न पहुँचाकर किसी दूसरे व्यक्ति के माध्यम से पहुँचाई जाती है तो भी यह घोर हिंसा हो जाती है। यदि व्यक्ति स्वयं हिंसा न कर या न करवा कर इसकी अनुमति भी देता है तो भी वह घोर हिंसा का दोषी बन जाता है।

योगशास्त्र की दृष्टि में सर्वविध हिंसा से अपनी रक्षा जिसका स्वरूप है ऐसे अहिंसाव्रत का पालन, आत्मकल्याण की दिशा में अपेक्षित प्रथम अनिवार्यता है। समस्त भूतों में अपनी अन्तरात्मा की विद्यमानता का निश्चय ही अहिंसा–पालन का आधार बनता है –

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।[15]

इस श्लोक के चतुर्थ चरण "सर्वभूतहिते रताः" की व्याख्या में समस्त प्राणियों के हित में संलग्न व्यक्ति को शंकराचार्य ने अहिंसक कहते हुए अहिंसा के सामाजिक अवदान को भी स्पष्ट कर दिया है : "सर्वेषा भूतानां हिते आनुकुल्ये रता अहिंसका इत्यर्थः।।[17]

सत्य की वैयक्तिक तथा सामाजिक उपादेयता

योगशास्त्र के अनुसार मन, वचन तथा शरीर के आधार पर सत्य के तीन प्रकार निरूपित किए गए हैं। भाष्यकार के अनुसार जैसा देखा गया हो, जैसा अनुमित हुआ हो, जैसा (आगम द्वारा) सुना गया हो, (पदार्थ के विषय में) उसी प्रकार की वाणी एवं मन का होना सत्य है : –"सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। यथा दृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वंचिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति। एषा सर्वभूतोपकारार्थ प्रवृत्ता न भूतोपघाताय।"[18] महर्षि व्यास यह कहते हुए कि "इस प्रकार की वाणी केवल प्राणियों के उपकार के लिए प्रवृत्त होती है, अपकार के लिए नहीं, "सत्य की सामाजिक महत्ता को भी प्रकाशित कर देते हैं।

सत्यप्रतिपादन का मूल आधार अहिंसा होने के कारण सत्य, व्यक्तिनिष्ठ कर्त्तव्य होने से वैयक्तिक कल्याण का एक चरम साधन तो है ही, परन्तु सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक समृद्धि भी सत्य पर ही अवलम्बित है। परस्पर एक दूसरे के विश्वासात्मक सत्य पर स्थिर होकर ही समाज के सभी वर्ग चिन्तामुक्त स्थिति में स्वकीय क़र्त्तव्यों का पालन करते हुए एक स्वस्थ समाज के निर्माण में अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं। महर्षि व्यास पूर्ण रूप से अहिंसा से समन्वित वाणी को ही 'सत्य' निरूपित करते हैं।

महर्षि व्यास के अनुसार यदि यथाभूत अर्थ के प्रपिपादन से हिंसा होती हो तो ऐसा शब्दव्यवहार सत्य नहीं है। इनका कहना है कि "इस प्रकार यथाभूत अर्थ के प्रतिपादक होने पर भी, बोले जाने पर जो शब्दव्यवहार, जीवों के लिए हानिकारक हों तो ऐसे शब्दव्यवहार सत्य न होकर पापरूप ही होते हैं। पुण्य का रूप धारण किए हुए इस पुण्याभास से नरक की ही प्राप्ति होती है, अतः व्यक्ति को भली भांति विचार करके उसी सत्य का प्रकाशन करना चाहिए जिसमें सब का हित विद्यमान हो – 'यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्पापमेव भवेत्। तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्। तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।"[19] महर्षि व्यास ने महाभारत में भी हितात्मक वाग्व्यवहार को सत्य से भी श्रेष्ठ निरूपित करते हुए सामाजिक उत्कर्ष के गुण से विद्यमान यथाभूतं अर्थ के प्रतिपादक शब्दव्यवहार की सत्यरूपता स्वीकार की है –

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम।।[20]

इस प्रकार व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्कर्ष के लक्ष्य को ध्यान में रखकर सूत्रकार तथा भाष्यकार द्वारा प्रतिपादित सत्य, वैयक्तिक हित के साथ अन्यजन के हित की भावना से भी समन्वित होने के कारण अपनी सामाजिक उपादेयता को भी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर देता है।

अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की वैयक्तिक तथा सामाजिक उपादेयता

अस्तेय का अर्थ स्तेय के विपरीत आचरण करना है। भाष्यकार के अनुसार शास्त्राज्ञा के विपरीत दूसरों के द्रव्य (धन) के ग्रहण को स्तेय तथा दूसरे के द्रव्य (धन) के ग्रहण के भाव को भी मन में उत्पन्न न होने देने का नाम अस्तेय है – "स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति।"[21] इसी प्रकार उपस्थ संज्ञक गुप्तेन्द्रिय के आवेग का निग्रह, ब्रह्मचर्य कहा गया है –"ब्रह्मचर्य गुप्तेन्द्रियोपस्थसय संयमः।"[2] विषयों के अर्जन, रक्षण, क्षय, संग तथा हिंसा, आदि दोषों का अनुसन्धान कर, इन विषयों के परित्याग को अपरिग्रह नामक 'यम' कहा गया है – "विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इति एते यमाः।।[23]

जीवन–निर्वाह के लिए आवश्यक धन से अधिक लेने की इच्छा जहाँ परिग्रह है, वहाँ अपेक्षित धन भी वैध प्रक्रिया द्वारा अर्जित होने पर ही 'अस्तेय– यम कहा जाता है। जितेन्द्रिय होते हुए वैध मैथुन के अतिरिक्त स्त्री का स्मरण तक न करना तथा आठ प्रकार की स्थितियों से अपने मन को वश में रखना 'ब्रह्मचर्य' कहा गया है। ब्रह्मचर्य के सन्दर्भ में भाष्योक्त उपस्थ शब्द अन्य इन्द्रियों का भी उपलक्षक माना गया है, इसीलिए दक्षमुनि द्वारा स्त्री का स्मरण, उसका वर्णन, क्रीड़ा, उसका अवलोकन, गुप्तभाषण, उसकी प्राप्ति का संकल्प, उसका निरन्तर ध्यानात्मक अध्यवसाय तथा कामक्रिया का निष्पादन, मैथुन के इन आठ भेदों द्वारा इन्द्रिय संयम की दिशा प्रतिपादित की गई है – स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च। एतन्मैथुनमष्टांग प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्।।[24]

इनसे अपने मन की रक्षा का नाम ही ब्रह्मचर्य है। अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह रूपी ये तीनों यम व्यक्ति के मानसिक उत्कर्ष के माध्यम से उसके कैवल्याधिगम में सहायक होने से जिस प्रकार अपनी वैयक्तिक उपादेयता के अभिव्यंजक हैं, उसी प्रकार इनकी सामाजिक संरचना में भी एक प्रमुख भूमिका है।

समाज में सर्वाधिक अव्यवस्था तथा असन्तोष की स्थिति, सम्पत्ति के विषम विनिमय से उत्पन्न हुई है। जिनके पास पहले से सम्पत्ति है वे, वैध, अवैध दोनों मार्गों से और भी अधिक सम्पत्ति एकत्र करते जा रहे हैं, दूसरी तरफ दरिद्र, और भी अधिक दरिद्र होकर अपने सर्वहारा नाम को सार्थकता प्रदान कर रहा है। योगशास्त्र द्वारा प्रतिपादित यम– 'अपरिग्रह' का भाव स्थापित होने पर समाज के प्रत्येक वर्ग तथा व्यक्ति को उसका उचित अंश प्राप्त होने की स्थिति में, समाज, परस्पर द्वेष तथा स्तेय एवं हिंसा आदि दोषों से मुक्त, एक स्वस्थ परिवेश में, एक स्वस्थ समाज, होने का गौरव प्राप्त कर सकता है।

अपरिग्रह के समान 'ब्रह्मचर्य' का भी व्यक्ति की अपेक्षा सामाजिक महत्त्व अधिक है। ब्रह्मचर्य की भावना के विपरीत परस्त्री की कामना, संसार भर के संघर्षों में से अधिकतर के मूल में विद्यमान रही है। समाज के सभी पुरुषों की स्वेच्छाचारिता से मुक्ति ही महाराज अश्वपति के विचार में एक व्यभिचारविहीन समाज का मूल है – "न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः नानाहिताग्निर्नाविद्वान्, न स्वैरी, स्वैरिणी कुतः?"[25]

इस उक्ति के अन्तिम चरण में स्वैराचार के लिए ब्रह्मचर्य के विपरीत पुरुष की कामभावना की कारणता निरूपित की गई है। स्वेछाचारिता से मुक्त होने पर ही समाज, आधि–व्याधि से रहित, एक स्वस्थ एवं सुखी समाज के रूप में अभिव्यक्त हो सकता है। यद्यपि महर्षि पतंजलि तथा महर्षि व्यास द्वारा निरूपित यम के नियमों का प्रतिपादन, व्यक्ति के लिए है, तथापि, व्यक्ति ही समाज का घटक होने से, इन यमों के पालन से, शरीर, मन तथा वाणी, इन तीनों स्तरों पर उसके शुद्ध हो जाने से, ऐसे शुद्ध व्यक्तियों द्वारा ही एक स्वस्थ एवं समृद्ध समाज की सरचना संभव होने के कारण, इन यम के नियमों की सामाजिक उपादेयता पूर्ण रूप से स्पष्ट है।

यम के समान 1–शौच, 2–सन्तोष, 3–तप, 4–स्वाध्याय तथा 5–ईश्वर–प्रणिधान, इन पाँच नियमों की साधना भी प्रतिपादित की गई है – शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।[26] यद्यपि इन पाँचो नियमों का व्यक्ति के मानसिक उत्कर्ष के लिए योगशास्त्र में प्रतिपादन किया गया है तथापि, इन पाँच नियमों में द्वितीय 'सन्तोष' की साधना का समाज की समुन्नति से सीधा सम्बन्ध है। व्यक्तिनिष्ठ सन्तोष, समाज के लिए संसाधनों की प्राप्ति का अवसर प्रदान कर सामाजिक समृद्धि का मार्ग भी उद्घाटित करता है।

योगशास्त्र के भावनाचतुष्टय तथा यमनियमों का सैद्धान्तिक समन्वय

मानव–कल्याण के माध्यम से सम्पूर्ण मानव–समाज के उत्कर्ष के लिए प्रवृत्त योगशास्त्र द्वारा प्रतिपादित भावनाचतुष्टय तथा यम–साधन, सैद्धान्तिक समन्वय की विशेषता से भी विभूषित हैं। सैद्धान्तिक समन्वय का तात्पर्य किसी दार्शनिक सिद्धान्त की अन्य दार्शनिक प्रस्थानों में व्याप्ति की अभिव्याप्ति है।

भावनाचतुष्टय तथा यमनियमों का बौद्ध तथा जैन दर्शन की आचार–मीमांसा में समन्विति

बौद्ध –धर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध ने योगशास्त्र में प्रतिपादित चारों भावनाओं को जीवन में अपनाने का उपदेश प्रदान किया है। बौद्ध दर्शन में इन मैत्री आदि की भावनाओं को ब्रह्मविहार कहा गया है– "मेत्ता–करुणामुदिता–उपेक्खा चेति इमा चतस्सो अप्पमज्जायो नाम ब्रह्मविहारा ति

वुच्चन्ति।[27] राजा प्रसेनजीत को विश्व के सभी प्राणियों के साथ असीम मैत्री की भावना बढ़ाने का बुद्ध ने उपदेश प्रदान किया है। विश्व के सभी प्राणियों के लिए सुख की कामना करते हुए सभी प्राणियों के प्रति दया अर्थात् करुणा का भाव रखने का भी संयुक्तनिकाय में उपदेश प्रदान किया गया है।[28] इसी प्रकार, भगवान् बुद्ध ने आरम्भिक, मध्यम तथा महा, इन तीन प्रकार के शीलों का उपदेश प्रदान किया है। बौद्ध धर्म में योगशास्त्र के पाँच यमों में पाँचवे क्रम पर विद्यमान अपरिग्रह के स्थान पर 'मद्यनिषेध' का समायोजन करते हुए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा मद्यनिषेध, इन पाँचों को पंच शीलों का पालन न कर इनके विपरीत आचरण करता है अर्थात् प्राणियों की हिंसा करता है, असत्य-भाषण करता है, बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण करता है अर्थात् चोरी करता है, परस्त्री का सेवन करता है तथा सुरापान करता है, ऐसे व्यक्ति के लिए उनका कहना है कि वह अपनी जड़ स्वयं खोद रहा है –

यः प्राणमतिपातेति मुसावादैव भासति।
लोके अदिन्नं अदियति परदारञ्च गच्छति।।
सुरामैरेयपानं च यो नरो अनुयुञ्जति।
इधेवमेसो लोकस्मि मूलं खनति अत्तनो।।[29]

योगशास्त्र के अनुरूप बौद्ध दर्शन में भी 'सन्तोष' का तात्पर्य तृष्णात्याग निरूपित करते हुए इसकी अत्यधिक महत्ता प्रतिपादित की गई है। धम्मपद में कहा गया है कि "जो व्यक्ति, कामनाओं से तृप्त नहीं होता अर्थात् सदा असन्तुष्ट रहता है, उसे यम, वश में कर लेते हैं –

पुफ्फनिहेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरः।
अतित्तं येव कामेसु अन्तको कुरुते वशम्।।[30]

बौद्ध धर्म के अनुरूप जैन धर्म में भी योगशास्त्र में प्रतिपादित यम के नैतिक नियमों की समन्विति, पाँच महाव्रतों के रूप में हुई है। जैन धर्म में इन्हें अहिंसा, सूनृत (सत्य), अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के नाम से ही प्रतिपादित किया गया है। इनमें प्रमाद से भी चर तथा स्थावरों के प्राणों का विनाश न करना अहिंसा व्रत कहा गया है –

न यत्प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम्।
चराणां स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम्।।[31]

सुनने में सुखद अर्थात् प्रिय, पथ्य अर्थात् कल्याणकारिणी, तथ्यपरक वाणी को सुनृत व्रत कहा गया है –

प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतं व्रतमुच्यते।
तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत्।।[32]

जिस प्रकार महर्षि व्यास ने अपने भाष्य में सत्य को श्रुतिप्रिय तथा अहिंसा से समन्वित रूप में प्रतिपादित किया है, उसी प्रकार जो सुनने में सुखद नहीं तथा परिणाम में कल्याणकारी नहीं ऐसे तथ्यपरक वचन को 'तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत्' कहते हुए योगशास्त्र में प्रतिपादित सत्य के स्वरूप को जैन-दर्शन की आचार-मीमांसा में पूर्ण रूप से समन्वित कर लिया गया है। इसी प्रकार धन को मनुष्यों का बाहरी प्राण निरूपित करते हुए किसी के द्वारा बिना दिए वस्तु के ग्रहण को स्तेय मानकर ऐसा न करने के व्रत का, अस्तेय व्रत के रूप मे प्रतिपादन भी, योगशस्त्राभिमत अस्तेय की जैनाचार में स्पष्ट समन्विति है –

अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रतमुदीरितम्।
बाह्याः प्राणाः नृणामर्थो हरता तं हता हि ते।।[33]

ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के योगशास्त्राभिमत सिद्धान्त भी, समान रूप से जैन दर्शन की आचार–मीमांसा में अपने समन्वय को प्रकाशित करते हैं।

व्यक्तिगत कल्याण तथा चित्त के प्रसादन एवं स्थिरता के लिए प्रतिपादित भावनाचतुष्टय तथा यम के साधन–मार्ग, जिस प्रकार योगशास्त्र में व्यक्तिगत साधना के रूप में प्रतिपादित किए गए हैं, उसी प्रकार, बौद्ध तथा जैन दर्शनों की आचार–मीमांसा में भी इनका प्रतिपादन, व्यक्तिगत उत्कर्ष के लिए ही किया गया है। व्यक्तिसमुदाय ही समाज होने के कारण तथा इन साधनों के अभाव में सम्पूर्ण समाज विकृत हो जाने से, व्यक्तिगत साधना के रूप में प्रतिपादित होने पर भी, इनकी सामाजिक उपादेयता, आस्तिक वर्ग के 'योगशास्त्र' तथा नास्तिक वर्ग के बौद्ध तथा जैन दर्शनों की आचार–मीमांसा में समान रूप से समन्वित है।

भारतीय चिन्तन में अन्यतम योगशास्त्र, वाक्यार्थ–निष्पादनप्रणाली के रूप में प्रसिद्ध मीमांसा दर्शन के समान सर्वतन्त्रोपकारित्व रूप धर्म से भी समान रूप से विभूषित है। 'बहुशास्त्रान्तराश्रिता' मीमांसा के अर्थावधारण के लिए प्रतिपादित सिद्धान्त, जिस प्रकार सभी दार्शनिक प्रस्थानों में परिलक्षित होते हैं, योग शास्त्र के सिद्धान्त भी उसी प्रकार, वैदिक तथा अवैदिक दोनों दार्शनिक प्रस्थानों में समन्वित हैं। इसलिए, योगशास्त्र के सैद्धान्तिक प्रतिपादन में वैयक्तिक तथा सामाजिक उपादेयता के साथ ही 'सर्वशास्त्रोपकारकत्व' की भी एक विशिष्ट उपादेयता विद्यमान है।



सन्दर्भ –

1. *"तरति..., छान्दोग्योप, 07.01.03*
2. *मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां, पातंजलयोगसूत्र 01–33*
3. *ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं, मैत्रायणी–संहिता, 02/01/01*
4. *वैश्वानरं, मैत्रायणी–संहिता, 02/01/12*
5. *इन्द्राग्नी रोचनादिवः, मैत्रायणी–संहिता 04/11/01*
6. *वैश्वानरोऽजीजनत, मैत्रायणी–शाखा, मन्त्रभाग, उद्धत–मीमांसा दर्शन का विवेचनात्मक इतिहास, पृ. 304, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1992*
7. *रागद्वेषवियुक्तैस्तु, श्रीमद्भगवद्गीता, 02/64*
8. *प्रसन्नचेतसो, श्रीमद्भगवद्गीता, 02/65*
9. *मैत्री से द्वेषभावका, पातंजलयोगप्रदीप, पृ. 224 की टिप्पणी, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2051, बारहवाँ संस्करण।*
10. *पञ्च पञ्च नखा, वाल्मकिरामायण, कि. 17/39*
11. *तत्र सर्वप्रणिसु, व्यासभाष्य 0–33*
12. *यमनियमासन, योगसूत्र 02–29*
13. *अहिंसासत्यास्तेय, योगसूत्र 02–30*
14. *तत्राहिंसा, व्यासभाष्य 02–30*
15. *यस्मिन् सर्वाणि, ईशावास्योप, 07*

16. लभन्ते, भगवद्गीता 05–25
17. सर्वेषां भूतानां, शांकर भाष्य भ. गी. 05–25
18. 'सत्य' यथार्थे, व्यासभाष्य 02–30
19. 'यदि चैवमप्यभिधीयमाना, वही 02–30
20. सत्यस्य, महाभारत, शान्तिपर्व, उद्धत, पातञ्जलयोगप्रदीप, पृ. 328, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2051
21. स्तेयमशास्त्रपूर्वकं, व्यासभाष्य, योगसूत्र, 02–30
22. 'ब्रह्मचर्य, वही 02–30
23. विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह, वही 02–30
24. स्मरणं, दक्ष–संहिता 07–31,32
25. न मे स्तेनो जनपदे छान्दोगयोपनिषद्, 05–11–05,
26. शौचसन्तोषतपः, योगसूत्र, 02–32
27. मेत्ता–करुणामुदिता, अभिधम्मत्थ–संगहो, पृ. 159 (9–9)
28. द्रष्टव्य धम्मपद, 24.06.–10
29. 'यः प्राणमतिपातेति, धम्मपद 18/12–13
30. पुप्फनिहेव, धम्मपद, 08–03
31. न यत्प्रमादयोगेन आर्हत–दर्शन, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. 122, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1994
32. प्रियं पथ्यं आर्हत–दर्शन, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. 122
33. अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रतमुदीरितम्, वही, पृ. वहीं,

8

संस्मरणिका

नियति ने विज्ञान से दर्शन का विद्यार्थी बनाया

राधेरमण पाण्डेय

बात वैशाख कृष्ण पक्ष प्रतिपदा गुरूवार चित्रा नक्षत्र संवत् 1999 तदनुसार दिनांक 2 अप्रैल 1942 की है जब स्वतंत्रता संग्राम पूरे भारत में अपने सबाब पर था। जनपद जौनपुर के एक छोटे से गाँव मयन्दीपुर, जो तत्कालीन सदर तहसील और वर्तमान में बदलापुर के दक्षिण लगभग 7 कि.मी. पर स्थित है, के एक किसान तथा संस्कृत–वैदुष्य के लिए ख्यातिलब्ध पाण्डेय परिवार में एक बालक ने जन्म लिया। पुत्रोत्सव संबंधी भारतीय परंपराओं के साथ जातक का लालन–पालन शुरू हुआ। ''होनहार वीरवान् के होत चीकने पात'' की बात चरितार्थ थी, क्योंकि जातक जन्म से ही होनहार एवं सौम्य दिख रहा था। भारतीय सनातन परंपरानुसार भगवान् कृष्ण के बड़े भाई बलराम के नाम पर नवजात शिशु का नामकरण रेवतीरमण किया गया। शिशु रेवती रमण जी संस्कृत व्याकरण के उद्‌भट विद्वान् आचार्य प्रवर स्व. पं. रामकरण पाण्डेय के बड़े भाई स्व. पं. रामवरण पाण्डेय के पाँचवीं सन्तान थे। रेवतीरमण जी का बचपन बहुत सादगीपूर्ण स्वाभिमान और प्रतिष्ठापूर्वक व्यतीत हुआ। सम्पूर्ण जीवन उसी मान प्रतिष्ठा एवं स्वाभिमान के धनी श्री पाण्डेय जी बने रहे।

बालक श्री पाण्डेय जी की प्रारम्भिक शिक्षा–दीक्षा अपने गाँव के ही राजकीय प्राथमिक पाठशाला में सम्पन्न हुई। वह प्राथमिक विद्यालय आज भी उसी तरह अपनी गौरव गाथा समेटे हुए विकास के पथ पर गतिमान बना हुआ है। मात्र चार वर्ष की अवस्था में ही बालक रेवती रमण जी ने कक्षा एक से पढ़ाई शुरू कर दिया। हर कक्षा में प्रारम्भ से ही श्री पाण्डेय ने सर्वोत्कृष्ट प्रदर्शन करते हुए कक्षा पाँच तक की शिक्षा इसी अपने गाँव के विद्यालय से पूर्ण किया। कक्षा छः में मेरे बड़े भईया श्री रेवती रमण जी का दाखिला, स्वतंत्रता संग्राम के एक अग्रणी, धुरन्धर एवं सम्मानित स्वतंत्रता सेनानी पं. भगवती दीन तिवारी जी द्वारा संस्थापित संस्था 'जयहिन्द इण्टर कॉलेज, तेजी बाजार जौनपुर'' में हुआ। श्री पाण्डेय जी ने वर्ष 1956 में मात्र 14 वर्ष की अल्प आयु में ही विज्ञान वर्ग से हाईस्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर लिया। परिवार एवं परिजनों की तमन्ना थी कि आगे चलकर हमारा बेटा एक अच्छा वैज्ञानिक बने। इस अभिलाषा से कक्षा ग्यारह में श्री रेवतीरमण जी को देवाधिदेव महादेव भगवान् श्री शिव जी की नगरी काशी भेज दिया गया। अग्रिम कक्षा में वाराणसी की एक प्रतिष्ठित संस्था में मेरे भैईया का प्रवेश विज्ञान वर्ग में हो गया। यहीं से नियति ने करवट बदलना शुरू किया और एक महीने में ही भाई साहब का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। वह इस तरह बीमार हो गये कि पढ़ाई तो दूर जीवन ही कठिन दिखने लगा। फलतः कक्षा ग्यारह की पढ़ाई छोड़कर उनको गाँव वापस आना पड़ गया। बिगड़ते स्वास्थ्य के कारण अग्रिम अध्ययन में बाधा खड़ी हो गई। वह हाई स्कूल में प्रथम श्रेणी के मेधावी छात्र थे, अबः प्रदेश के शिक्षा विभाग द्वारा उन्हें मेरिट छात्रवृत्ति स्वीकृत हो गयी। उस छात्रवृत्ति को प्राप्त करने की शर्तों में अगली कक्षा में लगातार अध्ययन करना आवश्यक होता है। अपने होनहार

स्व. प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय के अनुज

मेधावी छात्र के खराब स्वास्थ्य के कारण अध्ययन बन्द होने एवं काशी से गाँव वापस आने की सूचना जयहिन्द इण्टर कॉलेज के परम विद्वान् तथा अनुशासन प्रिय प्रधानाचार्य पं. सत्यनारायण तिवारी जी को मिल गयी। अपने प्रिय मेधावी छात्र के उज्ज्वल भविष्य की कामना लिए हुए प्रिंसिपल साहब चलकर स्वतः हमारे घर आ गये। उन्होंने पूज्य पिजाजी से अनुरोध किया कि होनहार छात्र का भविष्य बाधित न हो, अतः इसका प्रवेश मेरे ही कॉलेज में कला वर्ग से ही करवा दीजिए। ज्ञातव्य है कि इण्टर विज्ञान वर्ग की उन दिनों उक्त कॉलेज में मान्यता नहीं थी।

तीन महीने बाद भाई साहब का प्रवेश कक्षा ग्यारह में प्रमुख विषय तर्कशास्त्र तथा संस्कृत के साथ जयहिन्द कॉलेज में ही सभी लोगों ने करवा दिया। घर वापस आने पर भाई साहब का स्वास्थ्य सुधरने लगा और यथा समय सन् 1958 में इण्टर की परीक्षा भाई साहब ने वहीं अपने पुराने कॉलेज से उत्तीर्ण कर लिया। यहीं से भाग्य ने पलटा खाया और एक अभिलषित वैज्ञानिक दर्शन के पथ पर चल पड़ा।

जुलाई 1958 में मेरे बड़े भईया श्री रेवती रमण जी पूरब के आक्सफोर्ड कहे जाने वाले प्रयाग विश्वविद्यालय के छात्र के रूप में इलाहाबाद आ गये। उन्होंने दर्शनशास्त्र, अंग्रेजी साहित्य, संस्कृत एवं अनिवार्य सामान्य अंग्रेजी आदि विषयों के साथ स्नातक परीक्षा वर्ष 1960 में उत्तीर्ण कर लिया। स्नातकोत्तर कक्षा में मेरे भईया ने दर्शन शास्त्र के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त का सम्यक् अध्ययन अपने सम्मानित गुरूओं सर्व श्री डॉ. एस. दत्ता, डॉ. विश्वास, प्रो. एस.एस.राय, डॉ. एस. के. सेठ एवं विश्व प्रसिद्ध दार्शनिक प्रो. संगम लाल पाण्डेय के सान्निध्य में किया तथा एम.ए. की परीक्षा वर्ष 1962 में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया। एम.ए. की मेरिट में भाई साहब को चौथा स्थान मिला। इस समय दर्शन विभाग में प्रो. नरेन्द्र सिंह के अग्रज श्री ब्रजेन्द्र सिंह जो बाद में भारतीय प्राशासनिक सेवा में पंजाब चले गये, डॉ. रामलाल सिंह तथा डॉ. डी.एन.द्विवेदी को क्रमशः 1,2,3 स्थान प्राप्त हुआ। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रो. रामलाल सिंह एवं प्रो.डी.एन. द्विवेदी जी को अध्यापन करने का सुअवसर मिल गया। मेरे भईया की भी लालसा थी प्रयाग विश्वविद्यालय में अध्यापन करने की परन्तु उनको तीर्थराज प्रयाग ने उस भूमिका में नहीं स्वीकारा।

मेरे भाई साहब हर दिल अजीज थे, सबके अनन्य थे, जो भी एक बार उनके सम्पर्क में आ गया उससे यथोचित सम्बन्ध मर्यादा के साथ अन्त तक बना रहा।

"वृद्धों का विश्वास पात्र हो, बने युवकों का साथी, बच्चों में मिल जाय बोलियाँ, बोल सके तुतलाती" यह कहावत प्रो. रेवती रमण पाण्डेय जी पर अक्षरशः सही लागू होती थी। वह अपने विद्वान् गुरूओं के प्रति समर्पित कृपापात्र छात्र, सहपाठियों के विश्वस्त ईमानदार मित्र तथा अपने से छोटों के प्रति सह्रदय और कुशल संरक्षक की भूमिका में सम्पूर्ण जीवन जीते रहे। हर नौजवान विद्यार्थी का जीवन एक जैसा ही होता है और ज्यों–ज्यों वरिष्ठता होती जाती है भूमिकायें बदलती जाती हैं। आवश्यकताओं से बोझिल होता हुआ व्यक्ति ऊँची उड़ान की अभिलाषा करता जाता है। मेरे भईया इसके अपवाद नहीं थे। उन्हें भी उज्ज्वल भविष्य की कामना थी जो परंपरया प्राणि मात्र के साथ जुड़ी रहती है। अपने छात्र जीवन में भाई साहब टैगोर टाऊन में एक शुक्ल जी के मकान में रहते थे जोकि प्रो. जटा शंकर जी एवं न्यायमूर्ति सखाराम सिंह के घर के पास था। पूज्य पिताजी कभी–कभी प्रयाग आते थे तो हाशिमपुर रोड एलनगंज की ढाल पर स्थित हनुमान

जी का मन्दिर जो आज भी सिद्ध पीठ के रूप में विद्यमान है, मैं जा कर नियमित दर्शन अवश्यक रूप से करना–कराना भाई साहब की दिनचर्या में था। भाई साहब एवं पूज्य पिताजी से ऐसी जानकारी मुझे मिलती रहती थी। आज भी उधर से गुजरने पर सारी यादें कौंधकर नयी हो जाती हैं। उस स्थान से मेरा भावनात्मक जुड़ाव हो गया है। सब कुछ के साथ एक अध्ययन शील छात्र की भूमिका में भाई साहब तत्परता से लगे रहते थे। न्यायमूर्ति सखाराम सिंह बताते हैं कि मैं तो विज्ञान का विद्यार्थी था परन्तु श्री रेवती रमण जी नियमित रूप से मुझे दर्शन शास्त्र एवं अन्य धार्मिक बातें आकर बताते थे और पढ़कर सुनाते थे। दोनों की पक्की दोस्ती थी। पी.सी.एस. एवं आई.ए.एस. की परीक्षाओं में अन्तिम चयन न हो पाने का मलाल उनको बना रहा। विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित अध्यापक के रूप में बाद में प्रशासनिक अधिकारियों की एक लम्बी कतार उनके अपने शिष्यों की रही है। वर्ष 1963–64 में भाई साहब की मुलाकात प्रयाग के लिए अजनबी एक ऐसे विद्वान् व्यक्तित्व से हुई, जो प्रयाग के उत्कृष्ठ विद्वानों की मौलिक धरोहर बनकर आज भी प्रयाग स्टेशन के निकट स्थित हवामहल परिसर में अपना रैन बसेरा बनाकर देश–विदेश में मनोविज्ञान शिक्षा के केन्द्र बने हुए हैं। मेरा आशय प्रो. आर.सी. त्रिपाठी, पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष मनोविज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय से है। प्रो. आर.सी.त्रिपाठी एवं प्रो. आर.आर. पाण्डेय जी ने मिलकर स्टेनली रोड पर सर तेज बहादुर सप्रू (बेली) अस्पताल (इलाहाबाद) के बगल एक राजमहल ''गजराज भवन'' में रहने लगें। दोनों जन ऐसी मित्रता में बंधे कि शरीर दो, पर मन एक होकर अन्त तक अटूट सामंजस्य बना रहा। इन दोनों मित्रों ने कुछ दिन बाद दूसरा रैन बसेरा बनाया और दरभंगा कालोनी स्थित गणित के प्रोफेसर डॉ. वी.एन. प्रसाद के मकान राकेशभवन में ऊपर मंजिल पर मात्र रू. 85 के किराये पर रहने लगे। प्रो. आर.सी.त्रिपाठी को नव स्थापित मनोविज्ञान विभाग के प्रथम विभागाध्यक्ष प्रो. दुर्गानन्द सिन्हा ने एक रेलयात्रा के दौरान बिहार से इलाहाबाद के बीच खोज निकाला था और प्रयाग विश्वविद्यालय के उत्कृष्ट विद्वानों की माला में स्थायी रूप से प्रो. त्रिपाठी को भी गूँथ दिया। अब वह प्रयाग की गंगा–जमुनी सभ्यता और स्वाध्याय के पर्याय बने हुए हैं।

समय बीतता रहा और प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय एवं प्रो. आर.सी. त्रिपाठी अपने अपने भविष्य के उत्कृष्ट मंजिल की तलाश में दिनरात अध्ययन में जुटे रहे। जुलाई 1966 में बड़े भईया प्रो. रेवतीरमण जी के सौजन्य से मुझे भी इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी.ए. का विद्यार्थी बनने का सुअवसर मिला। मैं भी दरभंगा कालोनी स्थित राकेशभवन में आकर रहने लगा। तब बड़े भाई प्रो. पाण्डेय डी.फिल. के छात्र थे। उनको शोध छात्रवृत्ति मिलती थी और प्रो. त्रिपाठी प्रयाग विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान विभाग के वेतन मान 400–900 में प्रवक्ता पद पर विद्यमान थे। उन दिनों हम लोगों की अजीब दिनचर्या थी। समयाभाव के कारण दिन में सब्जी चावल एवं रात को सब्जी रोटी बनती थी। तीन के हिसाब से कुल 09 रोटियाँ बनती थी। किसी अभ्यागत के आने पर उसके हिस्से में भी तीन रोटी और बनती थी। भोजन कम होने पर और मांगना तथा अधिक होने पर भोजन छोड़ने की शक्त मनाही थी। सब लोग हँसी खुशी रह रहे थे। स्टोव का जमाना था। हमारे पास एक पीतल का स्टोव था। दाल देर में पकती थी क्योंकि कूकर उन दिनों नहीं हुआ करते थे। अतः समयाभाव के कारण दाल केवल रविवार को या किसी अन्य छुट्टी के दिन

ही बन पाती थी। उन दिनों दो रूपये किलो शुद्ध वासमती चावल तथा डेढ़ रूपये किलो चीनी मिलती थी। हर रविवार को हम एक सप्ताह का राशन खरीदकर लाते थे। शान से हम सब का गुजारा होता था। मेरे आने से भाई का आर्थिक बोझ बढ़ गया था जो छात्रवृत्ति पर ही आधारित था। भईया को अच्छी नौकरी की चिन्ता के साथ अपने उच्च अध्ययन की भी चिन्ता बनी रहती थी। मैं बड़े भाइयों के साथ अनुशासित छात्र की तरह रह रहा था।

समय ने करवट बदला और हम तीनों कुछ महीने ही एक साथ प्रयाग की धरती पर रह पाये। प्रो. आर.सी. त्रिपाठी उच्च अध्ययन हेतु मिसिंगन विश्वविद्यालय, अमेरिका पाँच वर्षों के लिए उड़ गये। सन् 1967 में मेरे भईया प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय तदर्थ शिक्षक के रूप में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में मात्र छः माह के लिए जो जीवन यात्रा शुरू किया तो पुनः पीछे मुड़कर उन्होंने नहीं देखा और निरंतर आगे ही बढ़ते गये। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभागाध्यक्ष प्रो. टी.आर.वी. मूर्ति के संरक्षकत्व में छः माह व्यतीत होते–होते भईया प्रो. पाण्डेय को अस्थायी प्रवक्ता के रूप में गोरखपुर विश्वविद्यालय में नौकरी मिली। वहाँ भाई साहब के एक अनन्य मित्र प्रो. सभाजीत मिश्र पहले से ही दर्शन विभाग में प्रवक्ता के रूप में कार्यरत थे। उनका आदर से दद्दा भी एक उपनाम था। डॉ. सभाजीत मिश्र जी के कारण पूर्णतया नयी जगह गोरखपुर में भाई साहब को कोई परेशानी नहीं हुई। मेरे भाई साहब बहुत ही सरल एवं प्रसन्नचित्त व्यक्तित्व के धनी थे। माहौल को अपने व्यक्तित्व से सौहार्द पूर्ण बनाने में उनको महारथ प्राप्त थी। ज्ञातव्य है कि प्रयाग विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में वरिष्ठता की लड़ाई की एक लम्बी परंपरा रही है जो प्रो. नरेन्द्र सिंह और प्रो. मृदुला प्रकाश तक चलती रही। विभागाध्यक्ष के चक्रानुक्रम की व्यवस्था लागू होने पर ही इसका अन्त हुआ। भईया प्रो. रेवतीरमण जी गोरखपुर विश्वविद्यालय में कार्यरत थे और उनके दो अनन्य मित्र तथा बैच मेट प्रो. आर.एल. सिंह एवं प्रो. डी.एन.द्विवेदी प्रयाग विश्वविद्यालय में कार्यरत थे। दोनों आपस में अच्छे मित्र थे परन्तु विभागीय वरिष्ठता का मतभेद चलता रहता था। प्रो. द्विवेदी जी से प्रो. आर.एल. सिंह जूनियर कहे जाते थे। एक बार दोनों के घर में एक महीने के अन्तराल में चोरी हुई। पहले प्रो. द्विवेदी पर चोरों ने हाथ फेरा और उसके एक माह बाद प्रो. रामलाल सिंह के घर चोरों ने दस्तक दी। भईया प्रो. रेवती रमण जी को जब इस बात की सूचना मिली तो सद्यः उन्होंने दोनों को पत्र लिखा और द्विवेदी जी से कहा कि भाई साहब! आप भाई रामलाल जी से वरिष्ठ हैं, यह निर्णय हो गया। चोरों ने भी आपके घर में पहले चोरी कर के आपकी वरिष्ठता सिद्ध कर दी है। अब दोनों लोग इसी निर्णय के आधार पर आपसी संबंध बनाकर रहिए। माहौल खुशनुमा बन गया। इस तरह के विनोदी स्वभाव के भी धनी भईया प्रो. रेवती रमण जी थे। गोरखपुर विश्वविद्यालय में अस्थायी रूप से पढ़ाते हुए ही भाई साहब को हुए ही दो वर्ष के लिए डाड फेलोसिप पर उच्च अध्ययन हेतु जर्मनी जाने का सुअवसर मिला। एक अस्थायी प्रवक्ता को जर्मनी उच्च अध्ययन के लिए जाने का मार्ग गोरखपुर विश्वविद्यालय में बहुत ही दुरूह एवं संशय से भरा पहेली की तरह रहा। वहाँ के अधिष्ठता, कला संकाय एक दबंग किस्म के व्यक्तित्व वाले थे, उनको ईर्ष्या हो रही थी। भाई साहब के जर्मनी जाने के मार्ग में उन्होंने इतनी बाधायें पैदा कर दिया कि अवैतनिक अवकाश दो

वर्ष का मिलना असंभव हो गया। प्रवक्ता पद से त्याग पत्र देकर जाने की बात हो रही थी। उनके रिक्त पद पर डीन साहब अपने किसी को नियुक्त करना चाह रहे थे। संयोग से उन दिनों गोरखपुर विश्वविद्यालय के कुलपति माँ सरस्वती के वरद् पुत्र, अनन्य साधक और तीर्थराज प्रयाग की पावन धरती के सजीव विद्वान् साहित्यकार डॉ. बालकृष्ण राव साहब हुआ करते थे। जब भाई साहब के जर्मनी जाने के मार्ग में अवकाश न मिल पाने के कारण यात्रा बाधित होने की बात कुलपति तक पहुँची तो भाग्य ने पलटा खाया और माननीय कुलपति जी ने अपने विशेषाधिकार से अवैतनिक अवकाश स्वीकृत करते हुए उच्च अध्ययन हेतु विदेश यात्रा का मार्ग प्रशस्त कर दिया। तब तक भाई साहब पुत्री निर्मला एवं चि. सुरेश दो बच्चों के पिता बन चुके थे। संयुक्त परिवार के कुशल संरक्षण में परिवार गाँव में रहता था। जर्मनी प्रवास के दौरान ही भैईया की पुत्री का शुभ विवाह संयुक्त परिवार के संरक्षक और वैयाकरण के परम विद्वान् चाचा आचार्य प्रवर पं. रामकरण पाण्डेय एवं दो बड़े भाइयों सर्व श्री पं. चन्द्रशेखर पाण्डेय (बड़कू) एवं पं. बृजरमण पाण्डेय (नन्हकू) ने मिलकर बड़ी धूम–धाम से प्रतापगढ़ जनपद के पट्टी तहसील के संभ्रान्त एवं विशिष्ट विद्वान् परिवार के बालक चि. रमेश के साथ सम्पन्न कर दिया। सन् 1975 में भाई साहब द्वितीय पुत्र चि. उन्मेष के पिता बने।

मेरे बड़े भईया आचार्य रेवती रमण पाण्डेय जर्मनी में उच्च अध्ययन के दो वर्ष का कार्यकाल पूरा ही कर रहे थे कि तब तक उनकी नियुक्ति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में स्थायी पद पर हो गयी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभागाध्यक्ष आचार्य आर. के. त्रिपाठी साहब ने सहर्ष भाई साहब को कार्य–भार ग्रहण कराया। भाई साहब जर्मनी से सीधे बनारस ही आकर स्थापित हो गये। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से भईया के भविष्य की उड़ान होने लगी। भगवान् शंकर ने उन्हें वैज्ञानिक नहीं बनने दिया तो अपनी ही नगरी में दार्शनिक बनने का सुअवसर प्रदान किया। रीडर, प्रोफेसर के रूप में महामना मदन मोहन मालवीय जी को अपना आदर्श मानते हुए शालीनता की प्रतिमूर्ति बनकर भाई साहब दर्शन के क्षेत्र में बहुत कुछ करने का अथक प्रयास करते रहे।

अपने अध्ययन पर किसी भी प्रकार से कोई बाधा उनको स्वीकार्य नहीं थी। अध्ययन के प्रति उनका समर्पण इतना था कि रीडर, प्रोफेसर होने के बाद भी अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिए वह सनातन धर्म सम्राट, परम सन्यासी, अद्वितीय विद्वान् स्वामी करपात्री जी के सान्निध्य में प्रतिदिन लेखनी और पुस्तिका लेकर एक जिज्ञासु अबोध विद्यार्थी की तरह नियमित रूप से सायंकाल दो घण्टे उनके धर्म संघ आश्रम में वेदान्त पढ़ने जाया करते थे। काशी के परम नैयायिक आचार्य प्रवर बदरीनाथ शुक्ल, परम विशिष्ट विद्वान् शास्त्रार्थी आचार्य प्रवर पं. राजनारायण शास्त्री तथा काशी के अन्य विद्वानों के अन्तेवासी होकर वह अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त करने के लिए सदैव रत रहते थे। संस्कृत विश्वविद्यालय से स्वर्ण पदक सहित दर्शनाचार्य की भी उपाधि उनको प्राप्त हुई थी। सरलता एवं सहजता की प्रतिमूर्ति हमारे भईया सबके अपने थे। मैं उनका बहुत ही मुँह लगा हुआ था। उनका नाम बलराम के नाम पर रेवती रमण था तो मेरा नाम कृष्ण भगवान् के नाम पर राधेरमण। मेरा स्थान उनके बाद ही पारिवारिक वरिष्ठता में आता था। दिन

में जब तक दो चार बार मुझे उल्लू, मूर्ख, गधा वह नहीं कहते तो मुझे लगता था कि वह नाराज हैं। उनको अनायास ही मैं छेड़ देता था और उनके मुँह से मेरा प्यारा सम्बोधन मिल जाता था। मुझे भाई साहब जब कभी आप कहकर सम्बोधित कर देते थे तो मेरे नीचे की जमीन खिसक जाती थी। जब तक तुम शब्द का प्रयोग नहीं करते तब तक मुझे लगता था कि वह बहुत नाराज हैं और तब मैं सामने नहीं पड़ता था।

भैईया प्रो. रेवती रमण जी बहुत ही स्वाभिमानी व्यक्ति थे। स्वदेश प्रेम, अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित थे। मुझे एक बात याद है कि जर्मनी प्रवास के दौरान भारतीय दर्शन एवं वेदान्त शास्त्र की व्याख्या में प्रशस्त ग्रन्थ "खण्डनखण्डखाद्य" के अध्ययन की कुछ गुत्थियाँ वहाँ उलझ गयी। जर्मनी के विद्वानों के समक्ष अपने स्वाभिमान को उन्होंने झुकने नहीं दिया और वहाँ से अपने पूज्य चाचा आचार्य प्रवर पं. रामकरण पाण्डेय जी के पास समस्या लिख कर भेज दिया और भारत से उस समस्या का समाधान उन्हें भेजा गया। तब उन्होंने अपने कार्य को सम्पन्न किया। मेरे भईया बहुत ही सरल, अनुशासन एवं मर्यादा के पुजारी महामानव थे। वह अजातशत्रु थे। उनसे मिलने वाला हर व्यक्ति अपने को ही उनके सबसे करीब समझता था। परम विश्वासी थे। अपने छात्रों एवं विद्यार्थियों को अपने बेटों की तरह मानते थे। उनके विद्यार्थी भी उनसे गुरूत्व, संरक्षकत्व, एवं पितृत्व का भरपूर आशीर्वाद एवं प्यार पाते थे। उनके सुहृद छात्रों की एक लम्बी शृखंला है।

देवाधिदेव महादेव भगवान भोले शंकर की नगरी से ही उनका जीवन शुरू हुआ और अपने स्तर की उच्चतम ऊँचाईयों को प्राप्त करते हुए एक योगी की तरह समाप्त हुआ। मेरे भईया आचार्य रेवती रमण पाण्डेय जी 28 फरवरी 2002 को पं. दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में प्रतिष्ठापित हुए। तीन वर्ष के पूरे कार्यकाल में उन्होंने मात्र 2 वर्ष 5 माह तक मर्यादा पूर्वक अपने पद का निर्वहन किया। अपने परम मित्र एवं सहयोगी प्रो. सभाजीत मिश्र को प्रति कुलपति बनाकर विश्वविद्यालय के कार्य निपटाने का भार उनको उन्होंने सौंपा था। गोरखपुर विश्वविद्यालय को उत्कर्ष प्रदान करने की उनकी उत्कट इच्छा रही।

मेरे भईया का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक था। गोरखपुर विश्वविद्यालय का दीक्षान्त समारोह दिसम्बर में वह कराना चाहते थे। मुख्य अतिथि भारतीय गणतंत्र के महामहिम राष्ट्रपति मिसाइल मैन डॉ.ए.पी.जे. अब्दुल कलाम साहब को बनाना चाहते थे। इस निमित्त उन्होंने महामहिम से समय लेकर दिल्ली गये। महामहिम राष्ट्रपति ने पहली मुलाकात में ही दिसम्बर के स्थान पर अगस्त में ही गोरखपुर आने का स्वयं कार्यक्रम बताकर तिथि की घोषणा ही कर दिया। मजबूरन अगस्त में ही शानदार दीक्षान्त समारोह महामहिम राष्ट्रपति द्वारा सम्बोधित हुआ। गोरखपुर विश्वविद्यालय को कृषि संकाय वह अपने कुलपतित्व में देना चाहते थे। किसी की भी हर इच्छा पूरी नहीं होती और प्रो. पाण्डेय भी इसके अपवाद नहीं थे। मेरे भईया का व्यक्तित्व धरती की तरह सर्वसमावेशी, आकाश की तरह ऊँचा और सागर की तरह गहरा तथा हवा की तरह शीतल था। वह सन्तों के सन्त, बच्चों के सरंक्षक, आचार्यों के आचार्य, विद्यार्थियों के गुरू और नव जवानों के मित्र थे। वह अजात शत्रु थे। हर दिल अजीज थे। आचार्य प्रवर डॉ. विद्यानिवास मिश्र को वह अपना बड़ा भाई मानते थे। उनके परम सुहृद थे। महामहिम राज्यपाल डॉ. विष्णु

कान्त शास्त्री के परम प्रिय थे। सब एक दूसरे के इतने करीब थे कि छः महीने के अन्दर ही सब लोग इस दुनिया को छोड़कर परम धाम को चले गये। 27 जुलाई 2004 को मेरे भईया का महाप्रयाण हुआ। थोड़े ही दिनों में आचार्य विद्यानिवास जी एक दुर्घटना के शिकार हो गये और उसके बाद आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी ने रेलयात्रा में अपना शरीर छोड़ दिया।

भाई साहब जब से कुलपति हुए थे तब मुझे गोरखपुर जाने का सुअवसर नहीं मिला था उस समय उत्तर प्रदेश माध्यमिक संस्कृत शिक्षा परिषद् लखनऊ का केन्द्रीय मूल्यांकन मैं सम्पन्न करवा रहा था। मूल्यांकन समाप्त होने में एक दो दिन शेष थे। 20 जून 2004 को मेरे फोन पर भाई साहब की घण्टी बजी। मुझे प्यार से वह राधाकान्त कहा करते थे। मैंने सादर प्रणाम किया। आशीर्वाद के बाद उन्होंने कहा ''आप बहुत बड़े आदमी हो गये हैं, गोरखपुर आने का समय आप को नहीं मिलता''। मेरे पैर के नीचे की जमीन खिसक गयी। चुपचाप मैंने कहा जल्दी ही समय निकालता हूँ। 27 जून की रात चौरी–चौरा से चलकर 28 को प्रातः मैं अपनी पत्नी के साथ गोरखपुर पहुँच गया। रिक्शा करके मैं कुलपति निवास पहुँचा। भाई साहब विशिष्ट जनों से मुलाकात कर रहे थे। मेरे आने की सूचना उनको मिली। तत्काल समय लेकर मीटिंग से बाहर आ गये। जब पत्नी के साथ रिक्शे से आने की बात उनको पता चली तो गुस्से में उन्होंने मुझे डॉटते हुए कहा कि फोन कर गाड़ी स्टेशन बुला लेते, तुम बहुत बड़े मूर्ख हो, पता नहीं अकल कब आयेगी। उस दिन उनको कहीं बाहर जाना था। उन्होंने कार्यक्रम रद्द कर दिया। मैं एकादशी व्रत किये था। उनका आदेश हुआ व्रत छोड़ो, साथ भोजन करेंगे। मैं उनके सामने कम बोलता था। भाभी जी के कहने पर अपना आदेश वापस लेकर मेरे फलाहार के समय स्वयं बैठकर अपने हाथ से आम काटकर मुझे खिलाया। मुझे क्या पता था कि हमारी उनकी यह अन्तिम मुलाकात थी। 29 जून की रात को मेरा आरक्षण था। आते समय बड़े प्यार से वह मुझे देखते रहे और आशीर्वाद दिया। मैं 30 जून को इलाहाबाद वापस आ गया।

अन्तिम दिनों में पी.सी.एस. चयन के विशेषज्ञ के तौर पर वह इलाहाबाद आये थे। दुर्भाग्य से मेरी मुलाकात नहीं हो पायी। प्रो. आर.सी. त्रिपाठी जी के साथ वह ठहरे थे। नये कुलाधिपति टी.राजेश्वर जी आये थे, अतः उनसे प्रोटोकाल मुलाकात करने के लिए उन्हें लखनऊ जाना था। इसी बीच वहाँ से बुलावा आया। वह लखनऊ जल्दी चले गये। महामहिम से मिलने जब पहुँचे तो अपने अंदाज में कुलाधिपति ने थोड़ी सी अकड़ दिखाई। स्वाभिमानी और मर्यादित व्यक्तित्व के धनी आचार्य रेवती रमण को अच्छा नहीं लगा। प्रणाम कर के वह राजभवन से बिना कोई वार्ता किये वापस चल पड़े।

महामहिम कुलाधिपति टी राजेश्वर को अपनी गलती का संज्ञान हो गया। भईया राजभवन से बाहर हो गये थे। अपनी प्रशासनिक मशीनरी का उपयोग करके कुलाधिपति ने आचार्य पाण्डेय को वापस राजभवन बुलाने का बहुत प्रयास करना चाहा परन्तु स्वाभिमानी और ईमानदार कुलपति ने विनम्रता पूर्वक पुनः समय लेकर आने की बात कहकर गोरखपुर का रास्ता पकड़ लिया। वस्तुतः कुलाधिपति महामहिम राज्यपाल होने के पहले पुलिस के उच्चतम अधिकारी थे। शायद उन्हें आदर्श आचार्यों के साथ सम्यक् व्यवहार का ज्ञान नहीं था। बाद में अपने व्यवहार के प्रति कुलाधिपति ने क्षोभ भी व्यक्त किया था। परन्तु देर हो गयी थी।

कुलपति आचार्य रेवतीरमण पाण्डेय विश्वविद्यालय के छात्रों को अपने कुलाधीन कहा करते थे। क्रोध में कभी भी बच्चों से वार्ता नहीं करते थे। दण्डात्मक नीति उनकी नहीं थी। प्यार से विश्वविद्यालय कुल का संरक्षक बनकर वह छात्रों से वार्ता करते थे। छात्रों का समूह कितना भी नाराज होकर आता था लेकिन कुलपति के आचरण के वशीभूत होकर हँसते हुए आशीर्वाद लेकर वापस आता था। एक बार छात्रों का लम्बा जुलूस कुलपति के खिलाफ नारा लगाते हुए आवास की तरफ बढ़ रहा था। कुलपति भैईया अपने आवास पर थे। पूरा परिसर पुलिस छावनी में तब्दील हो चुका था। बड़े अधिकारी कुलपति को किसी अनहोनी के डर से घेरे हुए थे। कुलपति बच्चों के बीच जाना चाहते थे, पर प्रशासनिक अधिकारी जाने नहीं दे रहे थे। जब बच्चे कुलपति आवास पर अपनी सभा करने लगे करने लगे तो कुलपति सारी बाधाओं को तोडते हुए बच्चों के मंच पर पहुँच गये और पितृत्व स्नेह से सबका दिलजीत लिया। एक प्रतिनिधि मण्डल को अन्दर बुलाकर जलपान कराया और समस्या पर विस्तार से चर्चा किया तथा समाधान का भरोसा दिया। दो दिन के अन्दर समस्या का समाधान हो गया। बच्चों ने खुलकर जिन्दाबाद का नारा लगाया। कुलपति के महाप्रयाण से पूरा छात्र समुदाय अपने को अनाथ महसूस कर रहा था। आज भी गोरखपुर विश्वविद्यालय का छात्रसंघ उनकी बरसी मनाता है।

25 जुलाई 2004 को प्रातः अपने परम मित्र सर सुन्दरलाल अस्पताल के वरिष्ठ चिकित्सक प्रो. कमलाकर जी के साथ गोरखपुर से चलकर वाराणसी आये और गंभीर पीलिया रोगी के रूप में अस्पताल में भर्ती हो गये। 27 जुलाई 2004 को प्रातः 7.00 बजे डॉ. रजनीश शुक्ल का मनसूस फोन मिला जिसमें सब कुछ समाप्त हो गया था। महामानव, दिव्य पुरुष मेरे भईया रेवती रमण पाण्डेय हम लोगों को बिलखता छोड़कर इस दुनिया को छोड़ चिर निद्रा में सो गये थे।

वह सन्तों के सन्त महामण्डलेश्वर, अद्वैत वेदान्त के महापण्डित थे। उन्हें हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत के साथ जर्मन भाषा का भी सम्यक् ज्ञान था। 1995 से 1997 तक मारिशस स्थित गांधी संस्थान में बिजिटिंग प्रोफेसर की हैसियत से जवाहर लाल नेहरू पीठ स्थापित किया। उनके लगभग अर्धशतक छात्रों ने उनके संरक्षकत्व में शोधकार्य कर डाक्टोरल डिग्री प्राप्त किया है। देश–विदेश के इन विद्यार्थियों की लम्बी कतार है। दो. टर्न में लगभग छः वर्षों तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में दर्शनविगाध्यक्ष का पद सुशोभित किया। अखिल भारतीय दर्शन परिषद के अध्यक्ष भी बहुत दिन तक रहे। भारतीय दर्शन पर उनके बहुत से ग्रन्थ प्रकाशित हैं। उन्होंने देश–विदेश के बहुत से सेमीनारों में भारत का मान बढ़ाया। भैइया "वस्त्रेण, वपुषा, वाचा, विद्यया, विनयेन च, वकारै पंचभिर्हीना नरोनायाति गौरवात्" को अक्षरशः चरितार्थ करते थे। "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्" के पुजारी एवं संवाहक थे।

अन्त में अपने भैईया आचार्य रेवती रमण पाण्डेय के परम जिज्ञासु चिन्तक और प्रगल्भ शिष्य भाई अम्बिकादत्त शर्मा, प्रोफेसर, सागर विश्वविद्यालय को तथा डॉ. संजय शुक्ला, उपाचार्य, ई.सी.सी. इलाहाबाद को कोटिशः धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने भाई साहब के विषय में दो बूंद आँसू बहाने का सुअवसर दिया।

मेरे सखा सुबन्धु

रमाचरण त्रिपाठी

अभिज्ञान शाकुन्तलम् में एक प्रसंग आता है, जिसमें राजा दुष्यन्त महर्षि कण्व के आश्रम में भरत को जब पहली बार देखते हैं और उन्हें लगता है कि जैसे उनके इस बालक से पूर्वजन्म के सम्बन्ध रहे हैं। कुछ ऐसा ही मेरे साथ हुआ जब मैं अपने अनन्य प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय से पहली बार मिला। 23 अगस्त 1963 के आस–पास की बात है। मैंने कुछ दिन पहले ही इलाहाबाद विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान विभाग में एडहॉक लेक्चरर के रूप में पढ़ाना आरम्भ किया था। मैं पुष्पराज सिनेमा के बगल में रीवाँ कोठी में कैलाश होटल में रह रहा था और व्यवस्थित रूप से रहने के लिए किसी घर की खोज में था। मनोविज्ञान विभाग के प्रथम बैच के छात्र सूबेदार सिंह विभाग में शोध सहायक के रूप में कार्य कर रहे थे। उन्होंने सुझाया कि जहाँ वह रहते हैं वहाँ एक कमरा उपलब्ध है, मैं देख लूँ। जब तक कोई और प्रबन्ध नहीं हो पाता है। शाम को मैं उनके साथ स्टैन्ली रोड पर स्थित गजराज भवन के गेस्ट हाउस में गया और कमरा देखा। वह कमरा वस्तुतः एक बड़ा हॉल था। बाहर निकला तो बगल के कमरे से सफेद धोती और बनियान पहने, चेहरे पर हल्की मुस्कान जैसी अपनत्व का भाव लिये कोई निकला। वह कोई और नहीं भविष्णु रेवतीरमण पाण्डेय थे। उन्हें देखते ही मेरे मन में भी उतना ही अपनत्व का भाव जगा, जितना अपनत्व के साथ वे मुझे निहार रहे थे। उस दिन के पश्चात् लगभग 40 वर्षों के साथ में वे जब भी मिले, उसी मुद्रा में मिले। उनकी अनेक स्मृतियाँ हैं, जो भुलाये नहीं भूलती। सभी बहुत मीठी हैं। उनके साथ बहुत लम्बे समय तक अत्यन्त मधुर मैत्री सम्बन्ध में रहते हुए मैंने पाया कि उनकी आत्मीयता का पारावर नहीं था। आज मुझे लगता है कि अद्वैत वेदान्त के अध्येता होने से पहले ही अद्वैतवाद उनके जीवन में उतर आया था। उस दिन की पीड़ा, बिछुड़ने की पीड़ा कैसे भुलूँ, जब मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जा रहा था, रास्ते में ही फोन मिला कि वे नहीं रहे। उन्हें काशी लाया जा रहा था। शाम को मणिकर्णिका में उन्हें बिदा देने के लिए मैं नियति के इस खेल में विवश था। पन्द्रह दिन पहले ही वे इलाहाबाद आये थे। दो दिन घर पर ही रहे। जिस दिन जाना था, उस दिन पता नहीं कैसे सीढ़ियों से उतरते हुए उनका पैर फिसल गया और पीठ में कुछ चोट आ गई। शाम को उन्होंने कहीं 'टैट बैक' का इन्जेक्शन लगवाया। मुझे लगता है, उसी में कुछ समस्या थी। क्योंकि गोरखपुर पहुँचते ही उन्हें बुखार आने लगा था।

मैं उनसे उम्र में बड़ा होते हुए और मनोविज्ञान का अध्यवसायी होते हुए भी उनसे बहुत कुछ सीखा। विशेष रूप से भारतीय और पश्चिमी दर्शन की विचार–संस्कृति के बारे में। इलाहाबाद आते ही मुझे पढ़ाने के लिए मानोविज्ञान का इतिहास दिया गया था। आरम्भ में ही मनोविज्ञान की दार्शनिक पृष्ठभूमि नामक एक बड़ा यूनिट उस पाठ्यक्रम का हिस्सा था। दर्शन मेरा विषय कभी नहीं रहा था। इसे मैं अपना सौभाग्य ही समझता हूँ कि रेवतीरमण शंका समाधान के लिए मुझे सदैव उपलब्ध मिले। इतना ही नहीं, उन्हीं के कारण दर्शन के क्षेत्र में अनेक विद्वानों से मेरा

सेवानिवृत्त आचार्य, मनोविज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ.प्र.)

परिचय हुआ और उन सभी से भी मेरे आत्मीय संबंध बने रहे। चाहे वे प्रो. श्यामकृष्ण रहे हों या फिर प्रो. देवकीनन्दन द्विवेदी, प्रो. रामलाल सिंह, प्रो. एस.एस.डी. शर्मा या प्रो. सभाजीत मिश्र। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लगभग सभी आचार्यों से भी मेरा आत्मीय संबंध उन्हीं के चलते रहा। उनके कुछ अत्यन्त प्रिय शिष्य जैसे अम्बिकादत्त शर्मा, रजनीश शुक्ला, आनन्द मिश्रा और संजय शुक्ला इत्यादि भी मेरा बहुत आदर करते थे और आज भी करते हैं।

मजे की बात यह है कि वे मुझे अकादमिक जगत् से अपने जुड़ने का कारण मानते थे। जब हम लोग साथ–साथ रह रहे थे (1963–67 के बीच) तब वे परिवार के दबाव में कारण प्रशासनिक सेवाओं में जाने की तैयारी करने लगे और साथ में अपनी डि.फिल. को पूरा करने का काम भी शुरू किया। जब भी वे कहीं आवेदन करते, फार्म भरते, मेरे लिए भी एक आवेदन फार्म लेते आते। मेरा मन प्रशासनिक सेवाओं में जाने का नहीं था। मैं टाल जाता था, अक्सर उनके प्रस्ताव को। उनसे भी कहता था कि आप जैसा निश्छल व्यक्ति जो कहता है ''काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्'' वह कैसे प्रशासनिक सेवाओं में नौकरी कर अपने जीवन को सार्थक समझ सकता है। वे मेरी ऐसी बातों को प्रसन्नमुखी भाव से स्वीकार कर लेते थे, क्योंकि उनके अन्तर्मन में भी ऐसी ही कोई आत्म–प्रतिभा घर की हुई थी। जब भी उनके समक्ष प्रशासनिक सेवाओं की परीक्षा में बैठने के अवसर आते, अपने पूज्य चाचा जी का मन रखने के लिए उसमें बैठते तो जरूर लेकिन आधे अधूरे मन से। 1967 में मैं फुल ब्राइट फैलोशिप में अमेरिका जा रहा था। तभी पता चला कि गोरखपुर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में कुछ नियुक्तियाँ होने वाली हैं। मैंने उनकी ओर से एक प्रार्थना पत्र बनाकर उनके बायोडेटा के साथ भेज दिया। मेरे अमेरिका जाने के बाद उन्हें वहाँ से बुलावा आया और अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक वे गोरखपुर विश्वविद्यालय चले गये और फिर प्रशासनिक सेवाओं की ओर मुड़कर भी नहीं देखा।

मैंने उपर उनकी निश्छलता की बात की है। उनके सभी मित्र उनके इस गुण से परिचित हैं। बताने को मेरे पास अनेकों उदाहरण हैं, पर उनमें से एक के बारे में जब भी स्मरण करता हूँ तो बरबस आज भी हँसी आ जाती है। वे एक पारम्परिक नैष्ठिक परिवार से आते थे। उनकी नैष्ठिकता का आलम यह था कि क्या खायें और क्या न खायें, इसका उन्हें विचार रहता था। हम लोग साथ ही भोजन बनाते थे। जब भी अच्छा बनता तो कहते आज की सब्जी बहुत 'मीठी' बनी है। मीठा उन्हें अन्दर से प्रिय था। उनकी प्रिय मिठाई 'लकी स्वीट मार्ट' की 'एटमबौम्ब' थी। एक दिन हम लोग बाहर निकले। चूँकि देर हो गई, इसलिए मैंने कहा कि क्यों न बाहर ही खाना खा लिया जाये। निरंजन सिनेमा के बगल में एक रेस्तराँ में हम लोग गये। मुझे तब तक उनकी खाने की सीमाओं का ज्ञान नहीं था। खाना परोसा गया तो उन्होंने संकोच से पूछा, क्या यह शुद्ध है ? मैंने पूछा कि क्या आपने कभी होटल में नहीं खाया है, तो उन्होंने कहा नहीं। मुझे लगा कि शायद हमसे गलती हो गई और बिना वजह मैंने उन्हें धर्म संकट में डाल दिया। पर यह भी लगा कि इस प्रकार का व्रत बहुत दिनों तक नहीं चल सकता है। तभी मुझे याद आया कि वे घी को 'पवित्री' कहते थे। मैंने उन्हें सुझाया कि भोजन शुद्ध हो या न हो, आप तो 'घी' अर्थात् पवित्री डालकर उसे शुद्ध कर सकते हैं। वे हंसने लगे और भोजन को शुद्ध करने के इस उपचार का सहारा लेकर पहली बार ''होटल'' में उन्होंने खाना खाया।

आमतौर पर जिस विषय का विद्वान् व्यक्ति होता है, उसे वह अपने जीवन भी ढाले, यह जरूरी नहीं। रेवतीरमण जी का प्रिय विषय "अद्वैत वेदान्त" था और उसे उन्होंने अपने जीवन में पूरी तरह जिया। कभी अपने और पराये में वैसा भेद नहीं किया, जैसा कि आम लोग बरतते हैं। गोरखपुर विश्वविद्यालय से नौकरी शुरू की, और वहीं कुलपति बने, लेकिन वहाँ भी ऐसे पेचिदे पद पर रहते हुए उनका कोई शत्रु नहीं बना। यह उनकी चारित्रिक विशेषताओं का सबसे बड़ा प्रमाण है। वे जहाँ भी गये वहाँ अपनी विद्वता और अपने अत्युच्च मानवीय गुणों से लोगों को प्रभावित किया। जर्मनी में उनके गुरू श्मिटहाउजन उनके प्रशंसकों में रहे। अनेक भारतीय मित्रों को जर्मनी में उन्होंने अपने साथ रखकर जर्मनी के तौर तरीकों को सिखाया। भारतीय दर्शन के पारम्परिक विद्वान् होने के बावजूद उनकी दार्शनिक दृष्टि संकुचित नहीं रही। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग में 'अनुप्रयुक्त दर्शन' का पाठ्यक्रम बनाने में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान था। जब वे जवाहरलाल नेहरू प्रोफेसर होकर मॉरिशस गये तो वहाँ उन्हें भारत के सांस्कृतिक राजदूत की तरह सम्मान मिला।

उनके अचानक चले जाने से मेरे मन में एक बड़ा सूनापन प्रवेश कर गया है। उसकी भरपाई कोई और कर ही नहीं सकता। अभी भी उनकी आवाज को ढूंढता हूँ कि वे मुझसे पूछें "राजू कैसन बाटे"।



क्या भूलूँ क्या याद करूं

गोरखनाथ मिश्र

डॉ. रेवतीरमण पाण्डेय हमारे लिए रेवती थे, मेरे जीवन और शैक्षणिक प्रगति में जिन लोगों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभाव डाला, उनमें डॉ. पाण्डेय जी एक थे, हम एक दूसरे के संपर्क में तब आये जब हम कक्षा 6 में प्रवेश लिए। हम दोनों एक दूसरे से आगे बढ़ कर परीक्षा में अंक प्राप्त करने का प्रयास करते थे। हमारे बीच प्रतिस्पर्धा थी, सकारात्मक होड़ थी, नकारात्मक प्रतिद्वन्दिता नहीं। ईर्ष्या नहीं। एक द्वारा रचित रेखा को लघु करके अपनी रेखा को बड़ी दिखाने का भाव हममें नहीं था। ऐसी संकुचित और निषेधात्मक मानसिकता से हम बचते थे। हम निज में अन्तर्निहित प्रतिभा या शक्यता को प्रस्फुटित कर धावक प्रतियोगिता में सहभागी थे।

हमारा संबंध मित्रता और प्रतियोगिता के बीच पेंगेलेना था। हम निकट भी थे और दूर भी, हम एक दूसरे को पर्याप्त समझते थे। हमारे गांव पास-पास हैं, हम एक दूसरे के घर जाते थे, हमारे पारिवारिक संबंध आजीवन अच्छे रहे। हम जयहिन्द उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, तेजी बाजार, जौनपुर में कक्षा 6से 12वीं तक साथ थे फिर साथ-साथ इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी.ए. और एम.ए. की पढ़ाई किए। यहाँ से फिर हम दूर-दूर रहने लगे. पाण्डेय जी इलाहाबाद में शोधकार्य में लगे और मैं शोध के साथ-साथ अर्थोपार्जन के लिए बम्बई महानगरी में आ गया, पर दूर रहकर भी हम पर्याप्त पास थे।

डॉ. रेवतीरमण ऐसे परिवार में जन्मे थे जहाँ शिक्षा का अच्छा वातावरण था -पौरोहित्य पारिवारिक पेशा था-पैसे की कमी नहीं थी। पांडे जी को निशिचिन्त भाव से अध्ययनरत रहना था? इसके विपरीत मेरी यही मुख्य चिन्ता थी, 12वीं कक्षा तक घर की घुघुरी और लावा खाकर निर्द्वन्द्व भाव से अध्ययनरत थे -गाँव का विद्यालय था, किताबें हर साल उधार मांग लेते थे, कापियों का ऐसे तैसे प्रबन्ध हो जाता था। विद्यालय में एक साहित्य परिषद था, मैं इसका अध्यक्ष था और पाण्डेजी सचिव थे, इसमें वाद विवाद प्रतियोगितायें और छात्रों के भाषण होते थे, किसी को भी इससे छूट नहीं थी। उपस्थिति आवश्यक थी, हम दोनों ने इसका सफल ढंग से संचालित किया, हम दोनों परस्पर बहुत कम बोलते थे, पर जब बोलते तो खूब दिल खोलकर। विद्यालय के अवकाश के समय गप्पाष्ट के बजाय हम दोनों निकट की संस्कृत पाठशाला में पाणिनी की लघु सिद्धान्त कौमुदी पढ़न जाते- चौबे गुरू जी हमें सुधी उपास्य नहीं समझा सके और मैंने पाठशाला छोड़ दी, पर पाण्डे जी धुन के पक्के थे। वे लगे रहे और प्रथमा-मध्यमादि के सोपान डांकते रहे। चौबे जी समझाने के बजाय रटने पर बल देते और चुटकी बजाकर पढ़ाते, जैसे हमारी ऊब को हटाने का प्रयास करते हों। हम सोंचते, संस्कृत पाठशालाओं में शिक्षा-विधि को रोचक और आधुनिक रूप देने का प्रयास क्यों नहीं किया जाता।

सेवानिवृत्त आचार्य, दर्शन विभाग, गोवा विश्वविद्यालय, गोवा

हम दोनों ही परम्परा से जकड़े समाज की उत्पत्ति थे–जहाँ लुंगी पहनना मना था, खाते समय गंजी भी नहीं पहन सकते थे, पाण्डेय जी जब पाँचवीं में थे तो परिणय सूत्र में बंध गये थे, मैं आठवीं कक्षा में गौना ले आया। इससे हमारी शिक्षा में कोई व्यवधान नहीं पड़ा। परन्तु पत्नियों की उपेक्षा तो होनी ही थी। हम विद्यालय की राह आते-जाते इन सब विषयों पर बातें करते– राह कट जाती। हमारी राह एक एक थी, मंजिल एक थी, कदम मजबूत थे, भूत के सर्वेक्षण और वर्तमान की समीक्षा के साथ हम अनागत भविष्य को भी मुठ्ठी में पकड़ने का प्रयास करते, श्रेष्ठता या हीनता के भावों से उन्मुक्त हम कल्पना में पंख फैलाते और वांछित सौभाग्यफल की चारुता पर भी चर्चा करते।

12वीं के बाद क्या करना है मेरे लिए अस्पष्ट था। विद्यालय के प्रबन्धक और प्रधानाचार्य की प्रेरणा से मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने पहुँचा तो रेवतीरमण को पंक्ति में खड़ा पाया। मन की शक्ति को बल मिला और फिर हम दोनों साथ हो लिए, हम अधिक निकट आ गये, मैं एलनगंज लाज में रहता था और पाण्डेय जी टैगोर टाउन में। उस डेली गैसी की वे पत्रिका के संपादक थे –उन्होंने उस पत्रिका में मेरा एक लेख छापा और उन्होंने अपनी भी एक कविता छापी जिसका शीर्षक था 'परित्यक्ता'–इसमें उस पत्नि की कसक और पीड़ा का रेखांकन है जो जवान और सधवा होकर भी पति के सान्निध्य की गरमाहट से वंचित और बेबस है। दूसरों की संवेदनाओं की गहराई में घुसने की क्षमता का अनुपम उदाहरण है यह कविता।

पाण्डेय जी के व्यक्तित्व में आकर्षण था। मित्रता का हाथ मांगने वालों को निराश नहीं करते थे। वे मृदुभाषी थे, हंसमुख थे, मिलनसार थे, किन्तु ये सब उन्हें अपने अध्ययन और उद्देश्य प्राप्ति के प्रयास से विचलित न कर सके। उनमें आत्म विश्वास था, साहस था, अडिग होने की निष्ठा थी – किसी ने कहा है 'मन का विश्वास रगों में साहस भरता है, गिरकर उठना, उठकर गिरना नहीं अखरता है।' पाण्डेय जी सदैव उच्च उद्देश्य रखते थे और उसे प्राप्त भी करते थे, भाग्यशाली भी थे, गूढ़ और चिपचिप हस्तलिपि के बावजूद अच्छे अंक पाते थे। उनकी अटपटी वाक् शैली श्रोता को प्रभावित करने में सक्षम थी।

मैं बम्बई और गोवा विश्वविद्यालय में अध्यायपन रत हुआ। हम दूर हो गये–किन्तु इससे मन की निकटता में कभी नहीं आई। हम अखिल भारतीय दार्शनिक बैठकों, संगोष्ठियों, परीक्षाओं में मिलते रहे। शाम को हमारी व्यक्तिगत गोष्ठियाँ होती, हम दिल खोलकर बातें करते, लोकगीत गाते, नये पुराने किस्से होते–ऐसे अवसरों पर पाण्डेयजी का सरल व्यक्तित्व खुल जाता और सारी गूढ़ दार्शनिकता से हटकर मयन्दीपुर के रेवती हो जाते। पाण्डेय जी एक आदर्श मित्र, आदर्श शिष्य और आदर्श शिक्षक थे और यह दायरा बहुत बड़ा था। उनकी कर्मनिष्ठा और सामाजिक संबंधों की संलग्ता इतनी संवेदनशील थी कि उनमें तनिक भी च्युति उनको आहत कर देती थी।

मैं बम्बई विश्वविद्यालय में बोर्ड ऑफ स्टडीज का अध्यक्ष था–मैंने पाण्डेयजी को एक पी.एच.डी. के परीक्षक के रूप में बुलाया–हर व्यस्तताओं को छोड़ वे आये–परीक्षा लिए–मैरिन ड्राइव पर घूमते हुए अपनी आंखें भर आई – उन्होंने हम दोनों का वह ग्रामीण जीवन याद किया

और कहा कि आज हम कहाँ है –कितनी दूरी पार किए। जब वे गोरखपुर विश्वविद्यालय के कुलपति बने तो उसी शाम उन्होंने मुझे फोन किया और कहां कितना अच्छा होता यदि हम आज साथ होते। उन्होंने याद दिलाया उन दिनों का जब हम जयहिन्द इण्टर कालेज के परिसर में खड़े महुआ की सोढ़ पर बैठ किसी अनजान, अनागत भविष्य की अबोध परिकल्पना करते थे। हमने उस महुआ को कोंचाते, फूलते और फलते सालों साल देखा था–आज भी वह महुआ खड़ा है पर उसमें अब न फूल आते हैं, और नई कोपलें। क्या भूलूं क्या याद करूँ? मुठ्ठी भर 'स्मृतियाँ शेष हैं –ईश्वर पाण्डेय जी की अमर आत्मा को अजर शान्ति दे।



बरबस याद आते प्रसंग

श्रीप्रकाश दुबे

प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय की स्मृति में अखिल भारतीय दर्शन–परिषद् एक ग्रन्थ प्रकाशित कर रही है यह मेरे लिए परम संतोष की बात है। डॉ. पाण्डेय परिषद् के संयुक्त मंत्री, अध्यक्ष तथा दार्शनिक त्रैमासिक के प्रधान सम्पादक रहे। डॉ. पाण्डेय का कर्मक्षेत्र गोरखपुर से प्रारम्भ होता है और वहीं अकस्मात समाप्त हो जाता है। जौनपुर में जन्म लेकर वहीं आरंभिक शिक्षा प्राप्त कर वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उच्च–अध्ययन हेतु गये। वहां के उनके सहपाठी आज भी उनका स्नेह से स्मरण करते हैं। आरंभिक शिक्षण–कार्य उन्होंने गोरखपुर विश्वविद्यालय के दर्शन–विभाग में किया। मेरा उनसे गोरखपुर में ही परिचय हुआ। गोरखपुर से वे कुछ दिनों के लिए जर्मनी गये और फिर उनकी नियुक्ति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन–विभाग में हुई। वहां आचार्य एवं अध्यक्ष भी हुए। इसके उपरान्त वे गोरखपुर विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त हुए और इस पद पर रहते हुए ही उनका देहान्त हुआ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में उन्होंने अनेक संगोष्ठियों में भाग लेने के लिए मुझे आग्रहपूर्वक आमंत्रित किया। वे सदा कहते रहे कि यह विभाग तो आपका ही है। डॉ. पाण्डेय में कितने मानवीय गुण थे इनकी सूची बनाना न आवश्यक है न संभव। उनके हंसमुख व्यक्तित्व के कितने चाहने वाले हैं, यह कहना कठिन है। मुझसे भी उनका आत्मीय एवं पारिवारिक संबंध था। उनके स्वभाव को निकट से जानने का पहला मौका मुझे 1980 में जम्मू–कश्मीर की यात्रा तथा प्रवास के दौरान मिला। 16 जून को मैं जम्मू रेल्वे स्टेशन के विश्रामालय में रुका था। अपराह्न में वहीं आरक्षण केन्द्र के पास डॉ. पाण्डेय मिल गये और बताये कि वे सपरिवार आये हैं। उन्होंने वैष्णो देवी जाने की बात की और बाद में श्रीनगर यात्रा की। मैं वैष्णो देवी जाने को उत्सुक नहीं था, परन्तु जबलपुर से चलते समय मेरी धर्मपत्नी ने सहज ही कहा था कि देवी के दर्शन भी कर लीजिएगा। अतः मैं भी वैष्णो देवी जाने को तैयार हो गया।

गर्मी के दिनों में वैष्णो देवी मंदिर में दर्शन के लिए अच्छी खासी भीड़ होती है। इसलिए डॉ. पाण्डेय ने विशेष परिचय–पत्र ले रखा था। 16 जून की शाम को ही लगभग 6:00 बजे हम लोग कटरा से भवन (वैष्णो देवी मंदिर का विश्रामालय) के लिए प्रस्थान किये। 12.5 कि.मी. की चढ़ाई वाली यात्रा में उनका बड़ा बच्चा सुरेश उनके साथ चला। भाभी जी के पैर में तकलीफ थी अतः छोटे बच्चे मुन्ना को मैंने साथ लिया। दोनों बच्चे कभी गोद में रहते तो कभी उतरकर पैदल चलते और फिर कंधे पर बैठ जाते थे। और हम लोग भी आने–जाने वाली भक्त–टोलियों के साथ "जय माता दी" कहते हुए आगे बढ़ जाते थे। हम सब रात 1:00 बजे भवन पहुंचे। कुछ देर विश्राम कर प्रातः आरती के पूर्व का प्रवचन और आरती–दर्शन का लाभ लिये।

जम्मू के हरि भवन से 19 जून को प्रातःकाल हम लोग श्रीनगर के लिए बस की यात्रा प्रारंभ किये। बनिहाल सुरंग से अपराह्न लगभग 4:00 बजे बाहर निकलते ही कश्मीर घाटी की

सेवानिवृत्त आचार्य, दर्शन विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)

हरियाली और हिमालय के बर्फ से ढंके शिखर मन और शरीर को प्रफुल्लित कर दिये। हम सभी श्रीनगर के सोनवार बाजार में स्थित होटल होराइज़न के कक्ष क्र.–20 में साथ ही रुके। यह कक्ष पर्याप्त बड़ा था जिसमें भोजन बनाने की भी सुविधा थी। डॉ. पाण्डेय स्वयं भोजन बनाने में रुचि लेते थे और उस शाम उन्होंने वाराणसी से लाई हुई कुम्हौड़ी की सब्जी के साथ चावल और दाल पकाया। इस भोजन का स्वाद ही कुछ अद्‌भुत रहा और अविस्मरणीय है। श्रीनगर और आस–पास के दर्शनीय स्थलों का भ्रमण कर हम सभी जम्मू लौटे और 24 जून की शाम को जम्मू स्टेशन से एक रेलगाड़ी पकड़कर मैं जबलपुर की ओर चला और दूसरी रेलगाड़ी से डॉ. पाण्डेय सपरिवार वाराणसी की ओर।

डॉ. पाण्डेय अनेकों बार जबलपुर आये। प्रायः वे मेरे विश्वविद्यालयीन आवास पर ही रुकते थे। एक दिन की घटना का उल्लेख यहां अपरिहार्य है। अपने एक ग्रीष्म कालीन प्रवास के दौरान वे मेरे आवास पर बगीचे का आम खाकर विश्राम करने लगे और उनकी नाक तेजी से बजने लगी। हमारी पालतू छोटे नस्ल की श्वेतवर्णा कुतिया, जिसे हम शुभी नाम दिये थे, भौंकते हुए उनके सीने पर चढ़ गई। उनकी नींद खुली और शुभी उनका गाल चाटने लगी। अपूर्व दृश्य था। डॉ. पाण्डेय ने कहा– इसे हमारा गाल चाटने का अधिकार है। मैंने परिहास–वशात् कहा– आपके गाल इतने सुंदर हैं कि किसी को भी इन्हें चूमने और चाटने की इच्छा हो जायेगी। और वे अपने सहज विनोद में बोले– हां–हां, क्यों नहीं? इसके बाद काशी या गोरखपुर से जब भी वे फोन पर जबलपुर हम लोगों से बात करते थे तो शुभी का नाम लेना नहीं भूलते थे।

डॉ. पाण्डेय की अद्वैत वेदान्त में अधिक रुचि थी। स्वामी करपात्री जी के वे स्नेहभाजन थे। उनके अनुसार अद्वैत वेदान्त में वैज्ञानिकता है, तार्किकता है और सार्वभौमिकता है। अद्वैत वेदान्त की ज्ञान–मीमांसा तो पूर्णतः वस्तुपरक ही है।



ना काहू सों बैर

रामदरश राय

समाज–दर्शन की अन्तर्यात्रा भिन्न–भिन्न धरापीठिका पर उतरकर विभिन्न कोण में अपने पदचिह्न छोड़ती है। इसी अर्थ में पुरुष और महापुरुष के स्वरूप और कद में फर्क मिलता है। साधारण और असाधारण के दार्शनिक नजरिये में अन्तर्भेद भी इसी प्रतीति का एक प्रत्यय बनकर साक्षीकृत होता है। साधारण में असाधारण की प्रतीति और असाधारण में विशिष्ट की अन्विति का प्रकटीकरण कदाचित् महामानव का अभिलक्षण होता है। इस अवबोध के साथ काशी में प्रकटित दो विभूतियों को महामानव के विशेषण में समझा जा सकता है–एक थे संत कबीर और दूसरे आचार्य रेवतीरमण पाण्डेय। यद्यपि कि दोनों की तुलना दोनों के साथ बेमानी होगी, क्योंकि कबीर 'कबीर' थे और रेवतीरमण 'रेवती–रमण'। एक निर्गुण चेतना का उद्वाहक और दूसरा सगुण चेतना का संरक्षक। मगर दोनों काशीवासी थे। तथापि एक को काशी छोड़कर मगहर में मुक्ति पर भरोसा बना और दूसरे को मगहर–गोरखपुर छोड़कर काशी में। मगहर–काशी, काशी–मगहर दोनों ही अपनी स्थानवाची और अर्थवाची संज्ञाओं में व्याख्या के निमित्त अधिक पृष्ठों की माँग कर बैठेंगे, इसलिये इस विषय पर फिर कभी।

दरअसल, दर्शन और दर्शनशास्त्र कभी एकार्थी नहीं होते। उनकी बहुअर्थिक रेखाएँ ही उनकी विचार–मुद्राएँ होती हैं। प्रसंगतः कबीर के एक छोटे से सूक्ति–सूत्र पर विमर्श में उतरकर उसकी बहुष्कोणीय व्याख्या से साक्षात्कार लिया जा सकता है। कबीर का समाज–दर्शन कहता है, "ना काहू सों दोस्ती, ना काहू सों बैर"। और उनकी यह फिलॉसॉफी हिट भी खूब हुई। मगर आज के लोकतन्त्र की बुनियाद पर खड़े सामाजिक ढाँचे का आपाद दर्शन–निरीक्षण और बहुमत का आकलन करें तो दोहे की इस अर्द्धाली के उत्तरपद को बहुमत मिलेगा, पूर्वपद अल्पमत में होकर पराजित हो उठेगा। मगर, यह कबीर की पंक्ति है, सतही व्याख्या सरल हो सकती है, गूढ़ और वास्तविक अर्थ कठिन और असम्भव भी। "ना काहू सों बैर" का वागर्थ साधारण पाठक–श्रोता के लिए तत्काल सम्प्रेषित हो उठता है, किन्तु "ना काहू सों दोस्ती" की उलटबाँसी अपने अर्थ–विचार पर साधारण पाठक को घेर लेती है, वाणी का मुँह खुला का खुला रह जाता है। क्या कहें? कैसे कहें? के असमंजस में पड़कर वह बगलें झाँकते हुए कुछ और–और कहकर काम चलाने लगता है। सचमुच "ना काहू सों दोस्ती" वाला पूर्वपद कबीर की ओर से अपनी पुनर्व्याख्या की माँग करता है। यहीं पहुँचकर, काशीवासी आचार्य रेवतीरमण पाण्डेय काशीजन्में कबीर से अलग झलकते हैं।

आचार्य रेवतीरमण पाण्डेय "ना काहू सों बैर" की प्रतिमूर्ति थे। ईर्ष्या, द्वेष, दुश्मनी, क्रोध, गुरूर, अहं आदि मानवीय मनोविकारों से कोसों दूर। निर्मल मन, विद्या की आराधना में तपा सोने जैसा तन और सरल–सुशील वाणी का वैभव उन्हें अलग तरह की पहिचान दिलाते थे। बिना किसी स्वार्थ के प्रकृत्या उनके चरणों में लोटने का मन हो उठता था। सबको स्नेह और सम्मान

हिन्दी विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ.प्र.)

देना जानते थे। ऐसे महामनीषी की लोकमुद्रा सभी को भाती थी। वे सभी के हितैषी थे, उपकारक थे, प्रीतिभाजक थे, आत्मीय थे, आदरणीय थे, श्रद्धास्पद थे। ऐसे मनस्वी–तपस्वी और साधु–पुरुष का किसी से बैर कैसे? आचार्य पाण्डेय अपनी सदी के अजातशत्रु थे। कबीर की काशी में रहते हुए उन पर कबीर के "ना काहू सों बैर" का असर तो पड़ा मगर "ना काहू सों दोस्ती" की छाया भी नहीं उतरी। दोस्ती तो उनकी निर्गुण–सगुण सभी से थी। चराचर जगत् के सखा थे। विश्वविद्यालयीय जीवन में कुलपति के रूप में गोरखपुर के विद्यार्थी–अभिभावक, शिक्षक–कर्मचारी और परिसर के मानवेतर जीवों के स्वामी–सखा–गुरु–हितैषी सब कुछ थे, तभी तो उनकी पुण्यतिथि (27 जुलाई) के अवसर पर सम्पूर्ण विश्वविद्यालय–परिसर उन्हें और उनके योगदान को आदर और श्रद्धा के साथ याद करता है। "न भूतो न भविष्यति" जैसा शंखनाद करके उनमें अपनी सम्पूर्ण आस्था अर्पित करता है।

दर्शन के आर्षपुरुष पण्डित पाण्डेय दरअसल विद्वान् थे। विनय और सद्शील विद्वान् के प्रधान उपलक्षण होते हैं। निर्मल स्वभाव और पवित्र आचरण का प्रकटन करने वाले इस दर्पण में कोई भी विद्वान् आत्मछवि का अवलोकन स्वतः कर सकता है अथवा कि समाज और संसार का कोई घटक इस माप–बाट से किसी विद्वान् का वजन तौल सकता है। मेरे ख्याल से भी विनय और शील से रहित वाणी का कोई भी साधक अपूर्ण और अस्वाभाविक विद्वान् होगा। इस कसौटी पर आचार्य रेवतीरमण पाण्डेय प्रकृष्ट विद्वान् प्रमाणित होते हैं। विश्वविद्यालय के सभी शिक्षकों को 'आचार्य' कहना, सभी कर्मचारियों के लिए 'श्रीमन्' का सम्बोधन देना और सभी छात्रों को 'प्रियवर' कहकर आत्मीयताबोध प्रदान करना उनके स्वभाव की बनावट थी। मानो उन्होंने देववाणी का यह टुकड़ा पढ़ा मात्र नहीं था, अपितु अपने जीवन में खूब साधा और सलीके से उतारा भी था –

"प्रिय वाक्य प्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति मानवाः।
तस्मातदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता।।"

यही नहीं, आचार्य पाण्डेय को देखकर–सुनकर यह आभास किसी भी पढ़े–लिखे को सहज ही हो जाता था कि यह सही अर्थों में विद्योपासक आचार्य हैं। 'विद्या ददादि विनयं', 'विद्या विनय सम्पन्ने...', 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' आदि के सत्सागर में स्नात एक भास्वर पुरुष हैं जो मात्र अपने शील और स्वभाव से जादुई असर छोड़ने में सर्वदा समर्थ हैं। ऐसे विद्यापिपासु, विद्या–अर्चक विद्वान् का स्मरण करना प्रीतिकर और आह्लादक प्रतीत हो रहा है। उन्हें स्मरण करना शब्द और आस्था जगत् का युगलहस्त सांस्कृतिक स्तवन है।

आचार्य पाण्डेय परदुःखहर्त्ता मनुष्य थे। मनुष्य के सभी लक्षण–उपलक्षण एक साथ उनमें पुंजीभूत थे। किसी की पीड़ा से पीड़ित हो उठना, किसी की माँग पर सर्वस्व लुटाने के लिए मचल उठना और देकर परमतोष की अनुभूति पाना उनका निजी व्यक्तित्त्व था। उनके विराट व्यक्तित्त्व की यही अनोखी पहिचान थी। मेरी स्मृति की एक लघु अन्योक्ति साक्षी बनेगी, आचार्य पाण्डेय के परहितकातर चित्त से साक्षात्कार के लिए।

प्रोन्नति–विषयक एक नितान्त निजी सन्दर्भ में 2002–2003 में आचार्यश्री से एकाकी मिलने का मैंने अनुरोध किया। वे कुलपति थे और मैं उपाचार्य। टंकित आत्मवृत्त के साथ प्रकाशित एक दर्जन पुस्तकों में से तीन को साथ लेकर (एक भाषाविज्ञान की, दूसरी पी–एच.डी. वाली और तीसरी डी.लिट्. से सम्बन्धित) कुलपति–निवास पर पहुँचा। चश्मा चढ़ाकर एक निगाह में आत्मवृत्त देखकर, प्रकाशित किताबों के मुखपृष्ठ आदि पर नजरें दौड़ाकर एक साँस में उन्होंने कहा कि आचार्य! तुम गोल्डमेडलिस्ट हो, विश्वविद्यालय की शिखर उपाधि डी.लिट्. से समलंकृत हो, एक दर्जन पुस्तकों के स्वामी हो, ...बोलो, कैसे चले हो, मेरे किस उपकार की जरूरत है? भाषाशास्त्र और रीतिशास्त्र में स्वाभाविक दखल होने के कारण मैंने आचार्य पाण्डेय के समक्ष रूपक–शैली में आनुरोधिक निवेदन किया, "आप नाविक हैं, आपकी नाव बड़ी है। यद्यपि कि नाव छूट चुकी है, कुछ दूर जा चुकी है। मगर, यदि नाव लौटाकर मुझे भी बैठा लें तो मेरा उपकार होगा, आपको पुण्य मिलेगा। यह अन्तिम नाव है, छूट जाने पर घाट पर एकाकी रातभर रहना पड़ेगा। नदी का सुनसान किनारा, सियारों का डरावना हुआँ–हुआँ, श्मशान से उठ–उठकर दाँत किटकिटाते नर–कंकाल, सभी अँधेरे में दुर्गति करेंगे, यातना मिलेगी। घटवार घाट पर सोने नहीं देगा। जलचर–थलचर एक साथ होकर भक्ष्य बनाने में कोई चूक नहीं होने देंगे।" ....आँखे मूँदकर सुन रहे आचार्यश्री ने मेरे रूपक–रहस्य को अन्तर्दृष्टि में देख लिया और जैसा मेरा अभीप्सित था, उसके अनुसार ही दोनों हाथ उठाकर 'तथास्तु', 'एवमस्तु', 'शुभैशीः' का मंगलबोध कराते हुए अपने सचिव को अपेक्षित–वांछित निर्देश देकर ऐतिहासिक कृपावृष्टि की। ....कुछ क्षण बाद महानौका महाघाट पर मेरे सामने थी। मैं भी सवार, अब मैं प्रसाद की काव्यपंक्ति का दार्शनिक अंदाज में एकल गीत–पाठ गुनगुना रहा था–"ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे–धीरे।" मानो महाचिति सजग होकर व्यक्त आशीष उड़ेल रही थी। मानो आनन्दवाद अपने सम्पूर्ण वजूद के साथ मुकाम पर मौजूद था। ....ऐसे महर्षि की संस्मृति मोददायक प्रतीत हो रही है।

पुराभाषा में चौरासी लक्ष योनियों में और अधुनातन कम्प्यूटर की भाषा में अनगिनत योनियों में मनुष्य सर्वोत्तम जीवधारी है। सर्वाधिक वरदान–प्राप्त योनि मनुष्य की है। स्वर्ग–नरक का समान भोक्ता सिर्फ मनुष्य–जाति है। मानव–जाति में श्रेष्ठतर वही है जो मनुष्य है। मनुष्य भी वही है जो मनुष्य को पहिचानता है। मनुष्य होकर मनुष्य को न पहिचानना मनुष्य होने का लक्षण नहीं है, इससे बेहतर है पशुसमाज में शरीक होकर सिर्फ अपने लिये विचरण करना। मनुष्य–जाति में पैदा होने मात्र से मनुष्य कहलाने का कोई अधिकारी नहीं हो जाता। इसी तरह विद्या के बड़े केन्द्र विश्वविद्यालय में शिक्षक हो जाने मात्र से कोई विद्वान् कहलाने का भी अधिकारी नहीं बन बैठता है। मनुष्य होने के लिए मानवीय आचरण और विद्वान् होने के लिये विनयशील आचरण अनिवार्य घटक होते हैं। इन कसौटियों पर खरा उतरने वाले अपने को मनुष्य और विद्वान् की कोटि में महसूस कर सकते हैं। कदाचित् आचार्य रेवतीरमण पाण्डेय इन्हीं विमर्शमयी सूत्रों में मनुष्य थे और विद्वान् थे। कोई मनुष्य हो और विद्वान् भी तथा विद्वान् हो और मनुष्य भी, दुर्लभ संयोग बनता है। इस दुर्लभ संयोग की प्रतिकृति थे महामना आचार्य पाण्डेय। "वदनं प्रसाद सदनं सदयं हृदयं सुधामुचोवाचः" की अहर्निश बोलती मानव–तस्वीर थे।

आचार्य पाण्डेय को याद करते हुए एक साथ उनकी अनेक रेखाएँ, स्मृति–पट्टिका पर उभर रही हैं। अनोखे इंसान की, शुभचिन्तक अभिभावक की, विद्याव्यसनी कुलपति की, दर्शनवेत्ता आचार्य की, समद्रष्टा ऋषि की और नीर–क्षीर–विवेकी मराल की। उनका अविराम–अभिराम हितसाधक उपदेष्टा रूप भी अपनी आभा–प्रभा में अनुपम था। साधु–सज्जन–गुरु तो वे अपने प्रथम दर्शन में ही प्रतीत होने लगते थे।

आचार्यश्री रेवतीरमण पाण्डेय से सन्दर्भित, थोड़े दिनों के सानिध्य की और भी लघु–दीर्घ स्मृतियाँ हैं। परन्तु उनके करीबीजनों, शिष्यों, शिष्योपशिष्यों, स्नेहीजनों, स्वजनों और शेष आत्मीयजनों के लिये खाली पृष्ठ छोड़ते हुए, उस विशाल पुण्यात्मा के प्रति स्मराञ्जलि अर्पित करते हुए, यह अक्षरवन्दना भी !



गुरूनाम् गुरू : आचार्य रेवतीरमण पाण्डेय

जयन्त उपाध्याय

प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय भारतीय प्रज्ञा के प्रतीक पुरुष हैं, इनका जीवन दर्शन भारतीय धर्म दर्शन एवं संस्कृति के उदात्त तत्त्वों के समन्विति का दर्शन है। आध्यात्मिक धर्म से निर्मित इनका जीवन दर्शन एक ऐसे संसार की कल्पना करता है जो अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और गम्भीर है, क्योंकि इसकी परिधि में ऐसी दार्शनिक परम्परा की प्रतिष्ठा है जो अधिविद्यक प्रणाली की उपज न होकर मानव जाति के धार्मिक जीवन से उत्पन्न है। उन्होंने अपने इस जीवन दर्शन में सत्य को सम्पूर्ण पहलुओं से देखकर उसकी उद्धारक शक्ति में विश्वास किया है। इसी से यह दर्शन समूचे धर्म का प्रतिनिधित्व करने वाला ऐसा जीवन दर्शन बन जाता है जो देशकाल की सीमा से ऊपर है।

इनकी जीवन दृष्टि में अहं का विसर्जन महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। अहं का विसर्जन मानव का सबसे बड़ा धर्म है। अपने को खपाकर ही कुछ पाया जा सकता है। इसी से गलने में अपनी समूची इयत्ता को हटाकर विराट में समाया जा सकता है। इसी से गलने में सौन्दर्य है, जलने में भी वही सौन्दर्य है। नदियाँ अपना नाम गोत्र कुल का परित्याग करके ही सागर से मिल पाती है : सयमेथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नाम रूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेषः श्लोकः। वस्तुतः परम्परा एक ऐसा सनातन प्रवाह है जिसमें समय–समय पर अनेक सशक्त युगसापेक्ष चिन्तन धाराएँ आकर मिलती रहती हैं और उसे पुष्ट करती रहती हैं। परम्परावादी का अर्थ रूढ़िवादी नहीं, वह तो आधुनिकता का पूरक है। परम्परा में नैरन्तर्य का महत्त्व है। ऐतिहासिक बोध के संदर्भ में यह अतीत में वर्तमान की स्थिति और वर्तमान में भविष्य की सम्भावना है। इस प्रकार का एक अनन्त प्रवाह जिसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सब अन्तर्निहित है–

Time present and time past
Are both perhaps present in time future
And time future contained in time past
If all time is eternally present
All time is unredeemable.

प्रायः भारतीय चिंतनधारा के बारे में दो प्रकार के प्रश्न उठते हैं। प्रथम–आत्मद्वीपो भव, अर्थात् अपने लिए स्वयं प्रकाश बनो और उद्धदेदात्मना आत्मानम्–अर्थात् अपना उद्धार स्वयं करें, वहीं दूसरी ओर–ऋषियों का नाम लिये बिना किसी देवता के निमित्त मंत्र का विनियोग नहीं हो सकता, आचार्य के स्मरण–उनकी वंदना के बिना कोई नयी बात नहीं कही जा सकती और गुरुपादुका का पूजन किये बिना–कोई साधना नहीं शुरू की जा सकती। ऐसा विरोध प्रायः लोगों की समझ में नहीं आता। कर्मवाद कहता है कि अपने कर्म के भोक्ता, अपनी नियति के निर्माता

दर्शन धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

तुम स्वयं हो, कोई दूसरा भाग्य नहीं बनायेगा, कोई दूसरा तुम्हारे शुभ–अशुभ कर्मों का भोग नहीं करेगा। ज्ञान की परम्परा वहीं इस पर बल देती है कि गुरु–परंपरा के प्रति अर्पित हुए बिना ज्ञान–यात्रा प्रारंभ नहीं की जा सकती। गुरु या आचार्य है, तभी तो उनसे प्ररिप्रश्न किया जा सकता है, जब परिप्रश्न के पूर्व प्रणिपात (विनम्रता) हो, और परिप्रश्न के समाधान के बाद ज्ञानी होने का अहंकार न हो, सेवा का भाव हो, हम यह समाधान पाकर अधिक तुच्छ होकर सेवा कर सकें, जिससे समग्र सत्य (समूची सच्चाई) की खोज की यात्रा सार्थक है। कर्म के उपदेष्टा श्रीकृष्ण ने ही यह कहा है–तदविद्धि प्राणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

आचार्य प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय जी का मन्तव्य है कि यह जो विरोधाभास दिखता है, वह विरोध नहीं है, आभास मात्र है। जिस आत्मा से आत्मा का उद्धार होता है, जो आत्मा दीप बनती है, वह आत्मा एक ऐसे बोध से विशद् है जिसमें अपनी पूरी की पूरी इयता समायी हुई है। वह आत्मा समष्टिबोध से अपनेपन के विपुल विस्तार से दीपित है, वही प्रकाश सही प्रकाश है, क्योंकि वह अपने प्रयत्न से जला है। छोटी–सी जानकारी के गड़ही में डूबने–उतारनेवाले आदमी का उद्धार नहीं होता, न अल्पज्ञान से दुर्विदग्ध (तनिक–सी जानकारी से फूले हुए) को प्रकाश दिखता है। भारतीय चिन्तनधारा पीछे की ओर न तो देखती है और न तो ज्ञान की धारा को पीछे की ओर ले जाती है। हाँ यह अवश्य है कि छोटी–बड़ी विस्मृत, स्मृत परोक्ष–अपरोक्ष–अल्पज्ञात प्रकट–अप्रकट, सभी अनुभवों का रस आगे ले जाती है। जब हमारे पुराने ज्ञानी लोग कहते हैं कि–इतिहास और पुराण के द्वारा वेद और अर्थ का विस्तार करें, उसका अभिप्राय यह नहीं होता कि हमारे रामायण, महाभारत जैसे इतिहास और श्रीमद्भागवत जैसे पुराण वेद के मंत्रों की शब्दशः व्याख्या हैं। उसका अभिप्राय यह है कि वेद में जिस विश्वदृष्टि की बात है, सृष्टि के एक सूत्र के द्वारा परस्पर ओतप्रोत होने की बात मुख्य प्रतिपाद्य है। मुख्य यह है कि जिस दिव्य चेतना का विस्तार समस्त गोचर संसार में देखने, दिखाने पर बल है, देवताओं की स्तुति या कथा मात्र न होकर देवता और मनुष्य के संवाद और परस्पर भाव की स्थापना के लिए विविध प्रकार के कर्मकाण्डों का, विविध प्रकार की विधाओं का संकेत रूप में विवरण है। वहीं अधिक सुगम भाषा में, साधारण जन तक पहुँचानेवाली भाषा में आख्यानों की रोचकता में जुड़ते हुए वही अभिप्राय इतिहासपुराण में रूपायित हुआ है। उस इतिहास पुराण का वाचिक रूप वाचक और श्रोता के आदान–प्रदान से निरंतर निखरता जाता है। नये आख्यान, नये मिथक केवल जुड़ते नहीं जाते, पहले के मिथकों में समेकित होकर नये और पूर्णतर मिथक बनते जाते हैं। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। मॉरीशस में जानेवाले बंधु प्रायः निरक्षर थे, भीतरी संस्कार उनमें था, तभी वे बिरानी संस्कृति के आघात को सहकर अपनी संस्कृति को अत्यंत विपरीत परिस्थिति में जी सके। वे गंगा से छूटे, परन्तु गंगा की स्मृति उनके गीतों में रही, पर उन्होंने अपने नये देश के निर्मल सरोवर में गंगा का अवतरण कराके उसे गंगा तालाब बना दिया।

इस प्रकार भारतीय चिन्तनधारा में सबका योगदान है। ऋषियों का योगदान इस रूप में है कि उन्होंने तप किया, अपने भीतर ज्ञान की तीव्र आकांक्षा जागायी, ऐसा अलाव जलाया, जिसमें पहले का दाय में प्राप्त सत्य ईंधन बन गया और उस अलोक में उन्होंने सत्य का अधिक पूर्णतर प्रकाश किया। पर वे सत्य को अपने तक रखना नहीं चाहते थे, उन्होंने उस सत्य को वाणी

दी, वह वाणी अपौरुषेय है, क्योंकि साक्षात्कार की हुई वाणी है, वह अव्यक्त रूप में रही है, ऋषि के द्वारा वह बाहर प्रकाश मात्र में आयी है। उनके उपादानों को एक सुसम्बद्ध रूप में समझाने का प्रयत्न ऋषियों की देन है। हम ऋषि में व्यक्ति का नहीं दृष्टि का स्मरण करते हैं। अल्प तक, क्षुद्र तक, सीमित तक सीमित नहीं है, वह देशकाल में उच्चरित होती हुई भी देशकाल तक सीमित नहीं हैं। वह संबोधित है–सम्पूर्ण प्रज्ञाशील मानवजाति के लिए, पर उसे ग्रहण करने के लिए भी ऋषियों जैसा ही पवित्र और प्रसन्न मन चाहिए। ऋषि रचयिता होने का गर्व नहीं पालते। हमारे यहाँ किसी ने भी मौलिकता का अभिमान नहीं किया। कालिदास ने कहा –

अथवा कृत वाग्द्वारे वंशेस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्र समुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः।।

पहले के कवियों ने, द्रष्टाओं ने इस रघुवंश रूपी बाँसुरी में कुछ द्वार बनाये, वाणी के कुछ प्रकार दिखलाये, हम तो उंगली फेर रहे हैं। कुछ बज रहा है। संभावना तो पूर्व पुरुषों की देखी हुई है। अथवा हीरे की कणि से मणि में सुराख पहले ही कर दी गयी है मैं तो पहले से सूत की की तरह उसमें पैठ कर निकल आया हूँ। आचार्यों ने बराबर कहा, हम पूर्व ऋषियों की बातों का अनुवाद कर रहे हैं। कलाकारों ने बराबर इसी पर बल दिया कि हमें जो पद्धति दी हुई है उसी का पालन किया है, कुछ नया हमने बनाया नहीं पत्थर में वह मूर्ति पहले से थी, प्रकृति में, मनुष्य में, प्रकृति और मनुष्य के साहचर्य–संबंध में कविता पहले से थी, हमने कुछ नहीं किया, एक पर्दा हटा दिया। इस प्रकार ऋषि का ही नहीं ऋषि परम्परा का स्मरण रचना को, साधना को और अनुभव को समृद्धतर बनाता है।

आचार्य प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय का मानना है कि हमारे यहाँ दो प्रकार के वंश चलते है–कुलवंश, जिसमें पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र वंश बनते हैं और विद्यावंश ज़िसमें शिष्य, प्रशिष्य भी वंश बनते हैं। जिस प्रकार पिता–पितामह प्रपितामाह तीन पीढ़ियों का हम निरंतर अपने अनुष्ठानों में स्मरण करते हैं, विवाह के समय बिना इन तीन पीढ़ियों के स्मरण के सम्बन्ध की पूर्ति नहीं होती, उसी प्रकार साधना में, रचना में, पूजा में गुरु, परमगुरु, परमेष्ठि गुरु, आचार्य, परमाचार्य और परमेष्ठि आचार्य तीनों का स्मरण करते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो हम नैरन्तर्य का स्मरण करते हैं। इसका आरंभ हुआ सप्तर्षियों के द्वारा गोत्र प्रवर्तन की अवधारणा से। हम भारद्वाज गोत्र के हैं, हम कश्यप गोत्र के हैं, यह स्मरण इतिहास का स्मरण नहीं है यह स्मरण अपनी विशाल साझेदारी का स्मरण है, केवल अपने दाय का स्मरण नहीं, यह अपने दायित्व के प्रति उदबोधन भी है। हमें पहले वशिष्ठ के जन्म स्थान और जन्मतिथि से उतना मतलब नहीं, जितना देश भी में फैले हुए वंशियों के साथ बंधुता से है। ऋषि परम्परा वैदिक धारा की एकान्त सम्पदा नहीं, बौद्ध और जैनधारा में भी यह परम्परा है। व्यवस्था का विधान ऋषि परम्परा ही करती आयी है। साथ ही इसी परम्परा के द्वारा व्यवस्था की निरन्तर जाँच भी होती जाती है। परम्परा अच्छिन्न होती दिखाई भी देती है तो भी किसी अज्ञात कोने से उसको जीनेवाले निकल आते हैं। श्रीकृष्ण ने गीता में सही संकेत किया–एवं परंपराप्राप्तं योगं राजर्षियो बिदुः। स कालेनेह महता योगोनष्टः परन्तपः।। यह योग बहुत समय से लुप्त–सा रहा है। मैं तुम्हे वही योग दे रहा हूँ। इसमें संकेत है कि जीवन को यज्ञ या आहुत के रूप में देखने की विद्या मुझे किसी ऋषि से मिली। ऐसे ऋषि

प्रत्येक युग में होते हैं, जो प्रायः लोक में जीते हुए लोक के रागद्वेषों से दूर रहते हुए निःस्पृहभाव से चिन्तन–मनन करते रहते हैं। साथ ही साथ सांसारिक कार्य भी करते रहते हैं। अपने योग में भी दोनों प्रकार की ऋषिपरम्परा दिखाई पड़ती है, महामना मालवीय और महात्मा गाँधी के रूप में एक है और परमहंस रामकृष्ण देव, आनंदमयी, या श्री अरविंद के रूप में दूसरी है। ये सभी, अपने जीवन में निरंतर प्रयोग करके जीवन का सत्य पाते रहे और उसे बाँटते रहे और स्वयं अपने को मिटाते रहे।

आचार्य प्रो० रेवती रमण पाण्डेय की संकल्पना में ऋषियों की सहकारी परंपरा है आचार्य–परम्परा। आचार्य परम्परा का कार्य विद्या प्रदान करना तो है ही, साथ ही साथ आचरण का प्रतिमान भी उपस्थित करना है। उनका आचरण उनकी विद्या के साथ सामंजस्य न रखे, तो विद्या का अच्छी तरह सम्प्रेषण नहीं होता। आचार्य का एक और कार्य है, बिखरे हुए विचारों के सूत्रों को सिद्धान्त रूप में रखना। आदि शंकराचार्य, रामानुचार्य, मध्वाचार्य वल्लभाचार्य, रामानन्द, चैतन्य ऐसे ही आचार्य थे। उन्होंने अपने–अपने ढंग से वैदिक ज्ञान के सूत्रों में जो परस्पर सम्बद्ध या असम्बद्ध जैसे भी दिखते हैं, संगति बिठलाने का काम करते रहे। यहीं नहीं, अपने सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए उन्होंने पीठ भी स्थापित किये, निरंतर यात्राएँ की, सभी प्रकार के लोगों से मिलकर उनका प्रबोधन करते रहे। इन्हीं के कारण विविध जातियों, भाषाओं और क्षेत्रीय रीति–रिवाजों के रहते हुए भी भारत सांस्कृतिक या वैचारिक इकाई मात्र नहीं बना, वह देश से बाहर भी साझेदारी का निमंत्रण देनेवाला सहयात्री भी बना। शंकराचार्य के प्रशिष्य शिवयोगी कम्बोडिया में गये और उन्होंने कम्बोडिया में तत्त्वज्ञान की लहर पैदा कर दी। आज भी इनके पीठों पर स्थित आचार्यों में अनेक ऐसे हैं, जो अपनी तपस्या से शिष्ट आचार का आलोक फैलाते रहते हैं। आचार्य पीठ इस समय भी समरसता और परस्पर सद्व्यवहार की शिक्षा देने की भूमिका किसी–न किसी रूप में निभा रहें हैं। यह अवश्य है कि समय–समय पर इस व्यवस्था में कुछ विकृतियों और अयोग्य पीठासीन लोगों के कारण प्रश्नों के घेरे में आती रही है। यह मानकर चलना चाहिए कि ऋषि परम्परा की पोषक व्यवस्था है–आचार्य परम्परा। ऐसे भी ऋषि हुए हें, जो आचार्य की भी भूमिका निभाते रहे हैं, उन्हीं के कारण ज्ञान मानवीय संवेदना के विस्तार के लिए उपयोजित हुआ है। इसी आचार्य परम्परा का निजी रूप है–गुरु परम्परा। गुरु–शिष्य का संबंध निजी संबंध होता है, आत्मिक संबंध होता है। गुरु शिष्य को अपनी राह पर चलने के लिए नहीं कहता, केवल अपनी राह पर ठीक तरह चलकर उसे राह पर चलना ही नहीं, अपनी राह बनाना सिखाता है। सिखाकर वह शिष्य को अपनी पद्धति से मुक्त कर देता है, उससे कहता है, तुम मनन करो, तुम अपनी प्रतिभा, अपने संस्कार, अपनी समग्र शिक्षा के अनुकूल अपनी राह स्वयं बनाओं। तुम जितना ही आगे मुझसे जाओगे, उतना ही मेरा सिखाना सार्थक होगा और गुरु की महिमा, साधना और उपासना के क्षेत्र में और महत्त्वपूर्ण वृद्धि होगी। जो साधना गुरु से यथाविधि नहीं प्राप्त होती, वह सफल नहीं होती। अगर होती भी है, वह दूसरे को दी नहीं जा सकती। स्वामी करपात्री जी कहते थे, सिद्धि के रूप में सब ज्ञान मिल सकता है परन्तु वही ज्ञान दूसरे तक पहुँच सकता है जो गुरु से प्राप्त हुआ है। इसका अभिप्राय यह है कि बड़ी परम्परा को आत्मसात करके ज्ञान आता है तो वह आगे तक जाता है। इसलिए गुरुमुख ज्ञान और साधना पर विशेष बल हमारे

यहां रहा है। गुरु में हम अनादि ज्ञान–दान की परम्परा का अधिष्ठान मानते हैं। पर यह स्मरणीय है कि गुरु हमारी चिन्तनधारा में मध्यस्त या सेतु नहीं है। वह ईश्वर और मनुष्य के बीच में नहीं आता। वह ज्ञान की साक्षात् प्रतिमा है। उसका होकर ईश्वर के सत्य के अभिमुख होता है। गुरु उसमें विराजमान हुआ रहता है। गुरु का गुरुतर दायित्व उसमें बसा रहता है तभी वह सच्चाई की खोज में विश्वास के साथ चल पड़ता है।

इन सभी की भूमिका को अपने भीतर समेटने वाली भूमिका रही है सन्तों की, जो सद्‌गुरु भी है ऋषिवत् 'आँखिन देखा' ही सामने रखने वाले है, और सदाचार का मार्ग चलकर दिखानेवाले आचार्य भी हैं। मध्ययुग के आकाश में साधकों और भक्तों की बड़ी उज्जवल नक्षत्रमाला छिपती दिखाई पड़ती है। इन सबने भारतीय चिन्तनधारा को और भारतीय भावधारा को भरपूर मथा है। लोक और शास्त्र दोनों के बीच ये रमे हैं और दोनों का इन्होंने अतिक्रमण किया है। इन्होंने छोटी मर्यादाएँ तोड़ी हैं या उनकी चिन्ता नहीं की है, बड़ी मर्यादा स्थापित की है। बड़ी मर्यादा वह है जो बड़े भावलीन होने पर कोई छोटा नहीं रहता है, कोई बड़ा नहीं रहता। सब समभाव हो जाते हैं। सन्त, भक्त के जीवन को सर्वभूतमय जीवन बनाने पर बल दिया है। 'जो परायी पीर जाने' वही वैष्णवजन कहलाने योग्य हैं। ये सन्त युगनिरपेक्ष दिखाई देते हैं, पर समस्त लोक में व्याप्त 'एक नूर' से आलोकित स्वयं रहते हैं, दूसरों को भी करते हैं। अपने युग को निचोड़ कर उसका अमृत अंश निकाल कर दूसरों को भी पान कराते हैं, स्वयं भी पान करते हैं। इन्हीं के कारण हमारे देश की भेद–व्यवस्था का विष उतरा, इन्हीं के कारण हरि में जीनेवाले को उसके सदाचार से, उसकी सहिष्णुता, उसकी उदारता, उसकी विनम्रता, उसकी साधारण से साधारणता के साथ तादात्म्यता और उसके फक्कड़पन से पहचाना जाता है। हरि की उपस्थिति कुछ निराकार, अलौकिक उपस्थिति नहीं होती, वह इस लोक के लिए पर्याकुल उपस्थिति होती है। संतों की भूमिका केवल सच्चाई को कसनेवाली कसौटी के रूप में नहीं है। तुलसीदास जी कहते हैं, 'राम नाम सुरुचिर कसौटी चित के चनहिं कसैटों' (राम नाम की कसौटी पर चित्त कसूंगा, कितना खरा सोना है कितना खोटा है)। वस्तुतः सन्तों की भूमिका संस्कृति धारा में आयी जड़ता को तोड़ने की है। सन्तों की भावधारा, संतों की वाणी निर्झर का आवेग है, बड़े–बड़े पत्थर उसमें छोटे–छोटे रेत के कण बन जाते हैं। सन्त बड़े से बड़े को बड़ा नहीं रहने देते और छोटे–से–छोटे को बड़े–से–बड़ा बना देते हैं। इन्होंने आज की चिन्तनधारा को न केवल निर्मल जलप्रवाह दिया, बहुत–सी अशुचिताओं के जमाव को तितर–बितर किया, उन्हें भी निर्मल किया और पूरे हिन्दुस्तान ही नहीं, विश्व की मानवता के लिए सबसे जुड़ने की प्रेरणा दी। उन्होंने ही तोड़ने की प्रक्रिया को चुनौती दी। यहाँ तक कि 'साँई' को भी ललकारा–साईं तू तोड़ता जा, मैं जोड़ता जाऊँगा, तू मुझसे कितना भी दूर जाना चाहेगा, मुझसे रिश्ता तोड़ना चाहेगा, मैं तो सिर्फ जोड़ने का काम करूंगा। देखे कितना तुम तोड़ते हो और कितना में जोड़ता हूँ। इस प्रकार ऋषि परम्परा का ही सन्त परम्परा में नया पुनः सर्जन हुआ और हमने अपनी सही भावभूमि पायी।

समष्टि के मंगल के लिए ऋषि–सत्ता सनातन काल से अपनी जीवन–साधना द्वारा विचार–ज्योति की रचना करती रही है। भारत का वैशिष्ट्य उन विदेशी चिंतकों को, जो मानव संस्कृति के अन्तःस्पन्दन के पारखी के रूप में ख्यात रहे हैं, चमत्कृत करता रहा है कि बड़े–बड़े

अंधड़ों से टकरा कर भी भारत ने अपनी विचार–ज्योति को बुझने नहीं दिया है, अपनी मूल सम्पदा की बड़ी जागरूकता के साथ रक्षा की है। शताब्दियों तक भारत की नियति पर बैठी रखने वाली दासता ने इस देश को अनेक रूपों में क्षति पहुंचायी है, किन्तु हर संकट–काल में भारत की धरती ऐसे ऋषियों–चिंतकों को जन्म देती रही है, जो पाताल प्रविष्ट इसकी सांस्कृतिक जड़ों को अपनी साधना से पोषण देते रहे हैं जिससे इसकी मूल पहचान को मटियामेट करने के सारे हीन प्रयत्न विफल होते रहे हैं। सोलहवीं और अर्द्धांशबीसवीं शताब्दी भारत की पराधीनता का काल रहा है। ऐतिहासिक तथ्य है कि उस अभिशप्त काल में भारत की ऋषि–सत्ता पूरी शक्तिमत्ता के साथ जागृत हुई थी जिसके पोषक तत्त्वों का उन्मेष प्रो0 रेवतीरमण पाण्डेय में था।

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी आचार्य रेवतीरमण पाण्डेय जी उन कालजयी दर्शनशास्त्रियों में हैं जो दर्शन क्षितिज पर अपने अविरल व्यक्तित्व के साथ दीप्तिमान है। उनका अपना प्रभा मण्डल है जिसकी स्निग्धता और विदग्धता की अपनी अलग पहचान है। उनकी विराट प्रतिभा ने दर्शन जगत को न केवल समृद्ध बनाया अपितु समकालीन एवं आने वाली दार्शनिक पीढ़ी को दूर तक प्रभावित करने का माद्दा भी है।

प्रख्यात विद्या–साधक प्रो0 रेवतीरमण पाण्डेय की प्रज्ञा ने भारतीय विद्या की अवधारणा के मर्म को समझा था कि जो हर प्रकार के अंधकार–अवरोध से मनुष्य को मुक्त करे, वही विद्या है "सा विद्या या विमुक्तये"। मानव की समग्र मुक्ति ही प्रो0 पाण्डेय की मनीषा का काम्य था। विनाश के कगार पर खड़े मनुष्य को उन्होंने सचेत किया था–मानव जाति आध्यात्मिक मूल्यों को फिर जीवित करके ही विनाश से बच सकती है। आध्यात्मिक मूल्यों के उत्कट आग्रह का अर्थ यह नहीं है कि प्रो0 रेवती रमण पाण्डेय आधुनिक मनुष्य को अतीत के गुहालोक में बन्द करने के पक्षपोषक थे। उनका तो विश्वास था कि स्वस्थ विकास के लिये निरन्तरता और परिवर्तन आवश्यक है। किन्तु परिवर्तन और प्रगति के नाम पर परम्परा के उज्जवल पक्ष की ओर उदासीन होकर प्रत्यक्ष की पार्थिव पूजा को वे विधायक नहीं मानते थे। केवल इसलिये भारतीय पुरा विद्या उन्हें नहीं आकृष्ट करती थी कि सजातीय थी, बल्कि उनकी भारतीय ऋषि–सत्ता के प्रति सहज संसक्ति इसलिये थी कि मनुष्य की महिमा को बहुविध समृद्ध करने वाले विचार–पोषण से वह सम्पन्न थी। अध्यात्म वही है जिससे मानवमूल्य समृद्ध हो, मनुष्यता उन्नत हो। यह अवधारणा ही उन्हें भारतीय विद्या–परम्परा से जोड़ती थी। हर प्रकार की लघुता और संकीर्णता से उनका विरोध था, क्योंकि वे अध्यात्मवादी थे और अपनी विरासत को स्मरण करते वे गर्वपूर्वक कहा करते थे–सेवा, वैराग्य और बलिदान हमारी उपलब्धियों के शिखर हैं। इन उपलब्धियों को क्षत करने वाली आबोहवा का कड़ा प्रतिरोध करने में वे अग्रणी थे। जिस गहराई से प्रो0 रेवतीरमण पाण्डेय ने भारतीय विद्या का अध्ययन किया था उतनी ही पाश्चात्य विद्या की उन्हें प्रामाणिक जानकारी भी थी। मानव मूल्यों की रक्षा के लिए आवाज उठाते हुए उन्होंने दोनों विद्या धरातलों का सामान स्तर से उपयोग किया तथा उनके विवेक ने विभिन्न भूखण्डों में विभाजित और जातीय सीमा में बन्द मनुष्य–मनुष्य को जोड़ने वाले सेतु का निर्माण किया। उन्होंने बार–बार आग्रह किया कि लोगों को अपनी समझ का क्षितिज व्यापक करना चाहिए। समझ के क्षितिज व्यापक बनाने में ही उनकी विद्या–साधना केन्द्रित थी। दुनिया के महापुरुषों जो सनातन काल से जिस उदारता, प्रेम, करुणा और मैत्री का आग्रह करते आ रहे हैं, प्रो0 पाण्डेय उन्हीं मूल्यों के मनीषी प्रवक्ता थे।

समग्रतः प्रो0 रेवतीरमण पाण्डेय मानवतावादी थे। वे विश्वबन्धुत्व, विश्वमैत्री के आग्रही थे। उनका हमेशा उद्घोष रहा है कि सबको मित्र भाव से देखो : "मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे"।। दृते दृहं मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षताम्।। उन्होंने अपने जीवन दर्शन को आनन्दमय कोष से अनुभव किया है तथा उसे व्यवहारिक जीवन में उतारने का प्रयास किया है। उनके जीवन दर्शन में जातीय चेतना के चिन्मय और भारतीयता के मृण्मय तत्त्वों का अपूर्व संयोजन है। इनका सम्पूर्ण जीवन दर्शन चिन्तन--मनन, अनुभव की हिरण्यमयी यात्रा का स्फटिक धवल रूप है। वे हमेशा सम्पूर्ण मानवता के लिए ऋग्वैदिक स्वर में मंगल कामना करते थे।

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्
समानो मंत्रस्समितिस्समानी
समानं मनसहचित्तमेषाम्।
समानी व आकुतिस्समाना ह्दयानिवः
समानमस्तु वो मनो यथा वस्तुहासति।।

प्रो0 पाण्डेय जी के जीवन दृष्टि में एक गत्वर प्रक्रिया है। गत्वरता ही जीवन है। इसमें जो लय, छन्द, समरसता हैं, वह मानव निर्मित रचना में नहीं है। यह देवता का अमर काव्य हैः पश्य देवस्य काव्यं न जीर्णति न ममार च। यह सौन्दर्यमय है। इसलिए सत्य है। चूँकि सत्य जीवन का ऋत् तत्त्व है। इसीलिए वह शिव भी है। इस प्रकार जो सद्चिद् आनन्द है वही मानव रूप में विश्वव्यापी छन्द धारा से एकमेव होकर आह्लादित होता है। क्या जीवन में किसी बिन्दु पर रूका जा सकता है? रूकना तो मृत्यु है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति तक मनुष्य को चलना है–

उत्तिष्ठत जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्त त्कवयो वदन्ति।।

आचार्य प्रो. पाण्डेय की समीक्षा दृष्टि सर्जनात्मक है। इसमें रचना के मूल सौन्दर्य एवं उसके विधायक तत्त्वों को समझने का प्रयास निहित है। रचना को सर्जनात्मक दृष्टि से परखने की उनकी विशिष्ट पद्धति है। इनकी समीक्षा का मूल तत्त्व इनकी संतुलनवादी प्रवृत्ति है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि यह व्यवहारिक ढंग से समझौता करने वाली दृष्टि है। संतुलन दृष्टि सत्यान्वेषी है। यह एक तरफ सत्य की समग्र मूर्ति देखती है और दूसरी तरफ अपने को सुधारने का भी प्रयत्न करती है। समीक्षा के संदर्भ में प्रो0 पाण्डेय जी का मानवतावाद और सामाजिक यथार्थवाद का आधार वैज्ञानिक है। इनकी समीक्षा व्यापक धरातल पर खड़ी है। अपनी समीक्षा में ये दर्शन के संश्लिष्ट रूपों को निर्मित और प्रभावित करने वाले तत्त्वों के ज्ञाता हैं।

अंत में एक बात की ओर संकेत करना परमावश्यक है कि भारतीय विद्या परम्परा के अनुसार आचार्य रेवतीरमण पाण्डेय जी ने अपने योग्य शिष्यों की एक लम्बी श्रृंखला का भी निर्माण किया जो देश–विदेश के कोने–कोने में विद्यमान है और अपनी प्रातिभ ज्ञान की ज्योति से दर्शन और समाज को आलोकित कर रहे हैं।

9

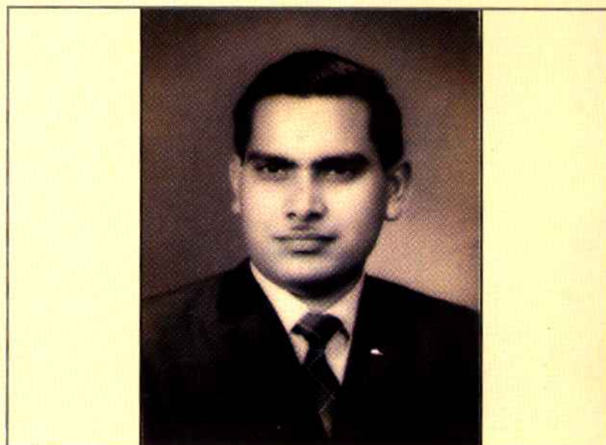
चित्र वीथिका

रेवतीरमण पाण्डेय के कतिपय चित्र

अम्बिकादत्त शर्मा



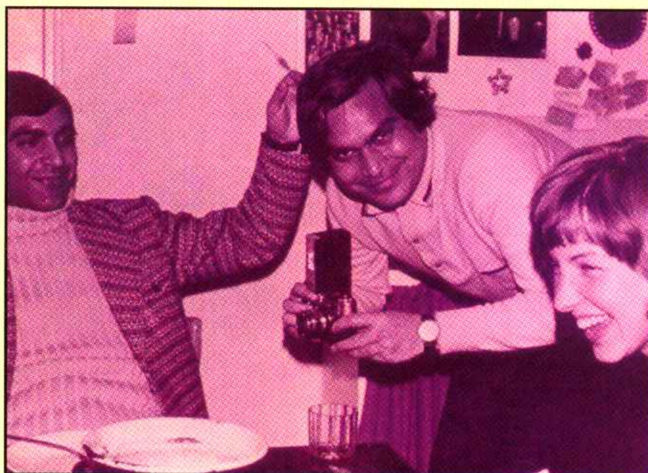
इलाहाबाद विश्वविद्यालय का शोधार्थी जीवन



स्वर्णिम भविष्य की आकांक्षा लिए



उच्च अध्ययन के लिए जर्मनी में



जर्मनी में अपने गुरू
प्रो. ले. शिमटहाउजैन
के साथ



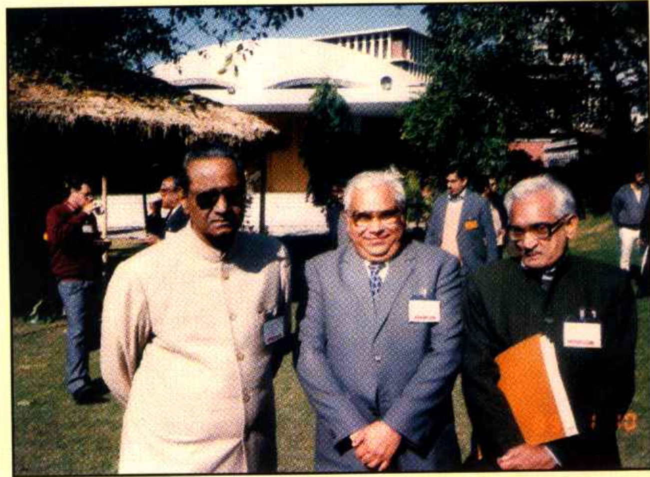
जर्मनी से स्वदेश लौटने
की जिज्ञासा में



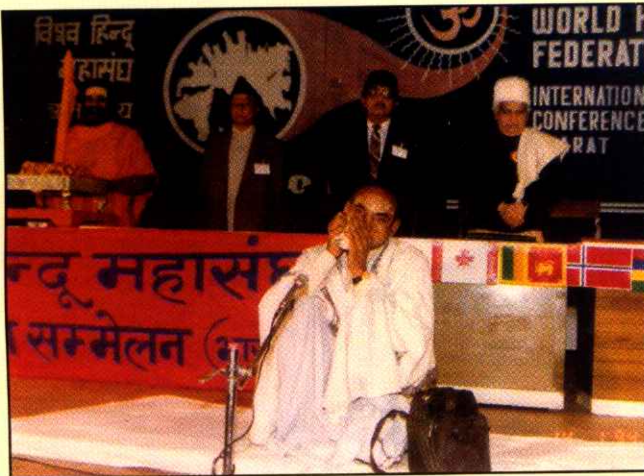
दर्शन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
के प्रवक्ता के रूप में



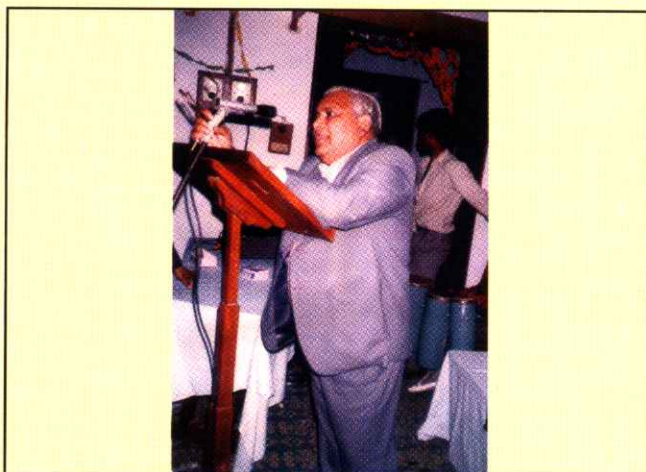
अपने एक अभिन्न मित्र
के साथ



प्रो. के. एस.मूर्ति एवं
प्रो. जी. सी. पाण्डे
के साथ



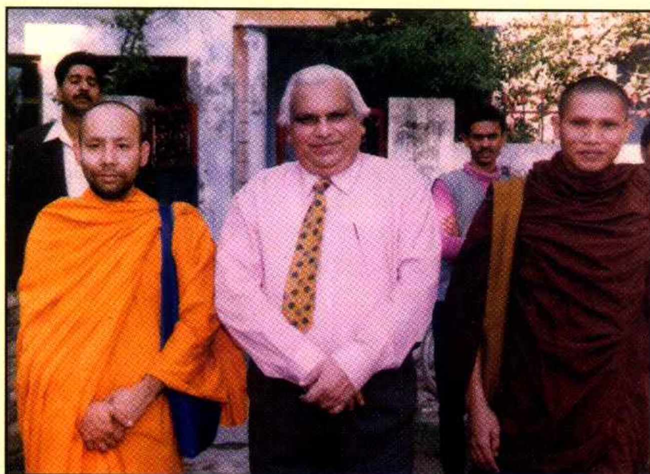
हिन्दू महासंघ द्वारा
आयोजित अंतर्राष्टीय
सम्मेलन के उद्घाटन
सत्र में



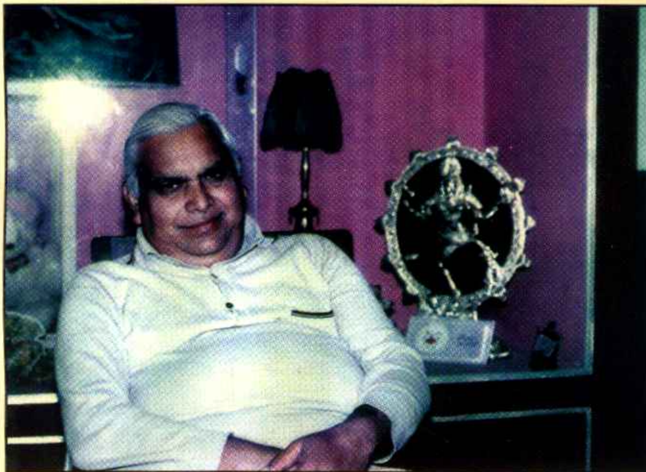
दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एक शिक्षक की भूमिका में



अपने निवास पर अपने देशी विदेशी विद्यार्थियों एवं अपने दो सुपुत्रों के साथ



दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रांगण में



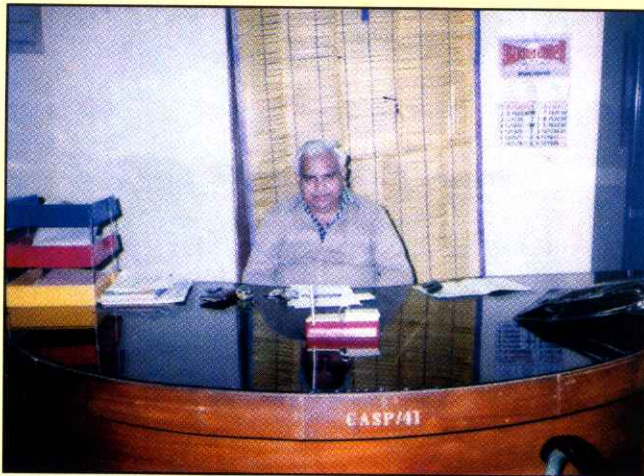
दर्शन विभाग, काशी हिन्दू
विश्वविद्यालय के
अध्यक्ष कक्ष में



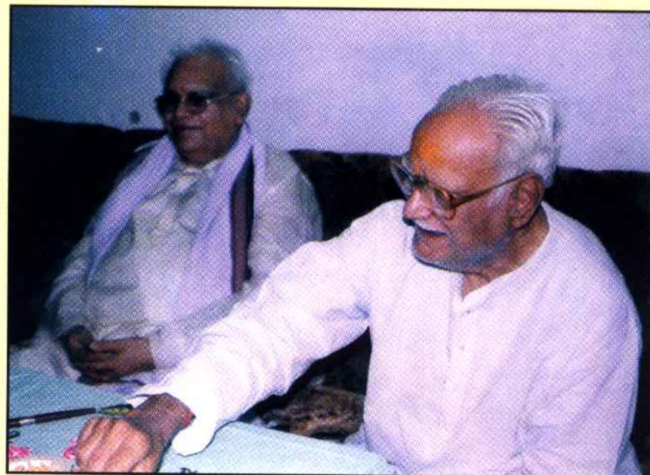
राजा डॉ. कर्णसिंह
के साथ



दर्शन विभाग, काशी
हिन्दू विश्वविद्यालय
के अध्यक्ष रूप में



दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में SAP के समन्वयक के रूप में



अपने किसी सहयात्री विद्वान् के साथ



अपने विभागीय सहयोगी के साथ



पं. विद्यानिवास मिश्र द्वारा
अभिनंदित किए जाते हुए



बाबा विश्वनाथ का
सपत्नीक रूद्राभिषेक
करते हुए



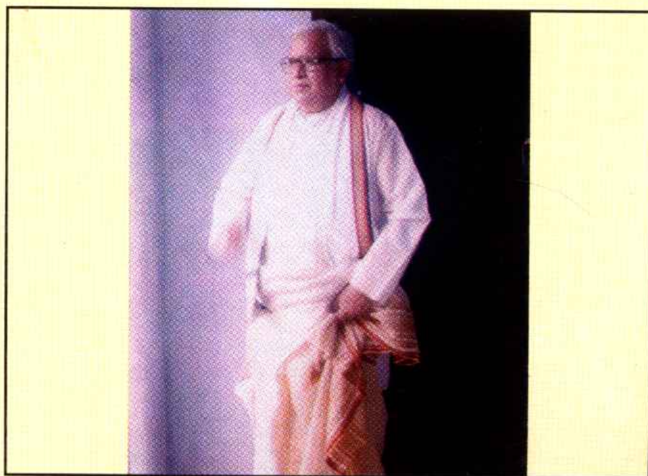
राष्टपति भारत रत्न
डॉ. ए पी जे अब्दुल
कलाम का गोरखपुर
विश्वविद्यालय के कुलपति
के रूप मेंअभिवादन
करते हुए



गोरखपुर विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में राष्ट्रपति डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम एवं उ. प्र. के राज्यपाल श्री विष्णुकांत शास्त्री के साथ



गोरखपुर विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में श्री विष्णुकांत शास्त्री के साथ कुलपति की भूमिका में



अकिंचन मुद्रा में प्रत्यागमन करते हुए

सम्पादक मंडल

राष्ट्रभाषा के माध्यम से दर्शन के क्षेत्र विशिष्ट योगदान के एवं उन्नत साहित्य–निर्माण के लिए नरेश मेहता स्मृति वाङ्मय सम्मान (2007) से सम्मानित, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा रिसर्च अवार्ड (2006) प्राप्त, बौद्ध प्रमाण दर्शन (2007) नामक विशिष्ट कृति के प्रणेता, स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण के चार बृहद् खण्डों के सम्पादक, उन्मीलन पत्रिका के सम्पादक एवं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के महामंत्री **प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा** (1960) सम्प्रति दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के आचार्य एवं अध्यक्ष हैं।

प्रो. श्रीप्रकाश पांडेय (1960) सम्प्रति दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के आचार्य हैं। पौर्वात्य एवं पाश्चात्य अद्वैती चिन्तन–धारा में इनकी विशेष अभिरुचि है। भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप (2007) इनकी कृतियों में विशिष्ठ स्थान रखती है।

प्रो. मैत्रेय सुशील (1955) सम्प्रति दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के आचार्य हैं। अस्तित्ववादी मार्क्सवाद एवं अद्वैत वेदांत इनके अध्यवसाय का विशेष क्षेत्र है। फेनोमेनोलॉजी एण्ड अद्वैतवेदान्त (सम्पा.2004) एवं मार्क्सीज्म रीएक्जामिंड (2006) इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

डॉ. संजय कुमार शुक्ल (1964) सम्प्रति दर्शन विभाग, यूइंग क्रिश्चियन कॉलेज, इलाहाबाद में दर्शनशास्त्र के उपाचार्य हैं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से इन्होनें डि.लिट् की उपाधि प्राप्त की है। काण्ट्स कॉपरनिकस रेवोल्युशन(2000), रेवोल्युशन इन दी फिलॉसफी ऑफ एडमण्ड हुस्सर्ल (2005) एवं फिलॉसफिकल रिफ्लेक्शन्स (2009) इत्यादि इनकी विशिष्ठ कृतियाँ हैं।



New Bharatiya Book Corporation

208, IInd Floor, Prakash Deep Building,
4735/22 Ansari Road, Darya Ganj,
New Delhi - 110002
Phone : 91-11-23280214, 23280209
E-mail : deepak.nbbc@yahoo.in

ISBN 81-8315-211-2



₹ 2000.00